

• श्री

सनातनधर्मनिष्ठ, निगमागमश्रद्धापरायण सौम्यमूर्ति, सद्गुणविभूषित

दानवीर

सर्वश्री माननीय श्रेष्ठिप्रवर

श्रीकुडीलालर्जा महोदय सेकसरिया के सौजन्य से

‘श्रीगोविन्दरामचैरेटीट्रस्ट इन्दौर’ ( मालवा )

द्वारा प्रकाशित

आनन्दशुक्लत्रयोदश

वि० सं० २०१०

अथ

खण्डचतुष्टयात्मक-‘आद्विज्ञानोपनिषत्’ ग्रन्थे  
“सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्” नामकः—

तृतीयः खण्डः

३

तृतीयखण्डात्मिकेऽस्मिन् ग्रन्थे—

सैषा मुख्यविषयत्रयीनिरूपिता द्रष्टव्या

(१)—प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्—प्रथमा

(२)—ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्—द्वितीया

(३)—आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्—तृतीया

ग्रीयतामनया त्रय्या दिवंगतः—

नाम्

श्री.

## समर्पण

दिवंगत-चन्द्रलोकस्थ-महानात्ममूर्ति-स्वर्गीय-

पितुः श्रीबालचन्द्रजी शास्त्री की

क्षयावधि ( भावणशुक्ल-त्रयोदशी ) के उपलक्ष्य से

आर्द्रकर्त्ता की ओर से

श्रद्धापूर्वक समर्पित

समर्पक: —

प्रजातन्त्रवितानपथानुगामी

मोतीलालशर्मा ( आर्द्रकर्त्ता )

भावणशुक्ल-त्रयोदशी ( क्षयावधि )

विक्रम सं० २०१०

[ सर्वोधिकार सुरक्षित, एवं स्वरक्षित ]



## किमपि प्रास्ताविकम्

निगमांगमान्नायनिष्ठ भारतीय आस्तिक अड्डालु प्रजा की दृष्टि में 'अग्निहोत्र-ज्योतिष्टोम-वाजपेय-राजसूय-चयन' आदि श्रौतयज्ञकर्मामनुबन्धी सौर 'देवकर्मों' की अपेक्षा से भी "पार्वण-एकोद्दिष्ट-क्षयाह-महालय-गयाश्राद्ध-रात्रिजागरणात्मक कुलस्त्रीवर्गद्वारा अनुष्ठित मान्यतालक्षण गृहपितृकर्म" इत्यादि लक्षण परमेष्ठ्य पितृयज्ञात्मक 'पितृकर्मों' का इसलिए विशेष महत्त्व है कि, देवकर्मोधिष्ठात्मा विज्ञानात्मप्रभव सूर्य्य का स्थान प्राकृतिक विश्व में अवर है। एवं पितृकर्मोधिष्ठाता महानात्मप्रभव परमेष्ठी का स्थान प्राकृतिक विश्व में 'पर' है। 'सूर्यादिपि परस्थाने-ऊर्ध्वस्थाने-तिष्ठति' निर्वचन के आधार पर ही पितृप्राणमूर्ति परमेष्ठी 'परमेष्ठी' कहलाए हैं, जैसा कि— "परमे स्थाने तिष्ठति, तस्मात् परमेष्ठी नाम" (शत० ब्रा० ११।१।६।१६।) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। इसी आधार पर निगमानुगत आमगशास्त्र। स्मृतिशास्त्र में यह घोषणा हुई है कि—

“देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते” ।

जैसाकि, अन्यान्य धार्मिक मान्यताओं के सम्बन्ध में कालदोष, शिष्टादोष, देशदोष, पात्रदोष, सत्तादोष, सङ्गदोष, कल्पनिक व्याख्यादोष, आदि आदि दोषपरम्पराओं के निम्नानुमह से भारतीय प्रजा की आस्थापूर्ण अड्डा कुछ एक विगत शताब्दियों से निगमान्नायपरम्परा से सर्वथा विरुद्ध जाती हुई धर्मसंरक्षण के स्थान में धर्म-ग्लानि को ही प्रोत्साहित कर रही है, ठीक यही दशा नैगमिक पितृ-कर्मामनुबन्धी 'श्राद्धकर्म' के सम्बन्ध में भी घटित विघटित हो रही है। नैगमिक श्रौतस्मार्त श्राद्धकर्म उस परोक्ष, सर्वथा अतीन्द्रिय चन्द्रलोकस्थ सुमृक्ष आतिवाहिक शरीरधारी सोम्य पितृदेवता से सम्बन्धित है, जिसकी स्वरूपस्थिति सामान्य लौकिक मानवों के लिए दुर्विज्ञेय ही बनी रहती है। केवल शास्त्रयचन-प्रमाण पर आस्था अड्डापूर्वक निष्ठा रखते हुए शास्त्रविधिपूर्वक इस पितृकर्म का अनुगमन करते रहना ही मान्य आस्तिकप्रजा के अभ्युदय के लिए अनन्य श्रेयःपन्था है। सुमृक्ष प्राकृतिक विज्ञान से सम्बन्धित रहस्यपूर्ण श्राद्धविज्ञान का स्वरूप सर्वसामान्य के दृष्टि से भटिति एकहेलया विज्ञान बन जाय, यह असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। अतएव एवंविधा सामान्य आस्तिक प्रजा का अभ्युदय तो एकमात्र—'तस्मान्छास्त्रं प्रमाणं ते'—'यदस्माकं शब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्' इत्यादि शास्त्रादेश की अनुगति करते हुए अड्डापूर्वक बिना किसी तर्क-युक्ति-विज्ञान-विज्ञासा के अनन्यनिष्ठापूर्वक इस श्रौतदेहिक-निबन्धन सुमृक्ष पितृकर्म (श्राद्धकर्म) के अनुगमन से ही सम्भव है। 'नान्यः पन्था विद्यते अयनाय' ।

‘जो जिसका गुण है, वही सीमातिक्रान्त बन कर उसका दोष बन जाता है’, इत्यादि भारतीय लोकमूत्र के अनुसार, एवं—‘मानव अपने सद्गुणों से ही दण्डित होता है’

इत्यादि प्रतीच्य (नीत्से) मान्यता के अनुसार जिस आस्थानुगत 'अद्भागुण' से भारतीय आस्तिक अद्भागु प्रजावर्ग अद्भागपूर्वक शास्त्रीय विधि-विधानों में अनन्य निष्ठा से अद्यावधि आरुढ़ था, वही प्रजावर्ग अपने अद्भागुण से परप्रतारकों के द्वारा प्रतारित होता हुआ वर्तमान युग में सर्वात्मना विगलित अद्भाग वन गया है। अथवा तो द्रुतवेग से घनता जा रहा है। वर्तमान युग की तात्कालिक प्रभावोत्पादिका अनुकूलताप्रवृत्तिका गन्धर्वनगरलीलावन-आश्चर्यकारिणी भूतविज्ञानपरम्परा-भूताविष्कारपरम्परा-ने भारतीय प्रजा को वर्तमान में व्यासुग्ध कर दिया है, सर्वात्मना लक्ष्यच्युत बना दिया है। इस तात्कालिक चाकचिक्य की चकार्चोघने आज इसे तिमिरान्ध बना दिया है। इस की अद्भागुगता सहज भावुकता आज परप्रत्ययानुगमिनी बन गई है। इसी गतानुगतिक दोष के कारण आज के आस्तिक भारतीय मानव के शास्त्रनिष्ठ-आस्थापरिपूर्ण भी अद्भागक्षेत्र में 'हेतुवाद' ने जन्म ले लिया है। क्यों करे?, क्या विज्ञान है?, क्या फल प्राप्त होगा?, इस प्रकार की तर्क-युक्ति-विज्ञानात्मिका जिज्ञासा-परम्परा इस अद्भागुको भी आज उत्पीड़ित कर रही है।

और इस उत्पीड़न को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है दुर्भाग्य से एक वैसे भारतीय से ही, जिसने 'वेदशास्त्र' की घोषणा के माध्यम से ही क्रियात्मक (विध्यात्मक) सनातन-शाश्वत धर्मकर्मनिष्ठ-कर्तव्यताओं को निःशेष बनाना ही अपना परम पुरुषार्थ मान लिया था। केवल वेदडिण्डिम-घोषपरायण उस वेदभक्त ने वेदरह-यानभिज्ञतापरवशता से 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' को अन्तराः अन्वर्थ बनाते हुए सनातनमान्यतानुगत न केवल आद्वकर्म पर ही, अवितु अन्यान्य भी प्रायः सभी श्रौत-स्मार्च विधि-विधानों पर जो प्रहार किया, उस में होने वाले अनिष्ट की कल्पना भी यदि उसे उम ममय हो जाती, तो सम्भवतः वह इस प्रकार अपनी व्यक्तिप्रतिष्ठा के व्यामोह से आस्तिक प्रजा की सहजअद्भाग को उत्पीड़ित करने के महापातक से असंस्पृष्ट बना रहता हुआ देवलोक का नहीं, तो चान्द्र पितृलोक का तो अधिकारी बन सकता था। किन्तु उद्वेगधन न हो सका उस अभिनिवेश-दशा में उम वेदभक्त का, जिस के परिणाम स्वरूप आस्तिक प्रजा की धर्मशीलता में जो आत्यन्तिक रूखलन हो पड़ा था, उसे दृढमूल बना डाला तथाकथित पूर्वोक्त पश्चिम के भौतिक विज्ञान-तृणिकविज्ञान-के चाकचिक्यने। 'गिलोय, और नीम चढ़ी' लोकोक्ति को चरितार्थ करने वाली उस 'द्विवेदं सुवर्द्धं भवति' मूला दृढपाशरज्जू से आमूलचूड़ बद्ध आवद्ध आस्तिक प्रजा सर्वात्मना सनातन निगमागमन्नाय से परांपरावत घनती हुई 'शास्त्र-प्रामाण्यनिष्ठा' को विस्मृत कर बैठी।

आस्तिक प्रजा की सहज प्रामाण्यनिष्ठा पुनः जागरूक हो, वह अपने विस्मृतप्राय-परिचयकप्राय देव-पितृकर्मपरम्परा का पुनः धानुगमन करती हुई अपना अभ्युदय-निःश्रेयस् संसाधन कर सके, सर्वोपरि इस प्रजा की इस शास्त्रप्रमाण-अद्भाग पर बकवृत्ति-परायण हेतुकों के जो आपावरमणीय, तत्त्वतः सर्वथा निर्मूल-निगतत्त्व तर्क-युक्ति-हेतु-तृणिकविज्ञानानुगता आलोचना

प्रत्यालोचना-आदि के जो नगण्य आत्रमणभास हो रहे हैं, उन से इस का सन्त्राण हो, इत्यादि प्रयोजनों के लिए ही 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' ग्रन्थ संकल्पित हुआ है, जिसकी पूर्ति चार खण्डों में अनुप्राणित है। इन सब बहिरङ्ग-प्ररनपरम्पराओं का 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथम खण्ड की प्रारम्भिक 'प्रस्तावना' में समाधान कर दिया है। प्रकृत में हमें प्रस्तुत 'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड में प्रतिपादित विषयों की दिशा के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन कर देने हैं।

प्रस्तुत खण्ड में 'प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्, ऋणमोचनोपायोपनिषत्, आशौच-विज्ञानोपनिषत्' इन तीन मुख्य अखान्तर प्रकरणों का समावेश हुआ है। प्रथमोपनिषत् में बृहदुक्त महर्षि की पितृपद्या के आधार पर चतुरस्रीतिकल पितृतन्तुलक्षण 'प्रजातन्तु' का वैज्ञानिक विश्लेषण हुआ है। द्वितीयोपनिषत् में प्रजोत्पादनकर्म, सापिण्डीकरणकर्म, आद्रकर्म, गयापिण्डदान, इन चार आनुषंगिकों के वैज्ञानिक स्वरूप का विश्लेषण हुआ है। इन में से चतुर्थ गयापिण्डदान-प्रकरण में ही महासङ्गीतनिबन्धन-रात्रिजागरणात्मक-पारिवारिक कुलस्त्री-वर्गकृत-मान्यतात्मक लौकिक पितृकर्म का समावेश हुआ है। तृतीयोपनिषत् में सूतकाशीच, शावाशीच, आदि अघाशौच की सात्त्विक स्वरूप मीमांसा हुई है। यही प्रस्तुत खण्ड के विषयों की संक्षिप्त स्वरूपदिशा है।

जैसा कि, प्रथमखण्ड के प्रारम्भिक वक्तव्य में स्पष्ट कर दिया गया है, खण्डचतुष्टयात्मक यह ग्रन्थ स्वर्गीय पितृश्री के वापिक आश्रीपल्लव में सन् ३४ में ही यद्यपि लिपिबद्ध होगया था। किन्तु युगधर्मानुगता ज्ञात-अज्ञात विघ्नपरम्पराओं के कारण अद्यावधि यह प्रकाशित न हो सका। 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' प्रथम खण्ड का प्रकाशन यद्यपि कुछ वर्षों पूर्व हो गया था। किन्तु तत्समय में उसे हम व्यक्त न कर सके। कारण, उस में लगभग ३० तिरङ्गे खगोलीय चित्रों का समावेश अनिवार्य था। एवं वैसी व्यवस्था उस समय हमारे सीमिततम कष्टसाध्य अर्थतन्त्र की दृष्टि से असम्भव थी। आगे चलकर हमें इस कार्य के लिए एक दैसे सात्त्विक सहयोगी का सात्त्विक सहयोग प्राप्त हुआ, जिस के लोकानुग्रह से हम प्रथमखण्ड को भी इस तृतीयखण्ड के साथ ही अभिव्यक्त कर सके। सुविख्यात व्यवसायी महाप्राण भेषिप्रवर माननीय स्व० श्रीगोविन्दरामजी सेकसरिया के सुपुत्र माननीय भेषिप्रवर श्रीकुङ्डीलालजी सेकसरिया के सात्त्विक सहयोग से प्रथमखण्ड प्रकाशन व्यय, तथा १४ तिरङ्गे चित्रों के प्रकाशनव्यय की व्यवस्था हुई। एवं शेष १५ चित्रों का प्रकाशन नितान्त नैष्ठिक माननीय उन श्रीमहावीरप्रसादजी मुरारका के सौजन्य से सम्भव बन सका, जिन मुरारकाजी का अद्वाविगलित, किन्तु अरमाखण ऐकान्तिक निष्ठात्मक सहयोग हमें शश्वतीभ्यः समाभ्यः प्राप्त है। प्रस्तुत तृतीय खण्ड के प्रकाशन का श्रेय हम श्रीमुरारकाजी को अब इस लिए प्रदान करना नहीं चाहते कि, कुछ समय से उनकी ऐकान्तिक निष्ठा

उस 'आत्मसंविद्' रूप में परिणत हो गई है, जिस संयुक्त को प्राप्त कर लेने के पश्चात् मानव सम्पूर्ण लोकेपणाओं से अहिःकञ्चुकियन् विनिर्मुक्त हो जाया करता है। इष्टदेव से यही कामना है कि, देवयोग से उनके नैष्ठिक अन्तःकरण में सहसा उद्भूत समद्भूत यह आत्मसंविद् अच्युत बनी रहे।

सर्वान्त में हम अपने सहज सात्त्विक उस मानवधेष्ट (श्रीकुर्दालालजी सेकसरिया) के प्रति कृतज्ञता समर्पण के द्वारा उनका सात्त्विक मूल्याङ्कन विश्रान्त नहीं कर देना चाहते, जिनकी विगत-प्रक्रान्त, तथा भावी सात्त्विक सहयोगप्रदानपरम्परा से ही हम अपनी ग्याध्यायनिष्ठा को सुरक्षित रखने में भूतबल प्राप्त कर सके हैं, करते रहेंगे। हम के साथ ही हम अपने आत्मीयसम सर्वश्रीमहावीरप्रसादमोदी महोदय का भी यहाँ उल्लेख कर लेते हैं, जो सर्वथा सहजहृदय से अपनी 'गुप्त' अभिधा को अन्वर्थ बनाते हुए आरम्भ से ही हमारे लौकिक दुःख-सुख के सहयोगी बने रहे हैं। जगन्माता जगदम्बा मोदी महोदय को सर्वोद्भूत-सम्पन्न बनावे, यही मङ्गल-कामना है।

हमारी भावुकतापूर्ण सहज कल्पना से जिस व्यक्ति से सम्बन्धित ईश्वरप्राप्त सहज प्रतिभा के सम्बन्ध में अनुमानतः आज से १०-१२ वर्ष पूर्व श्रीमुरारकाजी से हमने ये मनोभाव अभिव्यक्त किए थे कि, "यदि किसी नैष्ठिक के तत्त्वावधान में इस बालक का शिक्षा-क्रम सुव्यवस्थित रहा, तो कालान्तर में यह बालक सेकसरिया परिवार के गौरव को महामहिमशाली प्रमाणित कर देगा", उसी व्यक्ति के (माननीय सर्वश्री जगदीशप्रसादजी सेकसरिया के) सत्त्वपूर्ण सहयोग से प्राप्त प्रकाशन-परिग्रह का बल यदि हमें प्राप्त न होता, तो मानवाभ्रमविद्यापीठनिर्माण की एषणा में आहुत हो जाने वाले समस्त प्रेमपरिग्रह के अनुग्रह से हम कथमपि इस प्रकाशन-कार्य को पुनः प्रक्रान्त करने में सर्वथा असमर्थ हो बने रहते। अतएव लोकानुबन्धिनी इस कृतज्ञताभिव्यक्ति के माध्यम से सर्वश्री मा० जगदीशजी महोदय के प्रति भी हमारी कृतज्ञताभावना शाश्वत हो बनी रहेगी। "नर्मदा नदी के छोटे बड़े फ़ड्डर, सभी शाङ्कर" इस लोकसंस्कृति के अनुसार अन्यान्य ज्ञात-अज्ञात उन सभी सहयोगियों के प्रति भी हम अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्त किए बिना नहीं रह सकते, जिनका मनसा-वाचा-कर्मणा, किंवा अर्थन सहयोग प्राप्त होता रहता है। 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्त्यर्थ' ही इस कृतज्ञताभिव्यक्ति का माङ्गलिक मूल माना गया है। एवं इसी माङ्गलिक मूलसंस्मरणपूर्वक यह संक्षिप्त प्रास्ताविक उपरत हो रहा है।

भाषण-शुक्लत्रयोदशी

वि० स०-२०१०

"मानवोक्त्यैवैराजिकवर्द्धाय"

श्रीमानवाभ्रमविद्यापीठ दुर्गापुरा

आस्थाश्रद्धापूर्तास्तिकनैष्ठिकैर्विधेयः

नितान्तभावुकः

मोतीलालशर्मा भारद्वाजः (गोड्डः)

वेदपीथीपथिकः

श्री-

महोमांगलिक 'पितृस्वरूप' संस्मरण  
स्तुत्यात्मक, तथा स्वरूपवर्णनात्मक

—\*—



## निगमानुगता महामङ्गलप्रदा पितृस्तुतिः स्वरूपवर्णनार्थिका

- (१)—उदीरतामवर उत्परास उन्मथ्यमाः पितरः सोम्यासः ।  
असुं य ईषुरवृक्षा ऋतज्ञास्तं नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥
- (२)—इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो य उपरास ईषुः ।  
ये प्रार्थिवे रजम्यो निषचा ये वा नूनं सुवृजना सु विषु ॥
- (३)—आहं पितृन्सुविदत्राँ अचित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः ।  
वर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ॥
- (४)—वर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चक्रमा जुषध्वम् ।  
त आ गतावसा शन्तमेनोथा नः शंयोररपो दधात ॥
- (५)—उपहृताः पितरः सोम्यासो वर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।  
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्यधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ॥
- (६)—आच्या जानु दक्षिणतो निषधं मं यज्ञमभि गृणीत विश्वे ।  
मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो-यद्वा आगः पुरुषता कराम ॥
- (७)—आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुपे मर्त्याय ।  
पुत्रभ्यः पितरस्तस्य वभ्यः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥
- (८)—ये नः पूर्वं पितरः सोम्यासोऽनृहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।  
तेभिर्ममः संरराणो हवींष्युशान्तुशाद्भिः प्रतिकाममत्तु ॥
- (९)—ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः सोमतष्टासो अर्कैः ।  
आग्ने याहि सुविदत्रंभिरवाङ् सत्यैः कव्यैः पितृभिर्ममसद्भिः ॥
- (१०)—ये सत्यासो हविरदो हविष्ठा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः ।  
आग्ने याहि सदस्रं देववन्दैः परैः पूर्वैः पितृभिर्ममसद्भिः ॥
- (११)—अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतपः ।  
अत्ता हवींषि प्रयतानि वर्हिष्यथा रयिं सर्ववीरं दधातन ॥

(१२) — त्वमग्न ईलितो जातवेदोऽवाइद्व्यानि सुरभीणि कृवी ।

प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नादि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥

(१३) — ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विष याँ उ च न प्रविष ।

त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधार्मिर्पज्ञं सुकृतं जुपस्व ॥

(१४) — ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।

तेभिः स्वराडमुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥

— ऋग्वेदसंहिता, १० मण्डल, १५ यों सूक्त

खण्डचतुष्टयात्मिका आद्यविज्ञानोपनिषत् ( एतन्नामक ग्रन्थ ) के द्वारा हम 'आद्ये' कर्म के सम्बन्ध में तर्क-युक्ति-विज्ञानमाध्यम से जो कुछ प्रतिपादन करना चाहते हैं, उन यक्षयायन् विषयों का मूल ( मौलिक रहस्य ) पूर्वापात्त पितृस्वरूपसंस्मरणालम्क ऋग्वेदीय वराममण्डलान्तर्गत पञ्चदशमसूक्त की षतुर्दशमन्त्रसमष्टि से सर्वात्मना गतार्थ है । महर्षि 'यम' के पुत्र, अतएव 'यामायन' नाम से प्रसिद्ध मन्त्रद्रष्टा भगवान् शङ्खमहर्षि द्वारा 'दृष्ट', 'पितृदेवता'त्मक, विराट्त्रिष्टुप्-त्रिष्टुप्-पादनिचतुत्रिष्टुप्-आर्चाभुरिक्त्रिष्टुप्-निचृजगती-छन्दों से छन्दित, धैवत, एवं निषाद् स्वरद्वयी से सन्तुलित उद्धृत प्रस्तुत ऋग्वेदीयसूक्त में स्तुतिमाध्यम से 'पितृदेवता' के जिस मौलिक स्वरूप का विरलेपण हुआ है, उसके आनुपूर्वी से निरूपण के लिए तो एक स्वतन्त्र महानिवन्ध ही अपेक्षित है । स्तुति का एकमात्र आस्थापरिपूर्णा सार्विकी अनन्यश्रद्धा से सम्बन्ध है । फिर उस पितृस्तुति के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है, जिसका एकमात्र मूलाधार-सर्वाधार-सर्वस्व-चान्द्री 'श्रद्धा' ही बना हुआ है । इस पूततम श्रद्धाक्षेत्र से सम्बन्धित पितृस्तुतिरूप वेदमूल की युक्ति-तर्क-विज्ञानसम्मता नैष्ठिकी व्याख्या की जिज्ञासा यन् केचित् भी तो महत्त्व नहीं रखती पितृकर्मभक्त, अनन्यश्रद्धालु आस्तिक भारतीय द्विजातिमानव की दृष्टि में । अतएव सहजश्रद्धातन्तुओं को आरम्भ में विकम्पित कर देने वाली वैशानिक व्याख्या का उत्तरदायित्व 'स्वतन्त्रग्रन्थ' पर छोड़ते हुए प्रकृत में केवल सूक्तमन्त्रों का भावार्थ उद्धृत कर दिया जाता है ।

(१) — उदीरतामवर ।

"अवरे, उत-परासः, उत-मथ्यमाः, पितरः, मोम्यासः, उदीरताम् । ये अधृकाः, ऋतज्ञाः, असुः, ये ईयुः, ते, पितरः, नः, हवेयु, अवन्तु" इत्यन्वयः ।

"अवरस्थानीयाः पार्ष्णिबाः, उत सुलोक्तस्थानीयाः परासः, उत आन्तैरीक्ष्या मथ्यमाः पितरः सोमात्मकाः ( पितृकर्मानुष्ठानपरायणाय यजमानाय ) अस्थिनो भवन्तु । ये पितरः सुरान्ताः सन्तो ऋतभावापन्नाः पारमेष्ठ्यभावापन्नाः यजमानस्थाध्यात्मिकं प्राणमनुगताः आगताः पितरः-अन्न-पितृ-कर्मणि-अस्मदीयेषु आह्वानेषु रक्षन्त्वस्मान्" इति-अन्तरार्थः ।

“पार्थिव प्रथमश्रेणि के पार्थिव पितर, और उत्तमश्रेणि के दिव्य पितर, एवं मध्यमश्रेणि के आन्त-रिच्य पितर, जो कि स्वरूपतः सोमप्राणप्रधान बनते हुए सोम्य हैं, हमारे लिए यशःप्रदाता यन् । ऐसे जो पितर हैं, वे अपने सुशान्त सोम्यभाव से, अपने सोमलोकात्मक पारमेष्ठ्य ऋतस्वरूप से पितृकर्मानु-ष्टाता यजमान की अध्यात्मसंस्था के अभिमुख बनते हुए हमारी प्रार्थना सुनें, हमारी रक्षा करें” इति प्राकृतभाषासमन्वयः ।

सूर्य, और पृथिवी, दोनों का मध्यस्थान अन्तरिक्ष है, इसे ‘प्रथम द्युलोक’ माना गया है । स्वयं सूर्य ‘सूर्यो द्युस्थानः’ के अनुसार ‘द्वितीय द्युलोक’ है, एवं सूर्य से भी परम-ऊर्ध्व-स्थान में अवस्थित, अतएव ‘परमे स्थाने तिष्ठति’ निर्बचनानुसार ‘परमेष्ठी’ नाम से प्रसिद्ध ऋतभाषप्रधान अश्विनजिरोमय लोक ‘तृतीय द्युलोक’ है । ‘तृतीयस्यां-व इतो दिवि सोम आसीत्’ इत्यादि ब्राह्मणश्रुति के अनुसार इस तृतीय द्युलोक में ही ‘अम्भः’ नामक पवित्र उस + ‘ब्रह्मणस्पति’ सोम का साक्षात्त्व है, जो पितरों की मूलप्रतिष्ठा माना गया है । पारमेष्ठ्य सोम्य पितर ही सौर त्रैलोक्य का प्रभव-प्रतिष्ठा परायण है । तृतीय द्युस्थानीय पारमेष्ठ्य पितर सौर त्रैलोक्य में आकर क्रमशः सौर दिव्य पितर, चान्द्र आन्तरिच्य पितर, पार्थिव पितर, इन तीन श्रेणियों में विभक्त हो जाते हैं । तन्नां क्रमशः ‘परासः’-‘मध्यमाः’-‘अवरे’ कहलाए हैं । तीनों में मध्यस्थ आन्तरिच्य चन्द्रमा भास्वरसोमात्मक सत्यसोमपिण्ड है, जिसके ‘रितः-श्रद्धा-यशः’-ये तीन मनोता मानें गए हैं । इन तीनों का क्रमशः पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्य, इन तीन सौर लोकों के साथ प्राकृतिक समन्वय हो रहा है । पृथिवी रेतोमयी है, स्वयं चन्द्रमा भद्राप्रधान है, एवं द्वादशादित्यप्राणसमष्टिरूप सूर्य यशोमूर्ति है । यह यशोभाव ही त्रिविध पितरों का प्रधान विशिष्ट गुण है । ‘उदीरताम’ से इसी विशिष्ट गुण की ओर मद्धेतु हुआ है । शरीरप्रतिष्ठारूप अज्जिरोभावापन्न आग्नेय प्राण का संरक्षण इसी त्रिविध सोम्य पितरप्राण से हो रहा है । एवं वही मन्त्र की संक्षिप्त विज्ञानदिशा है ।

(२)-इदं पितृभ्यो नमः०

‘ये पूर्वासः, ये उपरासः ईयुः, ये पार्थिवे रजसि आनिपत्ताः, ये वा नूतं सुवृजनासु विदुः-आनिपत्ताः-( तेभ्यः-सर्वेभ्यः ) पितृभ्यः-इदं नमः ‘अस्तु’ इत्यन्वयः ।

प्राकृतिक पूर्णायुर्भोगानन्तर जो आध्यात्मिक महत्पितर चन्द्रलोक में अवस्थित हैं, वे ‘पूर्वासः’ हैं । एवं अकालमृत्यु से जो चन्द्रलोक में स्वल्पावस्था में ही चले गए हैं-वे ‘उपरासः’ हैं ।

\* ऋतमेव परमेष्ठी ऋते भूमिरियं श्रिता ।

ऋते समुद्र आहित ऋते नात्येति किञ्चन ॥ ( गोपथब्राह्मण )

÷ पवित्रं ते व्रिततं ब्रह्मणस्पते प्रभृताग्निं पर्येयं विश्वतः ।

अतस्ततनूर्न तदामो समश्नुते शृतांस इदं हन्तस्तत् समासत ॥ ( ऋक्संहिता )



जिन महत्पितरों की औपपातिक भावानुबन्ध से अभी चन्द्रलोकगति नहीं हुई है, वे पार्थिव रजोलोक में इतस्ततः चक्रममाण पितर हैं। आध्यात्मिक पितर के ये तीन ही श्रेणियाँ भाग होते हैं। तीनों श्रेणियों के प्रेतपितर सम्पत्तिशाली भद्राशील अपनी पुत्रादि प्रजा (सृष्टिजनासु पितृ) में आशरूप से अनुगत रहते हैं, जिन्हें नमस्कार पूर्वक-हृदयप्रदानद्वारा भद्रालु प्रजा तृप्त किया करती है।

### (३)-आहं पितृन्०

पितृकर्मकर्त्ता भद्रालु यजमान ने अनुग्रह करने वाले पितरों को अपने अनुकूल बना लिया है, परमेश्वर सौम्य पितृगुण का भी इस सौम्य पितर-अनुग्रह से अनुग्रह प्राप्त कर लिया है। 'बर्हिपदः' नाम के अन्नपितर-पार्थिव पितर इस पुराङ्गराहुतिरूप द्रव्य का, तथा सोम का यजमान के इस पितृयज्ञकर्म में उपभोग कर रहे हैं।

### (४)-बर्हिपदः पितरः०

हे 'बर्हिपदः' नामक पितृदेवताओ ! आप हमारी अर्वाचीन-आगे की-वंशम्परा-का अवश्य ही संरक्षण करेंगे। हम आपके लिए यह हविर्द्रव्य सम्पन्न कर रहे हैं। आप इन से तुष्ट-तृप्त घनिए। एन हमारे लिए, तथा हमारे परिवार के लिए शान्ति-स्वस्ति प्रदान करने का अनुग्रह कीजिए।

### (५)-उपहूताः पितरः०

वे हमारे पितृदेवता हमारे इन भद्रात्मक पितृकर्म में हमारी प्रार्थना से यहाँ पयारें, यहाँ पधार कर वे हमारी प्रार्थना सुनने का अनुग्रह करें। प्रार्थना सुन कर हमें आशीः प्रदान करने का अनुग्रह करें।

### (६)-'आच्या जानु दक्षिणतः०'

'दक्षिणं जान्वाच्य पितरः उपासीदन्' (शत०) इत्यादि श्रुति के अनुसार प्रार्थनाधीतो बनकर दक्षिण जानु को नत बनाकर समुपस्थित पितर बड़े ही अनुग्रह से हमारे इन कर्म से सम्पुष्ट-तृप्त हो रहे हैं। हे पितृदेवता ! इस पितृकर्म में यदि आपके आतिथ्य में हमसे कुछ अपराध बन पड़ा हो, तो हमें विश्वास है, आप अवश्य हमें क्षमा कर देंगे।

### (७)-आसीनासो अरुणीनाम्०

तेजोमय आग्नेय देवताओं के सामिध्य में समुपस्थित हे पितृदेवताओ ! आप इस पितृकर्म में हविःप्रदान करने वाले यजमान के लिए सम्पत्ति प्रदान का अनुग्रह करेंगे। यजमानप्रजा को सम्पत्तिशालिनी, तथा 'उक्' नामक सहोबलशालिनी बनाने का अनुग्रह करेंगे।

### (८)-ये नः पूर्वे पितरः०

जो हमारे वृद्धातिवृद्धप्रतिभामहावि पूर्व पितर यथासमय देव-पितृ-कर्मों के द्वारा तुष्ट-तृप्त होते रहे हैं, उन पितरों के साथ समन्वित दक्षिणपथाधिष्ठाता यमदेवता (ऋदेवता) भी तुष्ट तृप्त बनते हुए हमारे लिए अनुग्रहप्रदाता प्रमाणित हो रहे हैं।

(६)—ये तातृपुदेवना०

प्राकृतिक स्थिति क्रमानुसार कालान्तर में अपने पितृभाव से देवभाव में परिणत होते हुए 'नान्दीमुख' बन जाने वाले पितर स्तुतिकर्त्ता-हविःप्रदाना-भट्टाशील-यजमानों के लिए अनुग्रह-भाजन बन जाते हैं। हे अग्निदेवता ! देवभावापन्न वे दिव्य नान्दीमुख पितर आप के साथ हमारे इस देवकर्म में यथासमय पधारने का अनुग्रह करते रहें।

(१०)—ये सत्यासः०

अपने ऋतसोमधर्म से स्वरूपतः 'ऋतायः' (सौम्य) भी पितर देवप्राप्त्यानुशयमन्वन्ध से 'सत्यासः' (आग्नेय) बनते हुए देववर्ग-संयुक्त इन्द्रदेवता के साथ संयुक्त होते हुए देवकर्म में पधारते रहें हैं।

(११)—अग्निप्याताः पितरः०

अग्निद्वारा आस्थादित, अतएव 'अग्निप्याता' नामसे प्रसिद्ध अग्निपितर (गृह-भोजन-पार्थिव पितर) इस पितृकर्म में पधारें। पधार कर अपने अनुरूप स्थानों में प्रतिष्ठित होने का अनुग्रह करें। स्वस्थता पूर्वक विराजमान होकर हविर्भक्षण का अनुग्रह करें। इस से तुष्ट तृप्त बनते हुए वे पुत्रपौत्रादि युक्त सम्पत्ति प्रदान का अनुग्रह करें।

(१२)—त्यमग्न ईलितः०

हे अग्ने ! आपने अनुग्रह कर हमारी प्रार्थना पर अनुग्रहदृष्टि करते हुए हमारी यज्ञमामग्री को आपने अपने विशाकलनधर्म से देवपितृभोग्य बना दिया है। आपने सब प्राणदेवपितरों में आहुतिद्रव्य विभक्त कर दिया है। हे पितृदेवताओं ! अग्नि-के अनुग्रह से यथाभागविभक्त स्वधापूर्वक प्रदत्त इस हवि का आप ग्रहण करें। हे अग्निदेव ! आप भी हविर्भक्षण से तृप्त होने का अनुग्रह करें।

(१३)—ये चेह पितरः०

जो पितर यहाँ समुपस्थित हैं, जो उपस्थित नहीं हैं, जिन्हें हम जानते हैं, एवं जिन्हें हम नहीं जानते, वे सब उपस्थित-अनुपस्थित-ज्ञात-अज्ञात-हमारे वंशपितर अग्निदेवद्वारा अवश्य ही उपस्थित, एवं विज्ञात हैं। अतएव हम जातवेदा सर्वज्ञ उन अग्निदेव से ही यह प्रार्थना करेंगे कि, आप ही अनुग्रह कर उन सब को प्रदत्त हवि से तृप्त करने का अनुग्रह करें।

(१४)—ये अग्निदग्धाः०

जो महत्पितर अग्निमंस्कारद्वारा चन्द्रलोक में पहुँचे हैं, जो पितर (गाह्येयतोय-प्रवाहयज्ञोपादिद्वारा) अवग्निरूप से तत्र प्राप्त हुए हैं, चूलोक (सौरलोक) के मध्यस्थानरूप आन्तरिक्ष चन्द्रलोक में अवस्थित वे सर्वविध प्रेतपितर स्वधापूर्वक प्रदत्त इस हवि से तृप्त हो रहे हैं। हे अग्निदेव ! अपने हविःप्रदानरूप कर्म से विराड्रूप (दशविध) बने हुए आप उन पितरों के साथ संयुक्त होते हुए इस प्रदत्त हविर्द्रव्य से उन हमारे प्रेतपितरों की शरीरस्वरूपनिवृत्ति का अनुग्रह करें।

इति नैगमिकमङ्गलस्तुतिः पितृणाम्

आगमानुगता महामञ्जुप्रदा पितृस्तुतिः—स्वरूपवर्णनात्मिका—

नमस्येऽहं पितॄन् आद्रे ये वसन्त्यधिदेवताः ॥  
 देवैरपि हि तर्प्यन्ते ये च आद्रे स्वधोचरैः ॥ १ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् स्वर्गे ये तर्प्यन्ते महर्षिभिः ॥  
 आर्द्रैर्मनोमयैकस्या श्रुति-श्रुक्तिमभीप्सुभिः ॥ २ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् स्वर्गे मित्राः सन्तर्पयन्ति यान् ॥  
 आद्रेषु दिव्यैः मकलैरुत्तारैरनुत्तमैः ॥ ३ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् भक्त्या येऽर्च्यन्ते गुह्यकैरपि ॥  
 तन्मयत्वेन वाञ्छन्ति ऋद्धिमाप्स्यन्ति कीं पराम् ॥ ४ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन्मर्त्यैर्तर्प्यन्ते सुवि ये सदा ॥  
 आद्रेषु भद्रयोगीश्वरैः लोकप्राप्तिप्रदायिनः ॥ ५ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् विप्रैर्तर्प्यन्ते सुवि ये सदा ॥  
 वाञ्छिताभीष्टलभाय प्राजापत्यप्रदायिनः ॥ ६ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् ये वै तर्प्यन्तेऽरण्यवासिभिः ॥  
 घनैः आर्द्रैर्यथाहारैस्तपोनिर्धूतकिन्त्रिणैः ॥ ७ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् विप्रैर्नैष्ठिकयतचारिभिः ॥  
 ये संयतात्मभिर्नित्यं सन्तर्प्यन्ते समाधिभिः ॥ ८ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् आर्द्रै ररञ्ज्यास्तर्पयन्ति यान् ॥  
 कन्दैरशुषैर्विधिवल्लोकत्रयफलप्रदान् ॥ ९ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् वैश्यैरर्च्यन्ते सुवि ये सदा ॥  
 स्वकर्मभिरतैर्नित्यं पुष्पपूषाणवारिभिः ॥ १० ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् आर्द्रैर्यै शूद्रैरपि भक्तिः ॥  
 सन्तर्प्यन्ते जगत्पत्र नाम्नाः ख्याताः सुकालिनः ॥ ११ ॥  
 नमस्येऽहं पितॄन् आर्द्रैः पाताले ये महासुरैः ॥  
 सन्तर्प्यन्ते स्वधाहारास्त्यक्तदम्भमदैः सदा ॥ १२ ॥

नमस्येऽहं पितृन् श्राद्धैरर्च्यन्ते ये रसातले ॥

भोगैरशेषैर्विधिवन्नामैः कामानभीप्सुभिः ॥ १३ ॥

नमस्येऽहं पितृन् श्राद्धैः मर्षैः सन्तर्पितान् सदा ॥

तत्रैव विधिवन्मन्त्रभोगसम्पत्समन्वितैः ॥ १४ ॥

पितृन्मस्ये निवसन्ति साक्षात्—ये देवलोके च तथान्तरीक्षे ॥

महीतले ये च सुरादिपूज्यास्ते मे प्रनीच्छन्तु मयोपनीतम् ॥ १ ॥

पितृन्मस्ये परमात्मभूता ये वै विमाने निवसन्ति मूर्चाः ॥

यजन्ति यानस्तमलैर्मर्मनोभिर्षांगीधरा बलेशपिमुक्तिहेतुम् ॥ २ ॥

पितृन्मस्ये दिवि ये च मूर्त्ताः स्वधाभुजः काम्यकलाभिमन्त्रा ॥

प्रदानशक्ताः सकलैप्सितानां विमुक्तदा येऽनभिर्साहितेषु ॥ ३ ॥

तृप्यन्तु ते ऽस्मिन् पितरः समस्ता इच्छावतां ये प्रदिशन्ति कामान् ॥

सुरत्त्वमिन्द्रत्वमतोऽधिकं वा सुतान् पशून् स्वानि बलं गृहाणि ॥ ४ ॥

सोमस्य ये रश्मिषु येऽर्कविम्बे शुबलेविमाने च सदा वसन्ति \* ॥

तृप्यन्तु तेऽस्मिन् पितरोऽन्ननोर्यगन्धादिना पुष्टिमतो व्रजन्तु ॥ ५ ॥

ये पां हुतेभ्यो हविषा च तृप्तिर्ये भुज्जते विप्रशरीरसंस्थाः ॥

ये पितृददानेन मुद्रं प्रयान्ति तृप्यन्तु तेऽस्मिन् पितरोऽन्ननोर्यः ॥ ६ ॥

ये खड्गिर्मांसिन उरैरभीष्टैः कृष्णंस्तिलं दिव्यमनोहरंश्च ।

कालेन शाकेन महर्षिर्वर्ग्यैः सम्प्रीणितास्ते मुदमत्र यान्तु ॥ ७ ॥

कव्यान्शेषाणि च यान्यभीप्यान्पतीव येषाममराचितानाम् ॥

तेषान्तु सान्निध्यमिहास्तु पुष्पगन्धान्नभोज्येषु मया कृतेषु ॥ ८ ॥

दिने दिने ये प्रतिगृह्यतेऽन्नं मामान्तपूज्या भुवि येऽष्टकासु ॥

ये ऋरान्तेऽभ्युदये च पूज्याः प्रयान्तु ते ये पितरोऽन्न तृप्तिम् ॥ ९ ॥

पूज्या द्विजानां कुमुदेन्द्रभासो यो च त्रियाणाश्च नवाकवेर्णाः ॥

तथाविशां यो कनकवद्राता नीलीनिभाः शङ्खजनस्य यो च ॥ १० ॥

\* विमान एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवानुरोदसो अन्तर्चम् ।

म विश्वार्च्यारभियष्टे घनाचोरन्तरा पूर्वमपरश्च केतुम् ॥ ( यजुःस= १७।४६। ) ।

तेऽस्मिन् समस्ता मम पुष्पगन्धधूपान्नोपादिनिवेदेन ॥  
 तथाग्निहोत्रेण च यान्तु तृप्तिं सदा पितृभ्यः प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ॥ ११ ॥  
 ये देवपूर्वार्चनानितृप्तहोतोरश्नन्ति कव्यानि शुभाहुतानि ॥  
 तृप्ताश्च ये भूतिसृजो भवन्ति तृप्यन्तु तेऽस्मिन् प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ॥ १२ ॥  
 रक्षांसि भूतान्यसुरांस्तयाग्रान् निर्नाशयन्तस्त्वशिवं प्रजानाम् ॥  
 आधाः सुराणाममरेशपूज्यास्तृप्यन्तु तेऽस्मिन् प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ॥ १३ ॥  
 अग्निध्वाचा वह्निपद आज्यपाः सोमपास्तथा ॥  
 ब्रजन्तु तृप्तिं आद्रेऽस्मिन् पितरस्तृप्तिं मया ॥ १४ ॥  
 अग्निध्वाचाः पितृगणाः प्राचीं रक्षन्तु मे दिशम् ॥  
 तथा वह्निपदः पान्तु याम्यां ये पितरः स्मृताः ॥ १५ ॥  
 प्रतीचीमाज्यपास्तद्दुदोचीमपि सोमपाः ॥  
 रक्तोभूतपिशाचेभ्यस्तथैवासुरदोषतः ॥ १६ ॥  
 सर्वस्यश्वाधिपरतेषां यमो रक्षां करोतु मे ॥  
 विश्वो निश्वभृगाराध्यो धर्मो धन्यः शुभाननः ॥ १७ ॥  
 भूतिदो भूतिकृद्भूतिः पितृणां ये गणा नव ॥ (६)  
 कल्प्याणः कल्पता कर्त्ता कल्पः कल्पतराश्रयः ॥ १८ ॥  
 कल्पताहेतुरनघः पटिमे ते गणाः स्मृताः ॥ (६)  
 वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा ॥ १९ ॥  
 विश्वपाता तथा घाता सार्वभौते तथा गणाः ॥ (७)  
 महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः ॥ २० ॥  
 गणाः पञ्च तथैवैते पितृणां पापनाशनाः ॥ (४)  
 सुखदो धनदश्चान्यो धर्मदोऽन्यरश्च भूतिदः ॥ २१ ॥  
 पितृणां कथ्यते चैतत्तथा गणाचतुष्टयम् ॥ (४)  
 एकविंशत्पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ॥ २२ ॥  
 ते मेऽनुवृत्तास्तुप्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम् ॥ २३ ॥

—मार्कण्डेयपुराण ६६ । अ० ।

गरुडपुराण पितृस्तोत्राध्याय ८६ ।

इत्यागमिकमङ्गलस्तुतिः पितृणाम्—प्रीयतामनया पितृदेवता

श्री

'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीय खण्ड की

रेखाचित्र, एवं परिलेखसूची

तथा

संक्षिप्त-विषयसूची



श्री:

## सम्पादन, तथा विषयसूची के सम्बन्ध में विशेष निवेदन-

अनेक वर्षों की उपेक्षा के फलस्वरूप विगत दो वर्षों से विगेयरूप से आतिथ्य स्वीकार कर लेने वाली निरतिशया अस्वस्थता ने ऐसा आभास करा दिया था कि, अब निकटभविष्य में ही 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' अन्यर्थ प्रमाणित होने वाला है। किन्तु 'आधुर्मर्माणि रक्षति' इम रात्रान्त ने पुनः कुछ समय के लिए आंशिक स्वस्थता प्रदान कर दी, जिसके बल पर गत वैशाख से यह प्रकाशनकार्य प्रक्रान्त बना। यद्यपि भ्रम-पारभ्रम में कोई व्याज नहीं हुआ, तथापि पूर्णस्वस्थता के साथ, साथ ही पूर्णसाधन सुविधापूर्वक प्रकाशन जैसा होना चाहिए था, न हो सका। अशुद्धियों का प्राचुर्य, छपाई की अस्थिरता, बाह्यावरणों की निःसीम अमुन्दरता, आदि आदि वे सभी दोष इस प्रकाशन में पाठकों को समुपलब्ध होंगे, जो दोषपरम्परा बाह्यमौन्दर्यप्रधान-मनोभावानुगत आज के युग के लिए एक अज्ञान्य अपराध माना गया है। यही प्रस्तुत प्रकाशन के 'सम्पादन' सम्बन्ध में अपनी अपराधस्वीकृति की संक्षिप्तदिशा है, जिसके साथ साथ संशोधन-दिशा के सम्बन्ध में भी हमें इस रूप से अपने आपको अपराधी प्रमाणित कर ही लेना है कि—

एकमात्र हमारी अनवधानता से संशोधन करते समय कतिपय विषयों का समावेश शीर्षकरूप से प्रस्तुत खण्ड में नहीं हो सका है, जिसके लिए पाठकों से क्षमायाचना के अतिरिक्त नान्यः पन्था विद्यते। विषयसूची के आधार पर उन्हें उन विस्मृत अप्रकाशित विषयपरिच्छेदों का यथापृष्ठ-यथास्थान समन्वय कर लेना चाहिए।

प्रस्तुत तृतीय खण्ड में जिन रेखाचित्रों का समावेश हुआ है, वे वस्तुनः तिरङ्ग चित्र थे, जिन के द्वारा प्रतिपाद्य विषयों का विस्पष्ट समन्वय हो रहा था। किन्तु हमें दुःख है कि, अपनी अधिक—विषम-समस्या के कारण हम इन्हें तद्रूप से प्रकाशित न कर सके। केवल 'रेखा' रूप से 'लेथोप्रेस' द्वारा ही इन का प्रकाशन सम्भव बन सका। विशेष प्रतीक्षा अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण इस लिए अनामयिक मान ली गई कि, इसी ग्रन्थ के 'आत्मविज्ञानोपनिषद्' नामक प्रथमखण्ड में समाविष्ट ३० तीस तिरङ्ग चित्रों की आर्थिक व्यवस्था में हमें लगभग ८-१० वर्ष पर्यन्त वह प्रकाशन अवरुद्ध रहना पड़ा था। 'कालाय तस्मै नमः' के अतिरिक्त हम वर्तमान अर्थप्रधानात्मक अनर्थयुग से सम्बन्ध रखने वाली इस अनिवार्यविधगता के सम्बन्ध में हम से अधिक और क्या स्पष्टीकरण कर सकते हैं।

श्रीः

भाषिएड्यविद्यानोपनिषद्भाष्यक तृतीय खण्ड में समाविष्ट—

## परिलेखों, तथा रेखाचित्रों की सूची

१—पाट्टकौशिकमहानात्मपरिलेखः	....	४
२—पाणिधामयिधर्तपरिलेखः	....	११
३—पुरुषभ्य पञ्चविध मन्त्रपरिलेखः	....	१२
४—रेन-गोनि-रेतोधाविधर्तषतुष्टयी-परिलेखः	....	१४
५—मन्त्रधातु-भोज-मन्त्रानुगत आत्मपरिलेखः	....	१७
६—मू-भुवः-स्वः-परिलेख	....	२३
७—गोत्र-उदक-पिएड-पितर-परिलेखः	....	२४
८—शुद्धमगोत्रपितरपरिलेखः	....	२६
९—मोदकपितरपरिलेखः	....	२७
१०—सपिएडपितरपरिलेखः	....	२८
११—रेतःश्रद्धायशःपरिलेखः	....	२९
१२—मूल-तूल-धनभावपरिलेखः	....	३१
१३—द्वेष्टज-महान्-कर्ममन्त्रपरिलेखः	....	३३
१४—पिएडमन्त्रपरिलेखः	....	३४
१५—अथः-तिथ्यरू-ऊर्ध्वरेतः-परिलेखः	....	३६
१६—पञ्चविध-आवापपरिलेखः	....	४४
१७—पितृ-भूतपरिलेख	....	४५
१८—निवाप-पितृनिवाप-तन्त्र-पिएडपरिलेखः	....	४७
१९—पितृश्रद्धा-अन्तर्मन्त्रपरिलेखः	....	४९
२०—आगतपट्टश्लेष परिलेखः	....	५०
२१—स्वोपाजितपितृमन्त्र-पिएडपरिलेखः	....	५१
२२—पितृश्रद्धा-मन्त्र-मन्त्र-पिएडपरिलेखः	....	५३
२३—स्त्रीपुरुषसंस्थाद्वयी-परिलेखः	....	६४
२४—पिएडमन्त्रानु-कर्मचतुष्टयी-परिलेखः	....	६०



२५—चान्द्रसहोवितानचित्रम् (१)	...	... ८३-८४ के मध्यमें
२६—सापिण्ड्यवितानचित्रम् (२)	...	... ८४
२७—पितृसूनुवितानचित्रम् (३)	...	... ११
२८—पिण्डावापचित्रम् (४)	...	... ४१
२९—शृणुधनभावचित्रम् (५)	...	... ४१
३०—वंशवितानचित्रम् (६)	...	... ११
३१—दक्षकवंशवितानचित्रम् (७)	...	... ११
३२—पितृ-देवसृष्टिप्रवर्त्तकमहत-परिलेखः	....	... ८६
३३—शृणुमोचनोपायचतुष्टयी-परिलेखः	....	... ६२
३४—मात्रानुगतवितानभावपरिलेखः	....	... ६४
३५—अष्टाविंशतिकलवितानपरिलेखः	...	... ६५
३६—द्वादशविधपुत्रपरम्परापरिलेखः	....	... ६७
३७—बीजीपिण्डानुगतशृणुधनवितानपरिलेखः	....	... ११२
३८—सप्तभावापन्नपिण्डवितानपरिलेखः	....	... ११३
३९—सपिण्डीकरणवितानपरिलेखः	....	... ११५
४०—चान्द्रसहःपिण्डवितानपरिलेखः	....	... ११६
४१—पञ्चविधमहःपरम्परापरिलेखः	....	... ११८
४२—सप्तपुरुषवितानपरिलेखः	...	... १२०
४३—पैत्राहोरात्रचित्रम् (८)	...	... १३४-३५ के मध्यमें
४४—अद्वोपचय-पितर-अपचयचित्रम् (९)	...	... १३५
४५—पितर-उपचय-अद्वोपचयचित्रम् (१०)	...	... ११
४६—अहोरात्रनिबन्धना कालचतुष्टयी-परिलेखः	...	... १४६
४७—अद्यतनानद्यतनानुगत-मानुषाहोरात्रचित्रम् (११)	...	... १५०-५१ के मध्यमें
४८—अद्यतनानद्यतनानुगत-चान्द्राहोरात्रचित्रम् (१२)	...	... १५०
४९— " सौराहोरात्रचित्रम् (१३)	...	... ११
५०— " ब्राह्माहोरात्रचित्रम् (१४)	...	... ११
५१—उदयास्तमनानुगत-मानुषाहोरात्रचित्रम् (१५)	...	... ११
५२— " चान्द्राहोरात्रचित्रम् (१६)	...	... ११
५३— " सौराहोरात्रचित्रम् (१७)	...	... ११

५४—उदयास्तमनानुगत-ब्राह्महोरात्रचित्रम् (१८)	...	१५०
५५—अद्यतनानद्यतनानुगत-मानुषाहोरात्रावान्तरभोगकालपरिलेखः	....	१५१
५६— " पैत्र " " " " " " " " " " " "	....	"
५७— " देव " " " " " " " " " " " "	....	१५२
५८— " ब्राह्म " " " " " " " " " " " "	....	"
५९—उदयास्तमनानुगता-अहोरात्रचतुष्टयी-परिलेखः	....	१५३
६०—उदयास्तमनानुगतमानुषाहोरात्रावान्तरभोगकालपरिलेखः	....	१५४
६१— " पैत्र " " " " " " " " " " " "	....	"
६२— " देव " " " " " " " " " " " "	....	१५५
६३— " ब्राह्म " " " " " " " " " " " "	....	"
६४—नैगमिकपेन्द्रवारुणाहोरात्रचतुष्टयी-परिलेखः	....	१५६
६५—वर्ष-मास-अहर्भावपरिलेखः	....	१५७
६६—वसन्त-शरत्सम्प्राप्तभावपरिलेखः	....	१५८
६७—प्रतियोगी-अनुयोगी-निधापानुगतसौम्यभावपरिलेखः	....	१५९
६८—आतिषाहिकानुगतसौम्यभावपरिलेखः	....	१६०
६९—अग्रादपितृपदंकरिलेखः	....	१६१
७०—अग्रपितृपदंकरिलेखः	....	२०२
७१—प्राकृतिकसप्तपितरपरिलेखः	....	"
७२—चतुर्दशविधभूतसर्गपरिलेखः	....	२०३
७३—भौमपार्थिवपितरपरिलेखः	....	२०४
७४—साप्तरीरुप-साविण्ड्यपरिलेखः	....	२०५-२५ के मध्यमें
७५—श्रुद्धावापन्नश्चान्द्रपरिलेखः	....	२०६
७६—देवपङ्क्तुपितरपरिलेखः	....	२०७
७७—पितृपङ्क्तुपितरपरिलेखः	....	२०८
७८—महासङ्गीतसमष्टिप्रतीकपरिलेखः	....	"
७९—प्रतीच्यमीमांसात्रयी-परिलेखः	....	२०९
८०—श्रीकविद्वन्द्वत्रयी-परिलेखः	....	२१०
८१—प्रतीच्यतत्त्वादिमीमांसासरणीचतुष्टयी-परिलेखः	....	"
८२—प्रणयमर्गपरिलेखः	....	२११
८३—ज्ञानोपास्तिकर्मधारप्रज्ञापतित्रयी-परिलेखः	....	२१२
	....	२१३

८४—सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्बन्धसंरचकत्रयी-परिलेखः	३२८
८५—'ऋषि-पितर-देव-मानव-पशु-भूते'-तिहासपरिलेखः	३२६
८६—प्राकृतिकसर्गाधार-सर्वनिमित्त-सर्गापादान-सर्वमूर्ति- सर्वेश्वरप्रजापतिस्वरूपपरिलेखः	३३१
८७—अश्वत्थवृक्षात्मनिबन्धनपुरुषप्रकृतिभावपरिलेखः	३३२
८८—यिश्वेश्वरात्मनिबन्धन-पुरुषप्रकृतिद्वन्द्वपरिलेखः	३३
८९—दार्शनिकदृष्टिकोणनिबन्धनप्रकृतिपुरुषद्वन्द्वपरिलेखः	३३
९०—नैगमिकदृष्ट्यनुगत-प्रकृतिपुरुषद्वन्द्वानुबन्धी-सर्गपरिलेखः	३३
९१—ऋषि-पितर-देव-मानवत्रयी-परिलेखः	३४१
९२—सर्वसंग्रहस्वरूप-परिपूर्णमानवस्वरूपपरिलेखः	३४६
९३—नैगमिक-आगमिक-मानवचतुष्टयी-परिलेखः	३४७
९४—मानवास्थास्वरूपचतुष्टयी-परिलेखः	३४
९५—आत्मविभूतिपरिलेखः	३५४
९६—आत्मविभूतिप्राप्तिसाधनपरिलेखः	३५
९७—प्राप्तविभूतिसंरक्षणोपायपरिलेखः	३५
९८—देवभावसंरक्षणोपायप्रदर्शनपरिलेखः	३५५
९९—आसुरमानवानुगतसामान्य-विशेषधर्म-परिलेखः	३५६
१००—दैवासुरसर्गत्रयी-परिलेखः	३६०
१०१—अज्ञसङ्गी-वर्गचतुष्टयी-परिलेखः	३६६
१०२—सर्वसंग्रहस्वरूप-चतुर्विधमानवसंस्थापरिलेखः	३६४
१०३—चतुर्दशविध आत्म-देव-भूत-सर्गत्रयी-परिलेखः	३६३
१०४—ईश्वर-जीव-जगत्-स्वरूपपरिलेखः	४४२
१०५—विशुद्ध-अन्तः-शरीरात्मत्रयीस्वरूपपरिलेखः	४४३
१०६—विकल्पभावेन आत्मत्रयीस्वरूपपरिलेखः	४४
१०७—विभिन्नदृष्ट्या आत्मत्रयी-स्वरूपपरिलेखः	४४४
१०८—अन्यथादृष्ट्या आत्मत्रयी-स्वरूपपरिलेखः	४४५
१०९—अन्यदृष्ट्या आत्मत्रयी-स्वरूपपरिलेखः	४४
११०—कर्मसंविधिवर्तिसंग्रहपरिलेखः	४४६
१११—कारणशरीरावाच्छिन्नमाहात्म्यस्वरूपपरिलेखः	४४७
११२—सूक्ष्मशरीरावाच्छिन्नमहात्म्यस्वरूपपरिलेखः	४४८

११३-स्थूलशरीरावाच्छिन्नशरीरवानपात्मस्वरूपपरिलेखः	....	....	४४८
११४-शरीरोसंग्रहस्वरूपपरिलेखः	....	....	४४९
११५-पञ्चविधशुद्धिसंस्कारपरिलेखः	....	....	४५०
११६-हेयोपादेयकर्मपट्टपरिलेखः	....	....	४५१
११७-रवःश्रेयसादिपदकर्मपरिलेखः	....	....	४५२
११८-पञ्चकोशब्रह्मपरिलेखः	....	....	४५३
११९-त्रिदण्डात्मकस्वरूपपरिलेखः	....	....	४५४
१२०-आरौचविवर्तस्वरूपपरिलेखः	....	....	४५५
१२१-गुणादोषानुगतशुचि-अशुचित्वरूपपरिलेखः	....	....	४५६
१२२-कालानुगतः-आरौचविवर्तपरिलेखः	....	....	४५७
१२३-चतुर्विधशरीचपरिलेखः	....	....	४५८
१२४-सपिण्डसोदकमगोत्रपितृपरिलेखः	....	....	४५९
१२५-चतुर्विंशतिपद्वन्तपितृपुरुषपरिलेखः	....	....	४६०
१२६-गोत्रमेरुपरिलेखः	....	....	४६१
१२७-सपिण्डमेरुपरिलेखः	....	....	४६२
१२८-जन्यजनकद्वन्द्वपरिलेखः ( २०१६ मंत्र्यानुगतः )	....	....	४६३
१२९-जन्यजनकद्वन्द्वपरिलेखः ( ६३ मंत्र्यानुगतः )	....	....	४६४
१३०-जन्यजनकद्वन्द्वपरिलेखः ( १०४ मंत्र्यानुगतः )	....	....	४६५
१३१-शूद्रपितृन्तुषितानपरिलेखः	....	....	४६६
१३२-दायमापिण्डपरिलेखः	....	....	४६७
१३३-अपययमापिण्डपरिलेखः	....	....	४६८
१३४-पुत्रनिषाद्यमापिण्डपरिलेखः	....	....	४६९
१३५-पितृनिषाद्यमापिण्डपरिलेखः	....	....	४७०
१३६-उत्तरमापिण्डपरिलेखः	....	....	४७१
१३७-चतुरशीतिपत्न्योजपिण्डवितानपरिलेखः	....	....	४७२
१३८-अष्टाविंशतिपत्न्योजपिण्डवितानपरिलेखः	....	....	४७३
१३९-सप्तकोशचक्रपरिलेखः	....	....	४७४
१४०-सप्तचक्रपरिलेखः	....	....	४७५
४१-राशिचक्रपरिलेखः	....	....	४७६
४२-ग्रहचक्रपरिलेखः	....	....	४७७

१४३-पिएडसन्तानक्रमचक्रपरिलेखः	....	....	५२३
१४४-सन्तानराशिचक्रपरिलेखः	....	....	५२४
१४५-शेषराशिचक्रपरिलेखः	....	....	५२६
१४६-प्रसूत्याशौचदिनपरिमाणपरिलेखः	....	....	५२८
१४७-पुत्रकन्यानुगतशौचदिनपरिमाणपरिलेखः	....	....	५२९
१४८-संसर्गसम्बन्धनांदिनपरिमाणपरिलेखः	....	....	५३०
१४९-प्रसूतिकापत्यानुगतशौचदिनपरिमाणपरिलेखः	....	....	५३१
१५०-घर्णानुगतपरिशिष्टपरिलेखः	....	....	५३२
१५१-शिशुमरणानुगतशौचदिनपरिमाणपरिलेखः	....	....	५३३
१५२-मासानुगतदिनपरिमाणशौचपरिलेखः	....	....	५३४
१५३-वर्षानुगतदिनपरिमाणशौचपरिलेखः	....	....	५३५
१५४-कृतचूडाकृतचूडाशौचदिनपरिमाणपरिलेखः	....	....	५३६
१५५-उपनातमरणशौचदिनपरिमाणपरिलेखः	....	....	५३७
१५६-सपिण्डसकुल्यसोदकसगोत्राणामाशौचपरिलेखः	....	....	५३८
१५७-अविवाहितविवाहिताशौचपरिलेखः	....	....	५३९



‘सापिण्ड्यचित्रज्ञानोपनिषत्’ नामक तृतीय खण्ड के

रेखाचित्रों ( १८ ), तथा परिलेखों ( १३६ )

( सम्भूय १५७-परिलेखों तथा चित्रों ) की

सूची समाप्त



श्रीः

आद्यविज्ञानोपनिषद्ग्रन्थान्तर्गत—‘सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्’ नामक ग्रन्थाप सप्तमं को

## संक्षिप्तविषयसूची

- (१)—प्रजातन्तुविज्ञानविज्ञानोपनिषत्—१ पृष्ठ से ८४ पृष्ठ पर्यन्त  
 (२)—अणुमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्— ८४ पृष्ठ से ४०२ पृष्ठ पर्यन्त  
 (३)—आशौचविज्ञानोपनिषत्— ४०३ पृष्ठ से ५३२ पृष्ठ पर्यन्त

—\*—

\*—‘प्रजातन्तुविज्ञानविज्ञानोपनिषत्’ नामक प्रथम परिच्छेद (१)—

पृ० १ से ८४ पर्यन्त

१—महामाह्निक पितृस्वरूपसंस्मरण ( स्तुत्यात्मक तथास्वरूपवर्णनात्मक ) परिशिष्ट—पृ० १ से

१७ पृष्ठ पर्यन्त

२—विषयोपक्रम	....	..	१
३—महानात्मानुगत पितृतत्त्व	....	..	२
४—प्रजातन्तुप्रतिष्ठापक महानात्मा	....	..	५
५—महानात्मा का आविर्भावक	....	..	६
६—रेतोमय कर्मात्मा	....	..	७
७—प्रपदप्रसिद्ध कर्मात्मा	....	..	८
८—करारविन्देन पदारविन्दम्	....	..	१०
९—कर्मात्मा के तीन जन्म	....	..	१२
१०—कौपीतकि का विचक्षण	....	..	१४
११—सामि मासि षोडशानय	....	..	१६
१२—दधि-मधु-घृतलक्षण कर्मात्मा	....	..	१८
१३—आत्मविवर्तनपरिध्वक्ति	....	..	१९
१४—चन्द्रलोकांनुगत महानात्मा	....	..	२०
१५—गमनस्थितिविश्लेषण	....	..	२१
१६—गोत्रप्रतिष्ठापना	....	..	२२

१७—पितृसहस्ररूपविज्ञान	...	...	...	२७
१८—सहस्रत्त्व के आह्निकादि चार पिएड	...	...	...	३३
१९—सहोभाग का पितृप्राणात्मकत्त्व	...	...	...	३५
२०—शुकतयमीमांसा	...	...	...	३७
२१—अपत्य-पत्यपुरुषमीमांसा	...	...	...	३८
२२—पितृसोमपहाद्वारा ऋष्यप्रवृत्ति	...	...	...	३९
२३—पितृधनावापमीमांसा	...	...	...	४१
२४—आवापपिएड-बीजपीएडमीमांसा	...	...	...	४५
२५—निवाप-पितृ-तय-पिएडमीमांसा	...	...	...	४६
२६—आमयन-आमनयन-स्वरूपमीमांसा	...	...	...	४७
२७—'को ददशो प्रथमं ज्ञायमानम् (१)'	...	...	...	४८
२८—'पाकः पृच्छामि मनसाऽविज्ञानम् (२)'	...	...	...	४९
२९—'अचिकित्साश्चिकित्सुर्वाश्चदत्त (३)'	...	...	...	५०
३०—'मातापितरमृत आवाभाजं (४)'	...	...	...	५१
३१—'स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंस (५)'	...	...	...	५२
३२—'अवः परेण पर एनवरेण (६)'	...	...	...	५३
३३—'अवः परेण पितरम् (७)'	...	...	...	५४
३४—'येऽ वाञ्छस्तां उ परावः (८)'	...	...	...	५५
३५—महर्षिहृदय का प्रजातन्तुविज्ञान	...	...	...	५६
३६—'महिम्न एषां पितरः (१)'	...	...	...	५७
३७—'सहोमिर्विश्वं परिचक्रम (२)'	...	...	...	५८
३८—'द्विधा सन्तोऽसुरम् (३)'	...	...	...	५९
३९—'नान्वान्वोदः प्रदिशः (४)'	...	...	...	६०
४०—प्रकरणोपसंहार	...	...	...	६०

समाप्ता चात्र प्रजातन्तुविज्ञानविज्ञानोपनिषद् प्रथमा  
सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदन्तर्गता

४०—श्रीत-आख्यानानुगत अहोपात्रत्रयी	...	...	१५६
४१—सहस्रसंख्यत्वर का तात्त्विक अर्थ	...	...	१५७
४२—ज्ञान्यधःस्थापन-यज्ञान-अमृतसम्पत्ति-उर्क रस-सूर्य्यश्चेति	...	...	१५८
४३—महामुर्षर्ण संख्यत्सर प्रजापति	...	...	१६१
४४—अख्यानोपसंहार	...	...	१६४

—\*—

४५—प्राणविद्यामूलक आद्वकर्म	...	...	१६४
४६—लौकिकदृष्टान्त के माध्यम से तत्त्वमन्यय	...	...	१६५
४७—आद्वकर्मनुगत श्रीतपारिभाषाविज्ञान	...	...	१६६
४८—आह्निरसतेजोमय अद्वामृद	...	...	१६७
४९—अमास्वरूपमीमांसा	...	...	१६८
५०—प्रति-प्रति भावार्थिका गायत्री, और फिर	...	...	१६९
५१—उद्योति-छाया-तमोभाष्ययी	...	...	१७०
५२—आद्योपकरणों की सोमात्मकता	...	...	१७१
५३—प्रेतात्मवृत्तिप्रपञ्चक आद्वकर्म	...	...	१७३
५४—आद्वकर्मभेदमीमांसा	...	...	१७४
५५—आद्वकर्मनुगता फलमीमांसा	...	...	१७५
५६—आद्वकर्म, और ब्राह्मणभोजन	...	...	१७६

—३—

\*-गयाभद्रार्क चतुर्थमानृण्य कर्म (४)-( १८२ से ३६६-पर्यन्त )

६७—गयाभद्रानुगत आनृष्यवहानोपक्रम	...	...	१८२
६८—खट्वाहताओं का यथास्थान विलयन	...	...	१८३
६९—'गया' प्राणस्वरूप विज्ञान	...	...	१८४
७०—गयाप्राणात्मक आगन्तुक महानात्मा	...	...	१८५
७१—गयाप्राणात्मक आत्मा का चलान्तभाव	...	...	१८६
७२—मुख्य प्रेतपितरों की भोग्यमामश्री	...	...	१८७
*-कुलस्त्रियों के प्रासङ्गिक महागङ्गी की पावनस्मृति-१८८ से २६४ पर्यन्त	...	...	१८८
७३—रात्रिजगरणनिबन्धन पितृदेवतामस्मरण	...	...	१८९
७४—द्विविध पितृदेवता	...	...	१९०



७५--आपपातिक महानात्मा	१६०
७६--'ह' पितर, और 'हि' पितर	"
७७--बुद्धयनुबन्धी दिव्य पितर	१६५
७८--'श्मशा' प्राण, और श्मशान	१६७
७९--'श्मशान', और 'श्मशान'	१६३
८०--गरुडात्मक हंसात्मा	१६४
८१--हंसात्मा का बन्धन चिमोक	१६५
८२--कारणजिज्ञासा, और केवल श्रद्धा	१६७
८३--तैगमिक मूलान्वेषण	"
८४--महेन्द्रयाग, और पितृकर्म	१६८
८५--अन्न, और अन्नादपितर	२००
८६--नित्य, और अनित्यपितर	"
८७--अन्नादपितृपदकपरिलेख	२०२
८८--अन्नपितृपदकपरिलेख	"
८९--सर्वसमष्टि परिलेख	२०३
९०--व्ययच्छेदात्मक सममन्वय	"
९१--पितृपरिवारस्वरूपमीमांसा	२०४
९२--पितृपरिवार की मूलभूमिका	२०५
९३--सांख्यसम्मत भूतसर्ग	"
९४--चान्द्रप्रजापति, और पितर	२१०
९५--भगवान् जैमिनी का महानात्मदेव	"
९६--पितरों का भगिनी, भ्रातृवंश	२११
९७--पितरों का शुक्ल-कृष्णवंश	२१२
९८--पितरों की सामान्य संज्ञा	२१३
९९--पितरप्रतीक कुमार	"
१००--परिवृत्ती लक्षणा मलिना भगिनी	२१४
१०१--रोहिणीलक्षणा शुक्ला भगिनी	२१५
१०२--अविधाहित कुमार, और पितर	"
१०३--अज्ञात्मक पितरकर्म	२१६
१०४--अभिनिविष्टों का समाधान	२१७

# ❖ - 'अणुमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्' नामक द्वितीय परिच्छेद प्रष्ठ ८५ से १०२ पर्यन्त

१—सांख्यिक अणुदेवतामस्मरण	८६
२—पञ्चविध अणुस्यरूपविज्ञान	८६
❖ 'प्रजोत्पादनात्मकं प्रथममानुष्यं कर्म' ❖ (१) ( ६३ से ११० पर्यन्त )	
३—प्रजोत्पादनानुगत आनुष्यविज्ञानोपक्रम	६३
४—मात्रानुगत अणुतत्त्ववितान	११
५—'अणुमस्मिन् संनयति'	६५
६—छादशविध ( १२ ) पुत्रस्वरूपपरिचय	६७
७—पुत्रगाहात्म्यप्रदर्शक वैदिक आख्यान	१०५

— १ —

## ❖ - 'सपिण्डीकरणात्मकं द्वितीयमानुष्यं कर्म' ❖ (२) ( १११ से ११५ पर्यन्त )

८—सपिण्डीकरणानुगत आनुष्यविज्ञानोपक्रम	१११
९—पितृव्य का ताना बाना	११७

— २ —

## ❖ 'आद्वैतानुष्यं तृतीयं कर्म' ❖ (३) ( ११६ से १८१ पर्यन्त )—

१०—आद्वैतानुगत आनुष्यविज्ञानोपक्रम	११६
११—तन्तुलक्षण आद्वैतार्थ का स्वरूपपरिचय	१२०
१२—वैषयकस्वरूपमीमांसा	१२२
१३—अद्वैत का तारिष्यकस्वरूपविज्ञान	१२८
१४—अद्वैतसूत्र	१३१
१५—अद्वैतानुगत आद्वैतकर्म	१३३
१६—सन्ततिनिरोधक पितृव्य	१३
१७—अद्वैतारम्भ से अद्वैतसूत्र में तारतम्य	१३
१८—पैत्र्यअद्वैतसूत्र	१३
१९—अद्वैतपंचय	१३
२०—निष्प्रमाणोपचय	१३
२१—प्राकृतिक हेतुद्वारा अद्वैतसूत्र की ह्रास-वृद्धि	१३५

२२ - अमा, शीर पूरिमा	...	...	१३७
२३ - अमावास्यानुगत श्राद्धकर्म	...	...	१३८
* अतिआख्यानद्वारा श्राद्धविज्ञान का स्पष्टीकरण-१३६ से १६४ पर्यन्त			
२४ - प्रजाकामुक प्रजापति	...	...	१३६
२५ - प्रजापति की पञ्चविध प्रजा	...	...	१३
२६ - यज्ञोपवीती देयता	...	...	१३
२७ - प्राचीनाधीती पितर	...	...	१३
२८ - प्रावृत मनुष्य	...	...	१४०
२९ - यथाज्ञान पशु	...	...	१३
३० - सर्वज्ञेष्ठ असुर	...	...	१३
३१ - पञ्चविधप्रजा के लिए भोग्यव्यवस्था	...	...	१३
३२ - आत्मप्राणपशुसमष्टि: प्रजापति:	...	...	१४२
३३ - ऋषिसर्ग की मौलिकता	...	...	१३
३४ - त्रयीमय प्रजापति	...	...	१४३
३५ - सम्बत्तरानुगता लोकत्रयी	...	...	१३
३६ - अक्ष-दक्ष-क्रान्ति-वृत्तत्रयी	...	...	१४४
३७ - अहोरात्र का तात्त्विक स्वरूप	...	...	१३
३८ - पार्थिव अहोरात्र ( उदयास्तमनानुगत )	...	...	१४५
३९ - चान्द्र अहोरात्र	...	...	१३
४० - सौर अहोरात्र	...	...	१३
४१ - मासअहोरात्र	...	...	१३
४२ - अष्टतनानश्वतनलक्षणपार्थिव अहोरात्र	...	...	१३
४३ - चान्द्र अहोरात्र	...	...	१३
४४ - सौर अहोरात्र	...	...	१३
४५ - मास अहोरात्र	...	...	१४८
४६ - उदयास्तमनानुगत मानुष अहोरात्र	...	...	१४६
४७ - वैत्र अहोरात्र	...	...	१३
४८ - दैव अहोरात्र	...	...	१३
४९ - मासअहोरात्र	...	...	१३

१०४-रुद्रयागात्मक पैत्रकर्म	२१८
१०५-रुद्रस्वमा अम्बिका	२१९
१०७-रुद्रपशु का स्वरूप परिचय	११
१०८-महावीर, और वज्ररंगवाला	२२०
१०९-गृहपितृपरिग्रह	११
११०-पितृपट्टस्वरूप	११
१११-कन्या का श्वेतदुकूल, और पितर	२२१
११२-बधू का रक्तवस्त्र, और पितर	२२२
११३-पुत्रवती का पोतवस्त्र, और पितर, सीमन्मती, और सीमन्त	११
११४-जाया एवं गृहिणी	२२३
११५-पितरों का श्वेत-रक्त-पीतवस्त्र	२२४
११६-पार्थिवपितृपरिवारपरिलेख	११
११७-लोककर्म, और महामङ्गीत	२२५
११८-आलोच्य लोकातीतग्रन्थ	११
११९-राजस्थान की आम्नायशून्यता	११
१२०-राजस्थान और जयपल्लव	२२६
१२१-जयपल्लव की आम्नायपरायणता	२२७
१२२-आम्नायसंरक्षक जयपुर राजवंश	२२८
१२३-महाराज जयसिंह, और निगमनिष्ठा	२२९
१२४-अष्टावैल्लभते ज्ञानम्	२३०
१२५-कुलदेवीसंस्मरणात्मक महासङ्गीत (१)	२३२
१२६-कुलदेव्यातिथ्यात्मक महासङ्गीत (२)	२४०
१२७-गोदोहनकर्मात्मक महासङ्गीत (३)	२४५
१२८-पितृकर्माङ्गुल मुख्य महासङ्गीत (४)	२४६
१२९-पितृस्तुतिरूप महासङ्गीत (५)	२४७
१३०-मुख्यपितृनिरोधात्मक महासङ्गीत (६)	२४७
१३१-महासतीसंस्मरणोत्तम महासङ्गीत (८)	२८७
१३२-पितृस्थापनात्मक महासङ्गीत (८)	२८७
१३३-पितृकर्माङ्गुल संख्या सम्पन्न	२८९
१३४-संख्यासम्पन्न परिलेखः	२९३

उपरता चेयं-पावनस्मृतिः-प्रासङ्गिकी

\*-प्रासङ्गिकी तटस्थ आलोचना, और तत् समाधान \* ( पृ० २६४ से ३६४ पर्यन्त )

१३५-आलोचक स्वरूपमीमांसा	२६४
१३६-श्रद्धालु की सहज मान्यता	"
१३७-मान्यता की निर्मम आलोचना	२६५
१३८-आलोचनाप्रसङ्गे 'ओम्' इत्येतत्	२६६
१३९-प्रतिप्रश्नपरम्परा	२६७
१४०-श्रद्धास्खलनमीमांसा	"
१४१-अतिमान से पराभव	२६८
१४२-शास्त्रसम्मत समाधान	२६९
१४३-युक्ति-तर्क-विज्ञानसम्मत समाधानोपक्रम	३००
१४४-धाद्विधादमूला तर्कपरम्परा	३०१
१४५-निगमोपेक्षा के दुष्परिणाम	३०२
१४६-वेदस्थाभ्याय के भ्रुपरिणाम	३०३
१४७-विज्ञान का निम्नस्व आकर्षण	"
१४८-कीटाणु की मान्यता	३०४
१४९-भारतीय विज्ञानोद्घोष	"
१५०-भारतीय विज्ञान के आधाररूप	३०६
१५१-भारतीय नैगमिक निष्ठा	३०७
१५२-देयविद्यात्मक निगमविज्ञान	"
१५३-भारतीय गुण की दीप्यमानकता	३०८
१५४-प्रीकविद्वत्त्रयी का दृष्टिकोण	"
१५५-पश्चिम के तत्त्वविचारक	३१०
१५६-पश्चिमी जगत् की तत्त्वमीमांसा	३११
१५७-पश्चिम की मीमांसाचतुष्टयी	"
१५८-प्रतीत्यविज्ञानमीमांसा का आविर्भाव	३१२
१५९-गणनानिष्ठ-सापेक्षवादी-आइन्स्टीन	३१३
१६०-तत्त्ववेत्ता शब्दों का मतानुवादानुगत अर्थ	"
१६१-प्रतीत्यदर्शनों के विविधविकल्प	३१४
१६२-सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'कान्त' का दार्शनिक दृष्टिकोण	३१५

१६३-कान्त का 'रिलीजन' वाद	...	...	३१६
१६४-पश्चिम की जिज्ञासा	....	...	३१८
१६५-डॉ० पालमन्टन की खोज का परिणाम	....	...	३१९
१६६-प्रणवसर्गत्रयीमीमांसा	....	...	३२२
१६७-वैशेषिक-सांख्य-वेदान्त के आलोच्य दृष्टिकोण	....	...	३२४
१६८-वेदान्त का विवेचन	....	...	३२७
१६९-सम्यक्सरचक्रग्रन्थों, और सर्गत्रयी	..	...	"
१७०-'सैतु' माध्यम से श्रीमांसोपक्रम	....	...	३२८
१७१-भारतीय दर्शन का आलोच्य दृष्टिकोण	....	...	३३४
१७२-मदस्थ आलोचना का मुख्य मन्त्र चिन्तु	....	...	३३४
१७३-नैगमिकमानवचतुष्टयी	....	...	३३६
१७४-चेतनअचेतनसर्गमीमांसा	....	...	३४१
१७५-चेतनअज्ञव्यवहारमीमांसा	....	...	३४३
१७६-अज्ञचेतनानुगता महती समस्या	....	...	"
१७७-पशुमानव की अनुभूतियाँ	....	...	३४४
१७८-पञ्चविध मानवमनो-समन्वय	....	...	"
१७९-अलौकिक मानव की लोकसमादृक्ता	....	...	३४६
१८०-लोकसमादृष्टिगत विमृद्भाष	....	...	३४८
१८१-मानवोद्योगिक विभूतिद्वयवर्धन	....	...	३४९
१८२-नैयमानवानुगता वैश्वसम्पत्तिबोकाय	....	...	३४३
१८३-आसुरभावानुगता आसुरीसम्पन्न-निबन्धाव	....	...	३४४
१८४-प्रयोगः सम्बन्धः-उदार्क	....	...	३४७
१८५-दैव-आसुरभावभेदभिलषाकृतिकसर्गद्वयस्वरूपमीमांसा	....	...	३४८
१८६-आसुरमानवस्वरूपोपवर्णनम्-दैवमानवोद्योगधनधिया	....	...	३४८
१८७-वर्तमानव की वैश्वसुरमीमांसादृष्टि	....	...	३४८
१८८-वैश्वसुर-पारमेश्वर-नैयमानवत्रयी	....	...	३४८
१८९-मुनिमानवस्वरूपपरिचय	....	...	३४९
१९०-वर्तमानवस्वरूपपरिचय	....	...	३४९
१९१-वर्तमानवस्वरूपपरिचय	....	...	"
१९२-लोकमानवस्वरूपपरिचय	....	...	"

१६३-लोकसंग्रहस्वरूपमीमांसा	...		
१६४-अज्ञकर्मसङ्गीमानव	....		३३७
१६५-कर्मसङ्गी अज्ञ के चार विवर्त	....		३७६
१६६-लोकसंग्राह कर्मसङ्गी मानव	....		३७८
१६७-परवच्चको का स्वरूपविश्लेषण	....		३८०
१६८-याद्व मात्रेणापि नाच्यर्थेन	....		"
१६९-लोकमानव का तात्पर्यार्थ	....		३८१
२००-ऋषिमानवसमर्थक निगमागमवचन	....		३८२
२०१-देयमानवसमर्थक निगमागमवचन	....		३८५
२०२-पार्थिवमानवसमर्थक निगमागमवचन	....		३८६
२०३-निगमागममान्यतानुगामी भारतीय मानव	....		३८७
२०४-भारतीय मानव की शास्वतनिष्ठा	..		३८८
२०५-अवधेय भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण	....		"
२०६-आलोचनाममाधानोपराम	....		३८९
२०७-पुनः प्रकृतानुसरण, एव सन्दर्भमङ्गति	....		३९४
२०८-औपपातिक प्रे तात्त्व्यन्धनविमोचक गयाश्राद्ध	....		३९५
२०९-गयाक्षेत्र का वैज्ञानिकस्वरूपपरिचय	....		३९६
२१०-द्वितीयपरिच्छेदोपसंहार	....		"
			३९८

‘समाप्ता चात्र ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्’ द्वितीया सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदन्तर्गता

— + —

❀ ‘आशौचविज्ञानोपनिषत्’ नामक तृतीय परिच्छेद

पृ० सं० ४०३ से ४३२ पर्यन्त

१-परिभाषाज्ञान की विलुप्ति, एवं सांस्कृतिक पतन	....		
२-अस्पृश्यता के मन्बन्ध में राष्ट्रिय दृष्टिकोण	....		४०५
३-प्रकृति का प्राकृतिक वैषम्य	....		"
४-समानाधिकारव्यामोहन	....		४०६
५-जात्युपजातिमीमांसा	....		"
६-सर्वोच्छेदक दृष्टिकोण	....		४०७
			४०८

७--ममविषयभावमीमांसा	४८८
८--आदर्शममतुलन	४९०
९--मानवीय मर्यादा का आत्यन्तिक स्वरूप	४९१
१०--ब्रह्मानुगत समदर्शन	४९२
११--विधानुगत विषयमर्थन	४९३
१२--वैच्छिक सर्वनाश का आमन्त्रण	४९४
१३--प्राकृतिक विधि-विधानों की उपयोगिता	४९५
१४--वचनमूलक अस्तुष्टयता	४९६
१५--नमानाधिकारपङ्क्तिमग्नता	४९७
१६--शुचि-अशुचिभावमीमांसा	४९८
१७--वाह्य-आन्तर्य श्रुतिभाव	४९९
१८--अशुचिभाव, और आशीच	५००
१९--आशीचपात्रमरूपमीमांसा	५०१
२०--मृत्यु, और आत्मा	५०२
२१--हृष्टान्त समन्वय	५०३
२२--हृष्टान्तीद अस्मत्	५०४
२३--विदेहमुक्त-मुक्त्यामा	५०५
२४--ब्रह्मानन्दममतुलनमीमांसा	५०६
२५--'मित्रियामम्परिचयकः' का समन्वय	५०७
२६--आज्ञेय, और तत्तमसाधान	५०८
२७--शान्दूरसमयप्रज्ञानमनका प्रे मभाव	५०९
२८--पशु-वृक्ष-कृमि-कीटादि की आराधना	५१०
२९--धृष्टप्रे मस्वरूपपरिचय	५११
३०--वात्मस्वप्ने मस्वरूपपरिचय	५१२
३१--स्नेहप्रे मस्वरूपपरिचय	५१३
३२--कामप्रे मस्वरूपपरिचय	५१४
३३--रतिप्रे मस्वरूपपरिचय	५१५
३४--रतिप्रे म के दो क्षेत्र	५१६
३५--जङ्-येतनप्रे ममीमांसा	५१७
३६--रतिक्षेत्र का समतुलन	५१८



३७—अवच्छेदकावच्छिन्नमीमांसा	४३६
३८—आशौचातीत आत्मा	४४०
३९—आशौचानुगत अन्तरात्मा	४४१
४०—परिग्रहान्विता अन्तरात्मत्रयी	४४२
४१—आशौचस्वरूपमीमांसा	४४३
४२—पञ्चविधअशुचिभाव	४४४
४३—आयुर्वेद का त्रिधातुवाद	४४५
४४—भारतीयत्रिधातुवाद	४४६
४५—धातुत्रयी के समन्वयभाव	४४७
४६—चिकित्साशास्त्रत्रयी के तीन चिकित्साप्रकार	४४८
४७—आयुर्वेद-धर्म-दर्शन, तीनों शास्त्रों की अभिज्ञता	४४९
४८—स्थूलशरीर के अशुचिभाव	४५०
४९—द्रव्यदोष, एवं शरीरदोषमीमांसा	४५१
५०—भावदोषमीमांसा, एवं चतुर्विधयोग	४५२
५१—एनोदोषमीमांसा	४५३
५२—सृष्ट्यासृष्ट्यविवेकमीमांसा	४५४
५३—अघाशौचस्वरूपमीमांसा	४५५
५४—स्पर्शास्पर्शरीमीमांसा	४५६
५५—कर्तव्यकर्तव्यमीमांसा	४५७
५६—आशौचनिमित्तमीमांसा	४५८
५७—अत्रिप्राणमूलामूर्तसृष्टि	४५९
५८—अत्रिप्राणस्वरूपपरिचय	४६०
५९—आग्नेयीयोपित	४६१
६०—आग्नेयरजोऽनुगत अघाशौच	४६२
६१—मलीमस त्वो-वैश्य-शूद्रवर्गत्रयी	४६३
६२—हातिलानुगता मातृरोगमीमांसा	४६४
६३—पुराणरजोऽनुगत दोषाशौच	४६५
६४—शारीरमलानुगत दोषाशौच	४६६
६५—जन्माशौचमीमांसा	४६७
६६—शावाशौचमीमांसा	४६८
६७—क्रियाशौचमीमांसा	४६९
६८—दोषाशौचमीमांसा	४७०
६९—सम्बन्धसूत्रमीमांसा	४७१
७०—योनिवृत्तसम्बन्धसूत्राणि	४७२
७१—विवाहसापिण्ड्यमीमांसा	४७३

७२—द्राघसापिएडमीमांसा . . .	४०६
७३—आशौचसापिएडमीमांसा . . .	४०८
७४—अवयवसापिएडस्वरूपपरिचय . . .	"
७५—पुत्रनिवाप्यसापिएडस्वरूपपरिचय . . .	४०६
७६—पितृनिवाप्यसापिएडस्वरूपपरिचय . . .	४१०
७७—उत्तरसापिएडस्वरूपपरिचय . . .	४११
७८—पिएडस्वरूपसिद्धायलोकन . . .	"
७९—उत्तरसापिएडस्वरूपपरिचय . . .	"
८०—पिएडस्वरूपसिद्धायलोकन . . .	४१२
८१—धीजपिएडकोशांतुगत श्रृणुधनविभाग . . .	४१३
८२—प्रोताम्ना की परमा सम्पत् . . .	४१७
८३—सुतासुतपिएडमीमांसा . . .	४१८
८४—राशिपिएडस्वरूपमीमांसा . . .	४२०
८५—मन्त्राकोशाक्षरस्वरूपमीमांसा . . .	४२१
८६—प्रथमकोशाक्षरस्वरूपपरिचय . . .	"
८७—द्वितीयकोशाक्षरस्वरूपपरिचय . . .	"
८८—तृतीयकोशाक्षरस्वरूपपरिचय . . .	४२२
८९—चतुर्थकोशाक्षरस्वरूपपरिचय . . .	"
९०—पञ्चमकोशाक्षरस्वरूपपरिचय . . .	"
९१—षष्ठकोशाक्षरस्वरूपपरिचय . . .	"
९२—सप्तमकोशाक्षरस्वरूपपरिचय . . .	"
९३—पिएडसन्तानक्रमस्वरूपमीमांसा . . .	"
९४—सन्तानराशि-शेषराशिस्वरूपमीमांसा . . .	"
९५—आशौचसंक्रमणद्वारमीमांसा . . .	४२४
९६—यज्ञकृतसम्बन्धसूत्राणि . . .	४२६
९७—सर्गाकृतसम्बन्धसूत्राणि . . .	४२७
९८—सर्गान्त में . . .	"
९९—प्रकरणोपसंहार . . .	४२२

समाप्ता चात्र 'आशौचविज्ञानोपनिषत्' ( तृतीयपरिच्छेदात्मिका )

समाप्ता चैव तृतीयमण्डस्य मापिएडविज्ञानोपनिषद् पूर्य

मंज्ञप्तविषयसूची-रेखाचित्रयुक्तपरिलेखसूची

तुष्टिमनुभूयन्तामनया सूच्या सूची-मात्रबोधव्यग्रास्तत्परा भाषुकाः

ॐ

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि—

“प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्”

प्रथमा

दिने दिने ये प्रतिगृह्यतेऽर्घा मासान्तपूज्या भुवि येऽष्टकास्तु ॥

ये वत्सरान्तैऽभ्युदये च पूज्याः प्रयान्तु ते मे पितरोऽत्र वृत्तिम् ॥१॥

पूज्या द्विजानां कुमुदेन्द्रभासो ये क्षत्रियाणाञ्च नवार्कवर्णाः ॥

तथा विशां ये कनकावदाता नीलीनिभाः शूद्रजनस्य ये च ॥२॥

तेऽरिमन् समस्ता मम पुष्पगन्धधूपाक्षतोयादिनिवेदनेन ॥

तथाग्निहोमेन च यान्तु वृत्तिं सदा पितृभ्यः प्रणतोऽस्मि तेभ्यः ॥३॥

—श्रीमार्कण्डेयपुराण ६६ अ० ।

★ ★ ★



# अथ आद्धविज्ञानग्रन्थे

## सापिराड्याविज्ञानोपनिषत् तृतीया

( तृतीय खण्ड )

तत्र प्रथमा प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्.

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः मनातनाः ॥  
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमवमोऽभिभवत्पुत ॥ १ ॥  
अधर्माभिभवात् कृष्ण ! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ॥  
स्त्रीषु दुष्टाषु वार्ष्णेय ! जायते वर्णसंकरः ॥ २ ॥  
संकरो नरकार्यं कुलभ्रानां कुलस्य च ॥  
पतन्ति पितरो धीषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीता १।४०, ४१, ४२, ।

विषयोपक्रम—

आद्धकर्म के मूलप्रतिष्ठारूप अनेकात्मवाद का, एवं पितरप्राण का विशद विवेचन क्रमशः पूर्व की आत्मविज्ञानोपनिषत्, एवं पितरविज्ञानोपनिषत् में किया जा चुका है। इन दोनों प्रकरणों के सम्यक् आज्ञोदय विलोडन से पाठकों को यह विदित हो गया होगा कि, हमारे शरीर में महानात्मा नाम का एक आत्मा अवश्य ही ऐसा है, जो कर्मरत्ना के उत्पन्न हो जाने पर चन्द्रलोक में जाकर प्रतिष्ठित होता है। एवं साथ ही मैं महानात्मा में प्रतिष्ठित सौम्यप्राण की ही 'पितर' मंजो है। लोकान्तर में सञ्चरण करने वाले इस पितर की लोकभेद से क्रमशः अथ मुख्य-शरीर-नान्दीमुख ये मंजो हो जाती है। लोकान्तर में जाते हुए इस प्रेतत्मा को जिस पिण्डदानादि कर्म से तृप्त किया जाता है, वही कर्म 'आद्ध' नाम से प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, लोकान्तर ( चन्द्रलोक )

में गमन करने वाले प्रेतात्मा ( महानात्मा ) के साथ तद्वंशधरों का क्या कोई वास्तविक सम्बन्ध रह जाता है ?। यह ऐसा कौनसा मार्ग है, जिसके द्वारा पुत्रादि से दत्त पिण्ड परलोकगत प्रेतात्मा की तृप्ति का कारण बनता है ?। चर्मचतु इन सब प्रश्नों के समाधान में बुष्टि न है। इसके लिए तो हमें विज्ञानचतु का ही आश्रय लेना पड़ेगा। सापिरिड्यविज्ञानोपनिषत् में इन्हीं प्रश्नों के समाधान की चेष्टा की गई है। विहङ्गमदृष्ट्या प्रस्तुत तृतीय खण्ड में प्रेतात्मा का तद्वंशधरों के साथ क्या सम्बन्ध है ?, सात पीढ़ी पर्यन्त सापिरिड्य सम्बन्ध क्यों माना गया है ?, पितृश्राद्ध का क्या स्वरूप है ?, ८४ संख्या में विभक्त शुक्रस्थित पितरप्राण का वित्तान कैसे होता है ?, इत्यादि प्रश्नों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है। हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि, वैदिक विज्ञान के विद्युत्तप्राय होजाने से, मोक्ष ही अङ्गभक्त भारतीयविद्वानों के द्वारा युक्तियुक्त समाधान प्राप्त न होने से जिन महातुमाओं ने इस श्रौत-मिथ पिण्डदान लक्षण आढिकर्म का परित्याग कर-दिया है, वे इस प्रकार से मर्यादित पर पहुँचते हुए अथवा ही अपने विचारों में परिवर्तन कर रुकेंगे, एवं देववर्च्य से भी कहीं अधिक महत्त्व रखने वाले इस पितृकार्य में श्रद्धा से प्रवृत्त हो सकेंगे।

इति विषयोपक्रमः

— \* —

महानात्मानुगत पितृतत्त्व—

आध्वविज्ञानोपनिषद्नाम महदात्मविज्ञानोपनिषत् का प्रतिपादन करते हुए यह सिद्ध किया गया है कि पुरुषात्मा—अव्यक्तात्मा—यज्ञात्मा—प्रज्ञानात्मा—विज्ञानात्मा—कर्मात्मा—हंसात्मा, इन सब स्वर्गदामाओं में से आढिकर्म का सम्बन्ध एकमात्र चान्द्र महानात्मा के साथ ही है। ( देखिए आ० वि० प्र० सं० २४८ पृष्ठ )। महानात्मा का आरम्भक ( उपादान ) चन्द्रमा है। इधर अध्यात्म-संस्था में शुक्र नाम का प्रसिद्ध मानवो धातु चान्द्र है। इस सजातीयता के कारण ही चान्द्र महानात्मा चान्द्र शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है। यह चान्द्र महत्सौम्यप्राण ही “पितर” नाम से सम्बोधित हुआ है। “विधुर्धमाग्रे पितरो वसन्ति” यह आप्त सिद्धान्त है। सौम्य पितर प्रेत-पारिण-नान्दीपुत्र नामों से प्रसिद्ध है, जैसा कि पूर्व की पितरविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

शुक्रगत महानात्मा पितरप्राणमूर्ति है। यह पितरप्राण पृथिवी—अन्तरिक्ष—र्या—भेद में तीन भागों में विभक्त है। पार्थिव पितर अधिप्रधान है। “अग्निर्भूस्थानः” ( या० नि० दे० कां० १।१ ) यह मर्यादित मिथ्या है। अन्तरिक्ष पितर यमाय वायुप्रधान है। “वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षाधानः” ( गार्गनिम्नः ) यह प्रसिद्ध है। दिव्यपितर आदित्यप्रधान है। “सूर्यो द्युस्थानः” ( गार्गनिम्नः ) यह भी प्रसिद्ध ही है। अग्नि-यम-आदित्य, तीनों अग्नि ही है। इन तीनों के साथ

हमने क्रमशः दिक्-सोम, चान्द्रसोममय गन्धर्वसोम, किंवा गन्धर्वसोममय चान्द्रसोम, ब्रह्मणस्पति नाम से प्रसिद्ध प्राणात्मक पवित्रसोम का सम्बन्ध बतलाया है। (देखिए आ० प्र० खं० २४८ पृ०)। अग्नि-सोम, यम-सोम, आदित्य-सोम, त्रैलोक्य के इन तीनों ही विवर्तों में यद्यपि अग्नि-सोम दोनों की सत्ता है, तथापि स्वस्थान की प्रधानता से दिव्यलोकस्थ पवित्रसोम आदित्याग्नि का अधिष्ठाता बन जाता है, सोम की प्रधानता रह जाती है। अतएव अग्निसोम दोनों के रहने पर भी ये नान्दीमुख नाम के दिव्यपितर "सौम्य" ही कहलाते हैं। इसी प्रकार वायुप्रधान अन्तरिक्ष में यम वायु की प्रधानता, एवं गन्धर्वसोम की गौणता भी स्वतः सिद्ध है। अतएव इन पार्ष्ण नाम के आन्तरिक्ष पितरों को "याम्य" कहना न्यायसङ्गत होता है। एवमेव पृथिवी में अग्नि की प्रधानता है। फलतः पृथिव अश्रुमुख पितरों को "आग्नेय" कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती।

पूर्वोक्त महानात्मा में सौम्य-याम्य-आग्नेय, तीनों पितर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन तीन पितरों के कारण ही महानात्मा में सत्त्व-रज-तम, ये तीन गुण, एवं अहङ्कृति-प्रकृति-आकृति, ये तीन भाव उत्पन्न होते हैं। दिव्यसोम शुद्ध सत्त्वमूर्ति है। तत्सम्बन्धी सत्त्वप्रधान नान्दीमुख पितरप्राण महान् में सत्त्वगुण का विकास करते हैं। आन्तरिक्ष सोम वायुमय होने से क्रियामूर्ति बनता हुआ रजोमूर्ति है। तत्सम्बन्धी रजःप्रधान पार्ष्ण पितर महान् में रजोगुण वा उत्तेजक बनता है। पार्थिवसोम अग्निमय होने से अर्थमूर्ति (आवरणमूर्ति) बनता हुआ तमोमूर्ति है। तत्सम्बन्धी तमःप्रधान अश्रुमुख पितर महान् में तमोगुण का सञ्चार करता है।

पार्थिवग्नि त्वष्टाप्राण के सम्बन्ध से अपेन्द्रसोमाहुति के द्वारा इन्द्रतत्त्व को लृण्ड लृण्ड में परिणत कर आकाररूप का अधिष्ठाता बनता है— (देखिए शत० ब्रा० १२।४।१।१४ सौत्रामणीयज्ञ)। इस पार्थिवग्नि के सम्बन्ध से ही महद्बलच्छिन्न शुक्रस्थित पार्थिव अर्थमूर्ति अग्निप्रधान पितरप्राण तत्तन् प्राणियों के आकारों का अधिष्ठाता बनता है। आन्तरिक्ष यमवायु चान्द्रसोम के सम्बन्ध से (जोकि चान्द्रसोम इन्द्रियप्रवर्तक प्रज्ञामय प्राणोन्द्रमूर्ति है) प्रकृतिभाव (इन्द्रियस्वभाव-इन्द्रियसामर्थ्य) का प्रेरक बनता है। इस आन्तरिक्ष रजोमूर्ति चान्द्रसोममय यम के सम्बन्ध से, दूसरे शब्दों में चन्द्रमा के सम्बन्ध से ही शुक्रस्थ महद्बलच्छिन्न आन्तरिक्ष क्रियामूर्ति वायुप्रधान पितरप्राण तत्तन् प्रकृतियों का अधिष्ठाता बनता है। दिव्यलोकस्थ आदित्य विशुद्ध, अतएव वीज चिन्मय (आत्ममय) पवित्रसोम के सम्बन्ध से अहंभाव का प्रवर्तक बनता है, जैसा कि "धूर्य आत्मा जगत्सम्भूतश्च" इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। यह अहंभाव जब तक म्यस्वरूप में प्रबुद्ध रहता है, तभी तक तत्तन् प्राणियों का जीवन सत्ता रहती है। चोरनम सुपुष्पिकाल में भी अहंभाव विकसित रहता है। सदा जाग्रत महत्स्वरूप के इसी अहंभाव के अनुग्रह से सुपुष्पिकाल के समान होने पर हमारे मुख से— "मुखमहमम्नाप्सीः" यह अक्षर निकल पड़ते हैं।

इस प्रकार अग्नि-यम-आदित्य, इन तीन पितृकलाओं से क्रमशः महान् में आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति भावों का उदय होता है, एवं दिक्सोम-चान्द्रसोम-पवित्रसोम इन तीन पितृकलाओं से क्रमशः तम-रज-सत्त्व इन तीन गुणों का उदय होता है। महानात्मा ही अध्यात्ममार्ग का मूलधार है, यह पटुभावापन्न है। इसी आधार पर—“पाटकौशिकमिदं सर्वम्” यह सूक्ति प्रचलित है।

३—पवित्रसोमः—दिव्याग्निरादित्यः — नान्दीमुखाः सौम्याः पितरः

२—चान्द्रसोमः—आन्तरिक्षाग्निर्वायुः—पार्वणा याम्याः पितरः

१—दिक्सोमः—पार्थिवाग्निरग्निः — अश्रुमुखा आग्नेयाः पितरः

३—{ १ - पवित्रसोमः — सत्त्वगुणप्रवर्त्तकः }  
 { २ - दिव्याग्निः — अहङ्कृतिभावप्रवर्त्तकः } — नान्दीमुखाः

२—{ १ - चान्द्रसोमः — रजोगुणप्रवर्त्तकः }  
 { २ - आन्तरिक्षाग्निः — प्रकृतिभावप्रवर्त्तकः } — पार्वणाः

१—{ १ - दिक्सोमः — तमोगुणप्रवर्त्तकः }  
 { २ - पार्थिवाग्निः — आकृतिभावप्रवर्त्तकः } — अश्रुमुखाः

—):~:(—

महानात्मा-सौम्यः, शुक्रमन्थः पितरप्राणाधिष्ठाता

१—अहङ्कृतिमहान्—आत्मप्राणाधिष्ठाता—दिव्यपितरप्राणमूर्तिः—सत्त्वगुणोपेतः

२—प्रकृतिमहान्—प्राणप्राणाधिष्ठाता—आन्तरिक्षपितरमूर्तिः—रजोगुणोपेतः

३—आकृतिमहान्—भूतप्राणाधिष्ठाता—पार्थिवपितरमूर्तिः—तमोगुणोपेतः

—:~:—

प्रजातन्तुप्रनिष्ठालक्षणमहानात्मा

पाटकौशिक महानात्मा वास्तव में महान्-आत्मा है। विज्ञान-प्रज्ञान-भूतात्मा आदि स्तर स्वच्छात्मा, सम्पूर्ण स्वच्छात्माओं की आधारभूमि स्वयं चिद्रात्मा (अव्ययप्रधान गोडशी गुण) भी इस पारमेष्ठ्य, किया चान्द्र महान के गर्भ में प्रविष्ट है “देवी हो पा गुणमयी मम माया दुरत्यया” (गी० ७।१४)। मत्स्वविशाल ऊर्ध्वमर्ग, रजोविशाल तिर्यग्मर्ग, तमोविशाल मूलमर्ग, पदार्थमात्र की आकृतियों, प्रकृतियों, अहङ्कृतियों, सब की आधारभूमि यही महानात्मा है। अग्नी-पोताग्निमया काशीकी मूर्ति, योपावृषाग्निमया मैथुनीमूर्ति का मूलधार अग्नमूर्ति यही महान् है।

जगन् के उपादानभूत पूर्वोक्त त्रिविध पितर भी इसी सौम्य महान् के गर्भ में प्रविष्ट हैं। वसु-रुद्र-आदित्यादि ३३ आद्विरस देवता, ६६ आप्य असुर, २७ वायव्य गन्धर्व, सम्पूर्ण सौम्य देवता, सम्पूर्ण पशुप्राण, भृग्वक्त्रिरोमूर्ति इसी महान् के आधार पर जीवित हैं। आपोमयी लोकमृष्टि इसी आप्य महान् पर प्रतिष्ठित है। इस की इसी महाना को लक्ष्य में रखकर इसे इतर मण्डलात्माओं की अपेक्षा यदि महान् कहा जाय तो, क्या आपत्ति है। महद्भवच्छिन्न पितर प्राण ही मातृवी पीक्षी पर्यन्त वितत होने वाले प्रजातन्तु की प्रतिष्ठा है।

भूतमंपृक्त महानात्मा—

तावुमौ भूतमंपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।

उच्चवेषेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ( मनु. १-११४ )

उक्त मानव सिद्धान्त के अनुसार महानात्मा, तथा विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध क्षेत्रज्ञात्मा, दोनों पृथिव्यादि पञ्चतन्माभूतनात्राओं (सुसूक्ष्म भूतनात्राओं) से संश्लिष्ट होकर अणोरणीयान्-महानो-महीयान् भेदभिन्न उच्चावच भूतों (प्राणियों) में अविभक्त रूप से प्रतिष्ठित उस चिदात्मा को चारों ओर से व्याप्य कर आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित रहते हैं। तात्पर्य मनु का यही है कि, महानात्मा धीधृतस्व है, शुक्रसम्बन्ध से पञ्चभूतों से सम्पृक्त है। यही चिदात्मा की योनि है। 'यो बुद्धेः परतस्तु मः' लक्ष्य चिदात्मा महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित रहता हुआ 'क्षेत्रज्ञ' ( बुद्धि-विज्ञानात्मा ) का भी अनुग्राहक बन रहा है। कर्मात्र इसी अभिप्राय से 'महान् क्षेत्रज्ञ एव च' कह दिया गया है। मुख्य लक्ष्य महानात्मा ही है, जिस की उत्पत्ति का प्रधानतः 'शुक्र' से सम्बन्ध माना गया है।

हमारी आध्यात्मिक संस्था में प्रतिष्ठित मज्जनात्मा कर्मात्मा नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा के स्थूलशरीरनिश्चयन पेटुलौकिक कर्म्मभोगानन्तर व्यग्रभवस्थानात्मक चत्तुर्लोक में जाता है। जिस प्रकार महानात्मा प्रेतावस्था में सूक्ष्म भूतों से सम्परिवृक्त रहता है, एवमेव कर्म्मभोग कर्मात्मा भी इस प्रारब्धनिश्चयन सूक्ष्मशरीर के परिरयागानन्तर सर्वत्र ( स्वर्गोल ) व्याप्त सूक्ष्मभूतों से सम्परिवृक्त रह कर ही धामीयानाओं भोगने के लिए तत्तुल्लोक-विशेषों की ओर गमन करता है। 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रहति, सम्परिवृक्तः-प्ररननिरूपणाभ्याम्' ( ब्रह्मसूत्र ३११ ) इस सूत्र सिद्धान्त के अनुसार पृथिव्यादि भूतसूक्ष्मों से सम्पन्न सूक्ष्म आतिवाहिक शरीर धारण करके ही उसी प्रकार लोकान्तरोपलक्षित स्थानान्तर में यह कर्मात्मा गमन करता है, जैसे कि, 'तृणजलौक' नामक यणश्चतु या जन्तु उत्तर प्रदेश को पकड़ कर पूर्वप्रदेश को छोड़ता हुआ ही स्थानान्तरित होता है। कर्मात्मा की इसी जलौकगति को लक्ष्य में रखकर भक्तियन्त्र ने कहा है—

ब्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन ययैकेन गच्छति ।

यथा तृणजलौकेन देही कर्म्मगतिं गतः ॥ ( श्रीमद्भागवत ) ।



## महानात्मा का आविर्भावक—

सूक्ष्म भूतों का यह आतिवाहिक शरीर परिमाण में अङ्गुष्ठमात्र माना गया है। अपने इस पृथिव्यादिभूतसूक्ष्मात्मक अङ्गुष्ठपरिमाणात्मक सूक्ष्मशरीर से कर्मात्मा वासना-भावना वासित-भावित कर्म ज्ञानजनित शुभाशुभ संस्कारों के अनुरूप शुभाशुभ लोकान्तरो में शुभाशुभ फल भोगता हुआ विचरता रहता है। सूक्ष्मशरीरानुबन्धी यह पारलौकिक फलभोगकाल जब समाप्त हो जाता है, तो—‘इति तु पञ्चम्यामाहुतांवापः पुरुषवचसो भवन्ति’ (छां.उ.) के अनुसार पुनः यह इसी पृथिवीलोक में स्थूलभूत-त्मक स्थूल शरीर धारण करता हुआ अवतीर्ण होता है। धैर्यानरमूर्त्ति अग्नि, वैजममूर्त्ति वायु, प्राज्ञमूर्त्ति इन्द्र, त्रिदेवसमाप्तिरूप, अतएव ‘देवसत्यात्मा’ नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा, जिसे कि गर्भविज्ञानवेत्ता महर्षिर्वा ने ‘औपपातिक आत्मा’ नाम से भी व्यवहृत किया है, आमुष्मिक कर्माभोगान्तर दिव्यपितृप्राणयुक्त आन्तरिचय, चान्द्रपितृप्राणरूप में परिणत होकर ही अन्न में प्रविष्ट होता है। दिव्य नान्दीमुख पितृ-प्राण, आन्तरिचयचान्द्र ऋतुपितृप्राण, पार्थिव अन्नगत अश्रुमुख पितृप्राण, इन तीनों पितृ प्राणों से संयुक्त औपपातिक आत्मा अन्नद्वारा पुरुषाग्निमंस्था में सर्वप्रथम प्रविष्ट होता है। पुरुषाग्नि में आहुत होने वाला अन्न कालान्तर में शुक्ररूप में परिणत हो जाता है। यही शुक्र ऋतुकाल में योपिदगर्भ में, तत्रस्थ आर्त्तायामि (शोणितामि) में आहुत होकर महानात्मा का आविर्भावक बनता है। औपपातिक कर्मात्मा—

शुक्र पिता का अंश है, शोणित माता का भाग है। दोनों के दाम्पत्यभाव से हीचिद्ब्राहिणी महर्षिणी का आविर्भाव होता है। इसी महर्षिणी में प्रविष्ट औपपातिक कर्मात्मा स्थूलशरीर से जन्म लेने में समर्थ होता है। अनेक जन्म के अनन्तर यह स्थूल जन्ममंसिद्धि का अधिकारी बनता है। यह औपपातिक आत्मा सब से पहिले पुरुषगत शुक्रमयच्छिन्न सौम्यगुणक महानात्मा में प्रतिष्ठित होता है, एवं यही इसका प्रथम जन्म है। भुक्त अन्न रेत है, शुक्र है। पुरुषाग्नि शोणित है। दोनों के दाम्पत्यभाव से ही पुरुषके शुक्र-धातु में आत्मा सर्वप्रथम गर्भधारण करता है। शुक्र शुक्र है, मातृगर्भ गर्भाशयस्थ शोणित शोणित है। इस द्वितीय दाम्पत्यभाव से शुक्र द्वारा यह मातृगर्भ में जन्म लेता है, एवं यही औपपातिक आत्मा का द्वितीय जन्म है। एक चान्द्रमन्यत्सर के अनन्तर गव्यामरु नामक गर्भवायु के प्रत्याघात से स्वस्थान से व्युत्पन्न होता हुआ यह मातापृथिवी के गर्भ में आता है, एवं यही इसका तृतीय जन्म है। दोषमार्जक-हीनाद्रूपक-अतिशयापायक भेद से त्रिधर्माधिच्छिन्न षोडश (१६) ग्मान् संस्कारों से, तथा द्वात्रिंशत् (३२) भौतसंस्कारों से, इस प्रकार अष्टाचत्वारिंशत् (४८) भौत-ग्मान्-संस्कारों से मुसंस्कृत-शुद्ध-पूत-अतिशययुक्त-पूर्णलक्षण देही प्रसवमाय में परिणत हो जाता है, एवं यही इसका चतुर्थजन्म है यही जीव का परमपुरुषार्थ है, यही इसका जन्ममाफन्त्य है।

• इन शुभसंस्कारात्मक शुभ कर्मों के प्रभाव से स्थूलशरीर त्यागानन्तर यह औपपातिक आत्मा ‘मैत्र’ भाव में परिणत होकर परलोक में दिव्ययोनि में जन्म लेता है, अशुभकर्मादिक से हीन-पियात्मा योनि में जन्म लेता है, एवं यही इस पादक यमात्मा का पांचवाँ जन्म है।

‘पितृभ्यो देवदानवाः’ (मनु: ३।२०१) इस मानव सिद्धान्त के अनुसार परमेशी पिता-प्रजापति के रेत से देवमण्डित होती है। ‘आदित्याज्जायते वृष्टिः’ (मनु: ३।७६) के अनुसार प्रजापति के रेत से उत्पन्न प्राणदेवताओं के द्वारा पर्जन्याग्नि में ‘अद्वा’ नाम के चान्द्रसोम की आहुति होती है। इस आहुति से ‘वर्षा’ का जन्म होता है। वर्षात्मक रेत की पार्थिव अग्नि में आहुति होने से ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। ओषधिरूप रेत की पुरुषाग्नि में आहुति होने से रेत (शुक्र) उत्पन्न होता है। रेतोत्पत्त्य रेत की योषिदग्नि में आहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। इस प्रकार वह परमेश्वर दिव्य पितृतत्त्व ही क्रमशः देव, वर्षा, अन्न, रेतो भावों में परिणत होता हुआ अन्ततोगत्या प्रजारूप में परिणत होजाता है। प्रजा का रेत (मूलप्रतिष्ठा) हृदय है, हृदय का रेत ‘मन’ है, मन का रेत ‘वाक्’ है, क्योंकि वाक् ही मन के मानसभावों को प्रकट करने का अन्त्यतम द्वार है। बिना वागाभय के मानसजगत सर्वथा शिथिल है, जैसा कि निम्न लिखित ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है—

“वागेवऽर्चश्च सामानि च, मन एव यजूंषि ।  
सा यत्रेयं वागासीत्, सर्वमेव तत्राक्रियत्, सर्वं प्राज्ञायत् ।  
अथ यत्र मन आसीत्, नैव तत्र किञ्चनाक्रियत्, न प्रात्रायत् ।  
नो हि मनमा घ्यापत्ः कश्चनाजानाति” ।

शत० ब्राह्म० ७।४५ ।

रेतोमय कर्म्मार्त्मा—

वाक् का रेत कर्म्म है। मानमरेतोभूता वाक् कर्म्मभूय से ही वीर्ययती बनती है। केवल वाक्-प्रयोग तब तक सर्वथा व्यर्थ है, जब तक कि तदनुरूप कर्म्मविभूति का आश्रय न ले लिया जाय। यही कर्म्मविभूति इसकी जीवनमुक्ति का कारण बनती है, जैसाकि निम्नलिखित अनिपच्छ्रुति से प्रमाणित है—

“कुर्वन्नेवेह कर्म्मणि जिजीविषेच्छतं समाः ।  
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्मि न कर्म्म लिप्यते नरे ॥” (ईशोपनिषद् १०।१०)

रेतोमूला इसी पितृमण्डित का भगवान् णेरय (महीदास) ने निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया है—

“अयातो रेतमः सृष्टिः । प्रजापते रेतो देवाः, देवानां रेतो वर्षा,  
वर्षस्य रेत ओषधयः, ओषधीनां रेतोऽन्नं, अन्नस्य रेतो  
रेतः, रेतसो रेतः प्रजाः । प्रजानां रेतो हृदयं, हृदयस्य रेतो  
मनः, मनसो रेतो वाक्, वाचो रेतः कर्म्म । तदिदं कर्म्मकृतमयं  
पुरुषो ब्रह्मणो लोकः” (तै० आ० २।१।३।)

‘इरा’ रसमय कर्मात्मा—

विज्ञानात्मतत्त्व का विकास (उत्पत्ति) सौर हिरण्य तेज से हुआ है। प्रभवभूत हिरण्यतेज के सम्बन्ध से ही यह विज्ञान ‘हिरण्ययनुरूप’ कहलाया है। आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का रेत ‘आप’ है, जिसके “आपो भृग्वह्निरूपमापोभृग्वह्निरौमयम्” इस गोपयवचन के अनुसार भृगु-अङ्गिरा नामक दो विचर माने गए हैं। भृगु स्नेह तत्त्व है, अङ्गिरा तेज है। तेजोभूत अङ्गिरा योनि है, स्नेहभूत भृगु रेत है। इसकी आहुति से हिरण्यगर्भ सूर्य का प्रादुर्भाव हुआ है, जो कि सूर्य ‘वित्रं देवानामुदगात्’ ( यजुः सं०..... ) मन्त्रवर्णन से देवप्राणघन है। ‘कंसिद्गर्भं दध्र आपः’- ‘अरां गम्भन्तीद्’ इत्यादि अन्य मन्त्रश्रुतियों भी भृग्वह्निरौमय परमेष्ठी प्रजापति के रेत से ही देवपन हिरण्यगर्भ का विकास बनला रही हैं, जिसे अपनी सहजभाषा में हम आदित्यपुरुष भी कह सकते हैं।

प्रजापति ( परमेष्ठी ) के भृग्वह्निरौमय अवतत्क्षण रेत से उत्पन्न आदित्यनामक हिरण्य देवता ही स्व आग्नेय रेत से वर्षा-ओषधि-अन्न-रेतो-रूप में परिणत होता हुआ पुरुष स्वरूप में आयिभूत होता है। अतएव ‘देवैर्म्यश्च जगन् सर्वं चरां स्थाण्वतुपूरुषः’ कहना अन्यर्थ बन रहा है। आदित्यपुरुष, तथा मानवपुरुष, दोनों इस रेतः सृष्टिविज्ञान की अरेचा से अभिन्न हैं, अतएव ‘योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्’ कहना भी न्यायमङ्गत बन रहा है।

पार्थिव ओर्गाधरम ‘इरा’ नाम से प्रतिष्ठ है। ओषधियों में इसी रस का प्राधान्य है। इस पार्थिव इरास के प्राधान्य से तन्नाग्न हिरण्ययदेवता भी इरामय बन जाते हैं। इस प्रकार यही शुलोकस्थ हिरण्यय पुरुष श्रुतियों में आकर तद्रम से सम्परिव्यक्त होकर ‘इरामय’ बन रहा है। यही इरामय पार्थिव पुरुष सुप्रसिद्ध कर्मात्मा है, जिसे हम शुलोकस्थ दिव्य हिरण्ययपुरुष का द्विर्तायावतार कह सकते हैं। पार्थिव स्तोत्रप्रतिशोकी के वैश्वानर-तैजस-प्राक्षरम भी इरामय पुरुष में मग्नित है। अतएव यह तद्रूप ( पं० नं० प्रा० मय ) प्राक्षर्मूर्ति पुरुष ‘कर्मात्मा’ नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसे कि पूर्व में ‘देवमय’ नाम से भी व्यवहृत किया गया है।

जिस प्रकार शुलोकसप्रधान विज्ञानात्मा अपने वास्तविक हिरण्यतेज के सम्बन्ध से ‘हिरण्ययपुरुष’ कहलाता है, एतदेव पार्थिवरमप्रधान कर्मात्मा भी परोक्षभाषा सम्बन्ध से ‘हिरण्यय’ नाम से ही व्यवहृत हुआ है। दोनों ही हिरण्यय हैं। अन्तर यही है कि, विज्ञानात्मा हिरण्यय होने से हिरण्यय है, कर्मात्मा इरामय होने से हिरण्यय है। इरामय कर्मात्मा को हिरण्यय कहने का अभिप्राय एतन्नात्र यही है कि, कर्मात्मा पालन में है उसी दिव्य हिरण्यय का प्रवर्गांश। केवल भूतभागामात्मि से भूतप्रधान इरास के प्राधान्य से यह उससे पृथक् मा होगया है। श्रेष्ठतम यज्ञादि सौर कर्मानुष्ठान से जिस दिन यह कर्मात्मा अपने पार्थिव इरास की श्रुतियों शिथिल पर देवा है, उस समय यह

## अरारविन्देन पदारविन्दम्—

पृथिवी की एक साम्बत्सरिक परिक्रमा से घनामिप्रधान प्रतिष्ठामूलक इरामय यह पार्थिव प्राण सर्वाङ्गशरीर में प्रतिष्ठित होता हुआ शिशु को स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित कर देता है। जय तक ( एक वर्ष-पर्यन्त ) यह प्रतिष्ठात्मक पार्थिव प्राण शिशु-शरीर में सर्वात्मना प्रतिष्ठित नहीं हो जाता, तब तक शिशुशरीर परावलम्ब की अपेक्षा रहता है। एक वर्ष के अनन्तर ही यह स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होता हुआ खड़े होने में समर्थ बनता है। सर्वव्यापक ईश्वर की चिच्छक्ति का उपप्रस्थान प्राणमय स्वयम्भू है, उपसंहारस्थान अन्नादमयी पृथिवी है। भूषण पर उत्पन्न होने वाली अरमवादि पार्थिव प्रजा को इसी पार्थिव चिच्छक्ति को प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यही कारण है कि, मरतक की अपेक्षा अरण को विशेष महत्त्व दिया जाता है। 'पद्भ्यां भूमिं प्रतिष्ठितः' इत्यादि मन्त्रवर्णन के अनुसार सप्तवितस्तिकायात्मक विश्वव्यापक विराट् पुरुष के पादप्रतिष्ठावलक्षण भूप्रदेश का ही पार्थिवप्रजा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। पृथिवी उस विराट् पुरुष के पाद है, सूर्य हृदय है, स्वयम्भू मरतक है। जो चिच्छक्ति शिरःस्थानीय स्वयम्भू में है, वही हृदयस्थानीय सूर्य में, तथा पादस्थानीया पृथिवी में है। शिरोभाग ( स्वयम्भू ) से आरम्भ कर पादभाग ( पृथिवी ) पर्यन्त एक ही चैतन्यधारा प्रवाहित है। दोनों परस्पर 'प्रहितं संयोगः, प्रदुतां संयोगः' लक्षण गायत्री के 'प्रति-प्रेति' सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। इसका यहाँ गमन 'प्रेति' भाव है, उसका यहाँ आगमन 'प्रति' भाव है। पृथिवी की प्रतिष्ठा अद्विसम्बन्ध से दक्षिणादिक् मानी गई है। इसी प्राकृतिक चिच्छक्तिरहस्य को कथ्य में रख कर निदानदिशा के आचार्यों ने पुरोत्तमेक्षर के दक्षिणपादाङ्गुष्ठ को उनके मुखद्वार में प्रविष्ट माना है। अमृत-ब्रह्म-शुक्रात्मक ब्रह्माश्वत्थवृक्ष की बत्था के एक पत्र (भाग) पर प्रतिष्ठित इसी परम भागवत तत्त्व की प्रारम्भिक स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए भागवताचार्यों ने कहा है—

अरारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम् ।

वटस्य पत्रस्य मुखे शयन्तं बालं सुकन्दं मनसा रमरामि ॥

पादस्थान ही हमें उपलब्ध होता है, अतएव उपासना काण्ड में भगवत्स्वरूपारविन्दो-का ही महत्त्व विशेष रूप से प्राप्त है। पिता, ज्येष्ठभ्राता, माता, आचार्यादि की पाद सेवा भी इसी लिए मर्योत्कृष्ट मानी गई है। इरामय पार्थिव ब्रह्म प्रपदस्थान से ही तो प्रविष्ट होता है। वास्तव में यह स्थान पवित्रतम है, जिस का रहस्य लौकिक मनुष्य नहीं जान सकते। कहना यही है कि, सर्वव्यापक ईश्वरतत्त्व पाप्माओं से पृथक्ततः विरहित, अतएव विशुद्ध-नित्यशुद्ध-मुक्त है। उत्पन्न शिशु भी नत्सम है, परमहंसकला में प्रतिष्ठित है। इस के अन्वःकरण में भी चैतन्य समानधारा से प्रवाहित है। अपनी-इसी प्रवाहवृत्ति से नपजात शिशु दक्षिणपादाङ्गुष्ठ को चूसा करता है। जिस 'बालक में ऐसी वृत्ति रहती है, शयनरात्रवेत्ता उसे भाग्यशाली बतलाते हैं।' तमोगुणप्रधान शिशुओं में प्रायः



कर्ममात्मा के तीन जन्म—

वतलाया गया है कि, अन्तर्यामि सन्ध्या से अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित होने वाले कर्ममात्मा के पांच जन्म होते हैं। भववान् ऐतरेय ने तीन जन्मभावों को ही प्रधान माना है। अन्न द्वारा पुरुष के शुक में प्रतिष्ठित होकर शुकद्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित होना प्रथम जन्म है, नवमासानन्तर भूमिष्ठ होना द्वितीय जन्म है। सूक्ष्मशरीरविनिष्ट के अनन्तर आतिवाहिक शरीर से लोकान्तर में जन्म लेना तृतीय जन्म है। इस व्यवस्था के अनुसार अन्नद्वारा पुरुषगुह में प्रतिष्ठित होने वाले पूर्वोक्त प्रथम जन्म का साधन-रूपतया शोणितजन्म में अन्तर्भाव माना जा सकता है, जोकि ऐतरेय के अनुसार प्रथम जन्म है। एवमेव पूर्वप्रतिज्ञादित संस्काररूप चतुर्थ जन्म का साधनरूपतया पाँचवें जन्म में अन्तर्भाव माना जा सकता है, जोकि ऐतरेयसम्मत तृतीय जन्म है। इसी जन्मविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१—“पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति, यद्रेतः । तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गैर्म्यस्तेजः सम्भूत-  
मात्मन्येषाऽऽत्मानं निभञ्जति । तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति, अयंतज्जनयति । तदस्य प्रथमं  
जन्म” ।

२—“तत् स्त्रिया आग्भृषं गच्छति, यथा स्वमङ्गं तथा । तस्मादेतां न हिनस्ति । साऽ  
स्यतमात्मानमत्र गतं भावयति, सा भावयित्री भावयितृषा भवति । तं स्त्री गर्भं विभञ्जति,  
सोऽग्न एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि भावयति । स यत् कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधि  
भावयति, आत्मानमेव तद् भावयति—एषां लोकानां संतत्या । एषे सन्तता हीमे  
लोकाः । तदस्य तृतीयं जन्म ।”

३—“सोऽग्न्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते । अथास्यायमितर आत्मा कृत-  
कृत्यो वयोगतः प्रीति । स हतः प्रपन्नेव पुनर्जायते, तदस्य तृतीयं जन्म”  
तदुक्तं ऋषिणा—“गर्भेऽस्तु सवन्नेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।  
शतं मा पुर आयसीरचञ्चयः शपेनो जवसा निरदीयम्”

—मे० आ० २।५।१।

१—पुरुषे ह अयमादितो गर्भो भवति—तदस्य प्रथमं जन्म

२—तद्यदा स्त्रियां सिञ्चति ————— तदस्य द्वितीयं जन्म

३—स यत् कुमारं जन्मनः ————— तदस्य तृतीयं जन्म

—तदस्य प्रथमं जन्म ।

—तदस्य द्वितीयं जन्म ।

४—पुण्येभ्यः कर्मभ्यः—	तदस्य चतुर्थं जन्म	}—तदस्य तृतीयं जन्म ।	
५—वयोगतः प्रैति—	तदस्य पञ्चमं जन्म		
१—	१—अन्नद्वारा शुके प्रतिष्ठा कर्मात्मनः—	प्रथमं जन्म	}—प्रथमं जन्म
	२—शुक्रद्वारा शोणिते प्रतिष्ठा कर्मात्मनः—	द्वितीयं जन्म	
२—	३—गर्भाशयद्वारा भूमौ प्रतिष्ठा कर्मात्मनः—	तृतीयं जन्म	}—द्वितीयं जन्म
	४—मस्कारद्वारा दिव्यभावे प्रतिष्ठा कर्मात्मनः—	चतुर्थं जन्म	
३—	५—अग्निद्वारा परलोके प्रतिष्ठा कर्मात्मनः—	पञ्चमं जन्म	}—तृतीयं जन्म

### रेत-योनि-रेतोधा—

प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति में 'रेत-योनि-रेतोधा' नामक तीन साधन अपेक्षित माने गए हैं। जो द्रव्य वस्तुस्वरूप का उपादानकारण बनता है, स्वरूपसमर्पक बनता है उसे 'रेत' कहा जाता है। जिस स्थान में प्रतिष्ठित होकर यह रेतोद्रव्य वस्तुस्वरूप में परिणत होता है, वह स्थान 'योनि' कहलाता है। एवं योनि में रेत को प्रतिष्ठित करनेवाला निमित्तकारणविशेष ही। 'रेतोधा' नाम से प्रसिद्ध है। प्रजापति के द्वारा विहित उपर्युक्त रेत-सृष्टि-प्रक्रिया में ये तीनों उपकरण विद्यमान हैं।

(१)—साधित्राग्नि 'योनि' है, भुव्यङ्गिरोमय पारमेष्ठ्यरस 'रेत' है, 'मातरिखा' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य भार्गव वायु 'रेतोधा' है। तीनों के समन्वय से पहिली 'देवसृष्टि' का विकास हुआ है।

(२)—पर्जन्याग्नि 'योनि' है, सीरमण्डलस्थ देवप्राणगर्भित 'धन्वा' नामक चान्द्रसोम 'रेत' है, आन्तरिद्य 'पावक' नामक वायुविशेष 'रेतोधा' है, तीनों के समन्वय से 'वृष्टिसृष्टि' का स्वरूप सम्पन्न हुआ है।

(३)—पार्थिव उध्याग्नि (गायत्राग्नि) 'योनि' है, आपोमय वृष्टिसोम 'रेत' है, पार्थिव 'पवमान' नामक वायुविशेष 'रेतोधा' है, तीनों के समन्वय से 'ओषधिसृष्टि' हुई है।

(४)—आलोमभ्यः, आनस्त्राभ्यः, ज्याप्त पुरुषशरीरवच्छिन्न वैश्वानराग्नि 'योनि' है, भुक्त अन्नसोम 'रेत' है, अशनायाम्भ्रात्मक प्राणवायु 'रेतोधा' है, तीनों के समन्वय से 'शुक्रसृष्टि' हुई है।

(५)—स्त्री के गर्भाशय में प्रविष्टित अङ्गिराप्राणधन शोणितानि 'योनि' है, पुरुषशरीर में प्रतिष्ठित सोम्यशुक्र 'रेत' है, नाभानेदिष्ठ-बालखिल्या-गुणकपि, नामक गर्भस्वरूप-सम्पादक प्राण-विशेषों की आभारभूमि 'एवयामरू' नामक वायुविशेष 'रेतोधा' है, तीनों के समन्वय से प्रजासृष्टि का स्वरूप सम्पन्न हुआ है।

- १-रेतः—भृशद्विरोधयः पारमेष्ठ्यायः ( सोमः )  
 २-योनिः—हृत्लोकस्य सावित्राग्निः ( अग्निः )  
 ३-रेतोधाः—भार्गवो मातरिक्षा वायुः ( वायुः )

—देवसृष्टिः—  
 “व्रजापतेरेतो देवाः”

- १-रेतः—चान्द्रसोमः अदात्मकः ( सोमः )  
 २-योनिः—पर्जन्याग्निरान्तरीक्ष्यः ( अग्निः )  
 ३-रेतोधाः—पायको वायुरान्तरीक्ष्यः ( वायुः )

—अपसृष्टिः—  
 “विधानां रेतो वर्षम्”

- १-रेतः—दिव्यसोममय्य आसः ( सोमः )  
 २-योनिः—पार्थिववज्र्याग्निर्गाथघ्नः ( अग्निः )  
 ३-रेतोधाः—पथमानो वायुः पार्थिवः ( वायुः )

—ओषधिसृष्टिः—  
 “वर्षस्यरेत ओषधयः”

- १-रेतः—भुक्तप्रम ( सोमः )  
 २-योनिः—धुर्याग्निर्मथान्तः ( अग्निः )  
 ३-रेतोधाः—प्राणो वायुः शरीरः ( वायुः )

—शुक्रसृष्टिः—  
 “ओषधीनां रेतोऽक्षम्”

- १-रेतः—सौम्यं शुक्रम् ( सोमः )  
 २-योनिः—गर्भानुगतः शोणित्वाग्निः ( अग्निः )  
 ३-रेतोधाः—अप्ययमस्त-शरीरः ( वायुः )

—प्रजासृष्टिः—  
 “अक्षस्य रेतो रेतः”  
 “रितसो रेतः प्रजाः”



## कौपीतिक का 'विचक्षण' तत्त्व—

'आपः पुरुषवचसो भवन्ति०' इस छान्दोग्य-सिद्धान्त के अनुसार यद्यपि पुरुषसृष्टि का मूलारम्भक पारमेष्ठ्य अपूर्वत्व ही माना गया है, तथापि इस सम्बन्ध में पार्थिव प्रजा के लक्ष्य से यह नहीं मुला देना चाहिये कि, अरमदादि पार्थिव पदार्थों की उत्पत्ति का प्रधानतः चन्द्रमा के साथ ही सम्बन्ध है। केवल पारमेष्ठ्य अपूर्वत्व का ही नहीं, अपितु स्थायम्भुव सत्य, सौर ज्योति, विविध भायापन्न नाक्षत्रिक प्राण, आप्य अमुरप्राण, वायव्य गन्धर्वप्राण, खावाप्रथिव्य पशुप्राण, सभी का पार्थिव भूतात्मा के साथ सम्बन्ध है। परन्तु इन सब आधिदैविक पदार्थों के आगमन का एकमात्र द्वार चन्द्रमा ही माना गया है। दूसरे शब्दों में चन्द्रमा ही ऋतुरूप सम्बत्सर के द्वारा पार्थिव प्रजा की प्रतिष्ठा बन रहा है। सर्वप्रतिष्ठा होने से ही चन्द्रमा आह्वयग्रन्थों में 'सर्व' नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि—“चन्द्रमा वै सर्वम्” (गो० ब्रा० पू० २।८।१) इत्यादि निगम से प्रमाणित है। भगवान् कौपीतिक ने निम्न लिखित शब्दों में स्पष्ट ही चन्द्रमा को ऋतु द्वारा सर्वप्रभव माना है—

“विचक्षणादतवो रेत आभृतं, पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यवतस्तन्मा पुंसि कर्चये-  
रध्वम्। पुंसां कर्त्रा मातरि मा निपिक्तं स जायमान-उपजायमानो द्वादशत्रयोदश  
उपमासो द्वादशत्रयोदशेन पित्राऽऽसंतद्विदे प्रतितद्विदेऽहं तन्म ऋतवो अमर्त्यव आभ-  
रध्वम्” (कौ० उप० १।२।२।)

सम्बत्सरस्य प्रतिष्ठा—

पूर्वप्रकरणान्तर्गत 'ऋतुपितरनिरूपण' प्रकरण में पङ्क्तुसमष्टिरूप सम्बत्सर-प्रजापति को हमने सर्व प्रपञ्च की प्रतिष्ठा बतलाया है। यह ऋतुभाव चान्द्रतत्त्व पर ही प्रतिष्ठित है। चान्द्र-मोम प्रवर्गसम्बन्ध से ऋतुसोमरूप में परिणत होता है। यही ऋतुचान्द्रसोम ऋताग्नि में उच्च-वचभाष से आहुत होकर पङ्क्तु का जनक बनता है। अतएव चन्द्रमा ही ऋतुसमष्टिरूप सम्बत्सरप्रजापति की प्रतिष्ठा माना गया है, जैसा कि—“नक्षत्राणि स्थ चन्द्रमासि सम्बत्सरस्य प्रतिष्ठा” (तै० ब्रा० ३।११।१।१३।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। सर्वसृष्टि-(पार्थिवसर्वसृष्टि)-प्रवर्तकता के सम्बन्ध से ही चन्द्रमा के लिये “ब्रह्मा कृष्णश्च नोऽवतु, चन्द्रमा वै ब्रह्मा कृष्णः” (शत० १३।१।११।) इत्यादि प्रसिद्ध है। इन्हीं सब विस्पष्ट प्रमाणों के आधार पर हमने दिव्य-पितृप्राणगर्भित ऋतुपितर (चान्द्रतत्त्व) को पार्थिव प्रजा का प्रजनयिता माना है। एकमात्र इसी सृष्टि-

“विचक्षणात्—बहुविधभोगदानकुशलात् सूर्यसुमुष्णानाढीरुपाच्चन्द्रमसः”

“असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः” (कौ० ब्रा० ४।४।७।१०।)

प्रवृत्ति की अपेक्षा से चन्द्रमा 'धाता-विधाता' नामों से प्रसिद्ध है—(देखिये गो-त्रा० पृ० १। १३। १)।  
मासि—मासि—वो अश्नम्—

उक्त कथन से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि, दिव्यपितृप्राणयुक्त चान्द्रपितृप्राण (अनुपितृप्राण, जोकि श्रद्धामोममय है) वृष्टि के द्वारा ओषधिरूप में परिणत होता है। दिव्यपितृप्राण क्योंकि आदित्यात्मक है, अतएव 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' कहना भी निर्विरोध सुरक्षित रह जाता है। आदित्यरश्मियाँ आदित्यप्राणात्मिका हैं, ये ही प्राण दिव्य पितर हैं। इनका सुषुम्णागार्ड में भोग होता है। सुषुम्णा द्वारा इन दिव्यप्राणों का चान्द्रसरण्डल में भोग होता है। चान्द्रमोम आदित्यरश्मिगत प्राणान्नि के सम्बन्ध से द्रुत होकर वृष्टिरूप में परिणत होता है। यही वृष्टिभाग ओषधिरूप में परिणत होता है। इन ओषधियों का आप्यायन चान्द्रतत्त्व से स्वतन्त्ररूप से भी होता रहता है। यह आप्यायन कर्म कृष्णपक्ष में अधिक चलवान रहता है। सौररश्मिगत इन्द्र नामक प्राण विशेष मोमान्नाहक है। शुक्लपक्ष में इसका प्राधान्य रहता है। अतएव चान्द्रमोम इस पक्ष में ओषधि-आप्यायन कर्म से असमर्थ है। कृष्णपक्ष में भी आप्यायन कर्म अमावास्या में सर्वप्रधान है। क्योंकि इस तिथि की इन्द्र मोमग्रहण में असमर्थ है। क्योंकि अमावास्या ओषधियों का आप्यायनकाल है, अतएव इस दिन ओषधि काटना निषिद्ध माना गया है। चान्द्रमौस्यप्राण सम्बन्ध से ही अमावास्या 'पार्वण्यश्राद्धतिथि' मानी गई है, जिसके सम्बन्ध में—“मासि मासि वो अश्नम्” (शत० भा० २। १। १। २।) इत्यादि प्रसिद्ध है।

दधि—घृत—मधु—लक्षण कर्मात्मा—

ओषधिरूप अन्न चान्द्रमोमप्रधान है, अतएव चन्द्रमा 'ओषधीनां पतिः' नाम से प्रसिद्ध है। इस चान्द्रमोमप्रधान ओषधिरूप भोग्य अन्न में दिव्य, आन्तरिक्ष, पार्थिव, तीनों द्रव्यों का समन्वय है। चान्द्र मोम की प्रधानता के साथ साथ दिव्यपितृप्राण की सत्ता भी पूर्व से गतार्थ है। पार्थिवमृदु-भाग भी समाविष्ट है। ये तीनों ही द्रव्य अग्नीषोमात्मकरूप से उभयविध हैं। अन्तर फेवल घन-तरल-पिरलापस्थाओं में है। पार्थिव अग्नि 'घन' है, पार्थिव मोम घन है। यही 'आवः' नाम से प्रसिद्ध है। ओषधियों का दृश्य स्थूलभाग, जोकि—'दधि ईवास्य लोकिंस्य रूपम्' (शत० भा० १। १। १। ३) के अनुसार 'दधि' नाम से व्यवहृत द्रव्य है, स्थूलाग्निमोममय है। स्थूल पानी, तथा चित्तलक्षण स्थूलाग्नि के समन्वय से ही मिट्टी बनी है। यही ओषधियों का स्थूल रूप है। अन्न में जो 'दाना' (घनता) देखा जाता है, त्रिम घनता को तोड़ने के लिए अन्न को चक्की में पीसा जाता है, वही दधिभाग है। यह पार्थिव घनान्नि मोमप्रधान है। पार्थिव संस्था में 'पद्याग्निगर्भा पृथिवी' के अनुसार अग्नि की प्रधानता है, मोम गौण है। अतएव पार्थिव पद्ममहाभूत समष्टि 'वाक्' नाम से प्रसिद्ध है, जो कि 'वाक्' शब्द—'तस्य वा एतन्मागनेश्वरोपोनिपत्' (शत० भा० १। १। १। १।) के अनुसार अतितत्त्व का ही नामान्तर है।

दूसरा भाग इन ओषधियों में आन्तरिह्य अग्नि, सोम का प्रतिष्ठित है। अन्तरिह्य के अग्नि-सोम वायव्य बनते हुए प्राणप्रधान हैं। ओषधिरूप अन्न में जो एक बलप्रद प्राण है, जिसके आगमन से सहोदर (साहस) का प्रादुर्भाव होता है, वही आन्तरिह्य अग्नीसोम हैं। यह आन्तरिह्य युग्म तरलावस्थापन्न होने से 'धृतमन्तरिह्यस्य' के अनुसार 'धृत' नाम से प्रसिद्ध है। चक्षी में पिष्ट आटे को जब गोंदा जाता है, तो उसमें एक प्रकार की मृदुता आ जाती है, जिसे लोकभाषा में 'लेस' कहा जाता है। चिकनाई प्रवर्तित होने लगती है। यह इसी आन्तरिह्य प्राण का माहात्म्य है। 'आपोमयः प्राणः' सिद्धान्त के अनुसार पानी ही प्राणविकस की प्रतिष्ठा है। अतः अप् सम्बन्ध से ही आटे में इस धृतप्राण का विकास होता है। यह आन्तरिह्य प्राण शरीर "ओज" धातु का प्रवर्तक है।

तिसरा दिव्य अग्नि-सोमयुग्म विरलावस्थापन्न है। इससे ओषधियों में मधुभाग का विकास होता है। 'आदित्यो वै देवमधु' (चान्दोग्य-उपनिषद्, मधुविद्या) "मध्वमुष्य (लोकस्य रूपम्) - (शत० ब्रा० ७।१।१।१) के अनुसार मधुभाग का प्रवर्तक दिव्याग्निसोमयुग्म ही माना जायगा। प्रत्येक अन्न में एक प्रकार का मिठास होता है। अन्नगत यही मधुभाग शरीर में मधुभाग का स्वरूप समर्थक बनता है। यही दिव्य विशुद्ध अमिषूत सोम प्रज्ञान नामक सर्वेन्द्रिय मन का आरम्भक बनता है, जिसके लिये—'अन्नमयं हि सांम्य । मनः' प्रसिद्ध है। इस प्रकार मुक्त अन्न-वैलोक्यरसावच्छिन्न बनता हुआ पार्थिवपितृसोमयुग्म से बाह्य प्रती सज्जवातुमयटि का, आन्तरिह्य-अग्निसोमयुग्म से प्राणमय ओज का, एवं दिव्याग्निसोमयुग्म से मन का उपादान बन रहा है। अग्नी-पोमयुग्मों का स्वरूपभेद ही इन तीनों आध्यात्मिक पदों के स्वरूपभेद का मुख्य कारण है। मनःप्राण-वाक्मय भूतात्मा क्योंकि रसत्रयावच्छिन्न अन्नरस से सम्पन्न है, अतएव त्रिपदा यह कर्मत्मा 'अन्न-रसमयब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध है। अन्न ही भूतत्मा की प्रतिष्ठा है, जैसा कि—'असाधिनं जगत्सर्वम्' से स्पष्ट है। इसी आधार पर अन्न को 'प्रोपनिषत्' माना गया है—(देखिये शत० ७।१।१।१)

“यु वा प्य अतो वाक्मयः प्राणमयो मनोमयः”

- |    |   |  |
|----|---|--|
| १- | १-रसः, २-असृक्, ३-सांसम्<br>४-भेदः<br>५-अस्थि, ६-मज्जा, ७ शुक्रम् | -पार्थिवधातवः सप्त पार्थिवपितृप्राणेनाग्नीपोमीयेन निष्पन्नः—'बाह्वमयाः' (भूतमयाः) 'वाक्' |
| २- | ओजः   |  |
| ३- | सत्यम्  | -दिव्यधातुः दिव्यपितृप्राणेनाग्नीपोमीयेन निष्पन्नः<br>“मनोमय” “मनः”                      |

## आत्मविवर्त सम्परिवर्ति—

भुक्तान् रसास्वादि द्वारा अन्ततः अपने पार्थिव इरास्य सारभाग से 'शुक्' रूप में परिणत हुआ । अन्नगत सौम्यगुणक चान्द्र पितृप्राण का भी शुक् में समावेश हुआ । इस चान्द्रप्राण से आकृति-प्रकृति, अहंकृतिभाविसमर्पक 'महानात्मा' का उदय हुआ । शुक् में प्रतिष्ठित बीजी इसी महानात्मा की इच्छा से ही आगे की भूतसम्भूति (प्रजोत्पत्ति) लक्षण सन्तानधारा प्रवाहित होती है । बीजावस्थापन्न महान् का जितना आकार है, वैसी प्रकृति है, जो अहंभाव है, शुक्सेकद्वारा गर्भमें प्रतिष्ठित गर्भी का उतना ही आकार, वैसी ही प्रकृति, वही अहंभाव सम्पन्न होता है, जैसा कि— 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' प्रकरण के 'महद्वस्त्रोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है ।

शुक् मन्दर्मे से हमें 'वेष्टक महानात्मा, क्षेत्रज्ञ, कर्मात्मा, इन तीन आत्मविवर्तों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है' । भुक्तान् का पार्थिव भाग (वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञात्मक सौम्यलोकों का प्रथमभाग) तो वैश्वानर-तैजस-मातृमूर्ति कर्मात्मा है । भुक्तान् का चान्द्रसोमभाग पट्टगुणक 'महानात्मा' है । कर्मात्मा से शुक् अन्नमय प्रज्ञान पर प्रतिबिम्बित सीर हिरण्यतेज विज्ञानात्मा है, यही क्षेत्रज्ञ है । क्षेत्रज्ञ बुद्धि है, प्रज्ञान मन है, कर्मात्मा कर्मभोक्ता है, महानात्मा आद्विषयद्वरस भोक्ता है । जीवनदशा में सब आत्मविवर्त परस्पर सम्परिवर्तक रहते हैं । प्रयाणकाल में बुद्धिरूप क्षेत्रज्ञ 'तैजः परम्यां देवतायाम्' के अनुसार स्वप्रभव सीर हिरण्यमय मण्डल में प्रपत हो जाता है । प्रज्ञान मन अनुशयिरूप से भोक्तात्मा का सहयोगी बना रहता है । जबतक महानात्मा स्वप्रभव चन्द्रलोक में नहीं चला जाता, तबतक तो कर्मात्मा महानात्मा के साथ रहता है । जब महानात्मा चन्द्रलोक में पहुँचकर स्वयंराज अन्य महानात्माओं के साथ सापेक्ष्यभाय को प्राप्त हो जाता है, तो तदनन्तर 'दीर्घा कर्मगति गतः' सिद्धान्त के अनुसार कर्मात्मा शुभाशुभ कर्मोद्वेकभोगार्थ यात्रा का अनुगमन कर लेता है । क्योंकि आद्व का लक्ष्य एकमात्र महानात्मा है, अतः इसी की ओर पाठकों का विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

## चन्द्रलोकानुगत-महाना-मा—

'महानात्मा मज्जायानुक्त्वं सम्यग्धासे सौम्य शुक् में प्रतिष्ठित है, यह श्रव्य चान्द्र सोम प्रधान है, पट्टगुणक है, विदात्मा की पोनि है' । इन निष्कर्षों को लक्ष्य में रखते हुए विचारविमर्श कीजिए । जो यस्तुतत्त्व जिम लोक का, जिस जाति का होता है, सजातीयकर्षणसिद्धान्त के अनुसार उस यस्तुतत्त्व के साथ उस लोक, उस जाति का स्वाभाविक आकर्षण बना रहता है । एवं इस आकर्षणमय के आधार पर उन उन सजातीय, समानस्थानीय यस्तुतत्त्वों का प्रथमरूप से परम्पर आदान प्रदान हुआ करता है । मिश्र के वेले को आप कितना ही उँचा फैँकिए, परन्तु सजातीय समानस्था-

परिवर्तनरूपा इसी परिक्रमा से यह २७ दिन, तथा कुछ घन्टों में एक दक्षपरिक्रमा पूरी कर लेता है। स्वाक्षपरिभ्रमणगतिविक्षिप्त चन्द्रमा की यह स्ववृत्तगति निर्दिष्ट एक समय में पूरी हो जाती है। २७ दिन, कुछ अंशों के संकलन से चान्द्र सम्बत्सर के १३ मास हो जाते हैं। इस प्रकार सौरसम्बत्सर की पूरी परिक्रमा लगाने में चन्द्रमा को पूरे तेरह मास लग जाते हैं। प्रत्येक मास की शुक्ल-द्वितीयों को गमनशील प्रेतात्मा तथा चन्द्रमा का समसामुख्य होता रहता है। इस तिथि में प्रेतात्मा में चान्द्रवल समावेश के लिए उस वैज्ञानिक प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है, जो प्रक्रिया मासिक आद्यापरपथ्यायिक 'एकोद्दिष्टाद्वा' नाम से प्रसिद्ध है। प्रथम मास में पार्थिव आकर्षण विशेषतः प्रबल रहता है, अतएव आरम्भ में पार्थिवश्राद्ध (पन्द्रहवीं) किया जाता है। अनन्तर पाष्मासिक, स्वर्गन्त में पार्थिवश्राद्ध किया जाता है। ज्यों ज्यों प्रेतात्मा पार्थिवआकर्षण से विमुक्त होकर चान्द्रमण्डल के समीप पहुँचता जाता है, त्यों त्यों इस की स्थिति में विकास होने लगता है। इन सब स्थितियों को त्रैलोक्य के आधार पर अध्रुमुख-पार्थिव-नान्दीमुख, नामों से व्यवहृत किया गया है। पार्थिव स्थिति में यही अध्रुमुख है, अन्तरिक्षस्थिति में पार्थिव है, दिव्य चान्द्रस्थिति में नान्दीमुख है। चान्द्रलोक में पहुँच कर तत्राथ स्वयंराज नान्दीमुख पितरों से युक्त होकर स्वयमपि तद्रूप बनता हुआ यह प्रेत विशुद्ध सौम्यभाय में, पवित्रभाय में परिणत हो जाता है, जो कि पावन स्थिति आशीच निवृत्ति का बीज मानी गई है, जिनके १३ मामान्मक काल का १३ दिनों में अन्तर्भाव मान लिया गया है।

सादृश्य-प्रेतात्मा अपने निश्चित गतिमार्ग से बढ़ता रहता है। चन्द्रमा बढ़ता रहता है। त्रयोदशमासान्तर टीक उसी सामुख्यभाय के उपलब्ध होने पर यह नान्दीमुखों से संयुक्त हो जाता है। यही इसका सापिण्ड्यभाय है। यही (चन्द्रलोक में) इस प्रेतपिण्ड के पिता, पितामह, प्रपितामहादि के अपत्यपिण्ड प्रतिष्ठित है। इन पितृपिण्डों के साथ इस प्रेतपिण्ड का युक्त हो जाना ही 'सापिण्ड्य' है, जिस प्राकृतिक स्थिति की प्राप्ति के लिए प्रेतात्मा के पुत्र द्वारा 'सपिण्ड्यकरण' नामक प्रक्रिया विशेष को माध्यम धनाना आवश्यक होता है। जिस ऋतु में कर्मात्मा शरीर का परित्याग करता है, यही ऋतुमय मृद्भूमभूत अङ्गुष्ठाभय शरीर से इस प्रेतात्मा का बहन करते हैं। अतएव इस पिण्ड-शरीर को 'आतिथ्याहिकशरीर' कहा जाता है, जैसा कि आने वाली 'आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

### गोत्रसृष्टिमीमांसा—

सापिण्ड्य सम्बन्ध से चन्द्रलोकस्थ वंशज पितरों का प्रमह, चल पड़ा। अतः दो शब्दों में इस की भी मीमांसा कर लेना अप्राप्तिक्रिक न होगा। जिस प्रेतात्मा का आज गमन हो रहा है, उसके मूलपितर (वंशज पितर) 'सपिण्ड, सोदक, सगोत्र' श्रेय से तीन श्रेणियों में विभक्त है।

१—१५वें प्रेतपितर, २—प्रेतपितर का पिता, ३—पितामह, ४—प्रपितामह, ५—दुद्ध प्रपितामह,

६—अतिवृद्धप्रपितामह, ७—वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, ये सात पितर '१—सापिएडापितर' कहलाते हैं। तत्पर्य्य यही है कि—'सापिएड्यं साप्तपौरुषं, सापिएडतां तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते' मिद्वान्त के अनुसार पिएड सम्बन्ध सात धाराओं में भी उपभुक्त है। प्रोवात्मा से पहिले के ६ पिएड, स्वयं प्रोवात्मा ७ वों पिएड, यही सप्तपुरुषानुगत सापिएड्यभाव है। सातवें वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से आगे की सात पीढ़ियों के सात क्रमिक पितर (१४ पर्य्यन्त) '२—सोदकपितर' कहलाए हैं। इम से भी आगे का पितृसप्तक (२१ पर्य्यन्त) '३—सगोत्रपितर' संज्ञा से प्रसिद्ध हुआ है। इन तीन पितृसप्तकों के अनन्तर 'सजातीय-चन्द्रपितर' विभाज्य है।

'मृष्टि-वेद-गोत्र' भेद से ऋषितत्त्व तीन सृष्टियों का प्रवर्त्तक माना गया है \*। मृष्टि-प्रवर्त्तक ऋषि, गोत्रप्रवर्त्तक ऋषि, वेदप्रवर्त्तक ऋषि, तीनों ही ऋषिनस्त्र्यों का मूल आधार (प्रतिष्ठा-विकासभूमि) एकमात्र आङ्गिरस-स्वायम्भुव-अग्निवत्त्व है, जिसका विकास आर्येभ्य परमेष्ठी-मण्डल में माना गया है। ऋषितत्त्व की इसी मूल प्रतिष्ठा का स्पष्टीकरण करते हुए वेदभगवान् ने कहा है—

“विरूपास इदम्यस्त इद् गम्भीरवेपसः ।

ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परिजङ्गिरे” ।

—ऋक्संहिता १०।६।२।१।

“एकविंशिनोऽङ्गिरसः” इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार यह ऋषिप्राणधारा मूलभूत अङ्गिरा की २१ धाराओं के सम्बन्ध से गोत्रमृष्टि में २१ पीढ़ी पर्य्यन्त प्रवाहित रहती है। इसी मौलिक-भौत रहस्य के आधार पर स्मार्त्तचार्यों ने सगोत्र पितरों की सीमा २१वीं पीढ़ी पर्य्यन्त मानी है।

“लोकस्तु भुवने जने” (अमरः ३।३।२।) के अनुसार भुवन, जन, दोनों के लिए लोक शब्द प्रयुक्त हुआ है। भूतसर्ग (भूतप्रजाजन) चौदह भागों में विभक्त है, जोकि सांख्य-परिभाषा में—“चतुर्दशविध भूतसर्ग” नाम से प्रसिद्ध है। चौदह जन (प्रजासृष्टिगण) की अपेक्षा से भी चौदह लोक प्रसिद्ध हैं, एवं भूरादि सप्त ऊर्ध्व भुवन, अतलादि सप्त अधोभुवन, संकलन से चौदह भुवन दृष्टि से भी चौदह लोक प्रसिद्ध हैं। प्रकृत में जनसमूह चौदह लोक ही अपेक्षित हैं। 'माहा-ज्याहृति' से सम्बन्ध रखने वाले आब्रह्मभुवन—“भूः-भुवः-स्वः” इस त्रैलोक्य से युक्त भूः (रोदमी-त्रैलोक्य), भुवः (मन्दसी त्रैलोक्य), स्वः (संयुक्ती त्रैलोक्य) नाम के मन्त्रलोक समक तीन लोक हैं, जिन की ममष्टि के लिए 'त्रैलोक्यत्रिलोकी' संज्ञा व्यवहृत हुई है। इसी त्रैलोक्यत्रिलोकी के गर्भ में चतुर्दशलोक (प्रजासृष्टि) प्रतिष्ठित है।

\*—इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन, 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' द्वितीयखण्ड में देखना चाहिए।

मुवनात्मक (स्थानात्मक) लोक हो, अथवा जनात्मक (स्थानस्थित प्रजात्मक) लोक हो, उभय-विध लोकमृष्टि (लोकमृष्टि, तथा लोकोत्पृष्टि) का मूल अप्रतत्त्व ही माना गया है। सिसृक्ष-प्रजापति अपने आरोमुख से ही उभयविध लोकमृष्टि के सृष्टा वनते हैं, जैसा कि—‘अप एव ससर्जदौ’ इत्यादि मानवमिद्वान्त + से भी प्रमाणित है। इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ इत्यादि उपनिषद्भूति जहाँ अप्रतत्त्व को प्रजासृष्टि का आरम्भक लतला रही है, वहाँ—‘आपो वै सर्वाणि भूतानि’ (शत० ११।१।६।१६) इत्यादि ब्राह्मण श्रुति इसी को भूतात्मिका लोक-मृष्टि का भी आरम्भक मान रही है। निम्न लिखित न्यायसूक्ति भी लोकमृष्टि की अव्यवस्था का समर्थन करती हुई इसे सर्वसृष्टिप्रवर्तक मान रही है—

“अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोकाः अप्सु प्रतिष्ठिताः।

आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ॥” (महाभारत)

चतुर्दशविध लोक (प्रजा) भेद से अप्रतत्त्व भी चतुर्दशधा विभक्त है। किंवा लोकात्मक अप्रतत्त्व के चतुर्दशधा विभक्त रहने से लोक (प्रजा) भी चतुर्दशधा विभक्त है। उभयथा अप्र-तत्त्व का १४ संख्याएँ अनुगुण हैं। क्योंकि अप्रतत्त्व १४ भागों विभक्त है, अवश्य तद्रूप पितृपरम्परा भी इसी संख्या पर उपरहित है। एकमात्र इसी मूल के आधार पर चतुर्दशपर्यन्त ‘मोदक’ (जलाञ्जलि से सम्बन्ध रखने वाले) पितरों की सत्ता मानी गई है।

तीसरा “सपिण्डपितर” विभाग है। सोमगर्भित अग्नि ही पिण्डस्वरूप का निष्पादक माना गया है। साम्प्रतमरिक अग्निप्रतत्त्व सोमाहुति को गर्भ में आत्ममान करता हुआ पिण्डसृष्टि का प्रवर्तक बनता है। यह साम्प्रतमरिक पिण्डभाव सम्पादक ऋद्धमूर्ति ७ अग्नि सप्तसंस्थ माना गया है। मान संस्था पर्यन्त ही सोमगर्भित एक अग्निघन (स्थिर-ध्रुवामि) का चितान होता है। इसी सप्तपिण्डपितरसंस्था के आधार पर त्र्योतिष्ठोम यज्ञ की सात संस्थाओं का उदय होता है, जोकि सप्तक—“अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्यस्तोम, षोडशीस्तोम, अतिरात्रस्तोम, वाजपेयस्तोम, आप्तो-ग्यामिस्तोम” इस नाम से प्रसिद्ध हैं। इसी सप्तपिण्ड के कारण सोमगर्भित अग्निदेवता ‘सप्ताग्नि, सप्त-जित्’ इत्यादि नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। मान के अनन्तर घनता अकाल हो जाती है, अग्निदेव संकोच प्रवर्तक सोमसम्बन्ध से वञ्चित होने हुए मयं सोमरूप में परिणत हो जाते हैं। इसी आधार पर अग्निदेवों

+ मोऽभिधाय शरीरान् स्थान् मिमसु विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जदौ ताम् बीजमथापजन ॥ (मनुः १।१०)

० “अग्नेयं वेदः,—“अग्न्यो जातां सर्वशो मृचिमाहुः” (मं० ३।१२।१।२,३)

नैऋतपितरों का पिण्डरूप सात पर ही विश्रान्त माना है, जं किं विश्रान्ति प्राकृतिक नियमातुगता होने से सर्वथा मान्य है। यही तैमिरा 'सपिण्डपितर' विभाग है।

सौरमन्वत्सरानुगत पार्थिव मन्वत्सरः सोमगर्भित अग्निप्रधान है। भूयद्विरोमय परमेष्ठी मनुद्र आपःप्रधान है। एवं ऋत-सत्यमय स्वयम्भू विश्वरूप प्राणप्रधान है। प्राणप्रधान स्वयम्भू की व्याप्ति इतर दोनों पर है। अपप्रधान परमेष्ठी की व्याप्ति सौरपार्थिव मन्वत्सर पर है। फलतः स्वायम्भुव प्राण की व्याप्ति भी पृथिवी पर्यन्त है, एवं परमेष्ठ्य अतृप्तत्व की व्याप्ति भी पृथिवी पर्यन्त है, यह निश्चय होता है। एवं इस व्याप्ति प्रदर्शन में हमें कुछ निष्कर्ष निकालना है, जैसा कि पाठक अनुपद में ही देखेंगे। अभी यह न्य यही है कि—स्वायम्भुव प्राण 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है, एवं यह मूलरूप अक्षिरा के सम्बन्ध से २१ विभूतिभावों में विभक्त है। यही ऋषि गोत्रमुद्रिका प्रवर्तक है, यही सगोत्रपितृप्राण की मूलप्रतिष्ठा है। स्वायम्भुव विभूति से युक्त सगोत्रपितर ही दिव्य-नान्दीमुख पितर हैं, जिनसे—'गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्' यह कलाशीः माँगी जाती है। परमेष्ठ्य अप्रतृप्त्य सोदक पितृप्राण की प्रतिष्ठा घनता है। अप्रतृप्त्यानुबन्धो चतुर्ह शर्वकाम के सम्बन्ध से सोदक-पितर चतुर्ह शशास्त्रापर्यन्त व्याप्त रहते हैं। ये ही आन्तरिक्ष्य पार्वण पितर हैं। पार्थिव अग्नितरय सपिण्ड पितरों की प्रतिष्ठा बनता है। सज्जधा विभक्त अग्नि के सम्बन्ध से सपिण्डता मान ही पीढ़ी पर्यन्त प्रक्रान्त रहती है। ये ही सपिण्ड पितर पार्थिव अश्रुमुख पितर हैं।

स्वयम्भू स्वः है, परमेष्ठी भुवः है, सम्बत्सर भूः है, यही महात्रयादितिरूप महाविश्व है। जिस के तीनों पयों में क्रमशः सगोत्र-सोदक-सपिण्ड पितर प्रतिष्ठित हैं। श्रविमन्वन्ध से स्वायम्भुव पितर 'आर्येय' कहलाए हैं, अप्रसम्बन्ध से परमेष्ठ्य पितर 'आप्य' कहलाए हैं, एवं सम्बत्सर-मण्डलान्तर्यर्त्ती अतृप्तसोम के सम्बन्ध से पार्थिव-साम्बत्सरिक पितर 'साम्य' कहलाए हैं। यही इन त्रिविध पितृप्राणों का मौलिक स्वरूप परिचय है।

१—स्वयम्भूः (स्वः-संयती त्रैलोक्यरूपः) -चुलोकः -प्राणमयः

२—परमेष्ठी (भुवः-मन्दसी त्रैलोक्यरूपः) -अन्तरिक्षलोकः -आपोमयः

३—सम्बत्सरः (भूः-सोदमी त्रैलोक्यरूपः) -पृथिवीलोकः -सोम्य-भूतान्निमयः



- १-प्राणः-गोत्रप्रवर्त्तको ऋषिः-गोत्रपितरः-२१ विभक्ताः
- २-आपः-लोकप्रवर्त्तक आपः-उदकपितरः-१६ विभक्ताः
- ३-अग्निः-पिण्डप्रवर्त्तकोऽग्निः-पिण्डपितरः-७ विभक्ताः

- १-सगोत्राः-नाम्नोमुखाः-दिव्याः ( आदित्यानुग्रहीताः-अनुग्रहीताश्च )
- २-सोदकाः-पार्यणाः-आन्तरीक्षाः ( रुद्रानुग्रहीताः-अनुग्रहीताश्च )
- ३-सपिण्डाः-अश्रुमुखाः-पार्थिवाः ( वस्त्वनुग्रहीताः-अनुग्रहीताश्च )

दूसरी दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए । निम्नादि का आर्य वैदिक परिभाषाओं के सम्पर्क में आए हुए विश्व पाठक सम्भवतः यह अवश्य स्वीकार कर लेंगे कि, दृश्यस्थिति का अपेक्षा से पृथिवी (भूपिण्ड) आधार शिला है । पृथिवी से ऊपर चन्द्रमा है, तदुपरि-सूर्य है, तदुपरि परमेष्ठी है, सर्वोपरि स्वयम्भू है । स्वयम्भुव प्राण 'ऋषि' नाम से, पारमेष्ठ्य प्राण 'पिता' नाम से, सौरप्राण 'देव' नाम से, चान्द्रप्राण 'गन्धर्व' नाम से, एवं पार्थिवप्राण 'पुरुष' (देवानर) नाम से प्रतिष्ठ है । प्राणमय स्वयम्भू ऋषितत्त्व का, आयोमय परमेष्ठी पितृतत्त्व का, पाण्डूय सूर्य देवतत्त्व का, अन्नमय चन्द्रमा गन्धर्वतत्त्व का प्रवर्त्तक है, एवं अन्नतन्मयी पृथिवी पुरुषसृष्टि की प्रयानिका है । इन दृष्टविषयों में से पारमेष्ठ्य पित्राद्य द्वारा प्रधान लक्ष्य बना हुआ है ।

'समृद्धपक्ष' विज्ञान के आधार पर हमें मान लेना पड़ता है कि, ये पाँचों प्राकृतिक प्राण परस्पर समन्वित हैं । इसी समन्वय के आधार पर कहा जा सकता है कि, पारमेष्ठ्य पित्राण के साथ भी शेष ऋषिदेवगन्धर्वपुरुष, इन चारों प्राणों का समन्वय सम्बन्ध हो रहा है । हम तो इस महानमूक्त पारमेष्ठ्य विनयाण के सम्बन्ध में यह भी कह सकते हैं कि, यही इन चारों प्राणों की विकास-भूमि है । मृत्तिमय्यांता से अनील, अक्षत, ऋषितत्त्वप्रधान अत्यन्त स्वयम्भू का योगत समस्त माँ में प्रवृत्त हो जाता एतन्नाइ इसी पारमेष्ठ्यतत्त्व के समन्वय का फल है । देवप्राणवत हिरण्यगर्भमूर्त्य इसी परमेष्ठो के अक्षिराभाग का विद्यमान है । गन्धर्वप्राणतन्म चन्द्रमा इसी पारमेष्ठ्य भागव आर्य पायु का विद्यमान है । पुरुषप्राणतन्म पृथिवी भी पारमेष्ठ्य अन्नतत्त्व के रूपान्तरित 'मर' नामक नत्य पानी के प्रथम का ही परिणाम है । यही तो इस परमेष्ठो की महत्ता है, अतएव तो इस मलितारिण्या को 'महान' करना आवश्यक बनता है, तब की कि महत्ता का ऋषि ने निम्न निम्नित शब्दों में कोमान किया है —

२१ सगोत्राः

२१-७-	X	X	X	—	आर्ष्याः
२०-—	X	X	+	—	"
१९-५-	X	X	X	—	"
१८-४-	X	X	X	—	"
१७-३-	X	X	X	—	"
१६-२-	X	X	X	—	"
१५-१-	X	+	X	—	"

शुद्धसगोत्राः सप्तपितरः  
(दिव्याः- नान्दीमुखाः  
पितरः)  
स्वायम्भुवाः  
१

१४ सोदकाः

१४-७-	X	X	X	—	आर्ष्याः
१३-६-	X	X	X	—	"
१२-५-	X	X	X	—	"
११-४-	X	X	X	—	"
१०-३-	X	X	X	—	"
९-२-	X	X	X	—	"
८-१-	X	X	X	—	"

सगोत्रगमिताः शुद्ध-  
सोदकाः सप्तपितरः  
(आन्तरीक्षाः-पार्वत्याः  
पितरः)  
पारमेष्ठ्याः  
२

७ सपिण्डाः

७-७-पृथ्वीप्रपितामहः	X	X	—	सौम्याः
६-६-अतिपृथ्वीप्रपितामहः	X	X	—	"
५-५-पृथ्वीप्रपितामहः	X	X	—	"
४-४-प्रपितामहः	X	X	—	"
३-३-पितामहः	X	X	—	"
२-२-पिता	X	X	—	"
१-१-मैतवः	X	X	—	"

सगोत्रसोदकागमिताः  
सप्त सपिण्डपितरः  
(पार्वत्याः-अश्वमुखाः)  
साम्यत्सरिकाः  
३

## पितृसहःस्वरूपविज्ञान—

प्रजातन्तुवितान से सम्बन्ध रखने वाले अब एक ऐसे तत्त्व की ओर आद्वकर्मप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसके आधार पर ही आर्य आद्वकर्म प्रधानरूप से प्रतिष्ठित है। यही निरूपणीय प्रधान तत्त्व ऋग्वेदपरिभाषानुसार 'सह' नाम से प्रसिद्ध है। सर्वजगदालम्बन, ब्रह्म-कर्ममय, सद्मन्मूर्ति अव्यय पुरुष की आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाक् नाम की पाँच कलाएँ सुप्रसिद्ध हैं। पञ्चकल अव्यय पुरुष के कलात्मक विवर्तभाव का ही नाम 'इदं विखं' है। प्रयास करने पर भी पाँच कलाओं के अतिरिक्त अन्य वस्तुतत्त्व सर्वथा अनुपलब्ध है। पाँच कलाओं की, दूसरे शब्दों में पञ्चकलोपेत अव्ययपुरुष की इसी सर्वाधाररूपा सर्वरूपता का स्पष्टीकरण करते हुए अध्ययवतार पूर्णेश्वर ( श्रीकृष्ण ) कहते हैं—

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! .

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिमणा इव ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता ७।७।)

इन पाँच अव्ययकलाओं के समन्वय से यह विश्व समष्टि, तथा व्यष्टि, दोनों प्रकार से पञ्चभावात्मक बन रहा है। उदाहरण के लिए व्यष्टि-समर्थक मानवशरीर को ही अपना लक्ष्य बनाइए। क्योंकि आद्वप्रकरण में आद्वकर्मनुगत मानयोदाहरण ही सुसङ्गत माना जायगा। पुरुषसंस्था में आनन्द, विज्ञान, मनः, प्राण, अन्न, ये पाँच कोश माने गए हैं। पाँचों में वाक्मय अन्नकोश, सर्वापेक्षया बहिःस्तर है, आनन्दमयकोश मध्यन्तरतम है। आनन्दमयकोश के आधार पर विज्ञानमयकोश, इसके आधार पर मनोमयकोश, इसके आधार पर प्राणमयकोश, एवं इसके आधार पर अन्नमयकोश प्रतिष्ठित है। प्रत्यक्षरूप भौतिक पिण्ड (शरीर) ही अन्नमयकोश है। दूसरे शब्दों में रसासृज भासमेदोऽस्थिमज्जाशुक्लात्मक भूतधातुसमष्टि ही अन्नमयकोश है। एवं विकारहरभावानुबन्ध से जण क्षण शीघ्र्यमाण होने से यह कोश 'शरीर' नाम से, अथवा तो इतर आत्मवियर्णों की आश्रय भूमि होने से शरीर नाम से प्रसिद्ध है। जरपरमाणुसंघ को एक सूत्र में बद्ध रखने वाला विघटन तत्त्व ही प्राणमयकोश है, जोकि शरीरघटकों का मूलप्रवर्तक माना गया है। प्राणोत्पत्ति से उसी प्रकार शरीरधातु श्लेष्माद्यय बन जाते हैं, जैसे कालानिष्ठम से उन्मत्त प्राणानुगत भूतपिण्ड जीर्ण-शीर्ण बन जाते हैं। क्रियाप्रवर्तक प्राण के क्रियाधर्म का मूलावस्थान-धमनाप्रवर्तक तत्त्वविशेष ही मनोमयकोश है। मानसजगत् में चिन्त्यक्ति का मञ्चार करने वाला, मनोमयकोश को भूनामक से बचाने वाला चेतनामय तत्त्वविशेष ही विज्ञानमयकोश है। विज्ञान-मनः-प्राण-अन्न, चारों को अपने आश्रय-आत्मक भूमाभा में प्रतिष्ठित रखने वाला, स्थानुग्रह से ग्रन्थियमोक्ष द्वारा शरीरगत शान्ति प्रदान करने वाला 'रम' नामक तत्त्व विशेष ही आनन्दमयकोश है। इन पाँचों में से मध्यम मनोमयकोश का दोनों ओर सम्बन्ध है। यही मन विज्ञानानुगत बनता हुआ आनन्दसम्पत्ति के अनुग्रह से मुक्तिभावप्रवर्तक बन जाता है, एवं यही मनः प्राणानुगत बनता हुआ अन्नसम्पत्ति के अनुग्रह से

सृष्टिभाव-प्रवर्तक बन जाता है, जैसा कि—‘मन एव मनुष्याणां कारणं-बन्धमोक्षयोः’  
इत्यादि वचन में स्पष्ट है।

उक्त पाँचों कोशों में से केवल ‘अन्नमय’ कोश की ओर विशेष रूप से पाठकों का ध्यान  
आकर्षित करना है। अन्नाहुति से उत्पन्न होने वाले रसादि शुक्लान्त सान-धातु, ओज, मन, तीनों  
विवर्त्तों का अन्नमयकोश में ही अन्तर्भाव है। त्रिभावापन्न यह अन्नमयकोश प्राणमय अन्नमयकोश पर  
प्रतिष्ठित है। अन्नरसमय (तद्गत शुद्ध-सोममय) मन दिव्य धातु है, अन्नगत प्राणान्मक ओज  
आन्तरिच्य धातु है, एवं अन्नगत वागातिष्क सप्त धातुसमष्टि पार्थिव धातुवर्ग है। दिव्य मन, आन्त-  
रिच्य ओज, पार्थिव सप्त धातु, तीनों विवर्त्तों की प्रतिष्ठा अन्न है।

बतलाया गया है कि, अन्न की उत्पत्ति में चान्द्रमोक्ष का प्रधान सहयोग है। दूसरे शब्दों  
में चान्द्रसोम ही वृष्टि द्वारा अन्नरूप में परिणत होता है। स्व सोमरस से वृष्टि द्वारा अन्न का  
उपादान बनने वाले इस सोममय चन्द्रमा के ‘रेतः-अद्वा-यशः’ नामक तीन मनोता माने गए हैं।  
जिस तत्त्व के आधार पर जो स्व चरूप में प्रतिष्ठित रहता है, जिस तत्त्व का हृद्य मन स्वस्वरूपरक्षा  
के लिए जिस तत्त्व को आश्रय बनाता है, वह आश्रय ही ‘मनांसि-ओतामि’ निर्वचन से ‘मनोता’  
कहलाया है। चन्द्रमा का स्वरूप उक्त तीन तत्त्वों के आश्रय से ही प्रतिष्ठित है। तीनों के  
उत्पत्ति हो जाने पर चन्द्रमा का कोई स्वरूप नहीं बच रहता, अतएव इन्हें हम अवश्य ही ‘चान्द्र-  
मनोता’ कह सकते हैं। सिद्ध विषय है कि, चान्द्ररस इन तीनों मनोता-रसों से नित्य संश्लिष्ट होकर  
ही अन्न का उत्पादक बनता है। फलतः उत्पन्न अन्न में भी इन तीनों का समन्वय सिद्ध हो जाता है।  
उत्पन्न अन्न में चान्द्ररसानुगृहीता मनोप्रयी प्रतिष्ठित है। उपर उत्पन्न अन्न में पार्थिव-आन्तरिच्य-  
दिव्य, तीनों धातु प्रतिष्ठित बतलाये गए हैं, एवं इन्हें क्रमशः सप्तधातुसमष्टि, ओज, मन, नामों से  
व्यपहृत किया गया है। चान्द्ररस द्वारा अन्न में भुक्त रेतः-यश-अद्वा, इन तीन मनोता रसों का  
क्रमशः शुक्-ओज-मन के साथ सम्बन्ध होता है। रेतोभाव शुक् की प्रतिष्ठा बनता है, यशोभाव  
ओज की प्रतिष्ठा बनता है, एवं अद्वावत्त्व मन का आलम्बन बनता है। अद्वा मन से होती है,  
यश ओजस्वी को मिलता है, रेतःप्रजाति शुक् पर अवलम्बित है। इस प्रकार चान्द्ररस द्वारा अन्न में  
भुक्त मनोतात्रय इस क्रम से विभक्त हो रहे हैं—

रेतः ( पार्थिवशुक्धात्वनुगतः ) — ततो रेतःप्रजापतिः

यशः ( आन्तरिच्यओजधात्वनुगतः ) — ततो यशस्विता

अद्वा ( दिव्यमनो धात्वनुगतः ) — ततः अद्वादयः

— चान्द्रमनोताविवर्त्तौ

उक्त तीनों चान्द्र मनोनाओं में से प्रकृत में शुक्रधातु से सम्बन्ध रखने वाला 'रेतः' नामक प्रथम मनोता ही हमारे 'सह' तत्त्व की प्रतिष्ठा है, जिसका निरूपण प्रकान्त है। चान्द्रस का स्वाभाविक आकर्षण रेतोमय शुक्र के साथ नित्य मुरच्छित है, एवं इसका कारण एकमात्र मज्जातीयानुबन्ध है। चान्द्ररस वृष्टिरूप में परिणत हुआ, वृष्टि अन्नरूप में परिणत हुई, भुक्तान्न शुक्ररूप में परिणत हुआ। इस प्रकार परम्परया अन्नद्वारा चान्द्रपितृत्व शुक्र में प्रतिष्ठित हो गया, जिसेकि हमने पूर्व में भूतमपरिण्यक्त 'महानात्मा' कहा है, जोकि कर्मात्मोत्क्रान्ति पर 'प्रेतात्मा' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ उसी आगमन पथ से स्वप्नभय चन्द्रलोक में जाकर १३ मासानन्तर सापिण्ड्यभाव को प्राप्ति होजाता है।

जिम प्रकार इतरममय पार्थिव कर्मात्मा परम्परया, साक्षान्-रूप से दो प्रकार से अध्यात्म-मंस्था में प्रतिष्ठित होता है, जिन दोनों रूपों का पूर्व में 'कर्मात्मा, (प्रपदद्वारा प्रविष्ट) प्रतिष्ठात्मा' नामों से विस्तार से निरूपण किया जाचुका है, एवमेव चान्द्रेतोरसमय महानात्मा भी परम्परया, साक्षान्-रूप से, दो प्रकार से ही शुक्र में प्रतिष्ठित होता है। परम्परया शुक्र में प्रतिष्ठित होने वाले पितृप्राणमूर्ति महानात्मा का 'अथातो रेतसः सृष्टिः' रूपसे पूर्व में निरूपण किया जाचुका है। अन्नद्वारा परम्परया आगत यह चान्द्र महान् कर्मानुसारिणी योनि का प्रदाता बनता है। इसी परम्परासिद्ध योनिभाषप्रवर्तक चान्द्र महानात्मा के आगमन का रहस्य बतलाते हुए महर्षि कीर्षीतकि ने कहा है—

“एतद्धै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं—यच्चन्द्रमाः। तं यः प्रत्याह—तमसितृजने। अथ य एनं न प्रत्याह—तमिह पृष्टिभूषा वर्षति। स इह कीटो वा, पतङ्गो वा, शकुनिर्वा, शार्दूलो वा, सिंहो वा, मत्स्यो वा, परशो वा, पुरुषो वा, अन्यो वा—एतेषु रथानेषु प्रत्याजायते—यथाकर्म, यथाविद्यम्” — कीर्षीतकिब्राह्मणोपनिषद् १।२।२।

अथ हमारे सम्मुख यह पितृप्राण आता है, जोकि चान्द्रनाड़ी के द्वार साक्षान् रूप से शुक्र में आकर वहाँ प्रतिष्ठित हुआ करता है, एवं साक्षान्-रूप से आगत जिस पितृप्राण को हम 'महः' नाम से विभूषित करने वाले हैं। जिम नक्षत्र में प्राणी का जन्म होता है, जन्मानन्तर उसी नक्षत्रप्रणाली को उपक्रम बनाकर यह चान्द्रपितृप्राण प्राणी के शुक्र में साक्षान् रूप से आने लगता है। चान्द्ररस विणुद्धरूप से न आकर नाक्षत्रिक रसों से संपरिण्यक्त होकर ही आता है। जिम तिथि में चन्द्रमा का जिम नक्षत्र के साथ योग होता है, उस तिथि में, यह चन्द्रमा उसी नक्षत्र के नाम से व्यवहृत होता है। कारण इस नक्षत्रव्यवहार वा यही है कि, उस तिथि में उस तिथिका चान्द्ररस उस तिथि के नाक्षत्रिक रस से मण्डलित रहता है। अश्विनी का चन्द्रमा, भरणी का चन्द्रमा, पूतिका का चन्द्रमा, इत्यादि लोकव्यवहारों का अर्थ है अश्विनीभाषात्मक चन्द्रमा,

भरणी प्राणारम्भ चन्द्रमा, वृत्तिकाप्राणारम्भ चन्द्रमा । इस नाक्षत्रिक स्थिति को मानने रखते हुए ही हमें चान्द्रसागमन की मीमांसा करनी है ।

फहरना कर लीजिये—आज भूपिण्ड पर खगोलीय अश्विनी नक्षत्र का भोग हो रहा है, एवं तत्सम्बन्ध से चन्द्रमा भी तद्वत्प्रधान बनता हुआ 'अश्विनी का चन्द्रमा' कहला रहा है । इस प्राकृतिक स्थिति में चान्द्रमाई के द्वारा समानाकर्षण के आधार पर शुक्र में जो चान्द्ररस आवेगा, वह भी अश्विनी-नक्षत्रप्राणप्रधान ही माना जायगा । अश्विनीप्राणसम्पृक्त चान्द्ररस आता है अवश्य, परन्तु दिन में नहीं, अपितु रात्रि में । 'एष वै सोमो राजा देवानामभ्यं यच्चन्द्रमाः' ( शत० १।६।४।५ ) इस श्रौतमिद्धान्त के अनुसार चान्द्ररस इन्द्राग्नि सौरप्राणदेवताओं का अन्न है । सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त जितनी भी चान्द्ररसमात्रा प्रत्ययरूप से भूपिण्ड की ओर आती है, उसे सूर्यरश्मिगत प्राणदेवता अपने उदर में प्रणिष्ठित कर लेते हैं । जो सौरप्राण रश्मियों के द्वारा पार्थिव द्रुत रसों तक का आदान कर लेते हैं, वे भला 'आन्तरिक्ष स्वाप्नभूत चान्द्ररस को कैसे छोड़ सकते हैं । इसी रसादान से तो ये प्राणदेवता 'आदवाना' बनते हुए 'आदिष्य' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं । सौरसावित्राग्नि, सौरमघवेन्द्र, दोनों ही चान्द्रसोमाल के लिये 'अन्नाद' हैं । इन प्रयत्न अन्नादों की सत्ता से आक्रान्त अहःकाल ही सोमागमन का निरोधक बन रहा है । रात्रि में सूर्यास्त से सूर्योदय पहिले पहिले दोनों ही अन्नाद सुप्त हैं । अतएव पार्थिव-प्रजा में रात्रि में ही चान्द्र रस आने पाता है । सोमदात्री रात्रि इसी सोमभाव के सम्बन्ध से 'मौन्या' कहलाई है ।

हां, तो अब रात्रि में चान्द्ररस का आगमन आरम्भ होता है । सार्यकाल से आगमन आरम्भ हुआ, सूर्योदय से पहिले पहिले आगमन प्रक्रान्त रहा, सूर्योदय पर आगमन द्वार बंद हो गया । इस अश्विनीनक्षत्रप्राणारम्भ चन्द्रमा का जो रस रात भर आया, वह शुक्र में प्रतिष्ठित हो गया । दिन भर के सावित्राग्नि ने शुक्रस्थ चान्द्ररस का परिपाक किया । प्रातः सूर्योदय से जो पाककिया आरम्भ हुई, उसने मार्यं सूर्यास्त पर्यन्त उस चान्द्ररस को घनता में परिणत कर डाला । इसी घनरस को लक्ष्य में रख कर ऋषियों ने शुक्रस्थ इस चान्द्ररस को 'पिण्ड' नाम से व्यवहृत किया है । दूसरे दिन भरणीनक्षत्र का प्रवेश होता है, फलतः चान्द्ररस भरणीरस से मंजिष्ट हो जाता है । रात्रि में पुनः गतवत्तत्प्रसमुक्त चान्द्ररस का आगमन होने लगता है । रात्र्यन्तरे इसका भी अहःकाल में परिपाक होता है, एवं यह भी एक स्वतन्त्र पिण्ड बन जाता है । प्रथम रात्रि में आगत चान्द्ररस क्योंकि दिन की गरमी से घन बन जाता है, अतएव द्वितीय रात्रि में आगत चान्द्ररस इस प्रथम पिण्ड से न मिल कर एक स्वतन्त्र पिण्ड रूप में ही परिणत होता है । अश्विन्यादि नक्षत्र २८ माने गए हैं । नक्षत्र भेद से २८ दिन के चान्द्रमास में २८ चान्द्ररात्रियों में २८ बार चान्द्ररस का आगमन होता है, एवं शुक्र में इन २८ चान्द्ररसों के २८ पिण्ड बन जाते हैं ।

जो चान्द्र मौन्यरस शुक्र में एक रात्रि में आता है, उसे हम थोड़ा देर के लिए पिण्ड न कहकर

‘तन्दुल’ कहेंगे। जिस प्रकार अनेक तन्दुलों की समष्टि से एक पिण्ड बनता है, एवमेव २८ नाद्विक चान्द्रात्रियों के तन्दुलस्थानीय २८ धनरसों की समष्टि से एक स्थूलपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न होता है। चान्द्रमास के सम्बन्ध से २८ कल यही शुक्रपिण्ड ‘मासिकपिण्ड’ नाम से व्यवहृत हुआ है। अष्टाविंशतिकल एक मासिक पिण्ड एक चान्द्रमास का धन है। चान्द्र सम्बत्सर में ऐसे १३ मास हैं। फलतः त्रयोदशमासात्मक एक चान्द्रसम्बत्सर में शुक्र में १३ मासिक पिण्ड प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इन तेरह मासिक पिण्डों के अतिरिक्त उत्तरायण, दक्षिणायन, भेद से दो चान्द्रपिण्ड और उत्पन्न होते हैं, एवं एक पिण्ड समष्टि रूप से पूरे सम्बत्सर में उत्पन्न होता है। वस्तुतस्तु पिण्ड केवल १३ ही हैं। मास भेद से जहाँ ये १३ हैं, वहाँ अयनभेद से तेरहों को दो भागों में विभक्त देखा जा सकता है, एवं पूर्ण सम्बत्सर की दृष्टि से एक ही भाग में देखा जा सकता है। मासिक, आयनिक, साम्बत्सरिक, तीनों ही अवस्थाएँ आदिकर्म में गृहीत हैं। अतएव १३ मासिक, २-आयनिक, १-साम्बत्सरिक, इस दृष्टि से ‘षोडशधा’ विहित हुए हैं, जैसा कि आगे चलकर विस्तार से बतलाया जाने वाला है। यदि और भी सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय, तो केवल २८ कल एक मासिक पिण्ड पर ही उक्त १६ पिण्डों का पर्यवसान मानना पड़ता है। मासिक पिण्ड ही मूलधन है। यह ऋणभाव में परिणत होता रहता है, पूर्ति के लिए पुनः धनभाव का आगमन होता है। इस धारा-बाहिक आदान-विसर्ग क्रम से २८ का ही परिवर्तन होता रहता है। २८ कल पिण्ड मदा शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है, एवं यही ‘बीजी’ नामक मूलधन है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है।

\* ————— \*

२८—धनभाषापन्नाः सोमकलाः ————— मूलधनम्

\* ————— \*

१३—मासिकाः, अष्टाविंशतिकत्रोपेताः पिण्डाः

२—पाण्मासिकीः, ६॥ पिण्डात्मकी पिण्डौ

१—त्रयोदशमासात्मकः साम्बत्सरिकः पिण्डः

} वृत्तराशि

\* ————— \*

नक्षत्रप्राणमंयुक्त जो चान्द्रस शुक्र में प्रतिष्ठित होता है, वही ‘साह’ नाम से प्रसिद्ध है। शुक्रस्थ इसी महःपिण्ड के प्रभाव से शरीर में ‘साहम’ वृत्ति का उदय होता है। यह सहःपिण्ड पितृ-प्राणमय बनता हुआ तत्प्रधान है। जिस व्यक्ति की अध्यात्ममर्मस्था में यह महोमूर्ति पितरप्राण विकसित रहता है, उसके शरीर में एक प्रकार की स्फूर्ति रहती है। ऐसे व्यक्ति को आत्मस्य सर्वथा प्रणम्य मानता है। ऐसा साहसी दुस्तर कर्म-प्रवृत्ति में भी मंकोच नहीं करता। ठीक इसके

विपरीत जिस व्यक्ति का यह सहोभाग शिथिल रहता है, किया मूर्च्छित रहता है, आलस्य देवता माहत्त्व पूर्वक इसका आतिथ्य स्वीकार कर लेते हैं। मुख पर मल्लिकार्जुन का माघाभ्य रहता है, शरीर गिरा पड़ा रहता है, किसी काम में मनोयोग नहीं हो पाता। उन्माद अकान्ततः विलीन रहता है। सर्वत्र निराशा ही सम्मुख खड़ी रहती है। शुक्रस्थ पितरप्राण, न केवल पितृप्राण (जन्मदाता पिता का अणुरूप पित्र्यंश) ही मूर्च्छित रहता, अपितु पितामहादि का भाग भी मूर्च्छित रहता है। शुक्र में प्रतिष्ठित ६ पीढ़ियों के प्रवर्य भाग शिथिल बने रहते हैं। ऐसे व्यक्ति की इसी स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए प्राचीन कविदन्तो प्रचलित हैं कि—“अमुक व्यक्ति को अमुक कर्म में क्यों निरुक्त किया गया। इसका हतप्रभ-हतथी मुख कह रहा है कि, यह अमुक कर्म न कर सकेगा, इसके तो बापे-दादे में मर रहे हैं”। सचमुच इसके बाप-दादे (पितरप्राणसंघ) मूर्च्छित हैं।

३. भर्गः, सद्गः, यशः, ओजः, ऊर्ध्वः, चर्चस्, महः, आदि भेद से बलतरय अनेक श्रेणियों में विभक्त माना गया है। इन सब बलों में से प्रकृत में चान्द्रप्रभव ‘सहोबल’ नामक बलविशेष ही लक्ष्य है। सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी, तीनों प्रधानतः प्रजासृष्टि के आरम्भक माने गए हैं। ये निम्नता अपने प्रवर्य भाग से ही अपने निर्माण कर्म में समर्थ होते हैं, जैसा कि ‘उच्छिष्टाज्जिरे सर्वम्’ (अथर्व संहिता) इत्यादि अथर्व सिद्धान्त से प्रमाणित है। इन का यह प्रवर्य भाग अन्तर्याम, बहिर्याम, भेद से दो प्रकार से स्वसर्गों में प्रविष्ट होता है। पृथिवी को ही लीजिए। पार्थिव इरास्य रस का अन्तर्याम रूप ‘कर्मात्मा’ है, जो अन्न द्वारा परम्परया औपपानिक रूप से आता है। एवं प्रपद से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव इरास्य रस साक्षान् रूप से आता हुआ बहिर्याम रूप से प्रतिष्ठित होता है, जो कि ‘प्रतिष्ठात्मा’ नाम से प्रसिद्ध है। सौरतत्त्व अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर आध्यात्मिक प्राणदेयता, बुद्धिरूप में परिणत होता है, जिस बुद्धि को हमने सौरहिरण्यमय ‘क्षेत्रज्ञ’ (विज्ञानात्मा) नाम से व्यवहृत किया है। बहिर्याम सम्बन्ध से प्रविष्ट बही सौरतत्त्व कर्मबल प्रदान करता है चर्मगत दोषाणुओं का संहार करता है, जिसे कि हम ‘ज्योति’ कह सकते हैं। एतमेव चान्द्रम अन्तर्याम सम्बन्ध से अन्नद्वारा अध्यात्म में प्रविष्ट होता हुआ शुक्र-ओज-मन का निर्माणक बनता है, स्व पितृभाग से शुक्रस्थ ‘महानात्मा’ का स्वरूप सम्पादक बनता है। बहिर्याम सम्बन्ध से आगत बही चान्द्रम साक्षान् रूपेण मनोजगत के आह्लाद का कारण बनता है, एवं शुक्रस्थित महानात्मा में स्वपितृप्राण प्रदान द्वारा अप्पदार्थानिकल सह पिएड उत्पन्न करता है। इस प्रकार परम्परया अन्तर्याम सम्बन्ध से, साक्षान् रूपेण बहिर्याम सम्बन्ध से-तीनों दो दो भागों से हमारी अध्यात्ममर्यादा में प्रविष्ट रहते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—



१-क्षेत्रज्ञात्मा (परम्परया आगतः-सौरतत्त्वः)-----अन्तर्यामिमम्बन्धी	} -सूर्यः
२-ज्योतिर्भायः (साक्षाद्प्रेषण आगतः-----बहिर्ग्यामिमम्बन्धी	
१-महानात्मा (परम्परया आगतः-चान्द्रतत्त्वः)-----अन्तर्यामिमम्बन्धी	} -चन्द्रमाः
२-मह.पिण्डः (साक्षाद्प्रेषण-आगतः-)-----बहिर्ग्यामिमम्बन्धी	
१-कर्मत्मा (परम्परया आगतः-पार्थिवतत्त्वः)-----अन्तर्यामिमम्बन्धी	} -पृथिवी
२-प्रतिष्ठात्मा (साक्षाद्प्रेषण-आगतः-)-----बहिर्ग्यामिमम्बन्धी	

सहस्रतत्त्व के आह्निकादि चार पिण्ड—

‘पितृणां पितरोपनिषत्’ नामक प्रकरण में यह स्पष्ट किया गया है कि, सौरमंडल में इन्द्र, धाता, भग, पूषा, आदि १२ प्राण प्रतिष्ठित हैं। इनमें से इन्द्रप्रमुख कनिष्ठ आदिन्यप्राण ‘सोमपा’ हैं, सोमपान इन का प्रातिरिचिक धर्म है। रात्रि में अन्यान्य अमोमपा आदित्यप्राणों के विद्यमान होते हुए भी इन्द्रप्रमुख सोमपा प्राणों का अभाव रहता है। अतः रात्रि में उपर्युक्त महोमृत्ति चान्द्रसोम का निर्विघ्न आगमन हो जाता है, जैसाकि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। रात्रिकाल में शुक्र में आगत यह एक दिन (एक रात) का, अतएव ‘आह्निक’ नाम से व्यवहृत महोभाग अह-रत्नि के, तथा शरीराग्नि के परिपाक से घनभाव में परिणत हो जाता है। इसी आह्निक पिण्ड को वैज्ञानिकों ने—‘तन्दुल’ नाम से व्यवहृत किया है।

सभी ओषधियों का निर्माण चान्द्रसोम से हुआ है, यह निःसंदिग्ध विषय है। परन्तु सभी ओषधियों का यह चान्द्रसोम आन्तरिह्य वायुगत सोमपा मरुत्वानिन्द्र के द्वारा आशिरारूप में उद्धान हो जाता है। मरुत्वानिन्द्र के अतिरिक्त सौररश्मिगत मधवेन्द्र भी इस कर्म में अपना हस्तक्षेप करते रहते हैं। फलतः ओषधियों में आगत चान्द्ररस परिपूर्ण न रहकर ‘चत’ (ऋपूर्ण) बना रहता है। सभी ओषधियाँ इस रसमात्रा की विन्युति से ‘सुत’ हैं। ओषधियों में केवल तन्दुल ही एक ऐसा ओषधि है, जिस की सोममात्रा इन्द्र नहीं ले सकते। कारण इसका यही है कि, पूर्वादिशा के लोकपाल इन्द्र हैं, पश्चिम दिशा के लोकपाल वरुण हैं। इन्द्र ज्योति के अधिपति हैं, वरुण अ-

तत्त्व के अधिष्ठाता हैं। इन्हीं विरुद्ध धर्मों के कारण दोनों में अश्वमादिप्य है, सहज घेर है। विशुद्ध वरुणसाम्राज्य में इन्द्र का प्रवेश निषिद्ध है, विशुद्ध इन्द्र के साम्राज्य में वरुण का प्रवेश निषिद्ध है। वायु में मरुत्त्वानिन्द्र रहता है। यही कारण है कि, जहाँ वायु का आत्यन्तिकरूप से अभाव रहता है, वहाँ तन्प्रतिद्वन्द्वी वरुण का प्रवेश सहज बन जाता है, जैसा कि—‘यद्वं वातो नाभिवाति, तत्सर्वं वरुणदैवत्यम्’ इत्यादि निगम से प्रमाणित है। चाँवल की खेती अप्रधाना है। जलाधिक्य ही चाँवल की उत्पत्ति का कारण है। पानी में इन्द्रविरोधी प्राण का प्रभुत्व है। अतएव जलाधिक्य से प्रबल बने हुए वारुणक्षेत्र में इन्द्रप्रवेश अवरुद्ध है। सोम, तथा अप्रतत्त्व, दोनों सजातीय हैं। अतएव अप्रधानता से चाँवलों में सोममात्रा को स्पष्टिक्रम की ओर भी अधिक सुविधा मिल जाती है। इस प्रकार वरुणप्राधान्य से चाँवल की सोममात्रा सर्वथा ‘अक्षत’ रह जाती है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए वैद्वानिकों ने इसे ‘अक्षत’ नाम से कहना अनर्थ समझा है। सोम से ही ओषधियों का आप्यायन होता है। इधर अक्षतों में इसका पूर्ण विकास है। यही कारण है कि, इतर ओषधियों की तुलना में चाँवल की खेती स्वल्पसमय में ही सम्पन्न हो जाती है।

प्रसङ्गोपात्त यह भी जान लीजिये कि, एकादशी विष्णुदेवता-प्रधाना तिथि है। विष्णुतत्त्व का इस आपोमय परमेष्ठी से सम्बन्ध है, जिसमें—‘तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम आसीत्’ के अनुसार सोम की प्रतिष्ठा मानी गई है। इसी सोम-सम्बन्ध से विष्णुदेवता ‘सोमवंशी’ माने गए हैं। एकादशी तिथि विष्णु-उपासना का प्रधान काल है। मानस-धरातल पर विष्णुतत्त्व प्रकृत्या भी प्रतिष्ठित रहता है, उपासक प्रक्रिया द्वारा भी इसे आत्मसात किया जाता है। मन सोममय है, आज इसमें सोममय विष्णुप्राण ही आ रहा है। ऐसी दशा में यदि एकादशी को चाँवल खाए जायेंगे, तो मनका आयतन परिपूर्ण हो जायगा। विष्णु प्रवेश के लिए स्थान ही न रहेगा। हम प्रकृतिप्रदत्त विष्णुवतत्त्वागमन से यन्त्रित न रहें, एकमात्र इसी उद्देश्य से एकादशी को चाँवल का भोजन एकान्ततः निषिद्ध माना लिया गया है।

इस प्रासङ्गिक चर्चा को समाप्त करते हुए अन्त में हमें यही कहना है कि, अक्षत क्योंकि सचमुच अक्षत सोम है, उधर ‘पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ के अनुसार पुरुषोत्पादक शक्त अप्रधान, अतएव वरुणप्रधान है। अतएव इसमें सहोरूप से प्रतिष्ठित चान्द्रस भी इन्द्र-प्रवेशाभाव से अक्षत बना रहता है। अतएव इसे ‘तन्दुल’—किंवा ‘अक्षत’ नाम से व्यवहृत करना समीचीन होता है। अष्टाविंशतिकल आह्निक सहःपिण्ड का मासिक पिण्ड में अन्तर्भाव है। इस दृष्टि से १३ मासिक, २-पाण्मासिक, १-साम्पत्सरिक, भेद से कुल १६ पिण्ड हो जाते हैं, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है—

❖ आहिकपिण्डः—अक्षतभावात्मकः ( मासिकपिण्डे-अन्तर्भावः ) ❖

१—मामिकपिण्डः ( २० कलात्मक प्रत्येकः ) ————— १३

२—यामामिकपिण्डों ( सार्द्ध पट्टक-पट्टकपिण्डात्मकौ ) ————— २

३—साम्यत्सरिकपिण्डः ( समष्टिरूपः ) ————— १

पिण्डमपत्तिः—१६

### सहोभाग का पितृप्राणात्मकत्व—

शुक्र में सात्त्विक-रूप से आने वाले इस चान्द्रस में 'सह-पिण्ड' में रसात्मक सूक्ष्म भूत, प्राणात्मक सुसूक्ष्म देवता, ये दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। इनके शब्दों में दोनों की समष्टि ही 'सह' है। रसभूतसम्परिप्लवक यह चान्द्र प्राणरूप देवता ही 'पितर' है। इसी प्राणपितर के सम्बन्ध से यह सहोभाग 'पितृसह', किंवा 'पित्र्यसह' नाम से व्यवहृत हुआ है। यही श्रौत पितृसह स्मार्त-परिभाषा में 'पित्र्यंश' कहालाया है। त्रयोदशमासात्मक चान्द्रसम्प्रसार के सम्बन्ध से शुक्र को त्रयो-दशमासिक पिण्डात्मक बतलाया गया है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि, उत्तर उत्तर के मासिक पिण्डों की उत्पत्ति के साथ साथ पूर्व-पूर्व के सञ्चित मामिक पिण्ड इन्द्रियव्यापार से, प्रधानतः शुक्र द्वारा विगत (स्वर्च) भी होते रहते हैं।

### शुक्रव्ययीमांसा—

शुक्रव्यय के प्रधानतः तीन द्वार हैं, गौणतः पाँच द्वार हैं। वाक्-प्राण-चक्षुः-श्रोत्र-मन-इन पाँचों इन्द्रियों के व्यापारों से जो शुक्र विनिर्गत होता है, वह इम का गौणव्ययीमांसात्मक व्ययीभाव है। प्रत्येक इन्द्रिय स्वव्यापार के लिये सर्वेन्द्रिय प्रज्ञान मन के सहयोग की अपेक्षा रखती है। मनका मूलधार ओज है, ओज की मूलप्रतिष्ठा शुक्र है। इम प्रकार शुक्र ओज के द्वारा मानस भाव में परिणत होता हुआ परम्परया पाँच द्वारों से स्वर्च होता रहता है। इन पाँच गौण द्वारों के अतिरिक्त तीन प्रधान द्वार हैं। प्रजोत्पत्ति कर्म में मूलोन्द्रिय द्वारा शुक्र-विनिर्गमन प्रथम व्ययीभाव है। यह व्ययी-भाव गृहमेधियों (गृहस्थाश्रमियों) से सम्बन्ध रखता है। प्रजातन्तुचितानकामुक ये ही गृहमेधी अधोभाग से शुक्र-व्यय करते हुए 'अधोरेता' कहालाए हैं। जो विवाहित नहीं है, विवाहित

होते हुए भी जो गृहस्थी पूर्णसंयम के साथ लोकयात्रा का निर्वह करते हैं, उनका शुक्र-प्रवाह उनकी शरीरशुद्धि के कारण पुनः समावृत्ति में आशुद्धि में अभ्युक्त होना रहता है, एवं इन्हीं को 'तिर्यग्गोत्रा' कहा गया है।

जो ब्रह्मचारी सतत विद्याभ्यास में अनुरक्त हैं, जो वीतराग सन्नासधर्म में दीक्षित हैं, जो महर्षि अहर्निश तत्त्वान्वेषण कर्म में संलग्न हैं, चिन्ताशील इन पुरुषपुङ्गवों का शुक्र क्रमशः ओज, मनोरूप में परिणत होता हुआ शिरोभागावस्थित ज्ञानाग्नि में आहुत होता रहता है। ये जितने अधिक चिन्ताशील होते हैं, उनकी ही अधिक मात्रा में शुक्रक्षय होता रहता है; एवं तदनुक्रम ही विज्ञान विकसित होता रहता है। यही कारण है कि, ज्ञानाग्नि में शुक्र की आहुति देने वाले विद्वान् शारीरिक श्रम करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं। यही विभाग 'ऊर्ध्वरेता' नाम से प्रसिद्ध है। शुक्रविनिर्गम की इन्हीं तीन अवस्थाओं के लिए क्रमशः 'अवपतन, आपतन, उत्पतन' ये साहचरिक शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

१—अधोरेताः—अवपतनाः—गृहमेधिनः प्रजातन्तुप्रवर्तकाः।

२—तिर्यग्गोत्राः—आपतनाः—मयमिनो मल्लाश्च भूतवन्तुप्रवर्तकाः।

३—ऊर्ध्वरेताः—उत्पतनाः—महर्षयः, मन्त्रामिनः, विद्वान्सौ ज्ञानतन्तुप्रवर्तकाः।

तीनों में से किसी भी एक मार्ग से, तथा पञ्चेन्द्रिय व्यापार से शुक्रव्यय प्रत्येक वृद्धा में निश्चित है। इस विसर्गक्रिया के साथ साथ उम्मी चान्द्रनाडी के द्वारा आदानप्रक्रिया भी प्रकान्त रहती है। इस साम्प्रतसरिक पिण्डादान, विसर्गरूप परम्परा से युक्त पुरुष ही जीवनधारण में समर्थ बनता है। यदि एक ही मासिक पिण्ड उत्पन्न होकर आगे आदानकर्म उपरत हो जाय, तो अवश्यमेव प्रथम मासिक पिण्ड के उपर्युक्त किमी भी द्वार से व्यवभाव का अनुगामी बनता हुआ विसर्ग का कारण बन जाय। इस साम्प्रतसरिक आदान-विसर्ग के अनुग्रह से जीवनसत्तोषयिक एक मासिक पिण्ड अवश्य ही सुरक्षित रहता है। जिस दिन इसके स्वरूप पर भी आपात हो जाता है, तो क्षय-रोगाक्रान्त ऐसे व्यक्ति को शीघ्र ही कीनाशानिकेतनातिथ्य स्वीकार कर लेना पड़ता है।

अपत्य-पत्यपुरुषमीमांसा—

उक्त तीन श्रेणियों में से अधःमोतावस्थापन्न गृहस्थियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। इस वर्ग को 'अपत्यपुरुष, पत्यपुरुष' भेद से दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। परिभाषाज्ञानविलुप्ति से, विशेषतः तत्त्वविज्ञानमूलक वैदिक व्याख्या परम्परा के उच्छेद से वर्तमान परम्परा में अपत्य, सुत, तनय, आदि शब्द अभिन्नार्थक माने जा रहे हैं, जबकि ये शब्द सर्वथा भिन्न भिन्न अर्थों के धारक बन रहे हैं, जैसा कि निम्नलिखित 'पत्यापत्यमीमांसा' से स्पष्ट हो रहा है।

अथः, तिर्यक्, ऊर्ध्व, भेद से शुक्र का तीन मार्गों से विनिर्गम बतलाया गया है। इन तीनों में से तिर्यक्-ऊर्ध्व-विभागों में कोई विशेषता नहीं है। तीसरे अधःस्रोता विभाग में ही शुक्र विनिर्गम के सम्बन्ध से अपत्य-पत्य रूप से दो अवस्था उत्पन्न हो जाती हैं। 'प्रजातन्तु' मां व्यवच्छेत्सीः' इस श्रौतसिद्धान्त को शिरोधार्य मान कर एक सद्गृहस्थी ऋतुकाल में (शास्त्र-निर्दिष्ट दाम्पत्यकाल में) रतिप्रसङ्ग करता है। योपा (स्त्री) के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आर्तव (शोणित) में रहने वाला अत्रिप्राणसंश्लिष्ट, अतएव प्रजननधर्मशाली प्राणविशेष 'योपा' कहलाया है। वृषा (पति-पुरुष) के शुक्र में प्रतिष्ठित पितृप्राणयुक्त (सहोभागयुक्त), अतएव प्रजननकर्म में समर्थ प्राणविशेष 'वृषा' कहलाया है। पतिपत्नीरूप पुरुषस्त्री के दाम्पत्यजक्षण मिथुनसम्बन्ध से स्त्री के योपाप्राणप्रधान शोणिताग्नि में पुरुष के वृषाप्राणप्रधान शुक्र की आहुति होती है। इन आहुत साम्य शुक्र, तथा आहुति-ग्राहक आग्नेय शोणित, दोनों के समन्वय से 'गर्भस्थिति' होती है। 'आधिक्ये' रेतसः पुंसः' सिद्धान्त के अनुसार शुक्राधिक्य पुरुषसन्तान का कारण है। शुक्र साम्य है, यही शोणिताग्नि में अभिपुत होकर पुत्ररूप में परिणत होता है। इसी सोमाभिषय (शुक्राभिषय) सम्बन्ध से पुत्र को 'सूयते-इति-अभिपुतो भवति' इत्यादि निर्वचनों से 'सूनु' नाम से व्यवहृत किया गया है। शोणिताग्नि में सुत (आहुत) यह सोम (शुक्र) आठवीं सन्तान के लिये सुत होता है, अतएव इसे 'अपत्य' कहा जाता है।

सात्यर्य्य यही है कि, प्रेतपितरपिण्ड शरीरत्यागानन्तर चान्द्रसम्बत्सरानुगत १३ महीनों के अनन्तर पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार स्वप्रभवस्थानीय चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित होता है। चन्द्रलोकस्थ उस प्रेतपिण्ड का अंश जबतक भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित रहता है, तबतक यह अपने स्वरूप से चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित रहता है। चन्द्रलोक से गिरने नहीं पाता। चन्द्रलोकस्थित प्रेतपितर के कुञ्ज अंशों, जिनका कि अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है, चान्द्रभंडामूत्र के आधार पर (द्वार से) अपने पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि में सन्तान-रूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन पार्थिव पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि सन्तानों में आने वाले अपने अंशों के बन्धन से वे अंशों पितर स्वलोक से च्युत नहीं होने पाते। जब उस प्रेतपितर की सातवीं सन्तान पृथिवी पर जन्म लेती है, तभी वह प्रेतपितर स्वप्रतिष्ठा से च्युत होता है। तभी इस की चन्द्रलोक से च्युति होती है। पुत्र-पौत्रादि ६ सन्तानों में उस मूल-पितर के भिन्न भिन्न संख्यायुक्त स्वारा प्रतिष्ठित रहते हैं। पुत्रादि के लीलासंवरण पर वत्तदंश पुनः उसे मिलते जाते हैं। यही 'पिण्डप्रस्पर्षणकर्म' है, जो स्वतः होता रहता है। इन ६ सन्तति-भाराओं में मूल प्रेतपितर के २१ अंश विभक्त हैं, उनके समीप केवल ७ अंग शेष रह जाते हैं। उन ७ पितृसहो को लेकर ही यह चन्द्रलोक में गमन करता है। तत्तत् सन्तान के तत्तदंश मपिण्डीकरण द्वारा पुनः उस उम मज्जारायुक्त मूलपुरुष में प्रत्यर्पित होने हैं (वापस मिलते हैं)। इन प्रत्यर्पित-सन्तानगत २१ पितृसहो ने मूलपितर २८ अंशों से युक्त होना हुआ अपने पूर्णभाव को

प्राप्त हो जाता है। इस प्रत्यर्पण कर्म से प्रकृत में केवल यही कहना है कि, क्योंकि—ये ६ सन्तान उसके द्वारा प्राप्त पितृमहों के आकर्षण से उन प्रेतपितरों को चन्द्रलोकपतनभय से मुक्त बनाने का हेतु बनती हैं, अतएव शुक्राहुति से उत्पन्न इन्हें 'अपत्य' कहा जाता है।

दूसरी दृष्टि से 'अपत्य' शब्दका मन्वय कीजिए। धीधी पिता के शुक्र में प्रतिष्ठित सौम्य पितृसहः ही शुक्राहुति के द्वारा सन्तानरूप में परिणत होता है। सन्तानरूप में परिणत होने वाले इम पित्र्यमहः की गति निम्न है। अपने क्षेत्र से निम्न क्षेत्र की ओर गमन करता हुआ ही यह सन्ततिरूप में परिणत होता है। यही पितर (पितृसहः) निम्नगति का आश्रय लेता हुआ सन्तानभाय के द्वारा पृथिवी पर प्रविष्टित होता है। अतएव इसे (सन्ततिरूपात्मक पितरभाग) 'अपत्य' कहना न्यायमङ्गत माना गया है। 'अप्' शब्द अधोभाव-निम्नभाय का सूचक है। 'अपत्यशब्द का 'अधस्ताद्भवति' ही निर्बचन है। 'अप्' से 'अप्ययान् त्यप्' सूत्र द्वारा 'त्यप्' प्रत्यय होकर 'अपत्य' शब्द निष्पन्न हुआ है। यह 'अपत्यभाय' उन अधोरेता-गृहस्थियों से ही सम्बन्ध रखता है, जो सन्तान से युक्त होते हैं। मान लीजिए—किसी गृहस्थी ने जन्म पर्यन्त सन्तति के दर्शन न किए। यह निःसन्तान (निरपत्य-निपूता) ही मर गया। निःसन्तान मरने वाले इम व्यक्ति के स्वयं कां, तथा इमके पिता, पितामहादि का चन्द्रलोकस्थित पितृसहः 'पत्य' ही कहलाएगा। सन्तान इसके हुई नहीं। शुक्रगत पितृसहः व्यर्थमैथुनादि में २१ मात्रा से विगत (खर्च) अवश्य हो गया। फलतः प्रेतदशा में ७ भाग लेकर ही यह घापस चन्द्रलोक में पहुँचेगा। अब सन्तानाभाय से व्ययीभूत उन शेष २१ पितृसहों को घापस लेने का कोई साधन नहीं रहा। फलतः उमका पतन अपर्यभावी हो गया।

यही पर विश्राम नहीं हो जाता। अपितु निःसन्तान के शुक्रस्थ मासिक पिण्ड खर्च होते रहते हैं, सन्तान न होने से यह व्ययभाव व्यर्थ है। इम दृष्टि से यह प्रतिमाम में 'पत्य' है। अयोनि में, चण्ड्या स्त्री में भिन्न रेत व्यर्थ चला जाता है, और यही इम का पत्यभाव है। व्यर्थ में खर्च होने वाला शुक्र (तद्गत पितरप्राण) अपने स्वरूप से यों भी पत्य है। दूसरे शब्दों में स्वप्रतिष्ठा से च्युत होता हुआ भी पत्य है। एवं एक गृहमेधी का इससे बढ़कर अमङ्गल दूसरा नहीं है, जैसा कि—'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इत्यादि से प्रतिपद्यित है। इसी महा अमङ्गल के निरर्थक के लिए ऋषियों का 'प्रजातन्तुं मा व्ययच्छेत्सीः' आदेश उद्धोषित हुआ है। इसी महामाङ्गलिक अपत्यभाय की रक्षा के लिए व्यर्थमैथुन निषिद्ध माना गया है। इसी अपत्यसम्पत्ति की रक्षा के नाते ऋतुकाल में ही स्त्रीगमन विहित (शास्त्रानुमोदित) माना गया है।

पितृसौम्यज्ञद्वारा ऋणप्रवृत्ति—

"स्व जन्मज्ञाता पिता को, चन्द्रलोकस्थ पितामहादि को, एवं स्वयं अपने आपको भी अपत्यभाय से सुरक्षित रखने वाला पितृमहः सन्तानधारा में तन्तुरूप से प्रवाहित रहता है" यह कहा गया है।

अथ इस सम्बन्ध में देखना यह है कि, मूलपुरुष (बीजी पिता) से आरम्भ कर उस की सातवीं पीढ़ी पर्यन्त वितत रहने वाली सन्तान परम्परा में मूलपुरुष के शुक्र में प्रतिष्ठित २८ कल पितृसहोत्पत्ति पितृधन किस क्रम से विभक्त होकर ऋण रूप में आहुत होता है ?। चान्द्रम से अन्न द्वारा उपन्न होने वाले शुक्र में नक्षत्रसम्बन्ध से चान्द्रनाड़ी के द्वारा मात्तान रूप से प्रतिष्ठित २८ विंशतिकल पितृमहः-पिण्ड ही मूलधन है, यह पूर्वनिर्णय से गतार्थ है। यही पितृपिण्ड स्त्री के योप्राणप्रधान शोणि-ताम्रि में आहुत होने वाले शुक्र के साथ साथ आहुत हो जाता है। यह सोममय शुक्र, किंवा शुक्रमय सोम पितरप्राणप्रधान है, अतएव इस अग्निगोमीय सोमयज्ञ को सोम्यपितृप्राण की प्रधानता से 'पितृसोमयज्ञ' कहा गया है। यही सोमप्लोम-(पितृसोम)-यज्ञ प्रजासृष्टि की मूलप्रतिष्ठा माना गया है।

देवसोमाहुति से सम्बन्ध रखने वाला ज्योतिष्टोमापरपर्यायक अग्निप्रधान 'देवसोमयज्ञ' जैसे—'सप्तसंस्थो वै ज्योतिष्टोमः' के अनुसार अग्निष्टोम-अत्यग्निष्टोम-इक्ष्वास्तोम-पोडशीस्तोम-अतिरात्रस्तोम-वाजपेयस्तोम आप्तोऽयं मातोम, भेद से सात संस्थाओं में विभक्त रहता है। ठीक उसी प्रकार सोमप्रधान यह 'पितृसोमयज्ञ' भी—'पिता-पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-पृद्वप्रपौत्र-अतिपृद्वप्रपौत्र-पृद्वतिपृद्व-प्रपौत्र' भेद से सात ही संस्थाओं में विभक्त रहता है। सगोत्र-सोदक-सपिण्ड नाम के पूर्वक तीनों सप्तकों की समष्टि रूप पितरप्राणयुक्त, अतएव पितृसोमयज्ञात्मक पित्र्यमहःपिण्ड जायामि में आहुत होकर अपने से सातवीं पीढ़ी पर्यन्त ही वितत रहता है।

शुक्र की आहुति होगी, शुक्र के साथ साथ ही तद्गत पितृसहः भी आहुत होगा। इस सम्बन्ध में प्रश्न है कि, दाम्पत्यकाल में क्या सम्पूर्ण शारीर शुक्र आहुत हो जाता है ? एवं क्या तद्गत पितृसहः की २८ कला आहुत हो जाती हैं ?। प्रश्नों का उत्तर, 'सर्वथा नही' में होगा। जीवनधारणोपयुक्त सम्पूर्ण शुक्रमात्रा, एवं तद्गत पितृसहः की २८ कला एक ही कल में यदि आहुत हो जाय, तो उर्मा ज्ञेय जीवनलीला समाप्त हो जाय। ऐसी दशा में स्वीकार करना पड़ेगा कि, एक समय में हा सम्पूर्ण शुक्र, एवं तदविनाभूत पितृसहःपिण्ड आहुत नहीं होता, अपितु अंशतः ही, इन सहोमात्राओं की आहुति होती है, जो अंशाहुति 'प्रवर्गाहुति'—'उच्छिष्टयज्ञ' आदि नामों से व्यवहृत हुई है।

प्राकृतिक उच्छिष्टयज्ञ भी इसी अंशदान का समर्थन कर रहे हैं। सौरप्राण वनस्प-तियों में आहुत होता है, परन्तु अंशरूप से, प्रवर्णरूप से। सम्पूर्ण मात्रोच्छेद हो जाता तो 'आज' प्रदाण्ड में मूर्धन्यमत्ता ही उपलब्ध न होती। एवमेव नक्षत्र, मण्ड, चन्द्रमा, वायु, इन्द्र, वरुण, मरुत्वाय, धनु, रुद्र, प्रथिवी, आदि आदि सभी प्राकृतिक प्रजापति (मृदा) प्रजाति-(मर्)-कायना से स्वांशदान से ही स्व-मय सर्ग के प्रभव वन

रहे हैं। इस आंशिक नियमित मात्रा प्रधान के लिये ही आद्याणमन्थों में 'विभक्ति' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सृष्टिकामुक प्रजापति सर्वोत्तमना आहुत नहीं होते, अपितु अंशरूप से ही प्रजापति का चित्र-सन होता है। धरातल पर गिरी हुई जलविन्दु को आगे हटाइये। अवश्य ही अनुशयरूप से अपभ्रम स्वस्थान पर रह जायगा। यही आंशिकप्रदान विभक्ति, किंवा चित्रसन है, जिसके लिए लोकभाषा में 'खलन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। ठीक यही व्यवस्था शुक्राहुति के सम्बन्ध में सम-मित। शुक्र का सर्वोत्तमना उच्छेद नहीं होता, अपितु आंशिकरूप से चित्रसन होता है। अतएव शुक्रविनिर्गम-प्रक्रिया 'रितखलन' नाम से ही व्यवहृत हुई है।

विचार-पुरुषसृष्टि का प्रक्रमान्त है, जिसके सम्बन्ध में 'त्रिपादूर्ध्व उदन्तपुरुषः पादो-स्पेष्टमवत्पुनः' (यजुः संहिता) यह नियम व्यवस्थित है। 'तीन भागों की आहुति, एवं एक भाग की 'इह' से गृहीत आहुतिप्रदाता में प्रतिष्ठा' यही निष्कर्ष है। २८ कलात्मक पितृसहः के तीन भाग तो शोणितारिनि में आहुत होंगे, एवं एक भाग स्वयं आहुति देने वाले पिता में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित रह जायगा। यही ३-१ का क्रम आगे के आहुति-क्रम में चलेगा। आहुत होने वाला भाग 'सूयते'-'सुतो भवति'-(आहुतो भवति)-'अभिपुतो भवति' निर्वचनों से 'सुतः' कहलाएगा, एवं शेष अनाहुतभाग 'असुतः' (अनाहुतः-शेषः) कहलाएगा।

भागत्रयरूप से जो पितृधन प्रजोत्पत्ति के लिए योगाग्नि में हुत होता है, वह तो सन्तान (सन्तानन-विस्तार) भाव में परिणत होता हुआ सप्तसंस्थ पितृस्मोम-यज्ञ का प्रयत्नक बनता है, एवं जो एक भाग आहुत नहीं होता, वह अमृतभाग स्वयं आहुतिप्रदाता में ही प्रतिष्ठित रह जाता है। २८ कलात्मक आत्मपिण्ड का एक चतुर्थांश सप्तकलभाग आत्मप्रतिष्ठा का कारण बनता है; यही 'आत्मधारणाः पितरः' हैं। बीज आवाप करने वाले पितर में ही यह सप्तकल पितृसहः प्रतिष्ठित रहता है। दूसरे शब्दों में बीजों में इन सात पितृप्राणों का विशुद्ध पितृप्राणरूप से अवस्थान है, अतएव इस असुत पितृप्राणसमष्टि को ही अवश्य ही 'पितरः' संज्ञा से व्यवहृत किया जासकता है। दूसरा भागत्रयात्मक पितृभाग क्योंकि नाग्यग्नि में अभिपुत होता है, अतः इसे 'सूनुः' शब्द से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत बन जाता है।

आवापकर्त्ता (शुक्रात्मक बीज की आहुति देने वाले) के शुक्र में २८ पितृसहः प्रतिष्ठित बनलाये गये हैं। इनमें से ७ इसमें स्वप्रतिष्ठा के लिए प्रतिष्ठित रह जाते हैं, शेष २१ अंश योगि-दिग्नि में सुत हो जाते हैं। सप्तपितृप्राण धनभाग है, २१ पितृप्राण ऋणभाग है। धनभाग असुत है, यही 'पितर' है। ऋणभाग सुत है, यही 'सूनु' है। दम्पती-सम्बन्ध से जब भी पुत्र उत्पन्न होगा, २१ पितृसहों का ऋण लेकर ही उत्पन्न होगा। उत्पत्ति के अनन्तर इस उत्पन्न पुत्र में अपने भी स्वतन्त्र २८ अंश उत्पन्न और हो जाते हैं यह कथान्तर है। परन्तु पुत्र के इस औपपातिक आत्मा



का अपनी भीमजन्मसत्ता के लिए, भूषण पर शरीर धारण करने के लिए अपने पिता से शुक्रद्वारा २१ अंश लेना परमावश्यक हो जाता है। बिना इस अणु-आदान के इसका प्रभव ही असम्भव है। अतएव पुत्ररूप में उपयुक्त पिता के इस २१ भागसंघात को शास्त्रकारों ने 'पितृ-अणु' नाम से व्यवहृत किया है। ६ धारा में वितत इन २१ मात्राओं को चन्द्रलोकस्थ पिता के ७ अंशों के साथ सपिण्डीकरण के द्वारा जबतक यह (पुत्र) उसकी (पिता की) पूरी (२१) मात्रा लीटा कर उसे पूर्ण (२८ कल) नहीं बना देता, जबतक यह अणु रहता है। एवं तब तक इस का बन्धनविमोक्त नहीं हो सकता। इस पितृअणुमुक्ति के अनेक प्रकारों में से 'सन्तानोत्पत्ति' एक मुख्य साधन माना गया है। इस पितृअणु के अतिरिक्त पिता की अर्च्यत्मासंस्था में प्रतिष्ठित अणुमात्रा, देवमात्रा, का भी अणुरूप से इसमें आगमन होता है। वे ही दोनों अणु अणुपितृअणु, देवअणु, नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। इन तीनों अणुओं का मोचन कैसे सम्भव है?, इस प्रश्न की भीमांसा आगे के 'अणुमोचनोपायोपनिषत्' नामक प्रकरण में की जाने वाली है। प्रकृत में इस अणु-धन भाव से यही बतलाना है कि, पिता के द्वारा पुत्र में उपादान रूप से प्राप्त २१ सहः ही 'पितृअणु' है। इसका आगे किस क्रमसे वितान होता है, यही विज्ञितार्य है।

### पितृधनावापमीमांसा—

(१)—बीजीपिता की अपनी अर्जित सम्पत्ति (कमाई) के २८ पितृसहों में से २१ सहों को अणु (उधार) ले कर पुत्र रूप्य हुआ। पुत्र में पिता से आने वाला एकविंशतिकलोपेव यह सहःपिण्ड 'प्रथमावाप' नाम से प्रसिद्ध है। प्रथमपात्रस्थानीय पिता के इन २१ पितृसहों का प्रथम अधिकारी पुत्र ही बनता है। प्रथमपात्र (पिता) द्वारा प्रथमाधिकारी (पुत्र) में आहुत यह पितृसहः अवश्यमेव 'प्रथमावाप' कहल सकता है। इन में पिता का शेष असुतलक्षण सप्तकल धन 'पितरः' है, एवं पुत्र में आगत मुक्त एकविंशतिकल अणु 'सूनवः' है। इस प्रकार २८ पितृसहों के प्रथमावाप सम्बन्ध से ७-२१ भेद ने 'पितरः-सूनवः' ये दो श्रेणि-विभाग हो जाते हैं। सात की प्रतिष्ठा स्वयं पिता है, २१ पुत्र में भुक्त है।

(२)—बीजीपिता से २१ मात्रा लेकर जन्मधारण करने वाले पुत्र में भी स्वतन्त्ररूप से २८ सहों का आगमन हुआ। यह अपने पुत्र को जहाँ स्वधन रूप में से उक्त नियमानुसार २१ मात्रा अणु देगा, वहाँ पिता से मिली हुई २१ मात्रा में से भी इसे अपनेपुत्र को अणु देना पड़ेगा। इस पारस्परिक धन के अणुदान का क्रम यही होगा, जो प्रथमावाप में बतलाया जा चुका है। पिता से प्राप्त २१ में से १४ भाग तो यह पुत्र में (बीज के बीज में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है, शेष ६ भाग इसमें प्रतिष्ठित रह जाते हैं। यह ६ कलाएँ सुत नहीं होती, असुतरूप में इसमें प्रतिष्ठित रहती हैं, शतव्य पूर्णपरिभाषानुसार इन्हें 'पितरः' कहा जायगा। एवं बीजस्थानीय पुत्र में मुक्त १४ कलाएँ 'सूनवः' कहलाएँगी। इन १४ कलाओं का आवाप पुत्र के द्वारा होता है, अतएव यह द्वितीयवाप है। पितरः

स्थानीय पुत्र में बीजी के पुत्र द्वारा इनका आवाप होता है, अतएव यह पौत्रस्थानीय पुत्र 'द्वितीयाधिकारी' है। द्वितीयापात्र (पुत्र) द्वारा द्वितीयाधिकारी (पौत्र) में आहुत पञ्चदशकलोपेत यह पितृसहः अवश्यमेव 'द्वितीयापात्र' कहला सकता है। इस प्रकार २१ पितृसहों में द्वितीयापात्रसम्बन्ध से ६-१५ भेद से 'पितरः-सूनवः' ये श्रेणि-विभाग हो जाते हैं। ६ की प्रतिष्ठा स्वयं पुत्र है, १५ पौत्र में भुक्त हैं।

(३)-बीजी के पुत्रस्थानीय अपने पिता के द्वारा प्राप्त १५ की राशि को सुरक्षित रखने वाले पौत्र के पुत्र उत्पन्न होता है। इसमें भी नियमानुसार २८ तो उत्पन्न होंगे ही, और यह भी अपने २८ में से २१ मात्रा अपने पुत्र (बीजी के प्रपौत्र) में देगा ही, साथ ही पिताद्वारा प्राप्त १५ राशि में से भी इसे ऋण-दान करना पड़ेगा। पिता से (बीजी के पुत्र से) प्राप्त १५ में से १० भाग तो यह पुत्र में (बीजी के प्रपौत्र में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है। शेष ५ भाग स्वयं इस में (पौत्र) में प्रतिष्ठित रह जाते हैं। ये ५ कलाएँ सुत नहीं होतीं, अनुस्वरूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं, अतएव इन्हें 'पितरः' कहा जायगा। एवं प्रपौत्रस्थानीय पुत्र में सुत १० कलाएँ 'सूनवः' कहा जाएँगी। इन १० कलाओं का आवाप पौत्रद्वारा होता है, अतएव यह तृतीयपात्र है। जिस प्रपौत्र में आवाप होता है, वह तृतीयाधिकारी है। तृतीयपात्र (पौत्र) द्वारा तृतीयाधिकारी (प्रपौत्र) में आहुत दशकलोपेत यही पितृसहः 'तृतीयापात्र' है। इस प्रकार १५ पितृसहों में से तृतीयापात्र सम्बन्ध से ५-१० भेद से 'पितरः-सूनवः' ये दो श्रेणि-विभाग हो जाते हैं। ५ की प्रतिष्ठा स्वयं पौत्र है, १० प्रपौत्र में भुक्त हैं।

(४)-बीजी के पौत्रस्थानीय अपने पिता के द्वारा प्राप्त १० राशि को सुरक्षित रखने वाले प्रपौत्र के पुत्र उत्पन्न होता है। इस प्रपौत्र में २८ स्वतः मिद्ध हैं, जिन में से २१ का नियमानुसार यह अपने पुत्र (बीजी के वृद्धप्रपौत्र) में आवाप करेगा। इस के अतिरिक्त पिता के द्वारा प्राप्त १० संख्याक पितृधन में से भी इसे ऋणदान करना पड़ेगा। पिता से (बीजी के पौत्र से) प्राप्त १० में से ६ भाग तो यह पुत्र में (बीजी के वृद्धप्रपौत्र में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है, शेष ४ भाग स्वयं इस में (प्रपौत्र में) प्रतिष्ठित रह जाते हैं। ये ४ कला अनुस्वरूप से 'पितरः' हैं, सुत ६ कला 'सूनवः' हैं। इन ६ कलाओं का आवाप प्रपौत्रद्वारा होता है, अतएव यह चतुर्थपात्र है। जिस वृद्धप्रपौत्र में आवाप होता है, वह चतुर्थपात्र है। चतुर्थपात्र (प्रपौत्र) द्वारा चतुर्थपात्र (वृद्धप्रपौत्र) में आहुत षट्कलोपेत यही पितृसहः 'चतुर्थपात्र' है। इस प्रकार १० पितृसहों में से चतुर्थपात्रसम्बन्ध से ४-६ भेद से 'पितरः-सूनवः' ये दो श्रेणि-विभाग हो जाते हैं। ४ की प्रतिष्ठा स्वयं प्रपौत्र है, ६ कलाएँ वृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं।

(५)-बीजी के प्रपौत्रस्थानीय अपने पिता के द्वारा प्राप्त ६ सहोभागों को सुरक्षित रखने वाले वृद्धप्रपौत्र के पुत्र उत्पन्न होता है। इसमें भी २८ स्वतः मिद्ध हैं, जिनमें से २१ का यह अपने पुत्र

(बीजी के अतिवृद्धप्रपौत्र) में आधान करेगा। इसके साथ ही पिता से प्राप्त ६ संख्यायुत पितृधन में से भी इसे अग्रदान करना पड़ेगा। पितासे (बीजी के प्रपौत्र से) प्राप्त ६ में से ३ भाग तो यह पुत्र में (बीजी के अतिवृद्धप्रपौत्र में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है, शेष ३ भाग स्वयं इसमें (वृद्धप्रपौत्र में) प्रतिष्ठा रूप से रह जाते हैं। ये ३ कला असुतभाव की दृष्टि से 'पितरः' हैं, सुत ३ कला 'सूनवः' हैं। इन तीन सुनुकलाओं का आवाप वृद्धप्रपौत्र के द्वारा होता है, अतएव यह पञ्चमपात्र है। जिस अतिवृद्धप्रपौत्र में आवाप होता है, वह पञ्चमाधिकारी है। पञ्चमपात्र (वृद्धप्रपौत्र) द्वारा पञ्चमाधिकारी (अतिवृद्धप्रपौत्र) में आहुत कलत्रयोपेत यही पितृसहः 'पञ्चमावाप' है। इस प्रकार ६ पितृसहों में से पञ्चमावाप सम्बन्ध से ३-३ भेद से 'पितरः-सूनवः' ये दो अंश-विभाग हो जाते हैं। ३ की प्रतिष्ठा न्ययं वृद्धप्रपौत्र है, ३ कलाएँ अतिवृद्धप्रपौत्र में मुक्त हैं।

(६)-बीजी के वृद्धप्रपौत्र स्थानीय अपने पिता के द्वारा प्राप्त ३ सहोभागों को सुरक्षित रखने वाले अतिवृद्धप्रपौत्र के पुत्र उत्पन्न होता है। इसमें भी २८ तो स्वतः सिद्ध हैं, जिनमें से २१ का यह अपने पुत्र (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र) में आधान करेगा। एवं इसके साथ ही पिता से प्राप्त ३ संख्या वाले पितृ धन में से भी इसे अग्र देना पड़ेगा। पिता से (बीजी के वृद्धप्रपौत्र से) प्राप्त ३ में से १ भाग तो यह पुत्र में (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में, एवं अपने पुत्र में) प्रदान कर देता है, शेष २ भाग स्वयं इसमें (अतिवृद्धप्रपौत्र में) प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित रह जाते हैं। ये २ कला असुतभावापेक्षया 'पितरौ' हैं, सुत १ कला 'सुनुः' है। इस १ सुनु कला का आवाप अतिवृद्धप्रपौत्र के द्वारा होता है, अतएव यह षष्ठपात्र है। जिस वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में आवाप होता है, वह षष्ठ अधिकारी है। षष्ठपात्र (अतिवृद्धप्रपौत्र) द्वारा षष्ठ अधिकारी (वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र) में आहुत एककल यही पितृसहः 'षष्ठआवाप' है। इस प्रकार ३ पितृसहों में से षष्ठआवाप सम्बन्ध से २-१ भेद से 'पितरौ-सुनुः' ये दो अंश विभाग हो जाते हैं। २ की प्रतिष्ठा स्वयं अतिवृद्धप्रपौत्र है, १ कला वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में मुक्त है।

(७)-बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में बीजी की केवल १ सहोमात्रा रहती है। अतएव यहाँ आकर अग्रदान क्रम समाप्त हो जाता है। यह १ कला स्वयं इसकी प्रतिष्ठा में उपयुक्त हो जाती है। यदि इसमें पितृधन की १ कला भी न रहे, तो इसकी प्रतिष्ठा का ही उच्छेद हो जाय। इस प्रकार अतिवृद्ध-प्रतिष्ठासह से आने वाली यह १ कला स्वरूपरक्षा में उपयुक्त होती हुई आगे न जाकर केवल 'पितर' रूप से ही प्रतिष्ठित रह जाती है। फलतः बीजी से आगे उत्तरोत्तर 'पितरः-सूनवः' रूप से वितरित होने वाला २८ कलात्मक पितृसहः " $७-२१ \times ६-१५ \times ३-१० \times ४-६ \times ३-३ \times २-१ +$ " इस क्रमधारा से छठी पीढ़ी पर ही समाप्त हो जाता है। एक कलोपेत सातवीं पीढ़ी में आगे वितरित होने योग्य पिण्ड का अभाव है। अतएव सातवीं पीढ़ी पर जाके सपिण्डता सम्बन्ध (२८ कलात्मक एक पिण्ड का वितरितक्रम) समाप्त है। इसी विज्ञान के आधार पर—'सापिण्ड्यं सामपौरुषं, सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते' इत्यादि राट्टान्त प्रतिष्ठित हैं।

प्रथमाचारः	पात्रम्	१-पितरः-सप्तसहस्रं-पितरिमूलपुरुषे (७)	—१-पिता
	अधिकारी	२-सूनवः-एकविंशतिसहस्रं-पुत्रे (२१)	
द्वितीयाचारः	पात्रम्	१-पितरः-षट्सहस्रं-पुत्रे (६)	—२-पुत्रः
	अधिकारी	२-सूनवः-पञ्चदशसहस्रं-पौत्रे (१५)	
तृतीयाचारः	पात्रम्	१-पितरः-पञ्चसहस्रं-पौत्रे (५)	—३-पौत्रः
	अधिकारी	२-सूनवः-दशसहस्रं-प्रपौत्रे (१०)	
चतुर्थीचारः	पात्रम्	१-पितरः-चत्वारिसहस्रं-प्रपौत्रे (४)	—४-प्रपौत्रः
	अधिकारी	२-सूनवः-पट्सहस्रं-वृद्धप्रपौत्रे ( )	
पञ्चमाचारः	पात्रम्	१-पितरः-त्रीणिसहस्रं-वृद्धप्रपौत्रे (३)	—५-वृद्धप्रपौत्रः
	अधिकारी	२-सूनवः-त्रीणिसहस्रं-अतिवृद्धप्रपौत्रे (३)	
षष्ठाचारः	पात्रम्	१-पितरौ-द्वे सहस्री-अतिवृद्धप्रपौत्रे (२)	—६-अतिवृद्धप्रपौत्रः
	अधिकारी	२-सूनवः-एक सहस्रं-वृद्धानिवृद्धप्रपौत्रे (१)	
		१-पिता-एक सहस्रं-वृद्धानिवृद्धप्रपौत्रे (१)	
		७	
		७	

पितृधनानि-पितरः		पितृश्रणानि-सूनवः	
१-पितरि-	७ सहांसि	७-मूलपुरुषः	
२-पुत्रे-	६ सहांसि	पुत्रे-	२१ सहांसि
३-पौत्रे-	५ सहांसि	पौत्रे-	१५ सहांसि
४-प्रपौत्रे-	४ सहांसि	प्रपौत्रे-	१० सहांसि
५-वृद्धप्रपौत्रे-	३ सहांसि	वृद्धप्रपौत्रे-	६ सहांसि
६-अतिवृद्धप्रपौत्रे-	२ सहस्री	अतिवृद्धप्रपौत्रे-	३ सहांसि
७-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रे-	१ सहः	वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रे-	१ सहः
८८ पितरः		५६ सूनवः	

### आयापपिएड-बीजपिएड-मीमांसा—

उपर्युक्त पितृसहः—पिएड के 'पितरः-सूनवः' भेद से दो विवरण यतलाए गए हैं। अथ एक विभिन्न दृष्टि से इस बलुनर्य का समन्वय किया जाता है। इस दृष्टि से इस पितृसहः पिएड के 'आयापपिएड-बीजपिएड' भेद से दो विभाग माने जा सकते हैं। आयापपिएड पितृश्रण है, पिता (बीजी) का यह धन है, जिसे श्रणरूप से ग्रहण कर उत्पन्न होने वाले पुत्रादि स्वयं भी सह-पिएड के संप्राप्तक बनते हैं। इनके श्रुक में भी उसी-क्रमानुसार नक्षत्रप्राणायामिन्द्रिज अष्टाध्यातिकात् पितृसहः पिएड प्रतिष्ठित होता है, जिसे कि इस इनका अपना धन कह सकते हैं। उन का यही अपना धन इन के पुत्र का बीज बनता है, अतएव इसे हम 'बीजपिएड' कह सह सकते हैं। इस संपादित धन का बीजरूप १६ वें वर्ष की समाप्ति पर ही पूर्णरूप से विकसित होता है। इसमें पहिले पहिले इनका पितृसहः-पिएड निर्वाच्य ही रहता है। इन में जो मात्राएँ पितादि के द्वारा आनी है, वे ही 'आयाप-पिएड' कहलाई हैं। आयापपिएड के भी 'पितरः-सूनवः' दो विभाग रहते हैं, एवं बीजपिएड के भी दोनों विभाग सुरक्षित हैं। उदाहरण के लिए २१ संख्यायुक्त पुत्र के आयापपिएड को ही लीजिए। यह २१ पितृधन है, जिसे श्रण लेकर पुत्र ने जन्म धारण किया है। यही आयापपिएड है। इस के ६ भाग तो पूर्ण कथनानुसार इस में रह जाते हैं, शेष १५ भाग आगे की पुत्रसन्तति में स्वयं के साथ आहुत हो जाते हैं। समस्त श्रान्तप्रतिष्ठभाग 'पितरः' है, पञ्चदशकल सन्ततिप्रतिष्ठभाग 'सूनवः' है। इस के अतिरिक्त २८ कलामक बीजपिएड भी इसमें प्रतिष्ठित है। इसमें से ७ कला इस में

रह जाती हैं, यही 'पितरः' हैं, २१ कला पुत्र में चली जाती हैं, यही 'भूतवः' है। इस प्रकार पित्र-धनरूप आयापिण्ड, तथा स्वात्मधनरूप बीजपिण्ड, दोनों पिण्डों के प्रतिष्ठित-सन्ततिगत भेद से दो दो विभाग हो जाते हैं।

इन परम्परया आगत आवापपिएडकलाओं का, तथा स्वाज्ञित बीजपिएडकलाओं का यदि संकलन किया जाता है, तो प्रत्येक पुरुष के शुक्र में चतुरशीतिलक्ष (८४) सहःपिएड की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रत्येक पुरुष के शुक्र में २८ सहोभाग तो स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होते ही हैं। इस के अतिरिक्त २१ सहोभाग तो इस में अपने पिता से आते हैं, १५ सहोभाग पितामह से आते हैं, १० सहोभाग प्रपितामह से आते हैं, ६ सहोभाग वृद्धप्रपितामह से आते हैं, ३ सहोभाग अतिवृद्धप्रपितामह से आते हैं, एवं १ सहोभाग वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से आता है। इस प्रकार स्यात्मधनरूप २८ के अतिरिक्त अपने से ऊपर की ६ पित्रपरम्पराओं से इसमें २१-१५-१०-६-३-१, इतने सहोभाग श्रृणुरूप से आते हैं, जिनका संकलन १६ कल होता है। यही 'आवापपिएड' है, एवं २८ कल भाग बीजपिएड है। चतुरशीतिलक्ष इस पित्रसहःपिएड की आवपन भूमि शुक्रगत चान्द्र महानात्मा ही माना गया है। इसी धनता है।

निवाप-पितृ-तन्य-पिएडप्रयीमीमांसा—

बीजीपुरूप में अपनी स्वाजित सम्पत्ति २८ कलात्मक है, यह कहा जा चुका है। अब इस मन्थन में कुछ विशेषता और हातव्य है। इस बीजपिण्ड की 'निवापपिण्ड, पितृनिवापपिण्ड, वृद्धप्रपौत्र नाम की ६ ठी पीढ़ी पर्यन्त समानरूप से भुक्त है। सर्वप्रथम बीजी का ही विचार कीजिए। 'पिण्ड' है, मूलधन है। इन में से पुत्रजनन में उपयुक्त होने वाली २१ मात्रा है, इसे ही हमने सूनु कहा। पुत्रजनन की अपेक्षा से निवापपिण्ड बनता है। यह स्यात्माना ही विगत नहीं होता, अपितु इस का 'निवापपिण्ड' है, २१ कल पितृमहःपिण्ड 'तन्यपिण्ड' है, एवं सप्तकलपितृमहःपिण्ड 'पितृनिवाप' है, एवं पुत्र में आहुत हो जाने वाला एकविंशतिकल पिण्ड 'तन्यपिण्ड' है। इस प्रकार यह क्रम है। वृद्धप्रपौत्र में '६-३-३' यह क्रम है। पुत्र में '१४-४-१०' यह क्रम है। ये ही तीन विभाग पुत्र में वृद्धानिवृद्धप्रपौत्र में केवल एक महः का निवापपिण्ड है। अनिवृद्धप्रपौत्र में '३-२-१' यह क्रम है। तथा तन्यपिण्ड, दोनों का अभाव है। निम्नलिखित परिलेख से इस क्रम का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा में पूर्वप्रदर्शित ५६ कल आवापिण्ड, तथा २८ कल बीजपिण्ड के समन्वय से ८४ पितृसहो की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इन ८४ कलाओं में से २८ कलाएँ तो बीजी मूल पुरुष का स्वोपार्जित धन है, एवं ५६ कलाएँ पिता-पिता महादि द्वारा प्राप्त आगन्तुक ऋण है। ऋणात्मक ५६ कलात्मक यह आवापिण्ड घनात्मक २८ कलात्मक बीजपिण्ड में प्रतिष्ठित रहता है। बीजपिण्ड में प्रतिष्ठित यही पितृधन (पितृऋण) बीजी की जीवन सत्ता का कारण बनता है। जिस प्रकार २८ कलात्मक स्वोपार्जित आत्मनीन पितृसहःपिण्ड बीजी के पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि सन्तानभावों में सातवीं पीढ़ी पर्यन्त (बृद्धातिबृद्धप्रपौत्रपर्यन्त) ७-२१, ६-१५, ५-१४, ४-६, ३-३, २-१, इस क्रम से 'पितर-सुतु-भेद' से दो दो भागों में विभक्त रहता है, एवमेव उपर्युक्त ५६ कलात्मक आगन्तुक पितृऋण (पितृधनरूप पितृमहःपिण्ड) भी आत्मधेय, तन्य, रूप से दो भागों में विभक्त हो जाता है। पितृऋण का जो अंश बीजी के आत्मा में (२८ कल महानात्मा में) जीवनसत्तार्थ प्रतिष्ठित रहता है, वह तो 'आत्मधेय' पितृमहः कहलाता है। एवं जो पितृऋण अपनी कलाओं के साथ पुत्र-पौत्रादि के स्वरूप निर्माण में उपयुक्त हो जाता है, वह 'तन्य' कहलाता है। सातवीं पीढ़ी का (बृद्धातिबृद्धप्रपितामह का) १ संख्या वाला पितृसहः केवल आत्मधेयरूप से ही प्रतिष्ठित रहता है। वितानमात्रा के श्रमभय से इस का आगे पितान नहीं होता, अतएव इस की तन्यरूप में परिणति न होकर केवल आत्मधेय रूप में ही बीजी में ही स्थिति रहती है।

पितृऋणात्मक पितृमहःकलाओं का जो भाग बीजी में प्रतिष्ठित रहता हुआ आत्मधेय बनता है, उसका बीजी के महानात्मा के साथ अन्तर्याम सम्बन्ध रहता है। इसी अन्तर्याम सम्बन्ध से यह बीजी का (महदात्मघन) उदय बन जाता है। जीवनसत्तोपयिक चान्द्ररस का ग्रहण करना उक्त भावापन्न आत्मधेय इसी पितृमहः का काम है। क्योंकि यह आत्मधेय आगत पितृसहः पितृधन है, अतएव इस का प्रत्यर्पण आवश्यक हो जाता है। यदि इन आत्मधेयकलाओं का संकलन किया जाता है, तो २१ मंथ्या हो जाती है। इन २१ का ऋणभार स्वयं बीजी पर अवलम्बित है। बृद्धातिबृद्धप्रपितामह की १ कला, अतिबृद्धप्रपितामह की २ कला, बृद्धप्रपितामह की ३ कला, प्रपितामह की ४ कला, पितामह की ५ कला, पिता की ६ कला, इस प्रकार '१-२-३-४-५-६' क्रम से २१ कला इस का आत्मघन बना रहता है। कहा गया है कि—पितृधन की कुल ५६ कला आती हैं। ५६ में से २१ तो इस क्रम से आत्मधेय हैं। शेष ३५ कला तन्यरूप में परिणत हैं, जैसा कि अनुबन्ध में ही स्पष्ट होने वाला है। स्वोपार्जित २८ कलाओं में से २१ कला तो तन्यरूप से पुत्र-पौत्रादि को ऋण रूप में दे दी जाती हैं, शेष ७ कला इस बीजी में ही आत्मधेय रूप से प्रतिष्ठित रह जाती हैं। इस प्रकार पितृऋण की ५६ में २१ कला के, तथा स्वात्मघन की २८ में से ७ कला के समन्वय से २८ कला हो जाती है। यह २८ कल आत्मधेय भाग प्रत्येक पुरुष में नित्य प्रतिष्ठित रहता है। इसी आधार पर पुरुष में मासिक पिण्ड का स्वरूप घनलाते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, पुरुष का महानात्मा

सदा २८ कल पितृसहःपिण्ड से युक्त रहता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि, महानात्मा में प्रतिष्ठित २८ कल सहःपिण्ड में से २१ कला तो अण्णात्मक धन है, एवं ७ कला स्वोपाजित धन है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो जाता है—

महानात्मनि प्रतिष्ठितानि—आत्मधेयानि—सहांसि—

१—एक सहः—	—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहस्य
२—द्वे सहस्री—	—अतिवृद्धप्रपितामहस्य
३—त्रीणि सहांसि—	—वृद्धप्रपितामहस्य
४—चत्वारि सहांसि—	—प्रपितामहस्य
५—पञ्च सहांसि—	—पितामहस्य
६—षट् सहांसि—	—पितुः
७—सप्त सहांसि—	—आत्मनः
२८—अष्टविंशतिकलोऽयं महानात्मा	

—पहूधनानि पितृअण्यानि

—सप्तममेकमात्मधनम्

यह तो हुई आत्मधेय कलाओं की व्यवस्था। अब तन्य-कलाओं की ग्रीमांसा कीजिए। यद्यपि बीजी का अपना धन २८ कलात्मक है। परन्तु अपने क्षेत्र में (महानात्मा में) आत्मधेयरूप से ७ ही कला शेष रहती हैं। शेष २१ कला तनयोत्पत्ति में अणुरूप से मुक्त हो जाती हैं। अब इस २१ कलसमष्टि को हम 'तन्य' ही कहेंगे। परम्परागत ५६ मात्राओं में से २१ का भोग स्वयं इसी बीजी में होता है, शेष ३५ कलाएँ बीजी के पुत्रादि-प्रजनन में मुक्त हैं। जो अणुरूपताएँ प्रजनन में अणुरूप से मुक्त हैं, वही को तन्य कहा जायगा, एवं उन की व्यवस्था का सम्बन्ध यों किया जायगा।

बीजी को अपने पिता से अणु रूप में २१ मात्रा मिलती है। इन में से ६ मात्रा इस में आत्मधेय रूप से प्रतिष्ठित रहती हैं, शेष १५ मात्रा बीजी अपने पुत्र में अणुरूप से प्रदान करता है। अणु के अणुरूप इसी पञ्चदशकल भाग को तन्य कहा जायगा। पितामह से बीजी को १५ मात्रा मिलती है। इन में से ५ मात्रा आत्मधेयरूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं, शेष १० मात्रा बीजी अपने पुत्र में दे-देता है, यही तन्य भाग है। प्रपितामह से बीजी को १० मात्रा मिलती है। इन



में से ४ मात्रा आत्मधेयरूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं, शेष ६ मात्रा बीजी अपने पुत्र में दे देता है, यही तन्म भाग है। वृद्धप्रपितामह से बीजी को ६ मात्रा मिलती हैं। इन में से ३ मात्रा आत्मधेयरूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं, शेष ३ मात्रा यह अपने पुत्र में दे देता है, यही तन्म भाग है। अतिवृद्धप्रपितामह से बीजी को ३ मात्रा मिलती हैं। इनमें से २ मात्रा आत्मधेयरूप से इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं, शेष १ मात्रा यह अपने पुत्र में समर्पित कर देता है। वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से इसे १ ही मात्रा मिलती है। इस का समर्पण असम्भव है। अतएव यह तन्म न बन कर केवल बीजी में प्रतिष्ठित रहती हुई आत्मधेय ही बनी रहती है। इस प्रकार "२१-१५-१०-६-३ १-" प्राप्त होने वाली इन ४६ कलाओं में से क्रमशः ६-५-४-३-२-१ ये २१ कला तो आत्मधेयरूप से बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं। एवं '१५-१०-६-३-१' ये ३५ कला बीजी के पुत्र में सन्तत होती हुई तन्म रूप में परिणत हो जाती हैं। अणुरूप से आगत ४६ में से २१ कलाएँ आत्मधेय हैं, ३५ कलाएँ तन्म हैं, यही निष्कर्ष है। एवं स्थोपाजित २८ में से ७ कलाएँ आत्मधेय हैं, २१ कलाएँ तन्म हैं, यही तात्पर्य है। अणुआत्मक २१ आत्मधेय, स्थोपाजित ७ आत्मधेय, दोनों के संकलन से २८ आत्मधेय पिएड हैं, सदा महानात्मा में प्रतिष्ठित रहने वाला धन है। अणुआत्मक ३५-तन्म, स्थोपाजित २१ तन्म, दोनों के संकलन से ५६ कल तन्मपिएड है। यह शुक में प्रतिष्ठित रहने वाला अणु है। जैसा कि अनुपद में ही धतलाई जाने वाली अणु-धन मीमांसा से स्पष्ट होने वाला है।

१-एकं सहः—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहस्य

३-त्रीणि महामि—अतिवृद्धप्रपितामहस्य

६-षट् सहांसि—वृद्धप्रपितामहस्य

—पञ्चशृणुनि-आगतानि

१०-दश सहांसि—प्रपितामहस्य

१५-पञ्चदश महामि—पितामहस्य

२१-एकविंशतिमहामि—पितुः

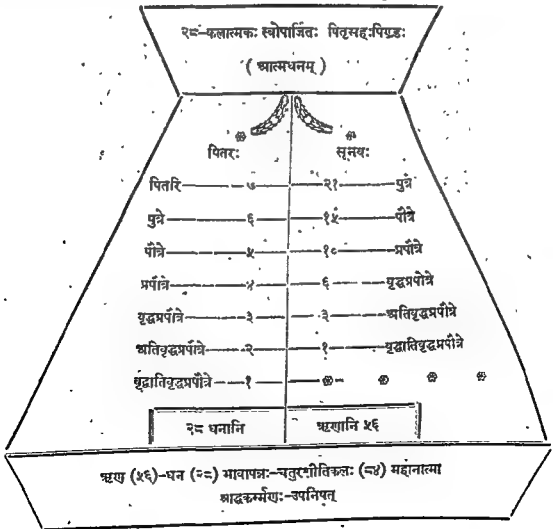
४६-अणुआत्मक अणुम्

आत्मधन-आन्मशृण-स्वरूपमीमांसा—

आत्मधनोपलक्षित २८ कल सहःपिएड, आन्मशृणोपलक्षित ४६ कल सहःपिएड, दोनों की आत्मधेय, तन्म, रूप से दो दो अपर्याप्त धतलाई गई हैं। पूर्वं निरूपण से यद्यपि चारों अपर्याप्तों का समन्वय हो जाता है, अद्यापि विषय-सुख-दुःख के नाते इन सप्त का संकलनदृष्टि से समन्वय धोर कर दिया जाता है। पहिले स्थोपाजित, आन्मधनोपलक्षित, २८ कल सहःपिएड को ही सीजिए। इसकी 'पितरः-मूलक' भेद से दो अपर्याप्त रहती हैं। बीजी से आगे उत्पन्न होने

वाली पुत्रादि-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रान्त ६ पीढ़ी पर्यन्त प्रत्येक पीढ़ी में इस बीजी के आत्मधन के 'पितरः सूनवः'-रूपसे दो दो विभाग हो जाते हैं। जो आत्मधन योपिदग्नि में आहुत न होकर आवाप-कर्त्ताओं की महत्संस्था में अन्तर्व्याप्त सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता जाता है, वह 'आत्मधेय' कहलाता है। एवं जो आत्मधन योपिदग्नि में आहुत होता जाता है, वह उत्तरोत्तर सन्तत होता हुआ 'तन्य' कहलाता है। आत्मधेयभाग धन है, तन्यभाग ऋण है। धनभाग 'पितरः' है, ऋणभाग 'सूनवः' है। ऋण-धन के इस क्रमिक धाराप्रवाह के कारण बीजी का आत्मधन ७ धनभावों में एवं ६ ऋणभावों में परिणत हो जाता है। लोकभाषा-टपि से धनभाव 'जमा' है, ऋणभाव 'स्वर्च' है। 'जमा-स्वर्च' की यह परम्परा सचमुच पितृसृष्टि का एक अपूर्व-भौतिक रहस्य है, जिसका यथावत समन्वय किए बिना 'सापिण्ड्य' रहस्य गतार्थ नहीं बन सकता। स्थोपाजित २८ कल आत्मधन के इन ऋण-धन भावों का परिलेख से भलीभांति स्पष्टीकरण हो रहा है।

ऋणधनभावापन्नो महानात्मा आदुर्कर्मोपनिपत्—



बीजी के शुद्धात्मक महानात्मा में रहने वाले स्वोपार्जित-आत्मधनरूप-२८ कलात्मक पितृसहःपिण्ड के 'पितरः-सूनवः' इन विभागों के अनन्तर बीजी के महानात्मा में प्रतिष्ठित, पिता-पितामहादि के द्वारा ऋणरूप से आगत-अतएव आत्मऋणरूप ५६ कलात्मक पितृसहःपिण्ड के आत्मधेय, तथा तन्य पिण्डों की ओर, हमारा ध्यान आकर्षित होता है। यह निश्चित है कि, पिता-पितामहादि से आने वाली ऋणात्मिका सभी सहःकला बीजी में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। अपितु कुछ अंश प्रतिष्ठित रहता है, शेषांश बीजी के पुत्रादि में ऋणरूप से चला जाता है। ५६ कलात्मक पितृऋणरूप पितृसहःकलाओं में जो जितनी कला बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं, उन्हें 'आत्मधेयपिण्ड' कहा जाता है, एवं जितनी कला पुत्रादि में (सन्तानपरम्परा से) भुक्त हो जाती हैं, वे 'तन्यपिण्ड' कहलाते हैं।

आत्मधन भी आत्मधेय, तन्य भेद से ऋण-धन भावात्मक है। आत्मऋण भी आत्मधेय, तन्य भेद से ऋण-धन-भावात्मक है। सर्वत्र धनभाव आत्मधेय है, ऋणभाव तन्य है। आत्मधन के २८ में से ७ भाग आत्मधेय है, यही 'पितर' हैं, यही धन है। आत्मधन के २८ में से २१ तन्य हैं, यही 'सूनवः' हैं, यही ऋण है। एवमेव आत्मऋण के ५६ भागों में से २१ आत्मधेय है, यही पितर है, यही धन है। आत्मऋण के ५६ में से ३५ तन्य हैं, यही सूनवः हैं, यही ऋण हैं, आत्मधन के धनरूप ७ आत्मधेय, आत्मऋण के धनरूप २१ आत्मधेय, इस प्रकार बीजी में २८ आत्मधेयकला प्रतिष्ठित हैं। आत्मऋण के ऋणरूप ३५ तन्य, आत्मधन के ऋण २१ तन्य, इस प्रकार बीजी में ५६ तन्यकला प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

५६ कलात्मकः पितृणरूपः सहःपिण्डः  
( आत्मशृणम् )

आत्मधेयाः

तन्याः

बृद्धातिबृद्धप्रपितामहस्य—१—	—	—
अतिबृद्धप्रपितामहस्य—२—	— १ —	बृद्धातिबृद्धप्रपौत्रे
बृद्धप्रपितामहस्य—३—	— ३ —	अतिबृद्धप्रपौत्रे
प्रपितामहस्य—४—	— ६ —	बृद्धप्रपौत्रे
पितामहस्य—५—	— १० —	प्रपौत्रे
पितुः—६—	— १५ —	पौत्रे
आत्मनः—७—	— २१ —	पुत्रे

२८ धनानि

शृणानि ५६

प्रत्येक पुरुष में अपने से ऊपर की क्रमिक ६ पीढ़ियों से शृणरूप से ५६ सहोमात्रा प्रतिष्ठित रहती हैं, एवं यह स्वयं २८ अपनी स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न करता है। फलतः कुल ८४ मात्रा का संग्रह होता है। ५६ मात्रा शृण है, २८ मात्रा धन है। धनात्मिका २८ मात्राओं में से इसके समीप ७ मात्रा रहने पाती है, २१ पुत्र में चली जाती है। ५६ मात्रा का शृण इसे चुकाना है। इन में से ३५ मात्राओं का परिशोध तो पुत्रोत्पत्ति-मात्र से हो जाता है। क्योंकि जहाँ पुत्र में इसके अपने आत्मधन के २८ में से २१ भाग जाते हैं, साथ ही आत्मशृण के ३५ भाग भी तन्वभाष से पुत्र में चले जाते हैं। अब शृणभाग में से केवल २१ कला इसके पास शेष रह जाती है। इन २१ शृणभागों को, एवं ७ धनभागों को लेकर पुरुष आवश्यकपर्यन्त जीवनसत्ता-धारण में समर्थ होता है। इसकी धनधनमुक्ति तभी सम्भव है, जब कि यह २१ शृणभागों का तो परिशोध कर दे, एवं

अपने ७ भागों को पूर्ण (२८) बना दे। इसी 'पितृश्रृणुमुक्ति' के लिए आद्यकर्म विहित हुआ है। यही इस का आनृत्य है, जैसा कि अंगले प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

प्रकृत में इस 'सहः' स्वरूपमीमांसा से यही बतलाना है कि, मूलपुरुष से आरम्भ कर उसकी सातवीं पीढ़ी पर्यन्त शुक्रस्थित एक ही पिण्ड का वितान होता है। इसी पिण्ड-समानता से सातों का सापिण्ड्य सम्बन्ध माना गया है। जिस सूत्र के द्वारा यह सम्बन्ध सातों में सुरक्षित रहता है, वही मूल 'आद्यकर्म' की मूलप्रतिष्ठा बनता है। इन सात सपिण्डों में पिता, पितामह, प्रपितामह, ये तीन सहोभाग संख्याधिक्य से 'पिण्डभाजः' कहलाए हैं, एवं वृद्धप्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह, वृद्धाति-वृद्धप्रपितामह, ये तीन संख्याल्पता से 'लेपभाजः' कहलाए हैं। २१ संख्यायुक्त बीजी (पुत्र) पिण्डद्व माना गया है, जैसा कि निम्न लिखित पद्यन से प्रमाणित है।

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

पिण्डद्वः सप्तमस्त्वेपां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम् ॥

शुक्रस्थित महानात्मा चतुरशीतिकल पितृप्राणात्मक सहःपिण्ड के द्वारा ही प्रजातन्तुवितान में समर्थ होता है। जिस प्रकार घटत्रनिर्माण प्रक्रिया में ताना-बाना लगा करता है, ठीक वही प्रकार प्रजातन्तुवितान में है। ६ ऊपर के आगतसूत्र, ६ नीचे के विततसूत्र, पुनः प्रत्येक की अवान्तर शाखा-प्रशाखाएँ, कैसा अद्भुत प्रजातन्तु-वितान है, और कैसी है उन अतीन्द्रियतत्त्वज्ञ महर्षियों की अलौकिक दृष्टि, जिन्होंने प्रजातन्तुवितानविज्ञान का साक्षात्कार किया, एवं तदाधार पर आनृत्यभाष-प्रवर्तक आद्य नामक वैज्ञानिक प्रक्रिया का आविष्कार किया, जोकि तादृिक प्रक्रिया आज उन श्रमिन्तानों के द्वारा ही उपहाम का क्षेत्र बनी हुई है। इसमें अधिक हमारा और क्या पतन होगा।

तन्तुवितानमन्वन्धी-प्रमाणवादः—

प्रजातन्तुवितानात्मक, साप्तपौरुषकृत उक्त सापिण्ड्य-स्वरूप के सम्बन्ध में प्रमाणा-नन्तर इमलिण अनपेक्षित है कि, प्रत्यक्षप्रमाणभूत योनिःशास्त्र के प्रत्यक्ष चन्द्रदेवता के मौम्य-प्राण का तत्प्राग्भेद में २८ भागों में विभाजन हो रहा है, एवं वही तत्सजातीय मौम्यशुक्र में प्रतिष्ठित होकर प्रजातन्तुवितान का कारण बन रहा है। प्रजातन्तुवितानात्मक सापिण्ड्यभाष इस व्यशस्थित क्रम से मूलपुरुषपर्यन्त व्याप्त हो रहा है, जिस के यथावत विमर्श के अनन्तर पुद्गलेय में काम लेने वाले विचारशील को अगुमात्र भी मन्देह नहीं हो सकता। परन्तु अभि-निविष्ट प्रजापति की दृष्टि में इस प्रत्यक्ष-स्थिति का भी तथैव कोई महत्त्व नहीं है, जब तक कि उसे प्रमाणों में गन्तुष्ट न कर दिया जाय। जिन का यह आपह है कि, प्रत्येक विषय के लिए प्रमाण होना चाहिए, फिर भले ही वह विषय कुट्टिम्य ही क्यों न हो, प्रमाण भी चेदरात्रय का, तत्रात्र भी मूलमहिम्नाभाग का प्रमाण ही वस्तुगत्या प्रमाण माना जायगा। प्रमाणवादियों की मंहिता-

भक्ति का हृदय से अभिनन्दन करते हुए, साथ ही यह भी समझते हुए कि, यदि बतलाये गए संहिता-प्रमाणों से कहीं उन अमिनिविष्टों का कल्पित सिद्धान्त उच्छिन्न होता हुआ उन्हें प्रतीत होगा, तो वे तद्विषयक संहिता-प्रमाणों को भी प्रक्षिप्त कहने में अपने चिराभ्यस्त अभ्यास का ही अनुगमन करेंगे, केवल कर्त्तव्यबुद्धि से प्रजातन्तुवितानात्मक कुछ एक प्रमाण उद्धृत कर दिए जाते हैं। इस प्रमाणवाद का यह फल अवश्यंभावी है कि, जो मुग्ध जिज्ञासु इन शास्त्रतत्त्वानभिज्ञ-आडम्बरप्रिय-कुतर्कशिरोमणि-वेदमूर्खों के अशास्त्रीय वाग्जाल के व्यामोह में पड़ कर शास्त्रीय कर्मों की उपेक्षा कर बैठते हैं, वे अवश्यमेव अपना पथ प्रशस्त बना सकेंगे। “जीवित पिता पितामहादि अथर्व पितर हैं, इन का श्रद्धा से पूजन करना भी शास्त्रसम्मत है” इस निष्ठा को सर्वथा सुरक्षित रखते हुए “श्रद्धाकर्मफलभोक्ता पितर प्रेत पितर हैं, पुत्रादि के द्वारा प्रदत्त पितृ-प्राण इन परलोकगत प्रेतात्माओं की तृप्ति का कारण बनता है”, इस सिद्धान्त के उपोद्बलक प्रमाण ‘पितृणां पितरोपनिषत्’ में बतलाया जा चुके हैं। प्रकृत में केवल प्रजातन्तुवितानात्मक मापि-एकभाव से सम्बन्ध रखने वाले कुछ एक प्रमाणों की ही मोमांसा की जायगी।

शुक्रस्थित ८४ कल पितृसहस्रों में पूर्वप्रदर्शित ‘पितरः-सूतवः’-‘आत्मधेयः-तन्यः’ विभागों से सम्बन्ध रखने वाले श्रद्धा-धन भावों के आधार पर विश्व पाठकों को यह भलीभाँति विदित हो गया होगा कि, महानात्मगत ‘पितृसहस्रसूत्र’ एक महासूत्र है, उलम्ब हुआ धागा है। जिस प्रकार एक तन्तुवाय (कपड़ा बुनने वाला जुलाहा) ताने बाने लगाकर सूत्र विन्यास से कपड़ा बुनता है, ठीक उसी रूप से महद्वयच्छिन्न अन्तर्यामी इन सहस्रसूत्रों से प्रजारूप वस्त्र का निर्माण कर रहे हैं। कपड़े में जो सीधे धागे होते हैं, उन्हें ‘ताना’ कहा जाता है, एवं ‘आड़े’ धागे ‘बाना’ नाम से प्रसिद्ध हैं। ताने पर बाना होने से ही वस्त्र का स्वरूप सम्पन्न होता है। एवं इन तानों-बानों के उपक्रम में एक सूँटा गड़ा रहता है, जहाँ से जुलाहा यह वितानप्रक्रिया आरम्भ करता है। बीजी नामक मूलपुरुष सूँटा है, महद्वयच्छिन्न अन्तर्यामी जुलाहा है, पुत्र-पौत्रादि में श्रद्धाभाय से वितत होने वाला तन्य भाग ‘ताना’ है, तन्य पर प्रतिष्ठित रहने वाला आत्मधेयभाग ‘बाना’ है। यही प्रजातन्तुवितान-लक्षण वस्त्र है, जोकि—परामुक्ति के सम्बन्ध में निर्णय माना गया है। पितृसूत्र-रूपा पुत्र-पौत्रादि की एषणा कभी परामुक्ति का कारण नहीं बन सकती। इसके लिए तो—

‘तमेव विदित्वातिमृत्पुमेति नान्यः पन्था विधत्ते अयनाय ।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।

तदा देवमवित्राय दुःशस्यान्तो भविष्यति”

के अनुसार समानप्रत्ययप्रवाहरूप बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग (आत्मयोध) ही अपेक्षित है। स्थानाध्वन्य मन्त्र कवीर ने इसी भावना से प्रजातन्तुवितानरूपा पुष्टेयणा को मुक्तिपथ में निर्णय साधन मानते हुए अपनी निम्न लिखित भाषामूर्ति से प्रकट किया है—

“ताना दम काः ताना रे-

तू तो बंदा जुलाहा रे

दास कबीरा बुनने लाग़ा निकला घागा कच्चा । ताना० ।”

चान्द्रसुपुष्पा नाड़ी के द्वारा आगत चान्द्ररस से १० मास में निष्पन्न यह एक पितृपद विशुद्ध पुत्रैषणा से जहाँ बन्धन का कारण बनता है, वहाँ यही पद निष्कामभावानुगत सृष्टिप्रक्रिया को मुख्य बनाता हुआ स्वयमपि स्वस्वरूप से शुद्ध पूत बना रहता है, एवं वंशधरों के लिए भी निर्मल-आभयदाता बना रहता है । कबीर की एक अन्य सूक्ति से पितृपद के इसी स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों में विरलेषण हुआ है—

भीनी भीनी बीनी चदरिया—

काहे का ताना, काहे कै भरनी—

कौन तार से बीनी चदरिया ॥ १ ॥

इंगला पिंगला ताना भरनी ।

सुपमन तार से बीनी चदरिया ॥ २ ॥

आठ कैवल दल चरन्ना डोलै ।

पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया ॥ ३ ॥

माँइ को मियत मास दस लागे ।

ठोक ठोक के बीनी चदरिया ॥ ४ ॥

दास कबीर जतन से ओढी ।

ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ॥ ४ ॥

हो, तो अब प्रतिज्ञात प्रमाणवाद की सीमांमा कीजिये । “पुरुष का शुक्र पितृप्राणमय है । इस शुक्र में चन्द्रमा श्वेतु के द्वारा पितृप्राण प्रतिष्ठित करते हैं” इस सम्बन्ध में प्रथम ब्राह्मण भाग का प्रमाण देमिये । यद्यपि यह प्रमाण पूर्व में ‘रेत-योनि-रेतोषा’ का विरलेषण करते हुए उद्धृत हो चुका है । तथापि यहाँ अर्धदृष्टि-सम्बन्ध से उसे पुनः उद्धृत कर देना आवश्यक मान लिया गया है—

१—“विचक्षणाद् श्वेतवो रेत आमृतं पञ्चदशात् प्रसुतात् पितृवतः ।

तन्मा पुंसि कर्तव्यैरपध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मा निरिञ्चः ॥

२—म जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासः ।

द्वादश त्रयोदशेन पित्रा मं तद्विदेहं प्रतिनद्विदेऽहम् ॥

३—तन्म ऋतवो अमर्त्यव आरभध्वं तेन सत्येन ।

तपसा ऋतुरस्मि आर्चोऽस्मि कोऽसि त्वमसि" ( कौ० ब्रा० उप० १।२। )

४—"असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमाः" ( कौ० ब्रा० ७।१० ) ।

५—"रेतः सोमः" ( कौ० ब्रा० १३।७। ) ।

सम्पूर्ण पार्थिव पदार्थ चन्द्रमा से उत्पन्न हुए हैं । 'सौपुम्यश्चान्द्ररश्मिः' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार सौरप्राण सुपुम्या नाड़ी के द्वारा ( जो कि सुपुम्यानाड़ी दत्तवृत्त नामक चान्द्रपरिभ्रमणवृत्त की दोनों परधियों का स्पर्श करती हुई आगे व्याप्त रहती है ) पृथिवी पर आता रहता है । इसी नाड़ी के द्वारा नाक्षत्रिक प्राणों का आगमन होता है । मद्-नक्षत्र-सौर द्वारों आदित्य, आवि आधिदैविक प्राण सुपुम्या के द्वारा पृथिवी पर आते अग्रसर हैं, परन्तु मध्यस्था चान्द्रकक्षा के सम्बन्ध से इन प्राणों को पहिले चान्द्र मण्डल में भुक्त होना पड़ता है । यहाँ आकर चान्द्ररस से संश्लिष्ट होकर ही ये पार्थिव प्रजा के उपादान बनने पाते हैं । दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का इन शब्दों में भी अभिनय किया जा सकता है कि, आगत विविध भाषापन्न आधिदैविक प्राणों के समन्वय से नानाभाष में परिणत चान्द्ररस ही नानाभाषापन्न पार्थिव पदार्थों का उपादान बनता है । इस विविध प्राण भोग सम्बन्ध से ही चन्द्रमा 'विचक्षण' नाम से व्ययहृत हुआ है ।

विचक्षण चन्द्रमा को स्वसृष्टि-प्रक्रिया साफल्य के लिए ऋतु का आश्रय लेना पड़ता है । बिना ऋतु के वह उपादान कर्म में सर्वथा अमर्थ है । तत्तद्ऋतुप्राण के समन्वय से ही चन्द्रमा तत्तत् पदार्थों का उपादान बनता है । ऋतुकाल में ही चन्द्रमा स्वसौम्य रेत का आधान करता है । चन्द्रमा में रहने वाला सौम्यप्राण पितर है । तद्यत् सोमरस ही रेतोरूप में परिणत होता हुआ पुरुष-सृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है । अतएव उस के लिए 'पित्र्यवतः' कहाँ सर्वथा अन्वर्थ बनता है । शुक्लपक्ष में चान्द्ररस इन्द्र द्वारा अभिभूत है, जैसा कि पृथ्वी में विस्तार से बतलाया जा चुका है । अतएव इस पक्ष की चान्द्ररस-सम्पत्ति से पार्थिवप्रजा धञ्चित रहती है । यदि अनुराग-उज्ज्वल-रूप से शुक्लपक्ष में चान्द्ररस का आगमन मान भी लिया जाय, तब भी पितृसहोभाग का आगमन तो इस पक्ष में अमन्वय ही है । पञ्चदशकलोपेत-कृष्णपक्षाधिपता-वितृप्राणयुक्त चान्द्रसोम ही ऋतु के समन्वय से अन्न में प्रतिष्ठित हो कर रेतोरूप में परिणत होता हुआ पुरुषप्रसूति का कारण बनता है । क्योंकि शुक्लपक्ष में चान्द्रसोम देवप्राण-प्रधान रहता है । स्वगत पितृभाग का विकास कृष्णपक्षीय चान्द्रसोम ही माना गया है । इसी रहस्य को सूचित करने के लिए—'पञ्चदशान् प्रसूतान् पित्र्यवतः' कहा गया है ।

वह चान्द्ररेत रेत-सेक करने वाले मुक्त पिता में प्रतिष्ठित होता है । उस रेत की मातृ-शोणितगत योपिदग्नि में आहुति होकर प्रजारूप में परिणति होती है । चान्द्र सम्यत्सर प्रयोदश



मासात्मक है। इस एक चान्द्र सम्बत्सर में गर्भ पूर्णवियव बनता है। चान्द्रभाग की दृष्टि से यह पुरुष पितृप्राणमूर्ति है, ऋतुदृष्टि से ऋतुरूप है, शोणितदृष्टि से आर्त्तवरूप है। प्रकृत श्रौत वचन विस्पष्ट शब्दों में इसी चान्द्रमृष्टिप्राधान्य का समर्थन कर रहे हैं। 'चन्द्रमा के द्वारा पितृप्राण का शुक्र में समावेश हुआ, वही सहोरूप चान्द्र भाग ऋण धन-द्वारा प्रजातन्तुरूप में परिणत हुआ' इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए इस से बढ़ कर और क्या प्रमाण होगा। अब उन संहिता-प्रमाणों की मीमांसा अपेक्षित है, जो विस्पष्ट शब्दों में 'पितरः-सूनवः-आत्मधेयाः, तन्याः', रूप से ध.जी द्वारा प्रजातन्तु-वितान का समर्थन कर रहे हैं। 'सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्' की मौलिक उपपत्ति का विरलेपण करते हुए मद्रिं दीर्घतमा कहते हैं—

१—को ददर्श प्रथमं जायमानमस्थन्वन्तं यदनस्था विभर्त्ति ।

भूम्या असुरसृगात्मा क्वस्वित् को विद्वांसमुपगात् प्रदुमेतत् ॥

२—पाकः पृच्छामि मनसाविज्ञानं देवानामेना निहिता पदानि ।

वत्से वृष्कपेधि सप्ततन्तू विततिरे कवय ओतवा उ ॥

३—अचिकित्वाञ्चिकितुपरिचदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान् ।

वि यस्तस्तम्म पडिमा रजास्यजस्य रूपं किमपि स्विदेकम् ॥

—ऋक्सं० १।१६४।४, ४, ६, मं० ।

४—माता पितरमत आबभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे ।

सा धीमन्सुर्गर्भरसा निविद्धा नभस्वन् इदृषवाकमीयुः ॥

—ऋक्सं० १।१६४।२ ।

५—स्त्रियः सतीस्तां उ मे पुंम आहुः पदचरणान्विचेतदन्धः ।

कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता विज्ञानात् स पितुष्पितासन् ॥

६—अवः परेण पर एनावरेण पदा क्त्वं विभ्रती गौरुदस्यात् ।

मा कद्रीची कंत्स्विदधं परागान् क्वाचित्मृते न हि युधे अन्तः ॥

७—अवः परेण पितरं यो अस्यानुवेद पर एनावरेण ।

कवीयमानः क इह प्रवोचदेवं मनः कुतो अधिप्रजातम् ॥

८—ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः ।

इन्द्ररच या चक्रयुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥

—ऋक्मं० १ । १६४ । १६, १७, १८, १९, मं० ।

वेदसिद्ध सामान्य परिमाणानुसार 'विज्ञान' प्रतिपादक मन्त्रों के आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तनों पक्षों में अर्थ होते हैं, जैसा कि—ब्राह्मणग्रन्थोक्त 'इति नु-अधिदैवतम्'—इति नु-ध्यात्मम्—'इति नु-अधिभूतम्' इत्यादि वचनों से भी प्रमाणित है। इसी सामान्य नियम के अनुसार उक्त मन्त्रों का भी आधिदैविक सौरमण्डल, आधिभौतिक पार्थिवविद्युत्, आध्यात्मिक शरीर, प्रपञ्च, तीनों के साथ सम्बन्ध हो रहा है। सर्वश्री सायणाचार्य ने विशेषतः आधिदैविक अर्थ का ही समादर किया है, जो कि समादर यज्ञैतिकर्तव्यता की दृष्टि से किमी सीमापर्यन्त मान्य कहा जा सकता है। वैध यज्ञकर्म पार्थिव विद्युत् के आधार पर वित्त हैं, पार्थिव यज्ञ आधिदैविक सौरयज्ञ के आधार पर वित्त हैं, जैसा कि—“यद्देवा अकुर्वन्स्तत्करवाणि, देवाननु विधा यं मनुष्याः, देवानामिदयो महत्तदावृणीमहे, अविदाम देवान् स्वर्ज्योतिः” इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसी यज्ञमूलता को सिद्ध करने के लिए आचार्य ने प्रायः आधिदैविक अर्थ का ही आश्रय लिया है। उदाहरण के लिए उक्त मन्त्र समष्टि में से द्वितीय 'पाकः पृच्छामि०' इत्यादि 'मन्त्र के भाष्य पर ही दृष्टि डालिए ।

“विशुद्धहृदय-दम्भशून्य-में अपने मन से (इस गभीरतन्त्र को) न जानता हुआ (जिज्ञासा रूप से) प्रश्न करता हूँ कि, ये जो देवताओं के स्थान हैं, वे अत्यन्त निगूढ़ होने से संशयास्पद हैं। एक हायनात्मक इस आदित्य में ममसंस्थ सोमतन्त्रों को जानकर यजमान पिरोते हैं। अथवा मत्त-संस्थारूप तिर्यक् तन्त्रसन्तान के लिए सात छन्दों का वितान करते हैं।” भाष्यकार का अभिप्राय यही है कि—“मूर्त्य में परमेष्ठ्य सोम निरन्तर आहुत हो रहा है। इसी सोमाहुति से प्राकृतिक (आधिदैविक) मत्तसंस्थ ज्योतिष्टोमयज्ञ का वितान हो रहा है, जिस के आधार पर यज्ञकर्त्ता यजमान वैध ज्योतिष्टोम यज्ञ का वितान करने में समर्थ होते हैं। सात संस्थाओं में विभक्त ज्योतिष्टोम ही सौर देवताओं के निगूढ़ पद हैं। अथवा जिन गायत्र्यादि सात छन्दों के आधार पर सौरप्राणदेवता यज्ञवितान करने में समर्थ होते हैं, वे छन्द ही देवताओं के निगूढ़ पद हैं।” अथ उस आध्यात्मिक अर्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिसका 'मापित्व-विज्ञान' से सम्बन्ध है ।

१—को ददर्श०

'प्रजातन्तुवितान' के आलोडन-विलोडन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, प्रत्येक पुरुष की उत्पत्ति उसके पिता के २१ महोभागों के अणु से हुई है। पुरुषोपनिषद् और-

पातक आत्मा जब भी 'जायमान उपजायमानः' ( कौपीतिकब्राह्मणोपनिषत् ) के अनुसार धरा-तल पर जन्म लेगा, अवश्यमेव उसे पिता के शुक्रगत २१ कलात्मक सहोभाग का ऋण लेना पड़ेगा। अब इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि, यह जन्मभाव यदि सादि-सान्त-प्रवाह है, तो इस का मूलपुरुष कौन ?। अवश्य ही उस समय हमारी विचारशक्ति कुण्ठित हो जाती है, जब हम 'प्रथमं जायमानं को ददर्श' पर दृष्टि डालते हैं। पिता-पितामह-प्रपितामहादि सैंकड़ों, असंख्य-परम्पराओं को सामने रखते जाइए, सर्वत्र प्रथमजन्मग्रहण करने वाले का अभाव मिलेगा। ओर मिलेगी यही परिस्थिति कि, २१ बीजी से लेकर ही पुत्रादि का जन्म हुआ है। सब से पहिला बीजी कौन, जिसने किसी से पितृसह-उधार न लेकर स्वयं अपने से ही मापिएह्य वितान का उपक्रम किया ?। सब से पहिला औपपातिक आत्मा कौन, जिसे ऋण लेने की आवश्यकता न हुई हो, अपितु अयोनिज-भाव से जो अपने आप ही उत्पन्न हो गया हो, एवं जिमने वंशपरम्परा का विधान आरम्भ किया हो ?। सचमुच न तो आज तक इस पहली का समाधान ही हुआ, एवं न कोई जिज्ञासु इस प्रश्न को लेकर आज तक किसी विद्वान् से पूछने ही गया—'बवरिवत् को विद्वांसमुपगात् प्रष्टुमेतत्'।

'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया' न्याय से सृष्टिमर्यादा में अन्तर्भूत तत्त्वों के कारण ही मीमांस्य मानें गए हैं। इन्द्रियातीत-विश्वातीत-अप्रतर्क्य-अनिर्देश्य विषयों की मीमांसा अतिप्रश्न है। सर्वप्रथम जन्मसृष्टि का उपक्रम कैसे, कहाँ से, क्यों हुआ ? ये सभी प्रश्न मानवीय बुद्धि से परे की वस्तु हैं। 'योऽस्याध्यक्षः, परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद' ( तैत्तिरीयब्राह्मण ) के अनुसार अतिप्रश्न सर्वथा अचिन्त्य हैं। 'को ददर्श' इत्यादिमन्त्र ने इसी अचिन्त्यभाव का समर्थन किया है। निम्न लिखित वचन भी इसी स्थिति का समर्थक बन रहा है—

अचिन्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥

'सापिएह्यभाव कार्यत्मक विश्वप्रपञ्च में अन्तर्भूत है। इसका मूलकारण मूलप्रकृति है, जिसका विचार सर्वथा अचिन्त्य है। 'प्रथमं जायमानं को ददर्श' का उत्तर है—'मूलकारणं न कोऽपि ददर्श'। इस अचिन्त्य मूल बीजी से (जिसे हम प्रथम जायमान कहेंगे) जिस सापिएह्यभाव का वितान उपग्रान्त हुआ, कार्यभूत उस सापिएह्य की मीमांसा अवश्य ही चिन्त्यभाव है, जिसके भूमि, अक्षु, अक्षक्, आत्मा, ये चार अंश-विभाग माने गये हैं। पुरुष को 'आत्मा, शरीर', इन दो मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है। आत्मा से शुक्रमय यह महानात्मा अभिप्रेत है, जो औपपातिक-आत्मा की आभयभूमि बनना है। पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर इस आत्मा की भूमि (आवतन) है। इस भूमि (शरीर) का स्वरूप रक्षक अक्षु (प्राण) है। प्राणमि जब तक शरीर-भूतों में अन्तर्गम सम्बन्ध से प्रांतस्थित रहता है, सभी तक शरीर-सरञ्चित रहता है। प्राणमि की स्वरूपरक्षा अक्षक्

(रुधिर) पर अवलम्बित है। हृदय के द्वारा जब तक रक्त का संचार होता रहता है, तभी तक प्राणामि सुरक्षित रहता है। रुधिर के प्रभूतमात्रा में निकल जाने पर शरीरपट्टि निश्चेष्ट होती देखी गई है। रुधिर की स्वरूपरक्षा, किंवा रुधिर सञ्चरण प्रक्रिया की स्वरूपरक्षा आत्मा (चेतना) पर अवलम्बित है। इस प्रकार भूमि-असु-असृक्-आत्मा, इन चारों का पारस्परिक उपकार्योपकारक सम्बन्ध बना हुआ है।

इन चारों में भूमि (शरीर), और असृक् (रुधिर), ये दो तो भूतप्रधान हैं, स्थूल हैं; अतएव अस्थिमत् हैं। असु (प्राण), आत्मा (महान्) दो प्राणप्रधान हैं, सूक्ष्म हैं, अतएव अस्थिमत् हैं। आश्चर्य है कि, एक बिना हड्डी वाले ने हड्डी वाले का भार अपने ऊपर वहन कर रखा है। सूक्ष्मजगत् स्थूल की प्रतिष्ठा बन रहा है। प्राणात्मक महानात्मा ही रुधिरात्मक शरीर की प्रतिष्ठा बन रहा है। अशरीर महान् ही सापिण्ड्यभाव का प्रवर्तक बनता हुआ शरीरों में प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित हो रहा है। निम्न लिखित उपनिषद्भूति भी शुक्रस्थित महानात्मा के इसी अशरीर-अन-स्थाभाव का स्पष्टीकरण कर रही है—

अशरीरं शरीरेषु, अनवरथेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभ्रुमान्मानं भृत्ता धीरो न शोचति ॥

—१—

२—पाकः पृच्छामि०

जिन वस्तुतत्त्वों के मूलकारण विभर्गर्भ में भुक्त होने से चिन्त्य हैं, उनके सम्बन्ध में परीक्षा प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले जन्म का, तथा असृया से सम्बन्ध रखने वाली वितण्डा का भी समादर किया जा सकता है। परन्तु जिसका कारण अचिन्त्य है, उस से सम्बद्ध वस्तुतत्त्वों के सम्बन्ध में जिज्ञासात्मक वादप्रश्न ही श्रेयस्कर है। ऐसा जिज्ञासात्मक प्रश्न ही वेदभाषा में 'पाकः प्रश्न' कहलाया है। पूर्वमन्त्र-व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है कि, 'प्रथमं जायमानं' का प्रश्न अचिन्त्य है। इसी से मित्र हो जाता है कि, विभ्रमर्यादा में भुक्त काव्यात्मक सापिण्ड्यभाव के सम्बन्ध में अवश्य ही सीमांका की जा सकती है, परन्तु 'पाकेन मनसा'। शुनर्कवृद्धि से होने वाले प्रश्न कभी ऐसे तत्त्वों के निर्णायक नहीं बन सकते। इसी प्रश्नमर्यादा को लक्ष्य में रखते हुए श्रवि ने 'मप्रतनुविधान' का स्वरूप हमारे सामने रखा है।

देवताओं के निगूढ (परोक्ष) पदों के सम्बन्ध में उत्तरगर्भित प्रश्न हुआ है, जो कि वेदशास्त्र की एक स्वाभाविक शैली है। आध्यात्मिक संस्था के अन्तर्गत, प्रज्ञाननुविधान का महानात्मा ही देवताओं के निगूढ पद है। एक पद नहीं, अपितु ७ पद है। आनेय-मीमंसा, वेद के देवता दो भागों में

विभक्त हैं। दोनों की समष्टि 'अग्नीषोमीयदेवता' नाम से प्रसिद्ध है। महानात्मा के आरम्भक शुक्र शोणित वतलाए गए हैं। शुक्र सौम्य है, शोणित आग्नेय है। इस दृष्टि से उभयमूर्ति बना हुआ महानात्मा क्योंकि शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इस में सोम का प्राधान्य है। अग्निगर्भित सोम ही महानात्मा की प्रधान प्रतिष्ठा है। यह सोम सौम्य चान्द्रग्राण से युक्त है, जिसे 'पितृ-सह' कहा गया है, एवं जिस की २८ कला वतलाई गई हैं। अष्टाविंशतिकल अग्निगर्भित सोम-मूर्ति महानात्मा की २८ कलाओं का बीजी-पुत्र-पौत्रादिरूप से सात तन्तुओं में वितान हुआ है। प्रकृत मन्त्र इसी सप्ततन्तु वितान का चिरलेपण कर रहा है।

'वष्कय' शब्द का अर्थ है 'तरुण'। संस्कृत साहित्य में जिस अर्थ में तरुण, युवा, अपत्य, आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उसी अर्थ में वैदिक भाषा में 'वष्कय, वष्कयण, वष्कयणी' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। प्रजातन्तु को वितत करने की शक्ति (प्रजननशक्ति) वष्कय से ही सम्बन्ध रखती है। उसी में उत्पादन योग्यता प्रतिष्ठित रहती है। ऐसे वष्कय (तरुण) यत्स (पुत्र) में अपने आप में प्रतिष्ठित (पितृतन्तुओं को) पुन-सन्तत करने के लिए कविलोग (बीजीपुरुष) वितत किया करते हैं, जिनके वितानों में देवताओं के पद निहित रहते हैं।

पिता अपने पुत्र में 'ओत धै-उ' प्रयोजन के लिए सात तन्तुओं का वितान करता है। पिता स्वयं वितान नहीं करता, अपितु कविलोग वितान करते हैं। भार्गवतत्त्व ही कवि है। महानात्मा में प्रतिष्ठित सौम्यग्राण भार्गव होने से 'कवि' है। यह भी एक नहीं, २८ हैं। इसीलिए 'कवयः' प्रयुक्त हुआ है। इन्हीं के द्वारा तो २१-१५-१०-इत्यादि क्रम से सात पीढ़ी पर्यन्त वितान हुआ है। केवल पुत्र में ही वितान नहीं होता, अपितु परम्परया पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि ७ पर्यन्त वितान होता है। इसीलिए 'उ' का प्रयोग हुआ है। इसप्रकार बीजी पुरुष अपने सहोभागों का पुत्रद्वारा सातवीं पीढ़ी पर्यन्त वितान करता है। बीजी के वेषपद इस तननप्रक्रिया से सात स्थानों में निगूढरूप से प्रतिष्ठित रहते हैं। इस दृष्टि से सिद्ध हो जाता है कि, प्रकृतमन्त्र सप्ततन्तुवितानात्मक सापिण्ड्यभाव का ही समर्थक बन रहा है।

### ३—अचिकित्सान०

मन्त्रार्थ स्पष्ट है। 'मैं स्वयं इस विषय में उद्घापोह करने में असमर्थ, उद्घापोह करने में समर्थ विद्वानों से इसलिये इस विषय में कुछ जानना चाहता हूँ कि, मैं स्वयं इस विषय से अनभिज्ञ हूँ। जानने का विषय यही है कि—जिस एकने ६ राजों को अपने में घट कर रक्खा है, उस का क्या स्वरूप है? (महानात्मा का क्या स्वरूप है?)। तन्तुवितानकर्म में एक मूलप्रतिष्ठा होती है, जिसके आधार पर घट तन्तु आगे वितन होते हैं। बीजी पुरुष का महानात्मा ही वैसा मूलस्तम्भ है जिसे आधार बना कर पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-वृद्धप्रपौत्र-अतिवृद्धप्रपौत्र-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र, ये ६ राज आगे

आगे वितत होते हैं। सप्तपुरुषों में बीजी स्थिर धन होने से अस्थिर रजोमय्यादि से बहिर्भूत मान लिया गया है। एवं स्थिर बीजी के आधार से प्रक्रान्त ६ पुरुष प्रक्रान्तिसम्बन्ध से 'रजानि' मान लिए गए हैं।

#### ४—मातापितरः

बीजी के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा ६ रजो भागों के वैतानिक रूपों की मूलप्रतिष्ठा बनता है, यह पूर्वमन्त्र में कहा गया है। अब महानात्मा के आधिर्भाव का इतिवृत्त बतलाया जाता है। माता (पत्नी) पिता (पति) के ऋतभाग को उस के शरीर से व्युत्कर उसे अपने गर्भाशय में प्रतिष्ठित कर गर्भस्वरूप का आधिर्भाव करने में समर्थ होती है। 'प्रजोत्सादनमहं करिष्ये' इस प्राथमिक संकल्प से पुरुष (पिता) दाम्पत्य कर्म में प्रवृत्त होता है। स्त्री (माता) इस कर्म की अर्द्धाङ्गिनी बनती है। मिथुनभाव-प्रवृत्ति का प्रारम्भिक संकल्प ही प्रथम दाम्पत्यभाव है, मानस संयोग है। इसी के लिए—'धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे' कहा गया है। इस प्राथमिक मानसिक संगम के अनन्तर दोनों का भौतिक (शारीरिक) सङ्गम होता है। मातृगत शोणित अग्निप्रधान होने से पितृगत सौम्य शुक्र का स्थभायतः आकर्षक है। इस मातृगत शोणितान्नि के आकर्षण से पिता के शरीर में विद्युत्-संचार होता है। फलतः शुक्र में लोभ उत्पन्न हो जाता है। बुद्धि शुक्र इस प्रकार माता के आकर्षण से पिता के शरीर से व्युत्त हो जाता है। अप्रतत्त्व ही ऋत है, जिस के 'आपः-वायुः-सोमः' भेद से तीन विवर्त्त माने गए हैं। शुक्र में आपोभाग प्रत्यक्ष है, एवयामरुत् नामक रेतोधा वायु अनुमेय है, २८ सौम्यप्राणायच्छिन्न सोमभाग प्रत्यक्ष है। इसी ऋतसम्पत्ति के कारण शुक्र को 'ऋत' कहा गया है।

दाम्पत्यभाव - कामुका वह स्त्री पुरुष-शरीर के माध्वेक्य-भाव में आती हुई शुक्रप्रदण-काल में कम्पित हो जाती है। यही इसका गर्भरसकाल (शुक्रप्रदणकाल) है। इस समय शुक्र शोणित का परस्पर ओन-प्रोत भाव होता है, यही इस का 'नितरां' विद्वकाल है। पुंभ्रूणाधिक्य से पुरुष-सन्तान, स्त्रीभ्रूणाधिक्य से कन्या सन्तान, उभयसाम्य से नपुंसक सन्तान, यथापरिस्थिति तीनों में से एक सन्तान गर्भीभूत हो जाती है। गर्भीभूत इन सन्तानों का पोषण मातृभूत अन्नद्वारा होता है, अतएव गर्भस्थ गर्भी की 'नमस्वान्' (अन्नवान्) संज्ञा हो जाती है। ये नमस्वन्त (गर्भस्थ तीनों में से एक सन्तति) चागव्यवहार के योग्य हो जाते हैं। अर्थात् गर्भधारणानन्तर लोक में इन गर्भों के लिए—'आशा है, लड़का लड़की होने वाला है' इत्यादि लोकोक्ति-यों प्रचलित हो जाती हैं। अथवा स्थूल-शुक्र-शोणित के मिथुनभाव में आना ही इस औपपातिक आत्मा का धामच्छद पाक-तत्त्व से युक्त हो जाना है। निष्कर्ष यही हुआ कि, माता के शोणितान्नि के आकर्षण से पिता के ऋतभाग (शुक्र) में विद्युत्प्रति भाव का समावेश हो जाता है। वही शुक्रवृत्ति मातृगर्भाशय में प्रविष्ट

हो अपत्यरूप में परिणत होती है। यही अपत्य महानात्मा की प्रतिष्ठा बनता है, जिसमें कि सपि-  
ण्डता प्रवर्त्तक रन् कल पितृसहःपिण्ड सुरक्षित है।

—४—

५—स्त्रियः सतीस्तां उ०

अग्नितत्त्व वृषा है, यही पुरुष है। सोमतत्त्व योषा है, यही स्त्री है। पुरुष का शरीर  
भूताग्निप्रधान होने से वृषा है, अतएव शरीरदृष्ट्या पुरुष पुरुष है। स्त्री का शरीर भूतसोमप्रधान  
होने से योषा है, अतएव शरीरदृष्ट्या स्त्री स्त्री है। पुरुष का शरीर आग्नेय है, अतएव वह पुरुष है।  
स्त्री का शरीर सौम्य है, अतएव वह स्त्री है। एवं इस भूताग्नि, भूतसोम से सम्बद्ध शरीरों की दृष्टि  
से पुरुष को पुरुष कहना, स्त्री को, स्त्री कहना यथार्थ है। परन्तु प्रतिष्ठाग्नि, तथा प्रतिष्ठासोम की  
दृष्टि से जब विचार किया जाता है, तो मानना पड़ता है कि, पुरुष वास्तव में स्त्री है, एवं स्त्री वास्तव में  
पुरुष है। पुरुष के आग्नेय शरीर की प्रतिष्ठा शुक्र माना गया है। शुक्रसत्ता ही पुरुष सत्ता का  
कारण है। शुक्र सौम्य है। सोम उक्त परिभाषानुसार योषास्थानीय बनता हुआ स्त्रीतत्त्व है। क्योंकि  
सौम्य स्त्रीतत्त्व शुक्ररूप से पुरुष की प्रतिष्ठा है, अतएव इस शुक्रप्रतिष्ठादृष्टि से आग्नेयशरीरावच्छिन्न  
पुरुष को पुरुष न कह कर स्त्री ही कहा जायगा। उधर स्त्री के सौम्य शरीर की प्रतिष्ठा शोणित  
माना गया है। शोणित आग्नेय है। अग्नि उक्त परिभाषानुसार वृषास्थानीय बनता हुआ पुरुषतत्त्व  
है। क्योंकि आग्नेय पुरुषतत्त्व शोणितरूप से स्त्री की प्रतिष्ठा है, अतएव इस शोणितप्रतिष्ठादृष्टि  
से सौम्यशरीरावच्छिन्ना स्त्री को स्त्री न कह कर पुरुष ही कहा जायगा। विशेषतः—महानात्मजनक  
दासपत्यभाय की दृष्टि से तो यही व्यवहार समीचीन माना जायगा। क्योंकि पुरुषशरीर—स्त्रीशरीर  
के मिथुनभाव से गर्भस्थिति नहीं होती। अपितु पूर्वमन्त्रकथनानुसार आग्नेय पुरुष के सौम्यशुक्र,  
तथा सौम्य स्त्री के आग्नेय शोणित के समन्वय से ही गर्भस्थिति होती है। इस प्रजनन कर्म की  
दृष्टि से पुरुष शुक्रावच्छेदेन स्त्री है, जिसे शरीरदृष्ट्या हम पुरुष कहा करते हैं। स्त्री शोणितावच्छेदेन  
पुरुष है, जिसे शरीरदृष्ट्या हम स्त्री कहा करते हैं। इसी मध्यम दृष्टि को लक्ष्य में रख कर ऋषि  
ने कहा है—“स्त्रियः सतीस्तां उ में पुंस आहुः”।

जिस प्रकार आग्नेय पुरुषशरीर, तथा सौम्य स्त्रीशरीररूप पुरुष—स्त्री का प्रथम युग्म गर्भ-  
स्थिति का कारण नहीं है, तथैव पुरुष का सौम्यशुक्ररूप स्त्रीतत्त्व, स्त्री का आग्नेय शोणितरूप  
पुरुषतत्त्व, स्त्री-पुरुष का (जिसे लोकव्यवहार में शरीरदृष्ट्या पुरुष स्त्री का) युग्म कहा जाता है, यन्तु-  
गत्या इस द्वितीय युग्म से भी गर्भस्थिति नहीं होती। अपितु एक तीसरे ही ‘योषा-वृषा’ के युग्म से  
प्रजननकर्म सम्पन्न होता है, जिसे धृति ने ‘कविपुत्र’ कहा है। शुक्र सौम्य है, इस दृष्टि से  
पुरुष स्त्री है, यह मान लिया। परन्तु सौम्य शुक्र के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला ‘पुंश्रूण’ आग्नेय-

वृषापाणप्रधान है, यही शुक्र की प्रतिष्ठा है। जिस प्रकार शरीरप्रतिष्ठा-दृष्टि से पुरुष-स्त्री कहलाया है, वहाँ शुक्र की प्रतिष्ठा की दृष्टि से इसे 'पुरुष' कहना ही न्यायसङ्गत बन सकता है। शोणित-आग्नेय है, एवं इस दृष्टि से स्त्री पुरुष है, यह भी मान लिया। परन्तु आग्नेय शोणित के गर्भ में प्रतिष्ठित रहने वाला 'स्त्रीभ्रूण' सौम्ययोपापाणप्रधान है, यही शोणित की प्रतिष्ठा है। जिम प्रकार शरीरप्रतिष्ठा की दृष्टि से स्त्री पुरुष कहलाई है, वहाँ शोणित की प्रतिष्ठा की दृष्टि से इसे स्त्री कहना ही अन्वर्थ बनता है। सौम्यशुक्र में प्रतिष्ठारूपेण प्रतिष्ठित आग्नेय वृषापाणात्मक पुंभ्रूण, तथा आग्नेय शोणित में प्रतिष्ठारूपेण प्रतिष्ठित सौम्य योपापाणात्मक स्त्रीभ्रूण, जब तक इन दोनों भ्रूणों का दाम्पत्यभाव नहीं हो जाता, तबतक शुक्र-शोणित का मिथुनभाव व्यर्थ है। अतएव हम कह सकते हैं कि, यस्तुगत्या यह तीसरा मिथुनभाव ही गर्भस्थिति का कारण है, जिस के लिए—'वृषा योपामनुधावति' कहा गया है।

जलक तीन युग्मों से अग्नि-सोम संस्था के तीन विभाग हमारे सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं। स्त्री-पुरुष के शरीरों का युग्म प्रथम युग्म है, स्त्री-पुरुष के शोणित-शुक्र का युग्म द्वितीय युग्म है, एवं स्त्रीपुरुष के स्त्रीभ्रूण-पुंभ्रूणों का युग्म तृतीय युग्म है। प्रथम युग्म की दृष्टि से पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है। द्वितीय युग्म की दृष्टि से पुरुष स्त्री है, स्त्री पुरुष है। एवं तृतीय युग्म की दृष्टि से पुनः पुरुष पुरुष है, स्त्री स्त्री है। पुरुषसंस्था मध्यदृष्टि से जहाँ स्त्रीप्रधाना है, वहाँ उपक्रमोपमंकार-दृष्ट्या पुरुषप्रधाना ही है। स्त्रीसंस्था मध्यदृष्टि से जहाँ पुरुषप्रधाना है, वहाँ उपक्रमोपमंकार-दृष्ट्या स्त्रीप्रधाना ही है।

~	१-पुरुषशरीरम्—आग्नेयम्	( पुरुषः )	}	
	२-स्त्रीशरीरम्—सौम्यम्	( स्त्री )		
~	१-पुरुषरेतः—सौम्यम्	( स्त्री )	}	पुरुषसंस्था
	२-स्त्रीशोणितम्—आग्नेयम्	( पुरुषः )		
~	१-पुरुषभ्रूणः—आग्नेयः	( पुरुषः )	}	स्त्रीसंस्था
	२-स्त्रीभ्रूणः—सौम्यः	( स्त्री )		



“उक्त रहस्य को न जानने वाले लौकिक पुरुष सर्वथा अन्ये हैं। रहस्य को जानने वाले ही आँख वाले हैं। किंवा आँखों वाले ही इस रहस्य को जान सकते हैं, अन्ये नहीं जान सकते” इस कथन से श्रुति को क्या आदेश देना है?, विचार कीजिए। विषयभोगपरायण कामकामी मनुष्य दाम्पत्यभाव का एक ही अर्थ समझते हैं—कामशान्ति, इन्हीं को ‘कामान्ध’ कहा गया है। कामान्ध व्यक्ति को यह विचारने की अपेक्षा नहीं है कि, मैं शुक का निरर्थक व्यवहार कर रहा हूँ, अथवा इसे सार्थक बना रहा हूँ। यह शुक पितृधनात्मक श्रुति है। फलतः ‘प्रजातन्तुसन्तान’ का ऐसे वैयक्तिक लौकिकपुरुष की दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं रह जाता। परन्तु जो विचारशील हैं, विज्ञानचक्षुष्क हैं, वे इस रहस्य को जान कर इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि, शुक-शोणित का मिथुनभाव केवल विषयवैषणा ही नहीं है, अपितु इसमें श्रुतिमोचन की यह गुप्तप्रक्रिया सुरक्षित है, जिसके अनुगमन करने के बिना कभी बन्धनमुक्ति नहीं हो सकती। इसी लक्ष्य से वे विवाहसूत्र में बद्ध होते हैं, श्रुतिकाल में यथानियम दाम्पत्यभाव का अनुगमन कर श्रुति से उद्धार होते हैं।

रेतःस्पृष्ट-विज्ञान के अनुसार पुरुष (बीजा) के शुक में प्रतिष्ठित पुम्भूत ही २१ मात्रा से पुत्ररूप में परिणत होता है। शुक सौम्य है, सोम-भारगव तत्त्व है। श्रुति ही कवि है। इस दृष्टि से इसे ध्येय ही कवि-पुत्र कहा जा सकता है। जो कवि (सोमात्मक रेत) है, यही शोणित-ताम्रि में जाकर पुत्ररूप में परिणत होता है। जो विद्वान् इस रहस्य को जान कर सापिण्ड्य दृष्टि से गर्भस्थिति का प्रवर्तक बनता है, वह अपने पिता का भी पिता बन जाता है। पिता के २१ अंश लेकर आज यह पुत्र बन रहा है। परन्तु यही प्रजातन्तु वितान द्वारा पिता से प्राप्त आत्मधैर्यरूप ७ कलाओं के प्रत्यर्पण से पिता के पिण्ड का पूरक बनता हुआ, चान्द्रलोकस्थ पिता के अपूर्ण स्वरूप को पूर्णरूप देता हुआ मन्त्रमुच्य ‘पितृपितामह’ को चरितार्थ कर रहा है।

—५—

६—अथः परं पर एना०

मन्त्र का अर्थ करते हुए मायणाचार्य ने कहा है कि, ‘अत्राग्नौ ह्यमानाहुतिर्गौरूपेण स्तूयते’। सायणाचार्य का अभिप्राय यही है कि, वैधव्य में आहवनीय अग्नि में जिस बल्ली सोम की आहुति दी जाती है, वह गौरूप (रश्मिरूप) में परिणत हो जाती है। यही मन्त्र का आधिभौतिक मन्त्र है। ‘आधिभौतिक मन्त्र’ की दृष्टि से मुख्य आहवनीय है, पारमेष्ठ्य सोम आहुति द्रव्य है। ‘द्वं ज्योतिषा विसमो वयस्य’ इत्यादि श्रुतिवर्णन के अनुसार सौरसापिनामि में हुत यह पारमेष्ठ्य सोम ही रश्मिरूप मन्त्र गौरूप में परिणत होता हुआ प्रकाशरूप में परिणत हो रहा है। हमें प्रश्न में आप्यातिनः दृष्टि से ही मन्त्र का समन्वय करना है।

मातृगर्भाशयस्थ शोणितमग्नि अग्नि है, पितृशुकस्य सोम सोम है। इस सौम्य शुक की

उस शोणिताम्र में आहुति होती है। इस आहुति से आहुत सोम शोणिताम्र के समन्वय से गौरूप में परिणत होता है। इस आध्यात्मिक रश्मिभाव से यह सोम पर अवर, दो भावों में वित्त हो जाता है। गर्भस्थित गर्भी वरस है। पुत्ररूप बीजा में पिता-पितामहादि ६ पीढ़ियों का ऊपर की ओर से सम्बन्ध रहता है, एवं स्वयं इसके सोमसहो का इसकी पुत्र-पौत्रादि ६ पीढ़ियों पर्यन्त वितान होता है। प्रत्येक पुत्र इस रश्मिभावात्मक सापिण्ड्यभाव से ६ परभावों से, ६ अवरभावों से युक्त रहता है। यह रश्मिरूपा सोमगवी पुत्र के निधन पर अंशतः कहाँ चली जाती है?, कहाँ अपना अंश समर्पण कर देती है?, यह परोक्ष विषय है, इन्द्रियातीत विषय है, इसी भाव को व्यक्त करने के लिए 'कन्नीची' शब्द प्रयुक्त हुआ है। सापिण्ड्य से सम्बन्ध रखने वाले इस तन्तुयूथ के विस्तार का जब हम विचार करने लगते हैं, तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। कहाँ से इस सन्तान परम्परा का उपक्रम हुआ?, कहाँ इसका अवसान होगा?, कौन यह मूलपुरुष है, जहाँ से सापिण्ड्यभाव आरम्भ हुआ?, कौन यह अन्तिम वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र है, जहाँ सापिण्ड्यभाव का आत्यन्तिक विग्राम हो जायगा?, सृष्टिगर्भ में इन प्रश्नों की इच्छा निर्धारित करना असम्भव ही है, जैसा कि—'को ददर्श प्रथमं जायमानम्' इत्यादि मन्त्रार्थ प्रकरण में कहा जा चुका है। सापिण्ड्यभावानुगुण इसी तन्तु-आनस्य का धुनि ने—'ववस्तिरु मृते नहि यूथे अन्ताः' इन शब्दों में अभिनय किया है।

—६—

### ७—अथः परोक्ष पितरम्०

पितृन्परम्परा से सम्बद्ध परभाव, पुत्रपरम्परा से सम्बद्ध अवर-भाव, दोनों के इमी आनस्य का दूसरे शब्दों में अभिनय करते हुए दीर्घतमा कहते हैं कि, पुत्र-पौत्रादि में स्थित पितर को ( पितृ-महः कलाओं को ) पिता-पितामहादि से युक्त, तथा पिता-पितामहादि को पुत्र-पौत्रादि से युक्त, इस प्रकार अवस्थानीय पुत्रादि का परस्थानीय पितादि से, तथा परस्थानीय पितादि का अवस्थानीय ( अवरस्थानीय ) पुत्रादि से जो स्वाभाविक तन्तु-वितान सम्बन्ध है, उसे जिस विद्वान् ने जान लिया है, ऐसे विद्वान् दुर्लभ हैं। आज तक कितने विद्वान् ऐसे हुए हैं, जिन्होंने इस परोक्ष अवर-पर, पर-अवर सम्बन्ध को देखा, और हमें धतलाया?, साथ ही किस मूल से इस सम्बन्ध सूत्र का आरम्भ हुआ?, कहाँ अवसान होगा?, ये सभी विषय सर्वमाधारण के लिए दुरधिगम्य हैं।

—७—

### ८—ये अर्वाञ्चस्तां उ०

पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि अवर प्रजावर्ग कहने का तो अर्थ है। परन्तु सापिण्ड्य सृष्टि से जब इन के शुक्र में प्रतिष्ठित पितृसहो का विचार किया जाता है, तो मानना पड़ता है कि, ये अर्वाञ्चः पुत्रादि पराञ्चः हैं। पिता-पितामहादि पराञ्चः हैं, उनके सहोभागों का अङ्गरूप से आदान

(ग्रहण) कर के ही तो इन पुत्रादि अर्वाञ्चों की स्वरूप-निष्पत्ति हुई है। इस ऋण के सम्बन्ध से अर्वाञ्चः पुत्रादि को अवश्य ही पराञ्चः कहा जा सकता है। एवमेव चन्द्रलोकगत पिता-पितामहादि पर प्रजावर्ग कहने को तो पराञ्चः है। परन्तु पृथिवी-लोकस्थ पुत्रादि में समर्पित अपने सहोभागों की दृष्टि से ये अर्वाञ्च हैं। पुत्रादि में इन पराञ्चः का ही तो ऋणभाग प्रतिष्ठित है। इसी से तो वे-श्राद्धपक्ष में अर्वाञ्चः बनते हैं। इस प्रकार अर्वाञ्चः पुत्रादि ऋण आदान से पराञ्चः बन रहे हैं, एवं पराञ्चः पितादि ऋणप्रदान से अर्वाञ्चः बन रहे हैं। पुत्रादि पितरभागों से युक्त रहते हुए पितादि बन रहे हैं, एवं पितादि पुत्रों में अन्य कला समर्पित करते हुए पुत्रादि बन रहे हैं।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। सर्वसाधारण में यह प्रसिद्ध है कि, पिता-पितामह-आदि पराचः है। परन्तु वस्तुतया ये पिता-पितामहादि अपने सहोभागों को पुत्रादि में प्रदान करने से पुत्रादि रूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहते हुए अर्वाञ्चः ही माने जायेंगे। इस प्रकार पुत्रादि में भुक्ति होने से वस्तुतः अर्वाञ्चः बने हुए पिता-पितामहादि को लोक में 'पराचः' कहा जा रहा है। एवमेव पुत्र-पुत्रादि लोकत्रयवहार में 'अर्वाञ्चः' कहला रहे हैं। परन्तु वस्तुतया ये पुत्र-पौत्रादि अपने पिता-पितामहारूप पराचों के ऋणभाग से स्वस्वरूप का निर्माण करने में समर्थ बनते हुए 'पराचः' हैं। इस प्रकार पिता-पितामहादि के पराचः भागों की भुक्ति से वस्तुतः पराचः बने हुए पुत्र-पौत्रादि को लोक में अर्वाञ्चः कहा जा रहा है।

वात यथार्थ में यह है कि, जिस प्रकार रथचक्र घूमता हुआ अर्वाञ्चः-पराचः भावों से बदलता रहता है, कभी ऊपर का चक्र नीचे आ जाता है, नीचे का चक्र ऊपर चला जाता है, इसी प्रकार चन्द्रगति की अपेक्षा से अर्वाञ्चः धुर भाग कभी पराचः बनते हैं, पराचः कभी अर्वाञ्चः बन जाते हैं। एवमेव इन्द्रलक्षण आत्मनाभि में प्रतिष्ठित मोमात्मक सहोभागों से निष्पन्न यह मन्तानचक्र अर्वाञ्चः से पराचः रूप में, पराचः से अर्वाञ्चः रूप में परिणत होता रहता है।

महर्षि बृहदुक्थ का प्रजातन्तुविज्ञानविज्ञान—

महर्षि शीर्षतमा के उक्त मन्त्रवर्णनों से हमें भान लेना पड़ता है कि, शास्त्रव- में शुक्रस्थ महानात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित चतुरशीतिक्रोपेत पितृमहःपितृ के आत्मधेय-तन्य भेद से दो विवर्त्त होते हैं। आत्मधेय पितृ की २२ कला स्वप्रतिष्ठा में उपयुक्त हैं, एवं तन्य-पितृ की २६ कला तन्तुयितान में उपयुक्त हैं। वैदिकदुर्ग में इस 'पितृपितृविज्ञान' के जानकार स्वल्प-संख्या में ही रहे होंगे, यह अनुमान हम आधार पर लगाया जा सकता है कि, ऋषियों का प्रधान लक्ष्य यज्ञकारण ही रहा है। यज्ञियतत्त्वों का समन्वय ही प्रधानतः ऋषियों का दृष्टिकोण रहा है। यही कारण है कि, ब्राह्मणग्रन्थों में यह ही संक्षेप से परिगणित स्थानों में ही 'पितृ-

‘पितृयज्ञ’ रूप से इस पितृ-विद्या का विश्लेषण हुआ है। और ऐसा होने का एक प्रधान कारण भी था। सूर्यमूला-त्रयीविद्या के आधार पर वितत यज्ञविद्या से सम्बन्ध रखने वाला वैधव्यकर्म अपूर्व-आविष्कारों का जनक है। इसके द्वारा विशेष-फलसिद्धियाँ सम्भव हैं। उधर परमेष्ठीमूलक, अथर्व-सूत्र पर प्रतिष्ठित आद्यकर्म केवल पितरप्राणवृत्ति का कारण है। इस के द्वारा यज्ञवत् लौकिक-पारलौकिक कोई अतिशयविशेष प्राप्त नहीं किया जा सकता। नित्यकाम्यलक्षण आद्यकर्म के करने से विशेष अतिशय तो नहीं होता, परन्तु न करने से हानि अवश्य है। यही नहीं, न करने से आत्ममुक्ति ही असम्भव है। इसी आधार पर—‘देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशि-  
ष्यते’ यह कहा गया है।

देवकार्यस्मकं यज्ञकर्म का जहाँ समष्टि से सम्बन्ध है, यहाँ पितृकार्यस्मक आद्यकर्म का व्यष्टि से सम्बन्ध है। अन्य कर्मों के द्वारा सम्पादित यज्ञकर्म देवतत्त्व का संसाहक बन-सकता है। यदि कोई भी ‘कारीरी इष्टि’ करेगा, वो वृष्टि हो जायगी, एवं सब प्रजावर्ग इस फल का भोक्ता बन जायगा परन्तु आद्यकर्म ऐसा नहीं है। जब तक प्रेतत्मा के पुत्रादि वंशज श्रद्धासूत्र-द्वारा स्वप्रेतपितरों के लिए पिण्डदानादि लक्षण आद्यकर्म नहीं करते, तब तक उन की वृत्ति, धन्धन-धिमोक, इन का वंश वितान, असम्भव है। इसी प्रातिरिक्-वैयक्तिक भाव के कारण देव-कार्य की अपेक्षा पितृकार्य का विशेष महत्त्व है। क्योंकि वह प्रातिरिक् कर्म है—इसलिए, साथ ही विशेषातिशयप्रवर्तक देवयज्ञ की भाँति तत्त्वाविष्कारों की दृष्टि से कोई सम्बन्ध न रखने के कारण पितृविज्ञानविषयक परामर्श कतिपय विद्वानों पर्यन्त ही सीमित रहा होगा, इस अनुमान का समर्थन किया जा सकता है।

महर्षि ‘बृहदुक्थ-वामदेव’ इस पितृविद्या के उस युग के महापण्डित माने जाते थे। इन की परंपरा में समय समय पर इस विषय को लेकर प्रश्नोत्तर हुआ करते थे। महर्षि दीर्घतमा ने—‘पाकः पृच्छामि०’ रूप से जो प्रश्न उठाए हैं, उन का सम्यक् समाधान हमें बृहदुक्थ के मन्त्रों से उपलब्ध हो रहा है। इस आधार पर बृहदुक्थ को इस विद्या का परंपारगामी विद्वान् कहा जा सकता है। दीर्घतमा ने ‘पाकः पृच्छामि०’ रूप से एतद्विषय में जो प्रश्न किए हैं, पहिले उन की भीमांसा कीजिए, अनन्तर बृहदुक्थ-समाज ने उन प्रश्नों का जो वैज्ञानिक समाधान किया, उन पर दृष्टि डालिए, पितृविद्या से सम्बन्ध रखने वाले सन्देश एवमन्तः निवृत्त हो जायेंगे।

हमारे पाञ्चभौतिक शरीर में ‘पितर’ कह कर व्यवहृत करने योग्य कोई तत्त्वविशेष प्रति-  
ष्ठित है। शरीरत्यागानन्तर यह पितर परलोक में जाता है, तद्वाधरों के द्वारा प्रदत्त पिण्ड परलोकगत पितर की वृत्ति का कारण बनता है” इन सब विषयों पर तब हमारा ध्यान सम्भव है, जब कि पहिले हमें यह विश्वास हो जाय कि, शरीर में अमुक स्थान पर तो पितर रहता है, अमुक प्रकार से प्रजा-

तन्तुवितान करता हुआ यह परलोक में चला जाता है, एवं अमुकसूत्र के द्वारा उसका ध्वंशधरो से अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। इसी स्थिति को लक्ष्य बनाते हुए दीर्घतमा के निम्न लिखित प्रश्न बृहदुक्त समाज में उपस्थित होते हैं—

“हम अपने शरीर में सर्वत्र देवतत्त्व का ही साम्राज्य देखते हैं। देवतत्त्व से अतिरिक्त, ‘पितृतत्त्व’ कहने योग्य तत्त्वान्तर शरीर में सर्वथा अनुपलब्ध है। यही प्रथम प्रश्न भूमिका है, जिसका विरलेपण यों किया जा सकता है। ‘वस्तिगुहा, उदरगुहा, उरोगुहा, शिरोगुहा’ भेद से आपाद-मस्तकावच्छिन्न पाञ्चभौतिक शरीर में चार गुहा मानी गई हैं। इन चारों में प्रत्येक में अग्नीषोमीय देवता प्रतिष्ठित हैं। प्रत्येक गुहा में प्रतिष्ठित यह देवतत्त्व सात-सात संख्या में विभक्त है। अतएव सप्तप्राणसमष्टिरूप इस देवसप्तक को ‘साकञ्ज’ कहा गया है। “अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्सोम, मारुतरसोम,” ये पाँच प्राणदेवता सुप्रसिद्ध हैं। पाँचों में आरम्भ के तीन आग्नेय देवता हैं, अन्त के दो सौम्य देवता हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, ‘भास्वर’ सोमात्मक मनोदेवात्मक देवता सर्वाङ्गशरीर को आशय, हृदय को प्रतिष्ठा, अन्न को प्रभय, बनाता हुआ शरीर में प्रतिष्ठित है। यह उस देवसप्तक से वृथक् है। देवसप्तक का केवल अग्नि-वायु-आदित्य-दिक्सोम, इन चार देवताओं के साथ ही सम्बन्ध है। चारों में आरम्भ के अग्निदेवता का एक विवर्त्त है, शेष तीनों के दो दो विवर्त्त हैं। फलतः ४ के ७ प्राणदेवता हो जाते हैं। इन्हीं साकञ्ज (सहोत्पन्न) सात देवप्राणों के स्थान बतलाती हुई श्रुति कहती है—

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं पडिद्यमा ऋपयो देवजा इति ।

तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥

(ऋक्सं० १।१६४।१४।)

‘अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्, आदिरपश्चदु-  
भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्, दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्” (ते० उ० २।४।) इत्यादि उप-  
निषद्श्रुति के अनुसार अवर्गविल-अर्धचमस शिरोगुहा में प्रतिष्ठित वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र, नामक इन्द्रिय देवता क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, दिक्सोम, देवताओं के ही प्रवर्गाश है। धागाधार मुख एक है, अतएव वाङ्मय अग्निदेवता एक ही स्वरूप में परिणत रहता है। शेष तीनों के नासिका, चक्षु, कर्ण, तीनों दो दो विवरों में विभक्त हैं, अतएव तत्र प्रतिष्ठित प्राणमय वायु, चक्षुर्मय आदित्य, श्रोत्रमय दिक्सोम, तीनों देवता दो दो विवर्त्तभावों में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार दो श्रोत्रप्राण, दो चक्षुः प्राण, दो नासाप्राण, ये तीन तो यमज (जोड़ते) हैं, सातवाँ सुखप्राण एकज है, एकाकी है। यही प्रथमसप्तक इस रूप से शिरोगुहा में प्रतिष्ठित है। सप्तधाविभक्त अग्नीषोमीय देवताओं का ही शिरोगुहा में साम्राज्य है।

यही स्थिति 'उरोगुहा' की है। दिक्सोमानुगत २ भुजा, आदित्यानुगत २ स्तन, वाय्वनुगत २ फुफ्फुस, अग्न्यनुगत १-हृदय, इस प्रकार उरोगुहा में भी अग्नीषोमीय देवसप्तक का ही साम्राज्य है। उदरगुहा में यकृत (जिगर)-प्लीहा (तिल्ली), ये दोनों दिक्सोमानुगत हैं २-बलोम आदित्यानुगत हैं, २-धृक्क वाय्वनुगत हैं, १-नाभि अग्न्यनुगता है। फलतः उदरगुहा में भी इस रूप से देवसप्तक का ही अनन्य प्रमुख सुरक्षित है। सर्वान्त की वस्तिगुहा में २-श्रोणी दिक्सोमानुगत हैं, २-मूत्र-रेतसी (नालिका द्वयी) आदित्यानुगत हैं, २-आण्ड वाय्वनुगत हैं, १-मूत्रद्वार अग्न्यनुगत है। इस प्रकार वस्तिगुहा में भी सप्तकविरहित अन्य प्राणविरोध का अभाव है। चार गुहाओं की समष्टि का ही नाम शरीर है। चारों गुहा स्थान देवप्राण से नित्य आक्रान्त हैं ॥ इन अग्नीषोमीय देवताओं के पद (स्थान) सर्वथा निश्चित (निश्चित, सुव्यवस्थित) हैं। कोई प्रदेश ऐसा नहीं, जहाँ देवप्राण व्याप्त न हो। ऐसी स्थिति में दीर्घतमा का प्रश्न स्वाभाविक मन जाता है कि, "जब कि सम्पूर्ण शरीर देवपदों से आक्रान्त है, तो फिर ऐसा रिक्त स्थान क्या ही कौनसा, जिसमें सप्ततन्तु पितान करने वाला पितर प्राण प्रतिष्ठित रहा ? इस प्रकार 'देवानामेना निहिता पदानि' से यही प्रश्न बृहदुक्थ-यामदेव के सम्मुख उपस्थित हुआ।

इस एक ही प्रश्न के साथ दो प्रश्न स्वयं ही ओर उपस्थित हो रहे हैं। "अग्निः सर्वा देवताः, वायुः सर्वा देवताः, इन्द्रः सर्वा देवताः" इन निगमयचर्चों के अनुसार प्राणाग्निदेवता सोमगर्भित अग्निप्रधान हैं, अग्निमय हैं। अग्नि अम्राट है, सोम अक्ष है। अम्राट अग्नि के गर्भ में भुक्त अन्नसोम अम्राटाग्निरूप में परिणत होता हुआ अपना सोमभाष छोड़ देता है, जैसाकि— 'अर्चं वाख्यायते नाद्यम्' (शत० ब्राह्मण) इत्यादि ब्राह्मण धृति से प्रमाणित है। इसी आधार पर कहा जा सकता है कि, अग्नि की ही घन-तरल-विरलावस्थाओं से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि-वायु-आदित्य, इन तीन प्रधान अग्नाद देवताओं की सीमा में प्रविष्ट दिक्सोमदेवता अग्निप्रधान बनता हुआ तद्रूप ही बन रहा है। फलतः सर्वज्ञशरीर में समानजातीय आग्नेय देवताओं का ही अ यतम प्रभुत्व सिद्ध हो रहा है। यद्यपि पितर प्राण 'आयन्तु नः पितरः सोम्यासः' (यजुःसं०) इत्यादि मन्त्रप्रमाण के अनुसार सोम्य बनते हुए इन शरीर आग्नेय प्राणदेवताओं की तुलना में 'विजातीय' हैं। एक विजातीय वृक्ष भी जहाँ दन्तच्छिद्रों में स्थान नहीं पा सकता, जब तक वह निकल नहीं जाता, तब तक इन्द्रिय देवता शान्त नहीं होते, तो ऐसी अवस्था में सर्वथा विजातीय एक नहीं, २५ सोम्य पितरप्राणों का शरीर में आगमन भी हो गया, ये प्रतिष्ठित भा हो गए, यह कैसे सम्भव है ? 'विजातीयत्वेन पितरप्राण का आगमन ही कैसे हुआ ?' यही दूसरा प्रश्न है।

७ सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मान् सप्तार्चिः समिधः सज्जताः ।

सप्त इमे सोम्य येपु चरन्ति प्राणा गुहास्था निहिताः सप्त मयः । (सुष्टक० १० : १ : १)

अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए हम मान लेते हैं कि, विजातीय होने पर भी साम्य पितरप्राणों का शरीर में आगमन हो गया। साथ ही यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि, देवताओं ने अपना स्थान संकुचित करते हुए पितरप्राणों का स्थान भी दे दिया। यह सब कुछ स्वीकार कर लेने पर भी यह तन्तुवितानधर्म सर्वथा परोक्ष ही (अविज्ञात ही) बच रहता है, जिस के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि, शरीर पितर अगली ७ पीढ़ियों पर्यन्त अपने सहोभाग का वितान करते हैं। इस प्रकार दीर्घतमा के द्वारा निम्न लिखित तीन प्रश्नों का उद्गम हो जाता है—

- १—विजातीय होने से पितरप्राण का शरीर में आगमन कैसे हुआ ?
- २—शरीर में आकर भी (स्थान के अभाव से) वे प्रतिष्ठित कहाँ हुए ?
- ३—प्रतिष्ठित होकर भी उन्होंने तन्तुवितान कैसे किया ?

दीर्घतमा ऋग्विद्या 'पाकः पृच्छामि मनसा-अविज्ञानम्' रूप से उपस्थित होने वाले पितर-पिपयक इन्हीं प्रश्नों का समाधान करते हुए महर्षि बृहदुक्थ कहते हैं

१—महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वदधुरपि क्रतुम् ।

समविष्यचक्रुत यान्यन्विषुराणां तनूषु नि विविशुः पुनः ॥

२—सहोमिविश्वं परि चक्रमु रजः पूर्वा धामान्यमिता विमानाः ।

तनूषु विश्वा भुननानि येमिरे प्रासारयन्त पुरुष प्रजा अनु ॥

३—द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्दिदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा ।

स्वां प्रजां रितरः पितॄन् सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम् ॥

४—नात्रा न चोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विरवा ।

स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादा परेषु ॥

(ऋक्सं० १०।५६।४, ५, ६, ७, मं०)

जिस ऋक्संहिता के मन्त्र यहाँ उद्धृत हुए हैं, वह ऋक्संहिताग्रन्थ भी दुर्लभ नहीं है। साथ ही सनातनधर्मावलम्बियों के प्राणभूत सर्वश्री सायणाचार्य ने इस संहिता पर जो विस्तृत भाष्य लिखा है, वह भी दुष्प्राप्य नहीं है। भारतीय विद्वानों ने अथ से इति पर्यन्त सायण-भाष्य का पारायण न किया होगा, यह भी असम्भव है। परन्तु ... । परन्तु इसलिये कि, सायणभाष्य हमारी उम्र पितृनिष्ठा की रक्षा न कर सका, जिस पर आज अज्ञानों के कुतर्कपूर्ण आक्षेप हो रहे हैं। अथर्व ही विज्ञान-परम्परा के उच्छेद से विज्ञानप्रधान मन्त्रों का भाष्य हमारी

दृष्टि का कारण नहीं बन सकता। एवं न ऐसे भाष्यसहस्रों को आगे रखते हुए हम अपने मौलिक सिद्धान्तों को परालोचना से बचा ही सकते। जिस तत्त्वदृष्टि से जिन विस्पष्ट शब्दों में मन्त्रों में पितृविज्ञान का विस्लेषण किया है, उस के विद्यमान रहते किस का यह सामर्थ्य है कि, जो सापिण्ड्य भाव से सम्बन्ध रखने वाले 'आदिकर्म' पर आक्षेप कर सके, अथवा तो इसे अवैदिक कहने की धृष्टता कर सके। अस्तु सायणनिष्ठानुगत (भावुकतानुगत) महानुभावों की निष्ठा (उपनाम भावुकता) को सुरक्षित रखने के लिए प्रथम भाष्यदृष्टि से ही मन्त्रार्थ का समन्वय होगा, एवं अनन्तर विज्ञानप्रधान आर्षदृष्टि से मन्त्रार्थ का विस्लेषण होगा। दोनों में से कौन उपादेय होगा, इस प्रश्न का निर्णय स्वयं आर्षप्रज्ञा की सहजनिष्ठा पर निर्भर होगा।

### १-महिम्न एषाम्० (भाष्यकाराः) —

“हमारे अङ्गिरादि पितर इन देवताओं की महिमा से समर्थ हो रहे हैं। देवता सम्बन्ध से देशरयभाव को प्राप्त होते हुए इन हमारे पितरों में इन्द्रादि देवताओं में संकल्प प्रतिष्ठित किए। अपि च ये पितर उन तेजोभावों में परिणत हो गए, जो इन के तेज प्रदीप्त हो रहे हैं। इन देवताओं के शरीर में ये पितर पुनः प्रविष्ट हो गए”।

### २-सहोमिर्विश्वम्०

“मेरे पितर अपने बलों से सम्पूर्ण लोकों में व्याप्त हैं। (सर्वलोकपरिममा के साथ साथ) मेरे इन पितरों में दूसरों से अमित (अनाक्रान्त) पूर्व स्थानों को चारों ओर से घेरते हुए, साथ ही (उन स्थानों के) सम्पूर्ण भूतों को घेरते हुए (भूतों में व्याप्त होते हुए), उन लोक-भूत मात्राओं को अपने शरीरों में प्रतिष्ठित करते हुए अपनी प्रजा को उत्पन्न बना कर ज्योतिषों तथा पानियों को फैला दिया। दूसरे शब्दों में— मेरे अङ्गिरा नामक पूर्व पितरों में अपनी शक्ति से सम्पूर्ण लोक को अपने अधिकार में कर, अति रातन प्रह-नक्षत्रादि को अपनी सीमा से परिच्छिन्न बना कर, सम्पूर्ण भूतों का नियमन कर प्रजा के प्रति जलों, तथा तेजों को फैला दिया।”

### ३-द्विधा सूनवः०

“वर्षा को जानने वाले, स्वर्गस्थान को प्राप्त होने वाले बलवान् आदित्य को आदित्य के पुत्र अङ्गिराओं में प्रजोत्पादन रूप तीसरे कर्म से उदय-अस्त रूप दो अवस्थाओं में परिणत कर दिया। अपिच अङ्गिरा नामक पितर अपनी प्रजा को उत्पन्न कर स्वर्ग के साथ अपने पिता आदित्य के बलों को निष्कृष्ट प्रजारूप मनुष्यों में स्थापित करने हैं। जिन प्रकार विषय धन की सहायता रक्षा करते हुए यह धन पुत्रों में (दायाद रूप से) बाँट दिया जाता है, उसी प्रकार अङ्गिरा-पितरों में सर्वथा सुरक्षित विषय धन रूप आदित्य पिता के बल को मनुष्य प्रजा में बाँट दिया है। अपिच—



‘अयं ह्याततं तन्तुर्यत्प्रजा’—‘प्रजातन्तु’ मा व्यवच्छेत्सीः। ‘प्रजा वै तन्तुः’ इत्यादि श्रुतियों के अनुसार तन्तु नाम से प्रसिद्ध मनुष्यप्रजा का ऊँही पितरों में आदित्य के बल से वितान किया है।

४—नावा न चोदः०

“जिस प्रकार एक नौका से समुद्र का सन्तरण किया जाता है, एवमेव जैसे स्वरितभावों (मङ्गलों) से विघ्न-बाधाहृष्य दुर्गमों (अमङ्गलों) को पार किया जाता है, इसी प्रकार बृहदुक्थ नामक तत्त्वविशेषने अपनी प्रजा की, ‘बाजी’ नाम से प्रसिद्ध अपने मृत पुत्र को स्वराक्षि से अग्न्यादि अवसर-प्रज्ञापर्यं में, तथा सूर्यादि पर देवताओं में स्थापित कर दिया है”।

भाष्यकार के उक्त मन्त्रार्थों का हमें इस लिए स्वागत करना चाहिए कि, उनके अनुग्रह से आज हमें ‘वेदभाष्य’ के दर्शनों का तो सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। रही बात वेदाचार्यों के आप्यायन की। इस सम्बन्ध में—‘बृद्धारतेन विचारणीयचरिताः’ का अनुगमन ही श्रेयःप्रस्था है। अब उस वैज्ञानिक अर्थ की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जिनके यथावत-स्वरूप परिचय से प्रश्नत्रयी का यथावत समाधान गन्तार्थ बन रहा है।

१—महिम्न एषां पितरः०

‘विजातीय पितर आग्नेयदेवता-प्रधान शरीर में प्रविष्ट कैसे हुए’ ? प्रकृत मन्त्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। अग्नि-वायु-आदित्य-भेदभिन्न आध्यात्मिक आग्नेय-प्राणदेवता सौम्य पितरों के विरोधी नहीं, अपितु ये तो अग्नि के अन्यतम सखा माने गए हैं। अग्नि-सोम, दोनों समुक् (एक साथ रहने वाले) सखा हैं। देखिए, इस सम्बन्ध में श्रुति क्या कह रही है—

अग्निर्जागार तमूचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।

अग्निर्जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि ‘सस्ये’ न्योक्त ॥

( ऋकमंहिता )

प्रत्येक वस्तुतत्त्व ‘आत्मा, पदं, पुनःपदम्’ भेद से तीन संस्थाओं में परिणत होकर ही स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। हृदयावच्छिन्नभाव ‘आत्मा’ है, जिसे ‘प्रजापतिःचरति गर्भे’ के अनुसार ‘प्रजापति’ भी कहा गया है। हृदयागारेण प्रतिष्ठित स्पृश्य-वस्तुपिण्ड आत्मप्रपञ्चस्थान वनता हुआ ‘पदम्’ है। हृदयार्थ आत्मोक्थ से अर्क्स्वरूप से विनिर्मुक्त, वस्तुपिण्ड से भी बाहिर दूरी तक सामरूप से अपनी व्याप्ति रखने वाला प्राणमण्डल ‘पुनःपदम्’ है। यही ‘पुनःपदम्’ ‘महिमा’ नाम से प्रसिद्ध है। उदाहरण के लिए सूर्यवेन्द्रावच्छिन्न आदित्यपुरुष आत्मा है, स्वयं सूर्यगोलक ‘पदम्’ है, एवं सौर-प्रकाशमण्डल ‘पुनःपदम्’ है। ‘ध्वे महिम्नि प्रतिष्ठितः’ इत्यादि औपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तुपिण्ड का हृदय आत्मा पुनःपदरूप अपने महिममण्डल के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है। जिस प्रकार ..

देवघन सौरजगत् के महिममण्डल में पृथिव्यादि सब प्रतिष्ठित हैं, एवमेव आध्यात्मिक प्राणाग्नित्रयी के महिमा-मण्डल में सौम्य पितरप्राण प्रतिष्ठित हो रहे हैं। देवप्राण की महिमा में पितर अवश्य ही प्रतिष्ठित रह सकते हैं। इसी अभिप्राय से—‘महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे’ ( पितरः-अपि एषां-आध्यात्मिकप्राणदेवानां महिम्नः-संक्षरात्-ईशिरे )।

रही यात विजातीयता की। इसके सम्बन्ध में उत्तर दिया जा चुका है। सोम अन्न है, अग्नि अन्नाद है। अन्न अन्नाद का विरोधी नहीं है, अपितु अन्नाद की प्रतिष्ठा है। विरोध की बात तो विदूर, दोनों मिल कर ‘अत्तेवाख्यायते’ न्याय से एकरूप बन जाते हैं। पितर-देवता बन जाते हैं, देवता पितर बन जाते हैं। विकासधर्मावच्छिन्न अग्नितत्त्व विकास की चरमावस्था में (प्रधि-परिधि-स्थान में) पहुँच कर संकोचधर्मावच्छिन्न सोमतत्त्व रूप में परिणत हो जाना है, एवं संकोचधर्मा सोम संकोच की चरमावस्था में (केन्द्र में) पहुँच कर विकासधर्मा अग्निरूप में परिणत हो जाता है। केन्द्र-परिधि के समतुलन से दोनों अभिन्न हैं। केन्द्र में प्रतिष्ठित अग्नि; तथा परिधि से बाहिर प्रतिष्ठित सोम, दोनों का मध्यक्षेत्र में यजन सम्बन्ध हो रहा है। इस पारस्परिक सम्बन्ध से अग्नि-सोम में प्रोत है, सोम अग्नि में ओत है, यही दोनों का ओतप्रोतभाव सम्बन्ध है। इसी याज्ञिक सम्बन्ध को लक्ष्य में रखकर—‘देवा देवेष्वधुरपिकृतु-समविव्यचुः’ गया है।

याज्ञिक सम्बन्ध का तात्पर्य यही है कि, प्राकृतिक-आधिदैविक यज्ञ में अग्न्यादिप्राण-देवताओं में भौतिक सोमाहुति होने से ‘हुत्या’ नामक सोमयज्ञ सम्पन्न होता है। परन्तु हमारे इस आध्यात्मिक सुत्यायज्ञ में देवता (प्राणेत्रियर्वा) देवरूप सोममय पितृप्राण की ही स्त्री के शोणिताग्नि में आहुति दे रहे हैं। मनुष्य (द्विजाति) प्राकृतिक सुत्यायज्ञ से समतुलित अपने वैधयज्ञ में जहाँ भौतिक सोम की आहुति देने है, प्राणदेवता अपने प्राकृतिकसुत्यायज्ञ में जहाँ-भौतिक सोम की आहुति दे रहे हैं, वहाँ आध्यात्मिक यज्ञ में—‘देवाः इन्द्रियदेवाः-देवेषु-पितृप्राणात्मकेषु देवेषु-क्रतु-सुमायज्ञ-अदधुः-सम्पादयाश्चक्रुः’ के अनुसार प्राणदेवता अन्य सौम्य प्राणदेवों में यज्ञरूप प्रतिष्ठित कर रहे हैं। मन्त्रगत ‘यानि’ पठ सकावृत्त है। एवं पितृप्राण से यह पद ‘पित्र्यमहामि’ का ही संग्राहक बन रहा है।

पित्र्यसहः परस्पर संश्लिष्ट हो कर (शोणिताग्नि में हुत होकर) ही व्यक्तरूप (गर्भरूप) में परिणत होते हैं। जबतक शुक्र में २२ चान्द्र पित्र्यसहः विण्डरूप में परिणत नहीं हो जाते, तबतक (१६ वर्ष पर्यन्त) न तो स्वयं बीजा में प्रजनशक्ति ही व्यक्त होती, एवं न पुत्रादि की ही अभिव्यक्ति होती। इसी अभिप्राय से ‘यानि-समविव्यचुः’ (पितृमहामि प्रथम मह संगम्य, मूलपुरुषस्याभिव्यञ्जकानि भवन्ति, अनन्तरं च शोणिताग्नी मंगम्य पुत्रादिरूपेण व्यक्तीभावमगच्छन्) कहा गया है।

शुक्रगत पित्र्यसहः परस्पर संश्लिष्ट हो कर ही पुत्रादि व्यक्तियों में (पुत्रादि की स्वरूप निपत्ति के लिए) शोणिताग्नि में आहुत होते हैं। एक ही व्यक्ति (पुत्र) में जा कर इस पित्र्यसह की गति

अपरत नहीं हो जाती, अपितु जब तक इस पितृपिण्ड का अपत्य भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक (सातवीं सन्तान पर्यन्त) वह पिण्ड अंशात्मना प्रदीप्त रहता है। इसी अभिप्राय से 'उत यानि आचिपुः' कहा गया है। सातवीं पीढ़ी पर्यन्त शृणुदान-सम्बन्ध से प्रदीप्त ये पितर अपत्यों में शुक्र इन्हीं अपने तन्यभागों को लेने के लिए सपिण्डीकरण-काल में पुनः इन अपत्यों में प्रविष्ट होते हैं। सातों पितरों के सहोभाग एकत्र समवेत हो कर पुत्र-पौत्रादि तन्तुरूप से अभिव्यक्त होते हैं। तत्तत् तन्तु (सन्तान) की मृत्यु के अनन्तर तत्तत् तन्तु में शृणुरूप से प्रतिष्ठित तत्तत् संख्याक सहोभाग आयापकर्त्ता पितरों में समान रूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। यही 'प्रत्यर्पण' है। जिस संख्याक्रम से अर्पण होता है, उसी संख्याक्रम से (सम संख्या से) वे अंश उन में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी अभिप्राय से—'नि विविपुः पुनः' कहा गया है। 'आ एषां तन्तु पुनर्विविधुः' ही निष्कर्षार्थ है।

शरीर आत्मेय देवता भी प्राणात्मक हैं, सौम्य पितर भी प्राणमूर्त्ति हैं। प्राणतत्त्व सर्वथा अधामच्छद्द है। स्थानावरोध करना भूत का धर्म है, प्राण का नहीं। ऐसी स्थिति में प्राणात्मक पितरों के लिए अवकाश की मीमांसा करना ही व्यर्थ है। फिर ये दोनों तत्त्व तो अभिन्न सत्ता हैं। अग्निमहिमा इन की आश्रय भूमि है, यहाँ आकर वे मिल जाते हैं। मिल कर तन्तुधितान करते हैं। फलतः प्रथम प्ररन सर्वथा समाहित बन जाता है।

## २—सहोमिविश्वम्०

भाष्यकार ने 'सहोमिः' का अर्थ 'बलैः' किया है। कहना न होगा कि यह अर्थ विज्ञान-मर्यादा से सर्वथा बहिष्कृत है। पुत्र-पौत्रादि में अभिपुत्र होकर प्रजारूप से वित्त होने वाला, साहस का प्रज्ञान, पुरुष शुक्र में प्रतिष्ठित, नक्षत्रावच्छिन्न चान्द्रसात्मक, नक्षत्रसंख्या-भेद से २८ कल सौम्य पितृप्राणमय तत्त्व विशेष ही 'सहः' है, जिम का पृथ में निरूपण किया जा चुका है। सह ? नहीं, २८ हैं, अतएव 'सहोमिः' कहा गया है। 'वि यस्तस्तम्भ पडिमा रजांसि' इत्यादि दीर्घ-तमोक्त मन्त्रव्याख्यान में तललाया जा चुका है कि, ६ रजों से प्रभृत में बीजी पुरुष की पुत्रादि ६ सन्तानें अभिप्रेत हैं। 'रजः' शब्द सामान्यतः 'लोक' का वाचक माना गया है। 'लोकस्तु भुवने जने' के अनुसार 'जन' भी लोक है। एवं 'प्रजास्यात् सन्ततौ जने' के अनुसार प्रजा 'जन' है। फलतः 'रजांसि' का अर्थ 'अपत्यानि' करने में कोई बाधा नहीं आती। श्रुतिपरित 'पूर्व' शब्द पुत्रादि में आहुत होने वाले पिण्डभाग की आहुति से पूर्वकाल का चेतक है। 'वाम' शब्द 'पितृसहःपिण्ड' का सूचक है। 'अमितानि' का अर्थ है—व्यवच्छेदरहित, अविच्छिन्न रूप से सन्तत। 'तन्तु' का अर्थ है—'०-६-४-४-३-२-१' इस क्रम से विभक्त रहने वाले 'पितृसहः' नामक पिण्डांश। 'भुवन' का अर्थ है—'२१-१४-१०-६-३-१' इस क्रम से मूल रूप में परिणत होने वाला प्रत्यंश। 'पुरुषा'

का अर्थ है—बहुशः । इन परिभाषाओं के समन्वय के अनन्तर ही प्रकृत मन्त्रार्थ का यथावत् समन्वय सम्भव है ।

सहोभिः—शुक्रस्थिताः २८ कलोपेताः पितृभागाः ।

रजः—पुत्रपौत्रादयः ।

पूर्वा—आहुतेः पूर्वकालम्

धामानि—पितृपिण्डः

तनूषु—पितरः

भुवना—सूनवः

पुरुषा—बहुशः

“पत्नीशरीरस्थ योपाप्राणप्रधान शोणितानि में आहुति होने से पहिले पहिले ७-६-५-४-३-२-१” इन आत्मधेयरूप व्यवच्छेदों से रहित, अतएव अमित (एकरसात्मक) पुरुषशरीरस्थ घृताप्राणप्रधान-महदात्मायच्छिन्न शुक्रस्थ अष्टाविंशतिकलात्मक पितरपिण्ड आहुत होता है । इस आहुतिसम्बन्ध से आगे आगे अपने तन्त्र भागों से पुत्रादि की उत्पत्ति का कारण बनता हुआ, स्वपिण्ड को ७-६-आदि पूर्वोक्त क्रमानुसार विभक्त करता हुआ, अतएव अपनी सहोमात्रा को उत्तरोत्तर परिमित बनाता हुआ स्वसहस्रान्तनन से सात पीढ़ी पर्यन्त अपत्योंमें व्याप्त हो जाता है । अपने सहोभागों को ‘पितरः-सूनवः’ दो भागों में विभक्त करता हुआ इन सहोभागों को अपत्य क्रमानुसार नियत कर देता है ।”

२१ सूनु भाग के साथ ७ पितृभाग को, १५ सूनु भाग के साथ ६ पितृभाग को, इस प्रकार पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार उत्तरोत्तर उत्पन्न होने वाले योनि-शरीरों में अपनी मात्राएँ देता हुआ इन मात्राओं को तत्तद्योनिशरीरों के आधीन करता जाता है । पुत्रपौत्रादियत् पितृसहों का मूल स्वयं मूल-पुरुष ( वीजी ) में बद्ध रहता है । यहाँ बद्ध होकर वे सहकलाएँ वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र पर्यन्त व्याप्त रहती हैं । इस प्रकार सूनुरूप-पुत्र-पौत्रादि सम्पूर्ण भुवनों में वह वीजी पितर अपने अपत्य भागों को ( आत्मधेय कलाओं को ) व्याप्त कर देता है । पितर का यह प्रसार कर्म समानधारा से प्रवाहित नहीं होता । अपितु वीजी में ७, पुत्र में ६, पौत्र में ५, इस प्रकार न्यूनाधिकरूप से ही इसका प्रसार होता है, जैसा कि आगे के मन्त्र में स्पष्ट हो जायगा ।

द्वितीय मन्त्र व्याख्यान में बतलाया गया है कि, वीजी पिता के पितृसहोभाग शोणितानि में आहुत हो कर दो स्वरूप धारण कर लेते हैं । द्विधा विभक्त उन्ही ‘सूनवः’ का प्रकृत मन्त्र में विरलेपण हुआ है । वीजी पिता के २८ पितृसहों का पुत्र-पौत्रादि क्रम से २१-१५-१०-६-३-१ इस प्रकार विभाग हुआ है । इन ६ पितृसहों को ऋणरूप से लेकर पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र-वृद्धप्रपौत्र-अतिवृद्ध-वृद्धातिवृद्ध उत्पन्न हुए हैं । उत्पन्न होने वाले पुत्रपौत्रादि ये ६ सूनु पुत्रोत्पादनरूप इस तीसरे कर्म से

सौम्यसहोरूप बलप्रद पित्र्यभाग को आत्मनीय किंवा आत्मधेय, तथा तन्य, इन दो भागों में विभक्त करते हैं। स्वयं पुत्रादि के महानात्मा में स्व प्रतिष्ठित के लिए प्रतिष्ठित रह जाने वाले सहोभाग 'असवनीय-अत्याज्य' है, एवं पुत्रादि के पुत्रादि में शुक्र द्वारा आहुत हो जाने वाले सहोभाग 'सवनीय-त्याज्य' है।

तात्पर्य यह हुआ कि, मूलपुरुष में जो अपनी कमाई से २८ सहांसि आए, वे सूनवः कहलाए। इनमें ७ तो इसी में प्रतिष्ठित रह गए, २१ पुत्र में चले गए। स्वप्रतिष्ठ सप्तक अत्याज्य आत्मधेय कहलाया, पुत्रगत त्याज्य २१ भाग तन्य कहलाया। इस प्रकार २८ विध सूनवः '७-२१' क्रम से आत्मधेय-तन्य भेद से दो भागों में विभक्त हो गए। बीजी पुरुष में स्वयं अपनी कमाई के जहाँ २८ थे, यहाँ इस के पिता-पितामह-प्रपिता-वृद्धप्र-अतिवृ-वृद्धाति० इन ६ के अणुरूप २१-१५-१०-६-३-१-इतनी कलाओं और प्रतिष्ठित रहती हैं, जिन के संकलन से ५६ सहोभाग हो जाते हैं। इनमें से वृद्धातिवृद्धप्र० की १ कला तो आत्मधेयरूप से बीजी में ही प्रतिष्ठित रहती है। विज्ञानमात्राभाव से इस के सम्बन्ध में—'द्विधा सूनवः' नियम समन्वित नहीं होता। शेष ५ के स्वात्मधनयन् (२८यन्) आत्मधेय-तन्य, भेद से दो दो भेद हो जाते हैं। ५६ में से बीजी की सातवीं पीढ़ी पर्यन्त ३५ अणुकलाओं का भोग हो जाता है, २१ कला आत्मधेय रूप से बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं। २१ आत्मधेय अणुआत्मक, ७ आत्मधेय धनात्मक, इस प्रकार बीजी में २८ आत्मधेयकला बच रहती हैं। स्वधन की २१ कला, अणु भाग की ३५ कला, दोनों की समष्टिरूप ५६ कला तन्य रूप में परिणत रहती हैं।

इस प्रकार मूलपुरुष पितर अपने आत्मधनरूप २८ मनुओं को, पिता-पितामहादि से अणुरूप से आगत ५६ मनुओं को, दो भागों में विभक्त आत्मधेय २८ कलाओं को तो अपने आप में प्रतिष्ठित कर लेते हैं, एवं एकविंशतिकला आत्मधनरूप तन्यभाग को, ३५ कला आत्मअणुरूप तन्यभाग को, सम्भूय ५६ कला तन्य भाग को अपनी अथवा प्रजारूप सातवीं पीढ़ी पर्यन्त वित्तन कर देते हैं। अपने तन्यात्मक ५६ मनुभागों को अथवा पुत्रादि प्रजा में वित्तन करना ही तृतीय कर्म है, जैसा कि अगले मन्त्र में स्पष्ट हो रहा है।

४-नावा न जोदः०

मूलपुरुष पितर प्राणायामक पित्र्यमहःपिण्ड उक्त कथनानुसार (तृतीयकर्म से) अथवा प्रजारूप पुत्र-पौत्रादि में प्रतिष्ठित हुआ। क्या यह क्रम वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र पर जाके समाप्त हो जाता है?, अथि उत्तर देते हैं—नहीं। आगनि के माथ गति का नित्य सम्बन्ध है, सम्भूति के माथ विनाश का अविनाश सम्बन्ध है, मार्ग के साथ साथ लयपारा प्रवृत्त है। स्थिति विना गति को आश्रय बनाए प्रतिष्ठित ही नहीं रह सकती। प्रवृत्तमन्त्र इसी गतिभावमूलक प्रत्यर्पण का रहस्य बतला रहा है।

शरीरोत्क्रान्ति के अनन्तर पुत्र-पौत्रादि के सहोरूप पितृभाग महानात्मा के साथ अन्तर्यामि सम्बन्ध रखते हुए चन्द्रलोक में चले जाते हैं, जैसा कि—“ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयान्ति, चन्द्रम-समेव ते सर्वे गच्छन्ति” इत्यादि वचन से प्रमाणित है। इस ओर भूपिण्ड है, उस ओर अन्तरिक्ष में अपने दक्षपृष्ठ पर चन्द्रमा परिक्रमा लगा रहा है। दोनों के अन्तराल में ‘अर्णव’ नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र प्रतिष्ठित रहता है। भूपिण्ड से चन्द्रलोक में जाने वाले प्रेतपितर-संज्ञण प्रेतात्मा को इस अर्णवसमुद्र का सन्तरण करना पड़ता है। इसी स्थिति का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है।

समुद्र के अवार पार (इस ओर के किनारे से उस ओर के किनारे तक, तथा उस पार से इस पार तक) आने-जाने वाली नौका से जैसे मनुष्य समुद्र सन्तरण, में समर्थ होते हैं, ठीक इसी प्रकार अपने जीवन सूत्रों से (जो कि जीवन सूत्र ‘ब्रह्मसूत्र’ नाम से प्रसिद्ध हैं, जीवन प्रतिष्ठा के कारण बनते हुए जो सूत्र ‘स्यस्ति’ नाम से व्यवहृत हुए हैं) अवार रूप भूपिण्ड से पाररूप चन्द्रमा के मध्य में आने वाले श्याव-शबलादि क्रूर प्राणयुक्त अतिशय दुर्गमस्थानों में होकर चन्द्रलोक में इस प्रेतात्मा को इस की प्रतिष्ठारूप ‘बृहदुक्थ’ नाम से प्रसिद्ध महानात्मा स्वशक्ति से (चान्द्राकर्षण से) एकविंशत्यादि युक्त पुत्र-पौत्रादि प्रजा को चान्द्रमण्डलस्थ पिता-पितामहादि पर पितरों में प्रतिष्ठित करता जाता है।

अथवा महानात्मा ही स्वयं गन्ता है। कारण पितृसहः इसी में प्रतिष्ठित रहते हैं। विज्ञान, प्रज्ञान, भूतात्मा, महानात्मा, आदि सभी शरीर-खण्डात्मा अपने अपने भावों के उक्थ हैं। परन्तु पूर्वप्रतिपादित ‘महदात्मोपनिषत्’ के अनुसार चित्त का योनिरस्थानीय महानात्मा इतर सब खण्डात्म-विषयों का भी उक्थ है। यही क्यों, सर्वथा अक्षर चिदात्मा (अव्यय) तक को इस के गर्भ में आ जाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में इससे बड़ा उक्थ और कौन हो सकता है। तभी तो इस आत्म-विषय को ‘महानात्मा’ कहना न्यायसङ्गत बनता है। महानात्मा की इसी बृहदुक्थता को लक्ष्य में रख कर ऋषि ने इसे ‘बृहदुक्थ’ नाम से विभूषित किया है। यही चन्द्रलोक में गमन करता है, इसी के द्वारा पितृसहों का प्रत्यर्ण होता है। पुत्र का महान् पिता के १ का, पौत्र का महान् पितामह के ५ का, प्रपौत्र का महान् प्रपितामह के ४ का, वृद्धप्रपौत्र का महान् वृद्धप्रपितामह के ३ का, अति-वृद्धप्रपौत्र का महान् अतिवृद्धप्रपितामह के २ का, एवं वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र का महान् वृद्धातिवृद्धप्रपितामह के १ का प्रत्यर्ण करता है। इस अर्पण से अन्तिम महान् (वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का महान्) सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है। तभी तो ‘पिण्डदः सप्तमस्त्वेवाम्’ कहा गया है। पितर प्राणत्मक सौम्य सहोभाग-सात भागों में विभक्त होकर कुछ काल पर्यन्त (यावदायुर्भोगपर्यन्त) तो पृथिवी पर रहते हैं। अनन्तर चन्द्रलोक में जाकर उन ऋण भागों का प्रत्यर्ण कर देते हैं, यही निष्कर्ष है। पितृसहः की पृथिवी, तथा चन्द्रमा को छोड़कर अन्यत्र स्थिति नहीं है।”

उक्त मन्त्रांशों से विज्ञ पाठकों को यह मलीभाँति विदित हो गया होगा कि, यह पितृकर्म

चतुर्धा विभक्त है। बीजी पिता के शुक्र में प्रतिष्ठित २८ स्वात्मधन में से २१ धन, एवं बीजी पिता के ही शुक्र में प्रतिष्ठित १६ ऋणात्मक धन में से ३५ ऋण, इन १६ तन्मात्मक सूतक को लेकर जन्म ग्रहण करना पितृसहः का प्रथम कर्म है।

जन्म लेने के अनन्तर अपने शुक्र में स्वतन्त्र रूप से २८ कलात्मक चान्द्रसहों का ग्रहण करना द्वितीय कर्म है। इस के अनन्तर सवनीय त्याज्य पट्पञ्चारात् कल (१६) तन्मभाग को अथवा प्रजारूप अपने पुत्रादि में आहुत करना तृतीय कर्म है, जिस का मन्त्र में विरलेपण हुआ है। एवं ऋणरूप से प्राप्त कलाओं का (शरीरविच्युति के अनन्तर) प्रत्यर्पण कर देना चतुर्थ कर्म है।

१—पट्पञ्चारात्संख्यं पित्र्यं सहः—उपादाय जन्मग्रहणम्—तदिदं प्रथमं कर्म

२—अष्टाविंशतिसंख्यं नवीनं निजं सह उपादत्ते—तदिदं द्वितीयं कर्म

३—पट्पञ्चारात्संख्यस्य सवनीयभागस्यावरेष्याधानम्—तदिदं तृतीयं कर्म

४—अष्टाविंशतिसंख्यस्यात्मनीनभागस्य परेष्याधानम्—तदिदं चतुर्थं कर्म

प्रकरणोपसंहार—

पितरप्राणमूर्ति सर्वात्माधिष्ठाता, अतएव 'बृहदुक्थ' नाम से प्रसिद्ध महानात्मा के ही उक्त चार कर्म हैं। ऐसे महानात्मा को, महानात्मा के उक्त वैज्ञानिक स्वरूप को सर्वप्रथम जिस ऋषि ने समझा, समझ कर अपने शब्दों में प्रकट किया, वे भी तत्कालीन 'यशोनाम' पद्धति के अनुसार 'बृहदुक्थ' नाम से ही प्रसिद्ध हुए। बृहदुक्थ महर्षि की पर्यन्त में बृहदुक्थविज्ञान (पितृविज्ञान) का ही प्राधान्य था। इसी पर्यन्त के द्वारा दीर्घतमा के प्रश्नों का यथावत् समाधान हुआ। दीर्घकालसे अविद्यारूप तम से अभिभूत, अतएव योगिकमर्यादाया 'दोषतमा' नाम से पुकारे जाने योग्य वर्तमान युग के अभिनिविष्टों की मोहनिद्रा भंग करने के लिए बृहदुक्थ (श्रीगुरुवः) के अर्कद्वारा साविण्ड्य-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला प्रकृत प्रजातन्त्रुवितानविज्ञान उपस्थित हुआ है। बृहदुक्थस्थानीय श्रीगुरुवरणों ने जिन शब्दों में यह रहस्य प्रकट किया है, मद्भक्त भावना से उनमें से कुछ एक वचन उद्धृत करते हुए, साथ ही सन्तानपरम्परा का स्फुरीकरण करने वाले परिलेखों को सुविधा के लिए व्यवस्थित रूप से उद्धृत करते हुए प्रस्तुत अवान्तर प्रकरण उपरत हो रहा है—

अयमत्र माङ्गलिकसङ्ग्रहः—

१—दैवं सहो यन्निहितं हि तस्मिन् पित्र्यं सहोऽप्योतमितीममर्थम्।

संक्षिप्तमादी भगवान् महर्षिः स वामदेव्यो बृहदुक्थ उक्ते ॥

२—एषां वलानां पितरश्च देवाश्चापीशते ते समविज्यन्तुश्च ।

क्रतुः च देवेष्वधुः पृथक्स्थानिमान् प्रमीताः प्रविशन्ति पथात् ॥

३—लोकान् सहोभिनिखिलानटन्ति पूर्वाणि धामान्यमितानि मात्वा ।

यच्छन्ति तन्वां भुवनानि तानि प्रसारयन्ते बहुधा प्रजाश्च ॥

४—ये स्वविंदो येऽप्यथ राक्षसा इति द्वैधाऽसुराः स्वविंदश्चक्रचन्द्रमाः ।

मासेन सौम्यांश्च आत्मनि क्रमादाशेरते विंशतिरष्टाह्निकाः ॥

५—इत्थं पितृन्तोमगतिः सपिण्डता परंपु सप्तस्ववरेषु चोदिता ।

भूतात्मदिव्यात्मयुजोऽन्तरात्मनः सौम्यस्य नातः परितः स्थितिः क्वचित् ॥

६—यदाततं सप्तमु पुरुषेषु श्रद्धानसूत्रं प्रवदामि तां गाम् ।

प्रत्यर्पणात् सोद्गृह्यते तदासां स्वयोनिमापाति जहाति युथम् ॥

७—नात्रत्रिक्रदादशमासरूपः सम्यत्सरः सोऽस्ति पिता स गर्भे ।

देहं विनिर्म्माति तदेवमर्थं कौपीतकीया भगवन्त आहुः ॥”

( श्रीगुरुप्रणीते—अहोरात्रवादे—आर्त्तधाधिकरणे )

“आप्तोपदेशः प्रमाणम्”—“तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ”—“यच्छे-

द्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्” इत्यादिरूप से शास्त्रप्रामाण्य-निष्ठा को ही अपनी मान्यताओं में प्रधान रूप से अपलन्य मानने वाले आस्था-श्रद्धानुगत धर्माचरणशील मानवों के परितोष के लिए यद्यपि “पितरः—सूनवः—तन्तवः—पिण्डाः—सर्वांसि—तन्तुवितानम्” आदि प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत् के सम्बन्ध में तत्तद्विशेष-प्रसङ्गावसरां पर ही प्रमाण उद्धृत कर दिए गए हैं । तथापि ‘द्विवेद’ न्याय से सर्वांति में पुनः कुछ एक वे वचन और उद्धृत कर दिए जाते हैं, जो विस्पष्टरूप से इन ‘तन्तु-तत्त्व-परम्पराओं’ का समर्थन-प्रतिपादन-स्वरूपविश्लेषण कर रहे हैं । वस्तुगत्या इस प्रामाण्यवाद से धर्मशील सनातनप्रजा की आस्था-श्रद्धा जहाँ श्रवणीयसम्प्रदानुगता बनेगी, वहाँ यही प्रामाण्यवाद यादियों के अभिनिवेश का भी वाग्बन्धन कर सकेगा, निश्चयेन कर सकेगा, इसी मातृलिक अनुभूति के साथ क्रमप्राप्त दूसरी ‘ऋणमोचनोपायोपनिषत्’ की और श्रद्धाशील प्रजा का ध्यान आकर्षित कराया जा रहा है ।

१—अवस्पृधि पितरं योऽविधिद्वान् पुत्रो यस्ते सहसः सून ऊहे ।

कदाँचिद्विद्वो अमिच्छसे नोऽग्ने कदा अतचिधातयांसि ॥ (ऋक् ७ १३।६।) ।

२—नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः ।

कस्य म्वित् पुत्र इह वक्त्वानि परो-वदात्यवरेण पित्रा ॥ (ऋक् ७ ६।६।२।) ।



३—स इत्तन्तुं स विजानात्योतुं म वक्त्वान्यतृथा वदाति ।

य ई चिकेतदमृतस्य गोपा अवशचरन् परो अन्येन पश्यत् ॥ (श्रृक् ६।६।३।)

४—ते सूनवः स्वयसः सुदंससो मही जडुर्मातरा पूर्वचित्तये ।

स्यांतुश्च सत्यं जगतश्च धर्मणि पुत्रस्य पायः पदमड्याविनः ॥ (श्रृक् सं १।१५।३।)

५—ते मायिनो ममिरे सुप्रचेतसो जामी स योनी मिथुना समोकसा ।

नव्यन्नव्यं तन्तुमा तन्वते दिवि समुद्रे अन्तः कवयः सुदीतयः ॥

(श्रृक् १।१५।४।)

६—वितन्वते धियो अपांसि वस्त्रा पुत्राय मातरो वयन्ति ।

उपप्रचे वृषणे मोदमाना दिवस्पथा वज्रो यन्त्यच्छ ॥ (श्रृक् १।१५।५।)

७—सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवतन्वतम् ।

उभे इदस्योभयस्य राजत उभे यतेते उभयस्य पुप्यतः ॥ (श्रृक् १०।१३।५।)

८—एकस्त्यन्दुरधस्या विशस्ता द्वा यन्तारा भवन्तस्थ श्रुतः

या ते गात्राणामृतया कृणोमि ताता पिण्डानां प्रजुहोम्यग्ना ॥ (श्रृक् १०।१६।२।१६।)

९—तपोप्यवित्रं विततं दिवस्पदे शोचन्तो अस्य तन्तवो व्यस्थिरन् ।

अवन्त्यस्य पवीतारमाशवो दिवस्त्रष्टमधि तिष्ठन्ति चेतसा ॥ (श्रृक् १०।१६।३।)

१०—अरुच्यदुपसः श्रुतिरग्निय उवा विमर्चि भुवनानि राजपुः ।

मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षः पितरो गर्भमादधुः ॥

(श्रृक् १०।१६।४।)

११—यो यज्ञो विद्यतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मभिरायतः ।

इमे वयन्ति पितरो य आपयुः प्र वयाप वयेत्यासते मते ॥ (श्रृक् १०।१६।५।)

१२—पुमां एनं तनुत उर्वरुणश्च पुमान् वि तन्ने अधिकाकं अस्मिन् ।

इमे मयूरा उप सेदुरु मदः मामानि चक्रुन्सरारागयोतवे ॥ (श्रृक् १०।१६।६।)

इति—सापिण्यविज्ञानोपनिषद्

प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्

प्रथमा

२-साध्यावेतानपारलखः:-

[illegible]

# ३-पैतृ-सन्तुवितानपरिलेख :-

	१	२	३	४	५	६	७
	पौत्रः	पुत्रः	पौत्रः	प्रपौत्रः	वृ० प्र०	अ० वृ० प्र०	वृद्धानिवृ०
मूलपिण्डः	७ पितरः						
२८	●	१					
२७	●						
२६	●						
२५	●						
२४	●						
२३	●						
२२	●						
२१	●						
२०	●	सुनवः २१	पितरः ६				
१९	●	●	●				
१८	●	●	●				
१७	●	●	●				
१६	●	●	●				
१५	●	●	●				
१४	●	●	●				
१३	●	●	●				
१२	●	●	●				
११	●	●	●				
१०	●	●	●				
९	●	●	●				
८	●	●	●				
७	●	●	●				
६	●	●	●				
५	●	●	●				
४	●	●	●				
३	●	●	●				
२	●	●	●				
१	●	●	●				

# ४- पिण्डावापारलेख:-

पिण्डाः	सन्तानाः	अर्चिमार्गः	
२८	०		
		२१	७
		१५	६
		१०	५
		६	४
		३	३
		१	२
		०	१

पिण्डाः	सन्तानाः	धूसमार्गः	
२८	०		
		२१	७
		१५	६
		१०	५
		६	४
		३	३
		१	२
		०	१

## ५- श्रृंखलाधनभावपरिलेख:-

पिण्डाः निवाण्याः	सन्तानाः	पुरुषाः - सम	पौठिकाः	श्रृंखलाधनानि
		बाजी	१	मूलधनम्
		पुत्रः	२	श्रृंखलाधनानि
		पौत्रः	३	श्रृंखलाधनानि
		प्रपौत्रः	४	श्रृंखलाधनानि
		वृद्धप्रपौत्रः	५	श्रृंखलाधनानि
		अतिवृद्धप्रपौत्रः	६	श्रृंखलाधनानि
		बृहत्तिवृद्धप्रपौत्रः	७	श्रृंखलाधनानि
		० ० ० ० ० ०	०	सर्वथा-श्रृंखलान्

६-वंशवितानपरिलेखः (जन्मात्मको, विद्यात्मकश्च) -

२८	अतिवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	अप्राणिनिः सहस्रं
२९	बालवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	पितृपिण्डः एकवित्तः- सहस्रं (२५)
३०	तद्वयवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	पितामहपिण्डः - पञ्चवत्सः सहस्रं (३५)
३१	तद्वयवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	प्रपितामहपिण्डः - दत्तः सहस्रं (३०)।
३२	तद्वयवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	वृद्धप्रपितामहपिण्डः - पठः सहस्रं (६)।
३३	तद्वयवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	अतिवृद्धः प्रपितामहपिण्डः - तिस्रः सहस्रं (३)।
३४	तद्वयवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	वृद्धानिवृद्धप्रपितामहपिण्डः - एकं सहस्रं (१)।
३५	तद्वयवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	सुमरकः मनुष्यदत्तः वैदनाथः देवनाथः होरायाथः प्राणायतिः कलानाथः (सुन्दः)
३६	तद्वयवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	विशालापिण्डम्
३७	तद्वयवृद्धः	१	१	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१	२२	२३	२४	२५	२६	२७	२८	२९	३०	१० सापिण्डवै - साप्तापौरुषम् - इत्याहुराचार्याः

(७) — परिलेखः

(७) — दशकविधि-मर्यादायां तु सपिण्डता एवरूपेण —

<p>सपिण्डतां साधयितुम् चरित्युपलक्षणः — पितृपिण्डः ८४</p>							
२८	आत्मा ( पुत्रः )	पिता	पितामहः	ग्रन्थितामहः	सप्तमपितामहः	अष्टमपितामहः	सप्तमपितामहः
२९							
३०							
३१							
३२							
३३							
३४							
३५							
३६							
३७							
३८							
३९							
४०							
४१							
४२							
४३							
४४							
४५							
४६							
४७							
४८							
४९							
५०							
५१							
५२							
५३							
५४							
५५							
५६							
५७							
५८							
५९							
६०							
६१							
६२							
६३							
६४							
६५							
६६							
६७							
६८							
६९							
७०							
७१							
७२							
७३							
७४							
७५							
७६							
७७							
७८							
७९							
८०							
८१							
८२							
८३							
८४							
८५							
८६							
८७							
८८							
८९							
९०							
९१							
९२							
९३							
९४							
९५							
९६							
९७							
९८							
९९							
१००							

‘जातसंस्काराधायोगात्’ इत्याहुस्मान् धर्माचार्याः

इति—सापेक्षविज्ञानोपनिषदि  
प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्  
प्रथमा

—१—

## अथ

सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषद्—

“ऋणमोचनोपायोपनिषत्”

द्वितीया

२

देवताविधिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा ।

ऋणवाञ्छायते मर्त्यस्तस्मादनृणां ब्रजेत् ॥ १ ॥

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञं कर्मणा ।

पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥ २ ॥

वाचाशेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च ।

यथावद्भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः ॥ ३ ॥

—महाभारत० शान्तिपर्व मोक्ष० २६२ अ० ६, १०, ११, श्लोक



श्री:

## ऋणमोचनोपायोपनिषत्

### ऋणस्वरूपपरिचय

#### पञ्चविध-ऋणस्वरूपविज्ञान

आत्मदेयता स्वस्वरूप से नित्यशुद्ध-मुक्त है। यह शरीर-बन्धन में आया कैसे?, महा-मायायच्छिन्न मायी चिदात्मा अविद्या-अस्मिता-रागद्वेष-अभिनिवेश-लूधा-पिपासा-जरा-मूर्च्छा-मृत्यु-जाग्रत्-सुषुप्त-मोह-कर्मविपाक-आशय, इत्यादि सप्तदश पाप्माओं से युक्त हो कर जीव-स्वरूप में कैसे परिणत हो गया?, इन सब प्रश्नों का एकमात्र उत्तर है-त्रिगुणभावमयी योगमाया का ऐकान्तिक अनुग्रह। त्रिगुणालिका इस योगमाया को हम थोड़ी देर के लिए 'न्यक्त-क्षरप्रकृति' कह लेते हैं। इस न्यक्त-क्षरप्रकृति का प्रधानतः आपोमय परमेष्ठी से सम्बन्ध है, जो पारमेष्ठ्य तत्त्व प्रवर्ग्यभाग से अध्यात्ममंस्था का स्वरूप समर्पक बनता हुआ 'महान्' नाम से प्रसिद्ध है। सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन तीनों की दर्श-पूर्णमासप्रक्रिया से इस पारमेष्ठ्य महान् में क्रमशः अर्द्धकृति, प्रकृति, आकृति, इन तीन अवस्थाओं का उदय होना है। साथ ही सूर्य के दर्शपूर्णमास से इस में मत्स्य-रज-तम, इन तीन गुणों का आविर्भाव होता है। सौरतेजोऽवच्छिन्न पारमेष्ठ्य महान् 'मत्स्यगुणक' है, अप्रकाशित महान् 'तमोगुणक' है, एवं सान्ध्य महान् 'रजोगुणक' है। इस प्रकार दर्शपूर्णमास से पारमेष्ठ्य महान् षड्भाषापन्न बन रहा है जिस का 'महदात्मोपनिषत्' में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है।

परमेष्ठी महान् से ऊपर अव्यक्त स्वयम्भू है, नीचे हिरण्यगर्भ मूर्त्य है। हिरण्यगर्भ मूर्त्य तत्र है, अव्यक्त स्वयम्भू 'प्रका' है। उम ओर से वज्र को, इस ओर से त्रिशूल को, दोनों को मध्यस्थ महान् से प्रसन्न श्रोतृन् यन्ता रक्षता है, दोनों तत्त्व इस में गर्भों में युक्त हैं। श्रोतृन् त्रिभिः से भी यह त्रिगुणभावपन्न बन रहा है। स्वायम्भुव ब्रह्मतत्त्व 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध है, एवं यह ज्ञानतन्तु का वितान करता है। मारुततत्त्व 'देव' नाम से प्रसिद्ध है, एवं यह यज्ञतन्तु का वितान करता है। उभयधर्मायन्त्रिज मध्यम परमेष्ठी प्राण 'पितर' नाम से प्रसिद्ध है, एवं यह प्रजातन्तु का वितान करता है। इस प्रकार स्वायम्भुव ऋषिप्राणात्मक ज्ञानतन्तुओं को, सौर देवप्राणात्मक यज्ञतन्तुओं को, दोनों को अपने गर्भ में रक्षता हुआ स्वपितरप्राणात्मक प्रजातन्तुओं से युक्त पारमेष्ठ्य महान् ही

७ प्रवर्गिणान् तन्तवो यं वितन्तिरे।

चिदात्मा की योनि बनता है। योनिस्थानीय इस महानात्मा के गर्भ में आते ही चिदात्मा जीव-स्वरूप में परिणत हो जाता है। ब्रह्म-क्षेत्र को ओदन बनाने वाले महान् के इसी स्वरूप का विरलेपण करते हुए उपनिषद्भूति ने कहा है—

यस्य ब्रह्म च क्षेत्रं च उभे भवत ओदनः ।

मृत्युर्पस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र सः ॥ —कठोपनिषद् १।२।२४।

स्वायम्भुव ऋषिप्राण, सौर देवप्राण, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला पारमेष्ठ्य महान् 'भाव, योनिज, अपोनिज,' भेद से तीन मृष्टियों का प्रवर्त्तक बन रहा है। ऋषिप्राण के द्वारा भाव-मृष्टि का विकास हुआ है, जिसे 'मानसी सृष्टि' भी कहा जा सकता है। यही पहली 'ऋषिसृष्टि' (प्राणमृष्टि) है। देवप्राण के द्वारा अपोनिज मृष्टि का विकास हुआ है, जिसे 'शुण्मृष्टि' भी कहा जा सकता है। यही दूसरी देवसृष्टि है। स्वप्राणद्वारा योनिज सृष्टि का विकास हुआ है, जिसे 'विकारसृष्टि' भी कहा जा सकता है। यही तीसरी प्राणीसृष्टि (मैथुनीसृष्टि) है। इस प्रकार ऋषि-देव-पितर, तीनों के समन्वय से महान् के द्वारा तीन सृष्टियों का विकास हो रहा है।

महान् से पहिले अपनी सत्ता रखने वाले स्वयम्भू ब्रह्म वेदमूर्ति हैं। ऋक्सामाथर्छिद्र यजुः ही ब्रह्मनिःश्वसित नामक अपौरुषेय वेदतत्त्व है, जिस का 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में ८०० पृष्ठों में विराट्-वैज्ञानिक विरलेपण हुआ है। जूलव स्थितितत्त्व के आधार पर प्रतिष्ठित यन्त्ररूप गति भाव ही ऋषितत्त्व है, जिसे 'प्राण वा ऋषयः' (शत० ६।१।१। अ० १ प्रा० १ कं०) इत्यादि रूप से 'प्राण' भी कहा गया है। ऋक्-साम सन्बन्ध से नित्य युक्त इन ऋषिप्राण के तपोलक्षण आन्तर व्यापार से बागुरूप जू भाग द्वारा प्रवर्ग्यरूप से सर्वप्रथम आपो-मय परमेष्ठी का ही स्वातीभाव हुआ है, जैसा कि—'सोऽपोऽसृजत् वाच एव लोकात्, शानेव साऽसृज्यत्' (शत० ६।१।१।) 'अप एव ससर्वादा' (मनुस्मृतिः) इत्यादि श्रौत-स्मार्त प्रमाणों से प्रमाणित है। ऋक्-साम सन्बन्ध से त्रयोमूर्ति बना हुआ यह ऋषिप्राण, किंवा त्रयीतत्त्व जू भाग से आपोमय परमेष्ठी को उत्पन्न कर 'तत् सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्रादिशत्' न्याय से इस आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, जिस गर्भाभाव का 'सोऽनया त्रया विधया सहापः प्राविशन्, तत् आण्डं समवर्त्तत्' (शत० ६।१।१।) इत्यादि शब्दों में विरलेपण हुआ है। इस गर्भस्थिति से बतलाना यही है कि, आपोमय परमेष्ठी स्वायम्भुव-वेदत्मक ऋषिप्राण को अपने गर्भ में लिए हुए है। गर्भाभूत इसी ऋषिप्राण के द्वारा यह उक्त ऋषिमृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है।

अप्तत्त्व उत्पन्न हुआ है 'यजुः' नामक यजुः से। यजुः का यन् भाग गतिप्रकृतिक है, जू भाग स्थितिप्रकृतिक है। गतितत्त्व विद्यामधर्मा है, स्थितितत्त्व मङ्कोचधर्मा है। मङ्कोच-

विकासोभयधर्माविच्छिन्न-कारणात्मक यज्ञ से उत्पन्न कार्यात्मक अप्रतत्त्व में भी 'कारणगुणाः कार्य-गुणानारम्भन्ते' न्याय से संकोच-विकास, दोनों धर्म, उद्भूत रहते हैं। इन दो विरुद्ध धर्मों से युक्त अप्रतत्त्व के स्नेह, तेज, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। स्नेहलक्षण अप्रतत्त्व संकोचधर्मा है, यही 'भृगु' नाम से प्रसिद्ध है। एवं तेजोलक्षण अप्रतत्त्व विकासधर्मा है, यही 'अङ्गिरा' नाम से प्रसिद्ध है। स्नेह-तेजो लक्षण, भृग्वङ्गिरोमय, पूर्व कथनानुसार त्रयोतत्त्वात्मक ऋषितत्त्व को अपने गर्भ में रखने वाले इसी पारमेष्ठ्य तत्त्व का स्वरूप लक्ष्य में रखते हुए अधर्वश्रुति कहती है—

आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम् ।

अन्तरंते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः ॥ (गोपय ब्राह्मण, पूर्वभाग) ।

भृग्वङ्गिरोमय आपः का भृगु भाग 'आपः, वायुः, सोमः' भेद से तीन भागों में विभक्त है। अङ्गिरा भाग 'अग्नि-यमः-आदित्यः' भेद से तीन भागों में विभक्त है। यही पञ्चब्रह्म यत्-रूप द्विविध की प्रतिष्ठा (वेदप्रतिष्ठा) पर प्रतिष्ठित हो कर सर्वसृष्टिप्रवर्त्तक बन रहा है। अग्नि-वायु-आदित्यगर्भित आपः-वायु-सोममूर्ति स्नेहप्रधान आपः पितृसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, एवं आपः-वायु-सोम-गर्भित अग्नि-वायु-आदित्यमूर्ति तेजःप्रधान आपः देवसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। पितृ-सृष्टि में भार्गव अप्रतत्त्व का प्राधान्य है, देवसृष्टि में आङ्गिरस अप्रतत्त्व का प्राधान्य है। देवता पितरों की आधारभूमि बने हुए हैं, पितर देवताओं की आधार भूमि बन रहे हैं। इसी पारस्परिक समन्वय से इन के लिए 'समविव्यचुः' (सम विव्यचुः—ऋक्संहिता) कहा जाता है, जैसा कि पूर्व प्रकरण में बृहदुपय-विज्ञान में स्पष्ट कर दिया गया है।

सोमभाग को आधार बनाने वाला आदित्य सूर्य है, वायुभाग को आधार बनाने वाला अन्तरिक्ष चन्द्रमा है, एवं आपः को आधार बनाने वाला अग्नि पृथिवीलोक है। पृथिवी, वायु-चन्द्रयुक्त अन्तरिक्ष, आदित्यप्राणात्मक सूर्य, तीनों की संमष्टि देवसृष्टि है। अग्नि के आधारभूत पश्चिम पितर वसु हैं, वायु के आधारभूत पितर रुद्र हैं, सूर्य के आधारभूत पितर आदित्य हैं। इस प्रकार अग्नि-वायु-सूर्य, तीनों देवताओं की महिमा में आधाररूप से प्रतिष्ठित पितर वसु-रुद्र-आदित्य नामों से ही व्यवहृत हो रहे हैं। वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, २ मानवप्राण (जिन्हें अश्विनोष्णुमार कहा जाता है), इस प्रकार देवतन्त्र ३३ भागों में विभक्त हो रहे हैं, जो अग्नीषोमात्मक यज्ञ का वहन कर रहे हैं। यज्ञवहन करने वाले ये ही ३३ देवता उस पारमेष्ठ्य महान की अयोनित देवसृष्टि हैं।

जिस प्रकार आपः-वायु-सोमात्मक पितृतत्त्व का अग्नि-वायु-आदित्यात्मिका देवसृष्टि के साथ आधार रूप से समन्वय है, एवमेव अग्न्यादि तीनों का अथादि तीनों के साथ भी आधार-

रूप से समन्वय हो रहा है। अग्नि अप्तत्त्व की, वायु तदनुगृहीत चन्द्रमा-वायुतत्त्व की, एवं आदित्य सोमतत्त्व की आधारभूमि बन रहा है। इन तीनों के सम्बन्ध से अब्-वायु-सोममूर्ति महान् क्रमशः आकृति, प्रकृति, अहंकृति का, तथा तम-रज-सत्त्व गुण का अधिष्ठाता बन रहा है, जैसा कि प्रकरणारम्भ में ही स्पष्ट किया जा चुका है। अग्निगर्भित आपोमय महान् आप्यजीवों की, वायुगर्भित वायव्य महान् वायव्य जीवों की, तथा आदित्यगर्भित सौम्य महान् सौम्य जीवों की योनि बन रहा है। यही त्रिविध योनिजसृष्टि है, जिसे हम मैथुनीसृष्टि भी कह सकते हैं। प्रकृत में जिस योनिजसृष्टि का विवेचन प्रक्रान्त है, उस का 'महानात्मा' की पितृसृष्टि से ही प्रधान सम्बन्ध है, जिस के गर्भ में गौणरूप से देव, ऋषि, आग भी प्रतिष्ठित हो रहे हैं।

१—आपः—( अग्निः )	} —पितृसृष्टिप्रवर्त्तको महान्-आर्गवः ( स्तेष्टप्रधानः ) ।
२—वायुः—( यमः )	
३—सोमः—( आदित्यः )	

— — — — —

१—अग्नि —( आपः )	} —देवसृष्टिप्रवर्त्तको महान्-आक्षिरसः ( तेजःप्रधानः ) ।
२—यमः—( वायुः )	
३—आदित्यः—( सोमः )	

महानात्मा प्रजातन्तुवितानरूप से शुक्र में प्रतिष्ठित रहता है। इस महानात्मा के गर्भ में स्थायम्भुव ऋषिप्राण, तथा सौर देवप्राण भी प्रतिष्ठित हैं, यह पूर्व कथन से भलीभाँति सिद्ध हो जाता है। इसी आधार पर मान लेना पड़ता है कि, पितृऋण के साथ साथ पुत्र को ऋषिऋण, देवऋण, इन दोनों का भी अधिष्ठान बन जाना पड़ता है। बीजा पिता के महानात्मा में प्रतिष्ठित २५ कल पितृसहों में से जिस प्रकार पुत्र के औपपातिक आत्मा को २१ मात्रा का ऋण लेना पड़ता है, तथैव बीजा के महानात्मगत पितृसहः से अविनाभूत ऋषिमात्रा, देवमात्रा, इन दोनों का भी इसे ऋण लेना पड़ता है। इस प्रकार तीनों ऋणों को लेकर ही जीवात्मा जन्म धारण में समर्थ होता है। जब तक महानात्मानुगत भूतात्मा इन तीन ऋणों का परिशोध नहीं कर लेता, तब तक यह अपने नित्यशुद्ध-मुक्तरूप में नहीं आ सकता। क्योंकि बन्धनात्यन्तविमोक्त ही भूतात्मा का परमपुरुषार्थ माना गया है, अतएव तत्सिद्धि के लिए इन तीनों ऋणों का अपाकरण आवश्यक हो जाता है।

कहा गया है कि-ऋषिमात्रा से इसमें ज्ञानतन्त्र का प्रसार होता है। जितनी ज्ञानमात्रा इसे मिली है, इसका कर्तव्य है कि अपने ब्रह्मचर्यकाल में उसका स्वाध्यायद्वारा विकास कर उसे सन्निधियों में वितर कर दे। यही इसकी ऋषिऋण से मुक्ति मानी जायगी। देवमात्रा से इसके आध्यात्मिक जीवन-यज्ञतन्त्रों की स्वरूपरक्षा हो रही है। इसका कर्तव्य है कि, आधिभौतिक यज्ञकर्मद्वारा यह प्राकृतिक देवयज्ञ का अनुगमन करता हुआ देवमात्रा का आध्यायन कर दे। यही इसकी देवऋण से मुक्ति मानी जायगी। एवं तीसरे पितृऋण से त्राण पाने के लिए इसे जो कुछ करना पड़ता है, उसमें प्रजोत्पादन प्रधान कर्म माना गया है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होने वाला है। इस प्रकार स्वाध्याय से ऋषिऋण का, यजन से देवऋण का, एवं पुत्रोत्पादन से पितृऋण का अपाकरण करता हुआ द्विजाति वार्त्तव में परमपुरुषार्थसाधन में समर्थ हो जाता है। ऐसे अनृषी का ही जन्म धन्य है। यही घृतकृत्य है।

उक्त तीनों ऋणों से अतिरिक्त एक चौथा 'मनुष्यऋण' श्रोत माना गया है। आप संसार में उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर आयुर्भोग पर्यन्त अन्न, वित्त, पशु आदि सम्पत्तियों का प्रभूत मात्रा में भोग करते हैं। यह यथार्थ है कि, यदि आप उत्पन्न न होते, तो आपके उपभोग में आने वाली यह प्रभूत सम्पत्ति अवश्यमेव किसी अन्य मनुष्य के काम में आती। आपको यह नहीं भुला देना चाहिये कि, आप जिस पार्थिव अन्नादि सम्पत्ति का उपभोग कर रहे हैं, यह दूसरों की भी भोग्य है, आप उन मनुष्यों के ऋणी हैं, जिन्होंने सद्भावना से अपना सत्त्व हटा कर आपको सम्पत्-भोग का अवसर दिया है। यही आप पर मनुष्य का, मनुष्य का ही क्यों, प्राणिमात्र का ऋण है। इस ऋण से छुटकारा पाने के उपाय हैं—

आगत अतिथियों को अपने घर में सत्कार पूर्वक आश्रय देना। निर्धन, हीनाह्न, रुग्ण, असमर्थ, मनुष्यों की सहायता करना। अपने सामर्थ्य से सर्वात्मना स्वोदर पोषण में असमर्थ पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि के लिए घास, पानी, अन्नकण, आदि प्रदान करना। पक्षियों के लिए घापी-छूय-तड़ागादि बनबाना। अन्नक्षेत्र (सदावर्त), पाठशाला, मञ्जराला, आदि की स्थापना करना। निःसहाय कुलीन विधवाओं को गुप्तदान से उपहृत करना। इत्यादि सब कर्म मनुष्यऋण से आपको अनृषी बनावेंगे, जिस इस आनृत्यकर्म को धर्म्मचार्म्योर्नि—'आनृत्यसंधर्म्म' नाम से व्यवहृत किया है।

क्रूरवृत्ति वाला निष्ठुर-निर्दयी मनुष्य ही 'नृशंसो वातकः क्रूरः' के अनुसार 'नृशंस' कहलाया है। सहजसिद्ध मानवीय सौहार्द को जलाञ्जलि समर्पित करने वाले, अपनी क्रूरता से असमर्थों पर अनुचित शासन करने वाले, आगत अश्रमगतों का अश्रील-उदण्डभाषा में तिरस्कार करने वाले नरमजत पनमदान्ध ही 'नृशंस' कहलाए हैं। यहाँ मानवता सर्वथा जर्जरित है। और मानवता के नाते ऐसे नृशंस प्रणम्य हैं, उपेक्षणीय हैं। मनुष्यता से विरुद्ध धर्म्म ही नृशंसधर्म्म (अधर्म्म) है। ठीक इसके विपरीत मनुष्यमात्र के साथ सद्व्यवहार रखना, यथाशक्ति प्राणिमात्र

का उपकार करना मानवधर्म है, मनुष्यता है। यही आनुशंसधर्म है। इसी के अनुगमन से मनुष्यऋण नामक चतुर्थ ऋण का अपाकरण होता है। इन्हीं चारों ऋणों का स्वरूप बतलाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

१—“ऋणं ह वै जायते—योऽस्ति । स जायमान एव देवेभ्यः, ऋषिभ्यः, पितृभ्यः, मनुष्येभ्यः । स यदेव यजेत—तेन देवेभ्यः ऋणं जायते । तद्वचेभ्य एतत् करोति, यदेनान् यजते, यदेभ्यो जुहोति । (१)”

२—“अथ यदेवानुब्रवीत—तेनर्षिभ्य ऋणं जायते । तदेभ्य एतत् करोति, ऋषीणामिधिगोप इति, हनूचानमाहुः । (२)”

३—“अथ यदेव प्रजामिच्छेत—तेन पितृभ्य ऋणं जायते । तद्वयेभ्य एतत् करोति, यदेपां सन्तता अव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति । (३)”

४—“अथ यदेव वासवेत—तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते । यदेभ्योऽशनं ददाति ।” (४) । स एतानि सर्वाणि करोति, स कृतकर्मा । तस्य सर्वमाप्तं, सर्वं जितम्’ (शत० १।७।१, २, ३, ४, ५) ।

कहीं कहीं ब्राह्मणग्रन्थों में ही मनुष्यऋण के अतिरिक्त एक ‘भूतऋण’ और माना गया है। वस्तुतः प्राणऋण, भूतऋण, भेद से ऋण के दो ही मुख्य विभाग हैं। प्राणऋण ऋषि, पितर, देव, भेद से तीन भागों में विभक्त है। मनुष्य-पशु-पक्षी-कृमि-कीट, इन पाँच सर्गों में से मनुष्यविध भूतसर्ग पूर्णग्रह है, इस में प्रज्ञान ज्ञान का (बुद्धि के सम्बन्ध से) पूर्ण विकास है। शेष चारों भूतसर्गों का प्रज्ञानज्ञान सुकुलित है, अतएव इन्हें अपूर्णग्रह कहा जा सकता है। इस प्रकार एक ही भूतसर्ग के मनुष्यऋण, भूतऋण भेद से दो विवर्त हो जाते हैं। सम्भूय पाँच ऋण हो जाते हैं। इन पाँचों ऋणों के अपाकरण के लिए पञ्चमहायज्ञों का विधान हुआ है। सामान्यरूप से ऋण-अपाकरण करने वाले इन पाँचों महायज्ञों का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

“पञ्चैव महायज्ञाः । तान्येव महा सत्त्वाणि—भूतयज्ञः, मनुष्ययज्ञः, पितृयज्ञः, देवयज्ञः, ब्रह्मयज्ञः, इति ।

अहरहर्भूतेभ्यो बलिं हरेत्, तथैतं भूतयज्ञं ममाप्नोति । अहरहर्दद्यान्—ओदपात्रान्, तथैतं मनुष्ययज्ञं ममाप्नोति । अहरहः स्वधा कुर्यात्—ओदपात्रान्, तथैतं पितृयज्ञं ममाप्नोति । अहरहः स्वादा कुर्यात्—आन्नाष्टान्, तथैतं देवयज्ञं ममाप्नोति । अथ ब्रह्मयज्ञः । स्वाध्यायो वै ब्रह्मयज्ञः । (शत० १।१।१।१, २, ३, ४) ।

उक्त द्विविध ऋणों में से ऋषिगोत्र प्राणऋण को ही मुख्य माना है, जिसके ऋषि, पितर, देव, भेद से तीन अखान्तर विभाग है। कारण इस का यही है कि, पूर्णप्रज्ञ मनुष्य (अतिथि) से सम्बद्ध मनुष्यऋण, अपूर्णप्रज्ञ पञ्चादि प्राणियों से सम्बद्ध भूतऋण, यह द्विविध भूतऋण केवल लोकनिष्ठा से ही सम्बन्ध रखता है। उभयलोकानुगता प्राणसंस्था से इस का विशेष सम्बन्ध नहीं है। भूतऋण परिशोध न करने वाला मानवता से बहिष्कृत है, वह क्रूर कहलाता है, उस का व्यावहारिक मार्ग कष्टकाकीर्ण हो जाता है। परन्तु परलोकदृष्ट्या प्रत्यक्ष में विशेष अनिष्ट नहीं होता। इधर प्राणऋणत्रयी के परिशोध किए बिना यह उभयलोकसम्पन्न से वञ्चित रह जाता है। इस लोक में अभ्युदय नहीं होता, परलोक में यामी-याननाएँ सहनी पड़ती हैं। आत्मा जन्म-मृत्युवन्धन से छुटकारा नहीं पाता। अतएव अन्यत्र स्वयं श्रुतिने इन तीनों का ही प्राधान्य स्वीकार किया है, जैसा कि निम्न लिखित प्रचन से प्रमाणित है—

“एष व जायमानस्त्रिभिर्ऋणवाञ्छायते—ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनुगृणी—यः पुत्री, यज्वा, ब्रह्मचारी च”।

उक्त तीनों ऋणों में से प्रथम प्रकरण में हमें केवल ‘पितृऋण’ के परिशोध की सीमांमा करनी है। पूर्वप्रतिपादित ‘प्रजानन्तुविज्ञानविज्ञान’ से यह स्पष्ट हो जाता है कि, प्रत्येक पुरुष में ८४ कल पितृसहःपिण्ड प्रतिष्ठित रहता है। इन चारसी में से मूलपुरुष के १—वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, २—अतिवृद्धप्रपितामह, ३—वृद्धप्रपितामह, ४—प्रपितामह, ५—पितामह, ६—पिता, इन ६ परपुरुषों से इस मूलपुरुष को क्रमशः १-३-६-१०-१५-२१ इतने सहोभाग ऋणरूप से मिले हैं, जिन के संकलन से ५६ कला हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं मूलपुरुष अपने शुक्रगत महानात्मा में २८ कला स्वपुरुषार्थ से उत्पन्न करता है। यह इस का आरम्भधन है। इस प्रकार ५६ पितृऋण, २८ आत्मधन, दोनों के संकलन से इस का शुक्रस्थ महानात्मा ८४ कल सहःपिण्ड से युक्त हो जाता है। मूलपुरुष में प्रतिष्ठित स्वात्मधनरूप २८ कलाओं का विचार छोड़ते हुए पहिले हमें परम्परया आगत, ऋणरूप से प्रतिष्ठित ५६ कलाओं का विचार करना है। प्रारंभ इस सम्बन्ध में यह उपस्थित होता है कि, यदि पितृऋण के परिशोध के बिना आरम्भवन्धन विमोक्त अमम्भय है, तो इन के परिशोध का उपाय क्या?, किन साधनों से, किन उपायों से मूलपुरुष अपनी इन ५६ ऋणकलाओं के भार से मुक्ति पा सकता है?, इन्हीं प्रश्नों के समाधान के लिए ऋषियों की ओर से चार उपाय हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं—

१—प्रजोत्पादनकर्मणा — ऋणमुक्तिः—प्रजोत्पादनेनान्यत्।

२—सपिण्डीकरणेन — ऋणमुक्तिः—सपिण्डीकरणेनान्यत्।

३—आर्द्धकर्मणा — ऋणमुक्तिः—आर्द्धेनान्यत्।

४—गयापिण्डदानेन — ऋणमुक्तिः—गयापिण्डदानेनान्यत्।

## १—प्रजोत्पादन त्मकं प्रथममानृत्यं कर्म

### प्रजोत्पादनानुगत आनृत्यविज्ञानोपक्रम—

सर्वप्रथम क्रमप्राप्त प्रजोत्पादनलक्षण प्रथम ऋणपरिशोध की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। शास्त्रविहित पद्धति के अनुसार पुरुष ने समावर्त्तनसंस्कारान्तर गृहमेधी बनने की कामना से 'असमानार्गोत्रजं' कन्या के साथ विवाह किया। प्राप्तवयस्का पत्नी के साथ ऋतुकाल में पति ने गर्भाधानसंस्कार किया। परिणामस्वरूप दम्पती के शुक्र-शोणित के समन्वय से गर्भस्वरूप सम्पन्न हो गया। कालान्तर में माता पिता ने पुत्रमुखदर्शन कर अपने आप को पितृऋण से उद्धृत माना। और यही भारतीय विवाह-धन्धन का प्रधान लक्ष्य माना गया। शुक्राहुति के द्वारा सुतसुखायलोकन से दम्पती पितृऋण से कैसे उद्धृत हो गए, यही विचारणीय प्रश्न है। शुक्र का शोणित में आघात करने वाला, शुक्रात्मक बीज का शोणितात्मक क्षेत्र में धन करने वाला, अतएव 'बीजी' नाम से व्यवहृत होने वाला प्रिता शुक्राहुति के साथ साथ शुक्रस्थ ऋण-फलाओं का भी आधान कर देता है। एवं यही इस का आनृत्यकर्म है, जिस का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण किया जा सकता है,

### मात्रानुगतऋणतत्त्ववितान—

ऋणरूप से प्राप्त जिन ५६ कलाओं का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है, वे सभी तो शुक्रद्वारा शोणित में आहुत नहीं हो जातीं। अपितु 'आत्मधेय-तन्य' रूप से इन के दो विभाग हो जाते हैं। इनमें से आत्मधेयकलात्मक ऋण का तो बीजी पुत्रोत्पादनकर्म से परिशोध नहीं कर सकता। परिशोध करता है केवल तन्यकलात्मक ऋण का। कहा गया है कि, 'बृद्धातिवृद्धप्रपितामह से इसे केवल १ कला ऋणरूप से मिली है। क्योंकि इस में आगे वितान का अभाव है, अतएव यह सातवें पुरुष की ऋणकला तो केवल बीजी में आत्मधेयरूप से ही प्रतिष्ठित रह जाती है। इस का शुक्रद्वारा परिशोध असम्भव है। अतिवृद्धप्रपितामह से इसे ३ कला ऋणरूप से मिली है। इन में संख्यानुगत मात्राधिकता से आगे वितत होने का धर्म विद्यमान है। फलतः इस के आत्मधेय तन्य भेद से दो विभाग हो जाते हैं। १ ऋण कला आत्मधेयरूप से बीजी में ही प्रतिष्ठित रहती है, शेष २ ऋण कला तन्यरूप से शुक्रद्वारा पुत्रोत्पादन कर्म में उपयुक्त हो जाती हैं। बृद्ध-प्रपितामह से इसे ६ कला ऋणरूप से मिली है। इन में से ३ प्रतिष्ठित रह जाती हैं, ३ पुत्रोत्पादनकर्म में उपयुक्त हो जाती हैं। प्रपितामह से १० कला मिली हैं। इन में से ४ प्रतिष्ठित रह जाती हैं, ६ कला उपयुक्त हो जाती हैं। पितामह से १५ कला मिली हैं। इन में से ५ प्रतिष्ठित रह जाती हैं, १० कला उपयुक्त हो जाती हैं। अपने पिता से २१ मिली हैं। इन में से ६ प्रतिष्ठित रह जाती हैं, १५ कला उपयुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार बृद्धातिवृद्ध०-अतिवृद्धप्र०-बृद्धप्रपिता०-प्रपिता०-



पितामहः—एवं पिता से मिलने वाली १-३-६-१०-१५-२१ इन ऋणकलाओं में से ६ १-२-३-४-५-६, ये २१ ऋणकलाएँ तो आत्मधेयरूप से बीजी में ही प्रतिष्ठित रह जाती हैं, एवं शेष १-३-६-१०-१५ ये ३५ कला तन्यरूप से शुक्रद्वारा पुत्रोत्पादनकर्म में उपयुक्त हो जाती हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

वृद्धातिवृद्धप्रपितामहतः—१—६ मात्राभावाद्पितामायः

अतिवृद्धप्रपितामहतः—३—१—२

वृद्धप्रपितामहतः—६—३—३

प्रपितामहतः—१०—६—४

पितामहतः—१५—१०—५

पितुःसकाराण—२१—१५—६

(पितृऋणम्) ऋणभागः ५६ ३५ २१ (३५ + २१ = ५६) —

तन्याः आत्मधेयाः

इस दृष्टिकोण को विशेषरूप से ध्यान में रखना होगा कि, पुरुष के शुक्र में ऋणरूप से प्रतिष्ठित ५६ कलाओं में से ३५ कलाओं के ऋण से ही इस की मुक्ति होती है, शेष २१ ऋणकलाएँ आत्मधेयरूप से इसी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं। यदि पुत्रोत्पादन कर्म न हो, तो इन ३५ कलाओं का परिशोध सर्वथा असम्भव बन जाय। इस के अतिरिक्त यह स्वयं भी अपूर्ण बन रह जाय। अपनी अपूर्णता का कारण यही है कि, पुत्रादि उत्पन्न न होने पर शुक्राहुति व्यर्थ चली जाती है। और उस समय न तो इस के आत्मधन के तन्यभाग की ही पूर्णता होती है, एवं न पितृऋण का ही परिशोध होता है। इसी अपूर्णतानिवृत्ति-पूर्णताप्राप्ति-पितृऋणमोचन-के लिए प्रजोत्पादन कर्म आवश्यक माना गया है, जो कि कर्म असमानार्थे गोत्रजा कन्या के साथ वैवाहिक सम्बन्ध के द्वारा दाम्पत्यभाव प्राप्त करने पर ही सफल बन सकता है।

बीजी में पर पुरुषों से ऋणरूप से जैसे ५६ कला आती हैं, वैसे इसके अपने शुक्र में नक्षत्राचलित, अतएव २८ कला विभक्त चान्द्रस के द्वारा २८ कला पितृमहामि और आते हैं। यही इसका आत्मधन कहलाया है। जिस प्रकार पितृऋण की ३५ कलाएँ तन्यरूप से पूर्वक्रमानुसार शुक्रद्वारा प्रजोत्पादनकर्म से पुत्र में जाती हैं, शेष २१ कला आत्मधेयरूप से बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं, एवमेव स्वात्मधन की २८ कलाओं के भी आत्मधेय-तन्यरूप से दो-विभक्त हो जाते हैं। २८ में से २१ मात्राएँ पुत्रोत्पादनकर्म में उपयुक्त हो जाती हैं, ये ही आत्मधन की तन्यकला हैं। एवं ७ कलाएँ-

स्वयं बीजी में प्रतिष्ठित रह जाती हैं, ये ही आत्मधन की आत्मधेयकला हैं। पितृऋण की ३५ तन्यकला, आत्मधन की २१ तन्यकला, सम्भूय जो ५६ कला ऋणरूप से पुत्रोत्पादन कर्म में उपयुक्त होती हैं, वे कालक्रम से पुत्र-पौत्रादि के द्वारा चन्द्रलोकगत बीजी, तत्पिता-पितामहादि को पुनः मिल जाती हैं, जैसा कि सपिण्डीकरण में स्पष्ट होने वाला है। कालक्रम इसलिये मानना पड़ता है कि, बीजी के सातवें पुरुष (वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र) पर्यन्त व्याप्त पितृसहों को वह बीजी पुत्र-पौत्रादि क्रम से ही वापस प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है। हाँ, यदि पुत्र से पहिले पौत्र का निधन हो जाता है, तो कालक्रम का विपर्यय भी हो जाता है। परन्तु पूरी मात्राओं का प्रत्यर्पण सातवीं पीढ़ी पर जाके ही समाप्त होता है।

सातवीं सन्तान के द्वारा जो ऋणकलाएँ वापस मिलती हैं, उन से मुक्ति केवल वृद्धातिवृद्ध-प्रपितामह की होती है। कारण स्पष्ट है। सातवीं पीढ़ी में वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का एक पितृसहः ऋणरूप से भुक्त है। इसी से उसे अपना यह एक अंश प्राप्त होता है। इस अंश को प्राप्त करने के अनन्तर ही सातवें वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का पृथिवी से सम्बन्ध टूट जाता है। बीजी में यदि पुत्र उपन्न कर दिया, तो पिता से आने वाली २१ कलाओं में से १५ देकर वह वह ऋणमुक्त हो गया। पुत्र ने यदि पुत्र उत्पन्न कर दिया तो आत्मस्थ १५ में से १० कला देकर इस अंश से वह उद्धरण हो गया। यही क्रम आगे समझिए। सातवीं पीढ़ी पर जाके परम्परया प्राप्त इन ३५ कलाओं का पूर्ण परिशोध हो जायगा। शेष कलाएँ सपिण्डीकरण से ही वापस मिलेंगी। बीजीपुरुष का आत्मधन किस व्यवस्था से आत्मधेय, तन्यरूप से विभक्त होता है, यह निम्न लिखित परिलेख से भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है—

- |                              |             |                                  |
|------------------------------|-------------|----------------------------------|
| १—आत्मन्येय रथास्थानं—       | सप्त कलाः   | ७—आत्मधेयाः                      |
| २—पुत्रे-ओपेकविंशतेः—        | पद् कलाः    | ६—पुत्रात्मधेयाः                 |
| ३—पौत्रे-ओप्तपञ्चदशभ्यः—     | पञ्च कलाः   | ५—पौत्रात्मधेयाः                 |
| ४—प्रपौत्रे-ओप्तदशभ्यः—      | चतस्रः कलाः | ४—प्रपौत्रात्मधेयाः              |
| ५—वृ० प्र०-ओपेभ्यः पङ्कभ्यः— | तिस्रः कलाः | ३—वृद्धप्रपौत्रात्मधेयाः         |
| ६—अति०-ओपेभ्यस्तिष्ठभ्यः—    | द्वे कले    | २—अतिवृद्धप्रपौत्रात्मधेयाः      |
| ७—वृ० अति०-ओप्तावशिष्टा—     | एका कला     | १—वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रात्मधेयाः |

‘ऋणमस्मिन् संनयति’—

उक्त क्रमानुसार अष्टाविंशतिकल आत्मधन का ६ सन्तानों में आवाप होने से स्वयं बीजी पुरुष में आत्मधनरूप से केवल ७ मात्राएँ (आत्मप्रतिष्ठा के लिए) बच रहती हैं। प्रत्येक पुरुष

अपने पिता का पुत्र है, पितामह का पौत्र है, प्रपितामह का प्रपौत्र है, वृद्धप्रपितामह का वृद्धप्रपौत्र है, अतिवृद्धप्रपितामह का अतिवृद्धप्रपौत्र है, वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र है। इस आपेक्षिक भाव से प्रत्येक पुरुष परम्परया आगत १६ ऋणकलाओं से, स्वोपाजित २८ कलाओं से ८४ कला धन जाता है। इनमें से ऋण की १६ में से इसमें २१ आत्मधेयरूप से वचती हैं, धन की २८ कला में से आत्मधेयरूप से ७ कला वचती हैं। सम्भूय आत्मधेय कला २८ वच रहती हैं। प्रत्येक पुरुष के शुक्रायच्छिन्न महानात्मा में २८ कला नित्य प्रनिष्ठित रहती हैं।

प्रकरणार्थ यही है कि, स्वप्रतिष्ठा के लिए, पितृऋण के द्वारा प्राप्त ३५ कलाओं के परिशोध के लिए प्रजोत्पादनकर्म ( पुत्रोत्पादन ) आवश्यकरूप से अपेक्षित है। जिसके पुत्र उत्पन्न नहीं होता, वह ऋण-धन से भी मुक्त नहीं होता, साथ ही अपने आत्मधन से भी वह बञ्चित रह जाता है, जैसा कि— 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इत्यादि से स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, उत्पन्न पुत्र का मुखदर्शन आवश्यक है। दृष्टि में सत्यतत्त्व विश्रामान है, मत्य ही श्रद्धातत्त्व का रूपान्तर है। उधर श्रद्धासूत्र के द्वारा ही प्रजातन्त्रुओं का पारस्परिक सम्बन्ध सुरक्षित रहता है। इसी सम्बन्धवार्थ के लिए पुत्रमुखदर्शन को धर्माचार्यों ने आवश्यक बतलाया है, जैसा कि निम्न लिखित ध्येय से स्पष्ट है—

“ऋणमस्मिन् संनयति, अमृतत्वं च गच्छति।

‘पिता पुत्रस्य’ जातस्य पर्येवैजीवितो मुमुक्षु ॥” ( वसिष्ठः १७ अ० )।

इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि, उत्पन्नपुत्र के साथ एक बार यदि पिता का दृष्टि-सम्बन्ध हो गया, एवं दुर्दैववशा पुत्र का यदि पिता से पहिले निधन हो गया, तब भी आनृण्यकर्म में कोई क्षति नहीं होती। यदि पुत्र पिता के दृष्टिसम्बन्ध से बञ्चित रहता हुआ कालकवलित हो गया, तो आनृण्यकर्म संशयास्पद धन जाता है। वीजी पिता अपनी २८ में से २१ का पुत्र को ऋणी बनाता हुआ, १६ पारम्परिक मात्राओं से ३५ का पुत्र पर उत्तरदायित्व ढाल देता है, इसी अभिप्राय से ‘ऋणमस्मिन् संनयति’ कहा गया है। अपुत्री, अतण्व उभयलोक-प्रतिष्ठा से बञ्चित, एवं पुत्री, अतण्व उभयलोक प्रतिष्ठा से युक्त पुरुष की प्राकृतिक दशाओं का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

१—“अनन्ताः पुत्रिणां लोका नापुत्रस्य लोकोऽस्ति”।

२—“प्रजाः सन्त्वपुत्रिणः” इत्यभिप्रायः।

३—“प्रजाभिरग्नेऽमृतत्वं स्यात्” इत्यपि निगमो भवति।

४—“पुत्रेण लोकाञ्जयति, पौत्रेणानन्त्यमरनुते।

अथ पुत्रस्य पौत्रेण वध्नस्याप्नोति विष्णुम् ॥”

चतुर्थ वचन बीजी की जीवितदशा से सम्बन्ध रखता है। बीजी-पिता अपनी जीवितदशा में (जीतेजी) पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, इन तीन पीढ़ियों को यदि अपनी आँखों से देख लेता है, तो उस का भूतारमा 'ब्रह्मस्य विष्टप' नामक, पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर प्रतिष्ठित 'नाक' नाम से प्रसिद्ध सौर-तत्त्वानुशय से युक्त हो जाता है। सौरतत्त्व हिरण्य है, जिस सौरतत्त्वातिशय के प्रवेश से सुवर्ण धातु भी 'हिरण्य' कहलाया है। यही कारण है कि, प्रपौत्रजन्मोत्सव पर प्रपितामह (पड़वावा) को सोने की मीढ़ी पर चढ़ाया जाता है। यह प्राकृतिक हिरण्यमी-नाकगति का अभिनयमात्र है।

यदि किसी पुरुष के स्वयं के पुत्र उत्पन्न नहीं होता, तो उस की श्रृणुमुक्ति का क्या उपाय ? इस सम्बन्ध में शास्त्र (स्मृति) ने यह व्यवस्था की है कि, समानोदर (सहोदर) अनेक भ्राताओं में से यदि किसी एक के पुत्र उत्पन्न हो जाता है, तो इससे वे सभी समानोदर पुत्रवान् बन जाते हैं। क्योंकि समानरूप से दत्त श्रृणुतन्तुओं का परिशोध एक के पुत्र हो जाने से गतार्थ है। इसी अभिप्राय से वसिष्ठ ने कहा है—

बहूनामेकजातानामेकश्चेत् पुत्रवाभरः ॥

सर्वे ते तेन पुत्रेण पुत्रवन्त इति श्रुतिः ॥ १ ॥

बहूनामेकपत्नीनामेका पुत्रवती यदि ।

सर्वास्तास्तेन पुत्रेण पुत्रवत्य इति श्रुतिः ॥ २ ॥ (वसिष्ठस्मृतिः) ।

द्वादशविधपुत्रस्वरूपपरिचय—

धर्मशास्त्र में जिन द्वादशविध पुत्रों का उल्लेख उपलब्ध होता है, उनमें से प्रथम क्षेत्री (औरस) पुत्र के अतिरिक्त शेष ११ पुत्र श्रौतविद्वानसिद्ध श्रृणुमोचनकर्म्म से सम्बद्ध हैं, अथवा नहीं ? इस प्रश्न की कोई सीमांसा न करते हुए प्रसङ्गोपात् यहाँ केवल उनका स्वरूप उद्घृत कर दिया जाता है। दत्तकविधि के सम्बन्ध में अभी मौनपक्ष ही श्रेयःपन्था है। तत्त्वदर्शी विद्वानों के लिए कारण परोक्ष नहीं है। अस्तु 'पुत्र' नाम से व्यवहृत १२ विभाग यत्रतत्र स्मार्त्तग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। इन १२ में पूर्वपदक 'दायाद' है, इसे कुलअमानुगत सम्पत्ति का अधिकारी माना गया है। उत्तर-पदक 'अदायाद' माना गया है। एवं ये पुत्र विभाग निम्न लिखित नामों से व्यवहृत हुए हैं—

१—क्षेत्री (१)	१—दत्तकः (७)	पद-अदायादः
२—दौहित्रः (२)	२—प्रीतिः (८)	
३—क्षेत्रजः (३)	३—कृत्रिमः (९)	
४—गृहजः (४)	४—दत्तात्मा (१०)	
५—कान्तनः (५)	५—सहोदजः (११)	
६—पौनर्भवः (६)	६—अपविद्धः (१२)	

१-क्षेत्री—

ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, चारों में से किसी एक शास्त्रपद्धति से परिणीता धर्मपत्नी से यथाधिधि उत्पन्न पुत्र ही 'क्षेत्री' है। यही 'औरस' पुत्र कहलाया है, जैसा कि—'औरसो धर्मपत्नीजः' इत्यादि याज्ञवल्क्यस्मृति से प्रमाणित है। उक्त चारों विवाहों के धर्मशास्त्र में निम्न लिखित लक्षण बतलाए गए हैं—

“ब्राह्मो विवाह आहूय दीयते शक्त्यलङ्कृता ।

तजः पुनात्युभयतः पुरयानेकविंशतिम्” ( या० स्मृ० आ० ५८॥ )।

“कुल-शील-यय-आदि लक्षणों से परीक्षित घर का सम्मानपूर्वक निमन्त्रण कर संकल्पपूर्वक स्वशक्त्यनुसार वस्त्रालङ्कारादपूर्वक कन्यादान करना ही '१-ब्राह्मविवाह' है। ऐसी कन्या से उत्पन्न औरस पुत्र अपने सपिण्डसप्तक, सोदकसप्तक, एवं सगोत्रसप्तक, इन २१ पितृपरम्पराओं को पवित्र करता है। एवं पिता-पितामहादि १० पूर्वपुरुषों को, तथा स्वपुत्र-पौत्रादि १० उत्तरपुरुषों को, स्वयं अपने आपको, इस प्रकार इन २१ पुरुषों को पवित्र करता है”।

२—यज्ञस्थश्चत्विजे दैव आदात्यार्षस्तु गोदयम् ।

चतुर्दश प्रथेमजः पुनात्युत्तरजश्च पट् ॥” ( या० ५९॥ )।

“अपने श्रौत वितानयज्ञ में ऋत्विक्स्वरूप से वृत्त योग्य श्रोत्रिय ब्राह्मण को कन्यादान करना '२-दैवविवाह' है। एवं गोमिथुन पूर्वक कन्यादान करना '३-आर्षविवाह' है। दैवविवाह से कन्या में उत्पन्न पुत्र अपने सपिण्डसप्तक, सोदकसप्तक, इन १४ पितृपरम्पराओं को, तथा पिता-पितामहादि सात पूर्वपुरुषों को, तथा पुत्र-पौत्रादि सात उत्तरपुरुषों को, इस प्रकार १४ पुरुषों को पवित्र करता है। आर्षविवाह से उत्पन्न होने वाला पुत्र पिता, पितामह, प्रपितामह ३ पूर्वपुरुषों को, एवं पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र, इन तीन उत्तर पुरुषों को, सम्भूय ६ पुरुषों को पवित्र करता है”।

४—इत्युक्त्वा चरतां धर्मं सह या दीयतेऽर्थिने ।

स कामः पावयेत्तजः पट् पट् वरयान् सहात्मना ॥ ( या० ६०॥ )।

“विवाहकामुक अर्थी के लिए 'सह धर्मं चरताम्' इस संकल्पोच्चारण के साथ जो कन्यादान होता है, वही '४-प्राजापत्यविवाह' कहलाया है। प्राजापत्यविवाह से उत्पन्न पुत्र पिता-पितामहादि ६ पूर्वपुरुषों को, पुत्र-पौत्रादि ६ उत्तर पुरुषों को, स्वयं अपने आपको, सम्भूय १२ पुरुषों को पवित्र करता है”।

२-‘दौहित्रः’ ( औरससमः )

“अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलङ्कृताम् ।

अस्य यो जायते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति” ॥ ( वसिष्ठस्मृतिः १७।१८ ) ।

“विना भ्राता की यह कन्या मैं आपको इस सन्धा ( शर्त ) के साथ दान कर रहा हूँ कि, इसके जो प्रथम पुत्रसन्तान होगी, वह मेरा ( कन्यादानकर्त्ता-कन्यापिता ) का पुत्र होगा,” इस प्रकार जो कन्यादान होता है, उस कन्या से उत्पन्न पुत्र ‘दौहित्रपुत्र’ कहलाया है । रत्नसम्बन्ध के सन्निकट होने से ‘द्वितीयः पुत्रिकैव’ के अनुसार इसे द्वितीयपुत्र मान लिया गया है । स्वसंकल्प द्वारा इस भविष्यत्-कन्यापुत्र में ‘यो यन्छुद्दः स एव सः’ मिद्वन्तानुसार कन्यादान समय में ही दाता स्वगोत्रे-सम्बन्ध स्थापित कर देता है । इसी आधार पर—‘तत्समः पुत्रिकामुतः’ ( या० ८।१२८ ) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है ।

—२—

३-क्षेत्रजः—

“क्षेत्रजः क्षेत्रजातस्तु सगोत्रेणेतरेण वा” ( या० ८।१२८ )

“तदत्तामे निपुक्तायां क्षेत्रजः” ( वसिष्ठः १७।१४ )

इत्यादि वचनों के अनुसार सगोत्रबन्धु के द्वारा, अथवा सपिण्ड देवर के द्वारा नियोगविधि से उत्पादित पुत्र ही ‘क्षेत्रजः’ कहलाया है ।

“अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।

उभयोरप्यर्सा रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥”

उपप्युक्त स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार—‘अपुत्रां सुर्वनुज्ञातः’ इत्यादि शास्त्र-विधिपूर्वक पर-भार्या में अन्य पुरुष से उत्पादित पुत्र ही ‘क्षेत्रज’ कहलाया है । इस नियोगविधि का अधिकारी देवरादि स्ववंश का ही व्यक्ति माना गया है । यदि नियोगकर्त्ता-देवर-स्वयं भी अपुत्री है, तो नियोग-विधि में परक्षेत्र में उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र बीजी, क्षेत्री, दोनों का पुत्र कहलाता है । यदि नियुक्त देवरादि पुत्रवान् है, केवल क्षेत्री के लिए ही यदि वह पुत्र उत्पन्न करता है, तो वैसी दशा में वह क्षेत्रज केवल क्षेत्री का ही रिक्थहा, तथा पिण्डदाता बनता है । इसी सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

फलं त्वनभिसन्धाय क्षेत्रिणा बीजिना तथा ।

प्रत्यक्षं क्षेत्रिणामर्थो बीजाद्योनिर्वलीवसी ॥

परचेत्रे के साथ नियोग करना शास्त्रसम्मत है, परन्तु वह परचेत्र वैसा ?, क्या विधवा स्त्री नियोग के द्वारा पुत्र पुत्र्य उत्पन्न कर सकती है ?, नहीं, सर्वथा नहीं । नियोग की अधिकारी कौन है ?, इस प्रश्न की सीमांसा करते हुए मनु ने व्यवस्था की है कि—

देवगान् मैषिण्डाढा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्त्या ॥

प्रजप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिचये ॥

विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो दिशि ॥

एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ॥ २ ॥

नियुक्तौ यां विधिं हन्वा वर्त्तयतां तु कामतः ॥

तावुभौ पतितां स्यातां स्तुपागगुरुत्पगौ ॥ २ ॥

जहाँ ( राज्यतन्त्रानुशासक प्रजाव्यवस्थासापेक्ष राजवंश में ) वंशोच्छेद का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय, उस परिस्थिति में विधवा स्त्री से अपने देवर से, अथवा अन्य सपिण्ड से नियोग-विधिद्वारा सन्तानोत्पत्ति की जा सकती है, जिस का एकमात्र लक्ष्य है—अराजकता का निरोध । इस विधवा से नियोग करने वाला अपने शरीर से घृत लिम्पन कर सर्वथा मौन रहता हुआ रात्रि में बड़े संयम के साथ कामचेष्टाओं से अपने आप को सर्वथा वचाता हुआ ही नियोग करेगा । नियोगविधि में प्रयुक्त स्त्री, पुरुष, दोनों में से किसी एक ने भी काम-चेष्टा का अनुगमन किया, तो दोनों का पतन हो जायगा ।

उक्त व्यवस्था के अनन्तर 'विधवा' का प्रश्न उपस्थित हुआ । नियोगविधि में 'विधवा' से कौन गृहीत है ?, इस प्रश्न का उत्तर है—'वाग्दान से अन्य मृतपति की स्त्री' । जिस के प्रति कन्या का वाग्दान (मगाई) हो जाता है, आर्पणपद्धति के अनुसार वही उस का 'पति' बन जाता है । यदि दुर्भाग्य से वाग्दान होने के अनन्तर, तथा मापपदीन से पहिले ( विवाह से पहिले ) वह पति मर जाता है, तो वह वाग्दत्ता विधवा बन जाती है । 'सकृत् कन्या प्रदीयते' मिढागत के अनुसार वाग्दान मग्य में ही कन्यादान गतार्थ है । अब पुनः अन्य के लिए इम का दान व्यवस्था है, क्योंकि वाग्दान कर्म में दाता पिता के स्वत्त्व की निवृत्ति हो चुकी है, एवं भावी पति के स्वत्त्व का स्थापन हो चुका है । अब इम वाग्दत्ता का वंश कैसे चले ?, इम प्रश्न समाधि के लिए ही, ऐसी विधवा के लिए ही उक्त नियोगविधि विहित हुई है । विवाहानन्तर जिस का पति मर जाता है, उस विधवा के लिए तो यह नियोगविधि भी सर्वथा अवस्था है । हाँ, द्विजातिवर्गातिरिक्त शूद्रवर्ग में ऐसी विधवा भी नियोगविधि का अनुगमन कर सकती है । इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि, यदि कहीं राज्यतन्त्रोच्छेद का अवसर आ जाय, तो क्षत्रियराजा के लिए भी ऐसा नियोग विधान अपवाद रूप से प्राक्कृत होता है । परन्तु सामान्यतः मृतपति की विधवा के लिए नियोग-विधान मर्यादा बर्था ही है । इसी व्यवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर मनु ने कहा है—

“नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।

अन्यस्मिन् हि नियुञ्जानां धर्मं हन्युः सनातनम् ॥ १॥

नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोगः कीर्त्यते क्वचित् ।

न विवाहविधायुक्तं विधवावेदनं पुनः ॥

अयं द्विर्जहि विद्वद्भिः पशुधर्मो-विगर्हितः ।

मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशामति ॥ २ ॥

म महीमखिलां भुञ्जन् राजर्षिप्रवरः पुरा ॥

वर्णानां सङ्करं चक्रे कामोपहतचेतनः ॥ ४ ॥

ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकं स्त्रियम् ॥

नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥ ५ ॥”

× × × × × ×

“यस्या म्रियेत कन्याया वाचा सत्यं कृते पतिः ॥

तामनेन विधानेन निजो विन्देत देवरः ” (६) ।

—३—

#### ४—गूढजः—

‘गूढे प्रच्छन्न उत्पन्नो गूढजस्तु सुतः स्मृतः’- ( या०स्मृ० भा० १२६ । ) के अनुसार अपने पति के घर में ही किसी स्पर्जातिपुरुष से उत्पन्न पुत्र ‘गूढज’ कहलाया है । इस के सम्बन्ध में सपर्यङ्गजन्म का निश्चय होना आवश्यक माना गया है । ऐसी यह गूढज सन्तति भ-‘धीजाद्यो-निर्गलीयसी’ के अनुसार ‘लेत्री’ की ही मान ली गई है ।

—४—

#### ५—कानीनः—

१-“कानीनः कन्यकाजातो माताहमसुतो मतः ” ( या० = १२६ )

२-“पितृपेश्मनि कन्या तु पं पुत्रं जन्मेद्रहः ।

तं कानीनं वदेन्नाम्ना बोद्धुः कन्यासमुद्भवम् ॥ ” ( मतुः )

३-“या पितृगृहे-असंस्कृता कामादुत्पादयेत्, मातामहस्य

पुत्रो भवतीत्याहुः ” ( वसिष्ठः १७ । २४ )

उक्त वचनों के अनुसार पिता के ही घर में यदि गुप्तरूप से किसी सवर्ण पुरुष के संयोग से कन्या के पुत्र उत्पन्न हो जाता है, तो वह पुत्र ‘कानीन’ कहलाता है । यदि डेम दरा में कन्या अविवाहित होती है, तो यह कानीनपुत्र ‘धीजाद्योनिर्गलीयसी’ न्याय से माताहम का पुत्र मान लिया जाता



है। इस प्रकार से ऐसा कानीन इस मातामह का 'दौहित्र' लक्षण कानीन पुत्र बनता है। यदि कन्या विवाहित है, और उस समय मातामह के घर में प्रच्छन्न रूप से अन्य सवर्ण सम्बन्ध से इस के पुत्र उत्पन्न हो जाता है, तो उस दशा में यह छोटा-पति का ही पुत्र माना जाता है।

—५—

६—पौनर्भवः—

“अनुतायां चतायां वा जातः पौनर्भवः सुतः” (या० ८।१३०)

“या कौमारं भर्त्तारमुत्सृज्य-अन्यैः सह चरित्वा, तस्यैव कुटुम्बमाश्रयति, सा पुनर्भू भवति। या च क्लीबं, पतित, मुन्मत्तं वा भर्त्तारमुत्सृज्य-अन्यं पतिं विन्दते, सुते वा, सा पुनर्भू भवति” (वसिष्ठः १।२१)।

इत्यादि वचनों के अनुसार पूर्वलक्षण क्षत, अथवा अक्षत पुनर्भू स्त्री में सवर्ण पुरुष से उत्पन्न पुत्र 'पौनर्भव' कहलाता है।

—६—

७—दत्तकः—

“दद्यान्माता पिता वा यं स पुत्रो दत्तको भवेत्” (या० ८।१३०)।

“माता पिता वा दद्यातां यमद्विभिः पुत्रमापदि।

सदृशं प्रीतिसंयुक्तं स द्वयो दत्तमः सुतः॥” (मनुस्मृतिः)

“यं मातापितरौ दद्याताम्” (वसिष्ठः १।५।२६)।

इत्यादि वचनों के अनुसार सवर्ण पुत्र को यदि उम के माता पिता प्रमत्तता पूर्वक सोदक-संकल्प पूर्वक स्वस्वचर्य हटा कर इसे परःस्वचर्य से युक्त कर देते हैं, तो यह पुत्र गृहीता का 'दत्तक' (दानप्राप्त) पुत्र कहलाता है। यदि दाता के एक ही पुत्र है, तो उस दशा में 'न त्वेवैकं पुत्रं दद्यात्' के अनुसार दाता को जहाँ देने का निषेध है, वहाँ 'प्रतिगृह्णीयाद्वा' के अनुसार गृहीता को लेने का भी निषेध है। साथ ही—'ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः' सिद्धान्त के अनुसार अनेक पुत्रों में से ज्येष्ठपुत्र के भी दान का निषेध है।

—७—

८—क्रीतः—

“क्रीतश्चताभ्यां विक्रीतः” (या० ८।१३१)।

“क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यायं मातापित्रोर्यमन्तिवत्।

स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा॥” (मनुः)

इत्यादि वचनों के अनुसार सवर्ण मातापिता के द्वारा उनकी इच्छा से निश्चित धनराशि देकर कय किया हुआ पुत्र 'क्रीतपुत्र' कहलाया है। 'यावद्विचं तावदात्मा' इस श्रौतसूत्रान्त के अनुसार इस क्रीत पुत्र के साथ कयकर्त्ता के भूतात्मा का विच द्वारा सम्बन्ध हो जाता है। इसी आधार पर राजर्षि हरिश्चन्द्र ने अपने वरुणयज्ञ में स्वपुत्रर्त्तार्य अजीगर्त्त को निश्चित धनराशि देकर शुनःशेष को अपना क्रीतपुत्र बना कर इससे वरुणप्रसाद प्राप्त किया था।

—८—

### ८-स्वयंकृतः ( कृत्रिमः )—

किसी सवर्णवंश में कोई योग्य पुत्र विद्यमान है। माता-पिता उमके मर चुके हैं। उस मातृपितृविहीन सवर्णपुत्र को स्व-धन चेन्नादि के प्रलोभन द्वारा अपना पुत्र बना लेना ही 'कृत्रिम' विधि है। पुत्रार्थी स्वयं अपनी कामना से इसे पुत्र बनाता है, अतएव 'कृत्रिमः स्यात् स्वयंकृतः' ( या० ८।१३१ ) के अनुसार इस कृत्रिमपुत्र को 'स्वयंकृतः' भी कहा जा सकता है।

—९—

### ९-स्वयंदत्तः ( दत्तात्मा )—

एक सवर्ण मातापिता का पुत्र माता-पिता के निधन से, अथवा उनके भरणपोषणसामर्थ्य से, अथवा तो ओर किसी कारण से अनाथ बन जाता है। ऐसा अनाथ आश्रय खोजता हुआ सवर्ण-वम्पती के आश्रय में पहुँचता है। वहाँ पहुँच कर—'मैं आज से आपका धर्मपुत्र हूँ, मुझे आश्रय दीजिये' कहता हुआ पुत्रत्वेन शरण आ जाता है, वही 'दत्तात्मा तु स्वयं दत्तः' ( या० ८।१३१ ) के अनुसार 'दत्तात्मा' कहलाया है। इसे ही लोक में 'पोष्यपुत्र' भी कहा गया है। धर्मपुत्रवत् धर्म-पिता, धर्ममाता धर्मभ्राता, धर्मभगिनी, इत्यादि व्यवहार भी यहाँ प्रसिद्ध है।

—१०—

### १०-सहोदजः—

"गर्भे विनः सहोदजः" ( या० ८।१३१ )।

"या गर्भिणी संस्क्रियते, तस्यां जातः सहोदः पुत्रो भवति" ( वसिष्ठः )

इत्यादि के अनुसार गर्भिणी का पुत्र ( जो कि गर्भिणी बन कर ही विवाहित होकर पति के घर जाती है, उसका सवर्णपुत्र ) 'सहोदज' कहलाया है। यह पुत्र भी 'त्रीजाद्योनिर्गलीयसी' इस मानवसिद्धान्त के अनुसार बोदा का ही पुत्र कहलाया है।

—११—

१२-अपविद्धः—

“उत्सृष्टो गृह्यते यस्तु सोऽपविद्धो भवेत् सुतः” (या० = १।१३२।) के अनुसार माता-पिता की निर्देयता से घरसे निकाला हुआ पुत्र गृहीता का पुत्र बनकर ‘अपविद्ध’ कहलाया है।

—१२—

इस प्रकार धर्म्मशास्त्र ने १२ पुत्रों का उल्लेख किया है। वसिष्ठ की दृष्टि में स्वयंकृत-रूप कृत्रिमपुत्र, तथा स्वयं दत्तलक्षण दत्तात्मा, दोनों अभिन्न हैं। इन के मतानुसार शूद्रापुत्र १२वों होता है। इन में से औरसपुत्र को छोड़ कर शेष ११ पुत्र तन्तुवितानलक्षण सापिण्ड्यभाव के रक्तक हैं, अथवा नहीं? यह भीमांत्य विषय है। प्रकृत में तो इस पुत्रभेदसन्दर्भ से यही कहना है कि, धर्म्माचार्यों की दृष्टि में आनृत्यभाव के लिए प्रजोत्पादन एक आवश्यक कर्म्म है, जिसका स्वयं श्रौताचार्यों ने भी बड़े आटोप के साथ समर्थन किया है। पुत्रोत्पादन के सम्बन्ध में स्वयं श्रुति ने जो फलसन्दर्भ हमारे सम्मुख रखला है, वह भी प्रसङ्गतः जान लेना सामयिक ही मान लिया जायगा।

प्रजोत्पादनादेश—

१—“अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।

इह प्रजामिह रयिं रराणः प्र जायस्व प्रजया पुत्रकामे !”

—अकर्म० १०।१३३।१।

पुरुषसृष्टि के मूलाधाररूप तन्तुवितान के द्रष्टा महर्षि प्राज्ञाप्त्य पुरुष को सम्बोधन करते हुए, पुत्रोत्पादन कर्म्म को इस के लिए आवश्यक मानते हुए आदेश दे रहे हैं कि—“हे पुरुष ! हे पुत्रकाम ! मैंने अपने विज्ञानचक्षु से यह देख लिया है कि, तू अपने शुक्ररूप महानात्मा से चेकितान (कर्म्मक्रियमाण) है। उसी महानात्मा के (अपने पिता के शुक्र में प्रतिष्ठित महानात्मा के प्रजननरूप तप (आभ्यन्तर व्यापार) से, किंवा महानात्मानुगत पितृसहः के दानलक्षण तप से उत्पन्न हुआ है, एवं उसी तप से (महानात्मागत तन्तुवितान से) तू इस पृथिवी पर (तन्तुसम्पत्ति ले कर) व्याप्त हुआ है। ऐसी दशा में मेरा यह आदेश है कि (उस तपोरूप तन्तु की रक्षा के लिए, वितान के लिए) इस पृथिवी पर प्रजा, और सम्पत्ति से सममाण वनता हुआ प्रजा उत्पन्न कर”।

—३—

२—अपश्यं त्वा मनसा दीप्यानां स्वायां तनू ऋत्ये नाधमानाम्।

उप मामुच्चा युवतिर्वभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे !”

—अकर्म० १०।१३३।२।

ॐ एतद्वै तप इत्याहुर्वयं स्वं ददामि” (तत्तिरीयब्राह्मण)

अथ शुक्राहुति-क्षेत्रभूता पत्नी को सम्बोधन करते हुए ऋषि कहते हैं कि, “हे स्त्री ! हे-पुत्रकामे ! मैंने यह जान लिया है कि, ऋतुकाल में तू पुरुष के साथ दाम्पत्यभाव की इच्छा रखती है। मैं चाहता हूँ कि, तू तरुणी बने, एवं इस दाम्पत्यभाव से प्रजा उत्पन्न करे, (इस प्रकार तुम दोनों प्रजा-तन्तु का वितान करो। यही तुम्हारे महानात्मा का तप है, इसी तप के द्वारा तुम्हारे तन्तु विश्व में व्याप्त-होंगे)।”



३—अहं गर्भमदधामोपधीषु, अहं विश्वेषु भुवनेष्वन्तः ।

अहं प्रजा अजनयं पृथिव्यां, अहं जनिभ्यो अपरीषु पुत्रान्”

— अक्ष० १०।१८३। ।

“ओपधिलोको वै पितरः” (शान० १३।८।१।२०) के अनुसार पितृप्राणमय चान्द्रसोम से उत्पन्न अन्न में ही सर्वप्रथम पितृप्राण प्रतिष्ठित होता है। यही भावी संतति का प्रथम ओपधी में गर्भाधान है। ओपधि ( अन्न ) द्वारा यह पुरुष में गर्भाभूत होता है, जैसाकि—‘पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भी भवति’ (ऐ० आ०) इत्यादिरूप से पूर्वप्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। पुरुष के द्वारा शुक्राहुतिरूप में परिणत तन्तु कालान्तर में विश्वगर्भ की वस्तु बन जाता है। इसी तन्तुसमष्टि के द्वारा परम्परया आहुत हुआ यह धन पुत्र-पौत्रादि-अन्य पुत्रों का उपादान बनता है”।



अक्षसंहितापटित उक्त तीन मन्त्रों से मन्त्रर्षि की ओर से जिस प्रजोत्पादनकर्म का आदेश हुआ है, अष्टमाद्वय ने उन्नी आदेश का बड़े विस्तार के साथ उपबृंहण करते हुए पुत्रसन्तति की आवश्यकता का समर्थन किया है। सुप्रसिद्ध ‘हरिश्चन्द्राख्यान’ के द्वारा ही भगवान् ऐतरेय ने उन फलश्रुतियों का स्पष्टीकरण किया है, जिनका स्मृतिग्रन्थों में यत्र-तत्र समर्थन प्राप्त होता है। कथानक यों विहित हुआ है—

पुत्र माहात्म्यप्रदर्शक वैदिक आख्यान—

“इत्याकुर्वशोऽब्रुव, अनएव वैद्वाक” नाम से प्रसिद्ध, वैधस के पुत्र, अतएव वैधस नाम से व्यवहृत सत्यवादी राजर्षि हरिश्चन्द्र एक सुप्रसिद्ध घर्मात्मा राजा हो गए हैं। आपके यद्यपि १८० पत्नियों थीं, परन्तु दुर्भाग्य से पुत्र एक से भी प्राप्त नहीं हुआ। सुप्रसिद्ध पर्वत तथा नारद महर्षि सदा आपके ही समीप पुरोहित के रूप से निवास करते थे। एकवार हरिश्चन्द्र ने नारद महर्षि को लक्ष्य बनाते हुए उनसे प्रश्न किया कि—

“यं न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न ।

किंस्वित् पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्य नारद !” ।

“हे महर्षे ! क्या मूर्ख, क्या विद्वान्, सभी पुत्र की कामना किया करते हैं । इस पुत्र से इन पुत्रपणा रखने वालों को क्या लाभ होता है ?, क्यों ये पुत्र के लिए इतना प्रयास करते हैं ?, इन प्रश्नों का समाधान कीजिए” । हरिश्चन्द्र ने प्रश्न किया एक, नारद ने १० उत्तर राजर्षि के सम्मुख रखे । नारद कहने लगे—

१—“ऋणमस्मिन् संन्यत्यमृतत्वं च गच्छति ।

पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेर्जीवितो मुखम् ॥

“पुत्रोत्पादन कर्त्ता व्रीजोपिता शुद्धस्थ महानात्मा में ऋणरूप से प्रतिष्ठित ५६ पितृसहों में से ३४ सहों का ऋण का उत्तरदायित्व पुत्र पर डालता हुआ अनृणी बन जाता है । स्वयं अपनी २८ धनमात्राओं में से २१ का प्रदान करता हुआ पृथिवी पर स्वप्रतिष्ठा से अंशरामना प्रतिष्ठित होता हुआ निधनानन्तर सात कला से चन्द्रलोक ( अमृतलोक-सोमलोक ) में अपत्यप्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित हो जाता है” । इस प्रकार आनृत्य, उभयलोकप्रतिष्ठा, ही पुत्रकामना का प्रथम फल है । “अथातः संप्रतिर्यदा प्रैष्यन् मन्यते, अथ पुत्रमाह-त्वं ब्रह्म, त्वं यज्ञः, त्वं लोकः । सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते” इत्यादि वचनान्तर भी इसी फलश्रुति का समर्थन कर रहे हैं ।

—१—

२—“यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि ।

यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः ॥” ।

“पृथिवी, जातवेदा नामक अग्नि, एवं पानी, इन तीनों में प्राणिवर्ग के लिए जितने भोग हैं, एक पिता के लिए उसके पुत्र में इन सब से अधिक भोगसामग्री विद्यमान है । स्थूलशरीर पार्थिव है, सूक्ष्मशरीर अर्धविज्ञानानुगत, अतएव जातवेदा नाम से प्रसिद्ध प्राणाग्नि है, एवं कारणशरीर आपोमय महान् है । तीनों शरीरों से अतिरिक्त प्राणी के लिए भोग्य और क्या वच रहता है । परन्तु एक पुत्र का महत्त्व इन तीनों से भी अधिक इसलिए है कि, स्थूल, सूक्ष्म शरीरों की प्रतिष्ठारूप आपोमय महानात्मा की पूर्णता, आनृत्य, उभयलोक प्रतिष्ठा एकमात्र पुत्रोत्पादन पर ही निर्भर है । अतएव इसे पिता का सर्वभोग भोग ( आत्मवित्त ) कहा जा सकता है ।”

—२—

३—“शश्वत् पुत्रेण पितरोऽत्यायन् बहुलं तमः ।

आत्मा हि ज्ञा आत्मनः स इरावत्यतितारिणी” ॥

“स्यप्रभयभूत चान्द्रलोक में प्रतिष्ठित महःप्राणात्मक पितर स्वांशभूत पुत्रद्वारा प्रदत्त पिण्ड से प्रति कन्यालयधर्माद्वपक्ष में चान्द्रज्योतिर्लक्षण वलप्राप्त करते हुए अपूर्णतालक्षण तम को हटाते रहते हैं। इस वलप्राप्ति का कारण यही है कि, पुत्र स्वयं पिता का अंश है। इसका उम पितर के साथ चन्द्र-नाड़ी द्वारा अविच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। इसी सम्बन्ध सूत्र द्वारा पुत्रप्रदत्त रस तत्-पिता-पितामहादि पितरों में वलाधान का वारण बनता है। इसके अतिरिक्त पुत्रप्रदत्त वीतरणीदान से चन्द्रलोक में जाते हुए पितर ‘इरावती’ नाम की ज्योम नदी का सन्तरण करने में समर्थ होते हैं।”

—३—

४—“किं नु मलं किमजिनं किमु रमथूणि किं तपः ।

पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः” ॥

“मलोपलक्षित गृहस्थाश्रम, अजिनोपलक्षित ब्रह्मचर्याश्रम, रमथूपलक्षित वानप्रस्थाश्रम, तथा तप उपलक्षित सन्यासाश्रम, ये चार आश्रम व्याक्तिप्रतिष्ठा के, व्यक्तिविक्रम के कारण माने गए हैं। साधक ब्रह्मचर्याश्रम के द्वारा साध्य गृहस्थाश्रम से द्विजाति अपनी आध्यात्मिक कर्मकला को पूर्ण बनाता है। एवं साधक वानप्रस्थाश्रम द्वारा माध्य सन्यासाश्रम से ज्ञानकला को पूर्ण बनाता है। इस प्रकार आश्रमचतुष्टयी के अनुगमन से यह पूर्ण बन जाता है। यही इसका अपवादरहित परमपुरुषार्थ है, अनन्य उभयलोक प्रतिष्ठा है। परन्तु सांप्रिण्ड्यविद्वानवेत्ताओं का इस सम्बन्ध में यह निर्णय है कि, बिना पुत्र के चारों आश्रम व्यर्थ हैं। पुत्र परम्परा के बिना चारों का कोई महत्त्व नहीं। पुत्र ही वस्तुनः अपवाद रहित लोकप्रतिष्ठा है। बिना इसके पूर्णता अमम्भव है।”

—४—

५—“अन्नं ॥ प्राणः शरणं हं वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः ।

सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्” ॥

“अन्नोर्कप्राणानामन्योऽन्यपरिग्रहो यज्ञः” के अनुसार भुक्तान्न शरीराग्नि में द्रुत हो कर पहिले बलप्रद ‘ऊर्क’ नामक रस विशेष में परिणत होता है, अनन्तर ऊर्करस ओज प्रवर्त्तक प्राण-रूप में परिणत होता है। यही अन्नान्नक, किंवा प्राणालोक आध्यात्मिक यज्ञ शरीर की अन्नःप्रतिष्ठा (जीवन) का कारण है। वस्त्र शरीर की वाह्यप्रतिष्ठा के कारण है। अलङ्कार सौन्दर्य के कारण है। गो-अश्व-आदि पशु बहिर्विस्तस्थानीया जाया की भौति वाह्यभोग के कारण हैं। विवाहसम्बन्धेन परिणीता जाया जीवनसङ्गिनी है। इस प्रकार लोकयात्रा में केवल कन्या को छोड़ कर अन्न, वस्त्र, हिरण्य, पशु, जाया, सभी सुख के साधन हैं। परन्तु पुत्रसुख की तुलना में ये सब सुख अवर-कक्षा में ही प्रतिष्ठित माने जायेंगे। कारण यही है कि, अन्नादिसुख केवल गैरलौकिक सुख है। उधर

पुत्र पेंदुलौकिकसुख साधन के साथ साथ चान्द्राकाशलक्षण पारलौकिक सुख का भी साधन बन रहा है, जैसा कि—‘अमृतत्वं च गच्छति’ इत्यादि से प्रथम मन्त्रार्थ में स्पष्ट किया जा चुका है।

—५—

६—पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् ।

तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमं मासि जायते ॥

“स्मरण रखना चाहिए कि, पुत्र पिता का मासान् रूपान्तर है। मनुष्य का यह स्वभाव है कि, वह विश्व में अपने आप को सर्वश्रेष्ठ मिद्ध करने का प्रयास किया करता है। उस की निर्मलता मानिष, अथवा प्राकृतिक स्वभाव कहिए, मनुष्य अपनी दृष्टि में अपने आप को अन्यो की अपेक्षा बड़ा-बुद्धिमान् समझता है। साथ ही अन्य पुरुषों की उत्कृष्टता से ईर्ष्या रखता है। परन्तु पुत्र के प्रति सर्वथा विपरीत भावना रहती है। पुत्र ज्यों ज्यों पिता से उत्कृष्ट होता जायगा, त्यों त्यों पिता का अन्तरात्मा विकसित होना जायगा। क्यों ?, क्यों नहीं यहाँ उक्त प्राकृतिक नियम युक्त होता ?। उत्तर स्पष्ट है। अन्य के प्रति ईर्ष्या बतलाई गई है। पुत्र तो स्वयं इस का आत्मा है। पिता ही पुत्र है। पुत्र की यशः श्रीशुद्धि पिता की ही यशःश्रीशुद्धि है। अपने पुरुषाकार से पिता अपनी स्त्री का जहाँ पति है, वहाँ रेतोरूपाकार से यही अपनी स्त्री का पुत्र बनवा है। पुरुषाकार की दृष्टि से जाया अपने पति की पत्नी है, किन्तु रेतोरूपाकार की दृष्टि से वही अपने पति की माता है। स्वयं पिता रेतोरूप से आहुत हो कर दशमासानन्तर पुत्र रूप से धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। ‘आत्मनस्तु कामाय०’ मिद्धान्तानुसार हम स्वयं अपने लिए अतिशयरूप से प्रिय हैं। पुत्र हमारा ही रूपान्तर है। अतएव आत्मयन् प्रिय है। भला ऐसे पुत्र की आवश्यकता कौन स्वीकार न करेगा !”

—६—

७—“तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः ।

आभूतिरेषा भूतिर्वाजमेतन्निधीयते” ॥

“एक योग्य पति अपनी पत्नी को ० ‘जाया’ समझता है, आभूति भानता है, भूति कहता है। पति को स्मरण रखना चाहिए कि, उस का यह समझना, मानना, कहना एकमात्र पुत्रोत्पत्ति पर ही

॥ लोकगीतों से प्रसयानन्तर मङ्गलगान होता है। उसमें—‘थे तो ‘जाया’ छ लाइन पूत’ यह वाक्य आता है। हे पुत्रवती ! तुमने प्रिय पुत्र उत्पन्न किया है, अतएव तुम सचमुच ‘जाया’ हो, यही इस का तात्पर्य है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, लोकगीतसाहित्य में केवल इसी अवसर पर पुत्रवती के लिए ही ‘जाया’ शब्द प्रयुक्त हुआ है।

निर्भर है। 'अस्यां रेतोरूपेण जायते' ही जाया शब्द का निर्वचन है। बिना पुत्र के जाया के जाया संभक्ता व्यर्थ है। 'भवत्यस्यां पुत्ररूपेण पतिः' यह भूति शब्द का निर्वचन है, एवं-रेतोरूपेण-आ-गत्य भवति पुत्ररूपेण पतिः' यह आभूति शब्द का निर्वचन है। इन की सार्थकता भी पुत्रोत्पादन पर ही अवलम्बित है।"

८—“देवार्चतामपयश्च तेजः समभरन् महत् ।

देवा मनुष्यान्बुधनोपा वो जननी पुनः ” ॥

“प्रकरणारम्भ में, 'अरण' का परिचय कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, आपोमय पारमेष्ठ्य महान् के गर्भ में इस ओर के मौर देवतत्त्व का, उस ओर के स्वायम्भुव ऋषितत्त्व का समावेश है, स्वयं महान् पितृतत्त्व प्रदान है। इस प्रकार शुक्रस्थ महानात्मा ज्ञानतन्तुप्रवर्त्तक ऋषि, यज्ञतन्तुप्रवर्त्तक देव, दोनों तत्त्वों से युक्त हो कर ही स्वपितृतत्त्व से प्रजातन्तुवितान में समर्थ होता है। यही इस महान् की महत्ता है। सामान्य मनुष्य समझते होंगे कि, पुत्रोत्पादन से केवल पितृ-अरण से ही मुक्ति होती है। परन्तु उन्हें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, पितृअरण के साथ साथ आगत ऋषि, देवमात्रा द्वारा यही पुत्र इन दोनों का भी आंशिकरूप से परिरोध कर देता है। पुत्र के द्वारा न केवल पितृवंश का ही वितान होता, अपितु ज्ञानधारा, यज्ञधारा भी परम्परया प्रवाहित रहती है। पुरुष के शुक्र में प्रतिष्ठित त्रिमूर्ति इसी महानात्मा को लक्ष्य में रखते हुए वैज्ञानिकों ने कहा है कि, हे मनुष्यो ! यही स्त्री तुम्हारी जननी है। अर्थात् इसे पुत्रोत्पादन द्वारा जननी बनाते हुए ही तुम अरणग्रयी का परिरोध कर सकते हो।”

९—“नापुत्रस्य लोकोऽस्ति, इति तन् सर्वं पशवो विदुः ।

तस्मात् पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति” ।

“मानव प्रजा पुत्र को उभय लोकप्रतिष्ठा का कारण समझे, इस में कौन ग्रा क्या आश्चर्य्य है, जब कि पशु प्रजा को भी ( जिसे अपूर्ण प्रज कहा जाता है ) पुत्र का माहात्म्य प्रकृत्या विदित है। एक मात्र इसी पुत्रैषणा से प्रेरित हो कर इन का दाम्पत्यभाव प्रकान्त है। पशु-पक्षी-कृमि-कीट-सभी स्वसन्तति के प्रति कैसे आकर्षित हैं ?, इस प्रश्न समाधि के लिए गोघ्नान पर जाइए, जहाँ गाय अपने नवजात वत्स को चाटती है, वत्स माता को चाटता है। चिड़ियाओं के घोंसलों पर दृष्टि डालिए, किस लाड़-प्यार से पालन-पोषण होता है। इस प्रकार प्राणिमात्र स्वभावनः पुत्र की ओर



आकर्षित हैं। बिना पुत्र के घर अंधेरा है, बाहर अंधेरा है, सर्वत्र अंधेरा है। 'ना पुत्रस्य लोकोऽस्ति' सर्वथा सत्य उद्घोष है।"

—६—

१०—"एष पन्था-उरुमायः सुशेवो यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः।

तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च तस्मान्ने मात्रापि मिथुनी भवन्ति" ॥

"पुत्र-पौत्रादि रूप से प्रजातन्तु चितान कर स्वप्रभयरूप चान्दलोक की ओर जाने वाले प्रेत-पिता-पितामहादि का यह दिव्यलोक वैज्ञानिकों के द्वारा उपस्तुत है, मृत्त्व की आधामृत्ति है। किन पितरों के लिए?, जो शोकरहित है। कौन पितर शोक रहित हैं?, जो 'पुत्रिणः' हैं। कौन से पितृलोक का यशोगान होता है?, जिन में ऐसे पुत्री, अतएव विशोक पितर जाते हैं। किन पितरों के लिए यह लोक सुशेव (सुष्ठुरूपेण-सुखरूपेण नियास योग्य) है?, जिन्होंने प्रजातन्तु का चितान किया है। ऐसे लोक की प्राप्ति के लिए क्या एक पूर्णप्रज्ञ मनुष्य अपनी पत्नी के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध नहीं करेगा, जब कि केवल पुत्रप्रेम के नाते अपूर्णप्रज्ञ पशु अपनी जननी तक से मिथुन भाव-को प्राप्त होते सुने जाते हैं"।

—१०—

इस प्रकार राजर्षि के एक प्रश्न पर ब्रह्मर्षि ने १० समाधान कर अन्त में राजर्षि को आदेश दिया कि, हरिरचन्द्र! तुम्हें पुत्रप्राप्त्यर्थ परुणयज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। आदेशानुसार राजर्षिने परुणयज्ञ का अनुष्ठान किया। फलस्वरूप कालान्तर में 'रोहित' नामक पुत्र ने पिता के पुत्रभाव जनित क्षोभ-को शान्त किया" (ऐ० आ ३३। २) इन्हीं सब फलश्रुतियों का एक ही मन्त्र में संग्रह करते हुए वेदमहर्षि ने कहा है—

"ता ई यद्वन्ति मद्यस्य पौंस्यं नि मातरा नयति रेतसे भुजे।

दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधिरोचने दिवः" ॥

—श्रुकसं० १। १५५। ३।

पैतृलौकिकदृष्टि से पुत्रोत्पादन का क्या फल है?, इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें विशेष यत्न नही है। प्रवृत्त सन्दर्भ से हमारा लक्ष्य एकमात्र पारलौकिक दृष्टि से सम्बद्ध आनृत्य कर्म है। यदि पुरुष के पुत्र उत्पन्न न हो, तो दो प्रकार से इस की महत् संस्था का पतन है। परम्पराया ऋणरूप से प्राप्त ५६ पितृसहों में से ३५ कलाश्रों का ऋणपरिशोध पुत्र के अभाव में असम्भव है, यही महानतमा का प्रथम पतन है। इस के अतिरिक्त २८-पितृमहः इस में स्वतन्त्ररूप से धन-रूपेण प्रतिष्ठित होते हैं। पुत्र के अभाव में भी पूर्व प्रकरणोक्त कारणान्तरों से २८ में से २१ का व्यय

होना अनिवार्य है। फलतः शरीरनिधनानन्तर यह अपने धन की केवल सात कलाएँ ले कर ही वापस लौटता है। पुत्राभाव से अपनी २१ कलाओं की प्राप्ति इस के लिए असम्भव हो जाती है। परिणामस्वरूप यह कभी पूर्ण तालक्षण सापिण्ड्यभाव को प्राप्त नहीं होता। यही महानात्मा का दूसरा पतन है। इस पतन से बचने के लिए, साथ ही प्रधानतया पितृधन की ३५ कलाओं के आनृत्यके लिए प्रजोत्पादन कर्म आवश्यक रूप से अपेक्षित है। एवं यही प्रथम आनृत्यकर्म है।

इति प्रथमं प्रजोत्पादनात्मकमानृत्यं कर्म

?

— x —

१-सपिण्डीकरणात्मकं द्वितीयमानृत्यं कर्म-

सपिण्डीकरणानुगत आनृत्यं विज्ञानोपक्रम—

पुरुष के पर ६ पुरुषों से इसे जो-ऋण मिला था, उसे 'आत्मधेय-तन्य' भेद से दो भागों में विभक्त करते हुए पूर्व परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि, वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से ऋणरूप से इसे जो १ कला मिली है, वह तो आत्मधेयरूप से ही इस बीजी में ही प्रतिष्ठित रह जाती है। इसका (पितानमात्रा के अभाव से) पुत्रादि में तनन नहीं होता, अतएव इस एक सातवें पर-पुरुष की कला में तन्य विभाग नहीं होता। अथ शेष रहते हैं ५ परपुरुष। अतिवृद्धप्रपितामह से ३ कला मिली है, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से २-१ ये दो विभाग हो जाते हैं। २-आत्मधेय बीजी में, १ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाता है। वृद्धप्रपितामह से ६ कला मिलती हैं, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से ३-३ ये दो विभाग हो जाते हैं। ३-आत्मधेय बीजी में, ३ तन्य बीजीपुत्र में, भुक्त हो जाते हैं। प्रपितामह से १० कला मिलती हैं, इसके आत्मधेय तन्यरूप से ४-६ ये दो विभाग हो जाते हैं। ४-आत्मधेय बीजी में, ६ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। पितामह से १५ कला मिलती हैं, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से ५-१० ये दो विभाग हो जाते हैं। ५-आत्मधेय बीजी में, १० तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। पिता से २१ कला मिलती हैं, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से ६-१५ ये दो विभाग हो जाते हैं। ६-आत्मधेय बीजी में, १५ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार १-२-३-४-५-६, इन ६ पुरुषों से ऋणरूप से प्राप्त १-३-५-७-९-११-१३-१५ इन १५ पितृ-कलाओं में से १-२-३-४-५-६ ये २१ कला तो आत्मधेयरूप से सातवें (किंवा प्रथम) बीजी पुरुष में प्रतिष्ठित रह जाती हैं, एवं ७-८-९-१०-११-१२-१३ ये ३५ कला बीजी के शुक्र द्वारा बीजीपुत्र में भुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार पुत्रोत्पादन का फल यह होता है कि, ३५ ऋणों में से ३५ ऋणकलाओं का भार बीजी पुरुष अपने पुत्र पर डाल कर स्वयं इन उपकलाओं से अनृत्यी बन जाता है। यही प्रजोत्पादनक्षण

आकर्षित हैं। बिना पुत्र के घर अंधेरा है, बाहर अंधेरा है, सर्वत्र अंधेरा है। 'ना पुत्रस्य लोकोऽस्ति' सर्वथा सत्य उद्घोष है।"

—६—

१०—"एष पन्था-उरुमाप्यः सुशेनो यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः।

॥ पश्यन्ति पशवो वयांसि च तस्मात्ते मात्रापि मिथुनी भवन्ति" ॥

"पुत्र-पौत्रादि रूप से प्रजातन्तु विनाश कर स्वप्रभयरूप चान्द्रलोक की ओर जाने वाले प्रंत-पिता-पितामहादि का यह दिव्यलोक वैज्ञानिकों के द्वारा उपस्तुत है, मृत्यु की आशामृमि है। किन पितरों के लिए?, जो शोकरहित हैं। कौन पितर शोक रहित हैं?, जो 'पुत्रिणः' हैं। कौन से पितृलोक का यशोगान होता है?, जिन में ऐसे पुत्री, अतएव विशोक पितर जाते हैं। किन पितरों के लिए यह लोक सुशेष (सुधूरुपेय-सुखरूपेण निवास योग्य) है?, जिन्होंने प्रजातन्तु का विनाश किया है। ऐसे लोक की प्राप्ति के लिए क्या एक पूर्णप्रज्ञ मनुष्य अपनी पत्नी के साथ दाम्पत्य सम्बन्ध नहीं करेगा, जब कि केवल पुत्रप्रेम के नाते अपूर्णप्रज्ञ पशु अपनी जननी तक से मिथुन भाव-को प्राप्त होते सुने जाते हैं"।

—१०—

इस प्रकार राजर्षि के एक प्रश्न पर ब्रह्मर्षि ने १० समाधान कर अन्त में राजर्षि को आदेश दिया कि, हरिश्चन्द्र! तुम्हें पुत्रप्राप्त्यर्थ धर्षणयज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। आदेशानुसार राजर्षिने धर्षणयज्ञ का अनुगमन किया। फलस्वरूप कालान्तर में 'रोहित' नामक पुत्र ने पिता के पुत्रभाव जनित क्षोभ-को शान्त किया" (ऐ० आ ३३।२) इन्हीं सब फलश्रुतियों का एक ही सन्त्र में संग्रह करते हुए वेदमहर्षि ने कहा है—

"ता ई यदन्ति महास्य पौंस्यं नि मातरा नयति रेतसे भुजं।

दधाति पुत्रोऽवरं परं पितुर्नाम तृतीयमधिरोचने दिवः" ॥

—अकृत्सं १।१४५।३।

ऐतलौकिकदृष्टि से पुत्रोत्पादन का क्या फल है?, इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें विशेष वक्तव्य नहीं है। प्रकृत सन्दर्भ से हमारा लक्ष्य एकमात्र पारलौकिक दृष्टि से सम्बद्ध आनृण्य कर्म है। यदि पुरुष के पुत्र उत्पन्न न हो, तो दो प्रकार से इस की महत् संस्था का पतन है। परम्परया अणुरूप से प्राप्त २६ पितृसहों में से ३५ कलाओं का अणुपरिशोध पुत्र के अभाव में असम्भव है, यही महानात्म का प्रथम पतन है। इस के अतिरिक्त २८-पितृमहः इस में स्वतन्त्ररूप से धन-रूपेण प्रतिष्ठित होते हैं। पुत्र के अभाव में भी पूर्व प्रकरणोक्त कारणान्तरों से २८ में से २१ का व्यय

होना अनिवार्य है । फलतः शरीरनिधनानन्तर यह अपने धन की केवल सात कलाएँ ले कर ही वापस लौटता है । पुत्राभाव से अपनी २१ कलाओं की प्राप्ति इस के लिए असम्भव हो जाती है । परिणामस्वरूप यह कभी पूर्ण तालक्षण सापिण्ड्यभाव को प्राप्त नहीं होता । यही महानात्मा का दूसरा पतन है । इस पतन से बचने के लिए, साथ ही प्रधानतया पितृधन की ३५ कलाओं के आनुषंगिक लिए प्रजोत्पादन कर्म आवश्यक रूप से अपेक्षित है । एवं यही प्रथम आनुषंगिक कर्म है ।

इति प्रथमं प्रजोत्पादनात्मकमानृण्यं कर्म .

2

— X —

५-सपिण्डीकरणात्मकं द्वितीयमानुष्यं कर्म-

सपिण्डीकरणानुगत आनृत्य विज्ञानोपक्रम—

पुरुष के पर ६ पुरुषों से इसे जो-शृणु मिला था, उसे 'आत्मधेय-तन्य' भेद से दो भागों में विभक्त करते हुए पूर्व परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि, शृद्धातिशृद्धप्रपितामह से शृणुरूप से इसे जो १ कला मिली है, वह तो आत्मधेयरूप से ही इस बीजी में ही प्रतिष्ठित रह जाती है। इसका ( वितानमात्रा के अभाव से ) पुत्रादि में तनन नहीं होता, अतएव इस एक सातवें पर-पुरुष की कला में तन्य विभाग नहीं होता। अब शेष रहते हैं ५ परपुरुष। अतिशृद्धप्रपितामह से ३ कला मिली है, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से २-१ ये दो विभाग हो जाते हैं। २ आत्मधेय बीजी में, १ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाता है। शृद्धप्रपितामह से ६ कला मिलती है, इसके आत्मधेय बीजी, तन्यरूप से ३-३ ये दो विभाग हो जाते हैं। ३ आत्मधेय बीजी में, ३ तन्य बीजीपुत्र में, भुक्त हो जाते हैं। प्रपितामह से १० कला मिलती है, इसके आत्मधेय तन्यरूप से ४-६ ये दो विभाग हो जाते हैं। ४ आत्मधेय बीजी में, ६ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। पितामह से १५ कला मिलती है, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से ५-१० ये दो विभाग हो जाते हैं। ५ आत्मधेय बीजी में, १० तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। पिता से २१ कला मिलती है, इसके आत्मधेय, तन्यरूप से ६-१५ ये दो विभाग हो जाते हैं। ६ आत्मधेय बीजी में, १५ तन्य बीजीपुत्र में भुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार १-६-३-५-३-१, इन ६ पुरुषों से शृणुरूप से प्राप्त १-३-६-१०-१५-२१ इन २६ पितृ-कलाओं में से १-६-३-५-३-१ ये २१ कला तो आत्मधेयरूप से सातवें ( किया प्रथम ) बीजी पुरुष में प्रतिष्ठित रह जाती हैं, एवं १-३-६-१०-१५ ये ३५ कला बीजी के शुक द्वारा बीजीपुत्र में भुक्त हो जाती हैं। इस प्रकार पुत्रोत्पादन का फल यह होता है कि, २६ शृणुओं में से ३५ शृणुफलाओं का भार बीजी पुरुष अपने पुत्र पर डाल कर स्वयं इन उपकलाओं से अचूनी यन जाता है। यही प्रजोत्पादनलक्षण

प्रथम आनुष्यकर्म है, जिसका पूर्वपरिच्छेद में स्पष्टीकरण किया जा चुका है, एवं मन्दर्भ सङ्गति की दृष्टि से जिसका यहाँ भी सिंहावलोकन कर लिया गया है।

	पितृश्रृणानि	आत्मधेयाः	तन्याः	संकलनम्	कलाः
(७) १—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः—	१—	१—	०	(१)	१६ कलाः
(६) २—अतिवृद्धप्रपितामहः—	३—	२—	१	(२)	१५ कलाः
(५) ३—वृद्धप्रपितामहः—	६—	३—	३	(६)	१४ कलाः
(४) ४—प्रपितामहः—	१०—	४—	६	(१०)	१३ कलाः
(३) ५—पितामहः—	१५—	५—	१०	(१५)	१२ कलाः
(२) ६—पिता—	२१—	६—	१५	(२१)	११ कलाः
(१) ७—बीजीपुरुषः—	५६	२१ बीजिनि	३५ तन्यु		

तदित्यं परेभ्यः पट्पुरुषेभ्यः बीजिन्यागतानि १६ कलाः  
पेतानि श्रृणानि २१ मात्रया बीजिन्यात्मधेयरूपेण  
प्रतिष्ठितानि, ३५ मात्रया च शुक्रद्वारा तनपुत्रेऽपितानि  
३५ मात्रयावृत्त्यं बीजिनः । तदिदमावृत्त्यं प्रजोत्पादन-  
कर्मणैव सम्भवति, नान्येति भाव्यम्

### पितृतन्तु का ताना बाना—

बीजी पुरुष ने १६ श्रृणकलाओं में से प्रजोत्पादन द्वारा ३५ कलाओं से तो आनुष्य प्राप्त कर लिया। परन्तु अभी इस के पास उन्हीं १६ श्रृणकलाओं में से ३५ से शेष बची हुई २१ कलाएँ सुरक्षित हैं। इन आत्मधेयलक्षण २१ श्रृणकलाओं से अंतर्णी बनने का क्या उपाय ?, सपिण्डीकरणकर्म इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। आत्मधेयरूप से २१ श्रृणकलाओं का अपने शुक्रस्थ महानात्मा में प्रतिष्ठित रखने वाले इस बीजी पुरुष को थोड़ी देर के लिए इसी पाञ्च-भौतिक शरीर में इसी भूषण पर जीवनयात्रा का निर्वाह करने दीजिए, और इस के उन ६ पर-पुरुषों का विचार कीजिए, जो अपनी श्रृणमात्राएँ दे दे कर शरीरत्यागानन्तर स्वप्रभव चान्द्रलोक में जाकर प्रतिष्ठित हो गए हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखिए कि, १६-२८ वाले ८४ के चक्र से सभी पुरुष नित्ययुक्त हैं। सभी ने अपनी १६ श्रृणकलाओं में से ३५ पुत्रों में दी है, २१ स्वयं में रखी हैं। एवं २८ कलाओं में से २१ पुत्रों में दी है, ७ स्वयं में रखी हैं। पितृतन्तुओं का कैसा अपूर्व ताना-बाना है।

बीजीपुरुष को लक्ष्य बना कर केवल एक सप्तक (एक मापिण्ड्य) का विचार करते हुए हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, बीजीपुरुष अपने वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र

है। बीजीपुरुष का पिता इसी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का अतिवृद्धप्रपौत्र है। बीजीपुरुष का पितामह इसी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का वृद्धप्रपौत्र है। बीजीपुरुष का प्रपितामह इसी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का प्रपौत्र है। बीजीपुरुष का वृद्धप्रपितामह इसी के वृद्धप्रपितामह का पौत्र है। बीजीपुरुष का अतिवृद्धप्रपितामह इसी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का पुत्र है। बीजीपुरुष का वृद्धातिवृद्धप्रपितामह इसी के अतिवृद्धप्रपितामह स्थानीय पुत्र का बीजीपुरुष है, इस प्रकार मात पुरुषपरम्परा में सापिण्ड्य सम्बन्ध समाप्त है।

- (१) वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः—(७) बीजीपुरुषः  
 (२) अतिवृद्धप्रपितामहः—(६) पुत्रः  
 (३) वृद्धप्रपितामहः—(५) पौत्रः  
 (४) प्रपितामहः—(४) प्रपौत्रः  
 (५) पितामहः—(३) वृद्धप्रपौत्रः  
 (६) पिता—(२) अतिवृद्धप्रपौत्रः  
 (७) बीजीपुरुषः—(१) वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रः

वृद्धातिवृद्धप्रपितामह से आरम्भ कर ६ ठे बीजीपुरुष के पितापर्यन्त ६ ओं परपुरुषों प्रत्येक में ५६ अणु, २८ धनरूप से ८५ कला प्रतिष्ठित हैं। इनमें से २८ धनकलाओं को छोड़िए। ५६ कलाओं में से केवल ३८ अणुकलाओं को लक्ष्य बनाइए, जिनका अणुभार सातवें बीजीपुरुष पर है। वृद्धातिवृद्धप्रपितामह की ५६ कलाओं में से केवल १ अणुकला का भार बीजीपुरुष पर है। इसी प्रकार अतिवृद्धप्रपितामह की ५६ में से केवल ३ का, वृद्धप्रपितामह की ५६ में से केवल ६ का, प्रपितामह की ५६ में से केवल १० का, पितामह का ५६ में से केवल १२ का, तथा पिता की ५६ में से केवल २१ का, इस प्रकार सम्भूय ५६ कला का भार इस पर है। इनमें से ३५ इसने प्रजोत्पादन के द्वारा पुत्र को समर्पित कर दी, शेष २१ कला इसमें आत्मचेयरूप से प्रतिष्ठित रह गई, जिनका १, २, ३, ४, ५, ६, रूप से पूर्व में विभाजन घटलाया जा चुका है।

बीजीपुरुष शरीरनिधनानन्तर जब पितृलोक में जाता है, तो अपने में प्रतिष्ठित इसका पितृश्रृण तत्तन् भ्रेत पिता-पितामहादि पितरों में प्रकृत्या संयुक्त हो जाता है। १ कला वृद्धातिवृद्धप्रपितामह में, २ कला अतिवृद्धप्रपितामह में, ३ कला वृद्धप्रपितामह में, ४ कला प्रपितामह में, ५ कला पितामह में,

एवं ६ कला पिता में प्रत्यर्पित हो जाती हैं। यदि बीजीपुरुष स्वपिता-पितामहादि से पहिले मर जाता है, तो इनका ऋणात्मक धन इसी में सुरक्षित रहता है। जब ये पञ्चत्व-को प्राप्त हो जाते हैं, तो अपना धन उस समय इन्हें मिल जाता है। इस प्रकार ३५ कलाओं में से शेष रहा २१ कला ऋण इस प्रत्यर्पणपद्धति से उन्हें मिल जाता है, और इस स्थिति में आकर यह प्रेत बीजीपुरुष ५६ कला पितृऋण से सर्वथा उन्मुक्त हो जाता है। नाथ ही इस ऋणमुक्ति की दशा में उसके पास केवल अपने अर्जित धन की ७ कला शेष रह जाती हैं।

यही प्रत्यर्पण कर्म 'मपिण्डीकरण' नाम से प्रसिद्ध है। कारण यही है कि, २८ कला पितृपिण्डों के नियाए हो जाने पर वे पिण्ड '७-६-४-४-३-२-१' इस क्रम से बीजी, तनपुत्र, पौत्र-प्रपौत्र-वृद्धप्रपौत्र-अतिवृद्धप्रपौत्र-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र, इन ७ पुरुषों में विभक्त हो जाते हैं। सातवाँ बीजी (अपने वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र का वृद्धातिवृद्धप्रपितामह) चन्द्रलोक में केवल ७ कला लेकर पहुँचता है। जब इसका पुत्र जाता है, तो ६ कला का प्रत्यर्पण होता है ७ + ६ = १३ हो जाती हैं। पौत्र से ५ मिलती हैं, १३ + ५ = १८ हो जाती हैं। प्रपौत्र से ४ मिलती हैं, १८ + ४ = २२ हो जाती हैं। वृद्धप्रपौत्र से ३ मिलती हैं, २२ + ३ = २५ हो जाती हैं। अतिवृद्धप्रपौत्र से २ मिलती हैं, २५ + २ = २७ हो जाती हैं। एवं वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र से १ कला मिलती है, २७ + १ = २८ कला सम्पन्न हो जाती हैं। यहाँ आकर वृद्धातिवृद्धप्रपितामह सहापिण्डात्मक धनता हुआ सापिण्डरूप में परिणत हो जाता है। क्योंकि सापिण्ड्य लक्षण पूर्णपिण्डरूप सातवीं सन्तति में प्रतिष्ठित १ कला के प्रत्यर्पण पर अवलम्बित है, इसी आधार पर 'पिण्डदः सप्तमस्त्वेवाम्-सापिण्ड्यं सप्तपौरुषम्' कहा जाता है।

पुत्रादि द्वारा प्रत्यर्पित पितृधन से सात पुरुषों में से सातवें वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का पिण्ड सम्पूर्णविषय धनता है। अपने पिण्ड की पूर्णता के अव्यवहितोत्तरकाल में ही यह सातवाँ प्रेतपुरुष पार्थिव आकर्षण से एकान्तः मुक्त हो जाता है। जब तक एक भी कला पृथिवी पर स्थसंतितरूप में प्रतिष्ठित रहती है, तब तक इसे पार्थिवआकर्षण से आकर्षित रहना पड़ता है। क्योंकि वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र की उत्क्रान्ति के साथ साथ ही वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का शेष १ भाग भी पृथिवी से इच्छिन्न हो जाता है, अतएव आकर्षण विमोक्त स्वाभाविक धन जाता है। चान्द्र संस्था से उन्मुक्त पितर सौर संस्था में आता हुआ तद्द्वारा स्वप्रभव उसी पारमेष्ठ्य लोक में चला जाता है। यहाँ आकर त्रैगुण्यभाव से अतिमुक्त धन कर—'न स पुनरावर्त्तते, न त पुनरावर्त्तते'। इस त्रिगुणातीत मुक्त-उन्मुक्त महानात्मा के लिये इस के अनन्तर पृथिवी में कोई कर्म (आदादि) शेष नहीं रह जाता।

निष्कर्ष यह निकला कि, अगर सातवें पुरुष के निधन से मात्रार्पण द्वारा पर सातवें पुरुष का धन धन विमोक्त होता है। अगर सातवें ३५ कलाओं के ऋणात्मक धन से जो २१ कला सुरक्षित रखी थी, वे इस प्रत्यर्पण विधिरूप सपिण्डीकरण से तन प्रेत पितरों में वापस

निहित हो जाती हैं। फलतः सपिण्डीकरण से यह २१ कला से आनृत्यभाव को प्राप्त हो जाता है। प्रजोत्पादनकर्म से ३५ का, निधनानन्तर प्रत्यर्पण से २१ का प्रतिशोध होता है। इस प्रकार प्रजोत्पादन, तथा सपिण्डीकरण, इन दो कर्मों से पुरुष अपनी जीवनदशा, चान्द्रस्थिति, इन दो स्थितियों के द्वारा अष्टरूप से प्राप्त ५६ कलाओं से उच्छ्रय हो जाता है। इस की तो अपनी कमाई की आत्मधेयरूप ७ कला हैं, उन की पूर्णता इस के पुत्र-पौत्रादि सप्तक पर ही भरे हैं।

वृद्धातिवृद्धप्रपितामहानुगतं—एकम् (१) सहः—प्रत्यर्पयति सप्तमः  
 अतिवृद्धप्रपितामहानुगते—द्वे (२) महमी  
 वृद्धप्रपितामहानुगतानि—त्रोणि (३) महांमि  
 प्रपितामहानुगतानि—चत्वारि (४) महांसि  
 पितामहानुगतानि—पञ्च (५) सहांसि  
 पितुरनुगतानि—षट् (६) महांसि  
 २१

तदिदं सपिण्डीकरणं नाम  
 द्वितीयमानृत्यं कर्म  
 मज्जमः पितृददः



इति—सपिण्डीकरणेनानृत्यं द्वितीयं कर्म



## अथ श्राद्धेनानृण्यं तृतीयं कर्म

श्राद्धकर्मानुगत आनृण्यविज्ञानोपक्रम—

जिस बीजी पुरुष ने १६ में से शेष बची हुई २१ कलाएँ स्व-पिता-पितामहादि में चन्द्र-लोक में पहुँच कर प्रत्यर्पित की थीं, उस बीजी पुरुष का 'वृद्धातिवृद्धप्रपितामह' नामक चान्द्रलोकस्थ मातर्वो परपुरुष बीजी के प्रत्यर्पणलक्षण सपिण्डीकरण से पूर्णकलाओं से युक्त होता हुआ पार्थिव बन्धन से विमुक्त हो जाता है। शेष पितर (अतिवृद्धप्रपितामहादि) अब भी पूर्णता के अभाव से पार्थिव आकर्षण सूत्र से बद्ध रहते हैं। बीजी पुरुष के चन्द्रलोकगमन (निधन) से पहिले चान्द्रलोकस्थ पिता-पितामहादि में निम्न लिखित सह-पिण्ड रहते हैं—

- ६—(७) वृद्धातिवृद्धप्रपितामहे—२८ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थो वृद्धप्रपितामहपिण्डः  
 ५—(६) अतिवृद्धप्रपितामहे—२५ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थोऽतिवृद्धप्रपितामहपिण्डः  
 ४—(५) वृद्धप्रपितामहे—२१ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थो वृद्धप्रपितामहपिण्डः  
 ३—(४) प्रपितामहे—१८ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थः प्रपितामहपिण्डः  
 २—(३) पितामहे—१३ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थः पितामहपिण्डः  
 १—(२) पितरि—७ सहांसि—तद्युक्तश्चन्द्रस्थः पितृपिण्डः

कारण स्पष्ट है। 'वृद्धातिवृद्धप्रपितामह' के चान्द्रलोक में पहुँचने पर स्वधनात्मक २८ सहांसि में से केवल ७ बचे थे, शेष २१ का इसने अपने पुत्रोत्पादन में अणुदान कर डाला था। आगे जाकर इस ओर की ५ प्रजाओं से क्रमशः बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह के पुत्र) से ६ सहोभाग, बीजी के वृद्धप्रपितामह (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह के पौत्र) से ५ सहोभाग, बीजी के प्रपितामह (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्र० के प्रपौत्र) से ४ कलाएँ, बीजी के पितामह (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्र० के वृद्धप्रपौत्र) से ३ कलाएँ, एवं बीजी के पिता (बीजी के वृद्धातिवृद्धप्र० के अतिवृद्धप्रपौत्र) से २ कलाएँ इन के निधनानन्तर यापन मिल जाती हैं। इस प्रकार ७ आत्मगत धन भाग, '६-४-३-२-१' ये २० आत्मगत धन ४ अवर प्रजाओं से, सम्भूय बीजी (जोकि वृद्धातिवृद्धप्रपितामह का वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र है, जिस में कि वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र की १ कला न्युप्त है) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ वृद्धातिवृद्धप्रपितामह में २७ सहोभागों की मत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'अतिवृद्धप्रपितामह' की २८ कलाओं में से २१ तो तब पुत्र में न्युप्त हैं। फलतः चान्द्रलोकस्थ इस में भी आत्मधन की ७ कला ही शेष हैं। आगे जाकर अवरकक्षानुगत ४

प्रजायों से इसे क्रमशः बीजी के वृद्धप्रपितामह (बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह के पुत्र) से ६ सहोभाग, बीजी के प्रपितामह से (बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह के पौत्र) से ५ सहोभाग, बीजी के पितामह (बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह के प्रपौत्र) से ४ सहोभाग, एवं बीजी के पिता (बीजी के अतिवृद्धप्रपितामह के वृद्धप्रपौत्र) से ३ सहोभाग, इन के निधनानन्तर और वापस मिल जाते हैं। इस प्रकार ७ आत्मगत धन भाग, ६-५-४-३, ये १८ सहोभाग अथवा प्रजाचतुष्टयी से प्रत्यर्पित, सम्भूय बीजी (जोकि अतिवृद्धप्रपितामह का अतिवृद्धप्रपौत्र है, जिसमें कि अतिवृद्धप्रपितामह की २ कला न्युप्त हैं) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ अतिवृद्धप्रपितामह में २५ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'वृद्धप्रपितामह' की २८ कलाओं में से २१ तो तन पुत्र में न्युप्त हैं। फलतः चान्द्रलोकस्थ इस में भी आत्मधन की ७ कलाएँ ही शेष माननी पड़ती हैं। आगे जाकर अथवा कक्षानुगत ३ प्रजाओं से इसे क्रमशः बीजी के प्रपितामह (बीजी के वृद्धप्रपितामह के पुत्र) से ६ सहोभाग, बीजी के पितामह (बीजी के वृद्धप्रपितामह के पौत्र) से ५ सहोभाग, एवं बीजी के पिता (बीजी के वृद्धप्रपितामह के प्रपौत्र) से ४ सहोभाग इन के निधनानन्तर और वापस मिल जाते हैं। इस प्रकार ७ आत्मगत धन भाग, ६-५-४ ये १४ सहोभाग अथवा प्रजात्रयी से प्रत्यर्पित, सम्भूय बीजी (जोकि वृद्धप्रपितामह का वृद्धप्रपौत्र है, जिसमें कि वृद्धप्रपितामह की ३ कला न्युप्त हैं) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ वृद्धप्रपितामह में २१ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'प्रपितामह' की २८ कलाओं में से २१ तो तन पुत्र में न्युप्त हैं। फलतः चान्द्रलोकस्थ इस में भी आत्मधन की शेष कला ७ ही सिद्ध हो जाती है। आगे जाकर अथवा कक्षानुगत २ प्रजाओं से इसे क्रमशः बीजी के पितामह (बीजी के प्रपितामह के पुत्र) से ६ सहोभाग, एवं बीजी के पिता (बीजी के प्रपितामह के पौत्र) से ५ सहोभाग इन के निधनानन्तर और वापस मिल जाते हैं। इस प्रकार ७ आत्मगत धन भाग, ६-५, ये ११ सहोभाग अथवा प्रजात्रयी से प्रत्यर्पित, सम्भूय बीजी (जोकि प्रपितामह का प्रपौत्र है, जिसमें कि प्रपितामह की ४ कला न्युप्त हैं) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ प्रपितामह में १८ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'पितामह' की २८ में से २१ पुत्र में न्युप्त हैं, ७ धनशेष आत्मधन है। आगे जाकर अथवा कक्षानुगत बीजी के पिता (बीजी के पितामह के पुत्र) से इसमें ६ सहोभाग और प्रत्यर्पित होते हैं। सम्भूय बीजी (जोकि पितामह का पौत्र है, जिसमें पितामह की ५ कला न्युप्त हैं) के निधन से पहिले पहिले चान्द्रलोकस्थ पितामह में १३ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है।

इसी प्रकार 'पिता' की २८ में से २१ तो तन पुत्र बीजी में न्युप्त हैं। बीजी के निधन

से पहिले पहिले इस प्रेतपिता में ७ सहोभागों की सत्ता सिद्ध हो जाती है, जैसा कि परिहोस से स्पष्ट है।

१—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहे—२७ सहांसि—

(१) ७—सहांसि सहागतानि—प्रेतात्मा प्रथमो बीजी

- |                                  |                      |                     |
|----------------------------------|----------------------|---------------------|
| (२) ६—सहांसि—अतिवृद्धप्रपितामहतः | (पुत्रतः)            | प्रेतात्मा द्वितीयः |
| (३) ५—सहांसि—वृद्धप्रपितामहतः    | (पौत्रतः)            | प्रेतात्मा तृतीयः   |
| (४) ४—महांसि—प्रपितामहतः         | (प्रपौत्रतः)         | प्रेतात्मा चतुर्थः  |
| (५) ३—सहांसि—पितामहतः            | (वृद्धप्रपौत्रतः)    | प्रेतात्मा पञ्चमः   |
| (६) २—सहांसि—पितुः सकाशात्       | (अतिवृद्धप्रपौत्रतः) | प्रेतात्मा षष्ठः    |

२७ सहांसि सप्तमस्य बीजिनो निधनात् प्राक्—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहे

—१—

२—अतिवृद्धप्रपितामहे—२५ सहांसि—

(२) ७—सहांसि सहागतानि—प्रेतात्मा द्वितीयो बीजी

- |                               |                   |                    |
|-------------------------------|-------------------|--------------------|
| (३) ६—सहांसि—वृद्धप्रपितामहतः | (पुत्रतः)         | प्रेतात्मा तृतीयः  |
| (४) ५—सहांसि—प्रपितामहतः      | (पौत्रतः)         | प्रेतात्मा चतुर्थः |
| (५) ४—सहांसि—पितामहतः         | (प्रपौत्रतः)      | प्रेतात्मा पञ्चमः  |
| (६) ३—सहांसि—पितुः सकाशात्    | (वृद्धप्रपौत्रतः) | प्रेतात्मा षष्ठः   |

२५ सहांसि सप्तमस्य बीजिनो निधनात् प्राक्—अतिवृद्धप्रपितामहे

—२—

३—वृद्धप्रपितामहे—२१ सहांसि—

(३) ७—सहांसि सहागतानि—प्रेतात्मा तृतीयो बीजी

- |                            |              |                    |
|----------------------------|--------------|--------------------|
| (४) ६—महांसि—प्रपितामहतः   | (पुत्रतः)    | प्रेतात्मा चतुर्थः |
| (५) ५—सहांसि—पितामहतः      | (पौत्रतः)    | प्रेतात्मा पञ्चमः  |
| (६) ४—महांसि—पितुः सकाशात् | (प्रपौत्रतः) | प्रेतात्मा षष्ठः   |

२१ सहांसि सप्तमस्य बीजिनो निधनात् प्राक्—वृद्धप्रपितामहे

—३—

४—प्रपितामहे—१८ सहांसि—

(४) ७—सहांसि—सहागतानि—प्रेतात्मा चतुर्थो बीजी

(५) ६—सहांसि—पितामहतः (पुत्रतः) प्रेतात्मा पञ्चमः

(६) ५—सहांसि—पितुः सकाशान् (पुत्रतः) प्रेतात्मा षष्ठः

१८ सहांसि सप्तमस्य बीजिनो निधनात् प्राक्—प्रपितामहे

—४—

५—पितामहे—१३ सहांसि—

(५) ७—सहांसि—सहागतानि—प्रेतात्मा पञ्चमो बीजी

(६) ६—सहांसि—पितुः सकाशान् (पुत्रतः) प्रेतात्मा षष्ठः

१३—सहांसि सप्तमस्य बीजिनो विधनात् प्राक्—पितामहे

—५—

६—पितरि—७ सहांसि—

(६) ७—सहांसि महागतानि—प्रेतात्मा षष्ठो बीजी

७—सहांसि सप्तमस्य बीजिनो निधनात् प्राक्—पितरि

—६—

अथ मातयें बीजीपुरुष की प्रेतावस्था का विचार कीजिए। हम ने भी नियमानुसार २१ तो पुत्र में न्युन कर दिए, इस प्रकार आत्मधन में से कुल ७ सहोभाग लेकर यह चान्द्रलोक में पहुँचा। इन ७ के अतिरिक्त ५६ शृणुभागों में से बाकी बचे हुए २१ सहोभाग भी इस के साथ चन्द्रसंस्था में गए। इन २१ में से उक्त ६ परपुरुषों के क्रमशः '१-२-३-४-५-६' इस क्रम से विभाग हैं। इसी क्रम से ये ६ अंशों विभाग धनाधिकारी तत्तत् ६ अंशों परपुरुषों में प्रत्यर्पित हो जाते हैं। १ में २७ थे, उसने सातवें के द्वारा १ ले लिया, २६ हो गए। २ में २५ थे, उसने सातवें के द्वारा २ लिए, २३ हो गए। ३ में २१ थे, इसने सातवें के द्वारा ३ लिए, २४ हो गए। ४ में १८ थे, इसने सातवें के द्वारा ४ लिए, २० हो गए। ५ में १३ थे, इसने सातवें के द्वारा ५ लिए १८ हो गए। ६ में ७ थे, इसने सातवें के द्वारा ६ लिए, १३ हो गए। इस प्रकार सातवें बीजी के निधन से पहिले जिन ६ पुरुषों में '२७-२५-२१-१८-१३-७' क्रम से सहांसि थे, वे सातवें बीजी के निधन से तत्रत्य '१-२-३-४-५-६' इन प्रत्यर्पित सहोभागों में क्रमशः '२६-२५-२४-२०-१८-१३' इन सप्तः संख्याओं में परिणत हो गए, जैसा कि अगले परिनिम्न में स्पष्ट है—

१	७	— वृद्धातिवृद्धप्रपितामहे २८ सहांसि—पूर्णपिएडः					
२		७	—अतिवृद्धप्रपितामहे २७ सहांसि—अपूर्णः				
३	५	६	७	—वृद्धप्रपितामहे २५ सहांसि—अपूर्णः			
४	४	५	६	७	—प्रपितामहे २१ सहांसि—अपूर्णः		
५	३	४	५	६	७	—पितामहे १८ सहांसि—अपूर्णः	
६	२	३	४	५	६	७	—पितरि १३ सहांसि—अपूर्णः
७	१	२	३	४	५	६	७
७	२८	२७	२५	२१	१८	१३	७
						—वीजिनि ७—अपूर्णः	
						—पिएडदः समस्तवेषाम	
						—सापिएड्य सामपौरुषम	

पुनः मन्त्रं विनियन्तु

### तन्तुलक्षण आद्रकर्ता का स्वरूप परिचय—

जो भी आद्र करेगा, यह 'पुत्र' नाम से व्यवहृत होगा, यह सामान्य परिभाषा लक्ष्य में रख कर ही विषय का समन्यय करना चाहिए। प्रजोत्पादन, सपिएडीकरण, आद्र, तीनों कर्मों की मूलोपनिषत् पृथक् पृथक् है। प्रजोत्पादन की मूलोपनिषत् अणुरूप से शुक्र में प्रतिष्ठित ५६ पितर पिएड की ३५ कला हैं। सपिएडीकरण की मूलोपनिषत् ५६ में से शेष रहे हुए २१ सहांसि हैं। एवं आद्रकर्म की मूलोपनिषत् २८ कला, अतएव मुक्त वृद्धातिवृद्धप्रपितामह ( जो कि आद्रकर्ता से संख्या में ८ बाँ होगा) को छोड़कर शेष ६ पितर ( जिनके अंश मतानुरूप से आद्रकर्ता पुत्र के शुक्रस्थित महानात्मा में प्रतिष्ठित है, जो कि आद्रकर्ता सातवीं पीढ़ी में प्रतिष्ठित है ) हैं।

एक तालिका में अद्यालु पाठक देखेंगे कि, सातवीं सन्तति के स्वप्रभयलोक (चन्द्रलोक) गमन करने पर इस में प्रतिष्ठित अणुरूप अपनी एक १ कला लेकर इसका सातवाँ पुरुष (वृद्धातिवृद्धप्रपितामह) २८ कला बनता हुआ पूर्ण बन कर पार्थिव वन्धन से मुक्त हो जाता है। अब इस से आठवीं सन्तति में इस का कोई सहोभाग पृथिवी पर नहीं है। अतएव इसके लिए आद्र करना व्यर्थ है। शेष ६ पुरुषों के अंश सन्तति के द्वारा पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहते हैं। दूसरे शब्दों में अणुरूप से सन्तानों में प्रतिष्ठित तत्तत् पिएडसंभाग उसी चान्द्राद्रासूत्र के द्वारा तत्तत् सवः प्रदाता अंतपितरों के पार्थिवारुपण वन्धन के कारण बनते हैं।

तालिकाप्रदर्शित ७ अंतःत्माओं को '१-५-१' इन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। 'वृद्धातिवृद्धप्रपितामह' नामक सातवाँ परपुरुष 'कृत्स्नपिएड' है। मध्य के पाँच परपुरुष 'सिद्धपिएड-

रहेंगे, तृप्त पितर पुत्रादि के महानात्मा को आप्यायित करते रहेंगे, पारस्परिक आदान प्रदान से प्रजातन्तु चितान भी होता रहेगा, परम्परया प्रत्यर्पण के द्वारा प्रेतबन्धन विमोक्त भी होता रहेगा ।

निष्कर्षतः—

“पिएडलिप्सु चान्द्रलोकस्थ इति पितृपदक की वृत्ति के लिए पुत्रादि के द्वारा पिएड-  
दानात्मक जो वैज्ञानिक कर्म किया जाता है, वही ‘आद’ नाम से व्यवहृत हुआ है”

देवपञ्चस्वरूपमीमांसा—

प्रजोत्पादनकर्म जहाँ पितृश्रृण की ३५ कलाओं से पुत्रोत्पादक को अनृणी बनाता है, वहाँ पिएडदानलक्षण आदकर्म से आदकर्त्ता चान्द्रलोकस्थ चीणपिएड, अतएव पिएडलिप्सु प्रेतपितृपदक को वृत्त करता हुआ अपने एक आवश्यक कर्त्तव्य से अनृणी बन जाता है। तीनों में इस आदकर्म को इसलिए महत्त्वपूर्ण माना जायगा कि, इस कर्म से सदा प्रेतात्मा वृत्त होते रहते हैं। वृत्त प्रेत पितर-पुत्रादिगत पितृश्रृण को आप्यायित करते रहते हैं। आप्यायित शुक्लस्थित पितृश्रृण गोत्रवृद्धिलक्षण प्रजा-तन्तुचितान में समर्थ बने रहते हैं। उनकी वृत्ति, हमारी वंशरक्षा, ही इस कर्म का सर्वोत्कृष्ट फल है। प्रजो-त्पादन एवं सपिएडीकरण, दोनों आनृण्यकर्म वंशचितान पर अवलम्बित हैं। वंशचितान सबल पितृसहः पर अवलम्बित है। पितृमावलय प्रेतपितृवृत्ति पर अवलम्बित है। एवं प्रेतपितृवृत्ति एकमात्र आदकर्म पर ही अवलम्बित है। अतएव द्विजातिवर्ग के लिए यह पितृकर्म देवकर्म से भी उत्कृष्ट माना गया है, जो कि आवश्यकतम, सर्वोत्कृष्ट आदकर्म दुर्भाग्य से आज अश्रेय का विषय बनता हुआ ‘तृप्तपिएडोदकक्रियाः’ को अन्यर्थ बना रहा है।

“भूपिएड से चन्द्रलोक वड़ी दूर, पुत्रादि पृथिवी पर, प्रेतात्मा चन्द्रलोक में। ऐसी दशा में पुत्रादिद्वारा प्रदत्त पिएड से उनकी वृत्ति हो जाती है, इस कथन पर इसलिए विश्वास नहीं किया जा सकता कि, न तो पिएड को हम अपनी आँखों से चन्द्रलोक में जाता हुआ ही देखते, न प्रेतात्मा ही हमारी दृष्टि के विषय। कहना पड़ेगा कि पिएडदानात्मक आदकर्म केवल ब्राह्मणों की स्वार्थलीला है।” ये हैं उन आस्तिकों के उद्गार, जो आज भारतवर्ष में ‘वेदधर्मानुयायी’ कहे-सुने जाते हैं। अस्तु, कौन क्या कहता सुनता है?, इस अभियन्त्रिकों को वृत्तरूप देना व्यर्थ है। हमारा इस सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्य केवल यही है कि, वितण्डावाद में न पड़ कर अद्वैतप्राज्ञावर्ग की अनुकूलजिज्ञासा, अनुकूल तर्क के समाधान के लिए दो शब्दों में यह स्पष्टीकरण कर दिया जाय कि, अमुकरूप से पुत्रादिद्वारा प्रदत्त पिएड अमुकमार्ग से चन्द्रलोक में जाता हुआ अमुकरूप से चन्द्रलोकस्थ प्रेतात्माओं की वृत्ति का कारण बन जाता है।

पार्ययोपग्रहभूत चन्द्रमा तो फिर भी पृथिवी के समिकट है, परन्तु बृहतीमध्यस्थ

सूर्य तो भूपिण्डोपलक्षिता पृथिवी से २१ वे अर्हण की दूरी पर अवस्थित है ॥ परन्तु आश्चर्य है कि, पृथिवी (भूपिण्ड) पर रहने वाले मनुष्य (द्विजाति) यज्ञकर्म में आह्वनीयकुण्ड में सोमाहुति डालते हैं, पुरोडाश की आहुति देते हैं। और यह सोमरस, तथा पुरोडाशपिण्ड विदूरस्थित सूर्यसंस्था में पहुँचता हुआ तत्रस्थ प्राणदेवताओं की सृष्टि का कारण बन जाता है। जिज्ञासा स्वाभाविक है कि, यहाँ दी हुई आहुति वहाँ रहने वाले प्राणदेवताओं की सृष्टि का कारण कैसे बनी? वेदरहस्यविरले-पक भगवान् मनु इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते धृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

—मनुः ३।७६।

अग्नीषोमात्मक यह से ही प्रजा उत्पन्न हुई है। यह यज्ञ 'नित्य, वैध, भेद' से दो भागों में विभक्त माना गया है। नित्ययज्ञ से पृथ्वी का सञ्चालन हो रहा है। वैधयज्ञ केवल वैयक्तिक संस्था का उपकारक है। जिस नियम से प्राकृतिक नित्ययज्ञ का चितान हो रहा है, यदि उसी नियम से वैधयज्ञ (पुरुषप्रयत्नसाध्ययज्ञ) का चितान किया जाता है, तो अवश्यमेव इस वैधयज्ञ से इष्टसिद्धि हो जाती है। प्राकृतिक यज्ञ में सूर्य आह्वनीय है, पृथिवी गार्हपत्य है, अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उद्गाता है, चन्द्रमा ब्रह्मा है, सम्बत्सरप्रजापति यजमान हैं, पार्थिव उल्ला यजमानपत्नी है, दिक्सोम आहुतिद्रव्य है, अक्ष-यजुः-सामतत्त्वग्रथी वेदमन्त्र हैं। इन सब के समन्यय से आधिदैविक यज्ञ का सञ्चालन हो रहा है। ठीक इसी यज्ञ के अनुरूप यज्ञचितान करना 'सम्यक्-यज्ञ' है। प्रकृतिविरुद्ध कल्पना के द्वारा वायुशुद्धि आदि काल्पनिक क्लेशों की चर्चणा से यथेच्छ करना असम्यक्-यज्ञ है। और ऐसा अविज्ञानानुपपन्न विवेकान्तरों का

॥ वादक मामीप्य-विदूर-व्यवस्था वाङ्मय ४८ अर्हणों पर ही व्यवस्थित हुई है। कौन ग्रहोपग्रह किस ग्रहोपग्रह से कितना समीप, एवं कितना विदूर है?, ग्रहों का समाधान आर्हण-मण्डलात्मक वाङ्मय 'वपट्कार' पर ही अवलम्बित है। इस व्यवस्था के अनुपात से 'एकविंशो वा इत आदित्यः' (शत०) के अनुसार सूर्य मुपिण्ड से २१ वें अर्हण पर प्रतिष्ठित हैं। वर्तमान ज्ञानिकविज्ञानवादी प्रत्यक्ष जगत् ने मीलों के अनुपात से जो मामीप्य-विदूर-व्यवस्था व्यवस्थित कर रखी है, वह अतन्ताकारमाध्यम से अपूर्ण ही कही जायगी। उनका कहना है, 'सूर्य पृथिवी से ६ करोड़ मील दूर है'। यह ठीक है कि, अर्हणानुगत परिमाण-समतुलन से तथ्याश्रित मील-परिमाणानुपात समतुलित है। तथापि प्राकृतिक प्राणसमतुलनानुपात से मील, अथवा तो मोरा (कोम) व्यवस्था का कोई महत्त्व नहीं माना जा सकता।

रहेंगे, वृक्ष पितर पुत्रादि के महानात्मा को आप्यायित करते रहेंगे, पारस्परिक आदान प्रदान से प्रजातन्तु वितान भी होता रहेगा, परम्परया प्रत्यर्पण के द्वारा प्रेतबन्धन विमोक्त भी होता रहेगा ।

निष्कर्षतः—

“पिरडलिप्स चान्द्रलोकस्थ इस पितृपट्ट की तृप्ति के लिए पुत्रादि के द्वारा पिरड-  
दानात्मक जो वैज्ञानिक कर्म किया जाता है, वही ‘आद्य’ नाम से व्यवहृत हुआ है”

देवपक्षस्वरूपमीमांसा—

प्रजोत्पादनकर्म जहाँ पितृकृष्ण की ३५ कलाओं से पुत्रोत्पादक को अनृणी बनाता है, यहाँ पिरडदानलक्षण आद्यकर्म से आद्यकर्त्ता चान्द्रलोकस्थ क्षीणपिरड, अतएव पिरडलिप्स प्रेतपितृपट्ट को कृत्ता करता हुआ अपने एक आवश्यक कर्त्तव्य से अनृणी बन जाता है। तीनों में इस आद्यकर्म को इसलिए महत्त्वपूर्ण माना जायगा कि, इस कर्म से सदा प्रेतात्मा कृत्ता होते रहते हैं। कृत्ता प्रेत पितर-पुत्रादिगत पितृप्राण को आप्यायित करते रहते हैं। आप्यायित शुक्रस्थित पितृप्राण गोत्रवृद्धिलक्षण प्रजातन्तुवितान में समर्थ बने रहते हैं। उनकी वृत्ति, हमारी वंशरक्षा, ही इस कर्म का सर्वोत्कृष्ट फल है। प्रजोत्पादन एवं मपिरडकीकरण, दोनों आनुव्ययकर्म वंशवितान पर अवलम्बित हैं। वंशवितान सबल पितृसहः पर अवलम्बित है। पितृसावल्य प्रेतपितृवृत्ति पर अवलम्बित है। एवं प्रेतपितृवृत्ति एकमात्र आद्यकर्म पर ही अवलम्बित है। अतएव द्विजातिवर्ग के लिए यह पितृकर्म देवकर्म से भी उत्कृष्ट माना गया है, जो कि आवश्यकतम, सर्वोत्कृष्ट आद्यकर्म दुर्भाग्य से आज अभेदा का विषय बनता हुआ ‘लुप्तपिरडोदकक्रियाः’ को अन्वर्थ बना रहा है।

“भूपिरड से चन्द्रलोक बड़ी दूर, पुत्रादि पृथिवी पर, प्रेतात्मा चन्द्रलोक में। ऐसी दशा में पुत्रादिद्वारा प्रवृत्त पिरड से उनकी वृत्ति हो जाती है, इस कथन पर इसलिए विश्वास नहीं किया जा सकता कि, न तो पिरड को हम अपनी आँखों से चन्द्रलोक में जाता हुआ ही देखते, न प्रेतात्मा ही हमारी दृष्टि के विषय। कहना पड़ेगा कि पिरडदानात्मक आद्यकर्म केवल आकाशों की स्पर्धलीला है ! ये हैं उन आस्तिकों के उद्गार, जो आज भारतवर्ष में ‘वेदधर्मानुयायी’ कहे-सुने जाते हैं। अस्तु, कौन क्या कहता सुनता है ?, इस अभिव्यक्ति का तूलरूप देना व्यर्थ है। हमारा इस सम्बन्ध में अपना कर्त्तव्य केवल यही है कि, विरुद्धावाद में न पड़ कर अदालतप्रजावर्ग की अनुकूलजिज्ञासा, अनुकूल तर्क के समाधान के लिए दो शब्दों में यह स्पष्टीकरण कर दिया जाय कि, अशुकरूप से पुत्रादिद्वारा प्रवृत्त पिरड अशुकरूप से चन्द्रलोक में जाता हुआ अशुकरूप से चन्द्रलोकस्थ प्रेतात्माओं की वृत्ति का कारण बन जाता है।

पार्थिवोपग्रहभूत चन्द्रमा तो फिर भी पृथिवी के सन्निकट है, परन्तु बृहतीमध्यस्थ



सूर्य तो भूपिण्डोपलक्षिता पृथिवी से २१ वें अर्हण की दूरी पर अवस्थित है ☼ । परन्तु आश्चर्य है कि, पृथिवी ( भूपिण्ड ) पर रहने वाले मनुष्य ( द्विजाति ) यज्ञकर्म में आहवनीयकुण्ड में सोमाहुति डालते हैं, पुरोडाश की आहुति देते हैं । और यह सोमरस, तथा पुरोडाशपिण्ड विदूरस्थित सूर्यसंस्था में पहुँचता हुआ तत्रस्थ प्राणदेवताओं की वृत्ति का कारण बन जाता है । जिज्ञासा स्वाभाविक है कि, यहाँ दी हुई आहुति वहाँ रहने वाले प्राणदेवताओं की वृत्ति का कारण कैसे बनी ? । वेदेन्द्रस्यविश्लेषक भगवान् मनु इसी जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहते हैं—

अग्नां प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते घृष्टिर्घृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥

—मनुः ३।७६।

अग्नीषोमात्मक यज्ञ से ही प्रजा उत्पन्न हुई है । यह यज्ञ 'नित्य, वैध, भेद' से दो भागों में विभक्त माना गया है । नित्ययज्ञ से विषय का सञ्चालन हो रहा है । वैधयज्ञ केवल वैयक्तिक संस्था का उपकारक है । जिस नियम से प्राकृतिक नित्ययज्ञ का वितान हो रहा है, यदि उसी नियम से वैधयज्ञ ( पुरुषप्रयत्नसाध्ययज्ञ ) का वितान किया जाता है, तो अवश्यमेव इस वैधयज्ञ से इष्टसिद्धि हो जाती है । प्राकृतिक यज्ञ में सूर्य आहवनीय है, पृथिवी-गार्हपत्य है, अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उद्गाता है, चन्द्रमा ब्रह्मा है, सम्बत्सरप्रजापति यजमान हैं, पार्थिव उल्ला यजमानपत्नी है, दिक्सोम आहुतिद्रव्य है, अक्ष-यजुः-सामतत्त्वत्रयी वेदमन्त्र हैं । इन सब के समन्वय से आधिदैविक यज्ञ का सञ्चालन हो रहा है । ठीक इसी यज्ञ के अनुरूप यज्ञवितान करना 'सम्यक्-यज्ञ' है । प्रकृतिविरुद्ध कल्पना के द्वारा वायुशुद्धि आदि काल्पनिक फलों की चर्चणा से यथेच्छ करना असम्यक्-यज्ञ है । और ऐसा अवैध-मानुषकल्पनातिरिक्त वेदभक्तों का

☼ वैदिक सामीप्य-विदूर-व्यवस्था वाङ्मय ४८ अर्हणों पर ही व्यवस्थित हुई है । कौन ग्रहोपग्रह किस ग्रहोपग्रह से कितना समीप, एवं कितना विदूर है ? , प्रश्नों का समाधान अर्हण-मण्डलात्मक वाङ्मय 'वपट्कार' पर ही अवलम्बित है । इस व्यवस्था के अनुपात से 'एकविंशो वा इत आदित्यः' ( शत० ) के अनुसार सूर्य भूपिण्ड से २१ वें अर्हण पर प्रतिष्ठित हैं । वर्तमान क्षणिकविज्ञानवादी प्रत्यूह जगत् ने मीलों के अनुपात से जो 'सामीप्य-विदूर-व्यवस्था' व्यवस्थित कर रखी है, यह अनन्ताकारामाध्यम से अपूर्ण ही कही जायगी । उनका कहना है, 'सूर्य पृथिवी से ६ करोड़ मील दूर है' । यह ठीक है कि, अर्हणानुगत परिमाण-समतुलन से तथाकथित मील-परिमाणानुपात समतुलित है । तथापि प्राकृतिक प्राणसमतुलनानुपात से मील, अथवा तो क्रोश (कोन) व्यवस्था का कोई महत्त्व नहीं माना जा सकता ।

यक्षोद्घोष-‘व्यूद्धं वै तद् यज्ञस्य, यन्मानुषम्’ ( शतपथब्रा० ) के अनुसार समृद्धिनाश का ही कारण है। सम्यक् (यथाविधि) हुत आहुति ही प्राकृतिक आहुति-वहनकर्त्ता अग्निदेवता के द्वारा आदित्य में पहुँचती है।

मानुषयज्ञ में आहवनीय सूर्यस्थानीय है, गार्हपत्य पृथिवी स्थानीय है। इस आहवनीय समिद्ध अग्नि में मन्त्रद्वारा आहुति डाली जाती है। समिधेनी मन्त्रों से समिद्ध आहवनीय अग्नि दिव्याग्नि है, सौराग्निसजातीय है। हुत-आहुति का भूतभाग यही रह जाता है। प्राण-भाग प्राणाग्निद्वारा च लोकस्थ सौर देवताओं की वृत्ति का कारण बन जाता है। वृत्त देवता यज्ञ-कर्त्ता के आध्यात्मिक प्राणदेवताओं की वृत्ति का कारण बन जाते हैं। इस पारंपरिक आदान-प्रदान से प्राकृतिक मण्डल हमारे लिए अनुकूल बना रहता है। इसी स्वाभाविक यज्ञरहस्य का स्पष्टीकरण करते हुए पूर्णपुरुष यज्ञेश्वर ने कहा है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥

अनेन प्रसविष्यध्यमेप वोऽस्तिष्टकामधुक् ॥ १ ॥

देवान् भाषयतानेन ते देवा भाषयन्तु वः ॥

परस्परं भाषयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ २ ॥

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ॥

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ ३ ॥

अथाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादबसम्भवः ।

यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ ४ ॥

कर्म वक्षोद्भवं विद्धि वक्ष्यात्वरसमुद्भवम् ॥

तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ३ अ० ।

पार्थिव प्राणाग्नि ‘अद्विरा’ नाम से प्रसिद्ध है। यह अद्विरोऽग्नि भूपिण्ड से निकल कर रथन्तर साममार्ग से निरन्तर चुलोक की ओर आया करता है। सौर प्राणाग्नि ‘आदित्य’ नाम से प्रसिद्ध है। यह सूर्य से निकल कर पृथिवी पर आता रहता है, पृथिवी पर प्रतिफलित होकर वापस चुलोक की ओर लौट आता है। चुलोक से पृथिवी पर आने वाले सौर प्राणाग्नि का पार्थिव अद्विरोऽग्नि के साथ अन्तर्ध्याम सम्बन्ध हो जाता है। फलतः पार्थिव अद्विरा दिव्याग्निधर्मा बन जाता है। यही दिव्याग्निधर्मा पार्थिव अद्विरा पार्थिव त्रिवृत्-पञ्चदश-एकविंश-स्तोमभेद से वसु-रुद्र-आदित्यरूप में परिणत हो जाता है। त्रिमूर्ति पार्थिव अद्विरा के इसी ऊर्ध्वगमन को लक्ष्य में रख कर श्रुति ने कहा है—

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्टान्यारुहन् ।

प्र भूर्जयो यथापथि यामङ्गिरसो ययुः ॥

—अथर्वसंहिता १८।१।१।

ऊर्ध्वगमन से पहले अङ्गिरोऽग्नि 'मृग' नाम से व्यवहृत हुआ है। पाथिव काष्ठादि भूतों में सुप्त अङ्गिरा मृग्यमाण होने से 'मृग' है। जब मनुष्य अपने यज्ञ में इस सुप्त अङ्गिरा को इन्ध-काष्ठ प्रज्वलन कर्म से दृढ़, एवं सामिधेनी मन्त्रद्वारा दिव्य सौराग्नि के प्रवेश से समिद्ध कर देते हैं, तो यही अतन्द्र धन कर अभ्यर्चु के द्वारा हुत भूताहुति के प्राणरूप हव्य भाग का वहन करता हुआ धु-लोक में चला जाता है। इस प्रकार धु लोक की ओर जाते हुए अङ्गिरा नामक प्राणाग्नि के द्वारा ही प्रदत्त आहुति द्रव्य का प्राणांश धु लोकस्थ देवताओं की तृप्ति का कारण बनता है। 'अग्नौ प्रास्ता-हुतिः सम्पक्—आदित्यमुपतिष्ठते' का यही तात्पर्य है, जिस का निम्न लिखित श्रुति से समर्थन हुआ है—

शेषे वनेषु मात्रोः सन्त्वा मर्चास इन्धते ।

अतन्द्रो हव्यं वहसि हविष्कृदादिदेषु राजसे ॥

—सामसंहिता पूर्व १।१।

पार्थिव सम्यत्सरचक्रं को आसुर-आक्रमण से निकालने के कारण 'दूत' नाम से प्रसिद्ध, ब्रह्मवीर्यप्रवर्धक होने से 'ब्राह्मण' नाम से प्रसिद्ध, देवताओं तथा पार्थिव मनुष्यों के भरण करने से 'भारत' नाम से प्रसिद्ध, प्रतिकलित 'अश्व' मूर्ति सौर तेज से युक्त होकर देवताओं के लिए हविर्हन् करने से 'अश्व' नाम से प्रसिद्ध इस प्राणाग्नि का—“अग्निं दूतं घृणामहे”—“अग्नेर्मह्यं असि ब्राह्मण भारत”—“अश्वो न देववाहनः” इत्यादि रूप से यशोगान हुआ है। हम आहुति देने वाले को देखते हैं, जिस भूताग्नि में आहुति दी जाती है, उसे देखते हैं, जो पुरोडाशादि द्रव्य हम भूताग्नि में आहुत किये जाते हैं, उन्हे देखते हैं। परन्तु आहुति ले जाने वाला प्राणाग्नि, प्राणा-ग्नि के द्वारा ले जाया गया आहुतिद्रव्य का प्राणात्मक अंश, प्राणतत्त्वाहुतिग्राहक सौरप्राणदेवता, देवताओं का प्रतिष्ठारूप प्राणात्मक धु लोक, सभी हमारे लिए अप्रत्यक्ष हैं। कारण है एकमात्र 'प्राण' का प्राणत्व ।

'दैवतानि च भूतानि च' (शतपथब्राह्मण) के अनुसार प्रत्येक भौतिक पदार्थ 'प्राण, भूत' भेद से दो भागों में विभक्त है। विनश्वर चरभाग भूतभाग है, एवं यही हमारी दृष्टि का विषय बनता है। अविनश्वर अचरभाग प्राणभाग है, यह हमारे लिए सर्वथा अप्रत्यक्ष है। चर-कूटरूप दृश्य भूतभाग को प्रणिष्ठा अचररूप प्राणतत्त्व ही माना गया है, जैसा कि—‘चरः सर्वाणि

भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इत्यादि से प्रमाणित है। अदृश्य सुसूक्ष्म अक्षरप्राण ही दृश्य-स्थूल-भूत की प्रतिष्ठा है। जब तक भूत में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक भूत की स्वरूपरक्षा है। जर्जरित वस्तुभूत के लिए किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि—'अब इसमें दम नहीं रहा'। यह 'दम' शब्द-वाच्य तत्त्व यही प्राणतत्त्व है। क्या किसी प्रत्यक्षाभिमानि ने 'दम' को अपनी आँखों से देखा है ? शक्ति ( फोर्स ) ही दम है, दम ही प्राण है। शक्तिमान्-दृष्टि का विषय बनता है। स्वयं शक्ति स्वप्राणधर्म से इन्द्रियातीत है, परन्तु मर्यादोन्मुखसिद्ध सत्तात्मक तत्त्व है। 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द' ये पाँचों भूत के धर्म हैं। अतएव रूपादि पञ्चतन्मात्रायुक्त इन्द्रियवर्ग तद्युक्त भूतभागों का ही प्रत्यक्ष करने में समर्थ है। प्राणतत्त्व—'रूपरसगन्धस्पर्शशब्दशून्यः, अध्यामच्छद्' लक्षण से पञ्चतन्मात्रा से भी अतीत है, साथ ही भूतवत् यह स्थान का अवरोध भी नहीं करता ( जगैह नहीं रोकता )। एतद्वन्मायच्छिन्न प्राणतत्त्व ही वैदिक परिभाषा में 'देवता' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसके कि—ऋषि, पितर, असुर, देव, गन्धर्व, पशु, आदि असंख्य विधर्त्ता माने गए हैं।

आहुति का भूत भाग नहीं जाता, प्राणभाग जाता है। भूताग्नि आहुति नहीं ले जाता, प्राणाग्नि आहुति ले जाते हैं। सौर भूतभाग में आहुतिप्राण प्रतिष्ठित नहीं होता, अपितु सौरप्राण ( देवता ) में प्रतिष्ठित होता है। ऐसी दशा में यह प्राणविधर्त्ता क्योंकि दृष्टि का विषय बन सकता है। फिर भी इसके आदान-प्रदान-वृत्ति-आदि मायों पर श्रद्धा विश्वास करना पड़ता है, करना चाहिए। और उन लोगों को तो अवश्य ही करना चाहिए, जो वेदप्रामाण्य के प्रति अपना अतन्म्य स्नेह प्रकट किया करते हैं।

प्राकृतिक प्राणदेवता के साथ पार्थिव प्राणदेवता सजातीयत्वेन यद्ध है। पार्थिव प्राणदेवता समिन्धन कर्म के द्वारा आहवनीयाग्नि से यद्ध है। आहवनीयाग्नि स्वप्रतिष्ठ आहुतिप्राण से सम्बद्ध है। आहुतिभूत के साथ—'पावद्विचं तावदात्मा' म्याय से यज्ञकर्त्ता का आध्यात्मिक प्राणतत्त्व आवद्ध है। इस पारम्परिक बन्धनसूत्र से यज्ञकर्त्ता यजमान का मानुषाशरीर-निधनानन्तर स्वलोकस्थ देवमण्डली में प्रतिष्ठित हो जाता है। पार्थिव दितिमण्डलोपलक्षित तमोभाव से निकल कर सौर अदितिमण्डलोपलक्षित ज्योतिर्भाव से संयुक्त हो जाता है। यही यज्ञकर्म का प्रधान फल है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

सत्रस्य ऋद्धिरस्पगन्म ज्योतिरमृता अभूम ।

दिवं पृथिव्या अध्यारुहामाविदाम देवान्स्वर्ग्योतिः ॥

—यजुःसं० ५।५२ ।

आहुतिद्रव्य भौतिक है। इस द्रव्य के साथ यज्ञकर्त्ता के प्राण का सम्यन्ध जब तक नहीं हो जाता, तब तक 'पावद्विचं तावदात्मा' परिवर्त्य नहीं हो सकता। प्राण का प्राण के साथ सम्यन्ध

सुकर है। परन्तु विजातीय भूतों के साथ सम्बन्ध हो जाना दुष्कर है। पहिले इस विप्रतिपत्ति का समाधान उस प्राजापत्यसृष्टि से कराना चाहिए, जो प्राण-भूत के सम्बन्ध से प्रजासर्गमयी बन रही है। वैज्ञानिक समाधान करते हैं कि, भूतसृष्टि मैथुनीसृष्टि है। एवं मैथुनीसृष्टि में आपोमय परमेष्ठी के आप्यतरय का सहयोग है। सरिर-इरारूप सलिललक्षण आपोभूत ही भूतसृष्टि का प्रवर्त्तक है। आप्यप्राण ने स्वस्नेहधर्म से इतर प्राणों का इस भूतसर्ग के साथ सम्बन्ध कर रक्खा है। आप्य-प्राण ही एक ऐसा मध्यस्थ द्वार है, जिसके द्वारा विजातीय भूतों में विजातीय प्राणों का सन्धान हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय धर्मशास्त्रविहित प्रत्येक कार्य में पानी ही संकल्प के द्वारा मूलप्रतिष्ठा बनता है, जिसका विशद वैज्ञानिक विवेचन 'शतपथविज्ञानभाष्यान्तर्गत' 'अप्राप्रणयन' नामक प्रकरण में दृष्टव्य है। प्राण का प्राण के साथ, किया प्राण का भूत के साथ अप्रतत्त्व से ही सम्बन्ध सम्भव है, एकमात्र इसी दृष्टि से प्राण को आपोमय माना गया है, जैसा कि—'आपोमयः प्राणः' इत्यादि वचन से प्रमाणित है। बिना पानी के प्राण नग्न है, अव्यवस्थित है, अपरिमित है, अतएव परिमित भूत-सम्बन्ध से वञ्चित है। प्राण कहता है—मैं नग्न हूँ। ऋषि पूछते हैं कि—'कातेऽनग्नता' प्राण उत्तर देता है—'आपो वा अनग्नता'। प्राणाग्नि का भूतान्न के साथ अन्तर्ध्याम सम्बन्ध करने के लिए ही तो अन्नग्रह ( भोजन ) के उपक्रमोपसंहार में अमृतापिधान, अमृतोपस्तरण, रूप से त्रिवार आचमन करने का विधान हुआ है।

भूतों में प्राणों का सम्बन्ध एकमात्र आप्यतत्त्व द्वारा ही सम्भव है। इसी आप्यतत्त्व को वैज्ञानिकोंने— 'थ्रद्धा वा थापः' रूप से 'थ्रद्धा' नाम से व्यवहृत किया है, जिसका कि अनुपद में ही विश्लेषण होने वाला है। इस थ्रद्धान्तर्च का आगमन अन्न के द्वारा होता है। अन्नद्वारा आगत आप्य थ्रद्धातत्त्व अन्नमय मन में प्रतिष्ठित होता है। मनोमयी थ्रद्धा ही 'प्राणबन्धनं हि मोक्ष्य ! मनः' के अनुसार भूत के साथ प्राणबन्धन का कारण बनती है। इस प्रकार यज्ञकर्त्ता की मानस थ्रद्धा ही इसके अग्नित्रयमूर्त्ति भूतात्मानुगत देवताओं का आहुतिभूत के साथ सम्बन्ध करती है। थ्रद्धा से विहित आहुति बन्धन ही आध्यात्मिक स्वप्राण की प्रतिष्ठा का कारण है। यज्ञमान के हृद्य मन से आरम्भ कर सूर्यकेन्द्र पर्यन्त थ्रद्धासूत्र वित्त है। इसी के आधार पर यज्ञमान आहुति देता है, इसी के आधार से प्राणाग्नि आहुतिप्राण ले जाता है, इसी पर प्रतिष्ठित बुलोकस्थ देवता आहुतिप्राण से युक्त होते हैं, इसी सूत्र के द्वारा पार्थिव यज्ञमान पर उनका अनुग्रह होता है। इस प्रकार यज्ञात्मक सम्पूर्ण भूतसर्ग थ्रद्धामय बन रहा है। थ्रद्धातत्त्व की इसी सर्वव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने कहा है—

१—थ्रद्धयाग्निः समिध्यते, थ्रद्धया हूयते हविः ।

थ्रद्धां भगस्य मूर्द्धनि वचसा वेदयामसि ॥ ( ऋक्सं० १०।१५।११। )

२—थ्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।

थ्रद्धां हृदययाकृत्या थ्रद्धया विन्दते वसु ॥ ( ऋक्सं० १०।१५।१२। )

३—अद्वां प्रातर्हवामहे अद्वां मध्यन्दिनं परि ।

अद्वां सूर्यस्य निम्नुचि अद्वे अद्वापये ह नः ॥ ( ऋक्सं० १०।१५।१। )

४—प्रियं अद्वे ददतः प्रियं अद्वे दिदामतः ।

प्रियं भोगेषु यज्जां स्विदं उ उदितं रुचि ॥ ( ऋक्सं० १०।१५।२। )

५—अद्वा देवानधि वस्ते 'अद्वा विश्वमिदं जगत्' ।

अद्वां कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि ॥ ( वै० ब्रा० २।१।५।६ । )

जिस प्रकार आप्यप्राणात्मक, अतप्य इन्द्रियातीत मनामय अद्वासूत्र के द्वारा देवयज्ञकर्त्ता से प्रयुक्त आहुति प्राणाग्नि के द्वारा सूर्यलोकस्थ देवप्राण की वृष्टि का कारण बन जाती है, एवमेव उसी अद्वासूत्र के द्वारा पितृयज्ञकर्त्ता पुत्रादि के द्वारा प्रवक्ष्य पिण्ड प्राणात्मना उसी प्राणाग्नि के द्वारा (यस्-रुद्र-आदित्यात्मक अङ्गिराग्नि के द्वारा, जिसे पितृदेवता कहा गया है) चन्द्रलोकस्थ प्रेतपितृप्राण की वृष्टि का कारण बन जाता है, जिस प्राप्ति के आधार भूत अद्वातत्त्व का निम्नलिखित शब्दों में यशोगान किया जा सकता है ।

‘अद्वा’ का तार्किक स्वरूपविज्ञान—

‘रितः, अद्वा, यशः’ नामक चन्द्रमा के तीन मनोवाक्यों की ओर लक्ष्य देना आवश्यक है । चान्द्ररस की घनावस्था ‘रितः’ है, सरलावस्था ‘अद्वा’ है, विरलावस्था ‘यशः’ है । तीनों तत्त्व ‘सोम-नुयन्धी’ हैं । परमेष्ठी का प्रकर्माक्षरूप चन्द्रमा तद्रूप अद्वातत्त्व से नित्य युक्त है । चान्द्रमण्डल में अभिव्याप्त यही अद्वात्मिका ‘आपः’ आदित्याग्नि के परिपाक से सोमरूप में परिणत हो जाती है । विशुद्ध प्रथमावस्था अद्वा है, आदित्याग्निरर्भगता द्वितीयावस्था सोम है । पर्जन्याग्नि सम्बन्ध से सोम वृष्टिरूप में परिणत होता है । पार्थिव्याग्नि में द्रुत वृष्टि ओषधिरूप में परिणत होती है । पुरुषाग्नि में द्रुत ओषधि शुक्ररूप में परिणत होती है । योषिदग्नि में आहुत शुक्र पुरुष (अपत्य) रूप में परिणत हो जाता है । इस प्रकार क्रमिकभरण से यही चान्द्र अद्वातत्त्व पाँचवीं आहुति में पुरुषरूप में परिणत हो जाता है ।

अद्वा को पारमेष्ठ्य तत्त्व बतलाया गया है । साथ ही ‘ऋणस्वरूपपरिचय’ में यह स्पष्ट किया गया है कि, पारमेष्ठ्य अप्तत्त्व भृशु-अङ्गिरा भेद से दो अवस्थाओं में परिणत रहता है । भृशुमयी आपः पितृवृष्टि का मूल है, अङ्गिरामयी आपः देववृष्टि की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार स्नेह-लक्षण भृशु, तेजोलक्षण अङ्गिरा के भेद से पारमेष्ठ्य अद्वातत्त्व स्नेह-तेजो-नामक दो धाराओं में हो जाता है । स्नेहमयी अद्वानाड़ी भजानीय सम्बन्धेन चान्द्रमण्डल से सम्बद्ध है, तेजोमयी

श्रद्धानाड़ी सजातीय सम्बन्ध से सौरमण्डल से सम्बद्ध है। सौरतंजोयुक्त तेजोमयी श्रद्धानाड़ी का मनोगर्भित बुद्धि के साथ सम्बन्ध है। चान्द्रस्नेहयुक्त स्नेहमयी श्रद्धानाड़ी का बुद्धिगर्भित मन के साथ सम्बन्ध है। सौर श्रद्धासूत्र देवयज्ञ की प्रतिष्ठा है, चान्द्र श्रद्धासूत्र पितृयज्ञ का प्रवर्त्तक है। इस प्रकार भृगु-अद्विष्टा के भेद से एक ही श्रद्धातत्त्वं सूर्य चन्द्रमा को अपना अधिष्ठान बनाता हुआ दो सृष्टियों का प्रवर्त्तक बन रहा है। जिनमें से चान्द्रश्रद्धातुल्यता पितृसृष्टि ही प्रकान्त प्रकृत प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है।

चान्द्र सोममय यह श्रद्धातत्त्व परम्परया शुक्र में प्रतिष्ठित होता हुआ चान्द्र सोममय मन का आधार बन रहा है। हमारा अन्नमय प्रज्ञान मन 'श्रद्धा' रसमय है। यह श्रद्धारस यद्यपि स्थस्थ-रूप-से निर्धर्मक है। तथापि आगे जाकर सार्वत्रिक-राजस-तामसादि गुणभेदभिन्न तत्तन् पार्थिवान्न-रसों के समन्वय से यह अनेक धर्मों से आव्रतान्न हो जाता है। श्रद्धातत्त्व को दिव्य स्वरूप से, मुर-क्षित रखने के लिए ही दिव्यभावोपेत सार्वत्रिक आहार-विहित हैं। सत्यगुणोपेता श्रद्धा ही वास्तव में श्रद्धा है। विपरीत श्रद्धा कुश्रद्धा, किंवा अश्रद्धा है। सत्यभावोपेत इस 'श्रद्धा' शब्द का निर्घचन है—'श्रतो हीदं धानम्' यह। सत्यतत्त्व ही 'श्रत्' है। विद्यमान वस्तुतत्त्व में जो एक अन्य पदार्थ आश्रितभाव से प्रतिष्ठित रहता है, वही आश्रित 'सत्य' है। अतएव 'तदन्यच्छ्रूयते' इस निर्घचन से यह 'श्रत्' कहलाया है। जिस आत्मप्रतिष्ठात्मक सत्तारस के आधार-पर आत्मगत सत्यभाव अन्यत्र (पदार्थों में) समन्वित होता है, श्रत् को धारण करने वाला यह रससूत्र ही 'श्रद्धा' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस श्रद्धासूत्र के प्रभाव से उस पुरुष का आत्मा 'इदमित्युमेध नान्यथा' इस भाव से श्रद्धेय के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो जाता है। कहा गया है कि हमारा मन स्नेह-गुणान्विता श्रद्धा से आप्लावित है। श्रद्धामय यह मन जिस के साथ संलग्न हो जाता है, तन्मय बन जाता है, जैसा कि श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' (श्रीमद्भगगीता) — 'तं यथा ययोपासते, तथैव भवति' (छान्दोग्य उप०) इत्यादि प्रमाणों से प्रमाणित है। एक बार श्रद्धा के द्वारा श्रद्धालु का मन जिस के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है, फिर उस श्रद्धेय में भले ही दोष रहें, श्रद्धालु उन पर प्रथम तो ध्यान ही नहीं देता, अथवा तो दोषों को भी गुण मान लेता है। इसी आधार पर दर्शनभाषा में श्रद्धा का निम्न लिखित लक्षण हुआ है—

“दोषदर्शानानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिधारणं श्रद्धा”

इतना स्मरण रहिये कि, यदि हमारा श्रद्धामूत्र अन्नदोष, मज्जदोष, शिंषा (परगिष्ठा) दोष, अधर्म्मानुगमन, आदि से मलिन हो गया है, तो श्रद्धा पूर्वकथनानुसार अश्रद्धामय में परिणत हो जाती है। ऐसी अश्रद्धातिमया श्रद्धा ही 'अन्यश्रद्धा' कहलाई है, जो हमें मन्व्यपथ में, मन्व्यदर्शन से परिचित रखती है, एवं अमन्व्यपथ में हमें अभिनिविष्ट कर देती है। इसी अन्यश्रद्धा के कारण

हम अपने कल्पित सिद्धान्तों का अभिनिवेश पूर्वक अनुगमन करते हुए अपना भी सर्वनारा करा लेते हैं, साथ ही दूसरे गुग्घ-ब्रह्म जनों को भी उत्पथोपासक बनाने का पाप करते रहते हैं। स्मरण रखिए, पलायित भी सम्पूर्ण विश्व घभव प्रयास के द्वारा फिर भी हमें मिल सकता है। परन्तु उक्तान्त श्रद्धा-विश्वास पुनः नहीं लौटा करते, जिन के बिना हम सर्वथा इन्द्रियमात्रपरायण पशुभाव में परिणत हो जाया करते हैं। इसलिए—“श्रद्धा च मा नो व्यगमत्” यही हमारा जीवनव्रत होना चाहिए।

पतलाया जा चुका है कि, श्रद्धा की प्रतिष्ठा अन्न के द्वारा होती है। यह अन्न “पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, कर्म, ज्ञान” भेद से —“यत् सप्तान्नानि तपसाऽज्जनयत् पिता” इत्यादि औपनिषत्-सिद्धान्त के अनुसार सात भागों में विभक्त है। गुणत्रयभेदमूला योगमाया के अनुग्रह से सातों अन्न सत्त्व, रजः, तमो भेद से तीन तीन श्रेणियों में विभक्त हैं। जिसे सामान्य मनुष्य अन्न (जौ, गेहूँ आदि) कहते हैं, वह पार्थिव अन्न है। मिट्टी ही जो-गेहूँ रूप में परिणित होती है। सार्विक धृत्या उपार्जित द्रव्य से क्रीत सार्विक जौ-चावल-भूँग आदि पार्थिव अन्न सार्विक हैं। रजोधृत्या उपार्जित द्रव्य से क्रीत राजस गेहूँ-तिल-मोठ-चणक आदि पार्थिव अन्न राजस हैं। तमोधृत्या उपार्जित द्रव्य से क्रीत उर्दू-लशुन-पलाण्डु-गृञ्जन-आदि पार्थिव अन्न तामस हैं। प्रवाहित-शुद्ध-पूतजल सात्त्विक है, कूपादि जल राजस है, अव्ययीभूत-पूतियुक्त जल तामस है। प्रातःकाल का सौरतेज सात्त्विक है, मध्याह्न का सौरतेज सात्त्विक-राजस है। सायंकाल का राजस-तामस है। एवं गतप्रकाश तामस है। इसी को असुरों का मुख्य अन्न माना गया है। (देखिए शत० १।१।३)। प्रातःकाल का वायु सात्त्विक, मध्याह्न का राजस, सायंकाल का तामस, रात्रि का घोर तामस है। शुद्ध-पूत-अनुद्वेगकर आकाश (शब्द) सात्त्विक है, शासनयुक्त शब्द राजस है, क्रूर शब्द तामस है। शास्त्रविहितकर्म सात्त्विक है, विकर्म (शास्त्रनिषिद्ध) राजस है, अकर्म (निरर्थक कर्म, अविहिताप्रतिषिद्ध कर्म) तामस है। परमार्थज्ञान सात्त्विक है; व्यावहारिक ज्ञान राजस है, मोहात्मक भ्रान्तिज्ञान तामस है। यदि गुणत्रय के अवान्तर तारतम्यों की मीमांसा की जाती है, तो इन के अवान्तर असंख्य भेद हो जाते हैं।

शराय अथवा से सात्त्विक-ज्ञान-कर्म-पञ्चाङ्ग के अनुगामी की श्रद्धा का स्वरूप कुछ और ही होगा, राजस-तामस सप्तान्तों के अनुगामियों की श्रद्धा का उक्त विभिन्न ही प्रकार का होगा। इसी अन्नदोष से, आलस्यदोष से, वेदानभ्यास से, आज भारतीय प्रजा का श्रद्धासूत्र मलिन हो रहा है। आज पातक कर्मों में हमारी अनन्य श्रद्धा है, अभ्युदय पथ अश्रद्धेय बन रहा है। शास्त्र की प्रत्येक आज्ञा का विरस्कार, पातक प्रत्येक कार्य का ग्रहण ही जीवनव्रत बन रहा है। इसी श्रद्धासूत्रदोष से तत्प्रतिष्ठ आवश्यकतम श्राद्ध जैसा वैदिक कर्म भी वेदमत्तों के लिए भी अश्रद्धेय बन रहा है। मलिनप्राय श्रद्धासूत्र के पुनः नैर्मल्य के लिए ही उक्त सत्यश्रद्धा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।



तत्त्वतः मनोऽवच्छिन्न वह चान्द्रस ही श्रद्धा है, जो अन्य विषयों के साथ अध्यात्म का ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध करा देता है। अपनी भोग्यवस्तुओं के साथ, समान शील-व्यसन-प्राणियों के साथ इसी सूत्र से सम्बन्ध हुआ करता है। 'अमुक व्यक्ति हमारा सम्बन्धी है' इस उभय-निष्ठ सम्बन्ध को सुरक्षित रखने वाला सूत्र यही श्रद्धा है, जो सापिण्ड्य-सौदक-सगोत्र-स्वजाति-आदि सम्बन्धों के तारतम्यों से प्रतिष्ठित रहता है। इन सर्वविध सम्बन्धों में सापिण्ड्यभाव-संरक्षक श्रद्धासम्बन्ध ही दृढतम माना गया है। शुक्रस्य महानात्मा से युक्त इसी श्रद्धासूत्र के द्वारा चान्द्रलोकस्थ पितृपिण्डों का तत्पुत्रादि के साथ अवच्छिन्न सम्बन्ध बना रहता है। यही उभयनिष्ठ सम्बन्धसूत्र प्रकान्त इस श्रद्धाकर्म की प्रतिष्ठा बनता है।

एकविंशतिकलात्मक शरीरारम्भक पितृपिण्ड भी सोममय है, इधर श्रद्धासूत्र भी चान्द्रस प्रधान बनता हुआ सोममय ही है। इसी सजातीय श्रद्धासूत्र के आधार पर (जो कि श्रद्धासूत्र सन्तान के महानात्मपिण्ड से आरम्भ कर चन्द्रस्य तत्प्रेतपिण्डपर्यन्त वितत है) उन प्रेतपिण्डों के कुछ सहोभाग आत्मधेयरूप से उन्हीं में प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं कुछ सहोभाग तन्मयरूप से सन्तानों में श्रुप्त रहते हैं। एक ही पितृपिण्ड के दो विभिन्न भाग (आत्मधेय, और तन्य) शिना, किसी अभिन्न आधार के चन्द्रमा-प्रथिवी, दोनों पर एक ही काल में प्रतिष्ठित रहें, यह असम्भव है। मानना पड़ेगा कि, अनुरूप ही सर्वथा विदूरस्थित पिण्ड के दोनों भागों का कोई न कोई अभिन्न नियामकसूत्र है। धर्मचक्षुओं से सर्वथा परोक्ष वही सूत्र विज्ञानभाषा में 'श्रद्धा' नामसे प्रसिद्ध हुआ है।

### श्रद्धामय श्रद्धासूत्र—

परलोक में अनुधावन करना व्यर्थ है, जब कि इसी लोक में श्रद्धा का अनुमान द्वारा हमें साक्षात् हो रहा है। किसी व्यक्ति का कोई सम्बन्धी उस से कोमों दूर रहता है। यह किसी भयानक रोग से सहसा आक्रान्त हो जाता है। उस विदूरस्थ सम्बन्धी के रोगाक्रान्त होते ही तदव्यय-हितोत्तरक्षण में ही यहाँ रहने वाले सम्बन्धी के हृदय पर आपात हो पड़ता है, चित्त व्याकुल हो जाता है, यामात्र (पुरुष का, यदि स्त्री है तो दक्षिणात्र) स्मरण होने लगता है। ये सय डमी अष्टश्रद्धासूत्र के व्यापार हैं। विदूर देशस्थ स्नेही यदि अन्यदेशस्थ अपने स्नेही का स्मरण (याद) करता है, तो वितत श्रद्धासूत्र कम्पित हो पड़ता है। इस कम्पन से स्मृत स्नेही के हृदय पर आपात होता है। आहत हृदय मन पर, मन कायाग्नि पर, कायाग्नि स्वास वायु पर आपात करता है। जिम प्रकार पानी में प्रविष्ट पायु बुदबुद उत्पन्न कर देता है, तथैव कम्पित श्रद्धासूत्र लहर पैदा कर देता है। यह वायुमयी तरङ्ग ही 'हिचकी' (हिचकी) नाम से प्रसिद्ध है। यही कारण है कि, एक स्वस्थ-नीरोग व्यक्ति को यदि हिचकियाँ आने लगती हैं, तो कहा जाता है—'आज कोई हमें याद

कर रहा है'। तद् व्यक्ति का स्मरण करते ही, नाम लेते ही ह्रिक्रा अवच्छिन्न हो जाती है। यही श्रद्धासूत्र का लौकिक निदर्शन है।

"आप अपने चर्मचक्षुओं से श्रद्धासूत्र का अवलोकन नहीं करते, इसलिए आप उसे नहीं मानते" यह तर्क नहीं कुतर्क है, विशुद्ध अभिनिवेश है, जो सर्वथा अविचिकित्स्य माना गया है। आप का उपास्य ईश्वर भी तो निराकारत्वेन अप्रत्यक्ष है, आत्मा भी तो अमूर्त है, मुक्ति भी तो इन्द्रियातीत तत्त्व है। मय का परित्याग कीजिए। परिमितज्ञानानुगत मनुष्य क्या कभी सर्वज्ञ बन सकता है?, फिर जिन्हें मनुष्य अल्पज्ञ-अल्पकाय समझता है, उनमें भी यह ज्ञानराशि प्रतिष्ठित है, जिसकी तुलना में मनुष्य नहीं ठहर सकता। एक पिपीलिका (चिड़्की) को देखिए। मनुष्य की अपेक्षा अल्पतम चिन्मात्रा से युक्त यह सुगुप्त स्थान स्थित पदार्थ के जिस गन्ध का परिचय प्राप्त कर लेती है, ज्ञानाभिमानी मनुष्य इस शक्ति से वञ्चित है। पुरुष जिस मार्ग से निकलता है, उस मार्ग में चान्द्रसोममयी श्रद्धा में प्रतिष्ठित अथवा भामक गन्धर्व प्राण अनुशयरूप से मिट्टी में व्याप्त हो जाता है। 'सरमा' नामक जाति विशेष में उत्पन्न एक श्वान उस प्राण को पार्थिव गन्ध के तारतम्य से पहिचान कर गन्ता पुरुष का पता लगा लेता है। क्या आप हम भी ऐसा कर सकते हैं?, श्रद्धासूत्र के सम्बन्ध में भी हमारी यही अवस्था है। दो सम्बन्धियों का, किंवा अनेक सम्बन्धियों का परस्पर सम्बन्ध बनाए रखने वाला श्रद्धासूत्र प्राणधर्मत्वेन इन्द्रियातीत होने से यद्यपि हमारी दृष्टि में नहीं आता, तथापि अतीतानागतज्ञ-विदितवेदितव्य-अधिगतयायातव्य महर्षियों ने अपनी आर्प-दृष्टि से उस का विज्ञानचक्षु से साक्षात्कार किया है। उन्हीं की ओर से शब्द (श्रुति) द्वारा यह तत्त्व हमारे मस्तिष्क उपस्थित हुआ है। जैसा कि वतलाया गया है, ईश्वर, आत्मा, प्राण, आदि इन्द्रियातीत तत्त्वों के सम्बन्ध में आप्तवाक्य ही एकमात्र श्रेयःपन्था है।

चिरायता ज्वरघ्न है, यह आँख से न देखने पर भी 'तत्र भवान्' भिषग्वर के शब्दों पर विश्वास करना पड़ता है। यदि आप्तवाक्य-प्रामाण्य को आधार नहीं माना जायगा, तो पारलौकिक विषयों की कौन कहे, गैरलौकिक व्यवहार भी सुरक्षित न रहस्ये जा सकेंगे। अपने अन्तर्जगत् में वस्तु-स्थिति का अनुभव करते हुए भी, व्यावहारिक जगत् में अनुभव में लाते हुए भी, कल्पित सिद्धान्त के अभिनिवेश में पड़ कर नित्यसिद्ध वैज्ञानिक कर्मों के प्रति उदासीनता रखना कौन सी बुद्धि-मानी है? 'इति त एव प्रष्टव्याः'। पितृतत्त्व, तत्सम्बन्धी साम्प्रदाय, पितृयज्ञ, ये सब तत्त्व सुसूक्ष्म हैं। सामान्य पुरुष इस रहस्य को नहीं जानता। आप्तोपदेश ही इस की प्रवृत्ति का मुख्य आधार है। परीक्षक विद्वानों के द्वारा आदित्य इस आवश्यक पितृयज्ञ को कभी कुतर्क का अनुगामी नहीं बनाना चाहिए। यही आदेश करते हुए, साथ ही अभिनिवेशों की दुर्गति का विश्लेषण करते हुए स्वयं 'यमराज' कहते हैं—

१—अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।  
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्वेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

२—न साम्प्रदायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं विचमोद्देन मूढम् ॥  
अयं लोको, नास्ति पर, इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ।

३—श्रवणायानि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहुवो यं न विद्युः ।  
आश्चर्य्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्य्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥

४—न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।  
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यशीयात् ह्यतर्क्यमनुप्रमाणात् ॥

५—नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ !  
यां त्वमापः सत्यधृतिर्वतासि त्वादृ नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥

—कठोपनिषत् १ । २।४-० ।

श्रद्धासूत्रानुगत-श्राद्धकर्म—

पाञ्चर्मौक्तिकं शरीर से आत्मा एक पृथक् तत्त्व है, पहिले तो इस प्रकार का आत्मावबोध ही कठिन । आत्मा स्थूलशरीर की विद्युति के अनन्तर अङ्गुष्ठमात्र आतिवादिक शरीर धारण कर यामीयातना के भोगार्थ लोकान्तर में जाता है, इसके साथ चन्द्रलोक पर्यन्त उक्तान्त महानात्मा का समन्यय रहता है, चन्द्रलोक प्राप्त होने पर महानत्मा तो बही रह जाता है, भूताना लोकान्तरानुगमन करता है, इन सब अतीन्द्रिय भावों का परिज्ञान प्राप्त कर लेना ओर भी कठिन । इन सब समस्याओं से स्वर्णसाधारण के धपने का एकमात्र उपाय है—‘शास्त्र पर विश्वास’, आप्तवचनों पर अनन्य श्रद्धा । हाँ, यदि कर्म करते हुए स्वजिज्ञासापूर्ति के नाते हम इन विषयों का स्वाध्याय-अनन कर रहे हों, तो अवश्य ही कालान्तर में श्रद्धादाकार्य हो जायगा । प्रष्टु सन्दर्भ से बतलाना यही अभीष्ट है कि, परमेश्वर श्रद्धासूत्र ही श्रद्धाजग्राप्ति का अन्यतम द्वार है । इसी श्रद्धासूत्र के आधार पर पिएडगत प्राणों से चान्द्रलोकस्थ पितरों के अपूर्ण पिरडों को पूर्य किया जाता है, अतएव यह कर्म ‘श्राद्ध’ नाम से व्यवहृत हुआ है, जैसा कि आगे जा कर स्पष्ट होने वाला है ।

सन्ततिनिरोधक पितृदोष—

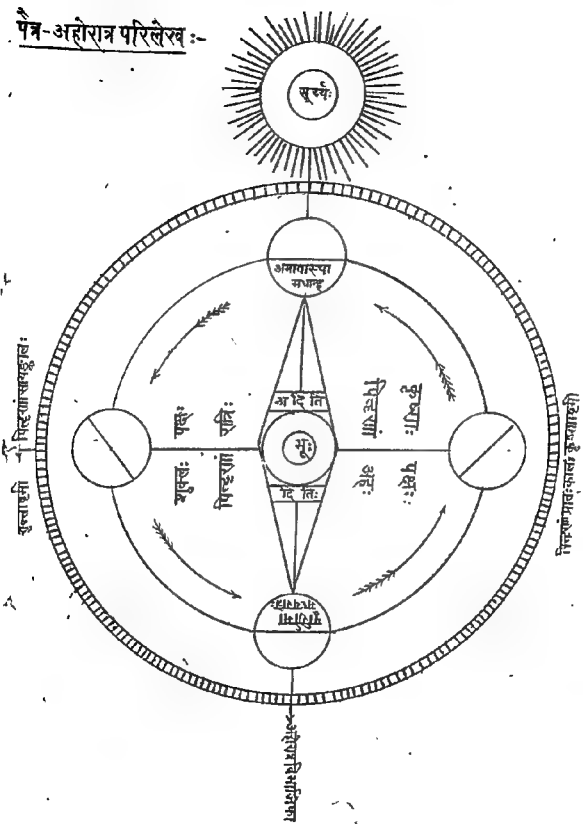
उस ओर चान्द्रलोकस्थ प्रेतपिरडों से, इस ओर तदुपशरीरत्र पुत्र के पिरड से यह श्रद्धासूत्र सदा एकरस रहता है, अथवा इसमें परिवर्तन भी सम्भव है ? यह प्रश्न उपस्थित होता है । प्रसङ्गोपात्त इस का भी निर्णय कर लीजिए । “चन्द्रलोकस्थ प्रेतपितर ही स्वमहोदान से स्व-

सन्तानों के आरम्भक (उपादान) बनें हैं। उन प्रेतपितरों के कुछ सदांसि तो आत्मधेयरूप से उन्हीं में प्रतिष्ठित रहते हैं। एवं शेषांश तनयरूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित रहते हैं। इन आत्मधेय, तनय, नामक दोनों पिण्डों को एक सूत्र में सम्बद्ध रखने वाला श्रद्धासूत्र दोनों का परस्पर उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध सुरक्षित रखता है। यह उक्तप्राय है। यह सम्बन्धसूत्र इतर किसी प्राणिक्रमण से न नष्ट किया जा सकता, न क्षीण किया जा सकता। यह सदा स्वस्वरूप से अनुरिच्छित्तिधर्मा बना रहता है। केवल पिण्डद सातवें पुरुष की उत्कान्ति (मृत्यु) ही एक पुरुष (श्रद्धानिष्टद्विप्रपितामह) के श्रद्धासूत्रोत्कान्ति का कारण बनती है। यदि इससे बीच में (सपिण्ड सप्तक में) किसी अदृष्ट से सूत्रोच्छेद हो जाता है, तो इससे प्रेतपितरों का तो अनिष्ट होता ही है, साथ ही उन का वंशज भी सन्तानतन्तु-वितान से वञ्चित हो जाता है। इसी श्रद्धासूत्र के द्वारा चान्द्रपितर वंशज के शुक्र में प्रतिष्ठित स्वपिण्डभावों को सबल बनाए रखते हैं। सूत्रविच्छित्ति पर बलाधान अवरुद्ध हो जाता है। सन्तति अवरोध के आठ दोषों में से यही एक 'पितृदोष' है।

**श्रद्धा के तारतम्य से श्रद्धासूत्र में तारतम्य—**

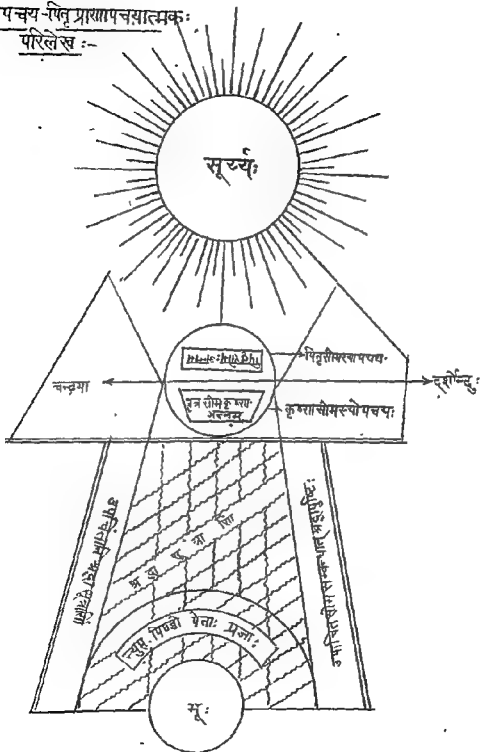
उक्त श्रद्धासूत्र का उच्छेद अन्य से तो सम्भव नहीं है। हाँ, यदि पुत्र महोदय यह पातक करना चाहे, तो उन्हें अवरुध इस जघन्यकर्म में सफलता मिल सकती है। जिस पुत्र का मानस क्षेत्र पराशक्ता, कुतंग, काल, वातावरण, अन्नज्यविक्रम, आदि दोषों के आवरण से आवृत हो जाता है, उसका क्षेत्र पितृ-अनुगत श्रद्धासूत्र से वञ्चित हो जाता है। विजातीय-पातक अन्तराय श्रद्धासूत्र का आत्यन्तिकरूप से अभिभव कर डालते हैं, और यही अभिभव श्रद्धोच्छेद कहलाया है। परिणाम इस श्रद्धासूत्राभिभव का यह होता है कि, इसकी प्रेत पितर, परलोक स्वर्ग, आदि किसी पर श्रद्धा नहीं रह जाती। सत्यत्वधारक श्रद्धान के तिरोभाव से श्रद्धासूत्र उच्छिन्न हो जाता है। ऐसे विच्छिन्न सूत्री, सूत्रविच्छेदक, भाग्यहीन, कुलकलङ्क, श्रद्धाशून्य पुत्रद्वारा प्रदत्त पिण्ड चान्द्र पितरों की कोई शक्ति नहीं कर सकता। श्रद्धासूत्र ही तो पिण्डप्राण का अतिवहन करने वाला ऋतुमार्ग है। जब यह टूट गया, तो पिण्डप्राप्ति कैसी। बिना श्रद्धासूत्र-सहयोग का श्राद्ध श्राद्ध नहीं, अश्राद्ध है। ऐसा अश्राद्धलक्षण श्राद्ध गोत्रवर्धक नहीं, अपितु वंशविनाशक है। कदना न होगा कि, श्राद्ध की प्रामाणिकता का समर्थन करने वाले कतिपय (विशेषतः) सनातनधर्मावलम्बी महोदयों की वर्तमान गुरु-वर्या इसी अभिशाप का प्रतिफल है। जो नहीं करते, उनका अनिष्ट तो मर्यादित है। परन्तु जो करने का वहाना कर अश्रद्धा को गर्भ में रखते हैं, उनका अनिष्ट तो अमर्यादित है। अतिथि को न बुलाना वैसा हानिप्रद नहीं, किन्तु बुला कर उसे निराश लौट-देना अनर्थपरम्परा को सादर निमन्त्रित करना है। अस्तु, इस फलाफल का विचार आगे हाने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में यही धक्कन्य है कि, केवल पुत्र (कुपुत्र) के श्राद्ध न करने से, तथा अश्रद्धापूर्वक श्राद्ध करने से तो श्रद्धासूत्र उच्छिन्न हो जाता है, एवं यथाविधि श्रद्धापूर्वक श्राद्ध करने से श्रद्धासूत्र अविच्छिन्न बना रहता है। इस प्रकार पुत्र की श्रद्धा के तारतम्य से श्रद्धासूत्र में तारतम्य हो जाता है।

# पैत्र-अहोरात्र परिलेख :-

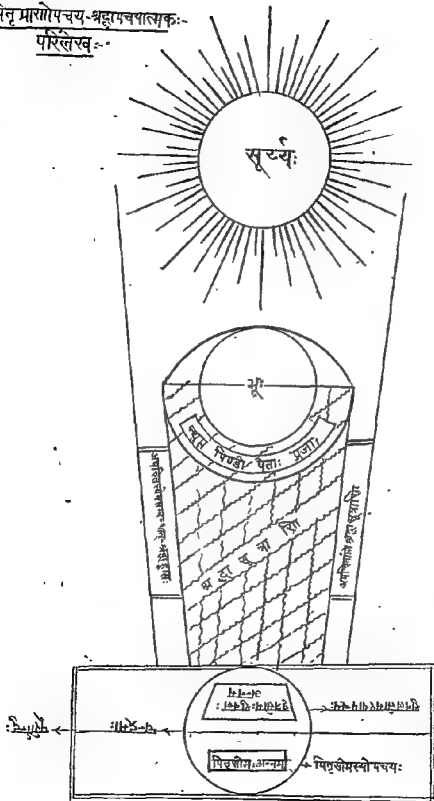


श्रद्धोपचय-पितृप्राणापचयात्मकः

परिलेख :-



१. पितृ प्रारोपचय-ब्रह्मपचात्मकः-  
परिलेखः-



प्राकृतिक हेतु के द्वारा श्रद्धासूत्र की हास-वृद्धि—

एक दूसरा हेतु और। प्रकृति भी आंशिकरूप से इस श्रद्धासूत्र में उद्भास्यमान उत्पन्न करती रहती है। श्रद्धासूत्र चान्द्रस- (सोम)-मय बतलाया गया है। दूसरे शब्दों में चन्द्रमा ही इसका प्रभव है। चान्द्रकेन्द्र ही इसकी मूलप्रतिष्ठा (खंडा) है। श्रद्धाप्रभव चन्द्रमा यदि सदा एकरस रहता, तब तो तत्काल्यार्थभूत श्रद्धारस भी सदा एकरस ही बना रहता। परन्तु देखते हैं कि, चन्द्रमा कभी समानस्थिति में नहीं रहता। अपने इसी परिणामीभाव से चन्द्रमा 'चन्द्रमा' कहलाया है। भूपिण्ड के चारों ओर 'दक्षवृत्त' नाम से प्रसिद्ध स्वकक्षा पर चन्द्रमा परिक्रमा लगाता है। अर्ध-गणों से सम्बद्ध '२२-२३-२४' इन 'स्वरसाम' नामक तीन अर्धगणों के सम्बन्ध से यह चान्द्रपरिभ्रमण अवसर, मध्यम, पर, भेद से तीन अवस्थाओं में विभक्त हो जाता है। २२ वें स्वरसाम के सम्बन्ध से यह भूपिण्ड के नियत अवस्थान में घूमता है, २३ वें स्वरसाम के सम्बन्ध से यह भूपिण्ड के नियत मध्यमस्थान में घूमता है, एवं २४ वें स्वरसाम के सम्बन्ध से परस्थान में घूमता है। अवस्थानस्थिता चन्द्रच्छाया से समासात्मक सूर्यमहण होता है, मध्यमस्थानस्थिता चन्द्रच्छाया से सर्वमास होता है, एवं परस्थानस्थिता चन्द्रच्छाया से कट्यमास होता है। त्रिस्थानात्मिका गतित्रयी ही चन्द्रमा का पहिला विपरिणामभाव है।

स्वनक्षत्रों को साथ लिए हुए चन्द्रमा पृथिवी, सूर्य, अयन, तीनों की परिक्रमा लगाता है। पार्थिव परिभ्रमण २७ दिन ७ घण्टा ४३ मिनिट में समाप्त होता है। यही एक चान्द्रमास है। इस चान्द्रमास के सम्बन्ध से चान्द्रसम्बत्सर के ३३३ दिन हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में नक्षत्रसम्बन्धेन चान्द्रसम्बत्सर ३३३ दिन का हो जाता है। गवामयनादि सत्रों का एतद्दिनसंख्याक चान्द्रसम्बत्सर से ही सम्बन्ध माना गया है। पृथिवीयत् पृथिवी के साथ साथ सूर्य के चारों ओर भी चन्द्रमा का परिभ्रमण स्वतःसिद्ध है। अधिनीनक्षत्र से बला हुआ चन्द्रमा उसी अक्षिणी पर ३४४ वें दिन आता है। इस प्रकार सूर्य-सम्बन्धेन चान्द्रसम्बत्सर ३४४ दिन का हो जाता है। तीसरी अयन परिक्रमा २५ हजार ६४० में समाप्त होती है। यही गतित्रयरूप दूसरा विपरिणाम है।

पार्थिव परिभ्रमणरामक मासिक परिभ्रमण में भी चन्द्रमा सम नहीं रहता। अमोत्तर प्रति-पत् से आरम्भ कर अमा पर्यन्त प्रत्येक तिथि में चान्द्रयोगोत्तरा का पार्थिव भोग सर्वथा विभिन्न है। इसी परिणाम भाव के कारण 'चन्द्रः सन् मस्यति' निर्वचन से इसे 'चन्द्रमाः' कहना अन्यर्थ बन रहा है। परिवर्तनशील तत्त्व 'मस्यति' निर्वचन से 'माः' है। चन्द्र बनता हुआ यह मस्यति है, अतएव यह चन्द्रमाः है। सान्त 'मास' शब्द चन्द्रमा का पर्याय माना गया है। गद्दीने का वाचक मास शब्द अकारान्त है। 'मासः (चन्द्रस्य) अयं भोगक्षालो मासः' में प्रथम 'मासः' पद्य का एक वचन है, द्वितीय 'मासः' प्रथमा का एक वचन है। वस्तव्य यही है कि तिथिरूप से इस के ३० विपरिणाम हो जाते हैं।



अब पक्षदृष्टि से विचार कीजिए । अमोचर प्रतिपत् से आरम्भ कर पूर्णिमा-पर्यन्त शुक्ल-पक्ष है । एवं पूर्णिमोत्तर प्रतिपत् से आरम्भ कर अमापर्यन्त कृष्णपक्ष है । शुक्लपक्ष में इन्द्रज्येष्ठ सौर प्राणदेवता चान्द्रसोम स्थाया करते हैं । यहाँ तक कि, पूर्णिमा को यह सर्वथा क्षीण हो जाता है । सम्पूर्ण चान्द्रसोम प्राणदेवताओं के अधिवार में चला जाता है । अतएव यह सन्वनारायण (सत्यात्मक सूर्यनारायण) की तिथि (देवतिथि) मानी गई है । जिसे लोक में मूर्णचन्द्र कहा जाता है, वह इस दृष्टि से क्षीणचन्द्रमा है । इसी पक्षसोम को लक्ष्य में रखते हुए 'एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यज्यन्द्रमाः' ( शतपथब्रा० ) यह कहा गया है । कृष्णपक्ष में चान्द्रसोम प्रभूतमात्रा से पृथिवी पर आता है । यहाँ तक कि, अमावास्या तिथि में तो सर्वतोऽधिकरूप से सोममात्रा का भूपिण्ड पर आगमन होजाता है ।

पृथिवी, सूर्य, का जैसे स्वाक्षपरिभ्रमण पूर्वक भ्रमण सिद्ध है, वैसे चन्द्रमा का स्वाक्षभ्रमण न हो कर केवल दक्षभ्रमण ही होता है । चन्द्रमा एकरूप से ही भूपिण्ड के चारों ओर परिभ्रमा लगाता है । जब चन्द्रमा घूमता हुआ पृथिवी, तथा सूर्य के मध्य में समसम्मुख आ जाता है, तो अमावास्या होती है । 'दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः' के अनुसार यही दर्शतिथि कहलाई है, जिस के आधार पर देवयज्ञाङ्गभूता दर्शेष्टि प्रतिष्ठित है । एवं जिस तिथि में चन्द्रमा, तथा सूर्य के मध्य में पृथिवी आ जाती है, वह तिथि 'पूर्णिमा' नाम से प्रसिद्ध है, जिस के आधार पर पौर्णमासेष्टि प्रतिष्ठित है । चन्द्रमा का क्योंकि स्वाक्षपरिभ्रमण नहीं है, अतएव इस के ऊर्ध्व, अधः, भाग सर्वथा नियत रहते हैं । चन्द्रमा के इस नियत ऊर्ध्व भाग में पितर प्रतिष्ठित रहते हैं, एवं नियत अधोभाग में असुर प्रतिष्ठित रहते हैं । संवरणशील तमोमय यही चान्द्र अधःप्राण 'वृत्र' नाम से प्रसिद्ध है । इसी के सम्बन्ध से चन्द्रमा वृत्र नाम से प्रसिद्ध है । ( देखिए शत० ३।१।१ ) । 'इन्द्रो ह यत्र वृत्राय षन्नं प्रजहार, सोऽवलीयान् मन्यमानः पराः परावतो जगाम " ( शत० १।६।५ ) इत्यादि आख्यान के अनुसार पूर्णिमातिथि को सौर इन्द्रद्वारा इस चान्द्रवृत्र का आत्यन्तिक रूप से वध हो जाता है । तमोमय वृत्रप्राण का साम्राज्य नष्ट हो जाता है, उद्योतिर्मय इन्द्र का साम्राज्य प्रतिष्ठित हो जाता है । क्योंकि पूर्णिमा तिथि में अधोभाग प्रकाशित रहता है, ऊर्ध्वभाग अप्रकाशित रहता है, अतएव ऊर्ध्वभागस्थ पितर इस तिथि में सर्वथा अन्वकार में रहते हैं । अतएव यह पूर्णिमा पितरों की मध्यरात्रि मानी गई है । ठीक इस के विपरीत अमावास्या में सूर्यसङ्गम से चन्द्रमा का ऊर्ध्व भाग प्रकाशित रहता है, अतएव यह तिथि पितरों का मध्याह्न माना गया है । कृष्णपक्ष की अष्टमी पितरों का प्रातःकाल है, शुक्ल पक्ष की अष्टमी पितरों का सायंकाल है । इस प्रकार 'मासेन स्यादहोरात्रः पेत्रः' के अनुसार पक्षद्वयात्मक एक मानुष मास शुक्ल-कृष्णपक्ष भेद से चन्द्रोर्ध्वभागस्थित पितरों का एक अहोरात्र बन रहा है । प्रकाशोपलक्षित काल अर्धः है, तमोमय काल रात्रि है । हमारे लिए जो कृष्णपक्ष तमोमय है, यही पितरों के लिए प्रकाशोपलक्षित अर्धःकाल है । एवं हमारे लिए जो शुक्ल

पक्ष उचित्तिर्मय है, वही पितरों के लिए तमोमयी रात्रि है। हमारे कृष्णपक्ष के १४ दिन पितरों का एक दिन है, हमारे शुक्लपक्ष के १४ दिन पितरों का एक रात है। कृष्ण-शुक्लाष्टमी-द्वयी इस पक्षद्वयात्मक पैत्र 'अहोरात्र' की विभाजिका है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

पितर प्राण की सत्ता विधु के ऊर्ध्व भाग में बतलाई गई है। इस स्थिति के अनुसार अमावास्या तिथि में पितृप्राणमय चन्द्रोर्ध्वभाग सूर्य की ओर रहता है। इस तिथि में सौर अन्नादान्नि (सावित्रान्नि) के मुख में प्रविष्ट ये चान्द्र पितर 'अन्न' बन रहे हैं। अतएव इसे पितृहासकाल माना गया है। पितृप्राण की इस स्यावस्था को लक्ष्य में रख कर ही 'अपव्यभाजो वै पितरः' (शत० १।४।४) यह निगम प्रतिष्ठित है। इस प्रकार अमा तिथि में सूर्यसम्बन्ध से पितृप्राण यद्यपि क्षीणवस्थापन्न बन रहे हैं, परन्तु इन की सन्तति से सम्बन्ध रखने वाला अवारपारीण अद्वासूत्र पुष्ट है। कारण स्पष्ट है। अमावास्या में चन्द्रमा का अधोभागवस्थित सोम अतिशयमात्रा से पृथिवी की ओर आ रहा है। सौर देवताओं का अधिकार केवल ऊपर भागस्थित पितृप्राणमय सोम पर ही है। फलतः कृष्णपक्ष में, विरोपतः अमावास्या में अद्वासूत्र का उपचय (वृद्धि-पुष्टि), तथा पितरप्राणों का अपचय (हास-क्षय) दोनों भाव सिद्ध हो जाते हैं।

अब चलिए पूर्णिमा की ओर। अमावास्या में चन्द्रमा का जो अधोभाग विशुद्ध कृष्ण सोमात्मक था, वही अधोभाग चन्द्रमा के पृथिवी के इस ओर (सूर्यविरुद्ध दिक् में) आ जाने से सौर-रश्मियों के सम्बन्ध से प्रकाशित हो जाता है, जैसा कि "अत्राह गौरमन्वत, इत्था चन्द्रमसो गृहं" (ऋक्संहिता) 'इत्यादि मन्त्रश्रुति से प्रमाणित है। दूसरे शब्दों में इसी स्थिति का यों भी अभिनय किया जा सकता है कि, अमावास्या में जो चान्द्र अधोभाग सौर देवाधिकार से पृथक् रहता है, पूर्णिमा में वही देवताओं के अधिकार में आ जाता है। पृथिवी की ओर आने वाली सोममात्रा इन प्राणदेवताओं के अनुग्रह से अपरुद्ध हो जाती है। अमावास्या में जहाँ देवता पितृसोम को अन्न बनाते हैं, वहाँ पूर्णिमा में वृत्रसोम इन का अन्न बन जाता है। क्योंकि पूर्णिमा में पृथिवी की ओर आने वाले वृत्रसोम का क्षय है। अतएव तद्रूप अद्वासूत्र का शुक्लपक्ष में, विरोपतः पूर्णिमा में क्षयभाव रहता है। फलतः शुक्लपक्ष में, विरोपतः पूर्णिमा में पितर प्राण का उपचय, तथा अद्वासूत्र का अपचय सिद्ध हो जाता है। जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो रहा है।

अमा और पूर्णिमा—

दर्शेन्दु-परिलेख में पाठक देखेंगे कि, अमावास्या तिथि में विषूष्यभाग सूर्य की ओर है, जिसमें कि पितर प्रतिष्ठित हैं, जिसे कि लोकपरिभाषा में 'प्रदोः' कहा गया है। एवं विधु का अथः अर्द्ध प्रदेश पृथिवी की ओर है, जिस प्रदेश में सोमवत्त्व स्वस्वरूप से (कृष्णरूप से) प्रतिष्ठित है,

ॐ "दृतीया ह प्रदोः यस्यां पितर आसते" (अथर्व)

जो कि कृष्ण सोम 'धृत्र' नाम से प्रसिद्ध है। पितरप्राणवच्छिन्न ऊर्ध्व भाग भगवन्मुक्त स्थित सूर्य के राशिगत प्राण देवताओं से युक्त है। दूसरे रव्दों में पितृसोमपिण्ड सौराग्नि-देवताओं से भुक्त है। इस भुक्ति से पितृपिण्ड निर्बल है, क्षीण है। इसी पिण्डमात्राक्षय से इस तिथि में इन में अशानाया (भुंज) जाग्रत रहती है। इस अशानाया का प्रभाव उक्त श्रद्धामूत्रद्वारा इन के उन पिण्डों पर पड़ता है, जो पिण्ड पृथिवी पर प्रतिष्ठित सन्तानों में ऋणरूप से जुगुप्त है। विधु का अधो भाग क्योंकि देव-प्राणभुक्ति से बहिर्भूत है, अतएव वह भाग (धृत्रसोम) पुष्ट है। इसी का पृथिवी पर, तत्रैव प्रजा पर अनुग्रह है। फलतः अमा तिथि में मन्ततिगत श्रद्धामूत्र पुष्ट है। गेमी स्थिति में इस दिन जो पिण्ड दानलक्षण श्राद्धकर्म किया जायगा, वह अपरिपक्व पुष्ट श्रद्धामूत्र के द्वारा ऊर्ध्वस्थित आरामुल अशानायायुक्त पितरों के क्षीणपिण्डों को आप्यायित करता हुआ उन्हें वृष्ट कर मरेगा।

पूर्णिमा परिलेख में पाठक ठीक इस से विपरीत स्थिति देखेंगे। पूर्णिमा तिथि में विधूर्ध्वभाग सूर्य से विरुद्ध दिक् में है, जिस प्रज्ञाः नामक ऊर्ध्व भाग में पितर प्राण की प्रतिष्ठा बननाई गई है। एवं विधु का अधः श्रद्धा प्रदेश पृथिवी, तथा सूर्य, दोनों की ओर है। सूर्यसामुदाय से यह श्रद्धा-भाग सौराग्नि-देवता से मंशिलपुष्ट है। फलतः अमावास्या में कृष्ण रहने वाला यह धृत्रसोम, शुक्लरूप में परिणत हो रहा है, जिस शुक्लरूप (चन्द्रिका) का सूर्य-चन्द्रमा के मध्य में प्रतिष्ठित पृथिवी पर आगमन हो रहा है। पार्थिव प्रजा इसी सोम से युक्त है, जो शुक्ल सोम देवभुक्ति से क्षीण हो रहा है। इसी से श्रद्धामूत्र का पोषण होना था। यह आज क्योंकि क्षीण है, प्राणदेवता का अन्न घन रहा है। अतएव आज का श्रद्धामूत्र (स्नेहयुक्त चान्द्र श्रद्धामूत्र) भी क्षीण है। उपर ऊर्ध्वभागस्थ पितर आज सौरदेवभुक्ति से बहिर्भूत होते हुए वृष्ट हैं। उन में अशानाया का अभाव है। इस प्रकार जिन प्रेत-पितरों की वृष्टि के लिए पिण्डदान होता है, पूर्णिमा तिथि में वे भी वृष्ट हैं, साथ ही जिस श्रद्धामूत्र के द्वारा पिण्डाहुति तत्र पहुँचती है, वह श्रद्धामूत्र भी क्षयधर्म से इन प्राणि कर्म में असमर्थ है। अतएव यह तिथि श्राद्धकर्म के लिए अनुपयुक्त ही सिद्ध हो जाती है।

### अमावास्यानुगत श्राद्धकर्म—

प्रति अमावास्या को होने वाला श्राद्ध कर्म पितृपद्वृत्ति का कारण बनता है। सर्वपितृ-उद्देश्य से प्रत्येक मासार्ध में होने वाला यही अमाश्राद्ध 'पार्वणश्राद्ध' नाम से व्यवहृत हुआ है। श्रद्धालु पुत्रादि के द्वारा कृत्वा इस शास्त्रोक्त कर्म से प्रति अमावास्या में, प्रतिमास में इस के पितर वृष्ट होते रहते हैं। अमावास्या को ही क्यों सर्वपितृश्राद्ध किया जाता है?, अमावास्या में पितर क्यों अवृष्ट रहते हैं?, इत्यादि प्रश्न अब तक के प्रकरण से गतार्थ हो जाते हैं। हमारा बुद्धिचैत्र सचमुच इस प्रश्न का समाधान करने में अपने आप को सर्वथा कुण्ठित समझ रहा है कि, विशुद्ध प्राकृतिक सत्य-स्थिति से। सम्यन्ध रखने वाला पिण्डदानलक्षण श्राद्धकर्म एक वेदमत्त की दृष्टि में 'जीवितपितृश्राद्ध'।

कैसे बन गया, जब कि स्वयं उसके मान्य वेद में विस्पष्ट शब्दों में 'पितृपितृपुत्र' विहित हुआ है, जो कि श्राद्धविधान 'पितृपितृपुत्र' नाम से प्रसिद्ध है। अमावास्या ही पितृपुत्र की प्रधान तिथि क्यों है?, इस प्रश्न का मौलिक समाधान करने वाला निम्न लिखित श्रौत आख्यान हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है—

श्रौतआख्यानद्वारा 'श्राद्धविज्ञान' का स्पर्शिकरण—

कथानक की सन्दर्भसङ्गति लगाने के लिए मान लीजिए—“प्रजापतिमुक् प्रजापति ने 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' अपने इस आदेश को व्यावहारिकरूप से प्रजा के मामले रन्तों के लिए स्वयं प्रजा उत्पन्न की। प्रजापति से उत्पन्न यह प्रजा देवप्रजा, पितृप्रजा, अमुरप्रजा, मनुष्यप्रजा, पशुप्रजा, इन पाँच धेरियों में विभक्त हुई। दूसरे शब्दों में स्वयं प्रजापति से ही पाँच प्रजा उत्पन्न हुई।” इस आख्यान-सन्दर्भसङ्गति से आगे श्रौत आख्यान यों आरम्भ होता है—

(१) “उत्पन्न प्रजा उत्पादक पिता प्रजापति की सेवा में उपस्थित हुई, और निवेदन करने लगी कि, भगवन् ! आपने हमें उत्पन्न तो कर दिया। परन्तु अभी तक हमारी जीवनयात्रा-निर्वाह के लिए भोग्य सामग्री की व्यवस्था न हुई। हम आप से प्रार्थना करते हैं कि, हमारे लिए कोई ऐसा उपाय कीजिए, जिसको आधार बना कर हम जीवित रह सकें। इस प्रकार भोग्यव्यवस्था के लिए सामूहिक निवेदन कर आगे जाकर प्रत्येक ने व्यक्तिगत रूप से अपने मनोभाव प्रकट करना आरम्भ किया। इसी सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, असुरप्रजा पाँचों में आयु, संख्या, दोनों में उद्येष्ठ थे। साथ ही ये सब से पहिले उपस्थित हुए थे। बार बार उपस्थित हुए थे। परन्तु प्रजापति 'सूचीकटाह्नयाय' को आगे कर प्रत्येक बार इन्हें यह कह कर लौटा देते थे कि, तुम सब से बड़े हो, तुम्हें धैर्य रखना चाहिए। पहिले तुम से कनिष्ठप्रजा की व्यवस्था होगी, सर्वान्त में तुम्हारा मन्तोप किया जायगा। फलतः देवप्रजा का ही प्राथम्य सुरक्षित रहा।

यज्ञोपवेश धारण कर, अपने दहिने जानू के भूभृष्ट पर संलग्न कर देवप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई। प्रजापति ने इन मध्यजान्याय्योपतिष्ठ देवताओं के लिए यह व्यवस्था की कि, “यज्ञ तुम्हारा अन्न होगा, तुम सदा अश्वत्थभाषण ( सोमामृतहृति से अजर अमर ) रहोगे। सदा ऊर्ध्व-वल से युक्त रहोगे। एवं मूर्त्य तुम्हारा प्रकाश होगा।” देवता मन्तुष्ट होकर लौट गए। अनन्तर—

प्राचीनावीती ( यज्ञसूत्र को दक्षिणस्कन्ध पर डाल कर ) बन कर बाँध जानू के भूभृष्ट पर संलग्न कर पितृप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई। पितरों को सम्बोधन करते हुए

प्रजापति ने इनके लिए यह व्यवस्था की कि, "महीने महीने में ( प्रतिमास में एक बार अमावस्या को ) तुम्हें अन्न मिलेगा, एवं तुम्हारे लिए 'स्वधा' अन्न वृत्ति का कारण बनेगा । मनोजव ( धृष्टामय मानस यत् ) तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति होगी । चन्द्रमा तुम्हारा प्रकाश होगा ।" पितर भी सन्तुष्ट होकर लौट गए । अनन्तर—

(३) प्रावृत्त होकर ( गले में माला की भाँति यज्ञमूत्र धारण कर ) उपस्थमास से ( आलयी-पालथी मार कर ) मनुष्यप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई । इनके लिए प्रजापति ने यह व्यवस्था की कि, "एक अहोरात्र में दो बार सायं-प्रातः तुम्हें अन्न मिलेगा । गृत्यु तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति होगी । अग्नि तुम्हारा प्रकाश रहेगा ।" मनुष्यप्रजा भी सन्तुष्ट होकर लौट गई । अनन्तर—

(४) अपने यथाज्ञात स्वरूप से ही पशुप्रजा प्रजापति के सम्मुख उक्त निवेदन कर बैठ गई । प्रजापति ने इन्हें कोई सम्बोधन न कर अपने संकल्प से ही इनके लिए यह व्यवस्था बना दी कि, "तुम्हें जब भी कभी समय-असमय में कुछ खाने के लिए मिल जाय, खा लिया करो । तुम्हारे लिए कोई नियत समय नहीं है । ( श्रुत्यन्तर के अनुसार ) पार्थिव चारभाग तुम्हारी प्रातिस्विक सम्पत्ति होगी । मनुष्यप्रजा तुम्हारा प्रकाश होगा" । पशुप्रजा भी सन्तुष्ट होकर लौट गई । सर्वान्त में—

(५) उस सर्वज्येष्ठ-बहुसंख्यक असुरप्रजा को अवसर मिला, जो उक्त चारों प्रजाओं से पहिले भी उपस्थित होने की धृष्टता कर चुकी थी, अनन्तर चारों के साथ भी जो उपस्थित होकर अपने आसुर-धर्म को व्यक्त कर रही थी, प्रजापति ने इनके लिए 'माया' को तो अन्नस्थानीय बनाया, एवं तम ( अन्धकार ) को प्रकाशस्थानीय बनाया । अपनी 'माल्य' (अर्घ्य) वृत्ति के अनुग्रह से इन असुरों ने रुष्ट प्रजापति से माया, तम, रूप जो भोग्य प्राप्त किया, उसका परिणाम यह हुआ कि, कालान्तर में इन्हीं भोग्यों से इस प्रजा का सर्वनाश हो गया । स्वरूपतः देवता, पितर, मनुष्य, पशु, यह प्रजाचतुष्टयी ही प्रजापति के यश को सुरक्षित रख सकी ।

(६) प्रजापति ने आरम्भ में उक्त चार प्रजाओं के लिए उत्तरूप से जो भोग्य व्यवस्था की थी, आज पर्यन्त प्रजापति की इसी व्यवस्था का अनुगमन हो रहा है । देवता मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते, पितर अतिक्रमण नहीं करते, पशु अतिक्रमण नहीं करते । हाँ, मनुष्यप्रजा अपने प्रज्ञापराध से अवश्य ही कभी कभी असुरप्रजा, तथा पशुप्रजा का अनुकरण करती हुई मर्यादा का अतिक्रमण कर जाती है । ( अतः चारों प्रजाओं में से एकमात्र मनुष्यप्रजा के लिए ही शान्त्रोपदेश प्रवृत्त हुआ है ) । श्रुति कहती है कि, अपनी इसी आसुरवृत्ति, तथा पशुवृत्ति से मनुष्य आवश्यकता से अधिक तुन्दिल ( स्तूलकाय-विपुलोदर ) बन जाते हैं । मनुष्यप्रजा में जिसे तुन्दिल देखो, विश्वास करो, वह पाप-कर्म से तुन्दिल हुआ है । कभी ऐसा अर्थपरायण तुन्दिल मनुष्य सद्गति का अधिकारी नहीं बन सकता । क्योंकि यह आसुर अन्तर्भाव ( मिथ्याभाषण, छल, विश्वासघात, आदि असत्यमार्ग ) के अनुगमन

से ही पीवरतनू बना है। इसलिए मैं आदेश करती हूँ कि, प्रत्येक मनुष्य को प्राज्ञापत्यमर्यादा के अनुसार सम्मार्ग पर चलते हुए दिन रात के २४ घंटों में केवल दो बार सायं प्रातः ही अशन करना चाहिए। जो मनुष्य इस मर्यादाहस्य को समझता हुआ इस नियम का अनुगमन करता है, वह पूर्णार्थ का अधिकारी बनता है। साथ ही 'इदमित्यमेव करिष्ये, नान्यथा' इस सत्यपूत प्रतिवात्मक नियमानुगमन से ऐसे मनुष्य की वाणी में सत्य प्रतिष्ठित हो जाता है। यह जिसके लिए अपने सुख से जो कुछ कह देता है, वही हो जाता है। यही वाग्वल ब्राह्मतेज है, (जिसके बल पर ब्राह्मण की वाणी में सत्यप्रतिष्ठित रहता है)। जो इस प्राज्ञापत्यव्रत को निभाने में समर्थ है, वह भी इस ब्राह्मतेज से युक्त हो जाता है"। अब श्रुति के शब्दों में ही व्याख्यान पर दृष्टि डालिए—

(१)—“प्रज्ञापतिर्वै भूतान्युपासीदन् । प्रजा वै भूतानि । वि नो धेहि, यथा जीवामः इति । ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा, दक्षिणं जान्वाच्य-उपासीदन् । तानब्रवीत्— यज्ञो वोऽश्नम्, अमृतत्वं वः, उर्ध्वः, सूर्यां वो ज्योतिः, इति ।”

(२)—“अथैनं पितरः प्राचीनावीतिनः, सव्यं जान्वाच्य-उपासीदन् । तानब्रवीत्—मामि मामि वोऽशनम्, स्वधा वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिः, इति ।”

(३)—“अथैनं मनुष्याः प्रावृताः, उपस्थं कृत्वा-उपासीदन् । तानब्रवीत्—सायं प्रातर्वाऽशनम्, प्रजा वः, मृत्युर्वः, अग्निर्वो ज्योतिः, इति ।”

(४)—“अथैनं पशव उपसीदन् । तेभ्यः स्वपमेध चकार-यद्वै घृणं कदाच लभन्वै, यदि काले यद्यनाकाले, अथैवारनथ, इति । तस्मादेते यद्वै कदा च लभन्ते, यदि काले, यद्यनाकाले, अथैवारनन्ति” ।

(५)—“अथ ह्येनं शशदप्यसुरा उपसेदुः, इत्याहुः । तेभ्यस्तमथ मायां च प्रहर्दा । अस्ति— हवासुरमाया, इतीव । पराभूता ह तेव ताः प्रजाः” ।

(६)—“ता इमाः प्रजास्तथैवोपजीवन्ति, यथैवाभ्यः प्रजापतिर्व्यदधात् । नैव देवा अतिक्रामन्ति, न पितरः, न पशवः । मनुष्या एवैकैऽतिक्रामन्ति । तस्माद्यो मनुष्याणां मेधति, विहर्षति हि । न ह्ययनाय चनं भवति । अतुतं हि कृत्वा मेधति । तस्मान्नु सायं प्रातराशयेव म्यात् । स यो ह्येनं विद्वान् सायंप्रातराशी भवति, सर्वं ह्येवाशुरेति । यदु ह किंच वाचा व्याहरति, तदु ह्येव भवति । एतद्धि देवसत्त्वं गोपायति । तद्वैतत् तेजो नाम ब्राह्मणं, ( ब्राह्मणं— ब्राह्म-नाम तेजः ), य एतस्य व्रतं शननोति चरितुम्” ।

—शतब्रा० २ का० । ४ अ० । २ ब्रा० । १ क० मे ६ क० पर्यन्त ।

पितरप्रजा के प्रसङ्ग में उपात्त प्रकृत ब्राह्मणश्रुति का समन्वय करने से पहिले 'प्रजापति' स्वरूप की ही दो शब्दों में भीमांसा कर लीजिए। तत्त्ववेत्ता वैज्ञानिकों ने प्रजापति का एक ऐसा सामान्य लक्षण किया है, जिस का पौडरीपुरुष, अव्यक्तपुरुष, व्यक्तपुरुष, संवत्सर, अग्नि, वायु, आदित्य, आदि व्यष्टिलक्षण यच्चयावत् प्राजापत्यसंस्थाओं के साथ समन्वय हो रहा है। और यह लक्षण यह है—

**“आत्म-प्राण-पशु-समष्टिः प्रजापतिः”**

पहिले पौडरीप्रजापति के साथ ही लक्षण समन्वय कीजिए। पञ्चकल अव्ययपुरुष, पञ्चकल अक्षरपुरुष, पञ्चकल क्षरपुरुष, निष्कल परात्सर, इन १६ कलाओं की समष्टि ही पौडरीपुरुष है। पौडरीपुरुष का अव्यय भाग आत्मा है, यही यस्तुतः पुरुष है। अक्षर भाग 'प्राण' है, यही पराप्रकृति नामक अन्तरङ्गप्रकृति है। क्षर भाग 'पशु' है, यही अपराप्रकृति नामक बहिरङ्गप्रकृति है। यही आत्म-प्राण-पशुसमष्टिलक्षण पौडरीप्रजापति है, जिस के लिए—‘प्रजापतिस्त्वैवेदं सर्वं यदिदं किञ्च’ (शतपथ) यह निगम प्रसिद्ध है।

प्रजापति की आत्मकला (अव्यय) अमृतलक्षण रस, मृत्युलक्षण धल, के समन्वय से अमृत-मृत्युमयी है। इस की अमृतकला का अनुग्रह पराप्रकृतिरूप अक्षर नामक प्राणकला पर होता है, एवं मृत्युकला का अनुग्रह अपराप्रकृतिरूप क्षरनामक पशुकला पर होता है। अमृतकला ज्ञानप्रधाना (रस-प्रधाना) है, मृत्युकला कर्मप्रधाना (धलप्रधाना) है। फलतः अक्षर ज्ञानप्रधान बन रहा है, क्षर कर्म-प्रधान बन रहा है। ज्ञान-कर्ममय अक्षराक्षराधारभूत उभयमूर्त्ति त्रिमूर्त्ति त्रिपुरुष-पुरुषात्मक पौडरी ही प्रजापति है। ‘अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदुर्द्धममृतम्’ (शतपथ) के अनुसार यह अक्षररूप से अमृतमायावान्न है, एवं क्षररूप से मर्त्यमायावान्न है।

ज्ञानप्रधान अमृताक्षर अव्यक्त है, कर्मप्रधान मर्त्यक्षर व्यक्त है। अव्यक्त के आधार पर ही व्यक्त प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में अव्यक्त ही क्षर का आधार बन कर व्यक्तरूप में परिणत हो रहा है। अव्यय के ज्ञानभाग से उपकृत अव्यक्त ज्ञानमृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है, एवं अव्यय के कर्मभाग से उपकृत व्यक्त क्षर कर्मसृष्टि का प्रवर्त्तक बनता है। पुरुष से अव्यक्त, अव्यक्त से व्यक्त, व्यक्त से कर्मवितान, किंवा कर्मसृष्टि, यह परम्परा है। इस परम्परा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, आत्मा से प्राण का, प्राण से पशु का, पशु से कर्म का विकास हुआ है। इसी दृष्टि से सृष्टि-धारा ‘मानसी, गुणमयी, वैकारिकी’ भेद से तीन प्रवाहों में प्रवाहित हो रही है, जिन्हें क्रमशः पुरुष-प्रकृति-विकृति-सृष्टि भी कहा जा सकता है।

पुरुष से होने वाली अव्यक्तरूपा ज्ञानगर्भित-प्राणत्मिका सृष्टि ही ‘अपि सृष्टि’ है। यह सृष्टितत्त्वेन यद्यपि प्रजा है, परन्तु संसृष्टिलक्षण मिथुनभाव से अतिव्यक्त-भाव-प्राधान्य से ज्ञानतन्तु-

प्रवर्तिता इस श्रुतिपिण्डि को असृष्टि ही मान लिया गया है। यही कारण है कि, अव्यक्तात्मक स्वयम्भू से सम्बन्ध रखने वाली इस श्रुतिपिण्डि को ब्राह्मणश्रुति ने प्रजा-मर्यादा से प्रथक् कर दिया है। आगे का देवाद्विप्रजापञ्चक, तथा व्यक्त लोक, सब का मूल यही श्रुतिप्रसर्ग है, जिसे स्मृति ने भी मानस सर्ग मानते हुए अव्ययसर्ग ही माना है। देखिए—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भाषा मानसा जाता एषां लोक इमाः प्रजाः ॥ (गीता १०। ६।)

ज्ञानतन्तुप्रयत्नक अव्यक्त श्रुतिपितृत्वं त्रयीरूप से व्यक्त आपोमय परमेष्ठी के गर्भ में प्रविष्ट हो जाता है, जैसा कि शृणुस्यरूपपरिचय में स्पष्ट किया जा चुका है। श्रुतिप्राणगर्भित यह परमेष्ठी ही ब्राह्मणोक्त प्रजापञ्चक का उपादान बनता है। अतएव ब्राह्मणश्रुति के प्रजापति शब्द से अव्यक्त-ज्ञान-मूर्ति-श्रुतिपितृत्वगर्भित व्यक्त कर्ममूर्ति-आपोमय परमेष्ठी प्रजापति का ही ग्रहण करना न्यायसङ्गत बनता है। आपोमय परमेष्ठी का भार्गव अपतृत्वं असुरसृष्टि का प्रवर्तक है, भार्गव सोमतृत्वं पितृ-सृष्टि का प्रवर्तक है, आद्विर्म घायु पशुसृष्टि का प्रवर्तक है, एवं आद्विर्मस अग्नि मनुष्यसृष्टि का प्रवर्तक है। इसमें सीम्हा पितृसृष्टि का दूसरा अधिष्ठान (प्रवर्य सम्बन्ध ले) सोममय चन्द्रमा है। इस प्रकार पार्थिव विवर्त्त की दृष्टि से मूर्त्यापलक्षित शुलोक, चन्द्रमोपलक्षित अन्तरिक्षलोक, वैश्वानराग्न्युपलक्षित पृथिवीलोक, इन तीनों को क्रमशः देवलोक, पितृलोक, मनुष्यलोक, कहा जा सकता है। सूर्यतः परमस्थान में स्थित, अतएव 'परमेष्ठी' नाम से प्रसिद्ध पारमेष्ठ्य पितृलोक, तथा परमेष्ठी से भी ऊपर प्रतिष्ठित स्वायम्भुव श्रुतिलोक, इन दोनों लोकों की समष्टि चौथा 'ब्रह्मलोक' है, 'यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते'। लोकत्रयी का एक विभाग है, ब्रह्मलोक का स्वतन्त्र विभाग है। इस प्रकार सम्भूय चार लोक हो जाते हैं। तीनों लोक मनुष्यप्रजा के लिए अद्वा (प्रकट) हैं, चौथा आपोमय पारमेष्ठ्य लोक अनद्वा है, जैसा कि—“अस्ति च चतुर्थो देवलोक आपः” (शतपथब्रा०) —“को हि तद्वेद०” इत्यादि धर्तृओं से प्रमाणित है।

प्रजामम्पत्ति के द्वारा मनुष्य मनुष्यलोक में अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करता है, विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म (इष्ट-आपूत-दत्त) से पितृलोकावाप्ति होती है, एवं विद्यामापेक्षसत्कर्म (यज्ञ-तप-दान) से देवलोकावाप्ति होती है। एवं निष्कामकर्मालक्षण बुद्धियोगानुगमन से ब्रह्मलोकावाप्ति होती है, जैसा कि 'आत्मगतविज्ञानोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। प्रकृत में इस सृष्टिप्रपञ्च से यही बतलाना है कि, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, भेद से तीनों लोक सम्बत्सरचक्र से ही सम्बन्ध रखते हैं। एक ही सम्बत्सरचक्र में तीनों लोक भुक्त हैं। एवं उक्त ब्राह्मणस्थान इन्हीं साम्बत्सरिक लोकों को लक्ष्य में रख कर प्रवृत्त हुआ है। निम्न लिखित वचन इसी लोकत्रयी का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—“अथ त्रयो वाव लोकाः-मनुष्यलोकः, पितृलोकः, देवलोकः, इति । सोऽयं



मनुष्यलोकः पुत्रैव जय्यः, नान्येन कर्मणा । कर्मणां पितृलोकः । विद्या  
देवलोकः । देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठः, तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति”

—शत० १४ का० । ४ अ० । ३ ब्रा० । २४ कं० ।

२—“इमऽऽ लोकाः सम्बत्सरः” (शत० ८ । २ । १-१७ ।)

३—“एतऽऽ उ वाच लोकाः—यदहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः सम्बत्सरः” इति ।

—शत० १० । २ । ६ । ७ ।

सम्बत्सरात्मिका लोकत्रयी में प्रतिष्ठित प्रजात्रयी की स्थिति के यथायन् समन्वय से उक्त ब्राह्मण-आख्यान का रहस्यार्थ गतार्थ बन जाता है । अतः उस स्थिति की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य; तीनों के क्रमशः अक्ष, दक्ष, क्रान्ति, नामक तीन घुत्त माने गए हैं । भूपिण्ड अक्ष पर परिक्रमा लगाता है, यही इस का ‘स्वाक्षपरिभ्रमण’ है, इसी से ‘दिन-दिनगति’ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, यही स्वाक्षगति अहोरात्र की जननी है । स्वाक्ष पर एक अहोरात्र में पूरी परिक्रमा करता हुआ भूपिण्ड (आधुनिक ज्योतिर्विदों के मतानुसार सूर्य) के (पृथिवी के) चारों ओर परिक्रमा लगाता रहता है । जिस घुत्त पर यह पार्थिव, किंवा सौर परिभ्रमण होता है, यही ‘क्रान्तिघुत्त’ नाम से प्रसिद्ध है । इस परिभ्रमण से ‘साम्बत्सरिकगति’ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, यही क्रान्तिगति दक्षिणोत्तर अयनों की विभाजिका है । चन्द्रमा भूपिण्ड को केन्द्र बनाता हुआ एक मास में भूपिण्ड के चारों ओर अपने दक्षघुत्त पर परिक्रमा लगा लेता है । इस चान्द्रपरिभ्रमण से ‘मासिकगति’ का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, यही दक्षगति शुक्लकृष्णपक्षों की विभाजिका है । निष्कर्षतः अहोरात्र का सम्बन्ध स्वाक्षपरिभ्रमणानुगता पृथिवी से है, शुक्लकृष्णपक्षों का सम्बन्ध दक्षभ्रमणानुगता चन्द्रमा से है, एवं वनर-दक्षिणायनों का सम्बन्ध क्रान्तिपरिभ्रमणानुगता पृथिवी (किंवा सूर्य) से है । तीनों गतियों में क्रमशः पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य, की प्रधानता है । तीनों गतियों से तीनों विवर्त्त क्रमशः अहः, मास, वर्ष, के अधिष्ठाता बन रहे हैं ।

अहोरात्र का तात्त्विक स्वरूप क्या ? क्या द्वादश (१२) होरायुक्त काल अहः, एवं द्वादश होरा-युक्त काल रात्रि है ? नहीं । वैज्ञानिक जगत् में अहोरात्र की परिभाषा कुछ और ही मानी गई है । ‘स्वरहर्द्देवाः सूर्याः’ (शत० ११) के अनुसार सौरप्रकाश-लक्षण अग्नि का नाम ही ‘अहः’ है, सौरप्रकाशमाधारूप सोम का ही नाम ‘रात्रि’ है, ज्योतिर्लक्षण सौर मधवेन्द्र से युक्त अग्नितत्त्व ही अहः है, इन्द्रिययुक्त विशुद्ध कृष्णसोम ही ‘रात्रि’ है । इस प्रकार अहः-रात्रि शब्द काल के वाचक न होकर तत्त्वों के ही वाचक हैं । इन्द्रगर्भित अग्नितत्त्वात्मक इस अहः का जितने काल में भोग होता है, उपलक्षण विधि से आगे जाकर वह अहर्भोगात्मक काल भी ‘अहः’ कहलाने लग गया है । इसी दृष्टि को प्रधान मान कर अहोरात्र-विवर्त्त का समन्वय कीजिए ।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ ( गीता ) ।

यही अहोरात्र ब्रह्म अहोरात्र है, जिस का पूर्वोक्त अर्धसर्गानुगत ब्रह्मलोक से सम्बन्ध है, जिसे अनन्त चतुर्थे आपोलोक भी कहा गया है । ब्रह्म अहोरात्र का सृष्टिकालोपलक्षित यही अर्धः 'पुण्याह' (पवित्र दिन) कहलाया है, जिस का अपने प्रत्येक कर्म-संकल्प में आरितिक लोग स्मरण किया करते हैं । ब्रह्मलोक 'ब्रह्मा' नामक ऋषिप्राणसमष्टि का लोक है, ब्रह्म अहोरात्र इसी ब्रह्मलोक से सम्बद्ध है । सृष्टि ब्रह्मा का एक दिन है, प्रलय ब्रह्मा की एक रात्रि है । सौरसम्बत्सर देवलोक है । उत्तरायण काल देवताओं का एक दिन है, दक्षिणायनकाल एक रात्रि है । चान्द्रमण्डल पितृलोक है । कृष्णपक्ष पितरों का एक दिन है, शुक्लपक्ष पितरों की एक रात्रि है । चन्द्रकानुगत देवप्राण के सम्बन्ध से शुक्लरात्र एक दिन है, कृष्णपक्ष एक रात्रि है । पृथिवी मनुष्यलोक है । द्वादश होरात्मक अर्धः मनुष्यों का एक दिन है, द्वादशहोरात्मिका रात्रि एक रात्रि है । इस प्रकार हमारा एक अहोरात्र मानुष अहोरात्र है । हमारे १० अहोरात्र पितरों का एक अहोरात्र है । हमारे ३६० अहोरात्र देवताओं का एक अहोरात्र है । सौरसृष्टिप्रलयकाल ब्रह्मा का एक अहोरात्र है । इस प्रकार ज्योतिर्मय अग्नि, तमोमय सोमभेद से अहोरात्रतत्त्व चार भागों में विभक्त हो रहा है ।

अहोरात्रनिबन्धना कालचुट्टयी—

१	१—आदित्यायच्छिन्नो ज्योतिर्मयोऽग्निः—अर्धः—द्वादशहोरात्मकम्	} मानुष अहोरात्रम् (चतुर्विंशतिहोरात्मकम्)
	२—दित्ययच्छिन्नतमोमयः सोमः—रात्रिः—द्वादशहोरात्मिका	
२	१—शुक्लपक्षाच्छिन्नं ज्योतिः—अर्धः—पञ्चदशहोरात्रात्मकम्	} पैत्रं अहोरात्रम् (त्रिंशद्दशहोरात्रात्मकम्— मासात्मकं वा)
	२—कृष्णपक्षाच्छिन्नः सोमः—रात्रिः—पञ्चदशहोरात्रात्मिका	
३	१—उत्तरायणयच्छिन्नं ज्योतिः—अर्धः—एवमासात्मकम्	} द्वैवमहोरात्रम् (३६० अहोरात्रात्मकं— वर्षात्मकं वा)
	२—दक्षिणायनयच्छिन्नः सोमः—रात्रिः—एवमासात्मिका	
४	१—सूर्यवच्छिन्नं ज्योतिः—अर्धः—सूर्यसत्तात्मकम्	} ब्राह्माहोरात्रम् (सृष्टि-लयात्मकम्)
	२—प्रलयावच्छिन्नः सोमः—रात्रिः—सूर्यलयात्मिका	

उक्त चारों संस्थाओं में सौरज्योति, तथा पारमेष्ठ्य सोमरूप से ज्योतिर्मय देवता, तथा सोम मय पितर, दोनों का विपर्यय से भोग हो रहा है। ज्योतिर्भाग ज्योतिर्मय देवताओं के लिए अहः है, यही सोममय पितरों के लिए रात्रि है। एवमेव सोमभाग सौम्य पितरों के लिए अहः है, यही ज्योतिर्मय देवताओं के लिए रात्रि है। और यह अहोरात्रभाग उद्यास्त से सम्बन्ध न रख अनद्यतन-अनद्यतन भागों से सम्बन्ध रख रहा है। पहिले मानुष अहोरात्र को ही लीजिए।

(१) रात्रि के १२ वजे से दिन के १२ वजे पर्यन्त ऐन्द्र मित्रप्राण का साम्राज्य है, यही मैत्र पूर्व-कपाल है, यही अद्यतन-लक्षण अहः है, यही देवताओं का अहः, तथा पितरों की रात्रि है। दिन के १२ वजे से रात्रि के १२ वजे पर्यन्त आप्य वरुणप्राण का साम्राज्य है, यही वारुण पश्चिमकपाल है, यही आयात-तृण रात्रि है, यही पितरों का अहः, तथा देवताओं की रात्रि है। इसी आधार पर पूर्वाह्न देवकाल माना गया है, अपराह्न पितृकाल माना गया है। पूर्वाह्न में देवप्राण का उपचय है, अपराह्न में देवप्राण का अपचय है। देवापचय-लक्षण (अपचयलक्षण) इसी अपराह्न में पितर का उपचय है। अतएव पितर अत्यन्तभात्रः (देवापचयकाल में प्रतिष्ठित) कहलाए हैं।

(२) यही अवस्था पेत्र अहोरात्र की है। जिस प्रकार मानुष अहोरात्र की विभाजिका दक्षिणोत्तरपृष्ठात्मिका उर्वशी है, जो कि मध्यरात्रि-मध्याह्न को काटती हुई पूर्व-पश्चिम कपाल के द्वारा अद्यतन अनद्यतन की अभिप्राप्ती बन रही है, एवमेव दक्षिणोत्तरदिक् से सम्बन्ध रखने वाली आम्बोत्तर रेखा ही पेत्र अहोरात्र की विभाजिका बनी हुई है। शुक्लाष्टमी से कृष्णाष्टमी पर्यन्त, जिस के मध्य में पूर्णिमा है, ऐन्द्र मित्रप्राण का साम्राज्य है, यही मैत्र पूर्वकपाल है, यही अद्यतन-लक्षण अहः है। शुक्लाष्टमी मैत्र देवताओं का प्रातःकाल है, पूर्णिमा मध्याह्न है, कृष्णाष्टमी सायंकाल है। त्रिपयणात्मक यही अद्यतन देवताओं का अहः, तथा पितरों की रात्रि है। कृष्णाष्टमी से आरम्भ कर शुक्लाष्टमी पर्यन्त, जिसके मध्य में अमावस्या है, आप्य वारुणप्राण का साम्राज्य है, यही वारुण पश्चिम कपाल है, यही अनद्यतनलक्षणा रात्रि है। कृष्णाष्टमी पितरों का प्रातःकाल है, अमावस्या मध्याह्न है, शुक्लाष्टमी सायंकाल है। त्रिगर्वात्मक यही अनद्यतन पितरों का अहः, तथा देवताओं की रात्रि है।

(३) तीसरा देव अहोरात्र है। यही आम्बोत्तर रेखा यहाँ भी कपालद्वय की विभाजिका बन रही है। उत्तरदिक्स्थ परमक्रान्तिबिन्दु से सम्बद्ध कर्कटवृत्त से आरम्भ कर दक्षिणदिक्स्थ परमक्रान्तिबिन्दु से सम्बद्ध मकरवृत्त पर्यन्त इस रेखा की व्याप्ति है। उत्तरगोल के मध्य से दक्षिणगोल के मध्य पर्यन्त व्याप्त इस रेखा से पूर्व-पश्चिम कपाल भेद हो रहा है। पूर्वदिक् से अनुगत आधा उत्तरगोल, आधा दक्षिण गोल; यह अर्द्धगोल ऐन्द्रमित्रप्राण से युक्त है, यही मैत्र पूर्वकपाल है यही अद्यतन लक्षण अहः है, यही देवताओं का अहः, तथा पितरों की रात्रि है। एवमेव पश्चिमदिक्

से अनुगत आधा दक्षिण गोल, आधा उत्तरगोल, यह अर्द्धगोल आर्य्य वारुण प्राण से युक्त है, यही वारुण पश्चिम कपाल है, यही अनद्यतनलक्षण रात्रि है, यही पितरों का अहः, तथा देवताओं की रात्रि है।

(४) चौथा ब्राह्म-अहोरात्र है। ब्राह्म अहोरात्र की मूलप्रतिष्ठा रूप ऋषितत्त्वगर्भित आपोमय परमेष्ठी से 'भृगु-अङ्गिरा' नाम की दो धाराओं का विनिर्गम बतलाया गया है। विशुद्ध भार्गव सोमधारा स्नेहधारा है, सोमगर्भिता, अतएव ज्योतिर्मयी अङ्गिराधारा 'तेजोधारा' है। तेजोधारा लक्षण ज्योतिर्मय अग्नि तत्त्व ही अहः है, एवं इसका उपक्रम परमेष्ठी में ही हो जाता है। रात्रि में जिन १४ मन्वन्तरों का भोग होता है, उनमें से सातवें रात्रिमन्वन्तर के समाप्त होने पर, जो कि अर्द्धरात्रि की अवसान भूमि है, इस अहः का उपक्रम हो जाता है, एवं अहः कालोपलक्षित सृष्टि के १४ मन्वन्तरों में से सातवें वैयस्यत मनवन्तर (जोकि वर्तमान में प्रक्रान्त है) के अवसान पर इस अर्द्धिकस का अवसान है। इस प्रकार लघोपलक्षित रात्रि के सप्तम मन्वन्तरोपलक्षित मध्यभागवसान से आरम्भ कर सृष्ट्युपलक्षित अहः के सप्तम मन्वन्तरोपलक्षित मध्याह्नपर्यन्त ऐन्द्रमित्र का साम्राज्य सिद्ध हो जाता है, यही मैत्र पृथक्कपाल है, यही अद्यतनलक्षण अहः है। पारमेष्ठ्य मित्रतन्वोदयलक्षण काल देवताओं का प्रातःकाल है, सूर्योत्पत्तिलक्षण उदयकाल देवताओं का मध्याह्न है, वैवस्वतमन्वन्तरावसानोपलक्षित मध्याह्नकाल देवताओं का सायंकाल है। त्रिभाषात्मक यही अद्यतन देवताओं का अहः, तथा पितरों की रात्रि है।

(१) विशुद्ध भार्गव सोमधारालक्षण तमोमय सोमत्त्व ही रात्रि है, एवं इस का उपक्रम सौर सृष्टिकाल के मध्याह्न से ही हो जाता है। सृष्टिकालोपलक्षित सूर्योत्पत्तकाल के १४ मन्वन्तरों में से सातवें वैयस्यत मन्वन्तर के समाप्त हो जाने पर, जो कि मध्याह्न की अवसानभूमि है, इस रात्रितत्त्व का उपक्रम हो जाता है, एवं रात्रिकालोपलक्षित लय के १४ मन्वन्तरों में से सातवें मन्वन्तर के अवसान पर इस रात्रिविकास का अवसान है। इस प्रकार सृष्ट्युपलक्षित अहः के सप्तम मन्वन्तरोपलक्षित मध्याह्नवसानसे आरम्भ कर लघोपलक्षित रात्रि के सप्तम मन्वन्तरोपलक्षित मध्याह्नपर्यन्त आर्य्यवारुण का साम्राज्य सिद्ध हो जाता है, यही वारुण पश्चिम कपाल है, यही अनद्यतनलक्षण रात्रि है। सौर वरुणतन्वोदय लक्षण काल पितरों का प्रातःकाल है, सूर्यावमानलक्षण सूर्योत्पत्तकाल पितरों का मध्याह्न है, एवं रात्रिगत १४ मन्वन्तरों में से सप्तम मन्वन्तरावसानोपलक्षित मध्यरात्रिकाल पितरों का सायंकाल है। त्रिभाषात्मक यही अनद्यतन पितरों का अहः, तथा देवताओं की रात्रि है।

विपर्ययात्मक अक्त भोग के अतिरिक्त उदयास्त लक्षण भोग सार्वजनीन है। सूर्योदय से सूर्यास्त पर्यन्त अहः है, सूर्यास्त से सूर्योदय पर्यन्त रात्रि है, यही मानुष अहोरात्र है। अहः देवता प्रधान है, रात्रि पितरप्रधाना है। अहः पितरों की रात्रि है, रात्रि पितरों का अहः है। रात्रि देवताओं की रात्रि है, अहः देवताओं का अहः है। यद्वा उदयास्तमनानुगत मानुष अहोरात्र है।

❖ इसी आधार पर पितरों के लिए रात्रिजागरण (रातीजगा) प्रधान माना गया है।

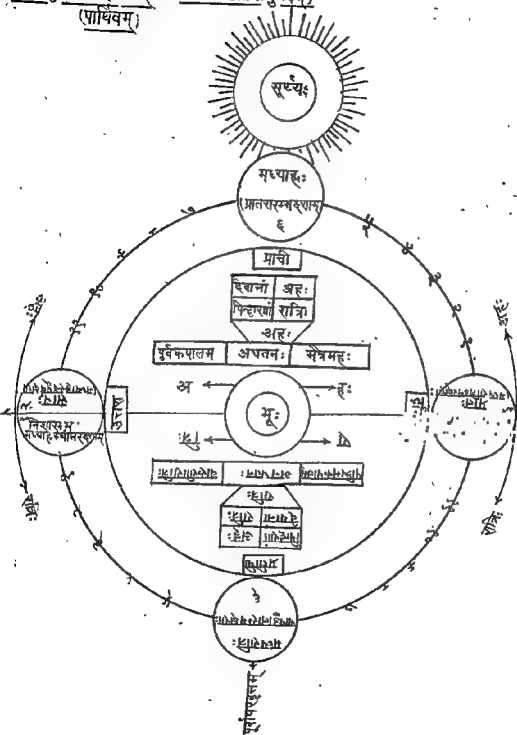
(२) भामोत्तर प्रतिपत् से आरम्भ कर पूर्णिमापर्यन्त अहः है, पूर्णिमोत्तर-प्रतिपत् से आरम्भ कर अमापर्यन्त रात्रि है, यही पैत्र अहोरात्र है। शुक्लपक्षात्मक यह अहः देवताप्रधान है, कृष्ण-पक्षात्मिका रात्रि पितृप्रधाना है। शुक्लपक्षात्मक अहः पितरों की रात्रि है, कृष्णपक्षात्मिका रात्रि पितरों का अहः है। एवं कृष्णपक्षात्मिका रात्रि देवताओं की रात्रि है, शुक्लपक्षात्मक 'अहः' देवताओं का अहः है। यही उद्यास्तमनानुगत पैत्र अहोरात्र है।

(३) वसन्तसम्पान से आरम्भ कर शरत्सम्पातारम्भ-पर्यन्त अहः है, शरत्सम्पान से आरम्भ कर वसन्तसम्पातारम्भ-पर्यन्त रात्रि है, यही दैव अहोरात्र है। उत्तरगोलात्मक अहः देवता प्रधान है, दक्षिणगोलात्मिका रात्रि पितृप्रधाना है। उत्तरगोलात्मक अहः पितरों की रात्रि है, एवं दक्षिणगोलात्मिका रात्रि पितरों का अहः है। दूसरे शब्दों में उत्तर गोलात्मक अहः देवताओं का अहः है, पितरों की रात्रि है। एवं दक्षिणगोलात्मिका रात्रि देवताओं की रात्रि है, पितरों का अहः है। यही उद्यास्तमनानुगत दैव अहोरात्र है।

(४) सूर्योत्पत्ति से आरम्भ कर सूर्यलय से पूर्वक्षण पर्यन्त अहः है, सूर्यलय से आरम्भ कर सूर्योत्पत्ति से पूर्वक्षण पर्यन्त रात्रि है। सृष्टिकालात्मक अहः देवताप्रधान है लय-कालात्मिका रात्रि पितृप्रधाना है। सृष्टिकालात्मक अहः पितरों की रात्रि है, एवं लयकालात्मिका रात्रि पितरों का ( परमेष्ठी का ) अहः है। दूसरे शब्दों में सृष्टिकालात्मक अहः देवताओं का अहः है, पितरों की रात्रि है। एवं लयकालात्मिका रात्रि देवताओं की रात्रि है, पितरों का अहः है। यही उद्यास्तमनानुगत ब्राह्म अहोरात्र है।

इस प्रकार शास्त्रीय परमार्थदृष्टि से शुक्ल अद्यतन-अनद्यतन-कालभेद से, तथा लौकिक व्यवहारदृष्टि से शुक्ल उदय-अस्तकाल भेद से मानुष पैत्र-दैव-ब्राह्म, चारों अहोरात्रों के दो दो विभक्त हो जाते हैं। सर्वत्र ज्योतिर्मय अग्निभोगकाल 'अहः' है, इस में ज्योतिर्मय देवप्राण का मात्राज्य है, समोमय सोमभोगकाल 'रात्रि' है, इस में सौम्य पितृप्राण का साधराज्य है। दोनों विभक्तों में से अद्यतनानद्यतनानुगता अहोरात्रचतुष्टयी में प्रकृत ब्राह्मणाख्यान के साथ मानुष-पैत्र-दैव-इन तीन अहोरात्रों का ही सम्बन्ध है। अहोरात्र परिभाषा के स्पष्टीकरण के बिना आख्यान रहस्य का चिह्ने-पण असम्भव था, अतएव अप्राकृत होने पर भी उस का दिग्वर्शन कराना आवश्यक समझा गया। अब प्रकृतानुसरण से पहले सुविधा के लिए प्रतिपादित अहोरात्र-विभवों का परिनिर्णय से स्पष्टीकरण कर दिया जाता है।

१-मानुष्ये-अहोरात्रम्- (उपतनानुगतनानुगतम्)  
(पाथिवम्)

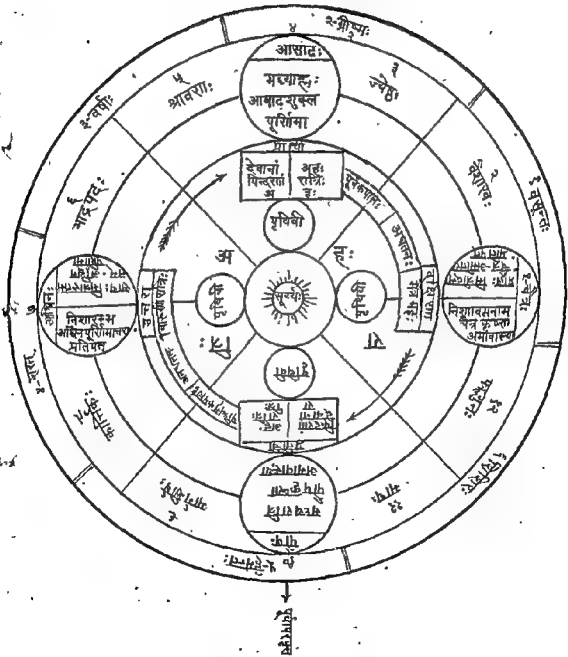




दैवं-अहोरात्रम्

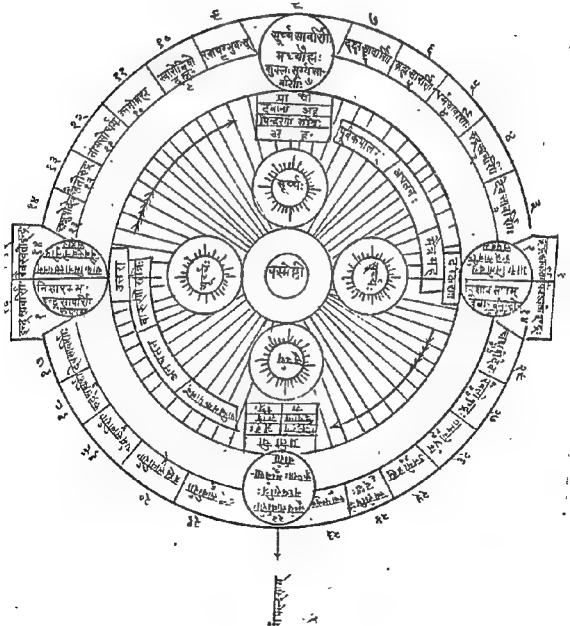
अघतानघतनानुगतम्

सौरम्

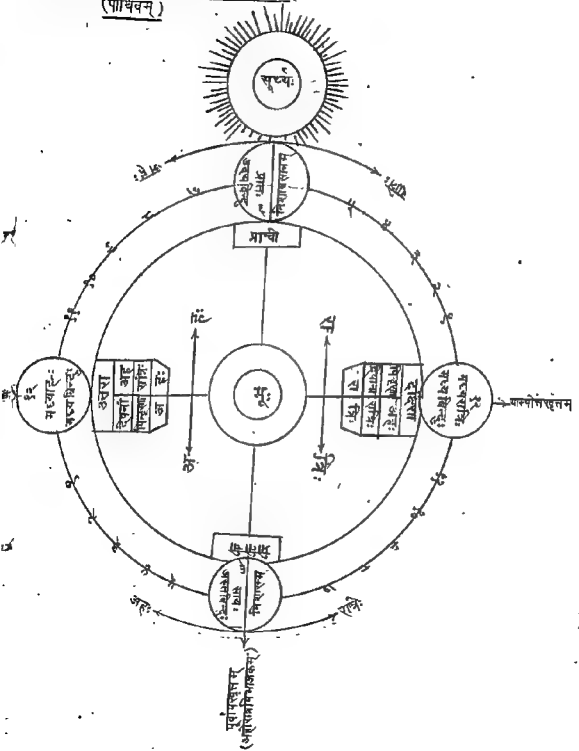




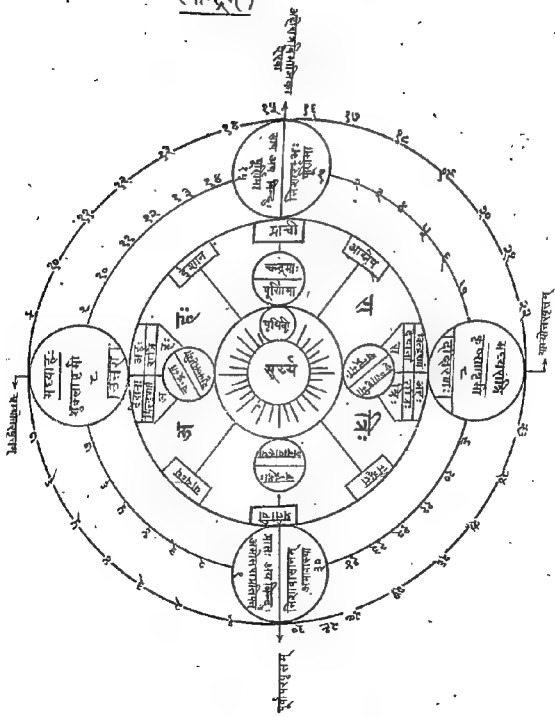
४-ब्राह्म-अहोरात्रम्  
अपतनानघतनानुगतम्  
(पारमेष्ठ्यम्)



(पार्थिवम्)



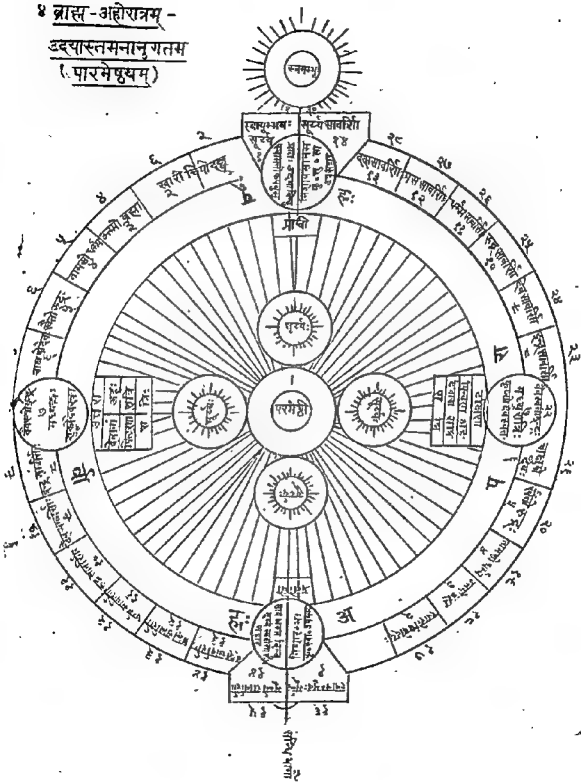
पैत्र-अहोरात्रम् - (उदयस्तमनानुगतम्) -  
(चान्द्रम्)



# ४ ब्राह्म-अहोरात्रम् -

उदयास्तमनानुगतम्

(पारमेष्वयम्)



१—अनन्यतनानुगताहोरात्राणामवान्तरमोगकालाः—

१—मानुषे-अहोरात्रे

मानुषाहोरात्रस्य	१-१-देवानां प्रातः—मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् (उत्तररात्रेः १) २-२- " मध्याह्नः—सूर्योदयक्षणम् (प्रातःकालस्य ६) ३-३- " सायम्—मध्याह्नस्य पूर्वक्षणम् (मध्याह्नस्य १२)	} १२ होरात्मकः-अनन्यतनः (देवानां-अहः)
	४-१- " निशातरम्भः—मध्याह्नस्योत्तरक्षणम् (मध्याह्नस्य १) ५-२- " मध्यरात्रिः—सूर्यास्तक्षणम् (सायंकालस्य ६) ६-३- " निशावसानम्—मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम् (पूर्वरात्रेः १२)	} १२ होरात्मकः-अनन्यतनः (देवानां-रात्रिः)
	१-१-पितृणां प्रातः—मध्याह्नस्योत्तरक्षणम् (मध्याह्नस्य १) २-२- " मध्याह्नः—सूर्यास्तक्षणम् (सायंकालस्य ६) ३-३- " सायम्—मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम् (मध्यरात्रेः १२)	} १२ होरात्मकः-अनन्यतनः (पितृणां-अहः)
अमास्यहोरात्रस्य	४-१- " निशातरम्भः—मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् (पूर्वरात्रेः १) ५-२- " मध्यरात्रिः—सूर्योदयक्षणम् (प्रातःकालस्य ६) ६-३- " निशावसानम्—मध्याह्नस्य पूर्वक्षणम् (मध्याह्नस्य १२)	} १२ होरात्रात्मकः-अनन्यतनः (पितृणां-रात्रिः)

२—पैत्रे-अहोरात्रे

पैत्राहोरात्रस्य	१-१-देवानां प्रातः—शुक्लाष्टम्या मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् (८) २-२- " मध्याह्नः—मासस्य पूर्णिमा (१४) ३-३- " सायम्—कृष्णाष्टम्या मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम् (८)	} १५ अहोरात्रात्मकः-अनन्यतनः (देवानां-अहः)
	४-१- " निशातरम्भः—कृष्णाष्टम्या मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् (८) ५-२- " मध्यरात्रिः—मासस्य अमावस्या (३०) ६-३- " निशावसानम्—शुक्लाष्टम्या मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम् (८)	} १५ अहोरात्रात्मकः-अनन्यतनः (देवानां-रात्रिः)
	१-१-पितृणां प्रातः—कृष्णाष्टम्या मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् २-२- " मध्याह्नः—मासस्य अमावस्या ३-३- " सायम्—शुक्लाष्टम्या मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम्	} १५ अहोरात्रात्मकः-अनन्यतनः (पितृणां-अहः)
पितृहोरात्रस्य	४-१- " निशातरम्भः—शुक्लाष्टम्या मध्यरात्रेरुत्तरक्षणम् ५-२- " मध्यरात्रिः—मासस्य पूर्णिमा ६-३- " निशावसानम्—कृष्णाष्टम्या मध्यरात्रेः पूर्वक्षणम्	} १५ अहोरात्रात्मकः-अनन्यतनः (पितृणां-रात्रिः)

## १-उदयास्तमनानुगता-अहोरात्रचतुष्टयी—

### १—मानुषमहोरात्रम्—

पार्थिवं-स्वानपरिभ्रमणात्मकं-दैनंदिनगतौ प्रतिष्ठितम्—

१ दर्शनं रवेः—१—सूर्योदयोत्तरक्षणातः—सूर्यास्तपूर्वक्षणापर्यन्तम्—अहर्देवानाम्, रात्रिः पितृणाम्  
२ अदर्शनं रवेः—२—सूर्यास्तोत्तरक्षणातः—सूर्योदयतःपूर्वक्षणापर्यन्तम्—रात्रिर्देवानाम्, अहः पितृणाम्

### २—पैत्रमहोरात्रम्—

चान्द्रं-दक्षपरिभ्रमणात्मकं-मासिकगतौ प्रतिष्ठितम्—

१ दर्शनं चन्द्रमसः—अमोत्तरप्रतिपदातः—शुक्लपूर्णिमापर्यन्तम्—अहर्देवानाम्, रात्रिः पितृणाम्  
२ अदर्शनं चन्द्रमसः—पूर्णिमोत्तरप्रतिपदातः—कृष्णमासास्यापर्यन्तम्—रात्रिर्देवानां, अहः पितृणाम्

### ३—दैवमहोरात्रम्—

सौरं-क्रान्तिवृत्तपरिभ्रमणात्मकं-सम्बत्सरगतौ प्रतिष्ठितम्—

उत्तरगोले सूर्यः—१—आषाढशुक्लपूर्णिमोत्तरप्रतिपदातः—वैषाशुक्लपूर्णिमापर्यन्तम्—अहर्देवानाम्, रा० पि०  
दक्षिणगोले सूर्यः—२—वैषाशुक्लपूर्णिमोत्तरप्रतिपदातः—आषाढकृष्णमासास्यापर्यन्तम्—रात्रिर्देवानाम्, अ० पि०

### ४—ब्राह्महोरात्रम्—

पारमेष्ठ्यं-दर्शपूर्णमासपरिभ्रमणात्मकं-सञ्चरप्रतिसञ्चरगतौ प्रतिष्ठितम्—

सृष्टिकालः—१—शुक्लस्यायन्भुवमन्यन्तरादारभ्य—शुक्लसूर्य सावर्णिमनुपर्यन्तम्—अहर्देवानाम्, रा० पि०  
लयकालः—२—कृष्णस्यायन्भुवमन्यन्तरादारभ्य—कृष्णसूर्य सावर्णिमनुपर्यन्तम्—रात्रिर्देवानां, अ० पि०

— x —

# ३—देव-अहोरात्रे—

देवदण्डा भोगकालः देवाहोरात्रस्य	१-१-देवानां प्रातः—चैत्रकृष्णामोत्तराप्रतिपत्	६ मासात्मकः अद्यतनः ( देवानां अहः )
	२-२- " मध्याह्नः—आषाढशुक्लपूर्णिमा	
	३-३- " सायम्—आश्विनशुक्लपूर्णिमा	
	४-१- " निशारम्भः—आश्विनपूर्णिमोत्तरा प्रतिपत्	६ मासात्मकः अनद्यतनः ( देवानां रात्रिः )
	५-२- " मध्यरात्रिः—पौषकृष्णमाघस्या	
	६-३- " निशावसानम्—चैत्रकृष्णमाघस्या	
पितृदण्डा भोगकालः पितृरात्रस्य	१-१-पितॄणां प्रातः—आश्विनपूर्णिमोत्तराप्रतिपत्	६ मासात्मकः अद्यतनः ( पितॄणां अहः )
	२-२- " मध्याह्नः—पौषकृष्णमाघस्या	
	३-३- " सायम्—चैत्रकृष्णमाघस्या	
	४-१- " निशारम्भः—चैत्रकृष्णामोत्तराप्रतिपत्	६ मासात्मकः अद्यतनः ( पितॄणां रात्रिः )
	५-२- " मध्यरात्रिः—आषाढशुक्लपूर्णिमा	
	६-३- " निशावसानम्—आश्विनशुक्लपूर्णिमा	

# ४—ब्राह्म-अहोरात्रे—

देवदण्डा भोगकालः ब्राह्महोरात्रस्य	१-१-देवानां प्रातः—शुक्लेन्द्रसावर्णे रूपक्रमः	१४ मन्वन्तरात्मकः—अद्यतनः ( देवानां अहः )
	२-२- " मध्याह्नः—शुक्लसूर्यसावर्णे भोगकालः	
	३-३- " सायम्—शुक्लवैष्वतमनोरूपसंहारः	
	४-१- " निशारम्भः—कृष्णेन्द्रसावर्णे रूपक्रमः	१४ मन्वन्तरात्मकः—अनद्यतनः ( देवानां रात्रिः )
	५-२- " मध्यरात्रिः—कृष्णसूर्यसावर्णे भोगकालः	
	६-३- " निशावसानम्—कृष्णवैष्वतमनोरूपसंहारः	
पितृदण्डा भोगकालः ब्राह्महोरात्रस्य	१-१-पितॄणां प्रातः—कृष्णेन्द्रसावर्णे रूपक्रमः	१४ मन्वन्तरात्मकः—अनद्यतनः ( पितॄणां—अहः )
	२-२- " मध्याह्नः—कृष्णसूर्यसावर्णे भोगकालः	
	३-३- " सायम्—कृष्णवैष्वतमनोरूपसंहारः	
	४-१- " निशारम्भः—शुक्लेन्द्रसावर्णे रूपक्रमः	१४ मन्वन्तरात्मकः—अद्यतनः ( पितॄणां—रात्रिः )
	५-२- " मध्यरात्रिः—शुक्लसूर्यसावर्णे भोगकालः	
	६-३- " निशावसानम्—शुक्लवैष्वतमनोरूपसंहारः	

चाहिए कि, अहःरूप अहोरात्र का देवता, पितर सम्बन्ध से तो अद्यतन-अनद्यतनानुगत अहोरात्र से सम्बन्ध है। परन्तु मानवप्रजा के सम्बन्ध से उदयास्तमनानुगत अहोरात्र से सम्बन्ध है, जैसा कि—  
'सायं प्रातर्वोऽशनम्' इत्यादि से प्रमाणित है।

जिस प्रकार 'अहः' शब्द की व्याप्ति अहः-मास-वर्ष, तीनों स्थानों में है, एवमेव वर्ष शब्द भी तीनों के साथ समन्वित है। किसी एक नियत बिन्दु से अपनी गति आरम्भ कर जो पिण्ड नियत वृत्त के चारों ओर घूम कर उसी नियत बिन्दु पर जितने समय में वापस आ जाता है, तदवच्छिन्न परिभ्रमण काल ही 'वर्ष' कहलाया है। इसी प्रकार स्वमण्डलावच्छिन्न विभक्ति (रात्रि) युक्त उद्योतिष्म्येय अग्निरूप अहः तत्त्व का भोग जिस बिन्दु से आरम्भ कर जितने समय में वापस उसी बिन्दु पर आ जाता है, तदवच्छिन्न काल ही अहः कहलाया है। इस परिभाषा के अनुसार अहः, वर्ष, दोनों शब्द विचाली वन रहे हैं। पृथिवी की स्वाक्षपरिक्रमा २४ घण्टों में पूरी हो जाती है, अतएव 'वर्ष' शब्द की उक्त परिभाषानुसार चतुर्विंशति-होरात्मक पार्थिव अहः को 'वर्ष' भी कहा जा सकता है। फलतः अहःकाल अहः भी है, वर्ष भी है।

चन्द्रमा का अहः मानुष अहोरात्र की दृष्टि से जहाँ मास है, वहाँ दक्षवृत्तावच्छिन्न अहर्भाग सम्बन्ध से अहः भी है, एवं पूर्ण परिक्रमा सम्बन्ध से वर्ष भी है। फलतः मास अहः भी है, वर्ष भी है। सूर्य का अहः मानुष अहोरात्र से जहाँ एक वर्ष (३६० अहोरात्र) का है, वहाँ अपनी क्रान्ति-परि-परिक्रमा से यह अपने स्वरूप से भी वर्ष है। साथ ही क्रान्तिवृत्तावच्छिन्न अहर्भाग-सम्बन्ध से अहः भी है। फलतः वर्ष अहः भी है, वर्ष भी है।

### १—मानुषमहोरात्रम् (अहः)

१-अग्निभोगसम्बन्धेन—अहः (२४ होरात्मकम्)

२-स्वाक्षभ्रमणसम्बन्धेन—वर्षम् (२४ होरात्मकम्)

—मानुषमहः, वर्षञ्च।

### २—पैत्रमहोरात्रम्—(मासः)

१-अग्निभोगसम्बन्धेन—अहः (३० अहोरात्रात्मकम्)

२-दक्षभ्रमणसम्बन्धेन—वर्षम् (३० अहोरात्रात्मकम्)

—पैत्रमहः, वर्षञ्च।

### ३—दैवमहोरात्रम्—(वर्षम्)

१-अग्निभोगसम्बन्धेन—अहः (३६० अहोरात्रात्मकम्)

२-क्रान्तिभ्रमणसम्बन्धेन—वर्षम् (३६० अहोरात्रात्मकम्)

—दैवमहः, वर्षञ्च।



प्रतिपादित सपरिलेख 'अहोरात्रस्वरूप' परिचय से इसी निष्कर्ष की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है कि, 'अहः-रात्रि' शब्द तत्त्वतः ज्योतिर्मय अग्नि, तथा तनोमय सोमत्व के वाचक हैं। अग्रे जाकर इन अहः (अग्नि)-रात्रि (सोम) तत्त्वों के भोगकाल भी 'ताच्छ्रव्य' न्याय से अहः-रात्रि, शब्द से व्यवहृत होने लगे हैं। ये तत्त्वात्मक अहोरात्र चार भोगकालों के सम्बन्ध से चार संस्थाओं में विभक्त हैं। उदात्त, अद्यतन-अनद्यतन भेद से चारों के प्रत्येक के दो दो ही शास्त्रीय विवर्त्त हैं, एवं दोनों विवर्त्तों में से अद्यतन-अनद्यतनात्मक ऐन्द्रियारुण, किंवा-मित्रायरुणविवर्त्त रात्रि सौम्या है। एवं अद्यतनानुगत अहः पूर्वकपालस्थ मित्रप्राण सम्बन्ध से मैत्र है, तथा अनद्यतनानु- गता रात्रि पश्चिमकपालस्थ परुरुप्राण के सम्बन्ध से याम्य है। श्रुति में दोनों व्यवहार होते हैं। परन्तु प्रकरणानुसार दोनों को विभक्त करके ही विषय का समन्वय करना चाहिए।

अद्यतनाद्यनानुगतं अहोरात्रम्	अहः	१—“ऐन्द्रमहः” (तै० भा० १।१।४।३) २—“मैत्रं वा अहः” (तै० भा० १।७।१८।१)	{ अद्यतनानुगतं-पूर्वकपाला- यच्छिन्न-“अहः” }
	रात्रिः	१—“रात्रिर्वरूणः” (ऐ० भा० ४।१०) २—“वारुणी रात्रिः” (तै० भा० १।७।१८।१।२।)	
उदयास्तनानुगतं अहोरात्रम्	अहः	१—“अहरेवाग्नेयः” (शत० भा० १।१का० ६।३।२४) २—“यच्छुक्लं तदाग्नेयम् (शत० १का० ६।३।२५) अ० ३।३।४१कं)	{ उदयानुगतं-‘अहः’ }
	रात्रिः	१—“सौम्या रात्रिः” (शत० १।६।३।२४) २—“यत् कृष्णं तत् सौम्यम्” (शत० १।६।३।४१)	

प्रकृत अहोरात्र-चतुष्टयी में आद्यप्रातःकाल

प्रकृत अहोरात्र-चतुष्टयी में माहात्म्याख्यान के साथ मानुष, वैत्र, देव, इन तीन अहोरात्रों का सम्बन्ध है। तीनों स्वतन्त्ररूप से जहाँ 'अहोरात्र' शब्दवाच्य है, वहाँ मानुष अहोरात्र की दृष्टिसे तीनों क्रमशः अहः, मास, वर्ष हैं। अहः के गर्भ में अहः, रात्रि दोनों हैं, मास के गर्भ में शुक्ल, कृष्णपक्ष हैं, वर्ष के गर्भ में उत्तरायण-दक्षिणायन है। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना

२—दैवे-अहोरात्रे—

दैवदृष्ट्या भोगकालः दैवाहोरात्रम्	<p>१-१-देवानां प्रातः—आपादस्यामोत्तराप्रतिपत्</p> <p>२-२- " मध्याह्नः—आश्विनशुक्लपूर्णिमा</p> <p>३-३- " सायम्—पौषशुक्लपूर्णिमा</p> <p>४-१- " निशारम्भः—पौषपूर्णिमोत्तराप्रतिपत्</p> <p>५-२- " मध्यरात्रिः—चैत्रकृष्णामावस्या</p> <p>६-३- " निशावसानम्—अपादकृष्णामावस्या</p>	<p>६ मासात्मकं-उत्तरगोलम् ( देवानां-अहः )</p> <p>६ मासात्मकं-दक्षिणगोलम् देवानां-रात्रिः )</p>
पितृदृष्ट्या भोगकालः दैवाहोरात्रम्	<p>१-१-पितॄणां प्रातः—पौषपूर्णिमोत्तराप्रतिपत्</p> <p>२-२- " मध्याह्नः—चैत्रकृष्णामावस्या</p> <p>३-३- " सायम्—आपादकृष्णामावस्या</p> <p>४-१- " निशारम्भः—आपादस्यामोत्तराप्रतिपत्</p> <p>५-२- " मध्यरात्रिः—आश्विनशुक्लपूर्णिमा</p> <p>६-३- " निशावसानम्—पौषशुक्लपूर्णिमा</p>	<p>६ मासात्मकं-दक्षिणगोलम् ( पितॄणां-अहः )</p> <p>६ मासात्मकं-उत्तरगोलम् ( पितॄणां-रात्रिः )</p>

४—ब्राह्मे-अहोरात्रे—

दैवदृष्ट्या भोगकालः ब्राह्माहोरात्रम्	<p>१-१-देवानां प्रातः—शुक्लश्रावणशुभमनोरूपप्रमः</p> <p>२-२- " मध्याह्नः—आश्विनशुक्लपूर्णिमा</p> <p>३-३- " सायम्—शुक्लसूर्यसावर्णे रूपमंहारः</p> <p>४-१- " निशारम्भः—कृष्णश्रावणशुभमनोरूपप्रमः</p> <p>५-२- " मध्यरात्रिः—कृष्णवैश्वतमनोभोगि कालः</p> <p>६-३- " निशावसानम्—कृष्णसूर्यसावर्णे रूपमंहारः</p>	<p>सूर्यमत्ताभावः ( देवानां-अहः )</p> <p>सूर्याभावः ( देवानां-रात्रिः )</p>
पितृदृष्ट्या भोगकालः ब्राह्माहोरात्रम्	<p>१-१-पितॄणां प्रातः—कृष्णश्रावणशुभमनोरूपप्रमः</p> <p>२-२- " मध्याह्नः—कृष्णवैश्वतमनोभोगि कालः</p> <p>३-३- " सायम्—कृष्णसूर्यसावर्णे रूपमंहारः</p> <p>४-१- " निशारम्भः—शुक्लश्रावणशुभमनोरूपप्रमः</p> <p>५-२- " मध्यरात्रिः—शुक्लवैश्वतमनोभोगि कालः</p> <p>६-३- " निशावसानम्—शुक्लसूर्यसावर्णे रूपमंहारः</p>	<p>सूर्याभावः ( पितॄणां-अहः )</p> <p>सूर्यमत्ताभावः ( पितॄणां-रात्रिः )</p>

१-उदयास्तमनानुगतहोरात्राणां-अवान्तरभोगकालाः  
१-मानुषे अहोरात्रे

<p>देवहव्या भोगकालः मानुषाहोरात्रम्</p>	<p>१-१-देवानां प्रातः-सूर्योदयादुत्तरक्षणम् २-२- " मध्याह्नः-मध्याह्नक्षणम् ३-३- " सायम्-सूर्यास्तात् पूर्वक्षणम् ४-१- " निशारम्भः-सूर्यास्तादुत्तरक्षणम् ५-२- " मध्यरात्रिः-मध्यरात्रिक्षणम् ६-३- " निशावसानम्-सूर्योदयात् पूर्वक्षणम्</p>	<p>१२ होरात्मकः-अहःकालः (देवानां-अहः) १२ होरात्मकः-रात्रिकालः (देवानां-रात्रिः)</p>
<p>पितृहव्या भोगकालः मानुषाहोरात्रम्</p>	<p>१-१-पितॄणां प्रातः-सूर्यास्तादुत्तरक्षणम् २-२- " मध्याह्नः-मध्यरात्रिक्षणम् ३-३- " सायम्-सूर्योदयात् पूर्वक्षणम् ४-१- " निशारम्भः-सूर्योदयादुत्तरक्षणम् ५-२- " मध्यरात्रिः-मध्याह्नक्षणम् ६-३- " निशावसानम्-सूर्यास्तात् पूर्वक्षणम्</p>	<p>१२ होरात्मकः-रात्रिकालः पितॄणां-अहः १२ होरात्मकः-अहःकालः (पितॄणां-रात्रिः)</p>

२-पैत्रे-अहोरात्रे-

<p>देवहव्या भोगकालः पैत्राहोरात्रम्</p>	<p>१-१-देवानां प्रातः-अमोत्तराप्रतिपन् २-२- " मध्याह्नः-शुक्लाष्टमी ३-३- " सायम्-पूर्णिमा ४-१- " निशारम्भः-पूर्णिमोत्तराप्रतिपन् ५-२- " मध्यरात्रिः-कृष्णाष्टमी ६-३- " निशावसानम्-अमावस्या</p>	<p>१५ अहोरात्रात्मकः-अहःकालः (देवानां-अहः) १५ अहोरात्रात्मकः-रात्रिकालः (देवानां-रात्रिः)</p>
<p>पितृहव्या भोगकालः पैत्राहोरात्रम्</p>	<p>१-१-पितॄणां प्रातः-पूर्णिमोत्तराप्रतिपन् २-२- " मध्याह्नः-कृष्णाष्टमी ३-३- " सायम्-अमावस्या ४-१- " निशारम्भः-अमोत्तराप्रतिपन् ५-२- " मध्यरात्रिः-शुक्लाष्टमी ६-३- " निशावसानम्-पूर्णिमा</p>	<p>१५ अहोरात्रात्मकः-रात्रिकालः (पितॄणां-अहः) १५ अहोरात्रात्मकः-अहःकालः (पितॄणां-रात्रिः)</p>

जिन का शतपथादि भाष्यों में यत्र तत्र विस्तार से निरूपण हो चुका है। यहाँ आख्यान-सङ्गति के लिए दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

सम्यत्सर-यज्ञाधिष्ठाता सौर प्रजापति की महिमा (सम्यत्सर मण्डल) में प्रतिष्ठित सौर ज्योतिर्मय-सावित्राग्निगर्भित-इन्द्रप्राणप्रमुख प्राण ही देवता है। परमासात्मक उत्तरायणकाल में ही इन देवप्राणों का साम्राज्य है। अतएव यह काल देवताओं का अहः माना गया है। इस काल में देवता यज्ञसूत्र से युक्त रहते हैं, अतएव इन्हें 'यज्ञोपवीती' माना गया है। "यज्ञसूत्र को वाम स्कन्ध पर डाले हुए अपने दक्षिण जानू को भृष्ट से संलग्न कर वाम जानू को उन्नत कर एक द्विजाति बैठा है," इस स्थिति के साथ उत्तरायणात्मक देवसम्यत्सर-स्थिति का समन्वय करने से स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है। दक्षिणगोलस्थ परमक्रान्तिबिन्दु से भकरवृत्त (गायत्रीछन्द) नामक अहोरात्रवृत्त (पूर्वापरवृत्त) संलग्न है। यहाँ पर जय पृथिवी रहती है, तो सूर्य का दक्षिणायन आरम्भ होता है। एवं उत्तरगोलस्थ परमक्रान्तिबिन्दु से कर्कवृत्त (जगतीछन्द) नामक अहोरात्रवृत्त (पूर्वापरवृत्त) संलग्न है। यहाँ पर जय पृथिवी रहती है, तो सूर्य का उत्तरायण आरम्भ होता है। पृथिवी के दक्षिणायन से सूर्य का उत्तरायण होता है, पृथिवी के उत्तरायण से सूर्य का दक्षिणायन होता है, यही तात्पर्य है।

सूर्य भगवान् मध्यस्थ बृहती छन्द पर (विष्वद्वृत्त नामक मध्यस्थ अहोरात्र के ठीक केन्द्र में) स्थिर रूप से प्रतिष्ठित है, जैसा कि—

"अथ तत् ऊर्ध्वं उदेत्य-नोदोदेता, नास्मेता, मध्ये एकल एव स्थाता । तदेव श्लोकः—'न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन । देवास्तेनाह संत्पेन या विराधिपि ब्रह्मणा' इति । न ह वा अस्मा उदेति, न निम्लोचति । सकृदिवा ईवास्मै भवति, य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद" (छान्दोग्योपनिषद् ३।१।१।)

"छर्पों बृहती मध्युदस्तपति"—"बृहद् तस्यां भुवनेष्वन्तः" ।

इयादि धातु-वचनों से प्रमाणित है। बृहती मध्यस्थ सूर्य के चारों ओर पृथिवी परिव्रमा लगा रही है। जिस वृत्त पर पृथिवी परिव्रमा लगा रही है, यह क्रान्तिवृत्त ज्ञान से प्रसिद्ध है। पृथिवी की परिव्रमा दक्षिणायन है। दक्षिणायन पृथिवी के परिभ्रमण से सौरप्राणार्वाङ्मय सम्यत्सर प्रजापति की यज्ञोपवीती, आर्चोनायकी, निधीनी, भेद से नैन अवस्था हो जाती है। पृथिवी की इस परिव्रमा को दक्षिण-परमक्रान्ति, शरत् क्रान्तिमण्डल, उत्तरपरमक्रान्ति, वसन्त क्रान्तिमण्डल, भेद से चार भागों में विभक्त कर दीजिए। दक्षिण परमक्रान्ति पर जय पृथिवी पहुँचती है; तो सूर्य उत्तरपरमक्रान्ति पर दिखलाई देने लगता है, यह स्थिति देवसिंघि है। उम दिन अहः मय से छोड़ा है, रात्रि मय से ढकी है। दक्षिणपरमक्रान्ति से हट कर पृथिवी शरत् मण्डल पर आती है, यही क्रान्तिपतनलक्षण विषुवसम्पात है। जय पृथिवी शरत्मण्डल पर आती है, तो सूर्य वसन्तमण्डल पर दिखलाई देने

मनुष्यप्रजा अपने एक वर्ष में 'नमः' (अन्न) ग्रहण करती हुई प्रतिदिन भोजन कर रही है, पितर-प्रजा अपने एक वर्ष में 'स्वधा' ग्रहण करती हुई प्रतिदिन अशन कर रही है, एवं देवप्रजा एक वर्ष में 'स्वाहा' ग्रहण करती हुई प्रतिदिन यज्ञान से अनुगत हो रही है। मनुष्य का २४ होरात्मक एक अहोरात्र इस की अपनी पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण की दृष्टि से सचमुच एक वर्ष है। इस सम्बन्ध में महर्षि जैमिनि के द्वारा सिद्धान्तित राद्धान्त ही प्रमाण है। विविध कालभेदभिन्न यज्ञों में एक 'सहस्रवर्षात्मक' सत्रयज्ञ का विधान हुआ है। शब्दार्थतः यह यज्ञ एक सहस्र वर्ष में पूर्ण होता है। भगवान् जैमिनि "सहस्रसम्बत्सररात्रदस्य सहस्रदिनपरताधिकरणम्" (१३) नामक अधिकरण (६ ठे अध्याय, ७ वें पाद, एवं १३ वें अधिकरण) में इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष उठाते हुए कहते हैं

**"सहस्रसम्बत्सरं तदायुषामसम्भ्रान्मनुष्येषु"**

—जैमिनीयमीमांसादर्शन ६ अ० । ७ पा० । १३ अधि० । ३१ सू० ।

अभिप्राय पूर्वपक्ष का यही है कि, जब कि मनुष्य की आयु एक सहस्र वर्ष की असम्भव है, तो ऐसी दशा में ऐसे सत्र का विधान किस आधार पर हुआ ? आगे जाकर खण्डनीय समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, सम्भवतः यज्ञमान, तन्पुत्र-पौत्रादि परम्परा से १ हजार वर्षों में यज्ञानुष्ठान पूरा कर देना, यही तात्पर्य होगा। परन्तु—यह इसलिये सम्भव नहीं है कि, पुरुषार्थसम्बद्ध यज्ञकुल-फलप से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। कर्मफल एक कर्मकर्ता से ही सम्बन्ध रखता है। फिर सहस्र वर्षात्मक सत्रादेश-विधि के मन्वन्वय का क्या उपाय ? सूत्रकार सिद्धान्त स्थापित करते हैं—

**"सम्बत्सरो विचालिच्चात् । सा प्रकृतिः स्यादधिकारात् ।**

**अहानि वाऽभिसंख्याच्चात् । (जै० सूत्राणि ३६।४०।४१) ।**

सत्रयज्ञानुबन्धी सम्बत्सर (वर्ष) शब्द विचाली है। यज्ञनिधान मनुष्य के लिए है। मानुष वर्ष पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण के अनुसार एक अहोरात्र में मन्वन्न हो जाता है। फलतः सहस्रवर्ष का निष्कर्ष सहस्रदिन निकल आता है। यही व्यवस्था पुराणोक्त मानुष आयुभौतिकाल के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। 'अमुक ऋषि ने ३६००० वर्षपर्यन्त तपश्चर्या की' इस वाक्य का अर्थ है—"३६०० दिन" (१०० वर्ष पर्यन्त) तपश्चर्या की" (अहोरात्र की इन समस्याओं को लक्ष्य में रखते हुए ही ब्राह्मणखानान की उपपत्ति पर दृष्टि डालिए

"प्रजापति के समीप देवता-पितर-मनुष्य पहुँचे। देवता यज्ञोपवीती बनकर, साथ ही में दक्षिण जानू को भू पृष्ठ पर लगा कर बैठे। इन्हे प्रजापति की ओर से यज्ञान्न नामक अन्न मिला, अमृत सम्पत्ति मिली, ऊर्ध्व रस मिला, सूर्य का प्रकाश मिला"। इस आख्यानाना में देवता, यज्ञोपवीत, दक्षिण जानू का अर्थः स्थापन, यज्ञान्न, अमृतसम्पत्ति, ऊर्ध्व रस, सूर्यज्योति, इनने तत्त्व अन्वेष्यते हैं,

जिन का शतपथादि भाष्यों में यत्र तत्र विस्तार से निरूपण हो चुका है। यहाँ आख्यान-सङ्गति के लिए दो शब्दों में दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

सम्बत्सर-यज्ञाधिष्ठाता सौर प्रजापति की महिमा (सम्बत्सर मण्डल) में प्रतिष्ठित सौर ज्योतिर्मय-सावित्राग्निगर्भित-इन्द्रप्राणप्रयुक्त प्राण ही देवता है। परमासात्मक उत्तरायणकाल में ही इन देवप्राणों का साम्राज्य है। अतएव यह काल देवताओं का अहः माना गया है। इस काल में देवता यज्ञसूत्र से युक्त रहते हैं, अतएव इन्हें 'यज्ञोपवीती' माना गया है। "यज्ञसूत्र को घामं स्कन्ध पर डाले हुए अपने दक्षिण जानू को भृष्ट से संलग्न कर घाम जानु को उन्नत कर एक द्विजाति बैठा है," इस स्थिति के साथ उत्तरायणात्मक देवसम्बत्सर-स्थिति का समन्वय करने से स्थिति का स्पष्टीकरण हो जाता है। दक्षिणगोलस्थ परमक्रान्तिबिन्दु से मकरवृत्त (गायत्रीछन्द) नामक अहोरात्रवृत्त (पूर्वापरवृत्त) संलग्न है। यहाँ पर जब पृथिवी रहती है, तो सूर्य का दक्षिणायन आरम्भ होता है। एवं उत्तरगोलस्थित परमक्रान्तिबिन्दु से कर्कवृत्त (जगतीछन्द) नामक अहोरात्रवृत्त (पूर्वापरवृत्त) संलग्न है। यहाँ पर जब पृथिवी रहती है, तो सूर्य का उत्तरायण आरम्भ होता है। पृथिवी के दक्षिणायन से सूर्य का उत्तरायण होता है, पृथिवी के उत्तरायण से सूर्य का दक्षिणायन होता है, यही तात्पर्य है।

सूर्य भगवान् मध्यस्थ बृहती छन्द पर (विष्वद्वृत्त नामक मध्यस्थ अहोरात्र के ठीक केन्द्र में) स्थिर रूप से प्रतिष्ठित है, जैसा कि—

"अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य-नैवोदेता, नास्ममेता, मध्ये एकल एव स्थाता।

तदेप श्लोकः—'न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाह

संत्येन या विराधिपि ब्रह्मणा' इति। न ह वा अस्मा उदेति, न निम्लोचति।

सकृदिवा ईवास्मै भवति, य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद" (आन्दोग्योपनिषद् ३।१।१।)

"सूर्यो बृहती मध्युदस्तपति"—"बृहद् तस्यै भुवनेष्वन्तः"।

इ-यादि धौत-वचनों से प्रमाणित है। बृहती मध्यस्थ सूर्य के चारों ओर पृथिवी परिक्रमा लगा रही है। जिस वृत्त पर पृथिवी परिक्रमा लगा रही है, वह क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी की परिक्रमा दक्षिणायन है। दक्षिणायन में पृथिवी के परिभ्रमण से सौरप्राणावाह्यछन्द सम्बत्सर प्रजापति की यज्ञोपवीती, प्राचं-नार्यती, निर्वीती, भेद से तब अवस्था हो जाती है। पृथिवी की इस परिक्रमा को दक्षिण-परमक्रान्ति, शरत् क्रान्तिमम्पात, उत्तरपरमक्रान्ति, यमन्त क्रान्तिमम्पात, भेद से चार भागों में विभक्त कर दीजिए। दक्षिण परमक्रान्ति पर जब पृथिवी पहुँचती है, तो सूर्य उत्तरपरमक्रान्ति पर दिखलाई देने लगता है, यह स्थिति देवस्थिति है। इस दिन अहः गय से छोटा है, रात्रि गय से बड़ी है। दक्षिणपरमक्रान्ति से दूर कर पृथिवी शरत् सम्पात पर आती है, यही क्रान्तिवचनलक्षण विषुवसम्पात है। जब पृथिवी शरत्सम्पात पर आती है, तो सूर्य यमन्तमम्पात पर दिखलाई देने

लगता है, यह स्थिति मनुष्यस्थिति है। इस दिन अहोरात्र समान हैं। शरदसम्पात से हट कर पृथिवी जब उत्तरपरमक्रान्ति पर पहुँचती है, तो सूर्य दक्षिण परमक्रान्ति पर दिखलाई देने लगता है, यही स्थिति पितृस्थिति है। इस दिन यह सब से बड़ा है, रात्रि सब से छोटी है। उत्तर परमक्रान्ति से हट कर पृथिवी जब वसन्त सम्पात पर आती है, तो सूर्य शारद सम्पात पर दिखलाई देने लगता है, यह स्थिति मनुष्य स्थिति है, एवं इस दिन भी वसन्तसम्पातवत् अहोरात्र समान हैं।

- १—पार्थिवदक्षिणपरमक्रान्तिः—सूर्यस्य उत्तरपरमक्रान्तिः—देवस्थितिः  
 २—पार्थिववसन्तसम्पातः—सूर्यस्य शारदसम्पातः—मनुष्यस्थितिः  
 ३—पार्थिवोत्तरपरमक्रान्तिः—सूर्यस्य दक्षिणपरमक्रान्तिः—पितृस्थितिः  
 ४—पार्थिवशारदसम्पातः—सूर्यस्य वसन्तसम्पातः—मनुष्यस्थितिः

१-प्रथिव्याः-उत्तरायणं-दक्षिणपरमक्रान्ती दक्षिणगोलस्थितमकरवृत्तः  
 तदेव सूर्यस्य दक्षिणायनं-उत्तरपरमक्रान्ती-उत्तरगोलस्थितकर्कवृत्तः

२-प्रथिव्या वसन्तसम्पातः, विषुवतः पूर्वविन्दी पृथिवी प्रतिष्ठिता  
 स एव सूर्यस्य शारदसम्पातः, विषुवतः-पश्चिमविन्दी सूर्यः प्रतिष्ठितः

३-प्रथिव्या दक्षिणायनं-उत्तरपरमक्रान्ती-उत्तरगोलस्थितकर्कवृत्तः  
 तदेव सूर्यस्योत्तरायणं-दक्षिणपरमक्रान्ती-दक्षिणगोलस्थितमकरवृत्तः

४-प्रथिव्याः शारदसम्पातः, विषुवतः पश्चिमविन्दी पृथिवी प्रतिष्ठिता  
 स एव सूर्यस्य वसन्तसम्पातः, विषुवतः पूर्वविन्दी सूर्यः प्रतिष्ठितः।

‘पणमासा उत्तरायणम्’ देवस्थिति है, पणमासा दक्षिणायनम् पितृस्थिति है, एवं उभयसम्पातबिन्दु मनुष्यस्थिति है। कारण इस का यही है कि, देवता सौरग्राहप्रधान है, पितर चान्द्रग्राह प्रधान हैं, मनुष्य पार्थिवग्राह प्रधान है। दूसरे शब्दों में मनुष्य पार्थिवग्राह प्रधान है, पितर चान्द्र-

सोमप्रधान हैं, देवता सौर ज्योतिर्लक्षण इन्द्रात्मक बनते हुए इन्द्रप्रधान हैं। पश्मासात्मक उत्तरायण काल में सौर ज्योतिर्मय इन्द्रप्रमुख देवताओं का साम्राज्य है, इस काल में पार्थिव विवर्त्त देवप्राण का भोग्य बना रहता है। पश्मासात्मक दक्षिणायनकाल में चान्द्र सोममय पितरों का साम्राज्य है, इस काल में पार्थिव विवर्त्त पितृप्राण का भोग्य बना रहता है। उभय सम्पन्न स्थिता पृथिवी न देवभोग्या है, न पितृभोग्या है। अपि तु इम समय यह अपने आग्नेयरूप से पार्थिवप्रजा की भोग्या बनी रहती है। एकमात्र इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर उत्तरायण, दक्षिणायन, विषुव, तीनों को क्रमशः देव-पितर-मनुष्य-प्रजा में भुक्त माना गया है।

उत्तरायणकाल में सौर आग्नेय देवताओं का उपचय है, सौम्य पितरों का अपचय है। दक्षिणायनकाल में पितरों का उपचय है, देवताओं का अपचय है। मौरप्राण का उत्तरायण में विकास है, पितर का संकोच है। पितरप्राण का दक्षिण में विकास है, सौर प्राण का संकोच है। उत्तर से दक्षिण की ओर आरोहण करना पितृप्राण का स्वभाव है, दक्षिण से उत्तर की ओर आरोहण करना देवप्राण का स्वभाव है। मध्य-समस्थिति पार्थिव 'मनु' नामक अग्नि का स्वभाव है। स्वयं सम्बत्सरप्रजापति ही इन तीन स्वरूपों में परिणत हो रहे हैं। इन की देवस्थिति 'दक्षिणं जान्वाच्य' है, पितृस्थिति 'सुव्यं जान्वाच्य' है, मानवस्थिति 'उपस्थं कृत्वा' है।

सम्बत्सरप्रजापति को 'महामुपर्ण' माना गया है। दक्षिणगोल इन का दक्षिण हस्त-पादा-त्मक दक्षिणपक्ष है, उत्तरगोल इन का वाम हस्त-पादात्मक वामपक्ष है, मध्यस्थ विषुवदृष्ट मध्याह्न है। दक्षिणगोलस्थ मध्यम बिन्दु ही सूर्योत्तरायणकाल का उपक्रम है। यही इस देवप्राण की उपक्रम-रूपा मूलप्रतिष्ठा है। क्योंकि दक्षिणस्थ मौरप्राण दक्षिण जानू है, यह यहाँ (दक्षिणपरमक्रान्ति) पर प्रतिष्ठित है, अतएव इस देवस्थिति के लिए 'दक्षिणं जान्वाच्य' कहना अन्वर्थ बन रहा है। ६६ अङ्गुली परिमाणत्मक, २७ अयन्तरतममृगश्रमिक, ६ अयन्तरतरमृगश्रमिक, ३ अयन्तरमृगश्रमिक यज्ञमृग इम स्थिति में प्रजापति के पामस्कन्धोपलङ्घित उत्तरपरमक्रान्ति से सम्बद्ध है। दक्षिण परमक्रान्तिस्थ, अतएव 'दक्षिणं जान्वाच्य' वाला देवप्राण इम स्थिति में उत्तरायण का अनुगामी बनना हुआ अपश्य ही उत्तर (वाम) सूत्र से युक्त है, यही इम की यज्ञोपवीतता है जिस का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीता-विज्ञान भाष्यभूमिका-अन्तरङ्गपरिच्छात्मक द्विर्न.यन्त्रण्ड के 'ग' विभाग में 'संस्कारविज्ञान' प्रकरण से सर्वोत्तमता गतार्थ है।

दक्षिण से उत्तर की ओर जाते हुए इन देवताओं में उत्तर से दक्षिण की ओर आते हुए सोम की आहुति होती रहनी है। इसी अग्नि-सोमसमन्वय का नाम 'यज्ञ' है, यही इनका अन्न है। सोम अमृत है। इस अमृतसोमाहुतिरूप यज्ञात्मक अन्न से ही देवता अमृतसम्पत्ति के अनुगामी बने हुए हैं। वृष्टि होने पर वृष्टों के पत्तों में जो एक प्रकार का उल्लास (विस्फोट) आ जाता है, भोजनोत्तर



मनुष्य में जो एक प्रकार की स्फूर्ति आ जाती है, यही 'उर्क' रस है। इन्द्र (अन्न) ही 'उर्क' रस है। इन्द्र (अन्न) ही उर्क का प्रवर्तक है। भूतवल पशुवल है, प्राणवल उर्क वल है। सोमाहुति से देवता इसी ऊर्जवलतत्त्व ज्योतिर्मय विकास से युक्त हो रहे हैं। इस विकास का एकमात्र कारण है— 'यज्ञान'।

जिस प्रकार श्वेतों का अन्न 'स्वधा' कहा जाता है, तथैव देवताओं का यह यज्ञान 'स्वाहा' नाम से व्यवहृत हुआ है। अन्न का अन्तर्व्याप्त सम्बन्ध से प्राण में प्रतिष्ठित हो जाना 'स्वधा' भाव है, एवं यहिरव्याप्त सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होना 'स्वाहा' भाव है, जैसाकि इन शब्द-निर्वचनों से ही स्पष्ट हो रहा है। देवता सावित्राग्निप्रधान हैं। अग्नि का तेजोमय अङ्गिरा से सम्बन्ध है, आगत आहुत अन्न का विशाकलन कर देना इसका स्वभाव है। अग्नि में आहुत सोम अग्नि के इसी विशाकलन स्वभाव से अग्नि में अन्तर्व्याप्त सम्बन्ध से प्रतिष्ठित न होकर केवल बहिरव्याप्त सम्बन्ध से चारों ओर व्याप्त हो जाता है। इसी आधार पर देवताओं के सम्बन्ध में निगम प्रसिद्ध है कि— 'न वै देवा अश्नन्ति, न पिबन्ति, एतदेवामृतं हृष्ट्वा तृप्यन्ति' (आदित्यश्रुति)। इसी आधार लोक में भी यह निषेधन्ती प्रचलित है कि— 'देवता खाते पीते नहीं हैं, अपितु वे तो वासना के भूखे हैं'।

देवाना की इसी उक्त बहिरङ्गव्याप्ति को लक्ष्य में रखते हुए ऋषियों ने इसे 'स्वाहा' शब्द से व्यवहृत किया है। 'स्वमात्मानमन्नाद्—अहोति, यहिरव्याप्नोति, न तु त्वात्मरूपेणान्तर्व्याप्तिसम्बन्धेन प्रविशति'। निर्वचन ही स्वाहा शब्द का तत्त्वार्थ है। अन्न में एक प्रकार का भूरुलक्षण बल है। उस बल से देवता इसी स्वाहा सम्बन्ध से प्रसक्त रहते हैं, अतएव इनके लिए 'अमृतत्वं वः, ऊर्वाः' कहना अतिवर्णित होता है। अपिच असङ्ग तत्त्व अमृत है, सर्वत्र तत्त्व मृत्यु है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा, तदनुगत विद्वान् (बुद्धि), दोनों असङ्ग होने से अमृत हैं। एवं— 'सूर्य आत्मा जगत्स्युपश्र'— 'धियो यो नः प्रचोदयात्' से आत्मा-बुद्धि-दोनों सूर्यांश हैं। इस आध्यात्मिक सौरप्राणदृष्टि से भी 'अमृतत्वं वः' कहना अन्यर्थ बनना है। अद्वैततत्त्वज्ञान परमात्मिक सौर वचरायणकाल ही 'अहः' है, इस ज्योतिर्मय अहोमण्डल में ही देवता प्रतिष्ठित हैं। अतएव 'सूर्यो वो ज्योतिः' कहा गया है। इस प्रकार चान्द्रनाडीप्रज्ञात्मक यज्ञोपवीत से युक्त, दक्षिणमन्त्रप्रतिष्ठा से युक्त सौरदेवता यज्ञान, अमृतत्व, उर्क, सूर्यो ज्योतिः, इन भोगसम्पत्तियों से युक्त हो रहे हैं। इस प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

१— 'ततो देवा यज्ञोपवीतिनो भूत्वा दक्षिणं जान्वाच्य उपासीदन् । तानप्रवीत्—

यज्ञो वोऽन्नं, अमृतत्वं वः, सूर्यो वो ज्योतिः' । इति ।

यथासात्मिक दक्षिणायनकाल में भूम्य पितरप्राण का साम्राज्य है। इस पितृस्थिति से सम्बद्ध सम्यक्संप्रज्ञापति का यज्ञोपवीत उत्तरमोक्षस्य दक्षिणायन विन्दु से उपलब्ध जगतीद्वन्द्व की ओर

है, जिसका दक्षिण पार्श्व दक्षिण गोल है, उत्तर पार्श्व उत्तरगोल है। वामस्कन्ध से दक्षिण कटिपर्यन्त उत्तरायण भाग है, दक्षिण स्कन्ध से वामकटिपर्यन्त दक्षिणायन भाग है। अर्द्धविष्वद्वृत्तात्मक अर्द्धाकाश पुरुषरूपिण का प्रवर्तक बनता है, एवं अर्द्धवृत्तात्मक अर्द्धाकाश स्त्रोमरूपिण का प्रवर्तक बनता है। दोनों के दाम्पत्य से ही पूर्णप्राज्ञपत्य विभूति होती है, जिसका फल प्रजासम्पत्ति माना गया है, जोकि प्रजा इमका प्रातिस्विक बल है। -

सौरप्राण की उत्तर-दक्षिण क्रान्ति २४-२४ अशों तक व्याप्त है। इस प्रकार क्रान्तिभाग गायत्री सम्बन्ध से २४ पर विभान्त है। अतएव तदनुरूप पुरुष की पशु (कैवलियाँ) भी २४ ही होती हैं। क्रान्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर सूर्य इतः-उतः मुड़ जाता है। ठीक वही स्थिति पशु की है। इस प्रकार विष्वद्वृत्तावच्छिन्न खगोलीय सम्बत्सरप्रज्ञापति की जैसी स्थिति है, ठीक वैसी ही स्थिति मनुष्यप्रजा की है। पृथिवी सम्बन्ध से, किंवा पार्थिव स्वाक्षपरिभ्रमण सम्बन्ध से इस का अशनकाल चतुर्विंशति होरात्मक अहोरात्र है। विषुवद्वदृष्ट्या ये प्रायुत हैं। दाम्पत्य-दृष्ट्या प्रजा इनकी प्रातिस्विक सम्पत्ति है। 'यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृद्युनाप्तम्' (शत० १०।१।६।) से मृत्यु इन का स्वाभाविक धर्म है। पार्थिवप्रजात्वेन अग्नि इन का ज्योतिर्मण्डल है। मानवप्रजा की इस स्वाभाविक स्थिति का ही स्पष्टीकरण करते हुए आख्यानश्रुति ने कहा है—

३—“अथैनं मनुष्याः प्रावृताः (समस्तवयुक्ताः) उपस्थं कृत्वा उपासीदन् । तान-  
ब्रवीत्-सायं प्रातर्वोऽशनं, प्रजा वः, मृत्युर्वः, अग्निर्वो ज्योतिः” ।

आख्यान का '४-५-६' पतन् संख्याक उत्तरांश पूर्वोक्त अर्थ से ही गतार्थ है। इस आख्यान रहस्य से हमारी किन्तनी एक ऐसी शङ्काओं का निराकरण हो जाता है, जिन्हें आगे कर 'आद्य' जैसे आधारयक कर्म पर अनेक कुराङ्गाओं को अवसर मिल जाना आज सम्भव बन गया है।

प्राणविधामूलक आद्यकर्म—

प्राणप्रमथोक्त पिण्डपितृयज्ञ कुछ एक ऐसी परिभाषाओं का स्पष्टीकरण कर रहा है, जिनसे परिचय प्राप्त करने के अनन्तर अद्वानुवर्ग को यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि, अवश्य ही पितृप्राण चान्द्रसंस्था से सम्बन्ध रखने वाला प्राणविशेष है, एवं यही प्रजोत्पादन कर्म की (महानात्माद्वारा) प्रतिष्ठा बनता है। प्राकृतिक पितृप्राणतत्त्व के साथ महानात्मरूप से प्रतिष्ठित पुत्रादि के प्रेतपितर प्रति अमावास्या को चीलकाय रहते हैं। साथ ही इस तिथि में चान्द्र अधोभाग के सोमानुगमन से पुत्रादि का अद्यासूत्र पुष्ट रहता है, जिस का चान्द्रोर्ध्वभागस्थ स्वप्रेतपिण्डों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस अद्यासूत्रद्वारा मौक्तिक पिण्डदान से अवश्यमेव उन्हें रुचि मिलता है। यह दृष्टि 'पिता-पिता-मह-प्रपितामह' इन तीन पिण्डभाक् पितरों से सम्बन्ध रखती है। शेष वृद्ध-अतिवृद्ध-वृद्धातिवृद्ध, नामक तीनों लेपभाक् पितर इन के साथ ही पिण्डगत लेपांश से रुच हो जाते हैं। यथाविधि पिण्डदान करने

पाला पुत्र—‘अथ अवजिप्रति प्रत्यवधाय पिण्डान्’ (शतपथब्राह्मण) के अनुसार परम श्रद्धा से पिण्डों को सूँघता है। इस के इस व्यापार से पिण्डप्राण इस के आध्यात्मिक श्रद्धासूत्र में अन्तर्ग्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित हो जाता है। श्रद्धासूत्र में प्रतिष्ठित पिण्डप्राण लक्ष्मीभूत चान्द्रलोकस्थ प्रेतपितरों की वृत्ति का अवश्यमेव स्वधात्र बन जाता है। पुत्र के सूँघने के अनन्तर पिण्डतत्त्व शून्य हो जाता है। इसे गोपशु को खिला दिया जाता है। अवश्यमेव इस प्राकृतिक वैज्ञानिक प्रक्रिया से पिण्डगत सौम्यप्राण, जो कि सौम्य पितरों की, किंवा सौम्य पितृपिण्डों की मज्जानीय सम्बन्धेन वृत्ति का साधन है, पुत्र के श्रद्धासूत्र में प्रतिष्ठित हो जाता है, एवं तद्द्वारा बन की स्वधा बन जाता है। यह निर्विवाद है कि, प्राण-तत्त्व भारशून्य है, साथ ही इन्द्रियातीत भी। इस के निकल जाने से भूतभार कम नहीं होता, आजाने से भूतभार बढ़ नहीं जाता। माथ ही इस का आगमन-विनिर्गमन भी रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द-तन्मात्रा युक्त इन्द्रियों से अतीत है। क्योंकि प्राण स्वयं तन्मात्रातीत है।

लौकिक दृष्टान्त लीजिए। बासी भोजन में यह स्वाद नहीं रहता, जो सद्योभोजन में होता है। कारण—अमृतमात्रा का विनिर्गमन। प्रत्येक अन्न में दधि, मधु, घृत, अमृत, ये चार रस रहते हैं। दधि पार्थिवरस है, घृत आन्तरिचरस है, मधु मॉररस है, अमृत पारमेष्ठ्य सौम्यरस है। आद्या रसत्रयी, भूतप्रधाना है, अतएव इस का अनुभव इन्द्रियों से हो जाता है। सौम्य अमृतरस प्राणत्मक है, अतएव इस का अनुभव केवल इन्द्रियातीत-अतीन्द्रिय प्रज्ञान मन की ही होता है। प्राणत्मक इसी रस का हम ‘स्वाद’ (जायका) शब्द से अभिनय किया करते हैं। इन्द्र-प्राण का यह सौम्य रस प्रिय अन्न है। ‘इन्द्रतुरीया ब्रह्मा गृह्यन्ते’ (शत० ४।६।३।३।) न्याय से प्रत्येक वायुक्षेत्र में एक चतुर्थांश इन्द्र की प्रतिष्ठा रहती है। इसी वायु के सम्पर्क से तद्गत इन्द्र अन्न-गत सौम्य रस का रोपण कर लेता है। तप्त (उष्ण) भोजन में जो स्वाद है, यह ठंडे में नहीं। ज्यों ज्यों कालातिक्रमण होता जाता है, अन्नगत सौम्य रस इन्द्रद्वारा निकलता जाता है, त्यों त्यों ही अन्न अस्वादु बनता जाता है। मगरा रात्रि के वारुण विष के समावेश से तो यह सर्वथा ही नीरस बन जाता है। अतएव पातयाम (गनरस) अन्न तो सर्वथा ही अप्राप्त माना गया है। विगुह घृत-नैल से पर्य पदार्थों में कुछ समय पर्यन्त (जबतक घृत-नैलमात्रा सुरक्षित रहती है) रस का विनिर्गमन नहीं होता। अनन्तर तनु-मय पर्यन्त (अन्नजानि के अनुसार २-२-३-८ दिनों पर्यन्त) व्याघ्र मासपी दूषित नहीं होने पाती।) वक्ष्यांसा यही है कि, सौम्य प्राण के निकल जाने से भोजन अस्वादु हो जाता है। पारोप्य दुग्ध में जो रसमात्रा है, वह कालान्तर में नहीं रहती। क्या इस स्वादु-पाकरस-ओऽम्य-भानुवर्द्धक-सौम्य-प्राणका निर्गमन आँवों से देखा जा सकता है? क्या इसने निकल जाने से व्याघ्रभार कम होता देखा गया है? नहीं, तो पिण्डप्राण के सम्बन्धमें ही यह पुराणा क्यों?। मधुमक्षिका पुष्पगत प्राणत्मक मधुरस का रोपण कर लेती है। परन्तु न व्याघ्र देवता, न ह्रस्व। न पुष्पों का भार ही कम होता। ठीक यही परिस्थिति यहाँ सम्पन्न। ‘अतीन्द्रियानमवेदान्—न तैर्वैर्यं योजयेत्’ ही शेष-पन्था है।

## आदिकर्मानुगत धातुपरिभाषाविज्ञान—

वस्तुस्थिति वास्तव में यह है कि, आज वेदों की प्राणविद्या सर्वथा विलुप्त है । दर्शनानुगत भूतदृष्टि के निग्रह से, एवं प्रचलित जड़ भूतवाद के अनुग्रह से प्राणदृष्टि सर्वथा विस्मृत है । अतएव कभी 'पितर' का अर्थ जीवित पितरादि किया जाता है, और उच्च प्रेत-पितरों के समर्थक वचन उपलब्ध होते हैं, तो या तो षोडशमूर्ति की उपेक्षा कर उन प्रकरणों का अनर्थ किया जाता है, अथवा तो सुलभसाधनभूत प्रक्षेप-शब्द का आश्रय ले लिया जाता है । कभी 'देव' का अर्थ विद्वान् किया जाता है, जय-कि-देवा अर्हन् देवाः' रूपसे श्रुतिने प्राणत्मक देवतत्त्व, तथा—'अथ ये शुश्रूषांसोऽनूचानास्ते ब्राह्मणा देवाः' इत्यादिरूप से विद्वान् देवताओं का सर्वथा पार्थक्य प्रमाणित किया है । वेदमन्त्र स्पष्ट शब्दों में यह सिद्ध कर रहे हैं कि, आहवनीयाग्नि में हुन आहुति प्राणरूप से बल्लोक में जाती है, एवं इसके आकर्षण से यज्ञमान का भूतात्मा मानुष-आयुर्भागानन्तर देवस्वरूप में परिणित होता हुआ बल्लोक में प्रतिष्ठित हो जाता है । ऋत्विजों के द्वारा प्रयुक्त ऋक्-यजुः-साममन्त्रों से तत्त्वात्मिका ऋक्-यजुः-सामत्रयीद्वारा यज्ञमान का एक अपूर्व ऋक्-यजुः-साममय देवमूर्ति दिव्यमंस्कार उत्पन्न होता है, जिसे यज्ञपरिभाषा में 'देवात्मा' कहा जाता है, जैसा कि—'देवोऽस्यात्मा, मानुषोऽन्यः' इत्यादि से प्रमाणित है । त्रयीसंस्कार से संस्कृत आहुतिमय यह देवात्मा यज्ञमान के मानुषात्मा (भूतात्मा) से अन्तर्धान, सम्बन्ध से बद्ध होता हुआ बल्लोक में प्रतिष्ठित होता है । क्योंकि ऋत्विजों के कर्म से इम नवीन आत्मा का उदय होता है, अतएव उनका आत्मानुशय भी इसमें प्रतिष्ठित रहता है । इनके इम अनुशय को इस देवात्मा से पृथक् कर इसे केवल अग्नौ सन्धि बनाने के लिए दो ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है । बिना दक्षिणा का यज्ञ परानुशय से हत (अपूर्ण) रहना है । इसीलिए अन्न में दक्षिणा-होम होता है । मुझे परलोक में पूर्ण फल मिले, इस उद्देश्य से होने वाला दक्षिणा-होम अवश्य ही दक्षिणाप्राण से इस के देवात्मा के साथ युक्त हो जाना है । इस प्रकार आगे आगे यज्ञातिशयरूप देवात्मप्राण स्वर्ग में जाता है, इसके साथ दक्षिणाप्राण जाता है, तदनुगत यज्ञमानान्ना स्वर्ग में जाता है । निम्न लिखित श्रुति विस्पष्ट शब्दों में इस स्थिति का स्पष्टीकरण करता हुई यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण बन रही है कि, पार्थिव भौतिक माध्यमों के द्वारा इन्द्रियार्ततः प्राणों का एक लोक से दूसरे लोक के साथ सम्बन्ध हो जाना सर्वथा प्राकृतिक है, युक्ति-तर्क-विज्ञान-प्रमाणानुमोदित है, अतएव सर्वथा आस्येय, एवं श्रद्धेय है ।

“ता वाऽएताः—ऋत्विजामेव दक्षिणाः । अन्यं वाऽएतऽएतस्यात्मानं—संस्कुर्वन्ति-एतं-यज्ञं-ऋद्धमयं, यजुर्मयं, साममयं, आहुतिमयम् । सोऽस्यायुर्मिंल्लोकऽयात्मा भवति । तद्ये मामजीनन्त इति, तस्माद्विगम्य एव दक्षिणा दद्यात्, नानृत्विगम्यः । अथ प्रतिपरेत्य गार्ह-

पत्यं दक्षिणानि जुहोति । 'देवलोकं मेऽप्यसत्' इति वै यजते, या यजते । सोऽस्यैष यज्ञो देवलोकमेवामिभ्रैति, तदनृची दक्षिणा—यां ददाति—सैति, 'दक्षिणामन्वारम्य यजमानः' ( यजमानस्य भूतात्मा देवात्मना यज्ञरूपेणाकर्षितः ) ( शत० ४ का० २३।३५, ६, ) ।

जिस प्रकार आद्विरस तेजोमय अद्वासूत्र के द्वारा देवात्मा, दक्षिणाप्राण, आहुति, आदि चतुर्लोक में प्रतिष्ठित होते हुए देववृत्ति के कारण बनते हैं, एवमेव भार्गव स्नेहमय अद्वासूत्र के द्वारा पितरप्राण अथवा ही पिण्डप्राण से वृत्त होते हैं । पिण्डप्रधानलक्षण, पितृप्राणपूरक यही पितृकर्म ब्राह्मणग्रन्थों में 'पिण्डपितृयज्ञ' नाम से व्यवहृत हुआ है, जिसे आधार बना कर हमारा स्मार्त पार्वणश्राद्धकर्म प्रतिष्ठित है । पिण्डपितृयज्ञ में जिन पितरों का पिण्डदान से यजन घटलाया गया है, वे पितर जीवित पिता-पितामहादि नहीं हैं । अपितु चान्द्रलोकस्थ सौम्यप्राणायामक पितर हैं, जिनके लिए— 'मासि-मासि वो ऽशनम्' यह व्यवस्था हुई है । इसी सौम्यभाव के कारण अमावास्या तिथि में ही इनका यजन होता है । पूर्व-अपरविद्धा अमावास्या में नहीं, अपितु 'दर्श' नाम की सूर्येन्दुसङ्गमरूपा अमावास्या में । इस की जो उपपत्ति घटलाई गई है, वह प्रमाणित कर रही है कि, यह पिण्डपितृयजन प्राणपितर से ही सम्बद्ध है ।

सूर्येन्दुसङ्गमरूपा अपराहृदयव्यापिनी अमा दर्श है । अर्थात् तिथिक्षय न होने पर पूर्व ( चतुर्दशी ), उत्तर ( प्रतिपदा ) से अविद्धा पूर्णा अमा ही दर्श नाम की अमावास्या है । चतुर्दशीविद्धा अमावास्या 'सा चट्टेन्दुः सिनीवाली' के अनुसार 'सिनीवाली' कहलाई है । चान्द्रकिरण-सम्बन्ध में बालमात्र प्रमाण से यह प्रकाशित है । अतएव 'बालमात्रादु श्वेता' नियन्त्रण से इसे सिनीवाली कहना अन्वर्थ बनता है । प्रतिपदविद्धा अमावास्या 'सा नष्टेन्दुकला कुहूः' के अनुसार 'कुहू' नाम से प्रसिद्ध है । चतुर्दशी-अमा के एक हो जाने से चन्द्रकिरण का दर्शन है, एवं अमा-प्रतिपदा के एक हो जाने से एक चन्द्रकला का दृश्य है । ऐसी तिथिक्षयरूपा पूर्वोत्तरविद्धा दोनों अमावास्या प्रकाशयुक्त बनती हुई अक्षीण ( प्रकाशयुक्त ) हैं । इसी प्रकाश सम्बन्ध से इन्हें देवपत्नी माना गया है, जैसा कि निम्न लिखित निरुक्त वचन से प्रमाणित है—

“सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः । या पूर्वा ( चतुर्दशीविद्धा ) अमा—वास्या, सा सिनीवाली । या उत्तरा ( प्रतिपदविद्धा ), सा कुहूः” इति विद्यापते”

—या० नि० ६० या० ११ । ३० ।

सिनीवाली, कुहू, दोनों में देवप्राण का सम्बन्ध है । अतएव इन अमावास्याओं में यदि पिण्डपितृयज्ञ किया जायगा, तो आग्नेय देवप्राण, तथा सौम्य पितरप्राण, दोनों में शोभनलक्षण

समद (कलह) हो जायगा, पिण्डयज्ञ अपूर्ण रह जायगा। अतः पूर्णमासास्थालक्षणा उभयथा अविद्या सूर्येन्दुमङ्गमरूपा दर्श नाम की अमा में ही यह कर्म होना चाहिए। इस प्रकार पिण्डपितृयज्ञ के लिए दर्श की व्यवस्था करती हुई आश्विनश्रुति प्राणालम्ब पितरों की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है। देखिए—

“तद्वा एतत् मासि मास्येव पितृभ्यो ददतः । यदैवैष (चन्द्रमा) न पुरस्तात् पश्चात् ददशे, अथैभ्यो ददाति । एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः । स एतां रात्रिं क्षीयते । तस्मिन् क्षीये ददाति, तथैभ्योऽसमदं करोति । यदक्षीणे दद्यात्—समदं ह कुर्व्यादेवैभ्यश्च पितृभ्यश्च । तस्माद्यदैवैष न पुरस्तात् पश्चाददशे, अथैभ्यो ददाति” (शानपथब्राह्मण)

दर्श अमावास्या में सौर माण्डवेयताओं के सम्बन्ध से पितरप्राण आत्यन्तिकरूप से क्षीण है, उधर श्रद्धासूत्र अक्षीण है। मिनीवाली, बुद्ध में पितरप्राण आशिकरूप से क्षीण है, फलतः श्रद्धासूत्र क्षीण है। क्षीण पितरों को अक्षीण श्रद्धासूत्र से पिण्डद्वारा वृत्त करने के लिए क्षीणपितृप्राणालम्बिका-अक्षीणश्रद्धाभावप्रयत्निका दर्श-अमा ही उपयुक्त है, यही तात्पर्य है। तीनों अमाओं में से दर्श अमा का ही ग्रहण क्यों किया गया?, इस प्रश्न की यही उत्पत्ति है। दर्श अमा को पिण्डपितृयज्ञ करना, इस निश्चय के अनन्तर काल का प्रश्न उपस्थित होता है। पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न, भेदमे अहःकाल तीन भागों में विभक्त है। पूर्वाह्न का अस्तनलक्षण देवप्राणमय अहः से सम्बन्ध है, अपराह्न का अस्तनलक्षण पितृप्राणमयी रात्रि से सम्बन्ध है, मध्याह्न का विध्यन्-से सम्बन्ध है। पूर्वाह्नकाल सौरप्राणप्रधान बनता हुआ उत्तरायण से अनुगत है, अतएव यह देवयजनकाल है। अपराह्नकाल चान्द्रप्राणप्रधान बनता हुआ दक्षिणायन से अनुगत है, अतएव यह पितृयजनकाल है। मध्यह्नकाल पाथिप प्राणप्रधान बनता हुआ मध्यस्थ विध्यन्-युक्त से युक्त है, अतएव यह मनुष्ययजनकाल है। इस कालव्यवस्था के अनुसार पितरप्राणवृत्ति के लिए अपराह्नकाल ही उपयुक्त माना गया है। इसी कालत्रयी की व्यवस्था करते हुए भगवान् याज्ञवल्क्य कहते हैं—

“स वा अश्वराह्णे ददाति । पूर्वाह्णे वै देवानां, मध्यन्दिनो मनुष्याणां, अपराह्णः पितॄणाम् । तस्मादपराह्णे ददाति ।”

पहिले से नियत ‘हविर्धानशकट’ में से पिण्डार्थ हविर्द्रव्य का आहरण होता है। यह शकट गार्हपत्यागार से पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित रहता है। पिण्डार्थ हविर्द्रव्य लेने के लिए यह प्राचीनोदीती बन कर दक्षिण दिशा की ओर बैठता है। कारण स्पष्ट है। पितरप्राण दक्षिणसंस्थ ही चतुर्ज्ञाय गया है।

देवयज्ञ में गृहीत हविर्द्रव्य का जहाँ तीन बार फलीकरण (वितुपीकरण) होता है, वहाँ इस पितृयज्ञमें एक बार ही फलीकरण होता है। सौर देवप्राण की गति प्राणन-अपानन् भाव से सम्बन्ध रहती है। आगे बढ़ना प्राणन है, पीछे हटना अपानन् है, दोनों गतियों का नियमन केन्द्रविन्दुलक्षणा स्थितिरूपा व्यानगति से होता है। इस प्रकार प्राणन-अपानन-व्यानन रूप से देवप्राण तीन गतिभावों से युक्त है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है—

“आयं गौः पृथिनरक्रमीदसन् मातरं पुरः पितरं च प्रयन्त्स्वः ।

अन्तरचरति रोचना अस्य प्राणादपानती व्यख्यन् महिषो दिवम् ॥

—यजुःसंहिता ३ । ६, ७ ।

अपि च-एति-प्रेतिभावस्मिका गायत्री के सम्बन्ध से भी देवप्राण त्रिःसत्य माना गया है। इधर सौम्य पितरप्राण, जो कि ‘प्रेतभाव’ से ही युक्त है, केवल अपानन व्यापार का ही अनुगामी है। जो पितर एक बार चन्द्रलोक में चला जाता है, वह इसी प्रेति-भाव से वापस नहीं लौटता। यही इस का सकृन्-भाव है। यहाँ से पराङ्-चला जाना ही इन का सकृन्-व्यापार है। ऐसे सकृन्-धर्मा पितरों के लिए गृहीत हविर्द्रव्य का (अनुरूपता के लिए) सकृन् (एकवार) ही फलीकरण अपेक्षित है। प्राचीन-नावीती धन कर, दक्षिणसंस्थ हो कर हविर्भक्षण करना, एवं गृहीत हविर्द्रव्य का सकृन्-फलीकरण करना प्राणपितर की ओर ही हमारा श्रद्धान कर रहा है—

“स जघनेन गार्हपत्यं-प्राचीनावीती भूत्वा दक्षिणासीन एतं गृह्णाति । सकृन् फलीकरोति । सकृदुक्षेप पराञ्चः पितरः । तस्मात् सकृन् फलीकरोति” ।

पिएडप्रदान काल में प्रदाता एक श्वास-प्रश्वास काल पर्यन्त अपना मुख (हृष्टि) दूसरी ओर कर लेता है। कारण स्पष्ट है। प्राणात्मक पितर मनुष्यों के लिए ‘तिर-इध’ है। पितरप्राण की इसी स्वरूपरक्षा के नाते यह किया विहित है। कर्म समाप्त्यनन्तर प्रदाता अपनी नीची (अधोपश्रवन्धन) का स्पर्श करता हुआ ६ बार नमस्कार करता है। नीची में पितर प्राण रहता है, अतएव नीचीयन्धन पितृदेवत्व कहलाया है। पिएडप्राण प्रथम पङ्क्यतुरूप आन्तरिह्य पितरों में प्रतिष्ठित रहता है, श्रुतु-द्वारा चन्द्रलोकस्थ पितरों की लुप्ति का कारण बनता है। इसी प्राकृतिक पितृप्राण-स्थिति को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति कहती है—

“अथ पराङ् पर्यावर्त्तते । तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः । तिर इदं तद् भवति ।

अथ नीचीमुदृष्ट्वा नमस्करोति । पितृदेवत्वा वै नीचिः । पट् कृत्यो नमस्करोति ।

पङ् वाऽश्रुतवः । श्रुतवः पितरः । तस्मात् पट् कृत्यो नमस्करोति” ।

इस पिण्डपितृयज्ञ की आशीः (फल) क्या ?, इस प्रश्न का समाधान करती हुई अन्त में श्रुति कहती है कि, श्रद्धासूत्रद्वारा प्रदत्त पिण्डप्राण पिता-पितामहादि के पिण्डप्राणों को वृत्त करता है, यही उन का इस सन्तति के प्रति आनुरूप है, यही इस श्राद्धकर्म का एक फल है। श्रद्धात्र से सृष्ट पितर उसी श्रद्धासूत्रद्वारा स्वसन्तानगत पितृपिण्डों को सबल बनाते हुए इन के गृहस्थाश्रम को सुरक्षित रखते हैं, प्रजातन्तुवितान के कारण बँटते हैं। अतएव यह नित्यकर्म 'काम्यनित्यकर्म' माना गया है—

**"गृहान्नः पितरो दत्त" इति। गृहाणां ह पितर ईशते। एषा उ एतस्य-आशीः कर्मणः। अथ-श्रवजिप्रति प्रत्यवधाय पिण्डान् (स यजमानभागः)। अर्गनां सकृ- दाच्छिन्नान्यम्यादधति, पुनरुन्मुकमपिसृजति" (शत० २।४।२ ब्रा०)।**

दर्श अमावास्या ही श्राद्धकाल है, पितर मज्जन हैं, तिर इव हैं, नीचीबन्धन पितृ देवत्व है, इन सब विधानों का मूलधार पितरप्राणस्वरूप-परिचय है, जिसे न जानने के कारण ये शास्त्रीय कर्म भ्रान्त जनों की उपाहास सामग्री बने हुए हैं। निबन्ध के द्वितीय खण्ड में पितर प्राण का विस्तार से विनियोग किया जा चुका है। यहाँ उक्त श्रोत-यचन समन्वय की दृष्टि से दो शब्दों में इस का सिद्धान्तोक्त कर प्रकृत परिच्छेद समाप्त किया जाता है।

ज्योतिर्मय इन्द्रप्रमुख अयस्त्रिरातं (३३) विध प्राण 'देव' है। तमोमय वृत्रप्रमुख नवतीनेय (६६) विध आत्यप्राण 'असुर' है। एवं छायामय अग्निप्यात्ताप्रमुख अप्रविष्ट सौम्य प्राण पितर है। सौम्य पितरप्राण सात्व्य प्राण होने से छायाप्रधान है। यही कारण है कि, श्राद्धादि पितृकर्म निराचरण भ्रान्त में न कर साधरण भ्रान्त में ही किया जाता है। पितृकर्म में उन्मुक ग्रहण भी इसी आशय से हुआ है। पितरप्राण के मार्गप्रदर्शन की भावना से ही उन्मुक विधान हुआ है। बन्धन विमोक्त देव-प्राण का धर्म है, रुद्रबन्धन आसुरप्राण का धर्म है, एवं शल्य बन्धन पितृप्राण का धर्म है। नीची-बन्धन क्योंकि शल्यबन्धन है। एकमात्र इसी आधार पर नीची पितृदेवत्वा मान ली गई है। प्राण-ग्रभी के इस स्वरूप का निम्न लिखित शब्दों से स्पष्टीकरण हो जाता है—

'ज्योति, छाया, तम' ये तीन स्थान क्रमशः देवता, पितर, असुर, प्राणों की आवासभूमि हैं। सूर्यप्रकाश (धूप) में देवप्राण प्रतिष्ठित है, रात्रि के निविडान्धकार में असुरप्राण प्रतिष्ठित है। एवं प्रकाश-तम की सन्धिरूपा छाया में पितर प्राण प्रतिष्ठित है। दूसरा उदाहरण लोजिए। भूगर्भ-जहाँ घोर अन्धकार है, बुद्ध नहीं दिखलाई पड़ता, वहाँ असुरप्राण का साम्राज्य है। भूपृष्ठ पर देवप्राण का साम्राज्य है। एवं कूप-गर्तादिमें जहाँ छायामय प्रकाश है, जिस की सत्ता से तत्रस्थ वस्तु दिखलाई पड़ती है, पितर प्राण का साम्राज्य है। देवता सर्वथा अदृश (प्रकट) हैं, असुर सर्वथा अनदृश हैं, पितर उभय-धर्मा होने से 'तिर इव' है। निम्न लिखित वचन तीनों के इसी ज्योति, तम, तिर, धर्मों का समर्थन कर रहे हैं—



देव-पितर-असुरभाव-समर्थकनिगमाः—

१—“तद्वै देवानां देवत्वं, यदस्मै समृजानाय दिवेयास” (शत० ११।१।६।७) ।

२—“अदरेव देवाः” (शत० २।१।३।१।)

देवाः ३—“अदर्वै देवाः सूर्यः” (शत० १।१।२।११) ।

(उयोतिः) ४—“अदर्वै देवा अधयन्त” (ऐ० ब्रा० ४।५)

५—“सं उयोतिषा भूमेति, सं देवैरभूमेत्येवैतदाह” (शत० १।६।३।१४) ।

६—“अमृता देवाः”

प्रकाराः  
(सिनीवाली)

१—“तिर इव वै पितरः” (शत० २।६।१।१६)

२—“अथ इव हि पितृलोकः” (शत० १४।६।१।१०) ।

पितरः ३—“पितृदेवत्यो वै पूषः स्वातः” (शत० ३।६।१।१३) ।

(छाया) ४—“ह्रीका हि पितरः” (ऐ० ब्रा० १।३।१०।६)

५—“मृत्युर्वै तमरछाया” (ऐ० ब्रा० ७।१२।)

६—“मर्त्याः पितरः” (शत० २।१।३।४।)

छाया (वरीः)

१—“नतमसुरानमृजत” (ऐ० ब्रा० ४।५।)

२—“रात्रीमसुरा अधयन्त” (ऐ० ब्रा० ४।५।)

असुराः ३—“अन्यो रात्रिः” (तां० ब्रा० ६।१।७।११)

(तमः) ४—“तमः पाप्मा रात्रिः” (गो० ब्रा० ३०।४।३।)

५—“पराभूता असुराः” (शत०

अध्वचारः  
(१६ः)

धादोपकरणों की गोमान्मकता—

मृतात्मा (महानात्मा) की मृत्ति के लिए पुत्रादि के द्वारा पिण्डदान-आश्रयभोजनारूप में होने वाला वैज्ञानिक कर्म ही भाट है। इस ऋषिकर्म में काज, उच्य, मार्ग, प्राजिगन्धान, प्राजिपात्र,

आदि सभी सौम्य हैं। यही सजातीय सोमानुबन्ध इस आह्वयकर्म की मूलप्रतिष्ठा है। चान्द्रलोकस्थ प्रेतपितर अनुयोगी हैं, भूलोकस्थ सन्ततिवर्ग प्रतियोगी है, कालादि आतिवाहिक है, प्रदत्त पिण्डादि स्वधात्र है, एवं ये चारों ही आह्वयकरण सौम्य हैं। विधूर्ध्वभागस्थ पितर सौम्य हैं, इन पितरों में प्रतिष्ठित आत्मधेयरूप पितृपिण्ड सौम्य है, जिस (शरद्ऋतु में) ये प्रतिष्ठित हैं, वह ऋतु सौम्य है। इस प्रकार पितर-पितृपिण्ड (आत्मधेयपिण्ड), ऋतु, तीनों अनुयोगी सौम्य हैं। पिता के २१ तन्य सौम्य-पिण्डों को ऋण लेकर उत्पन्न होने वाली अपत्य (संतान) सौम्य है, इनका अभ्रमय मन सौम्य है, मन में प्रतिष्ठित अक्षरस सौम्य है। इस प्रकार अपत्य, तन्मन, तच्छ्रद्धा, तीनों प्रतियोगी भी सौम्य हैं। वारुण जलातिशय में उत्पन्न चावलों का पिण्ड सौम्य है, अभ्रपिण्डगत वह प्राणात्मक रस, जो वायु से उद्भूत होकर चान्द्रनाडी के द्वारा चन्द्रलोक में पहुँच कर अह्वयगत प्रेतपितरों की वृत्ति का कारण बनता है, सौम्य है। इस दृष्टि से अक्षत, तत्पिण्ड, पिण्डरस, तीनों स्वधामसम्पत्तियों भी सौम्य ही हैं। सूर्येन्दुसङ्गमरूपा दर्शात्मिका अमावास्या (पार्थिव अधोभागात्मक चान्द्रसदृष्ट्या) सौम्या है, चन्द्रमा से पृथिवी पर्यन्त व्याप्त चान्द्ररश्मियाँ सौम्या हैं। भूषुष्ट से सूर्यपर्यन्त पति-प्रेति भावरूपेण व्याप्त गायत्रीछन्द द्वारा चान्द्रलोकस्थ पितृसहों में, 'एति' व्यापार से, चान्द्रपितृसहों से आरम्भ कर सन्ततिगत महानात्मा के तन्य सहों में 'प्रेति' व्यापार से व्याप्त चान्द्ररश्मियाँ सौम्य हैं। इस प्रकार अमातिथि, चान्द्ररश्मि, सहास्यनुगता चान्द्ररश्मि, तीनों की समष्टिरूप आतिवाहिक सम्पत्ति भी सौम्या है। फलतः प्रतियोगितः, अनुयोगितः, आतिवाहिकतः, निवापतः, चारों दृष्टियों से आह्वयकरण सौम्य बन रहे हैं।

१—अपत्यसन्तानः सौम्यः

१ २—तस्येदं मनः सौम्यम्

३—मनोऽनुगता अह्ना सौम्या

—इति-प्रतियोगितः सौम्यभावाः ।

१ तण्डुलानि सौम्यानि

२ २—पिण्डाः सौम्याः

३—चान्द्ररश्मिगतोऽक्षरसः सौम्यः

—इति-निवापतः सौम्यभावाः ।

१—पितरः सौम्याः

२ २—आत्मधेयपिण्डाः सौम्याः

३—ऋतुः सौम्यः

—इति-अनुयोगितः सौम्यभावाः ।

१—दर्शतिथिः सौम्या

४ २—चान्द्ररमयः सौम्याः

३—सहोऽनुगता रमयः सौम्याः

—इति-आतिवाहिकतः सौम्यभावाः

प्रेतात्मवृत्तिप्रवर्तकं श्राद्धकर्म—

जिस प्रकार आह्निरस आग्नेय भावों का तेजोमयी मानसी अद्वा के द्वारा आदान होता है, एवमेव इन चारों भार्गव सौम्य भावों का स्नेहमयी मानसी अद्वा के द्वारा पितरों में प्रदान हो जाता है। विद्यात्मिका धरादीक्षा से दीक्षित सच्चिद्रूप मनोगमिता बुद्धिदृष्टि से आग्नेय है, इस की मनोगमिता बुद्धि आग्नेयी है, मनोगमिता बुद्धिमें प्रतिष्ठित तेजोमयी अद्वा आग्नेयी है। तीनों की समष्टि प्रतियोगिनी आग्नेयी सम्पत् है। त्रयोविद्याराशि आग्नेयी है, तद्भिन्न वेदशास्त्र आग्नेय है, वेदशास्त्राधारेण — स्वप्न संस्कार आग्नेय है। तीनों की समष्टि निष्पातः आग्नेयी सम्पत् है। शुक्लद्वितीया तिथि आग्नेयी है, गुरु से शिष्य पर्यन्त—शिष्य से गुरुपर्यन्त व्याप्त बुद्धिसूत्र आग्नेय है, गुरु की तेजोमयी आग्नेयी गायत्री से सम्यक् बुद्धिरिमयी आग्नेयी है। तीनों की समष्टि आतिवाहिकतः आग्नेयी सम्पत् है। प्रवृद्ध विद्वानदृष्ट्या गुरु आग्नेय है, गुरुगत विद्यात्मक संस्कार आग्नेय है, वेदाध्ययानुकूलं पूर्वाह्नकालोपलक्षिता श्रुतु आग्नेयी है। तीनों की समष्टि धानुयोगितः आग्नेयी सम्पत् है। इन चारों आग्नेय परिग्रहों के प्रचय से मनोयोगद्वारा गुरुप्रदत्ता विद्या का जिस प्रकार शिष्य में आधान हो जाता है, तथैव पूर्वोक्त चारों सौम्य भावों के प्रचय से निष्पन्न मोक्षतत्त्व पुत्र के श्रद्धामय मनोयोग से अवश्य ही प्रेतात्मवृत्ति का कारण बन जाता है।

श्राद्धकर्मभेदमीमांसा—

यह श्राद्धकर्म पार्वण, एकोदिष्ट, महालय, आदि भेद से विविध श्रेणियों में विभक्त है। प्रतिमास की पर्वारिमिका अमायास्या तिथि के अपराह्नकाल में पिता-पितामह—अपितामह की वृत्ति के लिए होने वाला पर्वारिमिक मासिक श्राद्ध 'पार्वणश्राद्ध' है +। प्रेतपितर की निधन वार्षिक तिथि को होने वाला श्राद्ध 'एकोदिष्ट श्राद्ध' है, जिसे कि वृद्धिनिमित्तकश्राद्ध भी कहा गया है ॥ महानात्मारूप सौम्य

+ "अमावस्यां यत् क्रियते तत् पार्वणमुदाहृतम्।

क्रियते पर्वणि वा यच्चत् पार्वणमुदाहृतम् ॥"

—भविष्यपुराण

\* पूर्वाह्णे मातृकं श्राद्धमपराह्णे तु पितृकम् ( पार्वणम् )।

एकोदिष्टं तु मध्याह्णे प्रातर्बुद्धिनिमित्तकम् ( काम्यमिदम् ) ॥"

पितरों की आवासभूमिरूप चान्द्रमण्डल ही 'महालय' (महानात्मरूप पितरों का आलयस्थान) है। सौर आश्विनीयकृष्णपक्ष में (गजच्छायायुगत कालात्मक इन १५ दिवसों में) महालयस्थ सौम्यपितर क्षीणकारपरूप से तत्तद्दर्शपथों के श्रद्धात्मक मन में (चान्द्रश्रद्धानाड़ी के द्वारा) प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इस गजच्छाया से सम्बन्ध रखने वाला कन्यागत महालय आध्वपत्नीय आध्व 'महालय' आध्व है ×। वर्ष में १५ दिन के लिए चान्द्रलोकस्थ पितरप्राण गजच्छाया के द्वारा स्वस्वरूप से क्षीण रहते हैं। इस पक्ष में इन के लिए अवश्यमेव श्रद्धानुगमन अपेक्षित है। पञ्चाङ्गुलित्वरूप हस्त नक्षत्र से भिन्न एक वाहू के आकार का पञ्च नक्षत्रात्मक हस्त नक्षत्र और है। इस का आकार हाथी की मूँठ जैसा है। इसीलिए यह 'गज' भी कहलाया है। भाद्रपदशुक्ल त्रयोदशी से इस गजच्छायायोग का आरम्भ माना गया है -। इसी योग में श्रद्धामूत्र के मूलप्रभव 'श्रु' तत्त्व का पूर्ण रूप से हमारे मनोराज्य में आधान होता है। कैसे ?, और क्यों ?, के समाधान के लिए निम्न लिखित आध्व प्रमाण ही शरणीकरणीय है -

“सविता वां अकामयत-‘श्रुत्’ मे देवा दधीरन् सविता स्याम्’ इति । स एतं सवित्रे हस्ताय पुरोडाशं द्वादशकपालं निरवक्षत्-आशनां व्रीहीणाम् । ततो वै तस्मै ‘श्रुत्’ देवा अश्नुत, सविताऽभवत् । ‘श्रुत्’ ह वा अस्मै मनुष्या दधते, सविता समानानां भवति, य एतेन हविषा यजते” ।

श्रद्धाकर्मनुगता-कालमीमांसा—

जिस दिन से उक्त गजच्छाया-लक्षण योग आरम्भ होता है, उस दिन से पितरप्राण (सौम्यप्राण) भूमण्डल की ओर आने लगता है। कार्तिक कृष्ण अमावास्या को ये पितर पराङ्मुख होते हैं। इस

× “येयं दीपान्विता राजन् ! ख्याता पञ्चदशी भुवि ।

तस्यां दद्यान्नचेद्दत्तं पितॄणां वै महालये ॥”

—भविष्यपुराण

÷ “यदेन्दुः पितृदेवत्ये हंसश्चैव करे स्थितः ।

याम्या तिथिर्भवेत् सा हि गजच्छाया प्रकीर्तिता ॥

कृष्णपक्षे त्रयोदस्यां मघास्विन्दुः करे रविः ।

यदा, तदा गजच्छाया धाद्वे पुण्यैरवाप्यते ॥

योगो मघात्रयोदस्यां कुजश्छायापसंज्ञितः ।

मवेन्मघायां संस्ये च शशिन्यर्के करे स्थितः ॥

अमावास्यां गते सोमे छाया या प्राङ्मुखी भवेत् ।

गजच्छाया तु सा प्रोक्ता तत्र आध्वं प्रकल्पयेत् ॥”

सौम्य विद्युत् के विकास से पूरे आश्विनमास में, विशेषतः गजच्छाया-भोगकाल में आकाशचरित्र द्रष्टव्य होता है। सर्वत्र उत्कृष्ट, नक्षत्रादि पात के दृश्य अतिशय रूप से उपलब्ध होते हैं। इन्हीं सब प्राकृतिक पितृ-स्थितियों के आधार पर इस कन्याराशिगत महालयश्राद्ध का विधान हुआ है। मरणानन्तर होने वाले पौडश श्राद्ध, प्रतिमास में होने वाला पार्वणश्राद्ध, निधनतिथि को होने वाला क्षयाहश्राद्ध, महालयश्राद्धपक्ष में होने वाला एकोदश श्राद्ध, आदि सब श्राद्ध कर्मों का एकमात्र तात्पर्य है—मरणानन्तर चन्द्रलोक में जाते हुए प्रेतत्मा के महत् पिण्ड में वलाधान करते हुए उसे सुखपूर्वक गमनातुरात बनाना, एवं चन्द्रलोक में पहुँचे हुए तत्काल तिथि-समय-विशेषों में क्षीणपिण्ड बने हुए महत् पिण्ड को तृप्त करते रहना। फल है—पितृवृत्ति, गोत्रशृद्धि, जैसा कि प्रकरणोपसंहार में स्पष्ट होने वाला है। यही 'श्राद्ध' नामक तीसरा आनुष्य कर्म है, जिस के आधार पर प्रथम-द्वितीय आनुष्यकर्म प्रतिष्ठित हैं।

गजच्छायापलक्षित हस्तनक्षत्रवत् मघा-पूर्वफल्गुनी-उत्तरफल्गुनी, हस्त, चित्रा, स्वाती, इन ६ नक्षत्रों के साथ भी पितर प्राण का घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। इन में भी मघानक्षत्र पितरप्राण का प्रधान प्रवर्त्तक माना गया है। इन सब परोक्ष विषयों के लिए ऋषिदृष्टिलक्षणा श्रुति ही हमारे लिए अत्यप्रमाणानपेक्ष स्वतःप्रमाण है। महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

१—उपहृताः पितरो ये मघासु मनोजवसः सुकृतः सुकृत्याः ।

ते नो नक्षत्रे हवमागमिष्ठाः स्वधाभिर्यज्ञं प्रयतं जुपन्ताम् ॥

२—ये अग्निदग्धा येऽनग्निदग्धा येऽमुं लोकं पितरः क्षियन्ति ।

यांश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म मघासु यज्ञं सुकृतं जुपन्ताम् ॥

३—पितरो वा अकामयन्त-पितृलोके ऋधुयामेति । त एतं पितृभ्यो

मघाभ्यः पुरोडाशं पटकपालं निरवपत् ॥ —तैत्तिरीयब्राह्मण

सर्वान्त में—

श्राद्धकर्म, और ब्राह्मणभोजन—

कुछ एक ऐसे कुतर्क शेष रह जाते हैं, जिनका समाधान करना सर्वथा अप्राप्त है। क्यों कि—जिन की ओर से इस वैज्ञानिक-वेदशास्त्रसिद्ध-श्राद्धकर्म के प्रति जैसे कुतर्क उपस्थित होते हैं, उन व्यक्तियों का, तथा उनके कुतर्कों का लोक-वेदोभयदृष्टि से उभयथा कुछ भी महत्त्व नहीं है। हमें तो आश्चर्य केवल यह देख-सुन कर होता है कि, अतीन्द्रियप्राणविद्या का आविष्कार करने वाले इस देश का ऐसा बौद्धिक-पतन कैसे, और क्यों हो गया। जिस देशने पिण्ड में ब्रह्माण्ड के दर्शन किए, जिस देशने विश्वातीत परात्पर जैसे असीम तत्त्व का स्पर्श कर डाला, जिस देशने प्राण-समन्वयमूला यज्ञ-

विद्या के आधार पर 'ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते' यह उद्घोष किया, उसी—देश की, उसी ऋषिस्तुति की कृपा से आज उसी देश का तत्त्ववाद हम प्रकार उपहासस्पद बन जायगा, यह कौन जानता था। महाआश्चर्य उस वेदनिष्ठा पर, महा आश्चर्य उन वेदमत्तों की निष्ठा पर, जो वेदतत्त्ववाद से अस्तरप्रुष्ट रहते हुए भी एकद्वेलया वैदिक कर्मों को अवैदिक कह-कर प्रायश्चित्त के भागी बन रहे हैं।

वेदयित् ब्राह्मण के शरीर में सर्वदेवमूर्ति सान्त्तपन अग्नि प्रोत्थित रहता है। जिस प्रकार—ब्राह्मणीयकुण्डसमिद्ध अग्नि सामिधेनी—मन्त्रप्रभाव से अलौकिक बनता हुआ गृहलोक—में हव्यवहन धरने में समर्थ है, एवमेव ब्राह्मण का अग्नि भी इस कर्म में पूर्ण समर्थ है। पुत्रद्वारा श्रद्धा से दत्त स्वधात्र ब्राह्मण के द्वारा पितृवृत्ति का अवश्यमेव कारण बनता है, इस अलौकिक रहस्य को किसी भी कुतर्क से आवृत नहीं किया जा सकता, जबकि साक्षान् वेदमन्त्र इस का समर्थन कर रहे हैं। देविया—

१—“हममोदनं निदधे ब्राह्मणेपु पिष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।

स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुधा मे अस्तु॥” (अथर्वमं० ४। ३४। ८)।

२—“न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।

सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशास्तिपाः॥” (अथर्व० ४। ३८। ६)।

३—“इदं मे ज्योतिर्मृतं हिरण्यं पक्वं चेत्रात् कामदुधा मे एषा।

इदं धनं निदधे ब्राह्मणेपु कृण्वे पन्यां पितृपु यः स्वर्गः॥” (अथर्व ११। १। २८)।

४—“ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वान्लोकान्तसमुत्तुते।

ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः॥” (अथर्व १८। १। ३३)।

श्वान, वाक, आदि भी ब्राह्मकर्म में बलि के पात्र बनते हैं। परलोक जाते हुए पितरप्राण पर यान्य ख्याव-शबल नामक श्वा-प्राणों का आक्रमण होता है। इन्हीं प्राणों की श्वानप्राणी में प्रधानता है। इस भूतात्मक श्वानवृत्ति से वह प्राणात्मक श्वान तृप्त होता हुआ पितर के लिए अहिंसक बन जाता है, जैसा कि निम्न लिखित श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों से प्रमाणित है।

१—अतिद्रव श्वानां सारमेयां चतुरर्धौ शबली साधुना यथा।

अथा पितृन्सुविदत्रां अपीहि यमेन ये सधमार्दं मदन्ति।

२—यौ ते श्वानौ यमरचितारौ चतुरर्धौ पथिपदी नृचक्षसा।

ताभ्यां राजन्न परिधेयो न स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि। (अथर्व १८। २। ११। १२)।

३—श्यामश्च त्वा ना श्वलश्च प्रेषितो यमस्य यो पथिरक्षी श्वानो ।  
अर्वाडेहि मा विदीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ (अथर्व ८।१।६)।

४—द्रो श्वानो श्याव-श्वलो नैवस्वतकुलोद्भवौ ।  
ताभ्यामर्च प्रयच्छामि स्यातावेतावहिंसकौ ॥ (स्मृतिः)

पितृपिण्डमूर्ति चान्द्रसोमात्मक महानात्मा, सौम्य पितरप्राण, सौम्या श्रद्धा, सोममय स्वधा अन्न, इत्यादि सम्पत्तियों का स्वयं वेद में बड़े आदोष के साथ प्रतिपादन हुआ है। प्रमाणनिष्ठा के नाते उनमें से कुछ एक ध्येयन यहाँ भी उद्धृत कर देना अप्रासङ्गिक न होगा।

महान्-१—स नो महौ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः ।

धियो वाजाय हिन्यतु" (ऋक् संहिता १।२७।११)।

२—"क इमं वो नियमा चिकेत वत्सो मातर्जनयत् स्वधाभिः ।

बह्वीनां गर्भो अपसामुपस्थान् महान् कविर्निश्चरति स्वधावान्

—ऋक्सं० १।६।४।४।

३—"नि वेवेति पलितो दूत आस्यन्तर्महार्चरति रोचनेन ।

वष्षि विभ्रदमिनो विचष्टे महद्देवानामंसुरत्वमेकम् ॥" (ऋक्सं० ३।४४।६)

४—"पवमान स्वविंदो जायमानोऽभवो महान् ।

इन्द्रो विश्वौ अभीदसि" (ऋक्सं० ६।४६।४)।

५—"महौ असि सोम ज्येष्ठ उग्राणामिन्द्र ओजिष्ठः ।

युध्वा सञ्छश्वाजिगेथ" (ऋक्सं० ६।६६।१६)।

६—"भद्रा वस्त्रा समन्यावसानो महान् कविर्निवचनाति शंसन् ।

आ वच्यस्व चम्बोः पूयमानो विचक्ष्णो जागृविदेववीती ॥ "

(ऋक्सं० ६।६७।२)।

७—"पवस्व सोम महान् समुद्रः पिता ।

देवानां विश्वामि धर्म" (ऋक्सं० १।१०६।४)।

८—"तद्वै स प्राणोऽभवत्-महान् भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिष्या वित्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि" ॥ (शत० ७-४-१-२१)।

—x—

पितरः—१—“स्वधया परिहृता, अद्रया पयूटा, दीक्षया गुप्ता,

यत्रे प्रतिष्ठिता, लोको निधनम्” (अथर्व १२।५।३)।

२—“चन्द्रमाः-नक्षत्राणि-पितरः-एतन्निवनम्” (जै० उ० ब्रा० १।१६।२।)

३—“प्रजापतिर्निधनम्पितृभ्यः प्रायच्छन्” (जै० उ० उ० १।१३।२)

४—“अमंवास्या निधनम्” (पङ्क्ति० ब्रा० ३।१।१)।

५—“सा उदक्रामत्, सा पितृनामच्छन्, तां पितरोऽञ्जत, सा मासि सममञ्चत् । तस्मात् पितृभ्यो मासपुरमास्यं ददति । प्र पितृपालं पन्यां जानाति, य एवं वेद” (अथर्व ८।३।३)।

६—“उदीरतामवर उत्तरास उन्मध्यमाः, पितरः मोम्यामः ।

अमुं य ईषुरष्टका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ (ऋक् १०।१५।१)।

७—“ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यां उ च प्रविद्म ।

त्वं वेत्थ पति ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञं सुकृतं जुास्व ॥ (ऋक् ८।१०।१५।१३)।

८—“ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।

तेभिः स्वराडसुनीतिमेतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व” ॥ (ऋक् ८।१०।१५।१४)।

९—“आसीनो अरुणीनामुपस्थे रयिं घत्त दाक्षुपे मर्त्याय ।

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्ये वस्यः प्र यच्छन्त त इहोर्जं दधात ॥ (ऋक् ८।१०।१५।१५)।

१०—“यो अग्निः कल्पवाहनः पितृन यत्तद्वतावृधः ।

प्रेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ” ॥ (ऋक् ८।१०।१५।१६)।

११—“आधत्त पितरो गुर्भं कुमारं पुष्करक्षत्रम् ।

यथेह पुरुषोऽजात्” (यजुः सं० २।३३।७)।

१२—“नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः पितरो

जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो धोराय । नमो-

वः पितरो मन्यवे, नमो वः पितरः, पितरो नमो वः । गृहान्नः

पितरो दत्त धृतो वः पितरो देष्मैतदः पितरो वाम आधत्त” (यजुः सं० २।३२।१)।



त एने-पितृनिगमा भवन्ति, पितृप्राणस्वरूपपरिचायकाः—

- १—“मनुष्या वै जागरितं, पितरः सुप्तम्” ( शत० १२।६।२।२। ) ।
- २—“तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिष्पापयन्ति” ( शत० १३।२।१।७। ) ।
- ३—“तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः” ( शत० १३।२।२।१। ) ।
- ४—“अन्तर्हितो हि पितृलोको, मनुष्यलोकान्” ( तै० ब्रा० १।६।२।६। ) ।
- ५—“अथ इह हि पितृलोकः” ( शत० १३।३।१।१०। ) ।
- ६—“पितृणां वा एषा दिक्, यन्-दक्षिणा” ( प० ब्रा० ३।१। ) ।
- ७—“दक्षिणसंस्थो वै पितृयज्ञः” ( कौ० ब्रा० ७।७। ) ।
- ८—“अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, पितृषु तर्हि भवति, पितृंस्तर्ह्यभिगोपायति” ( शत० २।१।३।३। ) ।
- ९—“मासि पितृभ्यः क्रियते” ( तै० ब्रा० १।६।६।१। ) ।
- १०—“तृतीये वा इतो लोके पितरः” ( तै० ब्रा० १।६।६।७। ) ।
- ११—“इन्द्र इव हि पितरः, मन इव” ( ता० ब्रा० ६।६।१६-२०। ) ।
- १२—“ओषधिलोको वै पितरः” ( शत० १३।२।१।२। ) ।
- १३—“शरद्वेमन्तः शिशिरस्तं पितरः” ( शत० २।१।३।१। ) ।
- १४—“क्षत्रं वै यमः, विशः पितरः” ( शत० ७।१।१।४। ) ।
- १५—“अन्तर्भाजो वै पितरः” ( कौ० ब्रा० १६।२। ) ।
- १६—“पितृणां मघाः” ( तै० ब्रा० १।६।१।२। ) ।
- १७—“गृहाणां पितर ईशते” ( शत० २।४।२।२४। ) ।
- १८—“हरणभागा हि पितरः” ( तै० ब्रा० १।३।१०।७। ) ।
- १९—“एतद्ध वै पितरो मनुष्यलोके आभक्ता भवन्ति, यदेषां प्रजा भवति”  
( शत० १३।२।१।६। ) ।
- २०—“यत् पीतत्वं, तत् पितृणाम्” ( प० ब्रा० ४।१।१। ) ।
- २१—“स्वधा वै पितृणामन्नम्” ( तै० ब्रा० १।६।६।४। ) ।
- २२—“पितरो नमस्याः” ( शत० १।४।२।३। ) ।

निष्कर्षतः—१—“श्रुतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः” (अथर्व १०।७।११)

२—“शृण्वन्तु मे श्रद्धावानस्य देवाः” (अथर्व ४।३।४।७) \*

३—“यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा ।

श्रद्धा तमद्य विन्दतु दद्या सोमेन वध्रुणा” (अथर्व ५।७।५।१)—इत्यादि मन्त्र—

वर्णन के अनुसार श्रुत-श्रद्धा-आपोमय परमेष्ठीब्रह्म से सम्बद्ध,—

१—“सरस्वति या सरथं ययाथोकथैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।

सहस्रार्धमिदो अत्र भागं रायस्योपं यजमानाय धेहि ॥ (अथर्व १०।१।४३) ।

के अनुसार पारमेष्ठिनी सरस्वती वाक् से युक्त-निधन सामात्मक चन्द्रमा के ऊर्ध्व भाग में प्रतिष्ठित पितरों की श्रद्धासूत्रद्वारा—

१—“आहं पितृन्सुविदत्रां अविस्ति नपातं च विक्रमणं च विन्योः ।

परिपदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः” (अथर्व १०।१।४५) ।

के अनुसार पिण्डसोम से वृत्त करना ही आहुतिकर्म है । मनोमयी भार्गव श्रद्धा ही क्योंकि इस कर्म की मूलप्रतिष्ठा है, अतएव यह तृतीय आनुष्ठय कर्म ‘श्रद्धा’ नाम से व्यवहृत हुआ है । श्रद्धातत्त्व की इसी मूलाधारता का विश्लेषण करते हुए स्मार्त आचार्यों ने कहा है—

१—आद्धे श्रद्धा यतो मूलं तेन आद्धं प्रकीर्तितम् ।

तस्मिन् प्रक्रियमाणे तु न किञ्चिद् ध्यर्थतां प्रजेत् ॥ ( नागरखण्डे ) ।

२—देशे काले च पात्रे च विधिना हविषा च यत् ।

तिलैर्दर्भैश्च मन्त्रैश्च आद्धं स्यात् श्रद्धयान्वितम् ॥ ( बृहस्पतिः ) ।

३—यद्दाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।

तत् पितृणाञ्च भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥ ( मनुः )

४—श्रद्धा पवित्रं सर्वेषां पवित्राणां प्रकीर्तितम् ।

श्रद्धैव धर्मं परमं पावनञ्चैव सर्वदा ॥

\* “देवाः पितरः, पितरो देवाः” (अथर्व ६।१।२।३।३) ।

५-श्रद्धाभूतानि भूतानि पवित्राणि सदैव तु ॥

श्रद्धा तु माता भूतानां श्रद्धा श्रद्धेष्टु शृण्वते ॥ (नन्दिपुराणम्)

६-विधिहीनममृष्टाच्च मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तद्धै रक्षांसि भुञ्जते ॥ (यमः)

७-श्रद्धया बोध्यते बुद्धिः श्रद्धया शोध्यते मनः ।

श्रद्धया प्राप्यते ब्रह्म श्रद्धा पापविमोचनी ।

तस्मादश्रद्धाधानस्य हविर्नार्शनन्ति देवताः ॥ (वीधायनः)

८-श्रद्धान्वितेन मनसा यद्यत् किञ्चित् समाचरेत् ।

तच्छु बहुफलं तस्य जायते लोकयोद्धर्योः ॥

९-श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।

देवश्रद्धानरा देवाः कथिता देवभाजिनः ॥

१०-पितृश्रद्धाश्च पितरो दैत्यश्रद्धा दितेः सुताः ।

पापश्रद्धास्तथा पापा विज्ञेया नरकङ्गमाः ॥

११-तस्माच्छ्रद्धां समास्थाय धर्मं धर्मी समाचरेत् ।

पुण्यं बहुफलं तस्य श्रद्धामास्थाय यत् कृतम् ॥ (विष्णुधर्मोत्तर)

१२-प्रेतान् पितृश्च निर्दिश्य भोज्यं यत् प्रियमात्मनः ।

श्रद्धया दीयते यत्र तच्छ्राद्धं परिकल्पितम् ॥ (श्राद्धकल्प)

१३-संस्कृतं व्यञ्जनाद्यं च पयोदधिघृतान्वितम् ।

श्रद्धया दीयते यस्मात्-श्राद्धं तेन निगद्यते ॥ (बृहस्पतिः) ।

इति-श्राद्धकर्मात्मकं तृतीयमानुष्यं कर्म

## ४—अथ गयाश्राद्धात्मकं चतुर्थमानृत्यं कर्म—

गयाश्राद्धानुगत आनृत्यविज्ञानोपक्रम—

प्रजोत्पादनकर्म में स्वमहानात्मानुगत ५६ पितृवृण्णकलाओं की ३५ कलाओं से आनृत्य प्राप्त हुआ, मरिचककरण से शेष २१ कलाओं से आनृत्य प्राप्त हुआ, एवं पार्वणादि श्राद्धों से क्षीणपिण्ड-वृष्टि द्वारा आनृत्य प्राप्त हुआ। इस प्रकार चान्द्रलोकस्थ महानात्मा का जो वृण्ण पुत्रादि पर था, इन तीन कर्मों से पुत्रादि सर्वथा अनृणा बन गए। अतएव प्रश्न होना स्वाभाविक है कि, स्थानविशेष (गया-गयाजी) में जा कर पितृपुत्र में, अथवा तो उपलब्ध अन्य अनुकृत मुहूर्त में जो 'गयाश्राद्ध' नामक एक कर्मविशेष धर्मशास्त्रों में विहित है, उस का किस आत्ममुक्त से सम्बन्ध है?, प्रकृत परिच्छेद इस प्रश्नसमाधि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

लघुहान्माओं का यथास्थान विलयन—

स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र महानात्मा, पार्थिव भूतात्मा, इन्द्रियर्गा, आदि की समष्टि ही 'अध्यात्मम्' है। 'तदन्तरप्रतिर्चा रंहति—( गच्छति ) सम्परिवृत्तः ( भूतवृद्धमेभ्यः ) प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' ( व्याससू० ३।१।१। ) के अनुसार भूतवृद्धों से अङ्ग गुप्तामात्र अतिवाहिक शरीर धारण कर पाञ्चमीतिक स्थूलशरीर से जब भूतत्मा उत्क्रान्त होता है, तो अङ्ग-क्तादि कलाएँ स्व-स्वप्रभय स्थानों में लीन हो जाती हैं। अव्यक्तांश स्वयम्भू में अपीत हो जाता है, यज्ञांश परमेष्ठी में विलीन हो जाता है, विज्ञानात्मा परज्योति ( सूर्यज्योति ) में उपमग्न हो जाता है, महानात्मा पूर्वकथनानुसार क्रम से चन्द्रोर्ध्वभाग में चला जाता है, वागिन्द्रिय त्रिषत्स्तोमावच्छिन्न पार्थिव अग्नि में, प्राणैन्द्रिय ( प्राणैन्द्रिय ) पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आन्तरिद्य वायु में, चक्षुरिन्द्रिय एकदशस्तोमावच्छिन्न दिव्य आदित्य में, मंक्लपविकल्पात्मक भास्वरसोमात्मक इन्द्रियमन त्रिणव-स्तोमावच्छिन्न भास्वरसोमात्मक चान्द्रतेज में, श्रोत्रेन्द्रिय त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न दिक्मोम में अपीत हो जाते हैं। वायव्य हंमात्मा ( जो कि दन्तोत्पत्ति-सहकाल में छायागुरुपरूप से शरीर में प्रविष्ट होता है ) अपने पाण्डुरातल में चला जाता है। रह जाता है एकदश भूतत्मा, जिसे कर्मभोगार्थ लोकान्तर में शुभो-शुभकर्मभोग के लिए चला जाता है, जैसा कि आत्मगतिविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से पतलाया जाने वाला है। कर्मभोग, किंवा शुभाशुभफलभोग भूतात्मा को इसी अवस्था का स्पष्टीकरण करती हुई वृहदारण्यक धृति कहती है—

“यथास्य पुरुषस्य मृतस्य-अग्निं ( प्रति ) वागप्येति, वातं प्राणः,  
चक्षुरादित्यं, मनश्चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं, पृथिवीं शरीरं, आकाशमात्मा  
( अव्यक्तात्मा ), ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः, अप्सु लोहितं  
च रेतश्च निर्धीयते। क्वापं तदा पुरुषो भवति” १, इति। आह मोम्य

हस्तं, आर्चभागाऽऽत्रामेवैतस्य वेदिप्यावो न नावेतत् सजन इति । तां  
होत्क्रम्य मन्त्रयाञ्चक्रते । तौ ह यदुचतुः—कर्म हेव तदुचतुः । यत्  
प्रशशंसतुः,—कर्म हेव तत् प्रशशंसतुः—पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा-  
भवति, पापः पापेन—इति । ततो ह जारत्कारव—आर्चभाग उपरराम” ।

—बृहदारण्यकोपनिषद् ३।२।१३ ।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिए कि, 'ये वै के चास्मान्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्र-  
मसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' ( कौ० भा० उ० १।२। ) के अनुसार चन्द्रलोक में जाते हुए सौम्य सहोमूर्ति  
महानात्मा के साथ एक बार कर्मात्मा को भी अवश्य ही चन्द्रलोक में जाना पड़ता है, चाहे वह  
पुण्यातिशय से युक्त हो, अथवा तो पापातिशय से । दोनों के चन्द्रलोक में ( १३ मासात्मक एक चान्द्र-  
सम्बत्सरकाल में ) पहुँचने के अनन्तर महानात्मा तो चन्द्रमा में ही रह जाता है, पर आतिषाहिक  
शरीरावच्छिन्न कर्मात्मा स्वकर्मात्मात्मा उत्तर-दक्षिण, दोनों अयनों में से किसी एक मार्ग का ( कर्म-  
भोग के लिए ) आश्रय ले लेता है । चन्द्रमा ही कर्मगतिक का विभाजक बनता है, अतएव इसे 'द्वार'  
कहना अभ्यर्थ बनता है ।

‘गया’ प्राणस्वरूपविज्ञान—

‘असङ्गोऽहं पुरुषः, न सज्जते, न व्यथते, न रिप्यति’ के अनुसार सौर विज्ञानात्मा  
सर्वथा असङ्ग है । मानसप्रस्थिविमोक के अन्यवहितोत्तरक्षण में यह एक निमेषमात्र में सौरविज्ञानधन  
में विलीन हो जाता है । इसके सम्बन्ध में प्रेतात्मा के पुत्रादि के लिए कोई कर्तव्यकर्म शेष नहीं  
रह जाता । चन्द्रलोकस्थ महानात्मा से आनृत्य प्राप्त करने के लिए, तथा उसे बन्धन विमुक्त करने के  
लिए प्रजोत्पादन—सपिण्डीकरण, तथा श्राद्ध करना पड़ता है । इस कर्मश्रयी से चान्द्र महानात्मा मुक्त हो  
जाता है । अब शेष रह जाता है—कर्मभोग कर्मात्मा, जिसे कर्मभोग—सामर्थ्य के लिए कुछ एक  
नवीन साधन जुटाने पड़ते हैं ।

भोगायतन, भोगसाधन, आदि के बिना भोक्तात्मा कर्मभोग में सर्वथा असमर्थ है । शरीर  
भोगायतन है । स्थूलशरीररूप भोगायतन—‘पृथिवी शरीरम्’—‘भस्मान्तं शरीरम्’ इत्यादि के अनुसार  
यही भस्मीभूत हो जाता है । इस क्षतिपूर्ति के लिए इसे अपूर्व भूतसूक्ष्मों से अपूर्व प्रेतशरीर धारण  
करना पड़ता है, जोकि भूतसूक्ष्मात्मक प्रेतशरीर—‘आतिवाहिकशरीर’ नाम से भी व्यवहृत हुआ है ।  
इन्द्रियवर्ग, प्रधान ( इन्द्रियसञ्चालक मन ), विज्ञान ( प्रज्ञानसञ्चालिका बुद्धि ), ये भोगसाधन हैं । महा-  
नात्मा चित्-प्रतिष्ठारूप होने से कर्मात्मा की प्रतिष्ठा है । इस प्रकार जब तक शरीर, इन्द्रियवर्ग, मन,  
बुद्धि, महान्, इन पाँचों सम्पत्तियों का वैश्वानर—तैजस—प्राणमूर्ति कर्मात्मा को सहयोग प्राप्त नहीं हो

जाता, तब तक यह भोग करने में सर्वथा असमर्थ है। ऊपर पूर्वोक्त बृहदारण्यकश्रुति के अनुसार स्थूल-शरीर के निधन के साथ साँ ही ये सम्पूर्ण साधन स्व-स्वप्रभों में विलीन हो जाते हैं। इसे भोगानुगत बनाने के लिए ही अपूर्व भूतसूक्ष्मरूप सूक्ष्मशरीर का, अपूर्व सौरतेजो द्वारा विज्ञान (क्षेत्रज्ञ-बुद्धि) का, अपूर्व चान्द्र सोमद्वारा प्रज्ञान का, एवं चान्द्र पितृसोमद्वारा अपूर्व महान् का, इन्द्रिय भागों का आगमन और होता है। इस प्रकार आगन्तुक महान्, क्षेत्रज्ञ, मन, इन्द्रिय, शरीर, इन पाँचों से युक्त हो कर ही यह भूतात्मा भोक्तात्मा रूप में परिणत होता है। भूतसम्पृक्त महान्-क्षेत्रज्ञ दोनों इसे व्याप्त कर लेते हैं। आत्मा की प्राज्ञकता के आकर्षण से प्रज्ञानमन, तथा इन्द्रियों का सम्बन्ध हो जाता है। इस प्रकार निधनानन्तर कुछ क्षणों के लिए, किंवा तत्काल ही कर्मात्मा अन्य महान् क्षेत्रज्ञ-प्रज्ञान-इन्द्रिय, इन चार भोगसाधनों से, तथा भूतसूक्ष्मात्मक भोगायतन से युक्त होता हुआ 'भोक्तात्मा' बन जाता है। भोक्तात्मा के इसी स्वरूप को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति-स्मृति ने कहा है—

१—आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विपयांस्तेषु गोचरान् ।

“आत्मे-न्द्रिय-मनो-युक्तं ‘भोक्ते’त्याहुर्मनीषिणः ॥

—कठोपनिषत् १।३।३, ४ ।

२—“तापुर्मा भूतसंपृक्ता महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।

उचावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ”

—मनुस्मृतिः १२।१५।

मन, इन्द्रिय, बुद्धि, ये तीनों भोगमाधन, तथा भूतसूक्ष्मात्मक भोगायतन, ये चारों विवर्त एकमात्र चान्द्ररसमूर्ति आगन्तुक महानात्मा पर अवलम्बित हैं। आगन्तुक यही अपूर्व महत्-प्राण 'गयाः' नाम से व्यवहृत हुआ है। यदि कर्मात्मा केवल वेश्यानर-तैजस-मूर्ति ही होता, तो अन्तःसंज्ञ पृक्षादि मूलजीवों की भाँति स्थूलप्रपञ्चोपशमानन्तर यह भी कर्मवन्धन का अनुगामी न बनता। परन्तु इस के स्वरूप में 'प्राज्ञ' भाग का भी समावेश है। प्राज्ञ में प्रज्ञा-प्राण, ये दो तत्त्व हैं। प्रज्ञाभाग सौम्य है। इसी के आकर्षण से आगन्तुक महान्-प्राण का इस के साथ ग्रन्थिवन्धन हो जाता है। महान् प्राण के आते ही चान्द्रमन-सौरीबुद्धि-इन्द्रियवर्ग-भूतसूक्ष्मों का औपपातिक रूप से आगमन हो जाता है। इस प्रकार गयप्राणात्मक इस आगन्तुक महान् के अनुग्रह से ही भूतात्मा इतर भोगमाधन, एवं भोगायतन से युक्त होता हुआ भोक्तात्मा बन रहा है, यही इसके कर्मवन्धनात्मक कर्मभोग का बीज है। जिस प्रकार पुत्रादि पूर्वोक्त प्रजोत्पादनादि तीन कर्मों में प्रेत चान्द्र महानात्मा की मुक्ति के कारण पनते हैं, तथैव क्या पुत्रादि इस कर्मात्मा को भी कर्मवन्धन में विमुक्त कर सकते हैं?, यह प्रश्न है।

शुभ-अशुभ-जैसे कर्मसंस्कार इस कर्मात्मा में प्रतिष्ठित हैं, उन का परिणाम कर्मात्मा को अवश्य भोगना पड़ेगा। 'नाभुक्तं चीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' के अनुसार कर्मावस्थ का पद बनने वाला कर्मात्मा ही अपने शुभाशुभ कर्मों का उत्तरदायी है। पुत्रादि कर्ममन्वन्धन त्वमेव कर्मात्माओं का कोई अपकार-उपकार नहीं कर सकते। हाँ, एक उपाय अवश्य है। यदि किसी प्रक्रियाविशेष से पुत्रादि इस आगन्तुक महान् प्राण के बन्धन से कर्मात्मा को मुक्त कर दे, तो अवश्य ही कर्मात्मा मुक्त हो सकता है। महान्-बन्धन के विच्छेद से इतर मय भोगसाधन-भोगायतन विलीन हो जायेंगे, विशुद्ध आत्मा परज्योति में लीन हो जायगा।

सांक्षिप्त कर्म भरमीभूत हो जायेंगे, प्रारब्धकर्म कायाकल्पद्वारा नष्ट हो मुक्त हो जायेंगे, पलतः कर्मात्मा मुक्त हो जायगा। आगन्तुक महान् पुत्रगत महान् का सजानीय है। जिस श्रद्धासूत्रद्वारा पुत्र चान्द्रमहान् की मुक्ति का कारण बनता है, उसी श्रद्धासूत्र के द्वारा तन् सजानीय इस आगन्तुक महान् को भी पिण्डदान से पूर्ण बना कर इस से कर्मात्मा को ग्रथक कर सकता है। पिण्डदानादिलक्षण जिस वैज्ञानिक प्रक्रियाविशेष से गयाप्राणात्मक इस आगन्तुक महान् के बन्धन से कर्मात्मा को ग्रथक किया जाता है, वही प्रक्रिया 'गयाश्राद्ध' नाम से प्रसिद्ध है। आगन्तुक महान् का चान्द्रप्राण क्योंकि 'गया' है, यह श्राद्धकर्म क्योंकि श्रद्धा के द्वारा इसी के लिए किया जाता है, अतएव यह कर्म 'गयाश्राद्ध' कहलाया है। पिण्डदानादिलक्षण गयाश्राद्ध के अतिरिक्त गायत्री (पितृगायत्री) में भी इस बन्धन धिमोक का धर्म विद्यमान है। अतएव श्राद्ध में गायत्री जप भी विहित है। आगन्तुक महान् के प्रवर्त्तक होने से, इसी अपेक्षा से चन्द्रमा 'गय' कहलाया है। गयात्मक यही आगन्तुक चान्द्रसोम महानात्मरूप से कर्मात्मा की प्रतिष्ठा बनता हुआ इस की तत्त्वलोकगतियों का, शुभाशुभ कर्मगति का कारण बनता है। इसी गति भाव से यह आगन्तुक सोम्य महान् 'गय' कहलाया है, यही गय का गयस्त्व है, यही गय गयाश्राद्ध की मूलोपनिषत् है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—“क्रत्वा हि द्रोणे अज्यसेऽग्ने बाजी न कृत्यः।

परिजमेव स्वधा गयोऽन्यो न ह्यार्यः शिशुः॥” (ऋक्० ६।१।५)।

२—“एवा कविस्तु वीरवाँ ऋतज्ञा द्रविणस्पुद्र विणसथकानः।

उक्थेमिरत्र मतिमिश्च विप्रोऽपीपयद्गयो दिव्यानि जन्म”॥ (ऋक्० १०।६।१।६)।

३—“आ पवमान नो भरायों अदाशुपो गयम्।

कृधि प्रजापतीरिपः” (ऋक्० ६।२३।१)।

४—“आ नः सोम पवमानः किं वास्विन्दो भव मयवा राघसो महः।

शिवा वयोधो वसवे सु चेतुना मा नो गयमारे अस्मत् परासिचः॥”

(ऋक्० ६।१।३)।

गन्ध प्रेतपितरों की भोग्यसामग्री—

पितरप्राण पारमेष्ठ्य हैं, यह कई बार विभिन्न दृष्टिकोणों से स्पष्ट किया जा चुका है। पारमेष्ठ्यमण्डल में सोमरत्नक गन्धर्वप्राण अवस्थित है। यहीं अप्सु-सरणील अप्सरा-प्राण का साप्ताग्य है। गन्ध-रूप, दोनों इन्हीं गन्धर्वाप्सरा प्राणों से सम्बद्ध हैं, जैसा कि 'गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति' (शत० ६।४।१४) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति से प्रमाणित है। गन्ध का गन्धर्व से सम्बन्ध है, यह पारमेष्ठ्य पितृसोम का अनुगामी है, तदभिन्न है। अतएव 'सोमो-गन्धाय' (ता० ब्रा० १।३।६।) इत्यादि रूप से दोनों का अभिन्न सम्बन्ध मान लिया गया है। गन्ध का पितृप्राण के साथ विशेष आकर्षण क्यों है, सुगन्धिद्रव्यानुगामी सौम्य बालकों पर पितृदोष क्यों विशेषतः आक्रमण करता है?, इस की यही उपनिपत्त है। इसी आधार पर उन अशिक्षित देवियों के पाथन मुख से उनकी प्रांतीय लोकभाषा में यह किंवदन्ती व्यक्त होती रहती है कि—'अरे रात तिरात अतर फुलेल लगार कोड़ फिरतो फिरें छे। देख क्यूं हो गयो, तो लेखा से देखा पड़ जायला" ("सुगन्धिद्रव्या से युक्त होकर रात्रि में इतरस्ततः कहाँ भटक रहा है। यदि कुछ (पितृदोष) हो गया, तो हमें बहुत बड़ी आपत्ति का सामना करना पड़ेगा")—सूक्ति रात्रिव्यापन चान्द्र गन्धर्व-अप्सरा-पितृप्राण की सहजव्याप्ति की ओर ही हमारा ध्यान आकर्षित कर रही है।

सौम्य पितर प्राण की इसी गन्धर्वप्रियता को सूचित करने के लिए इन के महामहतीत (लोकगीत) में सर्व प्रथम गन्ध द्रव्य से ही पितरों की स्तुति आरम्भ होती है। बालक, तथा स्त्री, इन दो पर ही पितर प्राण का विशेष आक्रमण होता है। कारण स्पष्ट है। १६ वर्ष पर्वन्त चान्द्रकला की अपूर्णता से बालक सोमप्रधान रहता है, एवं स्त्रीमृष्टि तो प्रकृत्या मौम्बा है। अहर्गत सौर अग्नि जहाँ पुरुषमृष्टि का आरम्भक बनता है, वहाँ रात्रिगत चान्द्रसोम स्त्रीसृष्टि का अधिष्ठाता बनता है। गन्ध सम्बन्ध से, सौम्य पितर गन्धर्वजाति में प्रविष्ट हैं 'योपितृकामा वै गन्धर्वाः' (शत० ३-२-४-३) 'स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः' (तै० ब्रा० १।२०) इत्यादि के अनुसार स्त्रीगत सौम्य प्राण की ओर इन का विशेष आकर्षण है, जैसा कि—'पतञ्जलस्य काप्यस्य आसीद् हिता गन्धर्वगृहीता' (शत० १४।६।३।१) इत्यादि ब्राह्मण आख्यान द्वारा विस्तार से प्रतिपादित है। अपने इसी सौम्य भाव से इनके लोकगीतों में पितर प्राण 'पितर वाला भोला (सौन्या)' रूप से देवर्णित है। पारमेष्ठ्य गीतचय ही गीतगु का उपादान है, इन में भी विशेषतः रवेत-धूम्रा गो में पारमेष्ठ्य पितृतत्त्व का विशेषतः प्राधान्य है, यही अथर्ववेद में उपर्युक्ता 'परा' नाम की गो है, जिस के साथ पितरप्राण का सजातीय सम्बन्ध है। इसी गोदुग्ध से अचन द्वारा (क्षीरात्र) रात्रिजागरण में पितरों को सृज किया जाता है। पितरों का मन से सम्बन्ध है, मानस श्रद्धामूत्र ही इन का गमनागमन द्वार है। अतएव—'यो जीमांसे महतो मन मर जाय' मूलक विनिसृत है। जलाञ्जलि सम्बन्ध से 'भर' का उल्लेख



है। इस प्रकार इन कुलदेवियों के महासङ्गीतमय (लोकगीतमय) कुलाचार की आम्नाय (परम्परा) ने ही आगन्तुक भौम गृह पितरों के पितृदोषात्मक आक्रमण से हमारे पारिवारिक स्वस्तिभाव का संरक्षण कर रखा है। प्रसङ्गोपात् दृष्टि डालिए इस प्रासङ्गिक महासङ्गीत पर, महासङ्गीत के शब्द शब्द पर, प्रत्येक अक्षर पर। धन्य वन जायेंगे आप इस प्रासङ्गिक महासङ्गीत के श्रवण-मनन-निदिध्यासन से। श्रूयताम्! श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् !!

### कुलस्त्रियों के प्रासङ्गिक महासङ्गीत की पावनस्मृति—

श्रौत-स्मार्त्त-प्रमाणानुमोदित प्राकृतिक तत्त्वव्याख्यान का सम्बन्ध माना गया है-निगम-संस्कारानुगता विद्याबुद्धि के साथ। अब तक 'आनृत्यविज्ञानोपनिषत्' के सम्बन्ध में प्रज्ञोत्पादनात्मक आनृत्यकर्म, सपिण्डीकरणात्मक आनृत्यकर्म, आद्यात्मक आनृत्यकर्म, एवं गयाआद्यात्मक आनृत्यकर्म, जिन इन चार प्रकार के आनृत्यकर्मों का स्वरूप परिचय अदालु-पाठकों के सम्मुख विद्या-बुद्धिसमन्वित जिस नैगमिक-व्याख्या के माध्यम से समुपस्थित हुआ है, उन्हीं के सम्मुख सर्वथा शरीरानुबन्धी मनोराशय से समतुलित प्रासङ्गिक उस आम्नायसिद्ध महासङ्गीत के सम्बन्ध में, उस की पावनस्मृति के सम्बन्ध में निवेदन करने का लोभसंवरण करता महासङ्गीत-श्रवण-मनन-निदिध्यासन से सर्वान्मना प्रभावित इस गृहमेधी के मनस्तम्भ के लिए कठिन ही प्रमाणित हो रहा है, जिसे महद्भाग्य से गृहस्थानुबन्धी स्मार्त्त मङ्गलाचार-मङ्गलमहोत्सवों (पुत्रजनन-पुत्रविवाह-कन्याविवाह-अमाश्राद्ध-अमाजागरण-रात्रिजागरण-रतजगा-रातीजगा-आदि महोत्सवों) से सम्बन्ध रखने वाले महासङ्गीतों (लोकगीतों) के प्रासङ्गिक श्रवण के द्वारा अपने मानस संस्कारों को पावन करने का सु-अवसर यदा कदा उपलब्ध होता रहता है। उसी पावनस्मृति के आधार पर उस महासङ्गीत के सम्बन्ध में जैसा जो कुछ रत्नजनक से प्रासङ्गिकविद्या स्मृत हो पड़ा है, उन वर्तमान गृहमेधियों के सामयिक उद्बोधन व्यांज से यशः ( जिन्होंने युग-प्रमाणानुगत ऋक्भावात के निमहानुग्रह से स्वस्त्ययन-संरक्षक, महामङ्गलविधायक लोकगीतनिबन्धन महासङ्गीतों की उपेक्षा कर अपने आप को, अपने गृहस्थ को, पारिवारिक जीवन को सर्वान्मना दीनहीन-सा, हतभी-सा, आग्यहीन-सा, अमङ्गल-सा, रूक्ष कर्करा-सा, अमङ्गल वेशभूषायुक्त-सा बना लिया है )-दो शब्दों में संस्मरण कर लिया जाता है। ऐसी मान्यता है इस पावनस्मृति के संस्मरण के सम्बन्ध में हमारी कि, अवश्य ही यह संस्मरण स्वस्त्ययन-कर्म की सर्वान्मना उपेक्षा कर देने वाले हमारे वर्तमान पारिवारिक जीवन को इस साययिक उद्बोधन के द्वारा हमें महामात्रलिक स्व त्वयन की ओर आकर्षित कर सकेगा, निश्चयेन कर सकेगा।

प्रसङ्गप्रदान्त है केवल पितृकर्म-नुबन्धी गयाआद्या का, जिसकी मूलप्रतिष्ठा प्रमाणित हुआ हुआ है पूर्वपरिच्छेदों में कर्मभोक्ता कर्मात्मा से अतुप्रमाणित औपपातिक महानात्मा। धर्मसम्मत वृषा-योपाप्राणात्मक शुक्र-शोणित के सहज दाम्पत्य सम्बन्ध से औपपातिकरूप से ही व्यक्त होने वाला

५—“गयस्फानो अमीवहा वमुक्त्वा पुष्टिवर्धनः ।

सुमित्रः सोम नो भव” ( श्रु० १।६०।१२ ) ।

६—“या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।

गयास्फानः प्रचरणः सुवीरोऽवीरहा प्र चरा सोम दुर्यान् ॥” ( श्रु० १।६०।१३ ) ।

इतः श्रद्धा मन्त्र सोम को, किंवा सोम्य चान्द्रमाण् को विस्पष्ट शब्दों में ‘गय’ गयास्फान, आदि नामों से व्यवहृत करते हुए आगन्तुक चान्द्र महान् का गयत्वं प्रमाणित कर रहे हैं । मन्त्रश्रुति के अतिरिक्त ब्राह्मणश्रुति ने भी चन्द्रमा के इसी गयत्वं का समर्थन करते हुए इसे लोकगति की प्रतिष्ठा बतलाया है । निधनान्तर चन्द्रलोक में जाते हुए महानात्मा के साथ कर्मात्मा को एक बार चन्द्रलोक में क्यों जाना पड़ता है ? इस प्रश्न की उपनिषद् गयाप्राणत्यक्त यही आगन्तुक चान्द्र महान् है । इसके साथ उस महान् का सजातीयकर्षण है । इस आगन्तुक महान् से कर्मात्मा बद्ध है । अतएव इसे तत्र जाना ही पड़ता है । यहाँ से यही गयमहान् इसे लोकान्तर में ले जाता है । शुभ-दिव्यकर्म, तिशय के प्रभाव से यही चान्द्रमहान् स्वगत निधनात्मक स्वरसात्मककर्षण से कर्मात्मा का दिव्य सौरगति ( उत्तरायणागुगत देवस्वर्गगति ) का अनुगामी बनावा है, यही अपने प्रातिस्विक सौम्यगयप्राणकर्षण से इसे सौम्यापद-लोकों का अनुगामी बनावा है । इसी चान्द्र आगन्तुक महान् के गयत्वं का, तथा स्वरत्वं का समर्थन करती हुई गोपपद्युति कहती है—

१—“अधार्भवे पवमाने धाचयति—“स्वरोऽसि, गयोऽसि, अमच्छन्दा,  
अनुत्वारमे, स्वस्ति मा सम्पारय” इति । स यदाह—स्वरोऽसि इति-  
सोमं वा एतदाह । एष है सूर्यो भूत्वाऽमुष्मिन्ल्लोके स्वरति ।  
तद्यत्—स्वरति, तस्मात् स्वरः, तत् स्वरस्य स्वरचक्षुः” ।

२—“स यदाह—गयोऽसि, इति—सोमं वा एतदाह । एष है चन्द्रमा  
( महान् ) भूत्वा सर्वाल्लोकान् गच्छति ( गमयति च कर्मा-  
त्मानं ) । तद् यद् गच्छति, तस्माद्गयः, तद् गयस्य गयचक्षुः”

—गो० ब्रा० पृ० १।१५।

३—“प्राणा वै गयाः” ( महत्प्राणा वै गयाः )—( शत० १।४।१।५ ) ।

४—“सा हैषा गयांस्तत्रे । प्राणा वै गयाः । तत् प्राणांस्तत्रे । तद्  
यद्—गयांस्तत्रे, तस्माद् गायत्री नाम” ( शत० १।४।१।५ ) ।

## गयाप्राणात्मक आगन्तुक महानात्मा—

निर्कर्ष यही हुआ कि, गयाप्राणात्मक आगन्तुक महानात्मा के ( जिसका आगमन प्रकृत सिद्ध है ) सम्बन्ध से कर्मवन्धन में बद्ध कर्मात्मा को गया-वन्धन से प्रत्यक्ष कर परम्परया कर्मात्मा को मुक्त करने के लिए विहित पिण्डदानादिलक्षण श्राद्धकर्म ही गयाप्राणों के सम्बन्ध से 'गयाश्राद्ध' कहा लाया है। गयाश्राद्ध का लक्ष्य आगन्तुक महान् है। अतएव यह महान् भी तत् कर्मात्मवंशजों पर परम्परया अपना स्वत्त्व रखता है, यही स्वत्त्व इनका ऋण है। इस ऋण का आनृत्य एकमात्र गयाश्राद्ध पर ही अवलम्बित है। इस दृष्टिकोण को विशेषरूप से लक्ष्य में रखना चाहिए कि, गयाश्राद्ध केवल कर्मात्मानुगत-तत्-सम्बद्ध आगन्तुक महत्पितरों से आनृत्यप्राप्ति के लिए होता ही है। इससे स्वयं यह महानात्मा भी मुक्त हो जाता है, क्योंकि कर्मात्मपार्थक्य से इसका भी भूतादि वन्धन से प्रथक् हो जाना स्वाभाविक है। साथ ही महान् के सम्बन्धविच्छेद होते ही तन्मत्तानुगत भोगायतन-भोगमाधनों के विलीन हो जाने से कर्मात्मा भी वन्धन विमुक्त हो जाता है। इस प्रकार गयाश्राद्धकर्ता आगन्तुक महत्पितरों से तो आनृत्य प्राप्त करता ही है, महन्मुक्ति का कारण तो बनता ही है, साथ ही परम्परया कर्मात्मवन्धन विमोचन का भी कारण बन जाता है। अतएव पार्यणश्राद्धादि नामक नित्यकाम्यश्राद्ध की अपेक्षा गयाश्राद्ध का विशेष माहात्म्य माना गया है। गयाश्राद्ध के बिना कर्मात्मानुगत पितर वंश श्राद्धासूत्र के द्वारा तद्वंशधरों के महत्-पिण्डों पर आघात किया करते हैं। फलतः पिण्डमहान् की भक्ति ( गयाश्राद्धाभाव में ) ये पितर भी सन्तति के निरोधक माने गए हैं। अतएव गयाश्राद्ध भी गोत्रवृद्धि का कारण माना गया है।

## गयाप्राणात्मक आत्मा का क्लान्तिभाव—

अतएवदशा में, साथ ही तदनुगत कर्मात्मा के आत्यन्तिकरूप से पापाविशय से युक्त रहने से यह आगन्तुक पितर हीन-योनियों में प्रविष्ट रहते हुए क्लान्त बने रहते हैं। सर्वयोनि विरोधनः इनके लिए उपयुक्त घनता है। जब तक गयाश्राद्ध नहीं हो जाता, तब तक इन्हें वंश हीन योनियों में ही रहना पड़ता है। स्पष्टन द्वारा ये योनियाँ कातरभाव से वंशधरों से श्राद्धज्ञ की लाजसा व्यक्त किया करती हैं। न मिलने पर शान्तस्वभाव वाली योनियाँ तो वंशधरों का साक्षान्तरूप से कोई अनिष्ट नहीं करती, किन्तु क्रूरस्वभावा योनियाँ समय समय पर उद्बोधन के नाते कष्ट पहुँचाती रहती हैं। यही कष्ट 'पितरदोष' किया 'पितृदोष' नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष की ये अशिक्षित कुलदेवियाँ, जिन्हें अशिक्षित कह कर शानाभिमानी पुरुष इनका उपहास किया करता है, पितृदोषनिवृत्ति के लिए चतुर्दशी की रात्रि में रात्रि-जागरण द्वारा पितृप्रसाद से गुलरक्षा किया करती हैं। सचमुच आज के इस अध्याययुग में इन देवियों की अविच्छिन्ना श्रद्धाधारा के अनन्य अनुग्रह से ही हमारी आर्पमंस्कृति का शेष सुरक्षित है। इन देवियों के महामहतीतों में हमें ये तत्त्व उपलब्ध हैं, जिनकी मूलधारा साक्षान्तरूपेण वेदसास्त्र से प्रवाहित है। दिग्दर्शन कराने का लोभ मंथरण करना आर्पमंस्कृतिसंरक्षित महामहलपरायणा गृहदेवियों की आम्नाय-मिदा ( वेदसिद्धा ) मान्यता के साथ अन्याय ही माना जायगा।

कर्मभोक्ता कर्मात्मा जिस प्रकार औपपातिक है, तथैव इस कर्मात्मा के साथ अन्य आतिवाहिक सम्पत्तियों की भाँति (शरीरनिधनान्तर) औपपातिकरूप से ही पार्थिव अग्निप्राणानुवन्धी प्रवर्ग्य पार्थिव (भौम) महत्तमोम के द्वारा एक स्वतन्त्र महानात्मा का सम्बन्ध भी समन्वित हो जाता है, जो वह औपपातिक भौम महानात्मा उस चान्द्र महानात्मा से सर्वथा पृथक् तत्त्व है, जिस चान्द्र महानात्मा का कर्मात्मा के शरीरत्यागानन्तर ही चन्द्रलोक में प्रतिष्ठापन हो जाता है, जैसा कि पूर्व की सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषद् में स्पष्ट किया जा चुका है। यह महानात्मा पार्थिव अग्निप्राण के प्रवर्ग्य भौम से वृत्तरूप बनता हुआ 'भौम' है, और इस दृष्टिकोण से दोनों के स्वरूप में महान् विभेद है। इस मौलिक विभेद को तत्त्व में रखते हुए ही हमें महासहोतानुबन्धनी पावनसृष्टि का प्रासङ्गिक दिग्दर्शन करना है।

पुत्र-पौत्रादि के द्वारा सहजभाव से स्व स्व निधनान्तर प्रत्यर्पित पिण्डद्वारा निष्पन्न सापिण्ड्य, तथा एकोद्दिष्ट-महालयादि आहुकर्मों का आधार बनता है—चन्द्रलोकस्थित 'चान्द्र सहज महानात्मा'। एवं गयाआहु का लक्ष्य बनता है इसी पार्थिव चन्द्र में इतस्ततः दन्त्यमाय कर्मात्मानुगत पार्थिवकक्षास्थित 'भौम औपपातिक महानात्मा'। अमुक मुहूर्त्त में, किया अमुक विशेषमुहूर्त्त (आश्विनपञ्चानुगत) में स्थानविशेष में (गयातीर्थ में) आहुपूर्वक विहित गयाआहुकर्म ही इस भौम महानात्मा के बन्धनविमोक्त का कारण बनता है, जिस गयाआहुकर्म का उत्तरदायित्व औपपातिक कर्मात्मा को व्यक्त करने वाले 'दाम्पत्यभाव' माध्यम से व्यक्तीभूत कर्मात्मा से सम्बद्ध पुत्र और पुत्रवधूरूप दाम्पत्य भाव पर ही अवलम्बित माना गया है। आहुत पुत्र अपनी आहुतीला पत्नी के साथ सर्वप्रथम पिता-पितामह-प्रपितामहादि के शरीरदाहस्थान (स्मशान) की अमुक नियत विधिविधान के साथ परिक्रमा करता है, एवं यहाँ से गयास्थान की ओर ग्रस्थान कर तत्र विधिपूर्वक गयाआहु की इतिकर्तव्यता पूरी करता है, जिस इतिकर्तव्यता की साक्षीपाङ्गपूर्ति का विशेष फल माना गया है, औपपातिक 'महानात्मा का बन्धनविमोक्त, एवं तत्सम्बद्ध औपपातिक कर्मात्मा के प्रारब्ध बन्धन का शोधित्व'।

औपपातिक कर्मात्मानुगत सद्यः व्यक्त यह औपपातिक भौम महानात्मा ही 'गृहपितर' नाम से व्यवहृत हुए हैं। यद्यपि चान्द्रलोकस्थ सापिण्ड्यभावानुगत पिता-पितामहादिरूप चान्द्र महानात्मात्मलक्षण प्रेतपितर भी चान्द्र आहुनाड़ी के द्वारा तदंशधर पुत्र-पौत्रादि के शुक्रस्थित चान्द्र महानात्मा के साथ (सप्तपुरुषनिबन्धना सपिण्डता से पूर्व पूर्व) सहज सम्बन्ध स्थापित रखते हुए 'गृहपितर' ही माने जायेंगे। किन्तु इन चान्द्र पितरों का वास्तविक गृह चान्द्रमण्डल ही माना जायगा। पुत्रादि के पार्थिव गृहों में इनका आगमन त्रयाहविधि, महालयाविधि, आदि विशेष विधियों में ही हुआ करता है। आहुत से वृत्त में चान्द्रपितर पुनः स्वगृहभूत चान्द्रलोक में ही परार्वाचत हो जाते हैं, जिस परार्वाचन प्रक्रिया का नैदानिकरूप 'उत्सुक प्रदर्शन' माया गया है। इधर कर्मात्मानुवन्धी औपपातिक महानात्मा-

रूप सद्यःपितर पार्थिवकृत्कार्पण्यं मे ही सदा आकर्षित रहते हुए गृहोपलक्षित पार्थिव तत्त्व बनते हुए वास्तव में 'गृहपितर' अभिधा के अधिकारी बने रहते हैं। यद्यपि अमावस्यादि पर्वतिथियों से सम्बन्ध रखने वाली रात्रिजागरणरूपा इतिकर्त्तव्यता से, तथा पुत्रोत्पत्तिप्रसङ्ग-विवाहप्रसङ्ग-आदि आदि तत्तद्-स्मार्त गृह्य मङ्गलाचारपत्रों पर विहिता रात्रिजागरणानुगता इतिकर्त्तव्यता से संतुष्ट होते हुए ये भीम पितर भी स्वनियत स्थानों में ही परावर्त्तित हो जाते हैं। किन्तु इन भीम पितरों का यह परावर्त्तन पार्थिव कृत्ता से ही सम्बन्धित रहता है। उपर "गृहा वै गार्हपत्यः" (शतपथब्रा० १।१।१।१६) - "अयं वै (पृथिवी-) लोको गृहपतिः" (शत० २।१।४।३६।) इत्यादि श्रौत प्रमाणों के अनुसार पृथिवी 'गृह-स्थान' माना गया है। एवं इस दृष्टिकोण से पार्थिवकृतानुगत इन औपपातिक-भीम-महानात्मरूप सौम्य पितरों को ही प्रधानरूप से 'गृहपितर' कहना अन्वर्थ बनता है। अतएव इन भीम गृहपितरों को महासंगीत की आम्नायभाषा में 'वर के देवता-वर के पितर' अभिधा से व्यवहृत किया गया है। इसी आधार पर इन्हीं भीम गृह पितरों के लक्ष्य से यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है। निष्कर्षतः चान्द्र-पितरों का गृहत्व जहाँ तात्कालिक है, वहाँ भीम पार्थिव पितरों का गृहत्व (पृथिवीनिवास) निश्चित है। इन दोनों पितरों की गृहानुगता इसी सुसूक्ष्म व्यञ्जना को लक्ष्य बना कर ब्राह्मणश्रुति ने दोनों के लिए क्रमशः 'हृ'—'हि' भाव अभिव्यक्त किए हैं। 'हृ' सामान्य (आगन्तुक निवास) का सूचक है, एवं 'हि' विशेष (निश्चित निवास) का सूचक है, जैसा कि निम्न लिखित वचनद्वयी से यह विभेद स्पष्ट हो रहा है—

(१)—गृहाणां 'हृ' पितर ईशते (शत० २।४।२।२४)।

(२)—गृहाणां 'हि' पितर ईशते (५।६।१।४२)।

जिस प्रकार सौर देवप्राण के आनुष्य के लिए 'अग्निशोमादि सप्तसंस्थ द्विवयज्ञ' विहित है, वथैव चान्द्र पितरप्राण के आनुष्य के लिए 'पिशडपितृयज्ञ' विहित हुआ है। दोनों श्रौतयज्ञ हैं, ऋत्विग्विशेषों की सहायता से सम्पन्न होने वाले दोनों ही महारश्म श्रौतयज्ञ वैवाणिक द्विजाति-पुरुष के उत्तरदायित्व से सम्बद्ध हैं। यह उत्तरदायित्व पुरुषद्वारा देवयज्ञवत् अहकाल में ही निष्ठा-पूर्वक सम्पन्न किया जाता है। पिशडपितृयज्ञ में आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि-अन्वाहार्यपचन-वेदि-फलीकरण-हविर्द्रव्यसम्पादन-आहुतिप्रदान-आदि आदि सम्पूर्ण वे सब यज्ञानुबन्धिनी इतिकर्त्तव्यताएँ, पितृप्राणवर्मानुगता विशेषप्रक्रिया के साथ विहित है, जिन इतिकर्त्तव्यताओं का देवयज्ञ के साथ सम्बन्ध माना गया है, जैसा कि—“अन्वाहार्यपचनं दक्षिणा तिष्ठन् बहति। सकृत्फलीकरोति-सकृदुद्येव पराञ्चः पितरः। तं श्रवयति। आज्यं प्रत्यानयति। ॥ जुहोति-अग्नये कन्यवाहनाय, सोमाय पितृमते। पुरस्तादुल्लुक्कं निदधाति। तत्र जपति-‘अथ पितरो मादयध्वम्’। पट्

कृत्यो नमस्करोति। गृहान्नः पितरो दत्तेति। गृहाणां ह पितरः (चान्द्राः) ईशते" इत्यादि रूप से ब्राह्मणग्रन्थप्रतिपादित पिण्डपितृयज्ञ में विस्तार से प्रतिपादित है (देखिए शतपथब्राह्मण २ काण्ड ४ अध्याय, 'पिण्डपितृयज्ञ' नामक द्वितीय ब्राह्मण)। स्पष्ट ही चान्द्रमहानात्मानुबन्धी पितरों से सम्बन्धित पिण्डपितृयज्ञ का 'देवयज्ञ' से समतुलन प्रमाणित हो रहा है। देवयज्ञवत् सर्वत्मना श्रौतधर्मात्मक यह पितृयज्ञ मन्त्रविधिपूर्वक द्विजातिपुरुषकर्तृत्त्व से ही अनुप्रमाणित है। यहाँ भावनामूल भावुकता का यत्किञ्चित् भी समावेश नहीं है। 'दृष्टः शब्दः—स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह' के अनुसार देवयज्ञवत् इस पितृयज्ञ में भी मन्त्रोच्चारण प्रकार का अगुमात्र भी स्थान इष्ट के स्थान में अनिष्ट का जनक बन जाया करता है।

क्रव्यादाग्नि से विधिपूर्वक (द्विजातिप्रजा का), अथवा तो शमशान (शमशान-शवाग्न) रूप से शमशानाग्नि के द्वारा अविधिपूर्वक चयाजात (शूद्रादि) प्रजा का क्रमराः दाहसंस्कार एवं दाहकर्म सम्पन्न होता है, जिस का निम्न लिखित ब्राह्मण श्रुति के द्वारा स्वरूप विरलेपण हुआ है। अवधान पूर्वक दृष्टि डालिए श्रुति के शब्दों पर, जिन के द्वारा एक विशेष शास्त्रिभिः 'पितृत्य' की ओर हमें ध्यान का ध्यान आकर्षित करना है—

"अथास्मै शमशानं कुर्वन्नि। यो वै कश्च त्रियते, स शवः। तस्माऽ (तस्मै) एतदन्नं करोति। तस्माच्छवाग्नम्। 'शवाग्नम्' ह वै तत्—'शमशानम्' इत्याचक्षते परोक्षम्। 'शमशा' उ हैव नाम पितृणामचारः। ते ह—अमुष्मिन्लोकःऽकृतशमशानस्य साधुकृत्यामुपदम्भयन्ति। तेभ्य एतदन्नं करोति। तस्मात्—'शमशानम्'। शमशानं ह वै तत्—'शमशानम्' इत्याचक्षते परोक्षम्" (शत० १३। २। १। १। १)।

तात्पर्य उक्त ब्राह्मण वचन का स्पष्ट है। लोक में शवदाहस्थान 'शमशान' (शमशान) नाम से प्रसिद्ध है। श्रुति ने दो प्रकार से इस नाम का तात्त्विक निर्वचन किया है। श्रुति कहती है कि, इस कर्मांशरूप शव (मुर्दे) के लिए (इस के सम्बन्धी) 'शमशान' कर्म का अनुगमन करते हैं। जो व्यक्ति मर जाता है, औपपातिक कर्मात्मा जिस व्यक्ति के पाञ्चभौतिक शरीर का लीर्णवस्त्रवत् परित्याग कर देता है, उस व्यक्ति के कर्मात्मा का वह आत्मशून्य शरीर ही 'शव' कह लाया है। इस दाहकर्म से तत्सम्बन्धी इस शव के लिए ही अन्नव्यवस्था का अनुगमन करते हैं, अर्थात् इस शव को दाहग्निरूप क्रव्यादाग्नि का अन्न बनाते हैं, अतएव यह दाहकर्म 'शवाग्न' (शव को क्रव्यादाग्नि का अन्न बनाने वाला कर्म) कहलाया है। 'शवाग्न' शब्द ही देवताओं की सहज परोक्षभावा में 'शमशान' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। और यही 'शमशान' शब्द का एक निर्वचन है।

दूसरा नाम 'श्मशान' नाम से भी प्रसिद्ध है। अपठित यथाज्ञात लोग बोला करते हैं 'श्म-  
शान', एवं पठित संस्कारी मानव कहा करते हैं 'श्मशान'। यथाज्ञात नामोच्चारण का निर्वचन है—  
'शवाक्ष', जिसका उपर्युक्त रूप से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। अब संस्कृतप्रजा के द्वारा व्यवहृत  
'श्मशान' शब्द का निर्वचन करती हुई श्रुति कहती है—'श्मशा नामक प्राणविरोप ( प्रेत भौम पार्थिव )  
पितरों को अपना भोग्य अन्न वनते रहते हैं। जिनके शरीर में से श्री.पातिक कर्मात्मा निकल जाता  
है, उनका शवशरीर ( दाहकर्म न हो जाने की अवधि पर्यन्त औपपातिक कर्मात्मा के साथ सदा  
समुत्पन्न भौम पार्थिव पितरों से संयुक्त रहता है ) उन 'श्मशा' नामक प्राणदेवों का भोग्य बना रहता  
है। यदि शरीर को जला नहीं दिया जाता है, तो शरीराकर्षण से आकर्षित यह औपपातिक भौम पितर  
तबतक उन 'श्मशाप्राणों' के द्वारा क्षीण वनते हुए बन्धनवेदना से आक्रान्त रहते हैं, जब तक कि  
शवशरीर चिर अवधि में स्वप्रभव प्राकृतिक पञ्चमहाभूतों में, (प्रतिसर्गविधि से) विलीन नहीं हो जाते।  
इस पितरबन्ध ( शवानुगत दुःखभोगात्मक बन्ध ) से पितरों को ( भौम हंसात्मानुगत भौम महान् को )  
वन्मुक्त करने के लिए ही शव को अग्नि में भस्मसान् कर दिया जाता है, जिसका तात्पर्य है शवशरीर  
सत्ता में 'श्मशा' नामक प्राणदेवों के शनैर्भोगानुगत दुःखबन्धन से हंसात्माविच्छिन्न भौम महानात्मा को,  
बन्धन से विमुक्त कर देना। क्योंकि इस शवदाहरूपकर्म से तत्सम्बन्धी दाहकर्मकर्ता 'शव' को ही  
'श्मशा' का एक बार ही अग्निद्वारा अन्न बना डालते हैं, अतएव यह कर्म 'श्मशाक्ष' कहलाया है,  
जो परोक्षभाषा में 'श्मशान' नाम से प्रसिद्ध हुआ है, जिसका तात्त्विक अर्थ है—'श्मशाप्राण का  
अन्नस्थान-शव'। श्रुति के इन अवरो पर अवधान दीजिये, भारतीय शवदाहप्रक्रिया की वैधानिकता  
का रहस्यात्मक स्वरूप विज्ञात बन जायगा—'श्मशा उ हैव नाम पितृणामन्तरः। ते हामुर्मिल्लोके-  
अकृतश्मशानस्य ( अकृतशवदाहस्य ) साधुकृत्यामुत्पादयन्ति' इति।

श्मशान, और श्मशान, इन दोनों प्राकृत-संस्कृत शब्दों के निर्वचन के द्वारा-प्राज्ञ-  
श्रुति के अक्षरार्थ का समन्वय पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया गया। इसी सम्बन्ध में अब एक विरोप  
प्रासङ्गिक रहस्यात्मक प्राणतत्त्व की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है। आद्यविज्ञाना-  
प्रन्धार्गत 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड में विज्ञानदृष्ट्या संसृष्टात्माओं का प्रतिपादन करते  
हुए 'हंसात्मा' नामक एक पार्थिव उस आत्मा का स्वरूप विरलेषण हुआ है, जिसे पार्थिव वायव्य  
प्राणात्मक वत नाया गया है। वहीं विस्तार से यह स्पष्ट हुआ कि, नवजात शिशु के त्रिपार्थिववंतमरचक्र-  
परिभ्रमणत्मक भोगकाज से शिशु में घनताप्रवर्तक सौर हिरण्ययतेज परिपक्वस्वरूप से अन्तर्यामिसम्बन्ध  
से प्रतिष्ठित हो जाता है, तो डनी अवस्था में इस वायव्य (मातरिश्वा नायक घनता-पिण्डसम्पादक प्राण-  
वायुविरोप ) पार्थिव हंसात्मा की औपपातिकरूप से औपपातिक कर्मात्मा ( कर्मभोक्ता जीवात्मा-भूतात्मा )  
के साथ सम्बन्ध हो जाता है। पार्थिव आपोमयप्राण अपने सहज कल्याणोद्भूत-पिण्डमान-असंय-अप्राण-

अरुनाविर-रूप से सौर हिरण्यमी चितिलक्षणा उस घनता में असम्बद्ध है, जिसकी प्रतीक दन्तपंक्ति मानी गई है। पार्थिव यह पिच्छमान-घनताविमुक्त-शुद्धप्राण ही-‘पूपा’ कहलाया है। घनता के अभाव के कारण ही इसके लिए ‘अदन्तकः पूपा’ ( शत० ११।१।४।४ ) यह निगम प्रतिष्ठित हुआ है। जवतक शिशुशरीर अदन्तक ( बिना दाँत का ) रहता है, तबतक इसमें घनतानुबन्धी हंसात्मा व्यक्त नहीं हो पाता। दन्तोत्पत्ति सहकाल में इसका व्यक्तीभाव आरम्भ होता है, एवं दन्तनिर्माण समाप्ति पर हंसात्मा सर्वात्मना व्यक्त हो जाता है। शरीरनिधनान्तर यह हंसात्मा पार्थिव शवशरीर की सत्तापर्यन्त इसी शवशरीर को केन्द्र बनाए रहता है तबतक, जवतक कि इसे भस्ममान नहीं कर दिया जाता। शवदाह के अभाव में हंसात्मा जीवनकालवत् सर्वत्र वायव्य वातावरण में पक्षीवत् विचरण करता हुआ इसी शरीर में विश्राम लिया करता है, जैसे कि पक्षी प्रातः अपने कुलाय ( घोंसले ) से निकल कर कणलोभ-शान्ति के लिए अहःकाल में इतस्ततः विचरण करता रहता हुआ सायं पुनः अपने उसी कुलाय में प्रविष्ट हो जाता है। पक्षी थक कर स्वकुलाय में विश्राममात्र ग्रहण करता है, मानव की भाँति स्वपीतिलक्षणा सुषुप्ति अवस्था ( घोरनिद्रा ) की अनुगति पक्षी में नहीं होती। ठीक यही अवस्था पश्चिम्यरूप समतुलित हंसात्मा की मानी गई है। अतएव पुराणपुरुष ने इसे ‘गरुड़’ ( पक्षिविशेष ) नाम से व्यवहृत किया है, जिसके प्राकृतिक गतिभावों का ‘गरुड़पुराण’ में विस्तार से उपबृंहण हुआ है, जिन प्रेतात्मानुगता गरुड़गतियों का विराट् वैज्ञानिक स्वरूप इसी ग्रन्थ की अन्तिम ‘आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्’ में होने वाला है। मूलसंहिता में यही गरुड़त्मा ‘भोक्ता सुपर्ण’ कहलाया है। तद्व्यवस्थानुभूत ब्राह्मणग्रन्थों में इसी का ‘सौपर्णक आख्यान’ रूप से सुपर्णचितिप्रकरण में विस्तार से विस्तरेण किया है। उपनिषदों में यही सुपर्णात्मा ‘हंसात्मा’ नाम से उपवर्णित हुआ है। सुप्रसिद्ध पौराणिक ‘कद्रू विनताख्यान’ इसी सुपर्णविज्ञान पर अवलम्बित है, जिस की घोषणा हुई है ब्राह्मणग्रन्थों में ‘सोमापहरणविज्ञान’ प्रसङ्ग में इस रूप से कि—

“एतद् सौपर्णमाख्यानमाख्यानविद् आचक्षते”

—शतपथब्राह्मण ( २।६।२ ब्रा० ) तथा ऐतरेयब्राह्मण

जो हंसात्मा दन्तोद्भवान्तर व्यक्त होता है, जो कर्मात्मा के सो जानेपर जाग्रत रहता हुआ अपने इस शरीरकुलाय का संरक्षण किया करता है, जिस जाग्रत हंसात्मा के अनुग्रह से प्रेरणा से अनुकामुक अज्ञात भयाराहृत्त्रों से मानवीय कर्मात्मा जाग्रत बनता हुआ भय से स्वत्राण करने में समर्थ बन जाता है, इसी एवंविध हंसात्मा का स्वरूप दिग्दर्शन कराते हुए उपनुपच्छ्रुतिने कहा है—  
तदेते श्लोका भवन्ति—

स्यनेन शारीरमभिग्रहत्य-‘असुप्तः सुप्तानभिचाकशीति’ ॥

शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्यमयः पुरुष एक हंसः ॥ १ ॥



प्राणेन रत्नचक्रं कुलायं वहिःकुलायादमृतश्चरित्वा ॥

स ईयतेऽमृतो यत्र कामं हिरण्यमयः पुरुष एक हंसः २ ॥

—बृहदारण्यकोपनिषत् ६।३।११।१२।

‘हंसात्मा’ नामक पार्थिव वायव्य सुषुप्तभावपन्न (गायत्रीभाषापन्न—अतएव हिरण्यमयरूपेण उप-  
निषदों में उपवर्णित) औपपातिक प्राणहंसा एक वैसा विशेष विलक्षण तत्त्व है, जिस की अतिमुक्ति  
एकमात्र प्राकृतिक प्रतिसञ्चरभाव पर ही अवलम्बित है। सौर सर्गान्तकाल ही इस हंसात्ममुक्ति  
का प्रवर्त्तक बना करता है। तदवधिदूर्यन्त आकल्पान्त यह पार्थिव वायव्यधरातल में उच्चावचभावा-  
नुगत से सुख-दुःखानुभूति तारतम्य से विचरण किया करता है। यही अथर्ववेदव्याख्यात ‘अथर्वा-  
सूत्रानुबन्धी आशीचप्रवर्त्तक आथर्वण अस्मां है, जिसे लक्ष्य बना कर विविध आथर्वण प्रयोग आयि-  
ष्कृत हुए हैं, जिन्हें ब्राह्मणग्रन्थों में—‘कृत्यावल्गा’ नाम से व्यवहृत किया गया है। यही ‘वल्गा’ तन्त्र-  
शास्त्र की कृत्याप्रयोगाधिष्ठात्री ‘वगुलामुखी’ है। यदि शवशाह कर दिया जाता है, तो हंसात्मा कृत्या-  
प्रयोग का साधन कथमपि नहीं बन सकता। शव का दाह न करने से ‘श्मशा’ नामक प्राणविशेष के  
आक्रमण से हंसात्मा बाल-स्त्री लक्षण सोमप्रधान शरीरों के माध्यम से कृत्याप्रयोगात्मक आथ-  
र्वण उन जघन्य प्रेतकर्मों-प्रेतसिद्धियों का परम्परया निमित्त बन जाता है, जो कृत्यात्मक आथर्वण  
प्रयोग तमोगुणप्रधान बनते हुए परवत्सीडक बनते हुए सर्वथा निम्न ही घोषित हुए हैं + । तमोगु-  
णानुगत-परवत्सीडक निन्द्यकर्मोपानुगामी आथर्वणों की स्वार्थसिद्धि सम्भव न बन सके, इस सामान्य  
लोकसंप्रदाहत्मक लोकसंरक्षण फल की दृष्टि से, स्वयं हंसात्मा ‘श्मशा’ प्राण का यावत् शयशरीरसत्ता-  
वधिपर्यन्त भोक्ता बनता हुआ अत्राकृतिक बन्धन दुःख से आर्त्त न बना रहे, इस विशेष फलसिद्धि  
के लिए, और शवानुगत मलीमम मृतिगन्ध से मृतिभाषापन्न वातावरण लोह-ग्राम-नागरिक वातावरण  
को मृतियुक्त बनाता हुआ प्राकृतिक स्वास्थ्यविधातक न बन जाय, इस लौकिक फलदृष्टि से, अन्यान्य भी  
ज्ञात-अज्ञात अनेक फलों की दृष्टि से शवशरीर को अग्नि से संस्कृत करते हुए इसे भस्मानुरोप बना  
देना ही विज्ञानसम्मत माना जायगा, जिस वैज्ञानिक दृष्टिकोण का—“श्मशा उ ईव नाम पितृणां  
अचारः । ते ह्यमुष्मिन्लोके-अकृतश्मशानस्य कृत्यामुपदम्यन्ति । तेभ्य एतदन्नं करोति०”  
इत्यादि रूप से विरलेपण हुआ है।

शवशरीर के अन्यान्य भूत-भौतिक द्रव्य भस्मान्त बन गए, हंसात्मा बन्धन से विमुक्त हो गया,  
परन्तु ..... परन्तु इसलिए कहना पड़ रहा है कि, कृत्यादग्नि स्नायु दन्त-दंष्ट्रा-आदि अस्त्रामोम-  
मय घनतम-निविष्टतम-शवभूतों को भस्मान्त करने में असमर्थ बना रहता है। फलतः इन शवशरीर

+ “प्रेतान् भूतगणान् चान्ये यजन्ते तामसा जनाः” (गीता १-४५)।

शेषभूत दन्तादि भागों के आर्कषण से हंसात्मा का यहाँ से आत्यन्तिक विमोक्त नहीं माना जा सकता। इस आपत्ति से हंसात्मा का आंशिक रूप से आण करने का एक मात्र उपाय है इन शयशेषों के साथ 'अम्भः' नामक ब्रह्मणस्पत्य पारमेष्ठ्य पवमान-पवित्र सोम का सम्बन्ध करा देना। यद्यपि तुलसी-चन्दन-हिरण्यशकल आदि भौतिक द्रव्य इसी पावन सोम के आंशिक प्रतीक माने गए हैं। अतएव आस्तिक श्रद्धानु यथाशक्त्य यथाश्रद्धा शवशरीर को चिता पर आरूढ़ करते हुए इन द्रव्यों को दाहकर्म में समाविष्ट कर देते हैं। तथापि विना प्रचलित सोमप्रतीक के तथाकथिता आंशिरत्ना पूर्ण नहीं हो पाती। परमपावन भार्गवरु, सलिलप्रवाह इसी पारमेष्ठ्य अम्भः का रुग्ण प्रतीक है। इसी आस्थानुगता श्रद्धा के माध्यम से अस्थ्यादि का इसी पावनधारा में प्रक्षेप अनिवार्य माना गया है। क्या अब औपपातिक हंसात्मा, तदभिन्न तत् सहजतः पूर्वोपपन्न औपपातिक भौम गृहपितर, तथा-विध श्रद्धाहसंस्कार से सर्वात्मना बन्धन से विमुक्त हो गया?, नेति होवाच। अनुशय एकहेतुया ही नहीं हट जाया करता। 'जातसंस्कारवाधायोमात्' न्याय से इसे निःशेष तो किया ही नहीं जा सकता, अपितु निर्वल बनाने के लिए भी अन्योन्य पुरुषार्थकर्मों का श्रद्धापूर्वक अनुगमन करना अनिवार्य बना रहता है।

हंसात्मा की बन्धनमुक्ति, औपपातिक भौम गृहपितरों का बन्धन विमोक्त, एवं इन पितरों को पारिवारिक मङ्गल-स्थिति-गोश्रृष्टि कामना से सन्तुष्ट-तृप्त बनाए रखना, इन लक्ष्यों की सिद्धि के लिए शास्त्र ने पुरुष और कुलस्त्रीवर्ग, ये दो क्षेत्र निर्णीत किए। स्वधर्मपत्नी को साथ लेकर अमुक विशेषमुहूर्त में हंसात्मानुगत भौम पितर के शेषानुशय स्थानरूप स्मरणक्षेत्र (दाहक्षेत्र) की परि-कमा कर 'गया' नामक पावन स्थान-संक्षेत्र-क्षेत्र-विशेष में स्मार्च विधिपूर्वक गयाश्रद्धा का श्रद्धापूर्वक अनु-गमन करे, यह एक क्षेत्र की मीमांसा है। इस गयाश्रद्धा से हंसात्मा निरचयेन बन्धन विमुक्त (मली-मस भागों से विमुक्त-शेषानुगत तमोभाव से विनिर्मुक्त) हो जाता है, तत्सहयोगी औपपातिक भौम गृहपितर बन्धनविमुक्त (श्लथबन्धन) बनते हुए तदभिन्न कर्मभोक्तृ भूतत्मा-कर्मत्मा को कर्मबन्धन से विमुक्त (कर्मबन्धनश्लथ) बनाने के निमित्त बन जाते हैं। अब शेष रह जाता है इन गृहपितरों की सामयिक पर्वानुगति से सम्बन्धित सामयिक तुष्टि-तृप्ति का प्रश्न, जिससे तुष्ट-तृप्त बने रहते हुए गृहपितर पारिवारिक स्थिति-मङ्गल के कारण बने रहते हैं। इस लोकानुबन्धी-पारिवारिक मङ्गल-नुय धी-पर्वानुगत पितृदोषनिवर्त्तकानुबन्धी लोकभावनापूर्ण लौकिक पितृकर्म का उत्तरदायित्व सम्पत्त किया गया मङ्गलाचारपरायण सोमप्रधाना 'स्त्रियों को' तथा सोमप्रधान अविवाहित सौम्य पारिवारिक कुनारों को। स्त्री और अविवाहित बालक, ये दो ही, इस उत्तरदायित्व से सम्बन्धित किए गए। क्यों, और किस लिए?, का उत्तर देने में हम इसलिए असमर्थ हैं कि, यह केवल भावनाजगत् का विषय है। यहाँ केवल भावुकतापूर्णा श्रद्धा का ही साम्राज्य है। बुद्धिब्याख्यानुगता आस्था, विश्वासानुगता निष्ठा का प्रवेश यहाँ आत्यन्तिकरूप से अवरोध है, रहेगा, रहना चाहिए। भावुकतापूर्ण गतानुगतिक अस्मत्-सदृश भावुक के लिए यह समाधान ही यद्यपि पर्याप्त, किन्तु.....।

किन्तु एक ओर आस्थायुक्त श्रद्धा से सम्बन्ध रखने वाला धर्मानुगत कारणावाद\*, एवं दूसरी ओर केवल भावनापूर्ण श्रद्धाभास के द्वारा सनाधान की पर्याप्तता की अन्वधोपस्था, दोनों का सम्बन्ध भारतीय प्राङ्गण में तो कथमपि सम्भव नहीं माना जा सकता। यहाँ की तो एकमात्र निकया यही मानी जायगी, मानी जाती रही है कि—

प्रत्यक्षं चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम् ॥

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १ ॥

आपं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राऽविरोधिना ॥

यस्तर्कणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ २ ॥

—रुतु: १२।१०४, १०६।

एतद्देशीय, किया इतरदेशीय मतवादों की भाँति भारतीय धर्म केवल मान्यता (अन्धविश्वास-अन्धश्रद्धा) का क्षेत्र नहीं है। यहाँ जैसे मतवाद के सम्बन्ध में कारणा की जिज्ञासा की आग्नि भी दण्डविधान का कारण बन जाती है, यहाँ वैसी परम्परा अणुमात्र भी मान्य नहीं है। यहाँ की प्रत्येक आस्था, प्रत्येक श्रद्धा यही मान्य मानी और कही जायगी, जिसके मूल में निगमशास्त्रानुमोदित (प्राकृतिक सर्गानुमोदित) कारण-सात्त्विककारणानुगत तर्कवाद मूल में प्रतिष्ठित होगा। एही सहजसिद्ध भारतीय धर्मानुगत (प्राकृतिक सनातनधर्मानुगत) कारणावाद भीम गृहपितरों की पवानुगता तुष्टि-रुप्ति की मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले उस लोकानुबन्ध विशुद्ध भावना-श्रद्धानुगत उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में भी समुपस्थित हो रहा है, जिसे केवल 'आम्नायसिद्ध मान्यता' कह कर पूर्व में हम कारणावाद से असंस्पृष्ट बनाए रखने के लिए अपनी श्रद्धा अभिव्यक्त कर चुके हैं। इसी दिशा में सर्वात्मना आम्नायसिद्ध मानवधर्मशारत्रतन्मत पूर्णोपात्त हेतुवाद 'किन्तु' का जन्मदाता बनता हुआ इस दिशा में भी अपनी नैगमिक आम्नाय से कारणावाद की जिज्ञासा सर्वथा प्रणतभाव से अभिव्यक्त करने की धृष्टता करा रहा है। इस जिज्ञासा के समधान पर ही स्त्रं वर्ग, तथा अविवाहित कुमारवर्ग ने सम्बन्धित भीम गृह पितर तुष्टि-रुजिलक्षण उत्तरदायित्व 'धर्मसीमा' का अनुगामी बन सकता है, एवं तभी हम की मान्यता सुरक्षित रह सकती है। ओमित्येतत् ।

क्या नैगमिक मूल है तथाकथित मान्यता के समर्थन के लिए भी?। हे, और अवरय है। हमें तो वह मूल उपलब्ध हुआ नहीं?। आपने उपलब्धि के लिए अपने देशानुगत अभिनिवेश के

\* नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्मः सुक्ष्मोऽपि जाजले ।

कारणाद्धर्ममन्विच्छन् स लोकनान्नुते शुमान् ॥

—जाजलि के प्रति आपणुरूप भगवान् राम की उक्ति ।

कारण कोई यत्न न करते हुए उसी प्रकार 'नोपलभ्यते' कहने का दुःसाहस कर डाला, जैसे कि महान् शब्दप्रयोग का आलोडन-विलोडन किए बिना ही यदृच्छाशब्दों के सम्बन्ध में प्राचीनों ने— 'न सन्ति यदृच्छाः शब्दाः' घोषणा कर डाली थी, एवं उसी समय भगवान् पतञ्जलि (महाभाष्यकार) ने नैगमिक उदाहरणों के द्वारा ही 'ऊप'-तेर' आदि रूप से समाधान किया था। हाँ, तो आस्था धर्म-पूर्वक आप भी इस सम्बन्ध में—'उपलब्धा यतः क्रियताम्'। अवश्य ही आपको भी नैगमिक कारणवाद व्यक्त करने वाले नैगमिक उपलब्ध हो ही जायेंगे। इस पर भी यदि आप अपना अभिनिवेश सुरक्षित रखना चाहेंगे, तो उस दशा में भी हम तो अपनी ओर से निराशा का लेश भी समावेश न होने देते हुए इस विधिभाव का ही अनुगमन करेंगे आपके कालानुगत अभ्युदय के लिए कि—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्लवजलैर्भूयोऽविरात्रालिते ।

येषां नास्पदमादधाति हृदये, ते शूलसाराशयाः ॥

किन्तु प्रस्तुतविपरीतविधयोऽप्युच्चैर्मवचिन्तकाः ।

काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः ॥

—श्रीउद्यानाचार्यश्रुत न्यायकुमुदाज्जाले

अन्तिम (४) स्तयक

प्रकृतमनुसारायः । माकमेधयाग-महेन्द्रयाग-आदि विविध नामों से प्रसिद्ध एक विशेष फल-साधक याग ब्राह्मणग्रन्थों में 'महाहविर्याग' नाम से उपर्युक्त हुआ है। शतपथ में तो तीन ब्राह्मणों में ७८ कण्डिकाओं में इस यागरहस्य का प्रतिपादन हुआ है। वृत्रासुर (प्राणात्मक असुर) का दध करते हुए इन्द्र को महेन्द्रपद से समलंकृत कराने वाली प्राकृतिक यज्ञप्रक्रिया ही इस ब्राह्मणग्रन्थी में प्रतिपादित हुई है, जैसा कि—“महाहविषा वै देवा धृवं जन्तुः, तेनो एव व्यजयन्त-ययमेपां विजितिः” (शत० २।१।१।?) इत्यादि उपक्रमवचन से प्रमाणित है। जो द्विजाति अपने आध्यात्मिक आधारक वृत्रभावों को, तथा आधिदैविक वृत्रसमुदाय को परास्त कर सर्वविजयलाल की कामना रखता हो, उसी के लिए 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' रूप से यह अनुष्ठेययज्ञ ब्राह्मणैतिकर्त्तव्यता में समा-विष्ट हुआ है।

इस यागकर्म में आग्नेय अष्टाकपालपुरोडाश, सावित्र द्वादशकपालपुरोडाश, सारस्वतचरु, पौष्णचरु, मैत्रासद्वादशकपालपुरोडाश, माहेन्द्रचरु, वैश्वकर्मण्यकपालपुरोडाश, पैनपट्कपालपुरोडाश, रौद्रण्यकपालपुरोडाश, आदि अनेक अवान्तर यागों की इतिकर्त्तव्यता उपपत्तिपूर्वक बड़े आटोप के साथ प्रतिपादित हुई है, जिन में से अन्त की पैन-रौद्र, इन दो इतिकर्त्तव्यताओं की ओर ही हमें कारण-विज्ञासुओं का ध्यान आकर्षित करना है। श्रुतसम्बन्ध से महाहविर्याग में विहित पुरोडाश (आहुतिद्रव्य) पट्कपाल होता है, अतएव इसे 'पैनपट्कपालपुरोडाश' कहा गया है। अत्राद, अन्न, अनुभय, भेद से

पितर का त्रेधा वर्गीकरण प्राकृतिक माना गया है, जैसा कि श्राद्धविज्ञानान्तर्गत 'पितृस्वरूपविज्ञानोप-  
निषत्' नामक द्वितीय खण्ड में विस्तार से निरूपित है। पुत्रादि वंशजों की श्रद्धानाड़ी (चान्द्रनाड़ी) के  
द्वारा जिन चान्द्र महानात्मरूप पितरों को एकोद्दिष्टादि-महालयादि श्राद्धकर्म द्वारा तुष्ट वृत्त किया जाता  
है, उन चान्द्र पितरों की यजनप्रक्रिया का, इतिकर्त्तव्यता का प्रधानरूप से 'पिण्डपितृयज्ञ' ब्राह्मण में  
निरूपण हुआ है। चन्द्रलोकस्थ महानात्मलक्षण परलोकगत चान्द्रपितर का अर्थ है—पिण्डपितृयज्ञा-  
धिष्ठाता यजमान के चन्द्रलोकगत पिता-पितामह-प्रपितामहादि पटुपितर। इनके निमित्त ही 'मासि मासि-  
योऽशनम्' रूप से प्रति शमावास्या को, च्याहृतिथि को, एवं महालयश्राद्धपक्षानुगत गजच्छायायोग  
में यजमान (पुत्र) श्रद्धापूर्वक श्रुचिजों के सहयोग से आहुतिर्भक्षण प्रदान करता है। ये चान्द्रपितर इस  
दृष्टिकोण से 'अन्नादपितर' माने गए हैं। चन्द्रव्यात्मक आहुतिर्भक्षण के भोक्ता पितर 'हविर्भुक्'  
हैं, तरलद्रव्यात्मक आहुतिर्द्रव्य के भोक्ता पितर 'आज्यपा' हैं, एवं विरलद्रव्यात्मक आहुतिर्द्रव्य के  
भोक्ता पितर 'सोमपा' हैं। हवि खाया जाता है, आज्य (घृत) और सोम का पान किया जाता है।  
हविर्द्रव्यात्मक नियत पैत्र आहुतिर्द्रव्य में हवि, घृत, और अन्नगत सोम, तीनों द्रव्य समाधिष्ट हैं।  
इस प्रकार सोम-घृत-हविलक्षण एक ही हविर्द्रव्याहुति से तीनों अन्नादपितरों की दृष्टि हो जाती है।  
६ पितरों में से आदि के तीन पितर 'हविर्भुक्' (हविर्द्रव्य की घन आहुति लेने वाले) नामक अन्नाद-  
पितर हैं, ये ही तत्त्वतः मुख्य हैं। हविःप्राधान्य से ही इन्हें श्राद्धकर्मपरिभाषा में 'पिण्डभाजः'  
कहा गया है। इनके सन्तर्पण से ही हविर्द्रव्यमुक्त आज्य-सोमरूप लेपद्रव्य से शेष तीनों घृद्धप्रपिता-  
महादि पितर वृत्त हो जाते हैं। इनमें घृद्धप्रपितामह-अतिघृद्धप्रपितामह को तो 'आज्यपा' नामक अन्नाद-  
पितर कहा जायगा। एवं घृद्धातिघृद्धप्रपितामह को 'सोमपा' नामक अन्नादपितर माना जायगा। पिण्ड-  
पितृयज्ञ में श्रुतकाल में प्रतिष्ठित पटुविध इन चान्द्र मौम्य महानात्मानुगत नित्य-सपिण्डताप्रवर्त्तक  
पितरों को ही आहुतिद्वारा वृत्त किया जाता है, और यह अन्नप्रदान कर्म सधमयशः पर्यन्त नियमित  
रूप से प्रक्रान्त रहता है। आदि के तीन जहाँ 'पिण्डभाजः' हैं, वहाँ अन्त के तीन लेपानुशय के भोग के  
कारण 'लेपभाजः' कहलाए हैं। आज्य-सोमाहुति ग्रहणता ही इस अन्तत्रयी की लेपभाजनता है।  
पिण्डपितृयज्ञ में श्रुतसाक्षीभूत इसी चान्द्र प्रेतपितृपटु की इतिकर्त्तव्यता प्रधान मानी गई है, जैसा  
कि निम्न लिखित कतिपय तद्वाक्यवचनों से स्पष्ट ही प्रमाणित हो रहा है। देखिए !

“स जुहोति—अग्नये कल्पवह्नाय स्वाहा, सोमाय पितृमते स्वाहा। सकृदेव पराश्रः  
पितरः। तस्मात् सकृदुल्लिखति। परस्तादुल्लुक्कं निदधाति। श्रौदपात्रमादाय—अव-  
नेजयति—असावधनेनिच्वेति—यजमानस्य पितरं—पितामहं—प्रपितामहम्। (अवने-  
जनं—जलाजलिसमर्पणम्)। अत्र पितरो मादयध्वं यथाभागं मावृपायध्वमिति।  
यथाभागमग्नीतेत्येवैतदाह (अन्नादा भवन्तः, तस्मात् हविर्द्रव्यमग्नीत-इत्येवैतदाह)।”

पटकुत्वो नमस्करोति । गृहाणां ह पितर ईशते । एषा उ एतस्य आशीः कर्मणः ।  
अथे अवजिघ्रति प्रत्यवधाय पिण्डान् । स यजमानमागः”

—शत० २।१।२ द्वितीयब्राह्मण ।

दूसरा विभाग ‘अन्नपितर’ का है । जो पितर अन्य प्राणविशेषों के भोग्यान्न घना करते हैं, वे ही ‘अन्नपितर’ कहलाए हैं, जिनके ‘अग्निष्वाचा, सोमपत्, बर्हिपत्’ ये तीन श्रेणिविभाग प्रसिद्ध हैं । ये तीनों ही पार्थिव पितर हैं । पार्थिव भूतप्राण ही ‘श्मशा’ प्राणविशेष माना गया है, जिसका पूर्व के ‘श्मशान’ तथा ‘श्मशान’ शब्द-निर्वचनों के द्वारा सशरीकरण किया जा चुका है । श्मशा नामक पार्थिव भूतप्राण भूतों की ‘उष्ण-शीत-अनुष्णाशीत’ इन तीन अवस्थाओं ( जातियों ) के सन्बन्ध से तीन भागों में विभक्त हो जाते हैं । भूतभेदत्रयी ही श्मशाप्राणभेदत्रयी का स्वरूप धनती है । अतएव श्मशाप्राण के लिए भुक्ति में ‘श्मशा उ वै नाम पितृशामचारः’ ( शत० १३।२।१।१ ) इत्यादिरूप से बहुवचन प्रयुक्त हुआ है । उष्णभूतानुगत श्मशा नामक पार्थिव भूतप्राण संकेतपरिभाषापेक्षया ‘अग्नि’ कहलाया है, शीतभूतानुगत श्मशाप्राण ‘सोम’ कहलाया है, एवं अनुष्णाशीतानुगत श्मशाप्राण ‘बर्हि’ कहलाया है । अग्निश्मशा के द्वारा मुक्त पार्थिव पितर ‘अग्निष्वाचा’ कहलाए हैं, सोमश्मशा के द्वारा मुक्त पितर ‘सोमपत्’ कहलाए हैं, एवं बर्हिश्मशा के द्वारा मुक्त पितर ‘बर्हिपत्’ कहलाए हैं । श्मशाप्राणानुबन्धी ये तीनों अन्नपितर भौम पितर हैं, औपपातिक पितर हैं, जिनका श्मशाप्राणवासिरूप श्मशानस्थल में ही व्यक्तीभाव होता है । अतएव इन्हें ‘श्मशानवासीभूत’ ( भौतिक पितर ) कहा जा सकता है, जो स्व-व्यक्तीभावाधारभूत रावदाहसंस्कार के न होने से श्मशा के भोग्य से बचे रहते हुए कृत्यात्मक आधर्षण-प्रयोगों की सफलता ( श्मशानानुगता भूत-प्रेतसिद्धि ) के निमित्त बन जाया करते हैं, जैसा कि पूर्व में तन्नामनिर्वचनप्रसङ्ग में स्पष्ट किया जा चुका है ।

यह अग्निचार्यरूप से ध्यान में रखना है कि, चान्द्र अन्नादपितर हों, अथवा तो पार्थिव पूर्वापयणित अन्नपितर हों, अनुलक्षण ( अनुसमष्टिरूप ) चान्द्रसम्बन्ध का मूलाधारत्थ दोनों क्षेत्रों में समान है । साथ ही श्वात्तुल्य महद्गुणशयभोग-सम्बन्ध से चान्द्रपितर भी पिता पितामहद्विरूपेण पट्संस्थ हैं, एवं भौम पितर भी तदनुशयानुगति में पट्संस्थ ही हैं । चान्द्र महानात्मानुगता अनुशय-सम्बद्ध पट्संस्थता दोनों में समान है । किन्तु अन्नादात्मक पट्संस्थ पितर जहाँ चन्द्रमण्डलानुगत बनते हुए प्राकृतिक हैं, नित्य हैं, वहाँ अन्नात्मक पट्संस्थ पितर पार्थिवमण्डल में ही ( किन्तु रात्रि में ही, अथवा तो चन्द्रिका में ही ) विचरण करते हुए वैकारिक हैं, औपपातिक हैं, क्षण तुष्टः-क्षणे रुष्टाः हैं । इसलिए कि इन भौम पितरों के पार्थिव परिवारों के साक्षी-नियन्ता इनके स्वरूप के जातिधत्त क्षण-तुष्टाः-क्षणे रुष्टाः-पार्थिव रुद्र ही बने रहते हैं, जिनका तन्त्रशास्त्र ने श्मशानवासी भूतप्रेतगणोपसेवित-भूतेश-भूतनाथरूप से यज्ञोपान कर अपने को पावन बनाया है । भूताधिपति-पार्थिवाम्नेय प्राण ही तो

यह 'श्मशानप्राणदेवता' ( श्मशानदेवता ) है, जिसे पितरों का ( अन्नरूप भीम पितरों का ) 'अत्ता' कहा गया है। यही क्रव्यादाग्निरूप से अन्नपितरों को स्वभोगसीमा में अन्तर्मुक्त करता हुआ अपना एक स्वतन्त्र 'पितृपरिवार' सम्पादित कर लेता है। भीमपितृपरिवार रुद्र के नियन्त्रण से ही नियन्त्रित रहते हैं, मर्यादित बने रहते हैं। अतएव पितरों के साथ साथ इनके सञ्चालक-अधिपति-जान्धितम-रुद्र देवता का भी सम्मान करना अनिवार्य बन जाता है। न केवल पार्थिव्याग्निरूप रुद्रदेवता का ही सम्मान, अपितु इनके साथ साथ इनकी अवान्तर शक्तियों का भी सम्मान अनिवार्य बन जाता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट किया जाने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में बतलाने केवल यही है कि, त्रिविध अन्नपितर भी अन्नपितरयन् अनुसर्वादा से, तथा पदपितृप्राणमूर्ति चान्द्रपितरानुशयसम्बन्ध से पिता-पितानह-प्रपितामहादिरूप से पदसंस्थ ही हैं। पदसंस्थता दोनों में ममान हैं। विशेषता दोनों में चन्द्रलोकानुगता, भूलोकानुगता दोनों की प्रथक् प्रथक् प्रातिस्विक है। गृह्य वे भी हैं, गृह्य ये भी हैं। यिन्तु वे तत्तत्तयत कालों में ही तद्व्यंशधरों के गृहों में भद्रानाङ्गी के द्वारा मर्यथा नियतमार्ग से नियत समय से आते हैं, अनन्तर उस अवधि के भीतर भीतर स्थलोकस्मक चन्द्रलोक में परावृत्त हो जाते हैं, अतएव वे 'नित्यपितर' कहलाए हैं, जिन से सम्बन्ध रखने वाले पार्वणादि श्राद्ध भी 'नित्यश्राद्ध' कहलाए हैं। इधर ये भीम पितर अनियमित कालों में तद्व्यंशधरों के गृहों में भद्रा-अभद्रा से उभयथा मर्यथा अनियतमार्ग से अनियमित समय पर आते रहते हैं, इसी पार्थिव गृहस्थान में अनियमितरूप से उभयतः-अमूल-आमुर-राक्षस-प्राणयन् वायव्यशरीर से विचरण किया करते हैं, इस अनियमितता के कारण ही ये औपपातिक पार्थिव पितर 'अनित्यपितर' हैं, जिन से सम्बन्ध रखने वाला पारिवारिक अनियमित काम्यमंगलाचारानुबन्धी अनियमित श्राद्ध भी 'अनित्यश्राद्ध' ही कहलाया है। ये ही 'काम्यपितर' हैं, तदनुगत श्राद्ध ही 'काम्यश्राद्ध' है, जिसे निबन्धमन्त्रों में 'वृद्धिश्राद्ध' भी कहा है। महाहविर्व्याग एक काम्ययाग है, माहेन्द्रपदप्राप्तिपूर्वक शत्रुपराभव ही इस काम्ययाग का फल है। अतएव काम्य महाहविर्व्याग में ही इन अग्निज्वात्तादिलक्षण अन्नपितरों के ( काम्यपितरों के ) यजन का समावेश हुआ है। इन सब पारस्परिक विशेषताओं को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही इन उभयविध ( अन्नपद, तथा अन्न ) पितरों का स्वरूप समन्वय करना चाहिए। तीसरा विभाग 'अनुभयपितृवर्ग' का है, जिसे 'सुकालीपितर' कहा गया है, एवं जिन्हें 'शूद्रपितर' माना गया है। द्विजातिप्रजातिरिक्त शूद्रप्रजा, किंवा शूद्रसभर्मा द्विजातिप्रजानुगत पारिवारिक व्यक्तियों ही इनका अवैधविधि से यजन कर इन्हें यद्वातद्वारूपेण सन्तुष्ट करती रहती है। और यही त्रिविध पितरों का सक्षिप्त स्वरूप निदर्शन है, जैसाकि तालिकाओं से स्पष्ट है—

\* "यथाग्निर्गर्मा पृथिवी, तथा धौमिन्द्रेण भूमिता" ( शत० १११।१।२० )।

"अग्निर्वा रुद्रः। तस्यैते द्वे तन्वे घोरान्या च, शिवान्या च" ( शत० १११।१।२० )।

÷ "अमूलं वाऽहदमुभयतः परिच्छिन्नं रक्षोऽन्तरिक्षमनुचरति" ( शत० ३।१।३।३१ )।

(१) अन्नपितरः—(भोक्तारः)—पिण्डपितृयज्ञानुगता नित्याश्चान्द्राः—शान्ताः

पटपितरः—चान्द्राः—नित्याः—अश्रितः	(३) (६)—वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः—	सोमपाः	} सोमपाः (१)	} लेपभाजश्चतुर्थाद्याः (सोमाय पितृमते स्वाहा)
	(२) (५)—अतिवृद्धप्रपितामहः—	आज्यपाः		
	(१) (४)—वृद्धप्रपितामहः—	आज्यपाः	} आज्यपाः (२)	
	(३) (३)—प्रपितामहः—	हविर्भुजः	} हविर्भुजः (३)	} पिण्डभाजः (अग्नयेकव्यवाहनाय स्वाहा)
	(२) (२)—पितामहः—	हविर्भुजः		
	(१) (१)—पितरः—	हविर्भुजः		

—पिण्डदस्तु सप्तमः—एषां यजमानः ( पुत्रः पिण्डपितृयज्ञानुगता )  
( शतपथब्राह्मणान्तर्गत—पिण्डपितृयज्ञानुगता )

—x—

(२) अन्नपितरः—( भोग्याः )—महाहविर्यागानुगता औपपातिकाः पार्थिवाः रात्राः

पटपितरः—पार्थिवाः—अनित्याः—अश्रितः	(३)-(६)-अनुशयात्मकः-वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः-	वर्हिपदः	} -वर्हिपदः (१)	} -(सोमायपितृमते- निर्यपतिः)
	(२)-(५)-" -अतिवृद्धप्रपितामहः-	सोमसदः		
	(१)-(४)-" -वृद्धप्रपितामहः-	सोमसदः	} -सोमसदः (२)	
	(३)-(३)-" -प्रपितामहः-	अग्निप्यात्ताः	} -अग्निप्यात्ताः (३)	} ( पितृभ्यः सोमयद्भ्यो निर्यपति )
	(२)-(२)-" -पितामहः-	अग्निप्यात्ताः		
	(१)-(१)-" -पिता-	अग्निप्यात्ताः		

—आद्वकर्त्ता सप्तमः—एषां यजमानः ( पुत्रः—महाहविर्यागानुगता )  
( शतपथब्राह्मणान्तर्गते महाहविर्यागे निर्यपिताः )

—x—



(३)-अनुभयपितरः-अनुभयविधाः-सुकालिनः-शूद्रपितरः-अवैधकर्मनिगता लौकिकाः ।

— x —

\* सर्वसमष्टिः—

(१)-१-सोमपाः	{	—अन्नादपितरः-श्रीताः-चान्द्राः-नित्याः-शान्ताः	{	—सप्त वै पितरः सर्वे
१-(२)-२-आर्यपाः				
(३)-३-हविर्भुजः				
— *				
(४)-१-बहिपदः	{	—अन्नपितरः-श्रीतस्मार्त्ताः-पार्थिवाः-अपिपातिकाः रौद्राः	{	
२-(५)-२-सोमसदः				
(६)-३-अग्निष्वात्ताः				
— *				
३-(७)-१-सुकालिनः	{	—अनुभयपितरः-लौकिकाः-विमूढाः-उत्पातरूपाः घोराः	{	

— x —

(१) पूर्वपरिलेखों को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाइए, एवं तीनों पितृसंस्थाओं का यथावत् समन्वय कीजिए, तभी प्रतिज्ञात महामङ्गीत का यथानुरूप समन्वय हो सकेगा । नित्य-चान्द्र-शान्त-अन्नादपितरों से आनुष्ठेय प्राप्त करने के लिए प्रजोत्पादन, सपिण्डीकरण, एवं पिण्डपितृयज्ञैतिकर्त्तव्यतानुगत पार्वण, क्षयाह, महालयादि नित्य श्राद्धकर्म, इन तीन ऋणमोचनोपायों का अनुगमन करना पड़ता है ।

(२) अनित्य-पार्थिव-रौद्र अन्नपितरों से आत्मब्राह्म प्राप्त करने के लिए गयास्थान में स्मार्त्तविधिपूर्वक ( जो कि स्मार्त्तविधि महाहविर्यागात्मिका काम्या श्रौतविधिके आधार पर मुख्यस्थित है ) श्मशानपरिक्रमापूर्वक श्रद्धापूर्वक गयाश्राद्ध, तत्तद्विधेय कामनाओं की पूर्ति के लिए विहित वृद्धिश्राद्ध, तत्तत् विशेष-विवाहादिमाङ्गलिकावसरों पर गृहदेवियों के द्वारा अनुष्ठेय रात्रिजागरणात्मक चागाहुति-प्रधान \* ( लोकगीतप्रधान ) क्षीरान्नादियुक्त अन्न-वस्त्रादिद्वारा युक्त श्रद्धात्मककर्म, इन तीन ऋणमोचनोपायों का अनुगमन आम्नायानुमोदित माना गया है ।

\* “पितरो वाक्पमिच्छन्ति, भावमिच्छन्ति देवताः” ।

(३)-लौकिक-विमूढ-पार्थिव-घोर अनुमयपितरों से परित्राण प्राप्त करने के लिए तनूपितरों के प्रतीकभूत चतुष्पथानुगत ग्रामदेवता-भूतदेवता-भूतसत्त्वों को मान्यतापूर्वक सम्मानित किया जाता है ।

(१) अत्रादपितरों के विरुद्धसंधान के लिए वेदवित् ब्राह्मण को श्राद्धात्र से सन्तुष्ट किया जाता है । (२)-अन्नपितरों की सन्तुष्टि के लिए तनूप्रतीकरूप अधिवाहित पारिवारिक कुमार को पट्टा-रोहणसम्मान ( पाटे बैठाना )-श्वेतवस्त्रप्रदान-क्षीरात्रादि श्वेतभोजनप्रदान आदि से सत्-कृत किया जाता है । एवं कृष्णरात्रिगत इन अनित्य तमोगुणप्रधान पितरों की अवान्तर महीमस शक्तियों के सन्तर्पण के लिए रात्रिजागरण ( रातीजगा ) के दूसरे दिन विधवा स्त्री को वस्त्र-भोजनादि से सम्मानित किया जाता है । तथैव शुक्लरात्रिगत-चन्द्रिकामुक सत्त्वगुणप्रधान पितरों की अवान्तर निर्मल शक्तियों के सन्तर्पण के लिए रात्रिजागरणान्तर सधवा पुत्रयती स्त्री को तदनु रूप वस्त्र भोजनादि से सन्तुष्ट किया जाता है । (३)-अनुमय घोरपितरलक्षण भूतसत्त्वों के सन्तर्पण के लिए तनूप्रतीक-स्थानस्थित ( चतुष्पथ-चौराहा-स्थित ) ग्रामदेवताओं के लिए, घोररयानुगत श्वान-ककों के लिए, चिल्ला के लिए मापद्रव्य ( उर्द के बड़े आदि ) वा बलिबिधान-दीपचतुष्टयी विधान ( चौसुखा दीया ) विहित है । इस समयवारमक दृष्टिकोण को श्राद्धपूर्वक मूलधार बनाते हुए—अथ दो शब्दों में प्रकान्त मध्यस्थ (२) अन्नपितरों के उम परिवार के स्वरूप का भी उपवर्णन कर लीजिए, जिसका मूल श्रौत महा-हविर्याग धन रहा है ।

प्रथम अत्राद पितरों ( चान्द्रपितरों ) का भी परिवार है, सामान्य परिवार ही नहीं, बहुत बड़ा परिवार है, इतना बड़ा परिवार कि, जिस का विस्तार देख कर आप आश्चर्यविभोर हो जायेंगे । तभी तो चान्द्रपितर को 'महान्' कहा गया है लोकसूत्र है कि, 'सो बड़ा जिस का परिवार बड़ा' । चान्द्र-पितर स्यमह्योनिरुष से लोकासृष्टि में जहाँ चतुरशीतिलक्ष ( ८४०००० ) योनिरूप परिवार का अधि-प्राता है, वहाँ दाम्पत्यानुगत पारिवारिक सपिण्डता के अनुबन्ध से इस सापिण्ड्यभावप्रवर्णक चान्द्रपितर का द्वन्द्वात्मक ( दाम्पत्यभावात्मक ) परिवार शत-सहस्र परिवारों में फैला हुआ है, जिस का संक्षिप्त स्वरूप परिचय श्रद्धामोचनोपायोपनिषत् नामक प्रकान्त प्रकरण से आगे आने वाले 'आशौच-विज्ञानोपनिषत्' नामक प्रकरण में कराया जाने वाला है । यही तो इस चान्द्रपितरमहान की महत्ता-व्यापना है । प्रकृत के गयाभाद पञ्चिद्वेद में तो हमें द्वितीय मध्यस्थ अन्नपितरों ( पार्थिव पितरों ) के परिवार की ओर ही पारिवारिक भङ्गलकामनेच्छु भट्टालुओं का ध्यान आकर्षित करना है, जिस पार्थिव पितरपरिवार के आधार पर पृथक्स्थित 'गयाश्राद्ध, छुद्विश्राद्ध, श्रद्धान्तकर्म', ये तीन आत्मब्राह्मण-नुषन्धी भट्टानुषन्धी कर्म व्यवस्थित हुए हैं ।

'पितरों का परिवार' इस वाक्य में—'पितर' और 'परिवार' ये दो शब्द अपना-अपना भौतिक इतिहास रखते हैं । 'पितर' शब्देतिहास जहाँ 'कारणैतिहास' है, वहाँ 'परिवार' शब्दे-

तिहास 'कार्येतिहास' है। मूलैतिहास प्रथमेतिहास है, तूलेतिहास द्वितीयेतिहास है। कार्य का मूल ही 'पितर' है, मूल का तूलरूप ही 'परिवार' है। जिस तूलरूप से मूलदम्पती (मातापिता) चारों ओर से वेष्टित होते हुए केन्द्रभाव में परिणत हो जाते हैं, वही तूलभाव 'परिव्रियते अनेन' निर्वचन से 'परिवार' कहलाया है। इस परिवार के मूलपितर कौन, अन्नात्मक (सोमात्मक) पितरों का परिवार कौन, जिस से मूलपितर केन्द्रीभूत बन कर अपनी 'पितर' अभिधा को अन्वर्थ बना रहा है ?, प्रश्न है। समाधान कीजिए संख्यातः सिद्ध अव्यक्तज्ञान (सांख्यज्ञान) परम्परा का आश्रय लेते हुए।

जिस प्रकार भारतीय वैशेषिकदर्शन पार्थिवसम्बत्सरचक्रानुगत पञ्च महाभूतों की विरोपता को मूल बनाता हुआ वैकारिक-भौतिकसर्ग की तत्त्वमीमांसा अपना मुख्य प्रतिपाद्य विषय बनाता है, तथैव भारतीय सांख्यदर्शन चान्द्रसम्बत्सरचक्रानुगत त्रिगुणभावापन्न तन्मात्राभ्यां को मूल बनाता हुआ प्राकृतिक अव्यक्त सर्ग की तत्त्वमीमांसा अपना मुख्य प्रतिपाद्य मान रहा है। इस तत्त्वगणनात्मक संख्यानभाव से अनुप्राणित, अतएव 'संख्यातः सिद्धं ज्ञानं सांख्यम्' निर्वचनानुसार 'सांख्यदर्शन' नाम से प्रसिद्ध कपिलदर्शन ने जिस प्राकृतिक सर्ग की तत्त्वमीमांसा (आचरणात्मिका आचारमीमांसा नहीं) की है, सांख्यसम्मत वह प्राकृतसर्ग ही 'पितरपरिवार' की भूलभूमिका मानी जायगी, एवं इसी तत्त्वमीमांसादृष्टि से इस परिवार का स्वरूप दिग्दर्शन मीमांस्य माना जायगा।

"सम्बत्सरो वै सोमः पितृमान्" (तैत्तिरीयब्राह्मण १।६।८।२।) "पितृलोकः सोमः" (धौपीतकिन्नाब्रह्मण १६।५।) "पितृदेवत्यो वै सोमः" (शत० २।४।२।१२) "सोमप्रयाजा हि पितरः" (तै० ब्रा० १६।६।५) इत्यादि निगम वचनों के अनुसार भास्वरसोममय (तेजोमय-सोममूर्ति) चान्द्रसम्बत्सरप्रज्ञापति ही स्वसोमभाव से प्राकृतसर्ग का भूलप्रभव बनता हुआ 'पितर' (मूलपितर) है, जिस के परिवार का हमें श्रद्धापूर्वक अन्वेषण करना है। चान्द्राकारा यहाँ पिता है, चान्द्राकारासंलग्ना पार्थिव महिमा यहाँ माता है। यही वह प्राकृतिक दाम्पत्यभाव है, जिस के द्वारा चान्द्रसम्बत्सरात्मक वायुपृथिव्यमण्डल में सांख्यसम्मत चतुर्दशविध भूतसर्ग प्रतिष्ठित है। 'स्तम्ब-सर्ग' (वृक्षादिसर्ग) से आरम्भ कर 'ब्रह्मसर्ग' (देवयोनिसर्ग के अन्तिमसर्ग) पर्यन्त पार्थिवधरातल से चान्द्रमण्डल पर्यन्त व्याप्त (१४ चौदह प्रकार का) भूतसर्ग ही तथाकथित मूल चान्द्रपितर (वायुपृथिव्य-मूलदम्पतीलक्षण पितर) की प्रजा, किंवा 'पितरों का परिवार' है, जिस परिवार का सत्त्वविशालसर्ग, रजोविशालसर्ग, तमोविशालसर्ग, भेद से तीन भागों में वर्गीकरण हुआ है। चान्द्र महानात्मनिबन्धन त्रिगुणतत्त्वमीमांसक सांख्य ने निरिन्द्रिय (जड़-अचेतन-ओपविननस्पति-धातूपधातु आदि लक्षण) जड़-अचेतन सर्ग को 'तमोविशालसर्ग' कहा है, वही वहाँ का 'स्तम्ब' (मूलसर्ग-आदिसर्ग) है। पार्थिव धरातल पर इतस्ततः विचरणाशील सेन्द्रियसर्ग (चेतनसर्ग) ही वहाँ 'रजोविशालसर्ग' है, जिसे 'मध्यसर्ग' भी कहा गया है, जिस के अवान्तर मुख्य क्रमसिद्ध 'कृमि-क्रीट-पक्षी-पशु-मनुष्य' ये पाँच

विभाग प्रसिद्ध है। चन्द्रमानुगत पार्थिवधरातल से आरम्भ कर महन्मुचिं चन्द्रमापर्यन्त क्रमसंस्थानरूप से व्याप्त २८ इन्द्रियों से युक्त देवयोनिर्गर्ग ही 'सत्त्वविशालसर्ग' है, जिसे 'ऊर्ध्वसर्ग' भी कहा गया है, जिस के अवान्तर मुख्य विभाग क्रमसंस्थानरूप से 'यक्ष-राक्षस-पिशाच-गन्धर्व-पितर-इन्द्र-प्रजापति-ब्रह्म'-इन आठ अभिधाओं से तत्र संगृहीत है। रात्रि, एवं चन्द्रिका ही इन की आवास-भूमि है। यही ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तः-चतुर्दशविधो भूतसर्गः' है। यहाँ यह सर्वात्मना अवधेय है कि, सांख्याभिमत चन्द्रानुगत इस प्राकृतसर्ग में संगृहीत पितर-इन्द्र-प्रजापति-ब्रह्म-चारों केवल चन्द्रानु-बन्धी ही हैं। चान्द्र भास्वर प्रजातन्तुप्रवर्त्तक पितर, आत्मानुगत इन्द्रतत्त्व, पारमेष्ठ्य प्रजापतितत्त्व, स्वा-यम्भुय ब्रह्मतत्त्व आदि अन्य सौरादि सर्गनैवन्धन सर्गाधिष्ठाता उन पितर-इन्द्रादि से सांख्यानुगत पितर-इन्द्रादि का सर्वथा पार्थक्य है। चान्द्रसर्गानुगत पितर-इन्द्रादि भूतसर्गप्रवर्त्तक भूतप्रधान बनते हुए जहाँ मर्त्य हैं, वहाँ सौरादि अन्नाद पितर-इन्द्रादि प्राणसर्गात्मक देवसर्गप्रधान बनते हुए अमृत हैं, जिन का भूतयादी-त्रिगुणवादी सांख्य ने अपनी तत्त्वमीमांसा में स्पर्श भी नहीं किया है। एक प्रासङ्गिक नितान्त अवधेय दृष्टिकोण और मीमांस्य—

सांख्य ने मनुष्य को मध्यमर्ग मानते हुए इसे रजोविशालसर्ग (रजोगुणप्रधान) कहा है। एवं इस मान्यता के साथ उसने कृमि कीटादि की गणना में मनुष्यसर्ग का परिगणन माना है। सांख्य की इस मान्यता का हम समादर करेंगे—मनुष्य की 'शरीरदृष्टिप्रधान भूतदृष्टि' के आधार पर। शरीरात्माधिकरण-आत्मवादी यथाज्ञान आत्मबोधवञ्चित मनुष्य वास्तव में पशुयत् भूतसर्गात्मक ही है। आत्मबोधानुगता वेदान्तनिष्ठा (वेदान्तदर्शन-उपनिषद्निष्ठा) की दृष्टि से आत्मबोधानुगत मनुष्य का स्थान न केवल चान्द्रभूतसर्ग से ही श्रेष्ठ है, अपितु स्वयम्भू से आरम्भ कर पृथिवी पर्यन्त के समस्त विष-सर्ग के समतुलन में मानव श्रेष्ठ है, श्रेष्ठतर है, श्रेष्ठतम है, जैसा कि पुराणपुरुष की निम्नलिखित रह-स्यवाणी से प्रतिष्ठित है—

“गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि—

न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्” —महाभारत

मान्यता है सिद्धिवादी तान्त्रिकों की ऐसी कि, मानव अमुकामुक दीक्षानुगत तन्त्र-प्रकारों के अनुगमन से देवयर्गयत् सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, जिन सिद्धियों का योगात्मक प्रकार योगदर्शन में बड़े आदोष से उपरक्षित माना गया है योगव्याप्तक समाधिपरायण सिद्धों की मान्यता में। अष्ट-सिद्धि, नवतुष्टि, ये १५ श्रद्धियाँ पूर्वोक्त अष्टविध यक्षराक्षसपिशाचादि देवयोनियों में सद्गज हैं, जिनमें मानव तन्त्रपद्धति के द्वारा, किंवा योगमार्गद्वारा प्राप्त कर यक्ष-राक्षस-पिशाचादिपन् सिद्ध बन सकता है, जिस सिद्धि के अन्वेषण में आज का मानव यत्र तत्र अन्वेषण-परायण बनता हुआ त्यात्मबोधपथ से

एकान्ततः लक्ष्यच्युत हो गया है। सिद्धियों नगण्य हैं परिपूर्ण मानव के आत्मबोध-समतुलन से, जो कि मानव प्रजापति विश्वेश्वर के नोदध वनता हुआ—‘पूर्णमदः पूर्णमिदम्’ को अन्वर्थ घना रहा है। ब्रह्मविद्यात्मिका देवविद्या के प्रवर्तक भारतीय नैगमिक मानव (महर्षि) के “ब्रह्मविद्या ह वै सर्वं भविष्यन्तो मनुष्याः” इस नैगमिक उद्घोष के सम्मुख, सहज सिद्धियों के सम्मुख, निगमानुगता आम्नायमूला सिद्धियों के समतुलन में सांख्यसर्गाभिनिविष्ट-कृमि कीटादिसर्ग समतुलित-रजोगुणा-लक्षव्यासकमना यथाजात मनुष्य की सिद्धि कामना, सिद्धिप्रदाता असुर-राक्षसादि भायापन्न चान्द्र-देवता, तद्व्यामोहक सिद्धिमार्ग के उपदेशक, सब कुछ सर्वात्मना हतप्रभ हैं, जैसा कि ‘भारतीय हिन्दू-मानव श्री भावुकता’ नाम स्वतन्त्र निबन्धान्तर्गत ‘मानवस्वरूपमीमांसा’ नामक परिच्छेद में विस्तार से प्रतिपादित है। अभिनन्दन कर रहे हैं हम भी उन सिद्धिकामुकों की मान्यता का निम्न लिखित शब्दों में—

प्रकृतेर्गुणसम्भूताः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

तानकृत्स्नविदो मन्दान्-कृत्स्नविष विचालयेद् ॥ —गीता ३ । २६ ।

प्रकृतमनुसरामः । ‘आ ब्रह्मभुवनान्तोका पुनरावर्तिनः’ (गीता ८ । १६) से लोकसमद-धिया संगृहीत पूर्वदिग्दर्शित चतुर्दशविध भूतसर्ग ही चान्द्रदाम्पत्यात्मक मूल पितर का चान्द्रपरिवार है, यही आत्मात्मक पितरों का १४ प्रकार का परिवार है, जिस की मध्यस्थता से ही हम प्रतिज्ञात महा-सङ्गीत का समन्वय करने के लिए समुत्सुक हैं।

सांख्यदर्शानुगतश्चतुर्दशविधो भूतसर्गः (चतुर्दशविधाः—अप्रपितरः—मर्त्याः)

१—	(१४) ब्रह्म (१) (१३) प्रजापतिः (२) (१२) इन्द्रः (३) (११) पितरः (४) (१०) गन्धर्वः (५) (९) पिशाचः (६) (८) राक्षसः (७) (७) यक्षः (८)	—देवसर्गः ( सत्त्वविशालः ) ऊर्ध्वसर्गः—अपुत्रिधः
२—	(६) मनुष्यः (१) (५) पशुः (२) (४) पक्षी (३) (३) कीटः (४) (२) कृमिः (५)	—तिर्य्यक्सर्गः ( रजोविशालः ) मध्यसर्गः—पञ्चविधः
३—	(१) स्तम्बः (श्रोतृधिवनस्पतयः) (१)	—भूतसर्गः ( तमोविशालः )—मूलसर्गः— अनेकविधोऽप्येकविधः

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः—चतुर्दशविधो भूतसर्गः  
चान्द्रसर्गः—द्यावापृथिव्यः—(मर्त्यः)

चान्द्रसर्गानुगत देवसर्गानुबन्धी ब्रह्म-प्रजापति-आदि देवसर्गानुगत प्राणसर्गानुबन्धी-ब्रह्म-प्रजापति आदि प्राणदेवों से ग्रथक् तत्त्व है, यह कहा जा चुका है । निम्न लिखित कतिपय निगमवचन इसी कथन को प्रमाणित कर रहे हैं । देखिए !

- (१)-चन्द्रमा वै 'ब्रह्म' ( ऐत० ब्रा० २।४१ ) । —ब्रह्म (८)
- (२)-असौ वै चन्द्रः 'प्रजापतिः' ( शत० ६।२।२।१६। ) । —प्रजापतिः (५)
- (३)-यन्मनः स 'इन्द्रः' ( गोथ्य ब्रा० ७।५।११। ) । } —इन्द्रः (६)
- तद्यन्मनश्चन्द्रमाः सः ( जै० उ० ब्रा० १।२६।५। ) । —पितरः (५)
- (४)-सोमप्रयाजा हि 'पितरः' ( तै० ब्रा० ७।६६।५। ) । —गन्धर्वः (४)
- (५)-चन्द्रमा 'गन्धर्वः' ( शत० ६।४।१।६। ) । —पिशाचः (३)
- (६)-यातुधानेभ्यः कण्डकाकारं-**पिशाचेभ्यः** विदलाकारम् ( तै० ब्रा० ३।५।५। ) । } —पिशाचः (३)
- अथ यः कामयेत पिशाचान्-गुणीभूतान् । ( सा० वि० ३।७।३। ) ।
- (७)-'रक्षांसि' वै पाप्मा अग्रिणः ( ऐत० ब्रा० १।६।२ ) । } —राक्षसः (२)
- (८)-अन्नं वै रूपम् ( नाम च ) ( शत० ६।२।१।१२ ) । } —यक्षः (१)
- सोमो राजां अन्नं चन्द्रमाः- ( शत० ८।३।३।११। )
- नामरूपे वै 'यक्षे' ( शत० १।१।२।३।३। )
- यक्षं भवति रूपमेव ( शत० १।१।३।४। )
- (९)-चन्द्रमा 'मनुष्यलोकः' ( जै० उ० ३।१३।१२। ) । —मनुष्यः (५)
- (१०)-असौ वै चन्द्रः 'पशुः' ( शत० ६।२।२।१७। ) । —पशुः (४)
- (११)-ययो ( पक्षी ) वै 'सुपर्णः' ( की० १।८।४। ) । } —पक्षी (३)
- चन्द्रमा सुपर्णो धावते दिवि- ( यजुः सं० ) ।
- (१२)-चन्द्रं प्राप्य-**कीटाः-पतङ्गाः** ( शत० १।४।६।१।१६। ) । —कीटः (२)
- (१३)-मनः (चन्द्रमाः) प्रजापतिः । आ **'कृमिभ्यः'**-तत्तेऽन्नम् ( वृ० आ० ६।१।१४ ) । —कृमिः (१)
- (१४)-तदेतन्निदानेन यन् **'स्तम्ब'** यजुः । ( शत० १।२।४।१२। ) । —स्तम्बः (१)

\* 'नैनं रक्षो, न पिशाचो दिनस्ति, न जम्भको, नाप्यसुरो, न यक्षः । न सूचिका तस्य कुलोऽस्य जायते, इरामणिं वेल्वं यो विमर्त्ति' ।

—शाङ्खायनारण्यक १२।५।

चतुर्धाविधः-ब्रह्मादिसम्बन्धेन-भूतसर्गः-चान्द्रः-**'चन्द्रमा वै सर्वम्'** ( गोथ्यब्राह्मण पृ० ५।१५। )

पितृमूर्ति वावाप्रथिव्य चान्द्र-सम्बन्धप्रजापति ही 'पितर' है, ब्रह्मादि स्तम्भपय्यन्त १४ प्रकार के भूत ही (भूतप्रजा—“प्रजा वै भूतानि” ( शत० २३।२।१ ) प्रजा पति के चौदह पुत्र हैं। सभी दाम्पत्यभाव से युक्त बनते हुए अपने अपने प्रातिस्थिक ब्राह्म-प्राजापत्य-पेन्द्र-पैत्रादि परिवारों के अधिष्ठाता बन रहे हैं, जिन सब का स्वरूप परिचय स्वतन्त्रनिबन्ध-सापेक्ष ही है। पितरों के इस महान्-महनीय भूतपरिवार की सामान्यमहा चान्द्रसोम के सम्बन्ध से होगी 'पितर'। तभी तो इस भूतसर्ग-समष्टि को 'पितरपरिवार' कहना अन्वर्थ बनता है। परिवारध्यक्ष चान्द्रपितर पार्थिव्याग्निसमनुलन-रूपया-‘रुद्र’ कहलाया है। ‘रुद्र’ नामक पार्थिव्याग्न्यनुगत चन्द्रमा, किंवा चान्द्रमहन्पितर इसी, महत्-भाव से ‘महादेव’ कहलाया है, जैसाकि निम्न लिखित श्रुति से प्रमाणित है—

“प्रजापतिरतं रुद्रं अग्रवीत्—‘महान् देवोसी’ति । तद्यदस्य तच्चात्मकरोत्, चन्द्रमा-स्तद्रूपमभवत् । प्रजापतिर्वै चन्द्रमाः । प्रजापतिर्वै महान् देवः” ।

—शतपथ ६।१।३ १६ ।

जमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में—जिसमें कि नैगमिक वचनों का बड़ा ही रहस्यात्मक स्वरूप-विरलेपण हुआ है—इस पितरमूर्ति चान्द्र-महान् का आध्यात्मिक स्वरूप विरलेपण हुआ है, जिसे आत्मबोधानुरीलनपरादण परिपूर्णपथारूढ सहज मानव के लक्ष्य से यहाँ प्रसङ्गधिया उद्भूत कर दिया जाना है, जिस की रहस्यपूर्ण व्याख्या अन्ध्यात्मजगत् में ही अन्येष्ट्य है—

“तद् शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणञ्च ( काचसेनिम् ) ब्राह्मणः परिवेदिष्यमाणा-उपायग्राज । तौ ह विभिचे । तं ह नाऽऽद्राते को वा को वेति मन्यमानौ । तौ होपंजगौ—

“महात्मनश्चतुरो देव एकः कस्य जगार भुवनस्य गोपाः ।

तं कापेय न विजानन्त्येकेऽभिप्रतारिन् बहुधा निविष्टम् ॥”

त होवाचाऽभिप्रतारीमं वाव प्रपद्य प्रतिब्रूहि । इति । त्वया वा अयम्प्रत्युच्य इति । तं प्रत्युवाच—

“आत्मा देवानामुत मर्त्यानां हिरण्यदन्तो रपसो न क्षतुः ।

महान्तमस्य महिमानमाहुरनघमानो यददन्तमचि ॥” इति ।

महात्मनश्चतुरो देव एक इति । वाग्वा अग्निः ( पार्थिवः ) । स महात्मा देवः । स यत्र स्वपितृ-तद्वत्त्वं प्राणो गिरति । मनश्चन्द्रमास महात्मा (महाना-



त्मा) देवः । स यत्र स्वपिति, तन्मनः प्राणो गिरति । चक्षुरादिन्यस्त महात्मा देवः ।  
 स यत्र स्वपिति, तच्चक्षुः प्राणो गिरति । श्रोत्रं दिशस्ता महात्मानो देवाः । स यत्र  
 स्वपिति, तच्छ्रोत्रं प्राणो गिरति । तद्यन्महात्मानश्चक्षुरो देव एक इत्येतद् तत् ।  
 कस्तं जगारेति । प्रजापतिर्वै कः (अनिरुक्तः) स हैतज्जगार । भुवनस्य गोपा इति ।  
 स उ याव भुवनस्य गोपाः । तं कापेयं विजानन्त्येके—इति । न ह्येतमेकं विजानन्ति ।  
 अग्निप्रतारिन् बहुधा निविष्टमिति । बहुधा ह्येवैव निविष्टः—यत्प्राणः । आत्मा देवा-  
 नामृत मर्त्यानामिति । आत्मा ह्येव देवानामृत मर्त्यानाम् । हिरण्यदन्तो रपसो न  
 सूनुरिति । न ह्येव सूनुः । सूनुरूपो ह्येव सन्न सूनुः । महान्तनस्य महिमानमाहु-  
 रिति । महान्तं ह्येतस्य महिमानमाहुः । अनघमानो यददन्तमचीति । अनघमानो  
 ह्येवोऽदन्तमचि । (इति न्वध्यात्मम्) ।

देवो देव्या समधश्च (दाम्पत्यभावे परित्यक्तः) । तासां वा एतासां देवतानां द्वयो-  
 र्द्वयोर्देवतयोरन्य-नवाक्षराणि सम्पद्यन्ते । एवोऽधिदेवतम् । एवं हैतस्मिन् सर्वमिदं  
 सम्प्रोक्तं गन्धर्वाप्सरसः पशवो मनुष्याः” इति । (जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण) ।

शु से उपलक्षित चान्द्रसोमात्मक महत्पितर (मर्यपितरः) पिता है, पार्थिव धरातल माता  
 है, धी पिता है, पृथिवी माता है, दोनों के दाम्पत्य से प्रसूत ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त १४ रौद्र चान्द्र प्रजा-  
 सर्ग है, यही ‘भ्रातृसर्ग’ है, एवं इन से समतुलित वायापृथिव्य प्राणशक्तियों ‘स्वसृसर्ग’ (भगिनीसर्ग)  
 है । १४ भ्राता, १४ भगिनीयाँ, सम्भूय २८ सन्ततियाँ (भाईबहिन) वायापृथिव्य चान्द्रसम्बत्सराक्षसों में  
 (इसी से उत्पन्न होकर) विचरण कर रही हैं । सापिण्ड्यपितृवंश की भाँति इन भाई-बहनों के भी स्व-  
 तन्त्रवंश चित्त होते हैं, जं भूतसर्ग का एक कौतूहलपूर्ण रहस्यात्मक विषय माना गया है । ब्रह्मादि-  
 भ्रातृवर्ग से दाम्पत्यभावयुक्त सर्गपत्नियाँ ‘साम्राज्ञी’ कहलाई हैं, जिन्हें लोकानुबन्धी महासंगीत में  
 ‘महाराणी’ कहा गया है । ब्रह्मादि भ्राताओं की प्राणशक्तिरूपा बहिनों में से कुछ एक तो दाम्पत्यभाव  
 से युक्त होकर भूतसर्ग में सहयोग प्रदान करती हैं, एवं कुछ एक दाम्पत्यभाव से असंतुष्ट बनी रह कर  
 भूतसर्ग में विघ्नपरम्परा का सर्जन किया करती हैं । चौदह भ्राताओं की चौदह बहिनों के इस दृष्टिकोण  
 से ७-७-के दो श्रेणिविभाग हो जाते हैं । ब्रह्म-प्रजापति-इन्द्र-पितर-गन्धर्व-यत्-मनुष्य, इन सात  
 भूतसर्गों की ( भ्राताओं की ) सात बहिनें तो शुक्लचन्द्रानुगता रात्रि को (शुक्लपक्ष को) अपना आवास  
 बनाती हुई दाम्पत्यभाव से युक्त हैं, यही सप्तस्वसा-समष्टि ‘शुक्लस्वसा’ कहलाई है । एवं पिशाच-राक्षस-  
 पशु-पक्षी-कीट-कृमि-स्तम्ब-इन सात भूतसर्गों की ( भ्राताओं की ) सात बहिनें कृष्णचन्द्रानुगता रात्रि  
 ( कृष्णपक्ष ) को अपना आवास बनाती हुई दाम्पत्यभाव से वञ्चित हैं, सर्गस्वरूपविधातिका निश्चयि-

पितृमूर्ति वावापृथिव्य चान्द्र-सम्यक्तरप्रजापति ही 'पितर' है, ब्रह्मादि स्तम्भपर्यन्त १४ प्रकार के भूत ही (भूतप्रजा—“प्रजा वै भूतानि” ( रात० २।१।२।१ ) प्रजा पति के चौदह पुत्र हैं। सभी दाम्पत्यभाव से युक्त बनते हुए अपने अपने प्रातिस्थिक प्राद्व-प्राजापत्य-पेन्द्र-पैत्रादि परिवारों के अधिष्ठाता बन रहे हैं, जिन सब का स्वरूप परिचय स्वतन्त्रनिबन्ध-सापेक्ष ही है। पितरों के इस महा-महनीय भूतपरिवार की सामान्यसंज्ञा चान्द्रसोम के सम्वन्ध से होगी 'पितर'। तभी तो इस भूतसर्ग-समष्टि को 'पितरपरिवार' कहना अन्वर्थ बनता है। परिवार-प्यक्त चान्द्रपितर पार्थिव्याग्निसमत्तुलन-रूपस्था-रुद्र कहलाया है। 'रुद्र' नामक पार्थिव्याग्न्यनुगत चन्द्रमा, किंवा चान्द्रमहनपितर इसी महत्त्व-भाव से 'महादेव' कहलाया है, जैसाकि निम्न लिखित श्रुति से प्रमाणित है—

“प्रजापतिस्तं रुद्रं अंघ्रवीत्—‘महान् देवोसी’ति । तद्यदस्य तन्नामाकरोत्, चन्द्रमा-  
स्तद्वरूपमभवत् । प्रजापतिर्यै चन्द्रमाः । प्रजापतिर्यै महान् देवः” ।

—शतपथ ६।१।३।१६।

जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण में—जिसमें कि नैगमिक वचनों का बड़ा ही रहस्यात्मक स्वरूप-विरलेपण हुआ है—इस पितरमूर्ति चान्द्र महान् का आध्यात्मिक स्वरूप विरलेपण हुआ है, जिसे आत्मबोधानुशीलनपरायण परिपूर्णपथारूढ सहज मानव के लक्ष्य से यहाँ प्रसङ्गाधिया उद्धृत कर दिया जाता है, जिस की रहस्यपूर्ण व्याख्या अध्यात्मजगत् में ही अन्वेष्टव्य है—

“तद् शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणञ्च ( काक्षसेनिम् ) ब्राह्मणः परिवेषिष्यमाणा-  
उपावव्राज । तौ ह विमिक्षे । तं ह नाऽऽदद्राते को वा को वेति मन्यमानौ । तौ होपजगौ—

“महात्मनश्चतुरो देव एकः कस्य जगार भुवनस्य गोपाः ।

तं कापेय ज विज्ञानन्त्येकैऽभिप्रतारिन् बहुधा निविष्टम् ॥”

स होवाचाऽभिप्रतारीर्न वाव प्रपद्यं प्रतिब्रूहि । इति । त्वया वा अयमप्रत्युच्य  
इति । तं प्रत्युवाच—

“आत्मा देवानामुत मर्त्यानां हिरण्यदन्तो रपतो न स्रुतः ।

महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यददन्तमचि ॥” इति ।

महात्मनश्चतुरो देव एक इति । वाग्वा अग्निः ( पार्थिवः ) । स महात्मा  
देवः । स यत्र स्वपिति-तद्वाचं प्राणो गिरति । मनश्चन्द्रमास्स महात्मा ( महाना-

त्मा) देवः । स यत्र स्वपिति, तन्मनः प्राणो गिरिति । चक्षुरादित्यस महात्मा देवः । स यत्र स्वपिति, तच्चक्षुः प्राणो गिरिति । श्रौत्रं दिशस्ता महात्मानो देवाः । स यत्र स्वपिति, तच्छ्रोत्रं प्राणो गिरिति । तद्यन्महात्मानश्चतुरो देव एक इत्येतद् तत् । कस्त जगारेति । प्रजापतिर्वै कः (अनिरुक्तः) स हैतज्जगार । भुवनस्य गोपा इति । स उ वाव भुवनस्य गोपाः । तं कापेय विज्ञानन्त्येके-इति । न ह्येतमेकं विज्ञानन्ति । अभिप्रतारिन् बहुधा निविष्टमिति । बहुधा ह्येव निविष्टः-यत्प्राणः । आत्मा देवानामुत मर्त्यानामिति । आत्मा ह्येव देवानामुत मर्त्यानाम् । हिरण्यदन्तो रपसो न सूनुरिति । न ह्येव सूनुः । सूनुरूपो ह्येव सन्न सूनुः । महान्तस्य महिमानमाहु-रिति । महान्तं ह्येतस्य महिमानमाहुः । अनघमानो यददन्तमचीति । अनघमानो ह्येवोऽदन्तमचि । (इति न्वध्यात्मम्) ।

देवो देव्या समधत्त (दाम्पत्यभावे परिणतः) । तासां वा एतासां देवतानां द्वयोर्द्वयोर्देवतयोर्नव-नवाक्षराणि सम्पद्यन्ते । एषोऽधिदेवतम् । एवं हैतस्मिन् सर्वमिदं सम्प्रीतं गन्धर्वाप्सरसः पशवो मनुष्याः" इति । (जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण) ।

यु से उपलब्धित चान्द्रमोमात्मक महत्पितर (मर्त्यपितरः) पिता है, पार्थिव धरातल माता है, धी पिता है, पृथिवी माता है, दोनों के दाम्पत्य से प्रसूत ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त १४ रौद्र चान्द्र प्रजासर्ग है, यही 'भ्रातृसर्ग' है, एवं इन से समतुलित शावापृथिव्य प्राणशक्तियों 'स्वसृसर्ग' (भगिनीसर्ग) है । १४ भ्राता, १४ भगिनियाँ, सम्भूय २२ सन्ततियों (भाईबहिन) शावापृथिव्य चान्द्रसम्बत्सराकाश में (इसी से उत्पन्न होकर) विचरण कर रही हैं । सापिण्ड्यपितृवंश की भाँति इन भाई-बहनों के भी स्व-नन्त्रवंश वित्त होते हैं, जं भूतसर्ग का एक कौतूहलपूर्ण रहस्यात्मक विषय माना गया है । ब्रह्मादि-भ्रातृवर्ग से दाम्पत्यभावयुक्त सर्गपत्नियाँ 'साम्राज्ञी' कहलाई हैं, जिन्हें लोकानुबन्धी महासंगीत में 'महाराणी' कहा गया है । ब्रह्मादि भ्राताओं की प्राणशक्तिरूपा बहिनों में से कुछ एक तो दाम्पत्यभाव से युक्त होकर भूतसर्ग में सहयोग प्रदान करती हैं, एवं कुछ एक दाम्पत्यभाव से असंतुष्ट बनी रह कर भूतसर्ग में विघ्नपरम्परा का सर्जन किया करती हैं । चौदह भ्राताओं की चौदह बहिनों के इस दृष्टिकोण से ७-७ के दो श्रेणिविभाग हो जाते हैं । ब्रह्म-प्रजापति-इन्द्र-पितर-गन्धर्व-यक्ष-मनुष्य, इन सात भूतसर्गों की ( भ्राताओं की ) सात-बहिनें तो शुक्लचन्द्रानुगता रात्रि को (शुक्लपक्ष को) अपना आवास बनाती हुई दाम्पत्यभाव से युक्त हैं, यही सप्तस्वसा-समष्टि 'शुक्लस्वसा' कहलाई हैं । एवं पिशाच-राक्षस-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-स्तम्ब-इन सात भूतसर्गों की ( भ्राताओं की ) सात बहिनें कृष्णचन्द्रानुगता रात्रि (कृष्णपक्ष) को अपना आवास बनाती हुई दाम्पत्यभाव से वञ्चित हैं, सर्गस्वरूपविधातिका निश्चित-

देवता- (दरिद्रताप्रवर्चक नैऋतकोणस्थित विष्वंसक सर्वस्वापहारक घोरतम याम्यप्राणदेवता) -सम-  
तुलिता हैं, यही सप्त स्वसासमष्टि "कृष्णस्वसा" कहलाई हैं। महासङ्गीतात्मिका लोकभाषा में ब्रह्माद्य-  
नुगता शुक्लस्वसाओं को 'ऊजली सात मैणों' (शुक्लसप्तस्वसा) कहा जाता है, एवं पिशाचाद्य-  
नुगता कृष्णस्वसाओं को 'मैली सात मैणों' (कृष्णसप्तस्वसा) कहा जाता है। यही निधति ब्रह्मादि-  
स्तम्बपर्यन्त चित्त चतुर्दश भ्रातृवर्ग के साथ समतुलित है, जो 'ज्येष्ठभ्राता' कहे जायेंगे। प्राकृतिकसर्ग  
में चान्द्रबापापृथिव्य पितर से सर्वप्रथम ब्रह्मादि चतुर्दशभाव व्यक्त होते हैं, तदनन्तर इनकी स्वस्वरूप  
समतुलिता चतुर्दश प्राणशक्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं। अतएव चतुर्दश भ्रातृवर्ग को 'ज्येष्ठ' कहा  
जायगा, एवं चतुर्दश स्वसृवर्ग को 'कनिष्ठ' माना जायगा। छोटी भगिनी के लिए ही 'स्वसा' शब्द  
नियत है, जो लोक में अपने ज्येष्ठभ्राता की पत्नी (भावज-भोजाई-भाभी) की ननान्द्री। (ननद-नणद-  
नणदौली-नणदत) कहलाई है। सङ्गीतभाषा में इसी ज्येष्ठ-कनिष्ठ भावानुबन्ध से ब्रह्मादि  
चतुर्दश तूलपितरों को 'दादाभाई' (बड़ाभाई-ज्येष्ठभ्राता) कहा जाता है, और इस सम्बन्ध में ऐसी  
मान्यता है कुलदेवियों की कि, जब किसी पारिवारिक बालक, अथवा तो स्त्री पर पितृदोष का आक्रमण  
हो जाता है, तन्निराकरणार्थ जब ये देवियाँ रात्रिजगरणादि लोकानुष्ठानों के द्वारा सर्वप्रथम भगिनीवर्ग  
(जोकि इनकी शान्तीयभाषा में—'मावली' नाम से प्रसिद्ध हैं) को सन्तुष्ट कर इन से यह जानने का मान-  
सिक संकल्प इनके सम्मुख परोक्षरूप से अद्वापूर्वक अभिव्यक्त करती हैं, तो कथन अथवा की भाँति पर-  
कायप्रवेश-द्वारा यह स्वसृवर्ग पितृदोषाक्रमण (भूलदोषाक्रमण) का कारण स्वयं बतला देती हैं। यदि  
यह कारण-स्वरूप इनको अपनी सीमित प्राणशक्ति से बहिर्भूत रहता है, तो ये परकायप्रवेश द्वारा उस  
समय यह आर्यासन प्रदान कर अन्तर्हित हो जाती हैं कि—“हम दादाभाई- (ज्येष्ठभ्रातृवर्गात्मक  
ब्रह्मादि पितरों) से पूछ कर तुम्हें इस दोषाक्रमण का कारण बतला सकेंगी”—“दादाभाई से  
पूछर धानें पाछे बतवाँला”—आदि शान्तीय प्रचलित व्यवहार वास्तव में बड़ा ही रहस्यपूर्ण माना  
जायगा, जिसे केवल पोथी का पंडित व्याख्यासहस्रो से भी तबतक इस लोकअद्वा-मक व्यवहारकारण  
का अद्वापूर्वक समन्वय नहीं कर सकता, जब तक कि वह स्वयं इस महासंगीतभाषा का अनुगामी नहीं  
बन जाता।

जैसा कि कहा गया है, ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त चतुर्दशविध ज्येष्ठभ्रातृवर्ग में भी ५-५-के दो  
ही सप्तक प्रधान हैं। ब्रह्म-प्रजापति-इन्द्र-पितर-गन्धर्व-यक्ष-मनुष्य, यह प्रथमसप्तक तो शुक्लचन्द्रा-  
नुगता रात्रि (शुक्लपक्ष) को अपना आवास बनाते हुए दाम्पत्यमावानुगति से विश्वसर्ग के संरक्षक  
बना रहता है, एवं पिशाच-राक्षस-पशु-पक्षी-कीट-कृमि-स्तम्ब, यह द्वितीय सप्तक कृष्णचन्द्रानुगता  
रात्रि (कृष्णपक्ष) को अपना आवास बनाते हुए नियत वैध दाम्पत्यमावानुगति से वञ्चित रहता हुआ  
अनियमित स्खलन प्रक्रियाओं को चरितार्थ करता हुआ विश्वसर्ग का विष्वंसक बना रहता है। दोनों  
भ्रातृवर्गसप्तक दोनों स्वमसर्गसप्तक से समतुलित हैं। ठीक यही समतुलनभाव भ्रातृसप्तकद्वय की

वैध-अत्रैध चतुर्दश पत्नियों में समन्वित समझना चाहिये, जिन्हें पूर्व में 'साम्राज्ञी' कहा गया है, जो संगीतभाषा में 'महारानी' कहलाई हैं। ब्रह्मादि-मानवान्त प्रथम सप्तक का सप्त वैध पत्नीवर्ग 'साम्राज्ञी' कहलाएगा, एवं पिशाचादि स्तम्बान्त द्वितीय सप्तक का अनेध उपपत्नीवर्ग निगमभाषा में 'निष्कृति' कहलाएगा, तन्त्रभाषा में 'धूमावती' कहलाएगा, लोकभाषा में 'विधवा' कहलाएगा। इन लोकमान्यताओं का मूल सर्वोत्तमा निगमशास्त्र ही बना हुआ है। कहें, कैसे ? अन्वेष्टव्यम्। अन्वेष्टन कीजिए अष्टापूर्वक, आस्थानुगता विधि को मूल बना कर, अश्रद्धानुगता 'निषेधभाषा' (नहीं है, नहीं मानते) को सर्वोत्तमा विस्मृत करते हुए। तदैव महती सम्भूतिः। अन्यथा तु महती विनष्टिः।

तथोपयुक्त चान्द्र-द्यावापृथिव्य-पितरपरिवार की सामान्य संज्ञा है—'पितर', जिनका पूर्वविरलेपणानुसार सप्त-सप्त भेद से शुक्ल-कृष्णरात्रियों (शुक्लकृष्णपक्षात्मक चान्द्रमासमण्डल) में ही आवास निवास है, जैसा कि निम्नलिखित निगमवचनों से प्रमाणित है—

:(१)-तत्तमसः पितृलोकादादित्यं ज्योतिरभ्यायन्ति (शत० १३।१।१६)।

:(२)-रात्रिः पितरः (शत० २।१।३।१)।

(३)-तिर इव वै पितरो मनुष्येभ्यः (परोक्षाः) (शत० २।१।२।२)।

(४)-स्वधा वः, मनोजवो वः, चन्द्रमा वो ज्योतिः (शत० २।१।२।२)।

\* (५)-ये ऽयज्वानो गृहमेधिनी पितरोऽग्निष्वात्ताः (तै० ब्रा० १।६।६।६)।

\* (६)-मर्त्याः पितरः (गृहमेधिनीऽयज्वानः) (शत० २।१।३।५)।

(७)-सर्वतः पितरः (शत० २।६।१।११)।

\* (८)-गृहाणां हि पितर ईशते (शत० २।६।१।२।२)।

औपपातिक मौन्य पितर का प्रतीक जहाँ पारिवारिक अविवाहित-अमंस्कृत (यक्षोपवीत संस्कार जिस का नहीं हो गया हो, वैसा) कुमार है, वहाँ पितृस्वसा की प्रतीक सधवा पुत्रवती स्त्री,

\* उक्त-निगमानुबन्धी 'पितर' वे औपपातिक मर्त्य-अयश्चान (जिनके लिए-पिएडपिष्ट्यस्यदत् आहुति नहीं दी जाती) पितर हैं, जो चतुर्दशविध चान्द्र मर्त्य भूतसर्ग से सम्बन्धित हैं। सापिएड्या-नुगत पितर यज्वान हैं, अहरनुगत हैं, अमृतभावापन्न हैं, जो मर्त्य रात्रिपितरों से सर्वथा विभिन्न हैं, जैसा कि—“तृतीये हि लोके पितरः” (ता० ब्रा० ६।२।१)।—“गृहाणां हि पितर ईशते” (शत० २।६।२।२)।—“देवा वः एते पितरः” (को १।६)।—“एतद्ध वै पितरो मनुष्यलोकेऽन्वाभक्ता भवन्ति यदेपां प्रजा भवति” (शत० १३।२।१।६)।—“तद्यदमृतं सोमः सः (सोमः पितरः)” (शत० ६।१।१)। इत्यादि निगम वचनों से प्रमाणित है।

तथा विधवा अपुत्रवती स्त्री मानी गई है। रात्रिजागरणान्तर दूसरे दिन क्षीराश्रादि से उस कुमार का, एवं इन दोनों स्त्रियों का वस्त्र-मोजनादि द्वारा सम्मान किया जाता है। प्रांतीय लोकगीत-परिभाषानुसार तथाविध कुमार 'कँवारा छोरा' है, तथाविध दोनों स्त्रियाँ 'गोरणी' (गोस्थानीया शुक्लस्यसा मुप्लक-प्रतीकमूला पुत्रवती सधवा, कृष्णस्वसासप्तक-प्रतीकमूला अपुत्रा विधवा) क्रमशः 'ऊजली, मैली' कहलाई हैं। इस लोकाम्नाय को आप तब मान्यता प्रदान करेंगे, जब कि निगमशास्त्रमें भी कहीं ऐसा विधान विहित हुआ हो। ठीक है। निगममहर्षि आप की यह जिज्ञासा पूरी करें, यही कामना है। हमने तो इस सम्बन्ध में यह आम्नायमूल सुन रक्खा है निगमतत्त्व-याख्याता आचार्यों से कि—

'राज' पद प्रातिस्माधिक 'राजम्यत्राक्षण' की इतिकर्तव्यता का अनुगमन करता हुआ शास्ता क्षत्रिय राज्यनन्त्रसञ्चालक सेनानी-पुरोहित-स्यमान-राजमहिषी (पट्टराज्ञी)-मृत-आदि १४ रत्नोंको अपने अनुगत बनाने के लिए इनके आवास स्थानों में स्वयं ऋत्विजों के साथ जा जा कर क्रमशः 'अग्नये अनीकवते अष्टाकपालं पुरोडाशम्'—'बार्हस्पत्यं चरुम्' इत्यादि विभिन्न होमों का अनुष्ठान करता है। इस रत्नहोमानन्तर दूसरे दिन राज्यलक्ष्मी-राज्यश्री की महती प्रतिबन्धिका कृष्ण-भावापन्ना निश्च्युति से राज्यश्री को सुरक्षित रखने के लिए 'नैर्ऋतं चरुं निर्वपति'। इस नैर्ऋत चरु-निर्वापकर्म की प्रतीक मानी गई है—'परिवृत्ती'। अपुत्रा स्त्री ही परिवृत्ती है। पास्तव में यह कर्म में, अभ्युदयसाधक कर्म में प्रवृत्त कराने की अपेक्षा निवृत्त कराती हुई 'परिवृत्ती' है। यही इस का नैर्ऋतभाव है। इस प्रतीक के अतिरिक्त कृष्णवर्णप्रधान मोही, कृष्णा गौ, नखाग्रद्वारा कृष्णजीही का वितुषीकरण-आदि सब कृष्णभाव-मलीमसभाव निश्च्युति के ही प्रतीक हैं। क्या श्रुति का एवंविध प्रतीक भाव पूर्वोक्त लोकाम्नाय का मूल नहीं बन सकता?, मनन कीजिए श्रुति के लोकाम्नायमूलक निम्नलिखित अक्षरों का—

'अथ श्वोभूते-परिवृत्तयै गृहान् परेत्य नैर्ऋतं चरुं निर्वपति। पा वा अपुत्रा-सा परिवृत्ती। स कृष्णानां ग्रीहीणां नखैर्निर्मिथ तण्डुलार्ज्यैर्ऋतं चरुं भप-यति। या वा अपुत्रा, सा निश्च्युतिगृहीता। तदेवैतच्छ्रमयति। तथो हनं स्वयमानं (राजानं) निश्च्युतिर्न गृह्णाति। तस्य दक्षिणा कृष्णा गौः परिमृणी पर्यारिणी। सा ह्यपि निश्च्युतिगृहीता' इत्यादि।

—रातपथ राजसूयब्राह्मण ५।३।१।१३।

मलीमसभाग-प्रवर्ग्वभाग-उच्छिष्टभाग-परित्यक्तभाग-उत्तरभाग-रुक्षभाग-आदि आदि समुद्घियरोधी सम्पूर्णभाव निश्च्युति के ही प्रतीक माने गए हैं। इसी आधार पर तन्त्रशास्त्रानुगता

निर्ऋति-प्रतीकभूता धूमावती नाम की महाविद्या का यशोगान हुआ है इन शब्दों में—“विधवा-विरल-द्वजा-धृतहस्ता-शूर्पहस्ता-उन्मुक्तकेशा-कागध्वजरथारूढा-इत्यादि (वह विधवा है, दाँत उसके छितरे हैं, हस्त उसके अशुभ मुद्रा से कम्पित हैं, छाजला उसके हाथ में है, रथ उस का भग्न है, काक उस के रथ की ध्वजा है—इत्यादि)। नक्षत्रों में मूलनक्षत्र निर्ऋति का प्रतीक है (तै० ब्रा० १.१.५।१४)। पृथिवी का ऊसरप्रदेश (जहाँ कृषि नहीं हो सकती), बड़ी बड़ी दर्रा, बंजड़ भूमिप्रदेश, आदि पार्थिवप्रदेश निर्ऋति के प्रतीक हैं। श्वान-काक-गृध्र-आदि अशुभ प्राणी इसी के प्रतीक हैं। रिक्तघट-छाया-द्विष्ठा-आदि इसी के प्रतीक हैं। उष्णीशशून्य मस्तक, मलयुक्त शरीर, जीर्णवस्त्रादि इसी के प्रतीक हैं। निष्कर्षतः पिशाच-राक्षसादि-निबन्धन सम्पूर्ण मलीमसभाव 'निर्ऋति' के ही प्रतीक हैं—‘पाप्मा वै निर्ऋतिः’ (शत० अ० २।१।११)। उन आम्नायप्रमाणभिनिविष्टों को सन्तुष्ट होना ही चाहिए इस निर्ऋतिस्वरूपातिथ्य से।

पिशाचादि-रक्षन्त्यान्त सप्त मलीमस भ्रातृवर्ग की सप्त मलीमस स्ववर्ग की प्रतीक निर्ऋति-लक्षणा (वरिद्रा-ज्येष्ठा-मूलानुगता-धूमावती-अलक्ष्मीभावापन्ना) विधवा नारी (मैली गोरणी) के नैगमिक आम्नायप्रमाण के सम्बन्ध में निर्ऋतिचर-यागानुगता अपुत्रा परिधृत्ती का स्वरूप विरले-पण किया गया। अब प्रश्न उपस्थित हुआ मर्यादा मनुष्यान्त सप्त सात्त्विक भ्रातृवर्ग की सप्त सत्य-भावापन्ना स्वसाध्यों की प्रतीकभूता सधवा नारी (ऊजली गोरणी) के नैगमिक आम्नाय प्रमाण के सम्बन्ध में। पतिपुत्रयुक्ता सधवा-सौभाग्यवती बीरा पत्नी ही इस आम्नाय का आधार है। चिह्नप्रतीक-रूप से वरिद्रा की प्रतिद्विन्दिनी लक्ष्मी, नक्षत्र प्रतीकरूप से ज्येष्ठा नक्षत्र की प्रतिद्विन्दिनी रोहिणी, सन्त्रानुगता धूमावती की प्रतिद्विन्दिनी कुमला, इन सब मङ्गलभावों की प्रतीकभूता नारी-सधवानारी वास्तव में सत्यभावापन्ना सप्त स्वसाध्यों की प्रतीक बन रही है, जो पैत्रसर्ग से सर्वात्मना समतुलित है। लक्ष्य बनाइए निम्न लिखित श्रौत वचनों को इस आम्नाय-प्रमाण के समर्थन के लिए—

(१) धिया वा एतद्रूपं-यत् पत्न्यः (तै० ३।६।४।७-८।

(\*) श्रीर्व सोमः (शत० ४।१।३।६।)

(२) गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा (शत० ३।३।१।१०।)

(\*) गृहाणां हि पितर ईशते (शत० २।६।१।४२।)

(३) अन्तर्भाजो वै पत्न्यः (को० १६।५।)

(\*) अन्तर्भाजो वै पितरः (को० १६।८।)

अब क्रमप्राप्त 'कुमार' से सम्बन्धित आम्नाय-प्रमाण का भी नैगमिक समर्थन प्राप्त कर लीजिए। सधवापत्नी, विधवानारी, कुमार, तीनों इस रात्रिजागरणानुगत औपपातिक पितर के प्रतीक

यनते हुए भोजनयस्त्रादि द्वारा सम्मान्य हैं, यह कहा जा चुका है। उभयविध स्त्रियाँ जहाँ उभयविध स्वस्वर्ग की आम्नायानुमोदिता प्रतीक हैं, वहाँ उभयविध भ्रातृवर्ग का प्रतीक माना गया है पारिवारिक अविवाहित कुमार ( घर का कँवारा लड़का )। इसलिए कि चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक भ्रातृवर्ग स्त्रात्मक है। एवं रुद्रभाव की साक्षात् प्रतिमा मानी गई है 'कुमार'। बालक जैसे चरणे तुष्ट-चरणे रुद्र है, तथैव रुद्र भी। तभी तो यजुःसंहिता में इसके लिए 'उभयतो नमस्कार' विहित हुआ है। अग्निचयनविधा में जहाँ प्रजासर्ग का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है, वहाँ रुद्ररूप से ही उत्पन्न शिशु का स्वरूपविरलेपण हुआ है ( देखिए-शत० ६।१।१। प्रथमवाक्य )। इसी आधार पर रुद्र का नवमरूपात्मक कुमार 'रुद्रपुत्र' माना गया है ( ऋक् सं० १।२।१। )। 'यदरोदीत्-तस्मात्-स कुमारः-रुद्रः' ( शत० ६।१।३।=१०। ) श्रुति स्पष्ट ही कुमार का रुद्ररूप प्रमाणित कर रही है। नक्षत्रों में रुद्र का प्रतीक कृत्तिका नक्षत्र है, जिसके पदार्तांका 'पद्मकुमार' कहलाए हैं। ऋतुओं में पद्मऋतुसमष्टि रुद्र का प्रतीक है। अतएव पद्मऋतु समष्टि को 'पद्मकुमार' माना गया है—( महाभारत-आदिपर्व-३।१४४। )। "तानीमानि भूतानि—( पद्मऋतवः ) च भूतानाञ्च पतिः ( रुद्रः ) सम्बत्सरे उपसि रेतोऽसिञ्चत् । स सम्बत्सरे कुमारोऽजायत । सोऽरोदीत् । तस्मात्-रुद्रः ( कुमारः )" ( शत० ६।१।३।=१०। ) स्पष्ट है। रुद्र पितृसमष्टि-रूप ( चतुर्दशविधपितृसर्गसमष्टिरूप ) है, × पितर पद्मऋतुरूप है, मनोमय है, सोमप्रधान है। कुमार इन सब पैत्रसर्गों का समष्ट्यात्मक प्रतीक है। अतएव इसे प्रतीकविधा से सम्मानित-करना आम्नाया-नुमोदित बन रहा है।

"चान्द्रात्मक चतुर्दशविध भूतसर्ग-भ्रातृवर्ग है, तत्पत्नियाँ साप्राज्ञी हैं, तत्-अयान्तर प्राण-शक्तियाँ १४ भागों में विभक्त हैं, और ये 'स्वसा' ( बहिन ) हैं" इस आरुभगिनी-सम्बन्ध से सर्वथा विस्पष्टरूप से नैगमिक मूल अभी तक समुपस्थित नहीं कर सके हम। करते भी कहाँ से, जब कि यह केवल हमारे अद्यान का क्षेत्र है। मान्यता ही तो है ऐसी हमारी। किन्तु अद्यावत् अभिनिविष्ट तो ऐसी 'अन्ध' मान्यताओं के समर्थक नहीं बन सकते। वस्तुतयातु पितृकर्म लोकानुबन्ध मान्यतानुगामी रात्रिजागरणात्मक-महासङ्गीतात्मक ( लोकगीतात्मक ) बनता हुआ न श्रोत्र रखता, न चक्षु रखता। न हम इस अन्धश्रद्धाक्षेत्र में ( पितृश्रद्धाक्षेत्र में ) कुछ तर्क पितर्क सुनना चाहते, न ऐसी व्याख्यात्मिका बुद्धिदृष्टि का ही अनुगमन करना चाहते। यही नहीं, हम तो इस दिशा में साभिनिवेश यह मान्यता अभिव्यक्त करने में भी अपनी श्रद्धा-किंवा अन्धश्रद्धा को गौरवान्वित ही अनुभूत कर रहे हैं कि, जैसे

× 'पद्मा ऋतवः पितरः' ( शत० ६।१।३।= )—'मनः पितरः' ( शत० १४।१।३।१३ )—  
 'सोमप्रयाजा हि पितरः' ( तै० ब्रा० १।६।६।३। ) 'पितृदेवत्यो हि सोमः' ( शत० २।४।२।१२ )—  
 'यद् रुद्रश्चन्द्रमास्तेन' ( की० ६।४ ) 'तस्मात् स कुमारो रुद्रः' ( शत० ६।१।३।१०। ) इत्यादि।



हम-हैं, वैसे ही-हमारे पितर हैं। यदि हमारे कान-आँख नहीं हैं, हम-यदि-बधिर-और-अन्ध हैं, तो हमारे पितर भी तथाविध ही होंगे। रात्रिजागरणात्मक यह भौतिक पितृकर्म शरीरानुबन्धप्रधान है। यहाँ मनोऽनुवर्तिनी श्रोत्रेन्द्रिय, तथा चक्षुरिन्द्रिय से अनुगत श्रुति-दृष्टि का समावेश करना सहज मूल-स्वरूप का विरोध ही करना है। वे आज्ञाय, उन्हें हम वृत्त कर दें, इससे हमारा मन भर जाय, वस भूतनिबन्धना पितृकर्मैतिकर्तव्यता यही समाप्त है। 'शृण्वन्तः-पर्यन्तः' भावानुगता बुद्धिगम्य व्याख्या का प्रवेश इस पितृश्रद्धाक्षेत्र में एकान्ततः वर्ज्य उपेक्षणीय ही माना जायगा। तभी तो महासङ्गीत की भाषा में- 'भोमियाजी आँधा हाने दीखोजी, बहरा हाने दीखोजी' (हे भीम पार्थिव पितरो! हम उपा-स्याओं के लिए तो आप भी हमारी भौति श्रुति-दृष्टि से कोई सम्बन्ध न रखते हुए, केवल श्रद्धा के ही अनुगामी हैं) यह भाव अभिव्यक्त हुआ है, जिसकी मीमांसा तत्रैव पष्ठ महासङ्गीत की पावनस्मृति के अश्वान्तर विकल्पात्मक महासङ्गीत में समन्वित होगी।

किन्तु आप तो- 'अक्षरवन्तः कर्णवन्तः सत्त्वायः' जो हैं। आप तो सुनना भी चाहेंगे, सुन कर देखना भी चाहेंगे। तदन्तर भी श्रद्धाक्षेत्र से आप अभिनिवेशानुग्रह से सर्वथा बहिष्कृत ही रहेंगे। सुन लेंगे, देख लेंगे, समझ भी लेंगे, अपने अन्तःकरण में। किन्तु सर्वथा धातक-नितान्त कल्पित-व्यक्तिप्रतिष्ठा के व्यामोहन से न तो कुछ मालेंगे ही, और न कुछ करेंगे ही। अस्तु इस दिशा में भी इच्छा न रखते हुए हम तो अपना कर्त्तव्यपालन कर ही लेते हैं। आप- 'पथेच्छसि, तथा कुरु'।

कथनमात्र के लिए 'अक्षरवन्तः कर्णवन्तः' भक्त, धोषणामात्र के लिए वेदानुगामी, परप्रता-रणामात्र के लिए यज्ञधनुसारी उन अभिनिविष्ट निगमभक्तों का ध्यान इस दिशा में हम पूर्वप्रति-ज्ञात 'महाहविर्घ्याग'त्मक काम्ययाग के कुछ एक प्रासङ्गिक विशेष स्थलों की ओर आकर्षित कर देना ही पर्याप्त मान रहे हैं। जो संभ्राम में शवशरीर का परित्याग कर अंतर्भाव (प्रेतयोनि-भोमयोनि) में परिणत हो गए हैं, वे ही 'पितर' महाहविर्घ्याग में संगृहीत हैं (शत० २।४।६।१।)। इस महा-हविर्घ्यागाग्न्यभूत इस प्रेतपितृयजनकर्म [काम्यकर्म] से यजनकर्त्ता के नृशराधर्म से, अथवा तो प्रकृत्वा मारे जाकर-मरकर प्रेतपितर बनते हुए इसे उत्पीडित किया करते हैं, वह क्षतिपूर्ति हो जाती है। यही इस काम्य पितृकर्म का फल है (शत० २।४।६।३।)। इस उद्देश्य की निधि के लिए इस कर्म में (अत्रात्मक) 'सोमपत्' नामक पितरों के लिए पद्विष्टु के सम्बन्ध से (तथा पद्विष्टुपरम्पराके पद्विष्टु अनुश्रव के सम्बन्ध से) 'पद्विष्टुपुरोडाश' का नियम होता है। 'बर्हिपत्' नामक अन्नपितरों के लिए आधे पिसे हुए 'धान' का सम्पादन होता है। एवं 'अग्निधवात्' नामक अन्नपितरों के लिए नूतनप्रमृता (प्रथमप्रमृता पहलून) 'नियानी' गाँ के दुग्ध में सकृदुपमथित एकशलाका से सम्पन्न 'मन्यः'—द्रव्य

—इस 'मन्य' शब्द के इतिहास में पुराणपुरुषद्वारा (भगवान् व्यास) प्रतिपादित 'समुद्र मन्थनः'त्मक रहस्यपूर्ण 'सृष्टि-इतिहास' गर्भीभूत है। समुद्रमन्थन से उत्पन्न चतुर्दश रत्नों में से

सम्पन्न किया जाता है। जिन पितरों को (शषदाह के समय) रुद्रमूर्ति 'श्मशा' नामक क्रव्यादाग्नि स्वाद-पूर्वक अपना अन्न घनाता है, वे अन्नपितर ही 'अग्निप्यात्ता' कहलाए हैं। यही इन पितरों का स्वरूप-परिचय है (शत० २।६।१।४, ५, ६, ७, ८)। पितर अपने सहज सौम्यरूप से (सोमधर्म से) दक्षिणदिशा का ही अनुगमन किया करते हैं। अतएव पट्कपालोपधानकर्म दक्षिणदिगनुगत ही किया जाता है। ये प्रेतपितर हैं, मर्त्य हैं, मृत्युमय हैं। सोम उत्तरदिशा से दक्षिणदिशा की ओर आया करता है। अतएव 'नोदीचीनशिराः शयीत' इत्यादि रूप से श्रुति ने उत्तरदिशा की ओर मस्तक रख कर शयन करना सर्वथा निषिद्ध माना है। (ये प्रेतपितर अमर्त्यादित हैं, सर्वथा मृतभाषापन्न हैं, अतएव इन की निश्चित दिशा-पूर्व-परिचमादि नहीं है। अपितु) अचान्तर दिशाओं-इतत्ततः के कोण-ही इन का विचरण प्रदेश है। अतः इनके लिए अचान्तर दिशाओं को ही सीमा बनाया जाता है। इत्यादि प्रकारों से अन्त में पट्टनमस्कारपूर्वक यह महाहविर्घ्यागाहभूत काम्य पितृकर्म समाप्त होता है (ब्राह्मण-शेष प्रकरण २।६।१।

उक्त ब्राह्मण से आगे के षष्ठ अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में 'रुद्रयागात्मक' काम्यकर्म का विधान हुआ है, जो पितृकर्म का अङ्गभूत माना गया है। उत्पन्न-अनुत्पन्न पारिवारिक प्रजा इस पितृकर्म से पितृ-अधिष्ठाता रुद्र के कारण उत्पन्नित न बन जाय, इस कान्यभाष की संसिद्धि के लिए ही रुद्रयाग विहित हुआ है। इसी के सम्बन्ध में प्रकान्त महाहविर्घ्यागानुबन्धी पितृकर्माङ्गभूत रुद्रयाग की इतिकर्तव्यता बतलाती हुई श्रुति कहती है कि—“रुद्रयाग से यजमानप्रजा अनमीया (शरीरव्योहरहित), एवं अकिल्बिष (मनोदोषरहित) बन जाती है। जिन असंख्यात रुद्रों का—‘असंख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम्’ (यजुःसं०) इत्यादि अमर्त्य-रुद्रानुगतिपूर्वक उपवर्णन आता है, यह असंख्य भाव रुद्र के महिमारूप है। मूलरूप तो रुद्र का एक ही है, जैसा कि—‘एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः’ इत्यादि मन्त्रश्रुति से स्पष्ट है। अतएव रुद्र के लिए ‘एककपालपुरोडाश’ का ही निर्वाप होता है।

‘चन्द्रमा’ भी अपना एक विशेषस्थान रखता है। ‘चन्द्रमा’ उस अर्णव-पार्थिव-अग्निप्राणप्रधान समुद्र के मन्थन से उत्पन्न आग्नेय-सोम का वह पिण्ड है, जिसे हम हम पथोरूप (दुग्धरूप) अर्णव का ‘नवनीत’ (मक्खन) कह सकते हैं। मन्थनादुत्पन्न होने से ही चन्द्रमा नवनीत समनुलित बनता हुआ ‘मन्य’ है, जिसे परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में ‘मन्थी’ कहा गया है, जैसा कि—“चन्द्रमा वै मन्थी” (शत० ४।१।१।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। चान्द्रसोम ‘मन्य’ है, इधर प्रेतपितर पार्थिव अर्णवमसुद्रात्मक पार्थिव अन्तरिक्ष में विचरण करते हुए चान्द्रसोममय ही है। अतएव गौरुप-धरा पृथिवी की प्रतीकभूता ‘निबानी’ गाय के दुग्ध से मन्थनप्रक्रिया के द्वारा निर्मित नवनीतरूप द्रव्य भी ‘मन्य’ ही कहलाया है।

रुद्र आग्नेय तत्त्व है। अग्नि दक्षिण से चल कर उत्तर में प्रतिष्ठित होता है। अतएव यह पुरोडाशद्रव्य उत्तर भाग में ही रक्खा जाता है। इस द्रव्य का प्रदान चतुष्पथ (चौराहे) में होता है। 'एतद् वाऽस्य जान्धितं प्रज्ञातमवसानं यच्चतुष्पथम्' रूप से ) चतुष्पथकेन्द्र रुद्र का विश्रामात्मक अवसान स्थान है। इसलिए यह कर्म चतुष्पथ में ही होता है \*। रुद्राहुति-प्रदान के मन्त्र पर ध्यान दीजिये—

स जुहोति—'एष ते रुद्रभागः सह स्वसा अम्बिका तं जुपस्व'। मन्त्रव्याख्या करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा। तया अर्स्येष सहभागः। तद्यदस्यैष स्त्रिया सहभागः, तस्मात् 'अम्बिका' नाम'। समन्वय कीजिये इस नैगमिक व्याख्या का। रुद्र आग्नेय तत्त्व, किन्तु चन्द्रसहयोग से 'अम्बा' युक्त। 'चन्द्रमा अप्सवन्तरा सुपर्णो धावते दिवि' इत्यादि मन्त्रपर्यायानुसार, एवं 'तरणिकिरणसङ्गादेः पानीयपिण्डः, दिनकरदिशि चञ्चच्चन्द्रिकाभिरचकास्ते' इत्यादि नव्य अर्थचौकन ज्योतिःसिद्धान्तानुसार चन्द्रमा आगमय अर्णवसमुद्र में ही तो विचक्षणरूप से विचरण करता है। एवं यह स्वयं भी आपोमय (सोममय-भाग्य) पिण्ड ही है। यह चान्द्र-आप्य-शक्ति ही 'अम्बा', किंवा 'अम्बिका' है, जिसे सोमभाव के कारण 'स्त्री' भी कहा जा सकता है, जैसा कि "श्रीर्दसोमः" ( शत० ४। १। ३६ )—"श्रिया स्त्रियं समदधात्" ( गोपथब्रा० पू० १। ३४ ) इत्यादि श्रुतियों से प्रमाणित है। चान्द्ररुद्रसहवासिनी यह अम्बिकारक्ति (आपोमयीशक्ति) चन्द्रकन्या है, रुद्र स्वयं विषर्त्त (महिमा) भाग से चन्द्रपितर के पुत्र हैं। पुत्ररुद्र, कन्या अम्बिका, दोनों आतृ-स्वसा (आई-बहिन) सहचारी हैं। अतएव अम्बिकारत्री (कन्या) युक्त रुद्र को 'अम्बिक' कहा जाता है, जो कि 'अम्बिक' शब्द परोक्षमापामें—'अम्बिकं यजामहे सुगन्धिं पतिदेवम' इत्यादि रूप से—'अम्बिक' नाम से प्रसिद्ध है। यही मन्त्र महामृत्युञ्जयविधि का मूलाधार माना गया है। स्पष्ट ही यहाँ आकर—'अम्बिका ह वै नामास्य स्वसा' रूप से रुद्रात्मक चतुर्दशविध आतृसर्ग, एवं अम्बिकात्मक (अपराकिरूप) चतुर्दश ही स्वमृसर्ग की नैगमिकता उद्योगोपपूर्वक प्रमाणित हो जाती है।

अन्य इसी सम्बन्ध में प्रासङ्गिक समन्वय, जिसका अनुपद में ही प्रतिपाद्य महासङ्गीत के तत्त्वसमन्वय में उपयोग होने वाला है। चतुष्पथ में आहुति देने के अनन्तर जो शेष बच रहता है, उसे 'आवृत्कर' (मूषकविल) में प्रक्षिप्त कर दिया जाता है इस मन्त्रोच्चारण के साथ कि—'एष ते रुद्रभाग-आवुस्ते पशुः' इति। यह शेषभाग उस देवता (रुद्र) का उच्छिष्ट है, जो संहारक है। यदि अन्य पशु इसे खा जायेंगे तो, उनका संहार हो जायगा। अतएव इस संहारक द्रव्य को 'आवु' के ही अनुगत बनाया जाता है, जो आवुप्राणी (मूषक) अपनी वज्रसमा दन्तावली से संहारक बनते हुए भूतसर्ग के विघातक ही माने गए हैं। क्या आवु (मूषक) रुद्र का पशु है ?।

\* रुद्रसहचारी क्षेत्रपाल-मैरव आदि का स्मार्तबलिविधाने चतुष्पथस्थान में चिह्नित है, जिसका मूल भी यही नैगमिक आम्नाय है।

आन्तरिच्य मूलरुद्र के तूलरूपात्मक ११ धिवर्त हो जाते हैं, जिसका कारण है एकदशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द, जो अन्तरिक्ष का छन्द माना गया है। इनमें प्रथम मूलस्थ रुद्र 'गणपति' है, अन्तिम उपसंहारस्थानीय रुद्र 'महावीर' है। जिनकी सृष्टि के लिए 'धर्मयाग' नामक 'प्रवर्ग्ययाग' किया जाता है, जिसे 'महावीरयाग' भी कहा गया है। प्रवर्ग्यसम्बन्ध से जिसे 'द्विजशीर्षयाग' भी माना गया है। सुप्रसिद्ध पौराणिक हयग्रीवाख्यान का तारिचक रहस्य इस द्विजशीर्षयागरहस्य पर ही अवलम्बित है। भगवान् मारुति (हनुमान्) इसी रुद्रात्मक महावीर के अंशावतार हैं। अतएव इन्हें नैगमिक महावीरात्मक रुद्र का लौकिक प्रतीक मान लिया गया है, होगोलुगता महासंगीतनिबन्धना रात्रिजागरणरूपा पितृकर्मपरम्परा में। भूल गणपतिरुद्र इस लोकमान्यता में भूगर्भानुबन्ध से 'भीम' पितर हैं, महावीररुद्र लोकमान्यता में 'बालाजीपितर' हैं। भोगियाजी, खौर बालाजी, दोनों भी मङ्गलगीतों के द्वारा इसी आन्नायाधारपर उपस्तुत हुए हैं।

\* क्षीरान्नभोजनद्रव्य-श्वेतवस्त्र-पीतवस्त्र-सुगन्धितद्रव्य-दीप-आदि सामग्री-सम्भारपूर्वक रात्रिजागरण के द्वारा तथाकथित-निगमाग्नायानुमोदित भीम-पार्थिव-औपपातिक पितरों के (पिराचादि सत्त्वान्त सप्तक के) आक्रमण से परिवार सन्त्राण के लिए, एवं ब्रह्मादि-सानयान्त सप्तक के अनुग्रह से परिवार को संयुक्त करने के लिए ही कुलदेवियों के द्वारा महासंगीतत्मक महामन्त्रात्मक सामगान के माध्यम से लोककुलाचारानुबन्धी पितृपूजनकर्म विहित हुआ है, जिसकी पावनगाथा का संस्मरण हुआ है इस भांजुक को उन देवियों के महासंगीतश्रवण के आधार पर ही।

यह है उस 'पितरपरिवार' का संक्षिप्त नैगमिक स्वरूप परिचय, जिसके आधार पर कुल-देवियों के महासङ्गीत (लोकगीतों) में अपनी उन की भाषा में उनकी प्रातिस्विक मान्यता के आधार पर पितरपरिवारानुबन्धी पारिवारिक भावों का नायककरण हुआ है। पार्थिव श्रेत भीमपितरों का आधार-भूत पार्थिव धरातल का प्रतीक (जिस पर पार्थिव पितर प्रतिष्ठित रहते हैं) - 'काष्ठपट्ट' (लकड़ी का पाटा) है। इसी आधार पर यह कर्म उनकी भाषा में 'पितरों को पाटे बैठाया है' रूप से प्रसिद्ध हुआ है। स्यूत श्वेतवस्त्र पितरों के चान्द्रश्वेतरूप के प्रतीक हैं, जिन्हें पट्टे पर भाषना से आहूत भीम पितरों के नैदानिक वस्त्र माने गये हैं। इन श्वेत वस्त्रों से रात्रिजागरण के अनन्तर पारिवारिक अविवाहित

\* (१) - 'निवान्यायं दुग्धे सकृदुपमथिते एकशलाक्या मन्थो भवति।' (शत० २।६।२।६।)

(२) - 'साम्यं हि देवतया वासः' नै० आ० १।६।१।११।)

(३) - 'यत्पीतत्त्वं, तत् पितृणाम्' (पइवि० आ० ४।१।१।)

(४) - 'सुगन्धि पतिदेवनम्' - गन्धेन च वै रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति'

—शत० ३।४।१।४।

कुमार को सम्मानित किया जाता है। चन्द्रचन्द्रिका ही सौम्य पितर प्राणों के श्वेत वस्त्र हैं। श्वेतवस्त्र चन्द्रचन्द्रिका के ही प्रतीक हैं। पितरों का अपना शारीरिक भौतिक स्वरूप 'रक्त-पीत', इन धराओं में विभक्त माना गया है। पितृशरीर का प्रारम्भिकरूप 'रक्त' (लाल) है, फलानुबन्धी अन्तिम रूप 'पीत' है, और इस संयन्ध में लोकानुगत वैवाहिक-माङ्गलिक कर्म की मध्यस्थता अनुगमनीय है। विवाह में परिणयार्थ (विवाहार्थ) यज्ञमण्डप (विवाहमण्डप) में अंगुं नित्य स्थान पर आसीन कन्या 'श्वेत वस्त्र' धारण किये रहती है, जो इसी अवसर के लिए इसे अपने मातृप्राता (मातुल-मामा) से कुला-स्नायपरम्परा में प्राप्त हुआ है।

अतएव यह 'श्वेतदुकूल' (१) 'यधूदुकूल' नाम से प्रसिद्ध होता हुआ प्रान्तीयभाषा में 'मामाकाँवल' कहलाया है। मातुल ही अपनी भगिनी (कन्या की माता) के परिणयकाल की स्मृति का प्रतीक बनता हुआ अपनी इस भगिनीकन्या (भागिनेया-भानजी) को यधूदुकूल प्रदान करता हुआ सहज भाषी दाम्पत्य का मानो लोकशिक्षण ही प्रदान करता हुआ कन्या को विवाहमण्डप में समासीन करता है (२)। सोमद्वारा गन्धर्वगृहीता, गन्धर्व्यद्वारा अग्निगृहीता कन्या अग्निद्वारा अग्नि (यज्ञाग्नि) साक्षी में मानवपति का संवरण करने के लिए विवाहमण्डप में समासीन कन्या (३) आज शुक्लचन्द्रात्मक सोममात्र की प्रतीक है (विवाह से पूर्व पूर्व)। अग्नि का वर्ण रक्तवर्णाधिष्ठाता मङ्गलग्रह से सम्बन्धित रक्त ही माना गया है। पुरुष (भाषी पति) आग्नेय बनता हुआ रक्तवर्ण का प्रतीक है। विवाह से पूर्व अग्नी कन्या कन्या है, यधू नहीं। साप्तपदीन-कर्म (सात फेरों) के अनन्तर ही कन्याधर की सर्वात्मना यधू बनती हुई सुमङ्गली (४) बनती है। अतएव तत्पूर्व इसे श्वेतवस्त्रधारिणी-सर्वमाङ्गलिक-वेपथूपा-अलङ्कार-यजिता कन्यारूप से ही यहाँ आसीन बनाया जाता है। ये सब सौभाग्यपरिमह तो इसे प्राप्त होंगे अपने भाषी पति से। दानकर्त्ता मातापिता केवल सहजभाषापन्ना श्वेतवस्त्रा कन्या को घर के

(१) विवाहतः पूर्व—“अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयाधुया।

पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते” (ऋक् सं० १०।८५।३०।)।

(२) दाक्षिणात्य आन्नाय में आध्वार्यत्वादक मातुल-भागिनेया (मामा-भानजी) का इतिहासरहस्य तद्दरहस्यवेत्ताओं से ही ज्ञातव्य है।

(३) सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।

रयिश्च पुत्रांश्चादादग्निर्महामथो इमाम् ॥ (ऋक् सं० १०।८५।४१।)।

(४) सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।

सौभाग्यमस्मै दत्त्वा यथास्तं वि परेत न। (ऋक् सं० १०।८५।३३।)।

सम्मुख समुपस्थित कर स्वसत्त्वनिवृत्तिपूर्वक परस्वत्त्वस्थापनकर्मात्मक कन्यादानकर्म से अपने उत्तर-  
दायित्व से मुक्त हो जाते हैं। यही 'श्वेतवस्त्र' चान्द्र सौम्य पितरों का 'कन्याभावात्मक' प्रारम्भिक प्रतीक  
है, जिसके लिए पितृपट्टपर आरम्भ स्थानीय श्वेतवस्त्र ही विद्याया जाता है। कन्या-धरातुगत यह  
सम्पूर्ण दाम्पत्यरहस्य 'श्रुवेदीयकृतिपयसुक्तविज्ञानोपनिषत्' नामक स्वतन्त्रग्रन्थान्तर्गत 'सूर्यासावि-  
त्रीसूक्तविज्ञानोपनिषत्' ( ऋक्संहिता १० मण्डल, ८५ सूक्त ) में विस्तार से प्रतिपादित है। विशेष  
जिज्ञासुओं को यही ग्रन्थ देखना चाहिए। प्रकृत में केवल पितृकर्मनिबन्धना वस्त्रमीमांसा ही हमारा  
मुख्य लक्ष्य है।

पट्टासनात्मक आदिप्रतिष्ठा रूप श्वेतवस्त्र वधूदुकूल का प्रतीक बनता हुआ चन्द्रचान्द्रिकारूपा सौम्या  
कन्या से सम्यन्धित भावी परिणयानुगत प्रजातन्तुयितानात्मक मूलपितर का प्रतीक है। श्वेतवस्त्रधारिणी  
कन्या विवाहमण्डप में समासीन हुई। विधिपूर्वक इस असमानार्पणोत्तरा कन्या के साथ विधिपूर्वक  
घर के साथ सातपदीन सम्यन्ध स्थापित हुआ। इस से यह कन्यामाय से स्तीभाव में परिणत होती  
हुई पितृग्रह से स्वमुरगृह की धिमात्री बन गई (१)। लोकचार-पद्धति के अनुसार इन विवाहकर्म  
के सम्पन्न होते ही घरगृह की ज्येष्ठ-कनिष्ठ कुलनारियाँ कन्यागृह में आ जाती हैं, एवं अपने साथ लाये  
हुए सौभाग्यसाधक वस्त्र-आभूषणादि से महासद्गीतपूर्वक इस वधू को इन सम्पूर्ण माङ्गलिक-सौभाग्य-  
परिमहों से संयुक्त कर इसे 'सुमङ्गली' बना देती हैं। यह आगत वस्त्र सर्वथा 'रक्त' (लाल-लालसाड़ी,  
जिसे लोकभाषा में 'फैरों की साड़ी' कहा गया है) बनता हुआ रक्तयर्णात्मक मङ्गलतमहसमन्वित आनेय  
पुरुषपति के साथ होने वाले दाम्पत्यभाव का ही प्रतीक है (२)। यही दाम्पत्यभावारम्भक पितरों की मध्य  
स्थिति से सम्यन्ध रखने वाला रक्तयस्त्रात्मक द्वितीय प्रतीक है।

वधू ससम्मान स्वमुरगृह में आ जाती है। कालान्तर में पत्यनुगत दाम्पत्यभाव से पत्नी  
सत्त्वानुगता (गर्भवती) बनती है। यथासमय 'एवयामरु' के अनुग्रह से गोश्वरक पुत्र को जन्म देती है,

(१) सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।

ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवपू ॥ (ऋक्सं० १०। ८५। ८६।)।

हे वधू! ममर-सास-ननद-देवर-सब के लिए तुम सम्मान्या बनो।

(२)-इस अवसर पर महासद्गीत की भाषा में जो भाव व्यक्त हुआ है, वह वड़ा ही चमत्कृत  
है। मङ्गलगान करती हुई देवियाँ पितरों से यह वचन करती हैं कि—“एक लाडली को चौर बध-  
व्यो राईपर को सेवरो। बधव्यो बधव्यो हो लाटा गोत तुझारो” इत्यादि का तात्पर्य स्पष्ट है। कन्या  
का चौर (सौभाग्यप्रतीकरूपा लालसाड़ी) सदा अक्षुण्ण रहे, घर का सेवरा (कुलप्रतिष्ठा) सदा सुरक्षित  
रहे। हे घर ! तुझारी गोत्रवृद्धि हो (इस वधू के साथ होने वाले दाम्पत्यभाव से)—‘गोत्रं नोऽमिवर्द्ध-  
न्ताम्’ (आम्नायवचन) ‘वधव्यो गोत तुझारा’ अक्षरशः आम्नाय वचन का अनुवाद हुआ है।

और यहाँ आकर इस का सौभाग्य सफल माना जाता है, जिस की प्रामाणिकता के लिए, षोडश स्मार्त्त-संस्कारों में प्रसिद्ध 'सीमन्तसंस्कार' की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा (१)। सीमन्तिनी का अर्थ है 'केशपाराविन्यासिनी'। जिस सीमन्तभाव को प्रान्तीय भाषा में 'मॉंग' कहा गया है, जिस में सौभाग्य-कुंकुम मरा जाता है, मस्तकस्थ केशगुच्छ के शिरोभागानुगत वह दक्षिणोत्तरपार्श्व का मध्यस्थ भाग ही 'सीमन्तप्रदेश' है, जिस के आधार पर ही देशद्वयविभाजि ऽ मध्यरेखा से संयुक्त विभाजक प्रदेश भी 'सीमान्त प्रदेश' कहलाया है। षोडश ऋद्धारों में इस केशपाराविन्यासात्मक सीमन्तशृङ्गार का सौभाग्य की अपेक्षा से एक महत्त्वपूर्ण स्थान माना गया है। गर्भाष्टम मास में मातृद्वय से गर्भस्थ शिशुहृदय पर्यन्त गायत्रानुबन्धी अष्टाक्षरावयव इन्द्रविद्युत् प्रबलवेग से संचार करने लगता है। इस अवस्था में यदि सन्तति हो गई, तो वह जीवित नहीं रह सकती। यदि सन्तति जीवित रह गई, तो माता की मृत्यु निश्चित है। यदि महद्भाग्य से दोनों ही जीवित रह गए, तो यह अष्टममासप्रसूता इन्द्रविद्युत्प्रधाना सन्तति महाभाग्यशालिनी प्रमाणित होती है, जो सर्वथा अपवादात्मक क्षेत्र ही है। नियमतः दोनों में से एक का निधन निश्चित है, और यह आराद्धा प्रथमसन्तान से ही सम्बन्धित है। इस भय से सम्प्राण करने के लिए ही 'सीमन्तसंस्कार' विहित हुआ है। देवभावप्रधान इन्द्रविद्युत् के विमोहनपूर्वक इसे वपराज्य करने के लिए त्रेय्याराजली (सेह का शूल)-बीरतराङ्ग-सूत्र आदि आसुर भावप्रधान भूतमाध्यम से मन्त्रपूर्वक धोणावादन होते हुए भर्ता परोक्ष में पत्नी के केशपारा को द्विधा विगलित करता है, और यही शृङ्गसूत्रानुबन्धिनी सीमन्तसंस्कारानुगता इतिकर्त्तव्यता है। ('केशान् द्विधा करोति भर्ता'-पारस्करगृह्यसूत्र)। इसी दिन से यह 'सीमन्तिनी' (मॉंगवाली) कहलाने लगती है। 'मॉंग का सिंदूर' इसी दिन से प्रक्रान्त होता है, जो सौभाग्य का महान् प्रतीक माना गया है।

बिवाह होने पर स्त्री का सौभाग्य लौकिक है, केवल शरीरानुगत है, जिस का प्रतीक है 'रक्तवस्त्र' (फेरी की लालसाड़ी)। वास्तविक सौभाग्य का उपक्रमकाल माना गया है सीमन्तसंस्कारकाल। यहाँ से पत्नी, 'जाया-गृहिणी' आदि सम्मानित पदों से अमलंकृत की जाती है। पुत्रोत्पत्ति से पूर्व पूर्व पत्नी और पति, दोनों ही उपेक्षणीय माने जाते हैं। पति के शुक्र में महद्गुण से अवस्थित सापिण्ड्य-भावं-प्रयत्नक प्राणसात्मक पितर इस पतिपत्नी के दाम्पत्यभाव के फलस्वरूप 'पुत्र' उत्पन्न हो जाने पर प्रजातनुचितानोद्देश्यरूप स्तोदृदेश्य में सफल बनते हुए यहाँ उपरत बन जाते हैं, कृतवृत्त्य हो जाते हैं, सौरहिरण्यमात्मक नाकस्वर्ग के अधिकारी बन जाते हैं (२), लोकविजय

(१)-३२ श्रौतसंस्कार, १६ स्मार्त्तसंस्कार, मम्भूय द्विजातिमानव को सुसंस्कृत बनाने के लिए - श्रौतस्मार्त्त ५८ संस्कार विहित हुए हैं, जिन का स्वरूप परिचय गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत अन्त-रत्नपरीक्षात्मक-'कर्मयोगसहस्र' नामक 'ग' विभागानुगत ४ चतुर्थ खण्ड में हुआ है।

(२) पुत्रेण लोकाञ्जयति, पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।

अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टयम् ॥ (स्मृतिः)।

प्राप्त कर लेते हैं। इसी सौरहिरण्यमयभाव का प्रतीक है सर्वान्त का 'पीतवस्त्र', जिस से पुत्रवती सीमन्तिनी को पुत्रजननमहोत्सव के अवसर पर पितृप्राणप्रतीकमृत(१) कूपपूजन के समय सम्मानित किया जाता है। यही पीतवस्त्र पितरों की ओर से पुत्रजनननिमित्त महापारितोषिक इसे प्राप्त हुआ है। यही पीतवस्त्र लोकभाषा में 'पीला' (विशेष प्रकार का पीतवस्त्र-जिसे राजपूताना की पुत्रवती स्त्री अपना महामहनीय वस्त्र-ओढ़ना-मानती है) नाम से प्रसिद्ध है। ऐसी मान्यता है इस पीतवस्त्र के सम्बन्ध में आम्नायपरायण राजपूताना में कि, पतिपुत्रवती धीरा सौभाग्यवती ही इसे अपना परिधान (ओढ़ना) बना सकती है (ओढ़ सकूंगी है)। पतिपुत्रवती (जपतक पुत्रसन्तति न हो जाय) के लिए पीतवस्त्रधारण यहाँ की मान्यता में सर्वथा वर्ज्य है।

निष्कर्षतः कन्यापस्थानुगत प्रथमस्थानीय आधारभूत श्वेतवस्त्र (कन्यावस्त्र), बहुस्थानीय पत्यनुगत दाम्पत्यप्राधानुगत मध्यम स्थानीय रक्तवस्त्र (पत्नीवस्त्र), एवं जायास्थानीय पुत्रानुगत दाम्पत्यकलानुगत तृतीयस्थानीय पीतवस्त्र (पुत्रवतीवस्त्र) भेद से आम्नायानुमोदित पथानुसार पितृ-प्राणपरम्पराानुगति से सम्बन्धित प्रारम्भिक चन्द्रचन्द्रिकात्मक श्वेतवर्ण, मध्यस्थ अग्न्यनुगत रक्तवर्ण, अन्तस्थ सौर हिरण्यमयानुगत पीतवर्ण क्रमशः तीनों की प्रतीकता का समर्थन कर रहे हैं। अतएव रात्रिजागरणात्मक पितृ-स्थापना में श्वेतवस्त्र पट्ट पर विछाया जाता है, रक्त और पीतवस्त्र पट्ट पर पितृसम्मान के लिए रक्का जाता है। कहीं कहीं श्वेत और रक्त दो का प्राधान्य है। कहीं कहीं तीनों संगृहीत हैं। कहीं पितृध्वजारूप से सङ्गीतभाषा में 'रक्त-पीत'-दो का संग्रह हुआ है, जैसा कि— 'राती—(रक्त) पीली (पीत) धजा (ध्वजा) ए छड़ावेला (लगाएँगे) हरीचन्द्रजी (हरिचन्द्रजी) मोकला (बहुत बड़ी) जी' इत्यादि सङ्गीतभाषा से स्पष्ट है। विषय विस्तृत बनता जा रहा है। अतः अन्य सम्पूर्ण आम्नायों की मान्यता सहज भ्रष्टा के प्रति समर्पित करते हुए तालिकोद्धरण रूप से 'पितृ-परिवार' की यह पावनगाथा उपरत हो रही है, जिसके माध्यम से रात्रिजागरणात्मक पितृकर्मानुबन्धी महामहनीय के सम्बन्ध में, उनकी पूर्वप्रतिज्ञात पावनस्मृति के सम्बन्ध में कुछ निवेदन करते हुए अपनी भ्रष्टा को दृढ़मूल बनाने के लिए हम मनसा याचा कर्मणा आतुर हैं। परोक्ष है पितृपरिवार के, तथा तन्निश्चयन रात्रिजागरणात्मक पार्थिव भीम पितृकर्म के सम्बन्ध में वेदभक्त अमिनिविष्टों के परितोष के लिए पूर्वनिर्दिष्ट नैगमिक प्रामाण्यवाद। यदि इसके आधार पर 'स्थालीपुलाकन्याय' का मर्म समझते हुए उन्होंने आम्नाय-निगमविरुद्ध अपने अमिनिवेश - दुराग्रह (दृढधर्मा) का परिणाम करते हुए इस पितृकर्म के सम्बन्ध में अशतः भी आस्थातुगत भ्रष्टा अभिव्यक्त करने का निःसीम अनुपम किया, तो ज्ञातामा अभिव्यक्त करने पर वेदाविरोधी तर्कवाद के माध्यम से ही महा-सङ्गीतनियन्त्रण (लोककलातानुगत) कुलस्त्रीद्वारा अनुष्ठित पितृकर्म की मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले अक्षर अक्षर के नैगमिक आम्नायप्रामाण्य से उनका अनुरोध सम्भव बन सकेगा, निश्चित बन सकेगा। अनुमतिपन्नायितेनाभिनिर्वष्टेषु वेदभक्तेषु। परिलेखद्वारा निरूपित पितृपरिवार का सिंहा-यलोकन करते हुए पितृकर्मानुबन्धी रात्रिजागरणानुबन्धी महामहनीय (रातीगमा में गाए जाने वाले लोकगीत) की पावनस्मृति के आधार पर कतिपय स्मृत्यनुगत उदाहरण समुपस्थित किए जा रहे हैं।

(१) पितृदेवयो वै रूपः, राजतः (शत० ३।६।१।१३।)।



गर्भाधान-पुंभवन-जातकर्म-नामकरणादि षोडश स्मार्त्त गृह्य वैध संस्कार-कर्मों से सम्बन्धित मातृलिक महोत्सवों पर कुलस्त्रियों के द्वारा रात्रि में इन की अपनी मान्यता के अनुरूप स्वयं-कुलानुगत कुलदेवियों की साक्षी में पूर्वनिर्दिष्ट पितृपरिवारतालिकासुक्त औपपातिक पार्थिव रौद्र भीम शान्त घोर पितरों को तृप्त-तृप्त करने के लिए रात्रिजागरण होता है। नियत शुद्ध प्रदेश में काष्ठ-पट्ट (पाटा) स्थापित किया जाता है। दीपक प्रज्वलित किया जाता है। एवं अनुमानतः रात्रि के १०-११ में 'पितृकर्म' आरम्भ होता है, जिस का माध्यम बनता है महासङ्गीत, जिस की स्मृति से सम्बन्धित कुछ एक उदाहरण यहाँ उद्धृत कर प्रस्तुत भ्रान्त पाठन स्मृति को अक्षुण्ण बनाया जा रहा है।

प्रस्तुत महासङ्गीत (जिनका रात्रिजागरणात्मक लोकानुबन्ध पितृकर्म से सम्बन्ध है) केवल हमारी श्रद्धात्मिका स्मृति से सम्बन्धित है, जिन्हें अपने पारिवारिक पर्वोत्सव-विशेषों पर हमें यदा कदा सुनने का महत्सौभाग्य प्राप्त होता रहता है। इन लोकगीतों की आम्नायप्रामाण्यानुबन्धिनी मार्मिकता से हमें निरतिशयरूपेण प्रभावित होना पड़ा। एवं फलस्वरूप हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, ऋषिसंस्कृति-प्राच्य नैगमिक संस्कृति-धी आम्नाय-परम्परा से अनुप्राणित इन लोकगीतों का संरक्षण राष्ट्रिय संस्कृतिसंरक्षण का एक प्रधान अङ्ग है। इसी निष्कर्षार्कषण से आर्कापवमना बनते हुए हमने यह जानना चाहा कि, क्या किसी प्राच्यसंस्कृतिप्रेमी ने इस दिशा में कोई सफल प्रयत्न किया है? परिणामस्वरूप 'राजस्थानरिसर्चसोसायटी कलकत्ता' द्वारा प्रकाशित 'राजस्थान के लोकगीत' नामक ग्रन्थ (दो भागों में प्रकाशित) दृष्टि के सम्मुख उपस्थित हुआ, जिस के यशस्वी सम्पादकों<sup>६</sup> इस ग्रन्थ का सम्पादन किया है। अवश्य ही यह प्रयास भावुकतासंरक्षण की दृष्टि से प्रशंसनीय माना जाना चाहिए। इस दिशा में, जब कि अन्य कोई उपलब्ध उपलब्ध नहीं है, तो यही उपलब्धि तुष्टि का कारण मानी जानी चाहिए। किन्तु..... ?

आम्नायानुगत सांस्कृतिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित लोकगीतों का उक्त ग्रन्थ में संस्पर्श भी नहीं हुआ है। जिन देव-पितृकर्मों से सम्बन्धित लोकगीतों के आधार पर हमारी मूलसंस्कृति का लं किक सरक्षण सुरक्षित माना जा सकता है, तत्सम्बन्धी प्रकरण तद्ग्रन्थ में 'नहीं' के समान ही है। ६०० पृष्ठात्मक इस ग्रन्थ में केवल आरम्भ के २३ पृष्ठों में 'देवी देवताओं के गीत' नामक प्रकरण में कुछ एक वैसे प्रान्तीय (सम्भवतः जयपुरप्रान्तान्तर्गत शेखावाटी) गीतों का समावेश हुआ है, जिन से सांस्कृतिक आम्नाय गतार्थ नहीं बन सकती। "भालर-माताजी-बालाजी-भैरुजी-जलदेवता-

\* डाक्टर श्रीरामसिंह एम्० ए० विशारद, श्रीसूर्यनारायण पारीक एम्० विशारद, तथा श्रीनरोत्तम दास स्वामी एम्० ए० विशारद, सम्पादकत्रयी। प्रकाशक श्रीरघुनाथप्रसाद सिंघानिया, मुद्रक श्रीभगवती-प्रसादसिंहवर्मा विमेन, न्यूराजस्थानप्रेस कलकत्ता, दो भागों में प्रकाशित।

सेडलमाता-सतीराणी-पितराणी-” इन आठ गीतों में कहीं भी नैगमिक मान्यता, जैसी कि सांस्कृतिक संरक्षण के नाते अभीष्ट है, नहीं है। आगे के सम्पूर्ण लोकगीत भी देवपितृभावना से सर्वथा असंस्पृष्ट रहते हुए केवल प्रचलित लोकसाहित्य-शृङ्गारप्रधानसाहित्य का समर्थन करते हुए मानव की भावुकता ( शरीरमनोऽनुगत दुर्बलता ) को ही प्रोत्साहित कर रहे हैं। क्या यही स्वरूप है लोकगीतों का, उस लोकगीतसंग्रह का, जिसे हम ‘महासङ्गीत’ की उपाधि से विभूषित करते हुए आम्नायानुगत मानने का साहस, किंवा दुस्साहस कर रहे हैं। भव्ही समस्या उपस्थित कर दी उस ग्रन्थ ने हमारे सम्मुख इस दिशा में। केवल ‘राजस्थान’ नाम का व्यामोहन, किंवा ‘राजस्थान के लोकगीत’ घोषणा का व्यामोहन ही तो सांस्कृतिक क्षेत्र में पर्याप्त नहीं है। और फिर उस वर्तमान शताब्दी में मुक्त राजस्थान के लोकगीत, जिन्होंने राजाओं की स्वच्छन्दता-स्वैराचारिता की छत्रछाया में अपना कार्यात्मक निम्माण किया हो ? उस राजस्थान के लोकगीत, जिस राजस्थान ने श्रौतस्मार्तसंस्कारपरम्परा को जलाजलि समर्पित कर अपने आपको सर्वात्मना ‘शूद्रसधर्माणः’ प्रमाणित कर लिया हो ? उस राजस्थान के लोक-इत्य-पर्यगीत, जहाँ का सम्पन्न श्रेष्ठियर् यज्ञोपवीत जैसे संस्कार को भी अपने लिए विशेष महत्त्व का न मान रहा हो ? दक्षिणभारत धन्य है इस दिशा में, जहाँ आज भी आम्नायानुगत स्मार्तसंस्कारपरम्परा येनकेनरूपेण प्रभान्त है। वहाँ जो द्विजाति ( भा० च० वै० ) यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत नहीं होता, वहाँ यह द्विजाति ही नहीं माना जाता। उसके हाथ का जलमहण भी वहाँ वर्ज्य है। गुर्जरप्रान्त-मिथिलाप्रान्त-विशेषतः दक्षिणभारत में आज भी षोडशसंस्कारों में से कतिपय मुख्य मुख्य संस्कार आम्नायानुगत बने हुए हैं। अथर्व ही तत्तिवन्धन उन प्रान्तों के लोकगीत आम्नायानुगत ही होंगे, ऐसी हमारी धारणा है, और सांस्कृतिकसंरक्षण के उद्देश्य से ‘राजस्थान’ के वर्तमानयुग के स्तुलित-आम्नायविरुद्ध-संस्कारशून्य-अतएव कान्पनिक व्यामोहन को छोड़ते हुए हमें उन प्रान्तों के लोकसाहित्यान्वेषण-संरक्षण-प्रचार में कृतप्रयत्न होना ही चाहिए। दुर्भाग्य है हमारा कि, उन गुर्जरादि प्रान्तों की प्रान्तीयभाषाओं के सम्पर्क में न आने के कारण हम उस अतिवाच्य-आवश्यक प्रयत्न में अपने आपको सर्वात्मना असमर्थ ही अनुभूत कर रहे हैं। तद्देशीय विद्वानों से हम आग्रहपूर्वक प्रणतभावेन यह आवेदन करेंगे कि, ये उन लोकगीतों का, जिनका श्रौत स्मार्त संस्कारों से सम्बन्ध है, संग्रह कर राष्ट्रिय मौखिक संस्कृत के संरक्षण का स्तुत्य कार्य सम्पादित करने का अनुग्रह करेंगे।

हम क्या करें इस दिशा में, जब कि हम राजस्थान के तथोपवर्णित आम्नायशून्य-संस्कारशून्य पातापरण में विचारण कर रहे हैं। ‘डोलाभरण’ के यशोगान से तो आम्नायानुगता मूलसंस्कृति का कोई हित साधन सम्भव नहीं हो सकता। ‘पणिहारी’ के लोकगीत तो हमारी नैगमिकनिष्ठा को सुरक्षित नहीं रख सकते। क्या कोई लक्ष्य शेष नहीं रहा राजस्थानी होने के नाते आम्नायानुगत लोकगीतों के अनुशीलन के सम्यन्ध में हमारे लिए ? नेति होवाच। ‘विधि’ ही हमारा आत्मात्मन्य है, निषेध नहीं। फिर इस दिशा में भी हमारे लिए निराशा का कोई स्थान नहीं है। जयपचन ( जयपुर ) भी तो राज-

पत्तन (राजपूताना-राजस्थान) का ही अङ्ग है। और कर्णाकर्णपरम्परया आज तो ऐसा सुनने सुनाने में आ रहा है कि, जयपुर तो वर्त्तमान में राजस्थान की सत्ता का केन्द्र बनता हुआ सम्पूर्ण राजस्थान का प्रतीक है, राजस्थान की राजधानी नहीं, अपितु धूलिधूसरित राजस्थान की 'प्रजकी' 'धाणी' है आज के इस सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणतन्त्रात्मक-सार्वभौमप्रजातन्त्रयुग में। वैसे भी जयपुर अमुक दृष्टिकोणों से आरम्भ से ही विद्या-शिल्प-कला-आदि के समतुलन में सदा ही केन्द्र बनता हुआ राजस्थान का प्रतीक चला आ रहा है। न सही केन्द्र, किंवा प्रतीक, तथापि 'समुदाये द्रष्टाः शब्दा अवयवेऽपि वर्चन्ते' न्याय से 'पटो दग्धः' यत् राजस्थान का अवयवभूत जयपुर भी 'राजस्थान' का प्रतीक माना ही जा सकता है।

इस जयपत्तनात्मक राजस्थान के माध्यम से (जयपुर के माध्यम से, जयपुरीय प्रजावर्ग में प्रचलित पयोत्सवानुगत लोकगीतों के माध्यम से, जिनमें से पूर्वोपवर्णित-‘राजस्थान के लोकगीत’ नामक महाग्रन्थ में एक भी लोकगीत का समावेश नहीं हुआ है, सम्भवतः इसलिए कि जयपुरीय लोकगीत नैगमिक आम्नायानुगत बनते हुए वेदवत् शुद्ध हैं, नीरस हैं, साहित्यिक छटा से अस्स्पृष्ट हैं, वेदवादानुगता जड़ता के ? प्रतीकमात्र हैं। हमें राजपत्तनानुगता लोकगीतनिबन्धना सांस्कृतिक आम्नायपरम्परा विधिपूर्वक प्रमाणित करनी है, सर्वात्मना संसिद्ध करनी है, संसिद्ध है, इतर प्रान्तीय गुज्जर-मिथिला-दक्षिणभारतीयानुगता लोकगीतनिबन्धना सांस्कृतिक आम्नायपरम्परा के सम-तुलन में।

यही नहीं, बड़े ही सम्मानपूर्वक तत्प्रान्तीय तदाम्नायपरम्पराओं से, तन्मान्यतानुगामी तत्प्रान्तीय शिष्ट मान्य विद्वानों से हमें इस आम्नायदिशा के सम्बन्ध में यह भी धृष्टतापूर्वक निवेदन कर ही देना पड़ेगा कि, प्रतीयपरधानुगता-विदेशीसंभ्यतासंस्कृतिसमाकुलिता विगत-भुक्त जिन दो तीन शताब्दियों में सम्पूर्ण भारत, विशेषतः आम्नायपरम्परा का अनन्योपासक दक्षिणभारत\* विदेशी मत-वाद के भावुकतापूर्ण प्रवाह में प्रवाहित हो कर तन्मतवाद को भारतव्यापक बनाने का श्रेयोलाभ ? प्राप्त करने में अपना जैसा कीशाल ? अभिव्यक्त कर चुका है, तत्समतुलन की दृष्टि से द्वि-त्रि-शताब्दियों का राजपत्तनेतिहास नैगमिक आम्नायपरम्परा के संरक्षण की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत का नैगमिक प्रतीक प्रमाणित हुआ है, जिस गौरवपूर्ण प्रतीकभाव का एकमात्र श्रेय नैगमिक संस्कृति के अन्त-

\* यह वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य है कि, अपने अर्थतन्त्रप्रधान राजनैतिकतन्त्र की सफलतामात्र के लिए आटोपपूर्वक प्रचारानुगत क्राइस्टमत (इसायत) ने जो सफलता दक्षिणभारत में प्राप्त की, वैसी अन्य प्रान्तों में नहीं। हमारा राजपत्तन तो वेदस्फुटा भगवान् ब्रह्मा के आवास-निवासरूप पुष्करक्षेत्र-तीर्थ के अनुग्रह से पावम बना रहता हुआ सर्वथा इसाडयत (कृश्चिनियेटी) से असंस्पृष्ट ही प्रमाणित रहा है।

न्योपासक स्यनामधन्य 'शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' संस्मरणीय जयपुरीय 'राजवंश' को ही समर्पित किया जाया। न केवल राजस्थान को ही, अपितु सम्पूर्ण भारत को इस नैगमिक सांस्कृतिक संरक्षण के माध्यम से जयपुरीय राजवंश के प्रति वृत्तझतव्रजलि समर्पित करनी चाहिए, करनी ही पड़ेगी, आज नहीं, तो कल ( वर्तमान में नहीं, तो निकट भविष्य में ) ।

जयपुरराजवंश अपने आप को भगवान राम के पुत्र 'बुश' की परम्परा से सम्मानित मानता हुआ 'सूर्यवंशी कुशावाह' वंशी मानता चल रहा है, जिस का प्राकृतरूप है- 'कहवाहा'। इन के मूल का पुरातनतम इतिवृत्त तो अज्ञात है। हाँ, विक्रम सम्वत् १३३ से अद्यावधिपर्यन्त अनुमानतः १०७७ वर्ष पर्यन्त का क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध होता है। इस क्रमसे इन के मूलवंशप्रवर्तक 'नृवर' नामक राजाने अपने ही नाम से जो पुरी निर्मित की, वह 'नरवर' कहलाई। इन की वृद्धत्परथा में 'श्रीसोहदेव' नामक पुत्र उत्पन्न हुए, जिन्होंने 'चौसा' नामक पुर में चौहाण राजा को परास्त कर वहाँ अपना आधिपत्य स्थापित किया वि० सं० १३३ में। इनके ४० वर्षे राज्यभोगानन्तर इनके पुत्र 'श्रीदुर्लभराय' ने शौना को छोड़ कर आम्बेर के आगे के 'रामदुर्ग' ( रामगढ़ ) को अपनी राजधानी बनाया। इनके पुत्र 'श्रीकाकिलदेव' ने आम्बेर के उत्तर भाग में पर्वतश्रेणि में सुरक्षित 'कुन्तलगढ़' नामक दुर्ग पर आक्रमण कर यहाँ के भैरव को प्रसन्न कर गहाँ 'धन्वावती' पुरी की स्थापना की, जिनकी प्रतिष्ठा हुई रामगढ़ में, जो भयानी 'जमवा' माता नाम से प्रसिद्ध है, एवं जो इन राजाओं की कुलदेवी मानी जाती है। इसी परम्परा में आगे चल कर सं० १६४६ में 'श्रीमानसिंह' राज्यासीन हुए, यहीं से देवोपाधि का स्थान 'सिंहोपाधि' ने ग्रहण किया। मुगलसाम्राज्यसेना के प्रशास्ता धीमानसिंह 'फयुलविजेता' नाम से उपरिष्ठित है। इनके ज्येष्ठपुत्र श्रीभावसिंह ने तत्कालीनसत्ता से 'मिर्जा' उपाधिग्रहण कर ६ वर्ष में ही लीला समाप्त कर दी। इनके अनन्तर 'मिर्जाराराज जयसिंह' अधिकारारुढ़ बने इनके अनन्तर श्रीविष्णुसिंह, तदनन्तर हमारी आम्नाय के मूलप्रवर्तक 'श्रीसवाईजयसिंह महाराज' सं० १७५४ में राज्यासीन बने।

१७५४ से २०१२ वि० सम्वत्पर्यन्त श्रीसवाईजयसिंह ने आरम्भ कर राज्यसत्तावञ्चित ४४ वर्त्तमान राजवंशी धीमवाईमान.महानृपतिपर्यन्त मध्य में श्रीईश्वरीसिंह, श्रीभावसिंह, श्रीवृथिवीसिंह, श्रीप्रतापसिंह, श्रीजगन्मिह, श्रीजयसिंह, श्रीरामसिंह, तथा नैगमिक आम्नाय के अनन्य भक्त आस्थापरिपूर्ण भद्रा से आप्नुन मश सर्वदा संस्मरणीय स्व० श्री श्री सवाई माधवसिंह नृपतिवर क्रमशः प्रतिष्ठित हुए। इस प्रकार नृवर राजा ने आरम्भ कर वर्त्तमान श्रीमगई मानसिंहनृपतिमहोदय पर्यन्त ३० शान् श्री का इतिहास उपलब्ध होता है। जिनमें हमारी नैगमिक आम्नाय ने सम्बन्धित महामहोपरम्परा नृपतिश्रेष्ठ धीमवाईजयसिंह महाराज को ही वे नृ बना रहा है, जो वि० सं० १७५४ में आम्बेर

• हमारी आम्नाय से तो अब भी राजमत्ता में गंयुक्त।

राजधानी में राज्यासीन बने, अनन्तर जिनके द्वारा वर्तमान जयपत्तन नगर का शास्त्रीय आम्नायपूर्वक ही निर्माण हुआ। तब से आरम्भ कर वर्तमान सन्वत् ( २०१० ) पर्यन्त अनुमानतः ढाईसौ वर्षात्मक-काल नैगमिक-धार्मिकपरम्परा में आदर्श ही प्रमाणित रहा है \* ।

महाराज जयसिंह स्वयं निगमागमशास्त्रों के मर्मस्पर्शी विद्वान् थे। इनकी सम्पूर्ण व्यवस्थाएँ कालचक्रानुगत सम्यत्सरचक्र से समतुलित रहती हुई ज्योतिःशास्त्रानुगता थीं, जिसके ज्वलन्त उदाहरण जयपुर का 'ज्योतिष्य-त्रालय' ( अब्जरवेद्री ), बनारस के मानमहल में प्रतिष्ठित ज्योतिषशाला, उज्जैन की शाला-रूप से सर्वत्र भारत में अभिध्यक्त हैं। अम्बर ( आमेर ) और जयपुर के मध्य में पार्वत्य पावनक्षेत्र में इन्होंने नैगमिक अध्वमेध का अनुष्ठान कराया, जिसकी इतिकर्तव्यता का सम्बलन किया तत् समय के सुप्रसिद्ध पञ्चद्विद्व-पञ्चगौड़ वेदवित् नैगमिक विद्वानों में। गुज्जर-मिथिला-दक्षिणभारत-बाराणसी-आदि से निगमवेत्ता विद्वान् माहण आमन्त्रित हुए, इनके लिए यज्ञशाला के ही सन्निकट 'ब्रह्मपुरी' नाम की एक स्वतन्त्रपुरी का निर्माण हुआ, इन्हें प्रभूत-भूदान ( जागीरी ) द्वारा शरीरयात्रा निर्याह की चिन्ता से सदा के लिए उन्मुक्त करते हुए यहीं रख लिया गया। ये ही विद्वान् जयपुरीय सनातन प्रजा की नैगमिक लोक आम्नाय के सूत्रधार बनें। तदित्यं-राज्याश्रय से निश्चित बने हुए नैगमिक विद्वानोंने यहाँ की प्रान्तीयभाषा ( जयपुरीभाषा ) में स्वयं महासङ्गीत ( लोकगीत ) का आम्नायानुरूप निर्माण कर इसे परोक्षरूप से जयपुर के नागरिक जीवन में आम्नायपरम्परा का अनुगामी बनाने का श्रेय प्राप्त किया। पाठक स्वयं यह अनुभव करेंगे इन लोकगीतों के नैगमिक आम्नायभावों को देख सुन कर कि, इनके वाक्यसन्दर्भ वेदमन्त्रों के अनुवाद हैं, जो अवश्य ही वेदवित् विद्वानों के माध्यम से ही राज्याश्रय के द्वारा जयपुरीय प्रजावर्ग में अवतरित हुए हैं। यही हमारी आस्था-श्रद्धानुगता आशा का यह अस्मालण केन्द्र है, जिसके आधार पर हम राजस्थान के प्रवीकभूत महासङ्गीतात्मक आम्नायसिद्ध लोकगीतों को पावनस्मृति को सुरक्षित रखने के गर्व से आत्मविभोर बने हुए हैं। धन्य है राजस्थान, कृतकृत्य है यह राजस्थान, जिसका केन्द्र जयपत्तन बना हुआ है। धन्य है जयपुर का पारम्परिक राजवंश, जिसने विद्वानों के द्वारा नैगमिक आम्नाय से अपनी प्रजाको धन्य बनाया। और सर्वाधिक धन्य हैं वे पाठक, जो इस प्रासङ्गिक महासङ्गीत के अनुवाद से निश्चयेन आस्थायुक्त भ्रष्टा से आत्मविभोर

\* और हमारी ऐसी निश्चित आस्था है कि, जगन्माता अगदम्बा माताशिलामयी के पारम्परिक आम्नायसिद्ध अनुग्रह से वर्तमान नृपति श्रीमानसिंहदेव क, तथा इनके वंशजों के द्वारा भी पूर्व-स्थापित नैगमिक-धर्मपरम्परा-आम्नायपरम्परा आदर्श ही प्रमाणित होती रहेगी। वर्तमान में जो इस दिशा में युग-धर्मानुगत विराम देखा सुना जा रहा है, उसे हम कृत्रिम-आपातरमणीय मानते हुए गन्धर्वनगरलीला ही समझ रहे हैं, जो निकटभविष्य में ही शरदभ्रवत् विलीन होने वाली है, एवं उदित होने वाला है वही सूर्य अपने स्वस्वरूप से। ओमित्येतत् ।

यन जाने वाले हैं। इसी वृत्तज्ञता-परम्परा से पितरकर्मभानुगत रात्रिजागरण-निबन्धन कतिपय महासङ्गीतों-  
दाहरण समुपस्थित हो रहे हैं।

श्रूयताम् ! श्रुत्वा चार्पवधार्यताम् !!

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

इस पावनस्मृति के अवश-अवधारण से पूर्व पाठकों से साञ्जलिवन्ध एक आवश्यक  
आत्मनिवेदन और। उदाहरणरूपेण अत्र उपन्यस्त-उद्धृत लोकगीतों की भाषा वह जयपुरी-भाषा है,  
जिसका भाषाविज्ञान की दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। यह भाषा एक प्रकार की प्राकृत भाषा  
है, मासीण भाषा है, शिष्टमान्यता-शिष्ट आदर्श से स्खलित भाषा है। किन्तु है यह हनारी देशभाषा,  
जिसे हम जयपुराभिजनरचने 'जननी' ( मातृभाषा ) एवं पर आह्वान मान रहे हैं। इसीलिए हमारे लिए  
यह श्रद्धाभाजना है। फिर उन प्रस्तुत लोकगीतों के सम्बन्ध में तो कुछ कहना ही नहीं है कि, जिनमें  
अनन्यश्रद्धाक्षेत्रानुगत पितर-कर्म का यशोगान हुआ है। अतएव इन उदाहरणों की भाषानुगता आलो-  
चना को भीमास्य न बनाते हुए कृपालु पाठक इनके आम्नायानुगत भाषों को ही लक्ष्य बनाने का अनुग्रह  
करते हुए हमारी इस श्रद्धा का संरक्षण करने की निःसीम उदारता ही अभिव्यक्त करेंगे। कारण, हमारा मूल-  
सदय रहा है एकमात्र- 'श्रद्धावैलम्बते ज्ञानम्'। यही लक्ष्य पाठकों का भी रहे, तो श्रेयःपन्था है।

पितृकर्मभानुगन्धी-महासङ्गीत की पावनस्मृति के कतिपय उदाहरण

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है, अशुभ विशेष कामना की पूर्ति के लिए, अथवा  
तो गर्भधानादि स्मार्त माह्निक पर्वों के अवसर कुलस्त्रियों के द्वारा ( समानगोत्रानुगता कुटुम्ब की

+ चान्द्र-महानात्मस्वरूप पितरों से सम्बन्ध रखने वाले इन पैत्र-लोकगीतों की पावनस्मृति  
इस लिए 'महासङ्गीत' नाम से सम्बोधित हुई है कि, इन गीतों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय यन रहा है  
'चन्द्रानुगत पार्थिव महानात्मा'। महान् ( महानात्मरूप पितर ) का यह 'संगीत' है, अतएव इस 'महान्-  
संगीत' ( महानात्मसङ्गीत ) को 'महासङ्गीत' कहना सर्वथा अन्यर्थ बन जाता है। 'महासङ्गीत' क्यों,  
'महागीत' ही क्यों नहीं?, प्रश्न किया जा सकता है इस अभिधाके सम्बन्ध में। उत्तर स्पष्ट है।  
'समित्येकीभावे' प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ है—अनेकों का एकत्र निधिरूपरूप से एकीभाव, समसमन्वय।  
यदि एकाकिनी कुलस्त्री ही इस पैत्र गीत का गान करती, कर सकती, तो अक्षय ही महानात्मनिबन्धन  
पैत्र गीत को केवल 'महागीत' अभिधा से रुक माना जा सकता था। किन्तु अनेक कुलस्त्रियों-समान-  
गोत्रानुगता यन्त्रु-परिवार की सम्मिलित त्रियों-के एकीभाव से-एकतानता-से ही इन गीतों का गान  
सम्भव बनता है। इस 'सम्' भावात्मक 'अनेकामामेकीभावात्मक' महागीतको 'महा-सम् गीत' रूप से  
'महासङ्गीत' नाम से उद्धृत करना ही अन्यर्थ बनता है।

स्त्रियों के द्वारा) रात्रि में पितरों के लिए पट्ट स्थापन होता है, पितरों की प्रतीकरूपा सुयर्ण (हिरण्यतेज) मूर्ति (जो कि लोकभाषा में 'पितरों की पातड़ी' कहलाई है) घनाई जाती है, मङ्गलगानान्तर 'पातड़ी स्थापन के गीत' के साथ पातड़ी पट्ट पर स्थापित करते हुए सर्वाङ्ग में नमस्कारपूर्वक यह पावन पितर-कर्म उपरत होता है। सम्पूर्ण गृह मङ्गलाचारों में विवाहानुबन्धी माङ्गलिक कर्मों के उपलक्ष में किए जाने वाले रात्रिजागरणात्मक पितरकर्म में आरम्भ में 'गणपति' का संस्मरण (गणपति का लोक-गीतगायन) इसलिए आवश्यक माना गया है कि, विवाहारम्भ में गणपति का स्थापन ही मुख्य आधार बनता है। विवाहान्तरित अथ सम्पूर्ण काम्य माङ्गलिक पितरकर्मों में गणपति का संस्मरण अनिवार्य नहीं माना जाता।

पितृकर्मानुगत महामहनीय काम्य रात्रिजागरण का उपक्रम होता है तत्तत्पुरुषों की तत्तत् मान्यताओं से अनुप्रमाणित तत्तत् विशेषप्राणरात्रिरूपा कुलराध्या कुलदेवी के पावन संस्मरण के साथ। अतएव सर्वप्रथम उसी प्राथमिक पावनसृष्टि की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो पितृकर्म में सर्वाङ्ग का मुख्य महासङ्गीत माना गया है। तन्मयतया भूयताम् !

अथवा स्त्री की सहजभावुकता (स्त्रीसहजप्रवृत्ति) की दृष्टि से भी उक्त अभिधा का लोक-दृष्टि से भी समन्वय किया जा सकता है। गीत बहुत छोटे, आरम्भ से अन्ततक मूलविषय एक, और यह भी संक्षिप्त। किन्तु भावुकतायरा उसे ही पुनरुक्तिपूर्वक लयपूर्वक लम्बलम्बायमान करके गाना, छोटे से भी गेयपद्य दो बहुत बड़ा बना कर गाना स्त्रीभावुकता का सहज स्थाभाव है। यदि स्त्री किसी की निन्दा करने बैठेगी, तो उसकी साव धँकी के दोषों का बखान कर डालेगी, यदि स्तुति करने लगेगी, तो समस्त परिवार को सर्वमूर्द्धन्य प्रमाणित कर देगी। आरम्भ मात्र कर देना भावुकता का सहज गुण, किन्तु समाप्तिबिन्दु से अपरिचित रहना भावुकता का सहज दोष। भावुक स्त्री आरम्भ करना जानती है, समाप्त करना नहीं। दो चार स्त्रियों को बात चीत आरम्भ करने तो दीजिए, लक्ष्य बातचीत का निवृत्त स्वल्प, किन्तु बातों का ओर ओर ही नहीं। जब सामान्य वार्त्तालाप सम्भाषण की ही यह कथा है, तो गीतों के सम्बन्ध में तो आलोचना ही व्यर्थ है। गाते गाते गला गले ही सूख जाय, किन्तु गान उपरत नहीं हो पाता। अतः इनके सभी गीत इस विस्तारानुबन्धिनी महत्ता के कारण 'महागीत' ही नहीं, अपितु 'महासङ्गीत' ही मानें गाँगे। किसी भी एकाकिनी कुलस्त्री से आप लोकगीत का स्वरूप जानने का प्रयास कीजिए, कभी आपकी तबतक अपनी इस जिज्ञासा में सफलता प्राप्त न हो सकेगी, जब-तक कि दो चार स्त्रियाँ सम्मिलित होकर सार्वजनिक एकीभाव से गान में प्रवृत्त न हो जायँगी। यही इन लोकगीतों की लोकनिबन्धना 'महासङ्गीतता' है। क्या आप अपनी प्रेरणा-जिज्ञासा से कुलस्त्रियों का अपनी इच्छानुसार संचयन कर उन से इस महासङ्गीत के स्वरूपज्ञान में सफलता प्राप्त कर सकते हैं?, नेति होयाच। कभी आप इस प्रत्यक्ष प्रयास में उन परोक्षप्रिया भावुक कुलस्त्रियों से साक्षात् रूप से

(१)—कुलदेवी के संस्मरणात्मक महासङ्गीत की प्रथम पावनस्मृति—

(१)—ॐ ओ आज हार धन धन, हुया छ उछह ।

भल दूटी छे 'बड़धासण' माता 'मावली' जी ॥

(२)—चीरँजीओ मीसर 'सेवारांम' जी, राव पूत—

अजगज नींव लगावला 'विंदरावनजी' मोकलाजी ॥

(३)—चीरँजीओ मीसर 'विंदरावनजी', राव पूत—

नारेलों रा कोट चुणावला 'जटासंकरजी', मोकलाजी ॥

(४)—चीरँजीओ मीसर 'जटासंकरजी', राव पूत—

छेल सुपारी छड़ावला 'लिङ्गमणुरामजी' मोकलाजी ॥

(५)—चीरँजीओ मीसर 'लिङ्गमणुरामजी', राव पूत—

मँड काच हुलावला 'वालचन्दरजी' मोकलाजी ॥

(६)—चीरँजीओ मीसर 'वालचन्दरजी', राव पूत—

सोना रो छचर लगावला 'हरीचन्दरजी' मोकलाजी ॥

(७)—चीरँजीओ मीसर 'हरीचन्दरजी', राव पूत—

मोतीडारों अखत चढ़ावला 'महेसचन्दरजी' मोकलाजी ॥

—ची भर दिवलो जूपावला 'सुरेसचन्दरजी' मोकलाजी

—लापसड़ीरो भोग लगावला, चँवर दूलावला 'प्रेमचंदरजी'

'सतीसचंदरजी' मोकलाजी ॥

महासङ्गीत का स्वरूपबोध प्राप्त न कर सकेंगे। महासङ्गीतभावना जागरूक बनती है इनमें स्वतः ही तत्तद्दिशेष पर्वोत्सवों के अवसरों पर ही। वहाँ भी परोक्षरूप से ही आप इनका भवण कर सकते हैं। यदि आप प्रत्यक्ष में आगए, तो लज्जास्वभावा कुलनारियाँ तत्काल उपरत हो जायँगीं। अतः आप परोक्षरूप से तदवसरों पर अवधान पूर्वक सुनिए, तदापारेखैव उस श्रुत महासङ्गीत की पावन 'स्मृति' के आधार पर ही इनकी आम्नायानुगता व्याख्या का समन्वय करने का प्रयास कीजिए। इसीलिए तो हमने यहाँ 'महासङ्गीत की पावनस्मृति' ये उद्गार व्यक्त किए हैं। 'नान्यः पन्था विघतेऽप्यनाय'।



(८)—ओलख्या ए \* छोटा मोटा जात थाया  
ज्याँ न फल देय-दूध, पूत, अट्ट लिल्ली  
देई ओ बड़वासण माय ! दे कुल दीवट माय !

(९)—बाधा ( सेवाराजजी ) बिंदराजनजी का पीरवार में  
छाप्पर छाये ए बड़वासण माय !  
बंस बधाये ए बड़वासण माय !  
बेटा दीजे ए बड़वासण माय !  
ओर्युं आजे ए बड़वासण माय !

(१०)—आँवा-विजोरा-दाख-दाङ्गूँ-सदा ए लोपण साँवली  
फोयलिए मुँदरी चाल चाल, छुअटो हरियालो जी  
“माता ईसरी परमेसरी कुल दीवट बैस बधावणी”

(११)—आरत्यो ए राज-दिवाण सोवे  
आरत्यो ए मोटाँ घाँ  
आरत्यो ए ज्याँ घर पूत निपजे  
बहु ए आवली भूमकती  
माता ! बहु ए आवली भूमकती ॥

—१—

(१)—सेवाराजः — वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः

(२)—वृन्दायनः — अतिवृद्धप्रपितामहः

(३)—जटाराह्वरः — वृद्धप्रपितामहः

(४)—लक्ष्मणरामः — प्रपितामहः

(५)—बालचन्द्रः — पितामहः

(६)—हरिचन्द्रः — पिता

(७)—महेशचन्द्रः — उपेष्टपुत्रः

ॐ — सुरेशचन्द्रः

ॐ — प्रेमचन्द्रः

ॐ — सतीशचन्द्रः

हरिश्चन्द्रपुत्रः

कनिष्ठपुत्रः

सापिरक्ष्यं सात्त्विकीरुपमित्याहुताचार्याः

\* “ओलख्या ए छोटा मोटा जात थाया” — परमब्रह्मेण स्व० श्रीबालचन्द्रजीशास्त्री के मध्यम पुत्र,  
( कुलश्रेष्ठ-श्रेष्ठ अनन्यब्रह्मेण वर्तमान श्रीहरिश्चन्द्रजी शास्त्री के मध्यम भ्राता ), एवं हमारे  
परमब्रह्मेण स्व० श्रीराधाचन्द्रजी शास्त्री ( गोविन्दचन्द्र-सापिरक्ष्यवितानग्रन्थका की अपेक्षा  
से पितामह, जिनका स्वर्णगमन बहुत ही छोटी अवस्था में स्व० श्रीबालचन्द्रजी शास्त्री के

जिस प्रकार आधिकारिक स्वर्गीय दिव्य घृत्नों में अश्वत्थवृत्त ( पीपलका पेड़ ) विष्णुदेवात्मक माना जाता है, तथैव वटवृत्त शिवदेवात्मक माना गया है। शिव की महाशक्ति महामाया ईश्वरी परा-पराणां परमा परमेश्वरी ही 'वटवासिनी' देवी कहलाई है, जो वटस्थित शिवके साथ दाम्पत्यरूप से स्थित है। इसी शब्द का प्राकृत रूप है—'वटवासण माता'। वट में रहने वाली शिवसंयुक्त परमेश्वरी भवानी—आदिदेव महादेव की अर्द्धाङ्गिनी 'आदि भवानी' ही हमारी कुलदेवी है। 'महासङ्गीत ने सापिण्ड्यलक्षणा सप्तप्रजातन्तुवितानात्मिका निगममन्यादा से इसी की स्तुति की है। इसीलिए हमारी कुलाम्नाय में वटवृत्त महा पूज्य माना गया है। इस का काष्ठ कभी हमारे गृहानुबन्धी पाककर्म ( रसोई ) में उपयुक्त नहीं होता। वैसे व्यापक मान्यता के अनुसार भी इसी शिवशक्ति-अधिष्ठान के कारण वटवृत्त ह्युक्त्य भगवान् शिव का प्रतीक माना गया है, जिस के आधार पर ज्येष्ठकृष्ण अमावास्या तिथि को आज भी सौम्यायनसंरक्षण-शीलाकुलदेवियों के द्वारा यह पूजित होता है, जो कि पावन तिथि 'वटसावित्रीतिथि' नाम से प्रसिद्ध है। पुराण की ऐसी मान्यता है कि, इसी व्रत के चलपर महासती सावित्री ने अपने पति सत्यवान् को यमपारा से मुक्त कर लिया था।

भौतिक-जीवनकाज में ही हो गया था, अतएव उन्होंने ही कुलाम्नाय संरक्षण के लिए जिस उनके कनिष्ठपुत्र—एवं श्रीहरिश्चन्द्रजी के कनिष्ठ भ्राता—वर्तमान गोविन्दचन्द्र शर्मा को श्रीराधाचन्द्रजी का दत्तक पुत्र बना दिया था वे, तथा आम्नायश्रद्धालु गोविन्दचन्द्रशर्मा ( पिता ), एवं तन्पुत्री आयुष्मन्ती श्रीकृष्णचन्द्र-श्रीयसन्तकुमारशर्माणां निश्चयेन आम्नायसंरक्षकी श्रीपटवासिन्याः कुलदेव्यानुगृहेण, सापिण्ड्यभावप्रवर्तकी-तन्संरक्षकी नैगमिकां" हो महासङ्गीतानुगत 'ओलख्या ए०' इत्यादि पद्य पठित 'छोटा मोटा' का स्वरूप परिचय है। हमारे कुल में सर्वज्येष्ठ-श्रेष्ठ श्रद्धेय श्रीहरिश्चन्द्रजी की वंशपरम्परा के समतुलन में क्योंकि श्रद्धेय स्य० श्रीराधाचन्द्रजी की गोविन्दचन्द्रादिरूपा वंशपरम्परा कनिष्ठ है, अतः इस परम्परा को 'छोटा' कहा जायगा। साथ ही कनिष्ठ परम्परा ही क्योंकि आगे चल कर वंशात्मन्यपरम्परा को विशाल वंशवृत्त रूप में सुविस्तृत करती है। अतएव इस 'छोटा' ( कनिष्ठ ) का 'मोटा' ( महान् ) भी कह देना अन्यर्थ ही माना जायगा। यही 'छोटामोटा' का पद-समन्वयार्थ होगा। लोकप्रतिष्ठा-लोकप्रसिद्धि-लोकख्याति का ज्येष्ठकुलपुरुष से ही सम्बन्ध आम्नायसिद्ध है, जैसा कि—'एको गोत्रे स भवति पुमान्—यः कुटुम्बं विभक्तिं' इत्यादि आम्नायवचन से प्रमाणित है। लोकसम्मान के लक्ष्य से कुलज्येष्ठपरम्परा ही नामग्रहणपूर्वक लक्षित बना करती है। कनिष्ठपरम्परा का स्थान तो कनिष्ठता के कारण, जेष्ठ के समतुलन में आत्मसमर्पणात्मक श्रद्धाभाव के कारण अलक्षित अग्राह्य ही माना जायगा। यही आम्नायसिद्ध 'अलक्षित' भाव महासङ्गीत में प्राकृतरूप से—'ओलख्या ए' पद ( जो अलक्षित है, कनिष्ठपरम्परा के कारण जो ज्येष्ठों के सामने समादरात्मिक अभिधा से सम्बोधित नहीं होते ) अभिव्यक्त हुआ है।

महासङ्गीत का अन्तरार्थ यद्यपि स्पष्ट है। तथापि अन्य प्रान्तीयों की दृष्टि से इसकी भाषा का समन्वय यों किया जा सकता है कि—

(१) “अहो ! ( ‘अँ-ओ’ का मूलरूप ) अन्न धीर वित्त की परिपूर्णता के कारण आज मेरे कुल में बहुत बड़ा उत्सव ( पितरकर्म ) होने जा रहा है। यह अन्न-धन की समृद्धि, यह महामहोत्सव ( रात्रिजागरणात्मक महान्फलप्रदाता काम्य पितरकर्म ), सब कुछ हमारी कुलदेवी वटयासिनी उस मातृशक्ति की अनुकम्पा का ही महान्फल है, जो अपनी अवान्तर अङ्गशक्तियों से ‘मातृ-परम्परा-चतुर्दश-मातृपरम्पराओं में-प’क्ति में-श्रेणिबिभाग में विभक्त होती हुई ‘मावली’ ( मा की अवली-प’क्ति ) नाम से प्रसिद्ध हो रही है।

(२) ( उस कुलदेवी के अनुग्रह से चान्द्रलोकस्थ हमारे कुल के वृद्धातिवृद्धप्रपितामह श्रद्धेय श्री-सेवाराम जी मिश्र ॐ चन्द्रलोक में स्वस्थ रहें। उनके सम्पत्तिशाली ( राव ) स्व० पुत्र श्रीवृन्दावनजी अपने सापिण्डय-पतन से अपने कुल की नींव सुदृढ़ लगा रहे हैं, बहुविस्तृत ( मोकली-मोकला ) लगावेंगे- ( लगा रहे हैं-लगा दी है )।

(३)—अतिवृद्धप्रपितामह श्रद्धेय मिश्र श्रीवृन्दावनजी स्वलोक में स्वस्थ रहें, जिनके पुत्र श्रीजटा-शङ्करजी कुलदेवी के मन्दिर ( कुल ) में श्रीफलों का दुर्ग निर्माण करावेंगे ( करा रहे हैं, करा दिया है ), सम्पत्ति की अक्षुण्ण बनावेंगे- ( बना रहे हैं, बना दी है )।

(४)—वृद्धप्रपितामह श्रद्धेय मिश्र श्रीजटाशङ्करजी स्वस्थ रहें स्वलोक में, जिनके पुत्र श्रीलक्ष्मण-रामजी मातृमन्दिर में पूजाई सुपारी से माता का सम्मान करेंगे- ( कर रहे हैं, सदा के लिए कर रक्खा है )।

(५)—प्रपितामह मिश्र श्रद्धेय श्रीलक्ष्मणरामजी स्वस्थ रहें स्वलोक में, जिनके पुत्र श्रीबालचन्द्रजी मातृमन्दिर को दर्शकक्षाय से समलङ्कृत करेंगे- ( कर रहे हैं, कर दिया है )।

(६)—पितामह मिश्र श्रद्धेय श्रीबालचन्द्रजीशास्त्री सर्वसौख्ययुक्त रहें चान्द्रस्वर्ग में, जिनके वर्त्तमान सुपुत्र ( हमारे कुल के सर्वज्येष्ठ श्रेष्ठपुरुष ) श्रीहरिश्चन्द्रजी शास्त्री ( वर्त्तमान अभिधा में ‘बाबाहरिश्चन्द्र’ नाम से लोक में सुप्रसिद्ध ) मातृमन्दिर में सुवर्ण का छत्र लगावेंगे। ( दत्तकमर्यादया पीत्रमुख-दर्शन द्वारा हिरण्य तेजोमण्डलात्मक ‘ब्रह्मन्स्य विष्टव्’ नामक सौर-हिरण्य संस्कार को अपने ऐहिक भूतात्मा में प्रतिष्ठित करने के रूप में सुवर्ण का छत्र लगा चुके हैं, जिसे लोक में—‘सोने की सीढ़ी पर चढ़ना’ कहा जाता है )।

ॐ अध्यापनकर्म कराने वाले द्विजाति को ‘आचार्य’, एवं कुलानुगत पीरोहित्यकर्म कराने वाले को ‘उपाध्याय’ कहा जाता है। दोनों कर्म कराने वाले ‘मिश्रकर्मानुगत’ द्विजाति मिश्र’ कहालाप है, जिसका प्राकृतरूप है लोकगीत में ‘मिसर-मीसर’।

(७)-यत्तमान-पिता अनन्य भद्रेष पूज्य मित्र श्रीहरिश्चन्द्रजीशास्त्री अपने यत्तमान जीवन में कुलानुगता लोकख्याति, पुत्रादिसम्पत्ति, विद्यादिसम्पत्ति का भोग करते हुए रातायु यत्तें, जिनके ज्येष्ठ पुत्र श्रीमहेराचन्द्रजी, कनिष्ठ तीनों पुत्र मातृमन्दिर में क्रमशः भक्तियों के थल, पत-दीप, लपसी का भोग, चामर व्यवजन का अनुगमन करेंगे। ( इस प्रकार हे कुलदेवि ! हमारी समस्त कुलानुगत में सदा से ही हमारे कुलपुरुष आपकी प्रणतमाय से उपासना करते आ रहे हैं, करते रहें यावद्वन्द्वियाकरी, यही कामना है हम कुलस्त्रियों की ) ।

(८)-माता ! हमने अपने कुल के मुख्य पुरुषों की नामगणना की है आपकी आराधना के प्रसन्न में। इसका यह अर्थ नहीं समझें आप कि, जिन ज्ञान अज्ञान-परिचित-अपरिचित-छोटे-बड़े कुलपुरुषों का नाम ग्रहण हमने नहीं किया, उन पर आप अनुमद नहीं करेंगी। माता ! उन पर तो आपका विरोध अनुमद इसलिए होना चाहिए कि, उन्होंने तो बिना नाम-रूप कर्म के अपना अस्तित्व-व्यक्तित्व ( जाति-जात-सब कुछ ) पहिले से ही आपको समर्पित कर दिया है। अतएव सर्वस्वसमर्पक नामगणना से असंस्पृष्ट उन छोटे-बड़े को तो आप दुग्ध ( अन्नसम्पत्ति ), पुत्र ( प्रजासम्पत्ति ), एवं अक्षय लक्ष्मीमाहात्मदान करने का अवसर ही अनुमद करेंगी ही, ऐसी हम कुलस्त्रियों की भद्रा है। हे बट-दासिनी ! आप उक्त सम्पत्तियों का अनुमद करती हुई हमारे कुल में ऐसे पुरुष को जन्म देने का अनुमद करें, जो अपने यश-कीर्ति-विद्या-बुद्धि-सम्पत्ति-आयु-आदि से 'कुलदीपक' प्रमाणित हो।

(९)-हे माता ( सपिण्डसम्बन्धप्रयत्नक ) \* बाबा श्रीवृन्दावनजी के परिवार में आपने अपने

\* वृद्धतिवृद्धप्रतिभामहस्थानीय सर्वादिके चन्द्रलोकस्थ सप्तममूलपुरुष मित्र श्रीसेवारामजी अथ केवल एक सहोभगा से युक्त हैं, इस मान्यता के आधार पर सेवासमजी का इस सर्वादात्मवन्ध लोकगीत में हमने नामग्रहण उपयुक्त मान लिया है। कुलदेवी के अनुमद से सप्तमपुरुष 'पुत्र' स्थानीय श्रीमहेराचन्द्रजी के, तथा सुरेशचन्द्रजी के भी पुत्रसम्पत्तियाँ होगई हैं। इन आठवें पुरुषों (मित्र श्रीहरिश्चन्द्रजी के पौत्रों) के कारण हम से आठवें यन्ते हुए चन्द्रलोकस्थ सेवारामजी का एक सह पूर्णरूपेण सपिण्डता प्राप्त करता हुआ युक्त हो गया है। अतएव अब हमारे कुल में उनके साथ सपिण्डताप्रवृत्ति का सम्बन्ध न मान कर अतिवृद्धप्रतिभामह स्थानीय दूसरे चन्द्रलोकस्थ षष्ठ मूलपुरुष मित्र श्रीवृन्दावनजी को ही सपिण्डता का मूल मानते हुए इन्हें ही परिवार का मूल ( सपिण्डता का मूल ) माना जायगा। अतः प्रस्तुत कुलगीत में इन्हीं की परिवारान्वय ( मूलपुरुष-सप्तमपुरुष ) मान लिया गया है। इतकविधि मर्यादा से तो गोविन्दचन्द्र श्रीहरिश्चन्द्रजी का पौत्र है, यह पुत्रसन्तति से युक्त हो चुका है, जो कि इस के पुत्र मित्र श्रीहरिश्चन्द्रजी के प्रपौत्र ( पड़पोते ) स्थानीय हैं। इस दृष्टि से तो बाबा वृन्दावनजी भी चन्द्रलोक से युक्त हो गए हैं। अतएव अब लोकगीत में वृन्दावनजी के स्थान में बाबा जटासंकरजी का

सहज अनुग्रह को सुरक्षित कर रक्खा है, जो अनुग्रह लोक में 'छत्रछाया' (छापर) + कहलाया है। हे वट्यासिनी ! आप ही ने अनुग्रह कर हमारे वंश की वृद्धि की है। (अतएव) हम आप से ही (पुनः पुनः) यह आवेदन कर रही हैं कि, आप सदा ही इस वंश में पुत्रपरम्परा-प्रदान का अनुग्रह करती रहें। (माता ! हमारी प्रार्थना है कि, आप इसी प्रकार-जब जब हम आपका स्मरण करें, पधारती रहें।

(१०) \* आषाढफल, विजोराफल, श्राद्धफल, दाड़िनफल, एवं जम्बूफल, हे माता ये पाचों महामाङ्गलिक फल-‘फलेन फलितं सर्वम्’ इस शास्त्रीय आम्नाय के अनुसार फलारीः के लिए हम आप के समर्पण कर रही हैं। इस फलसमृद्धिपूर्ण हमारे बुल में उसी प्रकार मन्दगति का अनुसरण करने वाली पिक (फोयल), हरितवर्ण का हुक (तोता)-सद्भावोपेक्षित मधुरभाषिणी कम्पा,

परिवार में, यह समावेश हो जाना चाहिए। आगे आगे की पुत्रसन्तति के संख्यान-क्रमानुसार मूल-पुरुष का लोकगीत में परिवर्तन होता रहना चाहिए, यही लोकगीत का आम्नायानुगत प्रामाण्य माना जायगा। महेशचन्द्रजी के पौत्र होने पर औरस मर्यादा से वृन्दावनजी का स्थान ‘जटाशंकरजी’ ग्रहण करलेंगे, तबतक यहाँ (हरिश्चन्द्रजी के परिवार में) ‘बाबा वृन्दावनजी का परिवार में’ यह आम्नाय ही व्यवस्थित मानी जायगी। इधर गोविन्दचन्द्र के परिवार में श्रीचन्द्रलोकस्य मिश्र श्रीराधाचन्द्रजी से सम्बन्धित दत्तक मर्यादा से कृष्णचन्द्र-वसन्त प्रादुर्भाव के कारण ‘बाबा जटाशंकरजी का परिवार में’ यह समाविष्ट होगया है। बुलदेव्यानुग्रह से निकट भविष्य में ही कृष्णचन्द्र के पुत्रसन्तति होते ही उस समय से गोविन्दचन्द्र के परिवार में ‘बाबा बालचन्द्र जी का परिवार में’ यह समाविष्ट होने वाला है, जिसका कुत्रकी आम्नायपरायणा देवियों को स्मरण रखना चाहिए।

+ जयपुरी ग्रामीण भाषा में पानी-फूसके ‘छपर’ के कबे निवासगृह हुआ करते हैं। छपर की छाया में ही ग्रामीण जनता विश्राम ग्रहण करती है। इसी का विकृतरूप है-‘छपर’-किंवा ‘छपरा’। नागरिक भाषा में जो अर्थ ‘छत्रछाया’ का है, ग्रामीण भाषा में वही भाग ‘छपर’ का है। ग्रामसभ्य-तानुबन्ध से ही लोकगीत में छत्रछायासमतुलित (भावसमतुलित) ‘छापर’ शब्द-समाविष्ट हो गया है।

\* आँवा, विजोरा, दाँव, दाड़ूँ, जामूण, आन्तोय नाम। जामूण सलोनी है, साँवली है। अतएव-इसके लिए लोकगीत में ‘लोयेण साँवली’ शब्द प्रयुक्त हुआ है। ‘लोयेण’ शब्द मृदुता का-चिककण्ठा-मसृणता का-सूचक है, ‘साँवली’ शब्द बाह्य नीलाभवर्ण का सूचक है। दोनों स्त्रीभेदार्थ के क्योंकि प्रतीक हैं, अतएव स्त्रियाँ की भाषाने इसका अपने भावरूप के समतुलन से ग्रहण कर लिया है।

समृद्धिशाली पुत्र ( धाता-भगिनीवर्ग-माई वहिन ) हमारे इस परिवारोपान में सदा कीड़ाकीतुक करते रहें -।

(इस प्रकार आरम्भ में वंशवर्णन के द्वारा वंश की स्वस्तिकामनापूर्वक कुलस्त्रियों में कुलसमृद्धि के लिए सब कुछ व्यक्त कर १० दशम पद्य से- 'फलेन फलितं सर्वम्' दस स्मार्त्त आशीः को सफल बनाते हुए सब कुछ प्राप्त कर लिया कुतदेवी मातां वटवासिनी भगवती से । अब इसी पद्य के अन्तिम भाग से कुलदेवी की महिमायगी महाराष्ट्र-महत्सामर्थ्य-को अभिव्यक्त करती हुई-भद्रापूर्वक स्तुतिभाव ही अभिव्यक्त करती हुई-कुलस्त्रियाँ कहें हैं कि ) हे माता ! आभ ईश्वरा ( सर्वसमर्था ) हैं, परमेश्वरी ( पराराक्ति-आदिशक्ति-आदिभयानी-प्रज्ञासर्ग की मृताधिष्ठात्री ) हैं, अतएव 'कुतदीपन' ( यशस्वी-दीपयु-पिथाद्युद्धियत्सम्पन्न ) रूप से वंशवृद्धिकारिणी हैं—

**'माता ईसरी-परमेशरी-कुलदीपक-संसवधावली'**

(११)-(सर्वान्त में माता की दीप-कपूर से आराधित-आरती-भाव अभिव्यक्त करती हुई-कुलस्त्रियाँ कहती हैं कि ), मातृकास्तुति-आराधित & देशाधिपति ( उस ) राजा, और राज्यमन्त्री ( वीरान ) के यहाँ सुरोभित होती है ( जो इस आम्नाय के संरक्षक माने गए हैं, प्रजा का धर्म्मन्नायसंरक्षण ही जिस राजा और मन्त्री का मुख्य कर्त्तव्य माना गया है ) । यह आराधित वहाँ सुरोभित होती है, जो समृद्धिशाली आदर्श परिवार हैं, सम्पन्न गृहस्थ हैं । और यह महलाचार वहाँ (हमारे कुल में) सुरोभित हो रहा है, जिस कुल में (माता के अनुग्रह से आम्नाय संरक्षक) पुत्र उत्पन्न हुआ करते हैं । - ( अपने इन पुत्रों के आधार पर ही हे माता ! आपके अनुग्रह से हमारी यह दृढ़ भद्रा है कि ) हमारे कुल में शीघ्र ही वह पुत्रवधू आने वाली है, ( जो अपने गृहप्रसाधनों से-कमकुम-भगवती हुई है, अतएव जो वंशपरम्परा का वितान करने के अनुरूप-सीमाय प्रसाधनों-से-वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित है ) । "माता ! वह ए आवली भगवती &"

—१—

— आरम्भ से नवम पद्यध्वज कुतदेवियों ने सपिण्डतानुगत शास्त्रीय वंशमर्यादा-फलकामना व्यक्त की । किन्तु नारी स्वयं माता है । माता की अपनी भावुकता है कथा और पुत्र, ( छोरा-छोरी )-छोटे छोटे मधुरभाषी कुतलाती बोली बोलने वाला बालवृन्द । प्रस्तुत दशम (१०) पद्य से कुलस्त्रियों ने कुतदेवी से यही फलाशीः फलार्पणबुद्धया अभिव्यक्त की है । आम्नादि पाँचों फलों की महा-मातृलिकता सर्वोत्तमा निगमागमद्वारा अन्वय निरूपित है । पाँचों में पारिवारिक विधानों में 'विजोरा' अपना विशेष महत्त्व रखता है । तन्त्र ने विजोरा फल को अग्नि-सिद्धि-समृद्धि का प्रतीक माना है ।

& पुत्रवधुओं का ही तो यह सब कुछ पारिवारिक वैभव है, जिनके द्वारा वंशवितान सुरक्षित रहता है । अतः सर्वान्त में यही कामना अभिव्यक्त हुई है ।

कुलदेवी के प्राथमिक पावन महामाङ्गलिक संस्मरण से सम्बन्ध रखने वाला पूर्वप्रतिपादित 'महासङ्गीत' ११ एकादश पद्यों में परिपूर्ण हुआ है, जो एकादशसंख्या रुद्रविभूति मानी गई है, जोकि 'रुद्रचान्द्रपितर' पूर्व की प्रेतपितृस्वरूपव्याख्या के प्रसङ्ग में तालिकाप्रदर्शन पूर्वक विस्तार से प्रतिपादित हो चुका है। रुद्रात्मक-चान्द्रमहादेव ( महानात्मदेव ) से अनन्या घटवासिनी रुद्राणी ही आदिभयानी ईश्वरी परमेश्वरी कुलदेवी है। रुद्रानुबन्ध से इस रुद्राणी कुलदेवी के यशोगान में सहज आम्नाय से एकादश पद्य समाधिष्ट हुए हैं।

अब दो शब्दों में इस प्रथम महासङ्गीत के निगमानुगमानुगत आम्नाय-प्रामाण्य की भी मीमांसा कर लीजिए। क्या मूल है 'घटवासिनी' का ?, तथा क्या महत्त्व है सौम्य पितरकर्म में घटवृक्ष का, एवं तच्छक्तिरूपा भयानी का ?। वेष्टनधर्मा, अतएव लोकसाहित्य में 'घट' नामसे प्रसिद्ध 'वड़' का पेड़ निगमभाषा में 'न्यग्रोध' कहलाया है। प्रारम्भिक यज्ञानुगत सौम्य चमस ( वायव्य-प्राणात्मक यज्ञिय पात्रविशेष ) में परिपूर्ण अरमासोम ( घनभावापन्न सोम-अस्थिभावात्मक सोम ) का अधः ( नीचे की ओर ) विस्तारन ( स्खलन ) हुआ, इसी से 'न्यग्रोध' वृक्ष का स्वरूपनिर्माण हुआ। नीचे की ओर जटाविस्तार से भृगुर्भानुगत बनता हुआ यह वृक्ष 'न्यग्र-रोहति' लक्षण रोहण से ही 'न्यग्रोध' कहलाया है, जिसे परोक्षभाषा में 'न्यग्रोध' कहा गया है ( शत० १३।२।७।३।—पे० प्रा० ७।३० )। घनास्थिलक्षण अरमासोम ही न्यग्रोध का मौलिक उपादान है, जो कि सोमोपादान वितर-प्राणात्मक बनता हुआ 'स्थधा' कहलाया—है 'अस्थिभ्य एवास्य ( चान्द्रसम्बत्सरप्रजापतेः ) स्वधा अस्तवन्, स न्यग्रोधोऽभवत्' ( शत० १२।७।१।६। )। चन्द्रमा जहाँ साक्षात् सोम है, वहाँ यह न्यग्रोध सोमस्वधा से निर्मित होता हुआ परोक्ष सोममूर्ति ही है - 'परोक्षमिव—इ वा एष सोमो राजा-यन्यग्रोधः' ( ऐत० प्रा० ७।३१। )। चन्द्रमा ही सोमरूपात्मक रुद्ररूप से 'महानदेव' बनते हुए 'महादेव' हैं। 'तं रुद्रमब्रवीत्—महानदेवोऽसी' ति। तद्यदस्य तन्नामाकरोत्, चन्द्रमास्तद्रुद्रमभवत्। प्रजापति-वं चन्द्रमाः, प्रजापतिवं महानदेवः' ( शत० ६।१।३।१६ )। न्यग्रोध इसका प्रतीक बनता हुआ अथर्वय ही शीघ्र-पैत्र-चान्द्र-रौद्र-वृक्ष है। तदभिन्ना रौद्री भयानी शक्ति ही 'घटवासिनी' देवी है, जो सौम्या बनती हुई वंशानुगत-पितरप्राण की मूलप्रतिष्ठा मानी जा सकती है, एवं यही इस घटवासिनी देवी का नैगमिक आम्नाय है। भूतनाथ रुद्रभगवान् का प्रतीकरूप घटवृक्ष ❀ 'वृक्षनाथ' है, रुद्रवृक्ष है, इसका आगारिकमूल आर्यसर्वस्व ( पुराण ) में यों निरूपित हुआ है—

÷ इसी दृष्टिकोण से मालवाप्रान्त ( मध्यप्रान्त ) में रात्रिजागरणात्मक पैत्रकर्म में 'महादेव' के माध्यम से भी तत्प्रान्तीय 'ओङ्कारेश्वरमहादेव' का यशोगान वहाँ के लोकगीतों में समाविष्ट है।

❀ शब्दरत्नावली में पठित घटनाम—'वृक्षनाथ' ।

प्राप्य ऊचुः—कथं त्वयाद्यवतौ गोवाक्षणासमौ कृतौ ।

सर्वेभ्योऽपि तरुभ्यस्तौ कथं पूज्यतमौ कृतौ ? ॥

सत उवाच—अथत्वरूपो भगवान् विष्णुरेव न संशयः ॥

रुद्ररूपो वटस्तद्वत् पलाशो ब्रह्मरूपधृक् ॥१॥

दर्शनस्पर्शसिवास्तु ते वै पापहराः स्मृताः ।

दुःखापद्भ्याधिदुष्टानां विनाशकारिणौ ध्रुवम् ॥२॥

—पद्मपुराण-उत्तरखण्ड-१६० अध्याय ।

“वटे वासोऽस्याः—इति ( रुद्रशक्तिः—पराशक्तिः—परमेश्वरी—आद्या एव )

वटवासिनी—देवी” इति हेमचन्द्र

—१—

## ( १ ) कुलदेव्यातिथ्यात्मक—महासङ्गीत की द्वितीय पावनस्मृति—

भावनामय—मनोमय—(भावुकतानुगता श्रद्धात्मिका मान्यतानुगता संस्मरण—( स्वरूपोपवर्णन)—भावापन्न पूर्व के प्रथम महासङ्गीत—अथए से कुलस्त्रियों के भावनाजगत् में सङ्गीत—माध्यम से वटवासिनी रौद्री—चान्द्री—कुलदेवी पधार कर प्रतिष्ठित होगई अतिथिरूप से । इनके साथ साथ इन की अन्तर शक्तियों, अन्तर सराक भूतवर्ग, आदि लक्षण वह समस्त शक्तिपरिवार, किंवा रुद्रपरिवार भी भावनाजगत् में समाविष्ट हो गया, जिस परिवार का पूर्व के सांख्याभिमत चान्द्र चतुर्दशविधभूतसर्ग—प्रसङ्ग में निरूपण किया जा चुका है । अतएव रौद्री कुलदेवी के आगमन का अर्थ यह हुआ कि, रुद्रमूलक रुद्रात्मक चतुर्दशविध चान्द्र भूतसर्ग से नित्य संश्लिष्ट चतुर्दशविध शक्तिसर्ग—जिसे की पूर्व में ‘सम्प्राप्ती’ ( महारानी ) रूप से उपस्तुत किया है—कुलस्त्रियों के भावनाजगत् में प्रतिष्ठित हो गया । एक ही सम्प्राप्ती ने ( मूल एक ही शक्ति ने ) नहीं, अपितु तत्त्वभाषाभाषा चतुर्दश सम्प्राप्तिओं ( चौदह महारानियों ) आतिथ्य ग्रहण कर लिया । पितृकर्म से भी पूर्व अन्तरशक्ति—युक्ता इस कुलदेवी का आतिथ्य अनिवार्य बन जाता है । प्रस्तुत द्वितीय महासङ्गीत उसी आतिथ्यकर्म का स्वरूपविशेषण कर रहा है । अवधानपूर्वक कीजिए इस महासङ्गीत की पावनस्मृति को भी अपने श्रद्धामय मानस पटल पर खचित प्रतिष्ठित !



(१) 'मा' 'धा' 'न (माधान) 'मँ' 'म' 'द (मँमद)' 'प' 'र' 'न्यो । (परन्यो) द्वाराएयों ए !  
 र' 'ख' 'डी (रखडी) ए माता र' 'त' 'न (रतन) ज' 'ड़ा' 'य- (जड़ाय)

मैरूँ बाबो खेल रहो,

चौ' 'गा' 'न (चौगान) हणमत बाबो खेल रहो ॥

(२) 'कानान कुण्डल' परन्यो द्वाराएयों ए !

'भुठयाँ' ए माता रतन जड़ाय-मैरूँ०, चौगान०, ॥

(३) 'मुखड़ा ने बेसर' परन्यो द्वाराएयों ए !

'भलको' ए माता रतन जड़ाय-मैरूँ०, चौगान०, ॥

(४) 'गलान पंचमयों' परन्यो द्वाराएयों ए !

'कठलो' ए माता पाट पुषाय-मैरूँ०, चौगान०, ॥

(५) 'बैर्यँन बाजूचंद' परन्यो द्वाराएयों ए !

बाजूचंद के ए माता 'लूम' लगाय-मैरूँ०, चौगान०, ॥

(६) 'पोंछयँन गजरा' परन्यो द्वाराएयों ए !

'चुड़लो' ए माता नकस लगाय-मैरूँ०, चौगान०, ॥

(७) 'कडूयँन कणकती' परन्यो द्वाराएयों ए !

कणकती क ए माता 'भूम' लगाय-मैरूँ०, चौगान०, ॥

(८) 'पगल्यँन पायल' परन्यो द्वाराएयों ए !

आँगल्या में ए माता 'फोलरी' सुहाय-मैरूँ०, चौगान०, ॥

(९) 'कमर्या पटोलो' परन्यो द्वाराएयों ए !

'र्यालूड़ा' क ए माता कोर लगाय-मैरूँ०, चौगान०, ॥

✽ सर्वत्र लोकगीतों में कुलद्वियाँ यथा सुविधा स्थानरूप कहीं व्यञ्जनों, कहीं स्वरों, कहीं पद में मध्य मध्य में चितान-कैलाव-का समावेश करती हुई ही इन महासङ्गीतों का सम्मिलित रूप से ही यह महागान कर पाती हैं ।

✽ नासिका (मुखोपलक्षित नाक-नासिका) ।

(१०) 'हृत्तियाँ न अंगिया परल्यो क्षाण्यो ए ।

अंगिया क ए माता 'कस्तूरी' लगाय—भैरू ०, चौगान ०, ॥

(११) 'खीर घेवर को भोग' ह क्षाण्यो ए ।

रुच रुच ए माता भोग लगाय—भैरू ०, चौगान ०, ॥

( आशीः-कामना )—\* "नोलख आव थार बाँझड़ी क्षाण्यो ए ।

दसलख ए माता बालुदारी माय ।

बिनती सुणज्यो धारी ए क्षाण्यो ए ।

"चौरासी के ए माता पिट्यासी लगाय"

भैरू बायो खेल रखो,

चौगान हणमतवायो खेल रखो जी.....॥"

—२—

पद्य ११ संख्या में विभक्त है, अन्तिम पद्य का आशीः-कामना ( फलकामना से ) सन्बन्ध है । एकादशपद्यात्मक इस आतिथ्यसंस्कारनियन्धन महासङ्गीत के द्वारा कुलदेवी का भावनामाध्यम से लोका-नुगत स्त्रीभावसमवुलित षोडश आभूषण भृङ्गारों से, प्रान्तानुगत वस्त्रविन्यास से, एवं निगमानुगत अन्नप्रदान से आतिथ्य हुआ है । सर्वान्त के परिशिष्टात्मक संकेतित वाक्यचतुष्टयात्मक (क-ख-ग-घ) पद्य से सर्वविध आतिथ्य से तुष्टतृप्त माता भवानी कुलदेवी से फलकामना अभिव्यक्त की गई है ।

१-मस्तक, २-कर्ण, ३-मुख ( मुखोपलक्षिता नासिका ) ४-श्रीवा, ५-भुजा, ६-मणिवन्ध, ७-कटि, ८-पाद, ९-पादाङ्गुली, इन नौ प्रधान शरीरावयवों के आभूषणों-अलङ्कारों का ( प्रान्तीय मान्यता के अनुगत से ) स्वरूपपर्याप्त हुआ है, जो कि आभूषण-भूषणात्मक अलङ्कार-सौम्य-स्त्रीतत्त्व ( प्रकृतितत्त्व ) के लिए स्वभावतः आकर्षक शृङ्गारप्रसाधक बने रहते हैं, जिनके नैगमिक मूल पदरूपेण यत्रतत्र ब्राह्मण आरण्यक ग्रन्थों में उपलब्ध हो रहे हैं—

(१) 'तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतिपन्ति-शतं फलहस्ताः, शतमाञ्जनहस्ताः, शतं माल्यहस्ताः, शतं वासो हस्ताः । अलङ्कारेण कुर्वन्ति' ।

—शाङ्खायनारण्यक ३।४।

॥ (१)-मस्तक-माया । (२)-कर्ण-कान । (३)-मुख तदुपलक्षित . नाक । (४)-श्रीवा-गला । (५)-भुजा-बाँया । (६)-मणिवन्ध-पोंछपा । (७)-कटि-कट्ठाँ । (८)-पाद-पगलया । (९)-पादाङ्गुली-आँगलयाँ, ये प्राकृतरूप हैं मस्तकादि संस्कृतरूपों के ।

करें, हे माता ! आप कर्णभूषण से आवद्ध 'वालपारया' ( भुठर्याँ ) अलङ्कार धारण करें, जिन में रत्न जड़े हुए हैं । ( ३ )-आप अपनी नासिका में नासाभूषण ( नय-नेसर ) धारण करें, जिसका मुकामणिमय मध्यभाग ( मलका ) रत्नजटित है । ( ४ )-आप अपनी ग्रीवा ( गले ) में ग्रीवेयक ( पचमल्याँ ) धारण करें, माला धारण करें, जो माला ममणसूत्र ( रेशमी डोर-पाट ) में प्रोत है । ( ५ )-आप अपनी भुजाओं में केयूर ( बाजूबंध ) धारण करें, जिस में सुवर्णमय गुच्छ ( लूम-सरधूएडी का बाजू ) संचित हो रहा है । ( ६ )-आप अपने मणियन्त्र ( पोंछर्याँ ) में कटक ( गजरा ) धारण करें, और वैसा चूड़ा धारण करें, जिस में अद्भुत शिल्प ( नकस-नक्कारी ) कराया गया है । ( ७ )-आप अपने कटि भाग में काञ्चा ( कणकती ) धारण करें, जिसमें सुवर्णमय गुच्छ ( भूमका ) लगा हुआ है । ( ८ )-आप अपने चरणों में नूपुर ( पायल ) धारण करें, एवं चरणान्गुलियों में अङ्गुलीयक ( फोलेरी ) धारण करें, ( ९ ) हे महाराष्ट्रिणो ! इन अलङ्कारों के साथ साथ आप-अपने अधः प्रदेश में तदनुरूपवस्त्र ( पटोला-घाभरा ) धारण करें, एवं वस्त्राङ्ग में तदनुरूप वैसा ही परिधान ( वैसी यह ओढ़णी-स्वालूड़ा ) धारण करें, जिस के प्रान्तभाग में हमने विशिष्ट कोण ( गोटा फिनारी आदि ) लगाए हैं । ( १० )-आप यह कञ्चुकी ( काँचली-अँगियाँ ) धारण करें, जिस के कर्णासूत्र ( कसणा ) आवद्ध कर दिए गए हैं । ( ११ )-हे माता ! इस प्रकार ( श्रद्धापूर्वक प्रदत्त इन-पोडश अलङ्कारों, तथा त्रिविध वस्त्रों से ( आलोमभ्यः-आनस्त्राभ्यः-नल्लशस्त्र-पर्यन्त ) सुसज्जित होकर आप इस भोजन सामग्री को ग्रहण करें, जिस में क्षीरान्न मुख्य है ( और घेवर हमारे प्रान्त का विशिष्ट मिष्ठान्न है ) । हे माता ! आप रुचि-पूर्वक इसका आस्वादन करें, यही हमारी प्रार्थना है ।

( विशिष्ट अशीर्वाचना )-हे माता ! हमें यह अनुभव कर रही हैं कि, आप हमारे इस श्रद्धालु आतिथ्य से हम पर प्रसन्न हैं । हमने आप के सम्बन्ध में यह सुन रक्खा है कि, आप के प्राज्ञण में लक्षलक्ष वस्त्राभूषणों आती हैं, ( और वे पुत्र-वरप्राप्त कर लेती हैं ) । इन से भी अधिक आती हैं ( हमारी जैसी ) वे पुत्रवती नारियाँ, जिन की यह विनय पूर्वक नम्र प्रार्थना है कि ( आपके निःसीम अनुग्रह से हमने सभी-प्रकार का पारिवारिक वैभव-पति-पुत्र-पौत्र-विच्चादि

दिरूपसे किड़ा, मात्र ( खेले रहो ) का उल्लेख हुआ है, वहाँ एकदशरुद्रप्रतीकभूत हनुमान के लिए 'चौगान हणमत वावो खेल रहो' इत्यादिरूप से बहु विस्तृत प्राङ्गण का भाव 'चौगान' रूप से अभिव्यक्त हुआ है । पार्थिवगण भैरव हैं । पृथिवी सीमित प्राङ्गण है । आन्तरिच्यगण रुद्रगणात्मक महावीर है । अन्तरिच 'उर्वन्तरिचमन्त्रेभि'-महद्दीदमन्तरिचम् [कौ० २६.१११] रूप से सुविशाल है, ऊरु है, महान् ( चौगान ) है, ।

ऐहलौकिक-वैभव प्राप्त कर लिया है। अब तो हमारी एकमात्र यही पारलौकिक कामना और शेष रही है कि—प्रदत्त आयुर्वैभव सुख भोगानन्तर ) आप हमारी ८४ संख्या को ८५ संख्या में परिणत करने का अनुग्रह करें ( चतुरशीतिलक्ष-चौरासीलाख-योनिचक्रवन्धनों से विमुक्त कर हमें ८५ वें मुक्तिपथ की अनुगमिनी बनाने का यथासमय अनुग्रह और करेंगी आप ।

### (३)-गोदोहन-कर्मात्मक महासङ्गीत की तृतीय पावनस्मृति—

(१)—“धोली सी धूमर हारी कपला सी गाय— ॥ १ ॥

(२)—दूध दुहावा मीसर हरीचन्दरजी जाय ॥ २ ॥

(३)—शाछड़ला पकड़वा बाँकी साथण जाय ॥ ३ ॥

(४)—सोना की तोलड़ी में दूध दुहाय ॥ ४ ॥

(५)—दूध दुहाय बाँकी खीर रँधाय ॥ ५ ॥

(६)—खीर रँधाय बाँका पितर जिमाय ॥ ६ ॥

(७)—थे जीमोजी द्वारा सकल पितर ॥ ७ ॥

(८)—थाँ जीम्याँ से हारो ‘मन भर जाय’ ॥ ८ ॥

— ३ —

(१)-रवेत, धूलवर्षायुक्त यह मेरी कपिला गौ है ( जिसके दुग्ध से शुभे क्षीरानभिर्मायाद्वारा पितरों को वृत्त करना है। (२)-कपिला गौ के दुग्ध गोदोहनकर्म के लिए हमारे कुल के सर्वश्रेष्ठ भेदा कुल-पुरुष मिश्र श्रीहरिचन्द्रजी शास्त्री जाते हैं। (३) एवं गोघरसों को पकड़ने के लिए उनकी सहचारिणी ( साधिन-धर्मपत्नी ) जाती है। (४)-मिश्रजी ने सुवर्षापात्र में गोदुग्ध रोहा है। (५)-इस ( सधः प्राप्त ) गोदुग्ध से (शौचलप्रक्षेपद्वारा उनकी धर्मपत्नी हमारे कुल की सर्वश्रेष्ठा भेदा कुलस्त्री ने) क्षीरान सम्पन्न किया है। (६)-इस सम्पन्न क्षीराज से ( हम-कुलस्त्रियाँ सम्मिलितरूप से अपने गृह-भौम-पार्थिव ) पितरों को वृत्त कर रहों हैं। (७) हे मेरे पितरों ! आप अपने परिवार सहित इस क्षीराज-भोजन से वृत्त बन जाने का अनुग्रह कीजिए। (८)-आपके क्षीराज से वृत्त हो जाने से ही हमारा मन वृत्त होगा।

\* ‘सहधर्म चरताम्’ ।

(४)—पितृकर्मानुगत मुख्य महासङ्गीत की चतुर्थ पावनस्मृति—

(१)—काण का तोला ओ काण की डाँडी—

तोलर गन्धी का बेटा किसतूरी ।

ए-गन्धी को तोल हरीचन्द्रजी करावे ।

तोलर गन्धी का बेटा किसतूरी ॥ १ ॥

(२)—जी-सोना की तोली जीमें चाँवलिया सा थोड़ा—

आयो पितराँ को लस्कर भो घणो ।

आपज जीम्याँ बाँका साथीड़ा भी जीम्याँ

तोमी तोली में चाँवल भो घणा ॥ २ ॥

(३)—जी-छोटी सी तलाई जीमें पाणीड़ो भी थोड़ो ।

आयो पितराँ को लस्कर भो घणो ।

आपज पीयो बाँका साथीड़ा भी पीयो ।

तोमी तलाई में पाणी भो घणो ॥ ३ ॥

(४)—जी-छोटे सो डामो जीमें गैणाँ भी थोड़ा ।

आयो पितराँ को लस्कर भो घणो ।

आपज पर था बाँका साथीड़ा भी पर था ।

तोमी डामा में गैणाँ भो घणा ॥ ४ ॥

(५)—जी-छोटे सो चुगचो जीमें कापड़ला भी थोड़ा ।

आयो पितराँ को लस्कर भो घणो ।

आपज पर था बाँका साथीड़ा भी पर था ।

तोमी चुगचाँ में कापड़ा भो घणा ॥ ५ ॥

(६)—उघो ए चुघो कर आयो द्वारा पितरो !

पधारो द्वारा पितरो—

कुसल कुसल घर जायजो ॥ ६ ॥

(७)—चोदम के दिन आयो द्वारा पितरो—

भक्तस घराँए पचारज्यो जी ॥ ७ ॥

(८)—पिच्चर बालामोला, जी-ओ घोर असीस ।

फलज्योजी फूलज्योजी कढ़वा नीम ज्यो ॥ ८ ॥

(१)—हे सुगन्धिद्रव्य विक्रेता गांधीपुत्र ! (गंध-सुगंध द्रव्य परिमाण-तौल-के लिए) तुम्हारी ( दुकान ) में परिमाणसाधन ( तोला-तौलने के घाट ) तो किस द्रव्य के हैं ( किस धातु के बने हुए हैं ),—तराजू के पलङ्ग किसके हैं, और तराजू का दण्ड ( डोंडा ) किस का है ? । ( हममें यह परीक्षा करली है कि, तुम्हारी ताखड़ी-घाट-डॉंडी-सब कुछ परिमाणसाधन पितरों के स्वरूप के अनुरूप-सुवर्ण के-ही ह, अतएव इस परीक्षा के अनन्तर ) हे गन्धी के पुत्र ! सौम्यभावापन्न ! ) तुहमें पितृकर्म के लिए सुगन्धि-द्रव्य-जिसमें मुख्य मृगनाभिगन्ध ( कस्तूरिका-कस्तूरी ) हो, ( और गौणरूप से चन्दन-चम्पा-सरोज-खस का गन्धद्रव्य (इत्र, हो, तौलने (परिमाण करने) की व्यवस्था कर देना । हमारे (कुलस्त्रियों के इस निकट भविष्य में ही सम्पादित होने वाले पितृकर्म के लिए अपेक्षित विशिष्ट) गन्धद्रव्य का मूल्याङ्कन ( मोल-माय ) द्वारा क्रय ( हमारे कुल के ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुष ) मिथ हरिश्चन्द्रजी शास्त्री करा रहे हैं । [ किस गन्धद्रव्य का तुझ गन्धीपुत्र से किस कार्य के लिए कौन क्रय कर रहा है, यह जानकर ही हे गन्धीपुत्र ! पितृकार्य के अनुरूप ही तुझे गन्धद्रव्य देना है, इसमें जो भूल हो जायगी, उसके प्रायश्चित्त का भागी तू ही बनेगा, यही प्रथम पद्य का निष्कर्षार्थ है ] ।

[ २ ] - पितृकार्य-स्वरूपानुगत सुगन्धि-द्रव्य-पुष्पादि की व्यवस्था के अनन्तर हम [ कुल-स्त्रियों ] में [ पितृकर्म-स्वरूप के अनुरूप ही ] सुवर्णस्थाली [ सोने की बटलोही ] में [ श्वेतधूत्रा फपिला गो के सद्यः दुग्ध में चाँयल डाल कर जो क्षीरास-क्षीर-सम्पादित की है, उसमें थोड़ा सा ही तो दूध है, और ] थोड़े से ही चाँयल है [ अर्थात् हम पितृपरिवार के महतोमहीयान् सुविहृत बहुसंख्यक परिवार के समतुलन में बहुत ही स्वरूपमात्रा में क्षीरास सम्पादित कर पाई हैं इस प्रकार यद्यपि हमसे उन सम्मान्य पितर अतिथियों के स्वरूप के अनुरूप कुछ भी व्यवस्था नहीं बन पड़ी है, तथापि हम देख रही हैं कि, हमारी श्रद्धात्मिका भावना के आकर्षण से इस स्वरूप क्षीरास को अनुमह-पूर्वक ग्रहण करने के लिए ] मुमहान् पितरों का सुविस्तृत परिवार हमारे घर पधार आया है । (हममें यह देखा, अनुभव किया, और यह देखकर अनुभव कर हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ा कि, यहाँ पधारे हुए पितरों में ) मुख्य पितरों ने भी रुचिपूर्वक वृत्त होकर क्षीरास का भोजन किया । उनके अन्य समस्त असंख्य पारिवारिक व्यक्तियों ने भी वृत्तिपूर्वक भोजन किया, और थाली में फिर भी

ॐ पारस्परिक सनातन आम्नाय का अपने महासङ्गीत के माध्यम से सदा से संरक्षण करती रहने वाली ये कुलदेवियाँ 'गन्धो' न कहकर 'तौल गन्धो का घेटा कस्तूरी' कहती हुई वहाँ भी परम्परा को ही महत्त्व प्रदान करती हुई परोक्षरूप से परिवार को यह उद्बोध प्रदान कर रही हैं कि, जो तत्त्व-ज्ञो यस्तुतत्त्व-किंवा जो लोकरिग्रह पारम्परिक आम्नायानुगत व्यवसाय-स्थानों (कुलक्रमानुगत परिमह विक्रेताओं को पुरातन आन्ध्रों-पुरानो दुकानों ) में सुविधापूर्वक तथा विरिष्ट-परीक्षित रूपेण उपलब्ध होता है, वह नूतन-आपणों में नहीं ।

क्षीरात्र अत्यधिक मात्रा में बचा रह गया। (सचमुच स्वल्पद्रव्य का भी यों बहुसमृद्धिरूप में परिणत हो जाना महा आश्चर्य है। अथवा तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। यह तो महा-महिमशाली समृद्धिशाली समृद्धिप्रदाता पितरों की ओर से होने वाला सहज सामान्य अनुग्रह है)। श्रद्धापूर्वक प्रदत्त स्वल्प भी परिग्रहप्रदान देवानुग्रह से बहुसमृद्धिफलात्मक बन जाता है, निश्चयेन बन जाता है, यही तात्पर्य है)।

३-४-५ पचार्थ द्वितीय पचार्थ से समनुलित हैं। (३) क्षीरात्र भोजनान्तर पितरों के लिए जिस तालाब में जल की व्यवस्था की गई है, वह बहुत छोटा, पानी भी उसमें बहुत ही थोड़ा। किन्तु आश्चर्य, सपरिहार पितर इससे गृप्त हो गए, और तालाब का पानी पहिले की अपेक्षा समृद्ध बन गया। [४] छोटा सा आभूषणों का 'यसुधानकोप' [गहनों का विशेष प्रकार का डब्बा], उसमें परिगणित आभूषण। किन्तु पितरानुग्रह से हमारी आभूषण-सम्पत्ति भी बहुसमृद्ध बन गई। [५]-छोटी सी वस्त्रमञ्जूषा [बुगचा], उसमें बहुत थोड़े परिगणित वस्त्र। किन्तु गृहापितरों के अनुग्रह से ये भी सुसमृद्ध बन गए। इस प्रकार पितृ देवों के इस श्रद्धानुगत स्वल्पतम भी आतिथ्य से हमारे पुत्र को अन्नसम्पत्ति (क्षीरात्र-तदुपलब्ध पशुसम्पत्ति भी), आभूषणसम्पत्ति (तदुपलब्ध अन्य वित्त-सम्पत्ति भी), एवं वस्त्रसम्पत्ति (तदुपलब्ध अन्य पार्थिव सम्पत्ति भी), अनायास ही प्राप्त हो गई, यही चारों (२-३-४-५) पचों का फलितार्थ है।

अब संक्षेप से गोदोहनकर्मानुगत तृतीय, तथा पितृकर्मनुगत मुख्य चतुर्थ, दोनों महासङ्गीतों की नैगमिक आम्नाय (वेदप्रामाण्य) का भी अनुशीलन करते हुए अपने साथ साथ आप हमें भी कृतकृत्य कर दीजिए। पितृकर्म में पितरों के लिए प्रधानरूप से गोदुग्ध में अन्न निक्षेप द्वारा बना हुआ 'क्षीरात्र' (दूधपात्र-क्षीर-क्षीर) वृत्ति का साधक माना गया है महासङ्गीतात्मक गोदोहनकर्मनात्मक तृतीय महामङ्गीत के द्वारा। काम्य महाहविष्यागात्मक श्रौत देवयज्ञकर्मैतिकर्तव्यता के प्रसङ्ग में विहित-संगृहीत काम्य पितृकर्म में पितृवृत्ति के लिए जिस 'मन्थ' द्रव्य का उल्लेख हुआ है, वह क्षीरात्रविशेष ही है, जिसका निर्माण 'नियानी' (प्रथमप्रसूता-बहलूण गो-के दुग्ध से विहित हुआ है। देखिए !

“अथ पितृभ्योऽग्निपवाचोभ्यः-निवान्यायै दुग्धे सकृपमथितः-

एकशलाकया मन्थो भवति। सकृदु द्यौव पराञ्चः पितरः। तस्मात्-  
सकृदुपमथितो भवति”। (शतः महाहविष्यागमाखण्ड, २६।१।६)।

मात्राणाम्नाय में तो केवल 'निवानः गोदुग्ध' का विधान हुआ है। फिर यह 'घोली सी धूमर' (हमारी कपला सी गाय) (स्वेत-भूध्रवर्णा कपिला गो) की घोषणा किस आम्नाय के आधार पर व्यक्त कर डाली पुनस्त्रियेन अपने महासङ्गीत में ? अन्वेषण कीजिए ! इस प्रश्न का भी यत्र-तत्र निगमाग्नाय उपलब्ध हो ही जायगा। 'घोली-सी-धूमरसी-कपिला-सी' का अर्थ है 'स्वेत-सी धूमर-सी-

कपिला-सी-गौ' । सफेद रंग की गाय 'श्वेत' है, ललाई लिए हुए काला रँग \* धूम्र' है, एवं भूरा रँग 'कपिला' है, तद्वर्णा गौ कपिला है । न तो श्वेता ही, न धूम्रा ही, अपितु श्वेत-धूम्र-कपिल, तीनों वर्णों से अंशतः समतुलित गौ ही श्वेता-सदृश, धूम्रा-सदृश, एवं कपिला-सदृश-गौ यहाँ ( पितृकर्मानुगत क्षीरान्न सम्बन्ध से ) प्राद्य है । इस सादृश्य के लिए ही प्राकृतरूप से 'सी' का प्रयोग हुआ है । 'श्वेत-धूम्र-कपिला-सदृश गौ' का प्राकृत रूप बना है—महासङ्गीतानुगत लोकभाषा में—'घोली-सी, धूमर ( ह्यारी ) कपिला-सी गाय' । श्वेतवर्ण चन्द्रमा का प्रतीक है, धूम्रवर्ण पृथिवी का प्रतीक है, एवं कपिलवर्ण रुद्र ( मूलपितर-आग्नेय पितर ) का प्रतीक है । सांख्याननुगत पितृपरिवार में श्वेत-चन्द्रमा, धूम्रा पृथिवी, कपिल रुद्र, तीनों के प्राणों का सम्बन्ध है । अतएव यहाँ तीनों वर्णों से अंशतः समतुलित निधानी गौ का ही दुग्ध क्षीरान्न के उपयोग में आता है । अब केवल वैसे वचनों को मध्यस्थ बना लेना है, जो चन्द्र-पृथिवी-रुद्र-के साथ श्वेत-धूम्र-कपिलवर्ण का सम्बन्ध व्यक्त कर रहे हों ।

(१)—“भाति हि चन्द्रमाः” (शत० = १।१।१।१०।) —“सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः” (शत० ६।१।१।६।) —“अत्राह गौरमन्वत-चन्द्रमसो गृहे” ( ऋक् सं० ) ।

(२)—“धूमा वाऽदितिः । ( अदितिः पृथिवी, मागामनागामदितं वधिष्ट ) । ऽनुस्तरणी कृता भवति । यमापोदेहीति । सा वाऽनुस्तरणी, सैव सा” ।

—सायण्यमहाभाष्य २१।१।७।

(३)—“या सा तृतीयामात्रा-ऐशानदेवत्या कपिला वर्णेन । रुद्रो देवता” ।

—गोपधर्मा० पू० १।२४।

—कपिलानां रुद्राणां-कपिलानां रुद्राणीनां स्वतेजसा भानि”

—तैत्तिरीयारण्यक १।२।१, २, ३ ।

चान्द्र अश्मा-सोम ही रुद्र आग्नेय प्राण से विस्सृत होकर पार्थिव खनिज धातु बनता हुआ 'सूर्य' रूप में परिणत हुआ है, जैसा कि—“सोमस्य या प्रिया तनुवृद्धकामतु, तनुसुवर्णं हिरण्यममरतु” ( तै० ब्रा० १।४।७।४-५- ) “चन्द्रं हिरण्यम्” ( तै० ब्रा० १।७।६।३ ) इत्यादि वचनों से स्पष्ट है ।

\* धूप का सा रँग, सूँधनी तमाम्बू का सा रँग ही 'धूम्र' है, जिसका प्राकृतरूप 'धूमर' है ।

+ प्रेतकर्मसंस्कार में विहित गोदान से सम्बन्धित गौ धूम्रा ही अनुरूप मानी गई है । यही प्रेतपितर को वैतरणी-नारात्मक वरुणपारा से तारने के कारण 'अनुस्तरणी' कहलाई है, जिस प्रेतसदन के अग्र्यस्थ 'यम' ( आग्नेयरुद्र ) माने गए हैं ।



जिस प्रकार श्वेत-धूम्र-कपिला गौ में चान्द्र-पार्थिव-रौद्र-तीनों पितृप्राणों का समावेश है, तथैव सुवर्ण भी चान्द्रसौम-आग्नेयस्फ-पार्थिवभूत, तीनों के समन्वय से पितृस्वरूप का (पितृपरिवार का) प्रतीक बन रहा है। इसी आग्नेय के आधार पर महासंज्ञित में—‘सोना की तोलड़ी में दूध दुहाय’ इस भावना का समावेश हुआ है। ‘श्रे जीमो जी क्षारा सकल पितर’ वाक्य नैगमिक ‘पितृवार’ का संग्राहक बन रहा है।

पितृपरिवार (भौम पार्थिव पितृपरिवार—महाहविष्यागात्मक काम्य पितर) का केवल द्वापारुधिव्य वतुदेशविध-भूतसर्गात्मक चान्द्रसर्ग से सम्बन्ध है, जैसाकि पूर्व में विस्तार से बहलाया जा चुका है। पिण्डपितृयज्ञात्मक पितर भी यद्यपि हैं चान्द्र-सौम्य ही, किन्तु वे प्राकृत देवसर्ग के सञ्चालक बनते हुए देवयज्ञवत् सौरसर्ग के सहयोगी माने गए हैं। अतएव चान्द्रतत्त्व के साथ साथ सौरतत्त्व का भी पिण्डपितृयज्ञात्मक श्रौत पितृपरिवार के साथ सम्बन्ध है। पार्थिव चान्द्र भौम पितरों का—जिन्हें पूर्व में गृहपितर औपपातिकपितर कहा गया है—केवल चान्द्रसम्यत्सर से ही सम्बन्ध है। चान्द्रतत्त्व ‘मन’ का अधिष्ठाता है, सौरतत्त्व ‘वियो यो नः प्रचोदयात्’ रूप से ‘बुद्धि’ का अधिष्ठाता है। अतएव भौम-चान्द्र-औपपातिक-गृहपितरों का केवल चान्द्र मन से, केवल मानस-भावना-मान्यता-अनन्य-श्रद्धामात्र से सम्बन्ध है। इन्हीं के लिए ‘इन्द्र इव हि पितरः—मन इव’ [ताण्ड्य महाब्राह्मण ६।१।१६-२०] यह कहा गया है। श्रुति का ‘इव’ पद बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। श्रुति ने—‘इन्द्रवः पितरः’ न कह कर ‘इव’ कहा है। चन्द्रमा की भौति, मन की भौति, ही ‘इव’ शब्दार्थ है, जिसका तात्पर्य यही है कि, द्वापारुधिव्य चान्द्रसम्यत्सर में केवल चन्द्रमा, एवं चान्द्र मन ही प्रधान नहीं है। अपितु इसमें चान्द्र ब्रूलोकस्थ चान्द्रस म-अन्तरिक्षलोकस्थ आग्नेय स्फ-पार्थिव भूतप्राण [श्मरात प्राण]—तीनों का समन्वय है। है यह पितृसर्ग भूलतः चन्द्रप्रधान ही, किन्तु समन्वय स्फ और पार्थिव भूत का भी है। यही ‘इव’ शब्द का रहस्यार्थ है। उधर पिण्डपितृयज्ञाधिष्ठाता श्रौत पितर चान्द्र-सौर, दोनों प्राणों से समन्वित रहते हुए चान्द्रमन के भी संग्राहक हैं, एवं सौरी बुद्धि के भी संग्राहक हैं। अतएव मनोगर्भिता बुद्धि की आस्था से समन्वित श्रौत-नैगमिक-व्यवस्थित श्रद्धा से युक्त द्विजातिपुरुष ही उस पितृकर्म का कर्त्ता माना गया है। उसमें स्त्रियों अन्तर्गृहीत हैं। स्त्रियों की मान्यता-श्रद्धा के एकमात्र अवलम्ब मनोगम्य भौम पार्थिव पितर ही है, जिन्हें कि श्रुति ने ‘ये वा अयज्जानो गृहमेधिनः, ये पितरः—अग्निष्याचाः, शतः २६।१।७] इत्यादिरूप से विस्पष्ट भाषा में श्रौत सौरयज्ञसीमा से पृथक् करते हुए इन्हें गृहस्थी की मान्यता से अनुगत ‘अपज्जान’ कहा है। श्रौत पितर जहाँ अज्ञात हैं, वहाँ ये स्मार्त्त गृह पितर ‘अज्ञभावात्मक’ हैं, जिन दोनों पितृविवर्त्तों का स्पष्टीकरण पूर्वनिरूपण से गतार्थ है। वक्तव्य इस विवेचन से यही है कि—‘मन इव वै पितरः’ नियमाग्नेय ही लोकगीत के ‘श्रौ जीम्यो से भ्रातरो मन भर जाय’ इस पद्य की मूल प्रतिष्ठा बन रहा है, और यही [३] गोदोहन कर्मात्मक महासंज्ञित की तृतीय (३) पावनस्मृति की नैगमिक आग्नेय का संक्षिप्त समन्वय है।

अब क्रमप्राप्त [४]—पितृकर्मानुगत मुख्य महासङ्गीत के नैगमिक आम्नाय का भी समन्वय कर लीजिए। इस समन्वय से पूर्व कुलस्त्रियों में प्रचलित एक विशेष मान्यता की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराया जाता है—कुलस्त्रियों से ऐसा मुनने में आता रहता है कि—“आर छोरा-छोरी-ओ अतर-कुलेल-लगार-कूलमाला पहर-दूध-खीर-वर्फी-चाँवल-मीठो चूँठो खार रातबिरात भर दोफरी-कलोई वखत बड़-पीपल-बोरड़ी का पेड़ा में-चोरावा में मत घूमता फिरोर, देखो काँई हो जाय लो तो लेणा से देणा पड़ जायला” इत्यादि। तात्पर्य है—“हे बालक बालिकाओ ! सुगन्धित द्रव्य ( इत्र आदि ) लगा के, ( चम्पा-चमेली-मोगरा-गुलाब आदि विशिष्ट गन्धयुक्त पुष्पों की ) माला पहिन के, गोदूध, खीर, कलार्कंद, चाँवल, और भी किसी भी प्रकार की मिठाई खाके रात्रि के समय, मध्याह्न में, सायंकाल ( भालर वांज्या की वखत ), बड़-पीपल-भरबेरी का वृक्ष-आदि वृक्षों के नीचे, चतुष्पथ में घूमना ठीक नहीं ( क्योंकि इन स्थानों से वायव्य प्रेतपितृपरिवार विशेष रूप से अपना आकर्षण रखता है, अतएव यहाँ घूमने-फिरने-बैठने-सोने-खाने-पीने से यदि कहीं तत्समयविशेष में स्वभावतः आकर्षित प्रेतसर्गानुगता किसी हीन-मध्यम-उत्कृष्ट योनि का ) आक्रमण हो गया, तो हमें बड़ी विपत्ति का सामना करना पड़ेगा।” क्या वश्य है इस लोकश्रुति में ? प्रश्न की आलोचना से कई एक कारणों से हम तटस्थ ही रहना श्रेयःपन्था मान रहे हैं। प्रकृत में केवल ‘सुगन्धिद्रव्य’ ( गन्ध और माला-पुष्प ) की मान्यता से सम्बन्ध रखने वाले आम्नाय की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं, जिसका ‘काप का तोला’ इत्यादि उपक्रम पाक्य में ही प्रसन्न आया है।

मनोमय-चान्द्र पितर के लिए वे ही उपकरण सृष्टि-तुष्टिसाधक माने जायेंगे, जिनमें प्राकृतिक पितृप्राण का अनुराय साक्षादरूप से, अथवा तो प्रतीकरूप से, किंवा निदानरूप से रहेगा। चन्द्रमा भार्गव-तत्त्वप्रधान है, एवं भृगुतत्त्व ‘आपः-वायुः-सोमः’ रूप से तीन अवस्थाओं में परिणत रहता है \*। सोम की घनावस्था ही ‘आपः’ है, यही ‘वहणु’ है। सोम की तरलावस्था ही ‘वायु’ है, यही घोर-अघोर भाषापत्र ‘रुद्र’ है। सोम की विरलावस्था ( वाय्वावस्था ) ही ‘अन्नात्मक ‘पितर’ है। इस दृष्टि से आपः-वायुः-सोममय त्रिमूर्ति चन्द्रमा धरुण-रुद्र-पितर-मूर्ति बन रहा है।

भार्गव चन्द्रमा का धरुण ‘आपः’ भाग ही ‘अप्सरा’ प्राण का प्रवर्त्तक-अधिष्ठाता बनता है। भार्गव चन्द्रमा का रौद्र ‘वायु’ भाग ही ‘गन्धर्व’ प्राण का प्रवर्त्तक-अधिष्ठाता बनता है। एवं भार्गव चन्द्रमा का पेत्र ‘सोम’ भाग ही ‘प्रजापति’ प्राण का प्रवर्त्तक-अधिष्ठाता बनता है। इस प्रकार चान्द्र-सम्यत्सरचक्रात्मक-शावावृधिव्य-चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक ४२ भागों में विभक्त पार्थिव-भौम-अन्न-

\* “वायु-राप-चन्द्रमाः (सोमः)-इत्येते भृगवः” ( गोपथ्यमाः पू० २।६।६॥

पितर-परिवार का सर्व्वस्व, अतएव 'सर्व' नाम से प्रसिद्ध भार्गवचन्द्रमा उक्त रूपत्रयी से उक्त-त्रिवृद्भाषों में परिणत हो रहा है, जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

१—आपः	१—वरुणः	१—अप्सरः
२—वायुः	२—रुद्रः	२—गन्धर्व्वः
३—सोमः	३—पितरः	३—प्रजापतिः
३ मूलभावत्रयी १	३ मध्यभावत्रयी २	३ तूलभावत्रयी ३

(६) त्रिवृद्भाषापन्न-  
चन्द्रमाः

तदित्यं—'चन्द्रमा एव सर्व्वम्'  
— गो० ब्रा० पू० २।८।

### (१) चन्द्रानुगता-मूलभावत्रयी—

- (१)—'चन्द्रमा आपः' ( तै० ब्रा० १।७।३ ) ।
- (२)—'योऽयं वायुः पवते, एष सोमः' ( शत० ७।३।१।१ ) ।
- (३)—'पितृदेवत्यो वै सोमः' ( शत० २।४।२।१२ ) ।

—१—

### (२) चन्द्रानुगता मध्यभावत्रयी—

- (१)—'वरुणस्य भार्गः—आपः' ( ता० १।८।११ )—'अप्सु वै वरुणः' ( तै० १।६।१।६ ) ।
- (२)—'यद्रुद्रश्चन्द्रमास्तेन' ( कौ० ६।७ ) ।
- (३)—'पितृदेवत्यो वै सोमः' ( शत० २।४।२।१२ ) ।

—२—

### (३) चन्द्रमानुगता-तूलभावत्रयी—

- (१)—'सोमो राजा, अप्सरसो विशः' ( शत० १।३।४।२।८ ) ।
- (२)—'चन्द्रमा वै गन्धर्व्वः' ( शत० ६।४।१।६ ) ।
- (३)—'असौ वै चन्द्रः प्रजापतिः' ( शत० ६।२।२।१६ ) ।

—३—

-उक्त चान्द्रसर्वता को अवधानपूर्वक लक्ष्य बनाते हुए लोकगीतानुगत 'सुगन्धिद्रव्य-परिमहमहण' का समन्वय कर लीजिए, सब कुछ समन्वित हो जायगा। चान्द्र पैत्रमण्डल में वरुण-रुद्र-पितर-गन्धर्व-अप्सरा-आदि आदि जो प्राण समाविष्ट हैं, वे अपने अपने स्वरूपानुगत पार्थिव भूतों-पार्थिव स्थानों के प्रति सहज रूप से उसी प्रकार आकर्षित रहते हैं, जैसे कि सोमप्रिय मरुत्वानिन्द्र वायुमह में तुरीयरूप से प्रतिष्ठित होकर पृथिवी में उपलब्ध गोदुग्ध-उष्णअन्न-आदि के सोम का आकर्षण करते हुए कालान्तर में इन्हें यातयाम (नीरस) बनाते रहते हैं ॐ । रुद्र का आकर्षण स्थान यदि 'एतद्वै जान्धितं प्रज्जलमवसानं-यच्चतुष्पथम्' (शत०) रूप से चोराहा है, तो निश्चयेन यह स्थान प्रणम्य ही बनना चाहिए। विशेषतः उन गन्धादि परिग्रहों से युक्त होकर उन विशेष आकर्षण-रुद्रकालों में तो वहाँ से बचकर ही चलना चाहिए, जिन चान्द्रपरिग्रहों के साथ भी समानस्थानीयस्वेन रुद्र का सहज आकर्षण रहता है। सुगन्धिद्रव्य-मोदप्रमोद आमोदादि परिग्रह चान्द्र गन्धर्वप्राण से सम्बन्धित हैं, तो रूप-हास-परिहास-क्रीड़ाकौतुक-नृत्य-सङ्गीत-आदि चान्द्र अप्सरा प्राण से सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि, गन्धर्वप्राणप्रधान सौम्य-भावुक-मनुष्य, सुगन्धित द्रव्य-मालादि में-आमोदप्रमोद में-ही सतत आसक्त-व्यासक्त रहते हैं। एवं अप्सराप्राणप्रधाना मानुषी रूपदर्शन-रूपशृङ्गार-हासपरिहास-क्रीड़ा-कौतुक नृत्यगीतादि में ही आसक्तमना बनी रहती हैं। दोनों प्राण सहचारी हैं। अतएव एक एक प्राण-प्राधान्य से कृतरूप भी मनुष्य-मानुषी दोनों धर्मों से आक्रान्त रहते हैं। अवरय ही तद्भाषपरायण सौम्य धालक-स्त्रीवर्ग-इन आकर्षणसाधनों से भूतासगरिमक पितृप्राण के द्वारा आकर्षित बन जाया करते हैं। निम्नलिखित कतिपय श्रौत वचन इसी मान्यता को आम्नायानुगत प्रमाणित कर रहे हैं :-

(१)—जानन्तो रूपमकृपन्त विप्रा भृगस्य धोषं महिषस्य ग्मन् ।

अन्तेन यन्तो अधि सिन्धुमस्युर्विदग्गन्धर्वो अमृतानि नाम ॥

अप्सरा जामुवसिप्पियाणा योना विमर्षि परमेव्योमन् ।

चरत् प्रियस्य योनिषु प्रियः सन्त्सीदत्यचे हिरण्यये स वेनः ॥

ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधिनाके अस्यात् प्रत्यङ्चित्रा विभ्रदस्यायुधानि ।

वमानो अत्कं सुरमिं दशे कं स्वर्णं नाम जनत प्रियाणि ॥

—श्रुक्मंहिता १०।१२३।४, ५, ७ ।

(२)—दिप्या गन्धर्वाः प्रतिनन्दन्ति । गन्धो मे, मोदो मे प्रमोदो मे ।

अप्सरसः प्रतिनन्दन्ति । हसो ( हासो ) मे, क्रीडा मे, मिथुनम्मे ॥

—जैमिनीयोपनिषद्भाषण १।१४।

ॐ 'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृहन्ते' (शत० १।५।१।३।) ४६ प्रकार के आन्तरीक्ष्य वायव्यमहों में एक, चतुर्धास इन्द्रप्राण समाविष्ट रहता है ।

(३)—विषमिति सर्पाः, ऊर्मिति देवाः, रयिरिति मनुष्याः, मायेत्यसुराः, स्वधेति पितरः, रूपमिति गन्धर्वाः, गन्ध इत्यप्सरसः । तं यथा-यथोपासते, तदेव भवति ।

—शतपथब्राह्मण १८।१।२।०।

(४)—गन्धेनैव च रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति । तस्माद्यः कञ्च मिथुन-मुपग्रीति, गन्धं चैव स रूपं च कामयते ।

—शत० ६।१।१।४।

(५)—योपितृकामो वै गन्धर्वाः ( ऐ० आ० १।२७ ) ।

—स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः ( की० १२।३ ) ।

(६)—अथ देवाः—ब्रीणामेव सृष्ट्वा वादयन्तो—निगायन्तो निपेदुः, इति वै ते (देवाः)—वर्ष-गास्यामः, इति त्वा ( वाचं—वाग्रूपिणीं स्त्रियं ) प्रमोदयिष्यामहे, इति सा देवा-नुपावर्त्तत । सा वै सा मोघं ( आत्मविस्मृता सती स्वानुगतभाषुकतया ) उपा-वर्त्तत—या स्तुवद्भ्यः शंसद्भ्यो नृत्यं—गीतमुपावर्त्तत । ताम् ह्यन्या योपाः ( सर्वाः स्त्रियः ) । तस्मादप्येतर्हि ( लोकसर्गेऽपि ) मोघसंहिता ( आत्मस्वरूपविस्मृता ) एव योपा । तस्मात्—य एव नृत्यति, यो गापति, तस्मिन्नेवैताः ( स्त्रियो-भाषुकाः ) निमिश्रितमा ( विमुग्धाः—आकर्षिताः ) इव ( भवन्ति )" \* ।

—शत० सोमब्रह्मण्य २।२४।६।

(७)—उपद्रवं गन्धर्वाप्सरसोभ्यः ( प्रायच्छत्—प्रजापतिः ) । तस्मात् उपद्रवं गृह्णन्त इव चरन्ति । ( जै०, उ० आ० १।१२।६ ) ।

(८)—गन्धर्वाप्सरसो वै मनुष्यस्य प्रजाया वाऽप्रजस्तायावेशते । तेषामत्र सोमपीथः । तान् ब्रीणाति । तेऽस्मै प्रजां प्रयच्छन्ति ॥

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण १६।३।२।

(९)—तस्य पतञ्जलस्य काप्यस्य आसीद् हिता गन्धर्वगृहीता ( शत० १४।६।३।१ ) ।

—“तस्मात्स्त्रियः पुंसोऽनुवर्त्मानो भाषुकाः” ( शत० १३।२।२।५ ) ।

अप्सरसु च या मेधा गन्धर्वेषु च यन्मनः ।

मनुष्यजा (स्त्रीमेधा) सा मां मेधा सुरमिनुपताम्” ॥ ( त० आरण्यक १८।४१ )

—रात्र्यां ही ति ( पितृभ्यो ददाति ) । वयमसुं लोकं परेत्य-पितृभ्यः, अथो एनं नः श्रद्धातारः । तदेतर्हि हूयते रात्र्यामेवत्येतदेव कुमारी गन्धर्वगृहीतोवाच ।

—शाङ्खायनब्राह्मण २।६।

एतदु हेवाच कुमारी गन्धर्वगृहीता-‘वक्तास्मो वा इदं पितृभ्यः, यद्वै तदग्निहोत्रमुभयेद्युरहृयत’ इति ।

—मैत्रेयब्राह्मण २३।१।२६।

“गन्ध, मान्य-अञ्जन-अलङ्कार-भृङ्गार-मोद, प्रमोद, हास, परिहास, क्रीडा, मिथुन-भाव, रूप ( सौन्दर्य ), योषित् ( स्त्रियाँ ), स्त्रीकामुक, गन्धर्व, अप्सरा, नृत्य, गायन, वीणा-वादन, विविध आकस्मिक उपद्रव, चतुष्पथ, भूत प्रेतादि, कुमारी-स्त्री-में भूतावेश, पितर, रात्रि” आदि सम्पूर्ण भाव गन्धर्वाधरोऽनुगत है, यह उक्त निगमवचनों से सर्वात्मना स्पष्ट है, और इसी स्पष्टीकरण के साथ सर्वात्मना समन्वय हो रहा है कुलस्त्रियों की उस सामयिक मान्यता का, जिसका पूर्व में उल्लेख हुआ है । चान्द्र-गन्धर्व जहाँ मानवीय ‘मन’ का स्वरूपाधिष्ठाता बनता है, वहाँ वारुणी अप्सरा मानवीय शरीर की अधिष्ठात्री बना करती है \* । निष्कर्षतः मन गन्धर्वप्राणप्रधान है, जिसके कारण नर में ‘गायन’ वृत्ति का उदय होता है । शरीर अप्सराप्राणप्रधान है, जिससे नारी में ‘नृत्यवृत्ति’ का उदय होता है । यद्यपि नर-नारी दोनों में गन्धर्वाप्सरा-दोनों प्राण समन्वित हैं । किन्तु दोनों का गौण-मुख्यात्मक समन्वय भी प्राकृत ही है । अप्सराप्राणगर्भित गन्धर्वप्राण नर के मन का, एवं गन्धर्वप्राण-गर्भित अप्सराप्राण नारी के शरीर का प्रधान आधार बनता है । अतएव नृत्य-गीत, दोनों की दोनों ही अनुगति रखते हुए भी नर गायन-प्रधान है, नारी नृत्यप्रधाना ।

कौनसी नारियों, और कौनसे नर नृत्य-गीत परायण बना करते हैं, जिन्हें अपना नैगमिक आत्म-बुद्धयनुगत स्वरूप बोध नहीं होता । जिन यथाज्ञात-असंस्कृत-शुद्धसधर्मा-पशुसमानधर्मा-नर-नारियों में स्वरूपबोध का अभाव रहता है, मनोऽनुभूत्या उच्छृङ्खल-उत्तालतरंगायित रवैराचारपरायण जैसे प्राकृत नरों, तथा सतसमनुलिता नारियों में ही चान्द्रभावानुगत गन्धर्वाप्सरात्मक वृत्त्युत्तेजक सङ्गशान्ति-न्यास्त-विघातक नृत्य गायन का उद्गम होता रहता है, जो भारतीय आर्षदृष्टिकोण से नैगमिक द्विजाति प्रजा के लिए तो सर्वथा न केवल अपेक्षणीय ही है, अपितु श्रुतिद्वारा आत्यन्तिक रूप से निषिद्ध, अतएव त्याज्य ही माने जायेंगे । देखिए ! एवं प्रचलित नृत्य-गायनाभ्यास-नृत्यगायनश्रवणाभिरुचि-तदनुगता शिरः-शरीर-हस्तविधूननादि लक्षणा स्त्रैणवृत्ति-से संत्राण कीजिए वर्तमान नर-नारी युग्म का ।

\*-इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति । (ब्रान्दोग्योपनिषत्-पञ्चमिषिध्या )

(१)-य एष ब्राह्मणः (ब्राह्मणः-क्षत्रियः-वैश्यः-) गायनो वा (गायनपरायणो वा)-नर्तनो वा (नृत्यपरायणो वा) भवति, तस्माद्ब्राह्मणो नैव गायेत्, न-नृत्येत्, माग्लागृधः (मलीमसः-तमोपुण्युक्तः-आत्मबुद्धिस्वरूप-विमुग्धः) स्यात्" । इति ।

—गोपथब्रा० पृ० २।२१।

(२)-"भीमं-वत-मलम् । ( भीमं-भयानकं-मलं-तमोभाव ( एव परोक्षेण ) भीमलम् । तस्माद्-भीमला (मलिना) वियः (बुद्धिद्वचयः) वा एताः-(नृत्यगायनवृत्तयः-बुद्धि-द्वयिका इति) तस्माद् गायतां ( नृत्यगायनशीलद्विजातीनामश्नं ) नाऽश्नीयात् । मलेन खोते जीवन्ति"—

—जैमिनीयोपनिषद्ब्राह्मण १८।२।

आत्मानुगता 'संवित्', एवं बुद्धचनुगता 'निष्ठा', दोनों आर्पधर्मों से एकान्तः विरुद्ध, मनोऽनुगता 'भावुकता', शरीरानुगता 'शुक्ति' से अनुप्राणित नृत्य-गीत कभी नैष्ठिक तन्त्रा-ध्यक्षों के द्वारा प्रोत्साहित नहीं होने चाहिए । यदि ऐसा होता है, तो यह राष्ट्रकर्णधार की, नैष्ठिक तन्त्राधीश की परप्रत्ययानुगता भावुकता ही मानी जायगी, जिसका राष्ट्रिय अन्त्युदय से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है ।

'वीणागायिनो गायन्ति'-साम गायति' इत्यादि रूप से श्रौतस्मार्त कर्मों में जिस वीणा-वादन, तथा सामगान का उपवर्णन हुआ है, उसका सम्बन्ध उन प्राकृतिक देवप्राणों के साथ है, जिन्हें यज्ञकर्म में तदनु रूप भावों से संतुष्ट करना सृष्टिसर्ग में अनिवार्य माना गया है । अवश्य ही वर्तमान युग के संगीत-नृत्यानुरागी अनुभूतिपरायण भावुक जन हमारे इस नैगमिक दृष्टिकोण से सहसा लुब्ध हो पड़ेगे । किन्तु उनके परितोष के लिए इस निबन्ध में कतिपय प्रमाणोंद्वारा के अतिरिक्त विशेष विस्तार का अनुगमन अप्रासङ्गिक ही माना जायगा । हम समीचीन हैं उनके परितोष के लिए अन्य प्रसङ्गावसरों पर ।

हाँ, तो प्रसन्न यहाँ करना है उन पितरों को, जो मनः-शरीर-प्रधान बनते हुए अपने चान्द्र-धर्म से गन्धर्वसुराप्राणों के सहचारी हैं । अतएव रात्रिजागरण में पितरों के लिए संगृहीत परिग्रहद्रव्यों में सुगन्धिद्रव्य-पुष्पमाला-आदि प्रसाधनों का संग्रह मान्य मान लिया गया है । इतर

—तस्मादपि राजन्यं वा, वैश्यं वा, ब्राह्मण इत्येव ब्रूयात् । ( शत० २।२।१।४० । ) ।

सामान्य गन्ध-माल्य द्रव्यों के साथ मुख्य सुगन्धिद्रव्य यहाँ 'कस्तूरी' (मृगनाभिगन्ध-कस्तूरी) प्रधान मानी गई है ( महासङ्गीत में ), जैसा कि- 'तोलर गन्धीका वेटा किसतूरी' वाक्य में स्पष्ट है ।

'मृगमद'- 'मृगगन्ध' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध कस्तूरी के कपिला (कपिलवर्ण), पिङ्गला, कृष्णा, ये तीन जातिविभाग सुप्रसिद्ध हैं । कामरूपदेशोद्भवा कपिला कस्तूरी सर्वश्रेष्ठा मानी गई है, नेपालदेशोद्भवा मध्यमा मानी गई है, एवं कारमीरदेशोद्भवा सामान्या मानी गई है । तीनों ही स्थानों में तीनों जातियाँ उपलब्ध हैं । इनमें से पितृकर्म में 'कपिला', वह भी कामरूपदेशोद्भवा ही प्राप्त हो, तो वह पितृकर्म के लिए सर्वथा अनुरूप है, जिसका जानकार गृहस्थ नहीं हो सकता । अपितु गन्धद्रव्यों के पारम्परिक व्यवसाय में निपुण 'गन्धी' व्यवसायी ही परिज्ञाता हो सकता है । अतः कस्तूरी की अनुरूपता का उत्तरदायित्व गन्धी से ही सम्बन्धित माननी हुई गीताभाषा में यह व्यक्त कर रही है कि, "हमने कस्तूरी-परीक्षित-कपिला-कस्तूरी ( जिसकी कि परीक्षा हमें नहीं है ) अपने कुल के सर्वश्रेष्ठ ज्येष्ठ व्यवहार-निपुण मित्र हरिश्चन्द्रजी के द्वारा तद्व्यवसायकुशल गन्धी व्यवसायी के माध्य से ही मँगवाई है । अतएव यह असदिग्यरूप से पितृकर्म के लिए अनुरूप है ।" कपिला गो पृष्ठ निरूपणानुसार जैसे चान्द्रपितृसर्ग का सर्वात्मक प्रतीक है, तथैव कपिलवर्ण-भाष से यह कपिला कस्तूरी भी पितृकर्म का प्रतीक बन रही है । 'ऐशानदेवत्या कपिला वर्णेन । रुद्रो देवता' ( गो० ब्रा० पू० १२५ ) । इत्यादि निगममूल स्पष्ट है । 'मृग-चन्द्र' दोनों समान-प्राणानुबन्धी हैं, यह आजके साहित्य-शृङ्गाररसिक-मनोऽनुबन्धी-भावुक कविसमाज-साहित्यिक से परोक्ष नहीं है, भले ही इन पदार्थों की नैगमिक आम्नाय से वह सर्वात्मना बहिष्कृत ही क्यों न बन चुका हो । पितर चान्द्र है, मृग भी चान्द्र है । ब्राह्मणग्रन्थों का सुप्रसिद्ध नाक्षत्रिक मृगव्याघाख्यान इसी मृगप्राणका स्वरूप विश्लेषण कर रहा है, जिसका सुप्रसिद्ध शिवभक्त गन्धर्व पुष्पदन्त ने भी महिम्नस्तोत्र में- 'त्यजति न मृगव्याधरभसः' इत्यादि रूप से दिग्दर्शन कराया है । कस्तूरिका ( कपिला कस्तूरी ) विशेषतः पैत्र है, यही वक्तव्य निष्कर्ष है । निम्न लिखित आगमवचन कस्तूरी की इसी जातित्रयी का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं—

कपिला-पिङ्गला-कृष्णा-कस्तूरी त्रिविधा मता ॥

नेपालेऽपि च, कारमीरे, कामरूपेऽपि जायते ॥१॥

कामरूपोद्भवा श्रेष्ठा, नेपाली मध्यमा भवेत् ॥

कारमीरदेशसम्भूता कस्तूरी द्वाधमा स्मृता ॥२॥

गृहमेधी के लिए अपनी पारिवारिक-स्वस्ति-कामना के लिए पितृकर्म का महत्त्व देवकार्य से भी विशेष महत्त्व रखता है \* । अतएव देवकार्य की अपेक्षा से भी पितृकार्य में, तदपेक्षित गन्धादि

\* "देवकार्याद् द्विजानीनां पितृकार्यं विशिष्यते"



परिमहप्रहण में बड़ी ही सतर्कता अपेक्षित मानी गई है। गतानुगतिकता से किसी भी वस्तु-परिमह का पितृकर्म में ग्रहण नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु का क्रम-आदान-संग्रह-इतिकर्तव्यता-बड़ी ही सतर्कता की अपेक्षा रखते हैं। अतएव कुलस्त्रियाँ अपने रात्रिजागरणात्मक लोकमान्यतानुगत पितृ-कर्म तक में—‘थो देई देयताँ को काम छ, पितराँ को काम छ, देख थोंठ भोंठ न हो जाय, चाय ज़िस्सा हाथ न लागा जाय’ इत्यादि रूप से यह सतर्कता व्यक्त करती रहती है। गन्धादि परिमह क्रय में सर्वत्र प्रदे प्रदे यह सतर्कता—परीक्षारुद्धि अपेक्षित है, यही तात्पर्य है। ‘काए तोला ओ काए की डाँडी’ इस वाक्य से यह परीक्षात्मक सतर्कभाव ही अभिव्यक्त हुआ है। गन्धी का तोला (घाट) तराजू-तराजू की डाँडी-सभी पूर्णरूपेण परीक्षणीय हैं। तदनन्तर ही गन्धादि क्रय अपेक्षित हैं।

‘गन्धद्रव्य-क्षीराद्य-जल-आभूषण-वस्त्र,’ ये पाँच परिमह पितृकर्म में ( रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म में ) प्रधान माने गए हैं। महासङ्गीत के पाँचों पद्यों से इन्हीं पाँचों को भद्रापूर्वक पट्टरिथत पितृदेवों के समर्पित करने की भावना व्यक्त हुई है, जैसाकि इन पाँचों परावयवों से स्पष्ट है—“(१) किसतूरी, (२)—चाँवल मो घगा, (३)—पाणी मो घयो, (४)—गैयाँ मो घगा, (५)—कपड़ा मो घगा”। विस्तारभिन्ना इन पाँचों मुख्य परिमहों की व्याख्या न कर पाँचों की सौम्यपितृप्राणात्मकता से सम्बद्ध नैगमिक आम्नायमात्र व्यक्त करदी जाती है :—

(१)—गन्धो घुप्मासु गन्धर्वेषु ( जै० उ० ३० ३१२५११ )—‘चन्द्रमा वै गन्धर्वः’ ( शत० ६१-११६१ ) ( चन्द्रः सोमः, पितरः सोम्यासः ) । —इति गन्धद्रव्यस्य शृगान्धस्य-अनुरूपता पितृकर्मणि ।

(२)—निवान्यायै ( कपितायै ) दुग्धे मन्थो भवति ( पितृभ्यः ) ( शत० २६११६१ ) —इति क्षीराद्यद्रव्यस्य-अनुरूपता पितृकर्मणि ।

(३)—पितृदेवयो वै शूयः-खातः (छोटा सर-छोटी सी तलाई) — ( शत० ३६१११३ ) सौम्या ह्याषः ( ए० ब्रा० १७१ )—पितरः सोम्यासः । इति जलद्रव्यस्य-अनुरूपता-पितृ कर्मणि ।

(४)—सोमस्य तनूः सुवर्षम् ( तै० ब्रा० १११७११ ) ( तन्मय आभूषण )—इति आभूषणस्य अनुरूपता पितृकर्मणि ।

(५)—वासो दक्षिणा । सौम्यं हि देवतया वासः समृद्धयै ( तै० ब्रा० १६११११ ) —इति वस्त्र-स्य-अनुरूपता पितृकर्मणि ।

महासंहिता के पाँचवें पद्य ( जो कि पितृकर्मनुगत परिग्रहदृष्ट्या ) अन्तिम पद है ) में—‘वस्त्र’ का समावेश हुआ है। यहाँ पितृकर्म समाप्त है। अतएव यही वस्त्र दक्षिणा बन रहा है इस लोक-मान्यतात्मक गृह पितृयज्ञ की। इसीलिए—‘वासो दक्षिणा’ रूप से श्रुतिने वस्त्रको ‘दक्षिणा’ का प्रतीक घोषित कर दिया है। अब क्या शेष रह गया ?, प्रश्न है। शेष रह गई वह आशीः—समृद्धि, जिस फलकामना—आशीः—समृद्धि के लिए पञ्चपरिग्रह द्वारा यह पितृकर्म कुलस्त्रियोंने सम्पादित किया है। यद्यपि अपनी सहजभावुकता के माध्यम से पाँचों परिग्रह द्रव्यों के समर्पण के साथ भी ‘परोक्षभाषा’ में कुलस्त्रियोंने “तोली में चॉयल—तलाई में पाणी—डब्बा में गैणों—बुगचा में कापड़ला” थोड़ा—थोड़ा—पितरारों लेकर आयो—जीम्याँ, पीयो—परया—परया—तोभी ( सब कुछ ) भो घणा—” इत्यादिरूप से अपने परिग्रहद्रव्यों की आरम्भ में अल्पता, पितृसमर्पणानन्तर उनकी विपुलता बतलाते हुए समृद्धि प्राप्त करली है। तथापि प्रत्यक्षरूपसे अभी समृद्धिकामना अभिव्यक्त नहीं हुई है। दक्षिणाप्रतीक रूप—वस्त्र—समर्पणानन्तर अब—साक्षात् रूप से समृद्धि—याचना का अवसर आ गया है। ‘देवतया—समृद्धयै’ इत्यादिरूप से श्रुति भी वस्त्र प्रदान के साथ साथ ही समृद्धि की अभिव्यक्ति कर रही है। अतएव इस श्रुति—पद्धति का अक्षरशः अनुगमन करने वाली ये मूर्तिमती श्रुतियाँ ( कुलस्त्रियाँ ) पञ्चम पद्य से वस्त्र समर्पण करने के अनन्तर ही पितरों से समृद्धिकामना करती हुई कहती हैं ‘ऊधो ए धूधो०’

सौभाग्यवती कुलीना नारी की वैसे तो ‘नहि कामानामन्तोऽस्ति, संमुद्र इव कामः’ (तै० २।२।) के अनुसार पुरुषकामनावत् कामनाओं का कोई अन्त नहीं है। सब कुछ प्राप्त कर लेने पर भी, प्राप्त हो जाने पर भी इनका सन्तोष—रुप्ति—मुष्टि इसलिए सम्भव नहीं है कि, प्रकृति ने इन्हें उस ‘मन’ की साम्राज्ञी बनाया है, जिसकी सहजवृत्ति है वह ‘भावुकता’ जिसे अनन्त—सहस्र कामना—परम्पराओं से भी रुम नहीं किया जा सकता। सर्व सूर्यम्। किन्तु दो कामनाएँ इनकी ऐसी सहज हैं, जिनकी पूर्ति का अभाव इन्हें कथमपि सहा नहीं है। ये अपने को पुत्रवती देखना चाहती हैं, एवं अपनी माता को पुत्रवती देखना चाहती हैं। स्वयं की, एवं माता की पुत्रकामना इन्हें सदा चिन्तित बनाए रहती है। ‘माका जाया भाई, ओर पेटाँ—उदर का—जाया पूत’ किंवदन्ती—प्रसिद्ध है, जिसका इन शब्दों में भी विश्लेषण, सुना गया है कि—‘लुगाई क एक तो पेट की अग, ओर एक पीर की आग’, जिसका तात्पर्य स्पष्ट ही है। निष्कर्षतः पुत्र—पौत्रादि परम्परा की कामना, आता—भ्रातृपुत्रादि परम्परा ( भाई—भतीजों की परम्परा ) की कामना, ये ही दो मुख्य कामनाएँ हैं कुलनारी की। पितृकर्म का एकमात्र उद्देश्य पुत्रादिवंश का ररक्षण, पुत्रादि परम्परा का उद्भव, उद्भूत पुत्रादि का पौत्र—प्रपौत्रादि रूप से बृहद्वृक्ष में विस्तार ही माना गया है, जिसका नैगमिक मूल है—‘भोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्’। हे पितरों ! आप हमारे वंश में उद्भव (वंशोत्पत्ति) करते हुए, एवं उन्पन्न वंश को बृहत् करते हुए ही हमारे इस पञ्चविध आतिथ्य का ग्रहण करने का अनुग्रह करें। ‘उद्भव’—‘वृद्धन’ शब्दों के ही प्राकृतरूप हैं—

‘ऊधो-वूधो’। ‘गोत्रं नः’ ग्रन्थ ‘ऊधो’ रूप उद्भव (उत्पत्ति) का आधार है, ‘अभिवर्द्धन्ताम्’ पद ‘वूधो’ रूप ‘वृहद्’ (वंशविस्तार-जिसमें परोक्षरूप से मातृवंशकामना भी सुरक्षित है) का आधार है। उत्पत्ति और वृद्धि, यही ‘ऊधो ए वूधो कर आधो म्भारो पितरो’ का निष्कर्षार्थ है। पितृकर्म वैयक्तिक (पारिवारिक) है, देवकर्मवत् सापञ्चिक नहीं। तभी तो पितरों को ‘गृह्य’ कहा गया है। इसी गृह्यभाव-प्रातिरिक्कभाव की अभिव्यक्ति के लिए यत्रतत्र-‘द्वारा’ (हमारे पितर-पारिवारिक पितर) शब्द प्रयुक्त हुआ है। इन पितरों (प्रेतपितरों) के घर दो हैं। जहाँ इन्होंने अपने भौतिक शरीर से मानवजीवनोपभोग किया था, वह परिवार भी इनका घर है। एवं चान्द्रयायावृधिव्य रात्रिमण्डल भी इनका घर है। अन्तः पर्वतसर्पों पर मान्यता के द्वारा ये इस पूर्वगृह (परिवार) में पधारते रहते हैं, जिस प्रथमगृहगमन की अभिव्यक्ति ‘आधो म्भारो पितरो’ रूप से होती है। एवं यहाँ गन्धादि पञ्चानुरूप आतिथ्य से तुष्ट-तृप्त होकर ये पुनः अपने प्रेतलोकात्मक रात्रिमण्डल में गमन कर जाते हैं, जोकि इनका प्रेतयोनिनिबन्धन स्थायी गृह माना गया है। इसी द्वितीयगृहगमन की अभिव्यक्ति हुई है—‘कुसल कुसल धर जायजो’ इस उत्तर वाक्य से। इस प्रकार वाक्यत्रयात्मक छठे पद्य से उक्त रूप से पितृसमृद्धि (पितरों की समृद्धि, एवं समृद्ध-तुष्टतृप्त-कुशलभावापन्न पितरों से आशीं रूप से प्राप्त होने वाली पारिवारिक समृद्धि, दोनों समृद्धियों) की कामना अभिव्यक्त हुई है।

कब तक तो प्रेतपितर प्रथमगृह रूप परिवार में आते रहते हैं?, एवं कब यहाँ से सन्तुष्ट होकर ये स्वगृह में पधार जाते हैं?, दोनों प्रश्न पितृस्वरूप से गतार्थ हैं। चान्द्र सोम्य पितर चतुर्दशी की रात्रि को तो प्रथम गृह में आते हैं, एवं रात्रि में तृप्त हो अमावास्यातिथि में सजातीयकारण से पुनः चन्द्रलोक रूप स्थायी द्वितीय गृह में पधार जाते हैं। यह है-इन भीम-पार्थिव-औपपातिक-इंसानानुगत विविध (सर्पादि) योनिभावापन्न-अन्नपितरों की व्यवस्था, जिन्हें पूर्व की पितृस्वरूप-म.मासा में महा-हविर्वागानुबन्धी काम्यपितरों के काम्यभाग से सम्बन्धित माना गया है। पिण्डपितृयज्ञात्मक नित्य-अन्नादिपितर जहाँ अमावास्या में अदःकाल में आहुति द्वारा तृप्त किए जाते हैं द्विजाति-यज्ञसूत्री पुरुष के द्वारा। अन्नान्मक गृह्य पितर वहाँ गन्धादि लोकानुबन्धी मान्यतानुबन्धी भूतपरिग्रहों से चतुर्दशी की रात्रि में तुष्ट किए जाते हैं—द्विजाति परिवारों की मर्यादा-आम्नाय का सञ्चालन करने वाली अतृप्ता कुलदेवियों के द्वारा। क्रमप्राप्त सप्तम पद्य यही भाव अभिव्यक्त करता हुआ—‘चोदस के दिन आधो म्भारो पितरो भावस धराँ ए पधारज्यो’ इत्यादिरूप से स्त्रीभावानुगता लोकमर्यादा का संरक्षण स्वयं कुलास्त्रियों के आम्नायपरायण मुख से ही प्रमाणित कर रहा है।

सर्वान्त के अष्टम पद्य से रात्रिजागरणानुगत लौकिकमान्यतानुगत-कुलस्त्रीवर्गद्वारा सम्पादित पितृकर्म से सम्बन्ध रखने वाले प्रेत गृह्य औपपातिक पितरों का वस्तुस्वरूप उपवर्णन करते हुए इन से फलश्रीः कामना अभिव्यक्त हुई है। यद्यपि पूर्व में ‘पिण्डपितृयज्ञ-काम्यपितृयज्ञ’ रूप से

उभयविध (अन्नादात्मक, एवं अन्नात्मक) पितरों का वस्तुस्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है। तथापि यहाँ एक उस विशेष दृष्टिकोण से इस वस्तुस्थिति का स्वरूप-विश्लेषण अपेक्षित बन रहा है, जिस दृष्टिकोण का रहस्यार्थ न जानते हुए हम पितृकर्म के सम्बन्ध में अनेक धारितियों के अनुगामी बन जाया करते हैं। भगवान् तिष्ठिर ने भी विस्पष्ट शब्दों में इन दोनों पितृभेदों का निम्न-लिखित रूप से स्पष्टीकरण किया है।

प्रहयागात्मक 'सोमयाग' प्रकरण चल रहा है। इसी में 'सौत्रामणी' नामक यह इष्टियाग, विहित हुआ है, जिस के लिए 'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्' यह प्रसिद्ध है। इस सुरामिश्रित सोमप्रह से इन्द्र को सन्तुष्ट किया जा चुका है। इस आहुति का जो शेष भाग बच रहता है, उस हुतरोपद्रव्य की आहुति अध्वर्यु, और प्रतिप्रस्थाता, नामक दोनों ऋत्विक् क्रमशः देवपितरों, एवं पितृपितरों के लिए आहुति, एवं प्रदानकर्म (क्रमशः) करते हैं। इसी प्रकरण में अन्नादात्मक असृत चान्द्र पितरों को देवयज्ञानुगत बतलाया गया है, एवं इन्हें स्वधावन्त मानते हुए 'जीवित पितर' कहते हुए इन्हें 'समानाः समनसः' नाम से व्यवहृत करते हुए चान्द्र यमलोक में इनका आवास-निवास माना है। अन्नात्मक मर्त्य पार्थिव भूमि पितरों को 'सजाताः समनसः' नाम से व्यवहृत करते हुए इनका आवास निवास इसी पृथ्वी लोक में माना है। तिष्ठिर भगवान् के द्विधा विभक्त इन देव-मातृप (वैदिकलौकिक-चान्द्र-पार्थिव-अन्नाद-अन्न-नित्य-औपपातिक) उभयविध पितरों का स्वरूप भेद लक्ष्य बनाइए, अवश्य अधर्ममूलक अभिनिवेश उपरत हो जायगा—देखिए !

हुतशेषं ददाति पितृभ्यः ( इति कल्पः )

(१)—"पितृभ्यः-पितामहेभ्यः-प्रपितामहेभ्यः-स्वधाविभ्यः स्वधा नमः । अक्षन् पितरः, अमीमदन्तु पितरः, अमीतृपन्त पितरः । अमीमृजन्त पितरः । पितरः शुन्धध्वम् । पुतन्तु मां पितरः-पितामहाः-प्रपितामहाः-सोम्यासः, पवित्रेण शतायुषा । विश्वमा-युर्व्यश्नवै । अग्न आर्युं पि पवसेऽग्ने । पवस्व पशमानः सुवर्जनः । पुनन्तु मा देवजनाः । जातवेदः पविपद्यते पवित्रमर्चिषि, उमाभ्यां देव सवितर्वैश्वदेवी पुनती । "ये 'समानाः समनसः' पितरो यमराज्ये, तेषां लोकः स्वधा नमः । यज्ञो (पितृय-ज्ञोऽयं) देवेषु कल्पताम् ॥

(२) "ये 'सजाताः समनसः' जीवा जीवेषु मामकाः (गृह्याः-प्रातिस्विकाः) । तेषां श्रीर्मयि कल्पतां-अस्मिँल्लोकं शतं समाः" ।

—तैत्तिरीय ब्राह्मण २।६।३।३, ४, ५, ।

पितृपरिवार को हम नवीन दृष्टिकोण से 'जीवितपितर, मृतपितर', इन भागों में विभक्त करेंगे। जो चान्द्र पितर सौर देवसर्ग के द्वारा होने वाली प्रजासृष्टि के आरम्भक (उपादान) बनते हैं, उन सौराग्निमय सौम्य 'चान्द्र पितरों' को 'जीवितपितर' माना गया है। ये ही पितर 'नित्य-प्राकृतिक-सापिण्ड्यभावाधिष्ठाता-भोक्ता-अन्नद'-आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका 'श्रौतपिण्डपितृयज्ञ' के द्वारा सौरदेवयन्त्र अष्टकाल में यजन हुआ करता है। अतएव ये 'यज्वानः' हैं। इन्हीं को 'अमृत-पितर' भी माना गया है। अमृततत्त्वनिबन्धना नित्यता ही इनका 'जीवितत्व' है।

जो चान्द्र पितर आयापृथिव्य चान्द्र सम्यत्सरसर्ग से सम्यन्ध रखने वाली चतुर्दशीविधा भूतसृष्टि से अनुप्राणित हैं, उन चान्द्रसोममय आयापृथिव्य 'पार्थिव पितरों' को 'मृतपितर' कहा गया है। ये ही पितर 'अनित्य-वैकारिक-(असन्तोषावस्था में) सापिण्ड्यमावविघातक-भोग्य-अन्न' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध हुए हैं, जिनका श्रौत काम्यमहाहविर्यगान्तर्गत 'काम्यपितृयज्ञ' रूप स श्रौतविधि से अष्टकाल में ही यजन विहित हुआ है, एवं लोभमान्यता में कुलाश्रयों के द्वारा चतुर्दशी की रात्रि में जिनका भद्रापूर्वक सम्मान विहित हुआ है। एकोदश-पार्थिव-महालयादि नित्यथाद्रो का जहाँ अमृत पितरों से सापिण्ड्यपितरों से सम्यन्ध है, वहाँ पुरुषकृत काम्यपितृकर्म, पुरुषकृत गयाधाद्रकर्म, वृद्धि-आद्रकर्म का, एवं कुलतन्त्रीकृत रात्रिनागरणामक-पितृकर्म का इन प्रेत-मर्त्य-औपपातिक अन्नपितरों से सम्यन्ध है। पार्थिवानुशानुगत करभाव ही इन सौम्य पितरों का 'मृतत्व' है। यही जीवित, तथा मृत, उभयविध पितरों का स्वरूप परिचय है। श्रौत-स्मार्त्तनुमोदित सनातनधर्म इस दृष्टिकोण से जीवित (चान्द्र), तथा मृत (पार्थिव), दोनों का भद्रापूर्वक यजन-सम्मान करता है। यजन करते हैं द्विजाति-पुरुष, एवं सम्मान करती हैं मान्यतानुसार कुलस्त्रियों। यजनरसक सम्मान शास्त्रीय सम्मान है, मान्य-तानक सम्मान शास्त्रान्नायानुमोदित लोकसम्मान है। दोनों से आधुनिक-वैदिक कलमसृष्टियों निश्चयेन प्राप्त हो जाती हैं। उभयविध पितृकर्मानुगत परिवार को भद्रालु परिवार को। मैत्रा वस्तुस्थितिः।

निश्चित-य गतिश्चिन्तनीया। जीवित पिता पितामहादि को भद्रा (चान्द्रभद्रानाडी) के द्वारा प्रति अमा-वारया में (मास में-३० दिवस में १ दिवस) वृत्त करना, ज्ञाहविति को वृत्त करना, एवं महालय-श्राद्धपत्र (आश्विन-कृष्णपंचमे) में वृत्त करना 'जीवितपितृश्राद्ध' है, एवं गम्यार्थ में विधिपूर्वक एकवार धाद्र करना, विशेष स्मार्त्तकर्मविमरों पर वृद्धिधाद्र (नान्दीमुखधाद्र) करना, चतुर्दशी की रात्रि को पितृकर्म करना आदि 'मृतपितृश्राद्ध' है। सशरीर-पाञ्चभौतिक शरीर-युत-सगुणमहात्मक-माता-पिता, पितामहादि के प्रति श्राद्धापूर्वक देवभावने आत्मममर्षण किए रहना इन सगुण-सशरीर-पितादि की उपासना है। यह आन्तरिक-श्राद्धार्थ 'यानुदेवो भव-पितृदेवो भव, अचाग्यदेवो भव' इत्यादि उरनिबन्धन के अनुसार 'उपासनाश्राद्ध' का विषय है, कर्मश्राद्ध का नहीं। कर्मश्राद्धानु-

गति है- 'भद्रया देयम्' । जो कुछ आप अर्जन करते हैं, भद्रापूर्वक इन्हें अर्पण कर दीजिए । इसके अतिरिक्त 'भद्रा' शब्दमाध्यम से आपाग्नायानुगत 'पितृभद्र' कर्म के सम्बन्ध में जो अस्तकल्पना वेदभक्तोंने उपकल्पित की है, वह एकान्ततः निर्मूल, अतएव उपेक्षणीय ही है ।

(१) "देवा वा एते पितरः"-(गो० उ० १।२५)-"ये वै यज्वानरते पितरः" (तै० १।६।६।६)-  
 'यत्तदमृतं-सोमश्चन्द्रमाः सः, पितृदेवत्यो वै सोमश्चन्द्रमाः, मासि मासि योऽशनम्" इत्यादि  
 निगमवचन उन 'जीवित पितरों' का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं, जो सौर देवों से समतुलित हैं ।

(२)-"अन्तर्भाजो वै पितरः"-(कौ० १६।२)-"मर्त्याः पितरः" (शत० १।२।३।४।)-"अन-  
 पहतपाप्मानः पितरः" (शत० १।२।३।४।)-"रात्रिः पितरः" (शत० २।१।३।१।)-"अयज्वानो गृह-  
 मेधिनः पितरः" (तै० १।६।६।६।)-"मनः पितरः" (शत० १४।५।३।१३।)"-इत्यादि निगमवचन  
 'मृतपितरों' का स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं ।

अभिनिवेश अन्ततः अभिनिवेश ही तो है । 'जीवित पितर' का अर्थ 'चान्द्रपितर' कैसे माना-  
 गया ? श्रुति में कहाँ विस्पष्ट शब्दों में "गपराहभाजः" पितरों को 'जीवित' कहा है-? इत्यादि  
 अभिनिवेशात्मक प्रश्नों का यद्यपि अब कोई महत्त्व रेंप नहीं है । तथापि तुष्यहर्जन-न्यायेन इस  
 सम्बन्ध में भी एक श्रौतप्रमाण उद्धृत कर दिया जाता है—

"अथ यदपराह पितृयज्ञेन चरन्ति (तस्य कारणमीमांसा क्रियते-उपपत्तिमीलिकरहस्यं  
 निरूप्यते) । अपराहभाजो वै पितरः । तदाहुः (पूर्वपक्षः क्रियते) -'यत्-अपरपक्षभाजो वै  
 पितरः, कस्मादेनान् पूर्वपक्षे यजन्ति' ? इति । (समाधीयते)- देवा वा एते (चान्द्राः-सौरानुगताः-  
 नित्याः) पितरः । जीवनदन्तौ आज्यभागो (पितृयज्ञे) भवतः । अथ यदध्वर्युः पितृभ्यो  
 निष्ठाति, जीवनैव तत् पिबन्तु मनुष्याः पितरः (प्रेतपितरो मर्त्याः-आपपातिकाः-पार्थिवाः)-  
 अनुग्रहन्ति । अथो देवयज्ञमेवैनं पितृयज्ञेन व्यवर्जयति" ।

—गोपथब्राह्मण उत्तरभाग १ प्रपाठक, २५ चो ब्राह्मण ।

भूतानुगता-भूतात्मगामता बुद्धि जहाँ नित्य देवपितरों का आधार बनती है, वहाँ पाञ्चभौतिक-  
 शरीरानुगत-शरीरभावगमित-मन अन्तर् मानवपितरों का अवलम्ब बनता है । अमृत-जीवित-पितृकर्म  
 यौद्धकर्म है, श्रौतकर्म है । मर्त्य-पितृकर्म मानसकर्म है, गमार्त्तकर्म है । बुद्धितन्त्रानुगत श्रौत  
 पिण्डपितृयज्ञ से जीवित चान्द्र नित्य पितर वृत्त होते हैं, जो चान्द्र पितर सौर देवानुशय के सम्बन्ध  
 से स्वयं भी सौर-धी-भाग से समन्वित होते हुए नैष्ठिक हैं, जिन्हें श्रौत इतिकर्त्तव्यता के अतिरिक्त अन्य  
 लोकानुबन्धों से अणुमात्र भी प्रभावित नहीं किया जा सकता । एवं मनस्तन्त्रानुगत स्मार्त्त, लोकानुबन्धी

पितृकर्म से मर्त्य पार्थिव औपपातिक पितर वृक्ष होते हैं, जो स्वयं भी पार्थिवकर्षण-प्राधान्य से मनोमय ही बनते हुए भावुक हैं, अतएव जिन्हें स्मार्त्त वैध गराआद्धवत् रात्रिजागरणात्मिका लोकमान्यताओं से भी प्रभावित किया जा सकता है। अलमतिपल्लववितेन—कुलस्त्रियों का रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म लोक-निवन्धनात्मक औपपातिक मनोमय पितरों से सम्बन्धित है—जोकि मनोमय पार्थिव पितर नैष्ठिक नित्य-बुद्धिशील पितरों के समतुलन में सौम्य बालकवत् हैं, सौम्या भावुकतापूर्ण शुद्धा (भोली) वृत्ति से युक्त हैं। महासङ्गीत का अन्तिम अष्टम पद्य “हमारे मान्य पितर सौम्य हैं, भोले हैं, सहज ही अनुगृह करने वाले हैं, अतएव हमें सहज ही आशीः दे रहे हैं, हमारे वंश को कटुनिन्द्यवत् सहजभाव से ही विस्तृत कर रहे हैं” इत्यादिरूप से अपने मान्य पितरों का वस्तुरवरूप ही अभिव्यक्त कर रहा है, और इसी आशीःकामना के साथ हमारा यह चतुर्थ महासङ्गीत उपरत हो रहा है—

✽ पिचर वाला भोला ओ—जी घोर असीप ।

फलज्यो फूलज्योजी ऋद्धा नीम ज्यों ॥

— - ४ —

(५)—पितृपरिवारस्तुतिकर्मात्मक महासङ्गीत की पञ्चम पावनस्मृति—

(१)—झारा माथा न मेहमेद ह्याओ सा (?)

दिक्खण म मत न जाओ सा (२) ।

आग आग भोमियाँजी, पाछ वर्रगे वाला,

भएडो भैहूँ नाथ को, अगवाणी सात् भैहूँ (३) ॥

(४)—झारी रखंडी रतन जड़ाओ सा, दिक्खण० ।

आगे आगे० (३) ॥

✽ अमूर्त्तमनी अपौरुषेया श्रुतियाँ यदि—‘आयन्तु नः पितरः’ कहती हैं, तो ये मूर्त्तिमती पौरु श्रुतियाँ (कुलस्त्रियों) तत्समतुलित अपने महासङ्गीत में—‘आओ (आयन्तु) हमारा (नः) पितरो ! (पितरः) पधारो हमारा पितरो, यह उद्घोष कर रही हैं। वेदनिष्ठा यदि—‘इन्द्रवः पितरः’ ‘पितरःसोमवन्तः’—‘मनः पितरः’ कह रही हैं, तो ये ‘पिचर वाला भोला’ एवं ‘थाँ जीम्याँस हमारा मन भर जाय’ यह अभिव्यक्त कर रही हैं। समतुलन कीजिए महासङ्गीतानुगत वेदात्मनाय का, एवं परंपरागत अभिव्यक्त कीजिए हमारे साथ साथ आप भी, जो (पुरुषवर्ग) सच बुद्ध (वेदात्मनाय) सर्वमन्या विस्तृत कर इन कुलदेवियों की महासङ्गीतात्मिका पारम्परिक वेदात्मनाय का उपहास करने में ही अपने पुरुषार्थ का आद्धकर्म सम्पादित मानने—मनयाने—प्रचार करने की अथावद श्रान्ति करते हुए प्रायश्चित्त के भागी बनते जा रहे हैं।

- ( ३ )—झारा कानान कुण्डल ल्याओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( ४ )—झारी नथ में रतन जड़ाओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( ५ )—झारा गलान पचमण्यो ल्याओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( ६ )—झारा छल्लों में रतन जड़ाओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( ७ )—झारी कल्योंन कण्ठकलो ल्याओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( ८ )—झारी लूमों रतन जड़ाओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( ९ )—झारा पगल्योंन पायल ल्याओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( १० )—झारी पायल रतन जड़ाओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( ११ )—झारी आँगल्यों म फोलरी ल्याओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( १२ )—झारी कर्मण्यो पटोलो ल्याओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( १३ )—झारा त्यल्लङ्का कोर लंगाओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे० ( ३ ) ॥
- ( १४ )—झारी अँगियो में रतन जड़ाओ सा, दिक्खण० ।  
आगे आगे भोमियाजी ( ३ ) ॥

चतुर्दश ( १४-चौदह ) पञ्चात्मक, एवं द्वावत्वारिंशत् ( ४२-बियोलिस ) पञ्चात्मक उक्त महासङ्गीत के द्वारा सहजभाष से मूलतः चतुर्दश पञ्चात्मक, अथान्तर शक्तिः ४२ भागों में विभक्त समष्ट्यात्मक-व्यष्ट्यात्मक सम्पूर्ण उस पितृवार की ही स्तुति हुई है, जिसका पूर्व में ( देखिए प्रथम संख्या २२४ ) वालिका एवं संक्षिप्त व्याख्यारूप से स्पष्टीकरण किया जा चुका है । चौदह पद्यों में से ११ पद्यों में अलङ्कार माध्यम से, एवं ३ पद्यों में वक्त्रमाध्यम से स्तुतिका अनुगमन हुआ है, जिन आभूषणों-तथा वस्त्रों का स्वरूप पूर्व के कुलदेवी स्तुत्यात्मक दूसरे महासङ्गीत में



स्पष्ट किया जा चुका है। लक्ष्य केवल इस महासंगीत का है १४, तथा ४२, द्विधा विभक्त संवधान, जिनसे समस्त पितृपरिवार संगृहीत हो जाता है।

और सब कुछ आम्नाय पूर्ण सङ्गीतव्याख्याओं से गतार्थ है। विजिज्ञास्य है प्रस्तुत महासङ्गीत के—‘दिकक्षण—भोमियाँ—वज्रगवाला—भैरू नाथ—सातूँ भैयाँ’ इन शब्दों का आम्नायातुग नैगमिक समन्वय। समन्वय से पूर्ण सङ्गीत के अक्षरार्थका यों समन्वय कर लेना चाहिए कि—‘है परिवारक पितरो ! आप मेरे शिरोभूषण (मैंहमंद टीडीभलका) लाने का अनुग्रह करें, (और साथ ही मेरी इस प्रार्थना को भी ध्यान में रखने का अनुग्रह करें कि) आप ‘दक्षिण दिशा’ भी और गमन न करें।’ (किन्तु मैं यह जानती हूँ कि, आप मेरी इस प्रार्थना पर कोई ध्यान न देते हुए अथर्व ही अपने चौदह प्रकार के परिवार के आकर्षण से आकर्षित होकर अथर्व ही दक्षिण की ओर गमन करेंगे ही जिस आपके परिवार में) भोमियाँजी, मूलपितर) महाराज सबसे (पितृपरिवार से) आगे आगे चलते हैं, इनसे पीछे पीछे श्रीमहावीर चलते हैं, और श्रीभैरवनाथ भट्टा लिए चलते हैं, एवं इस परिवार की अगुवानी करती हुई सातों बहिनें चलती हैं।’ यम यही इसी से समतुलित पदार्थ अथर्व शेष १३ हों पद्यों के साथ सुसमन्वित कर लेना चाहिए।

पट्टाभूत—स्वरूप के मूलाधारभूत ऋताग्नि (प्राणाग्नि—वायव्याग्नि) एवं ऋतसोम (प्राणसोम—वायव्यसोम), दोनों आन्तरिद्य तत्त्व क्रमशः अमृत अन्नादपितर, एवं मर्त्य अन्नपितरों के स्वरूपात्मक माने गए हैं, जिन दोनों पितरों का चतुर्थ महामङ्गीत के अन्त में स्पष्टीकरण कर दिया गया है। अन्नादलक्षण ऋताग्नि दक्षिणदिशा को अपना उद्गम स्थान बनाते हुए अनवरत दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर जाते रहते हैं। एवं अन्नलक्षण ऋतसोम उत्तरदिशा को उद्गम स्थान बनाते हुए उत्तर से दक्षिण की ओर आते रहते हैं। दक्षिण से उत्तर की ओर सहजरूप से गमनशील ऋतग्नि ही ही अन्नादरूप देवलक्षण अमृतपितृपट्ट की मूलप्रतिष्ठा बनते हैं, अतएव इन्हें भी दक्षिण से (उद्गम स्थान से) उत्तर की ओर (नियसस्थान की ओर) गमन करने वाला माना जायगा, एवं इस दृष्टिसे इन्हें ‘उत्तरसंस्थ’ दक्षिण से चलकर उत्तर में विश्राम लेने वाले पितर कहा जायगा। इसी प्रकार उत्तर से दक्षिण की ओर सहजरूप से आगमनशील ऋतसोम ही अन्नरूप से पितृलक्षण मर्त्य पितृपट्ट की मूल प्रतिष्ठा बनते हैं, अतएव इन्हें भी उत्तर से—(उद्गम स्थान से) दक्षिण की ओर (नियसस्थान की ओर) ही आगमन करने वाला माना जायगा एवं इस दृष्टि से इन्हें ‘दक्षिणसंस्थ’ (उत्तर से चल कर दक्षिण में ठहरने वाले—विश्राम करने वाले—पितर) कहा जायगा। इन दोनों दृष्टिकोणों के माध्यम से ही ‘दिकक्षण म मत न जाओसा’ इत्यादि वाक्य का समन्वय सम्भव हो सकेगा।

उत्तर—दक्षिण भावापन्न पितरों के क्रमबद्ध स्वरूप परिचय के लिए ‘अग्न्याधान ब्राह्मण’ के रहस्यार्थ को लक्ष्य बनाना पड़ेगा। अथर्ववेद पूर्वप्रदर्शित पितृस्वरूप व्याख्याओं से गतार्थ है। यहाँ केवल तद् ब्राह्मण का आरम्भभाग लक्ष्य बना लेना है—

- १— { “(१) वसन्तः, ग्रीष्मः, वर्षाः, ते देवा ऋतवः । ( अन्नाद-ऋतवः )  
 (२) शरत्-हेमन्तः-शिशिरः, ते पितरः । ( अन्नाद-ऋतवः )
- २— { (१) य एवापूर्यतेऽर्द्धमासः, स देवाः । ( अन्नादपितृपक्षः-शुक्लः )  
 (२) योऽपत्नीयते (अर्द्धमासः), स पितरः ( अन्नपितृपक्षः-कृष्णः )
- ३— { (१) अहरेच देवाः (अन्नादपैत्र-अहः)  
 (२) रात्रिः पितरः (अन्नपैत्र-रात्रिः)
- ४— { (१) स यत्रोदगावर्त्तते, देवेषु तर्हि भवति । (अन्नादेषु भवति) अन्नादादिक्  
 (२) अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, पितृषु तर्हि भवति । (अन्नेषु भवति) अन्नदिक्
- ५— { (१) अपहृतपाप्मानो देवाः, अमृता देवाः । ( अमृताः पितरः )  
 (२) अनपहृतपाप्मानः पितरः, मर्त्याः पितरः । ( मर्त्याः पितरः )
- ६— { (१) स यत्रोदगावर्त्तते, तर्ह्यग्नी आदधीत । सर्वमायुरेति ।  
 (२) अथ यत्र दक्षिणावर्त्तते, यस्तर्ह्यधते, पुरा हायुषो भ्रियते ।”

— शतपथ, अग्न्याधानब्राह्मण, २।१३ ब्रा०

धृतिने वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा, इन तीन चान्द्र ऋतुओं से आपूर्यमाण चान्द्र शुक्लपक्ष को, सौर अह्न काल को, साम्यत्वादिक परमासात्मक उत्तरायणकाल को “देवदेवता” ( आग्नेयदेवता ) कहा है । एवं शरत्-हेमन्त-शिशिर, इन तीन, चान्द्र ऋतुओं को, अपत्नीयमाण चान्द्र कृष्णपक्ष को, पारुण रात्रिकाल को, परमासात्मक दक्षिणायनकाल को ‘पितृदेवता’ ( सौम्यदेवता ) माना है । पञ्चमयुगम के द्वारा श्रुति देवदेवताओं को अमृत, पितृदेवताओं को मर्त्य बतलाती हुई अग्न्याधानकाल के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त स्थापित कर रही है कि, यदि यजमान दक्षिणायनकाल में अग्न्याधान करेगा, तो यह

आयु से पूर्व ही शरीर छोड़ देगा। अतः इसे पूर्णायुर्भाग के लिए उत्तरायणकाल में ही अग्न्याधान करना चाहिए।

दक्षिण से उत्तर की ओर ऋताग्निगमन कर रहा है, एवं उत्तर से दक्षिण की ओर ऋतसोम आगमन कर रहा है। इन दोनों के दाम्पत्यभाव से अग्नीषोमोभयात्मक जो योगजभाव उत्पन्न होता है, वही ऋताग्नि-सोमसंयुक्त से 'ऋतु' कहलाया है। अद्यतनानद्यतनानुगता मध्यरेखा से उत्तरभाग- (उत्तरायणभाग-जिसका उपक्रम दक्षिणगोल में, उपसंहार उत्तरगोल में होता है) में सोमप्राणगमित अग्निप्रधान वसन्त-ग्रीष्म-वर्षा, इन तीन ऋतुओं की सत्ता रहती है। एवं मध्यरेखा से दक्षिणभाग (दक्षिणायनभाग-जिसका उपक्रम उत्तरगोल में, उपसंहार दक्षिणगोल में होता है) में शरत्-हेमन्त-शिशिर-इन तीन ऋतुओं की सत्ता रहती है।

इस अग्नि-सोम-प्राधान्य-गोणतारत्व से वसन्तादि त्रयी 'देवाः' मान ली गई है। एवं शरदादि त्रयी 'पितरः' मान ली गई है। हमने अन्नादपितरों को वो अमृतपितर कहा है, अन्नपितरों को मर्त्य पितर माना है। श्रुति ने अन्नादाग्नि को देवाः कहा है, अन्नसोम को पितर माना है। ऐसी स्थिति में पितरों को अन्नादाग्निरूप कैसे माना गया?, यह समस्या है, जिसका निराकरण इसी अग्न्याधेय श्रुति से हो रहा है। प्राणाग्निरूप दोनों के गर्भ में प्राणसोमरूप पितरं प्रतिष्ठित हैं, एवं प्राणसोमरूप पितरों के गर्भ में प्राणाग्निरूप देवप्रतिष्ठित हैं। इस दृष्टि से तीनों ऋतुओं के दोनों विभागों में दोनों तत्त्व समन्वित हैं। अतएव वसन्तादि तीनों को 'देवाः-पितरः' कहा जा सकता है, शरदादि तीनों को 'पितरः-देवाः' दोनों कहा जा सकता है। तभी तो—'पृथ्वा ऋतवः पितरः' (शत०६।४।३।२॥) यह अन्यश्रुति समन्वित होती है। तभी तो पितृकर्म में ऋतु अनुबन्धी पृथक्पालपुरोडाश समन्वित बनता है। अन्तर दोनों स्थितियों में यही है कि, देवात्मक पितरों में सोम गोण है, अग्नि प्रधान है, अतएव ये देवसमतुलित हैं, अन्नाद हैं, उत्तरसंस्थ हैं। पितरात्मक पितरों में अग्नि गोण है, सोम प्रधान है, अतएव ये पितर ही हैं, ये ही अन्न हैं, मर्त्य हैं, दक्षिणसंस्थ हैं। इन दोनों पितृपदों का निम्नलिखित परिलेख से सुसमन्वय हो रहा है—

वसन्तः-भीष्मः-वर्षाः- इति ते देवा अतवः	अग्निः (१) — देवाः — वसन्तः — पितरः सोमः (२) — पितरः — शरन् — पितरः अग्निः (३) — देवाः — भीष्मः — पितरः सोमः (४) — पितरः — हेमन्तः — पितरः अग्निः (५) — देवाः — वर्षाः — पितरः सोमः (६) — पितरः — शिशिरः — पितरः	वसन्तः (१) — २ भीष्मः (२) — २ वर्षाः (३) — ३	पृथुतवः-पितरः अन्नादाः-उत्तरायणस्थाः उत्तरसंस्थाः-अमृताः-चान्द्राः (पितृदत्तश्रद्धात्मका-यजमानः) (देवयज्ञानुगताः)
शरन्-हेमन्तः-शिशिरः इति पितरः	सोमः (७) — पितरः — शिशिरः — पितरः अग्निः (८) — देवाः — वर्षाः — पितरः सोमः (९) — पितरः — हेमन्तः — पितरः अग्निः (१०) — देवाः — भीष्मः — पितरः सोमः (११) — पितरः — शरन् — पितरः अग्निः (१२) — देवाः — वसन्तः — पितरः	शिशिरः (१) — २ हेमन्तः (२) — २ शरन् (३) — २	पृथुतवः-पितरः अन्नानि-दक्षिणायनस्थाः दक्षिणसंस्थाः-मर्त्याः-पार्थिवाः (काम्याः-अयज्वानः) (महासङ्गीतानुगताः)

गृह्य-सौम्य-मनोमय-पार्थिव-भौम-थोपपातिक-अन्नात्मक-भोग्य-शरद्धे मन्तशिशिरऋतुमय-मर्त्य-प्रेतपितर जहाँ उत्तर से चलकर दक्षिण में प्रतिष्ठित होते हैं, वहाँ चान्द्र-बुद्धिमय-आन्तरिचय-नित्य-अन्नादात्मक-भोक्ता-वसन्तभीष्मवर्षाऋतुमय-अमृत-सापिण्ड्यपितर दक्षिण से चलकर उत्तर में प्रतिष्ठित होते हैं। रात्रिजागरणमय गृह्यपितर प्रकृत्या क्योंकि — 'दक्षिणसंस्थ' हैं, गृह्यपितृकर्म से लृप्त पितर आशीः प्रदान करते हुए सपरिवार-स्वायान्तर शक्तिसहित-दक्षिणदिशा की ओर ही अभिमुख हो जाते हैं, एवं चतुर्थ महासङ्गीत के अन्तिम — 'पितरं बालाभोला-थो-जी असीस' इस भाव से एक प्रकार से पितृकर्म समाप्त है। अतः यही लृप्त पितर दक्षिणभिमुख बन जाते हैं। भावात्मक पितृकर्म

÷ 'पितृपणिः' की व्याख्या करते हुए भगवान् ऐतरेय कहते हैं — "अन्नं वै पितु । दक्षिणा ( दिक् ) वै पितु । ताननेन ( मन्त्रेण ) सनोति । अन्नसनिमेवैनं करोति" ( ऐ० ब्रा० ३।२। ) । स्पष्ट ही अन्नात्मक गृह्य पितरों का दक्षिणसंस्थत्व प्रमाणित हो रहा है ।

यद्यपि चतुर्थ पद्य पर ही उपरत है। किन्तु भूतात्मक पितृकर्म (मूर्त्ति-पातङ्गी-स्थापनात्मक कर्म) शेष है। तदवधिपर्यन्त इन पितरों का अभी यहीं ठहरना आवश्यक है। भावात्मक अतिथ्यकर्म से दक्षिणाभिमुख बन जाने वाले पितर मूर्त्तिस्थापनावधि से पूर्व ही इस स्थान से चले न जायें, इसी अभिव्यक्ति के लिए, साथ ही परोक्षरूप से पितृपरिवार की संस्थानुगत भाववृत्ति के माध्यम से स्तुति करने के लिए ही प्रस्तुत पञ्चम महासङ्गीत का आविर्भाव हुआ है। और यही 'दक्षिणा-दिग' अनुगत—'दिक्खण म मत न जाओ सा' का नेगमिक आम्नाय है ॥

पितृपरिवार के उच्चेष्ट श्रेष्ठ पितृपुरुष 'श्मशान' नाम के भोक्ता 'एको रुद्रो न द्वितीयाय' वाले भगवान् मूलरुद्र ( पशुपति-भूतपति-भूतनाथ-श्मशानवासी भूतप्रेतगणोपसेवी-सहारात्मक ताण्डवनृत्यपरायण ) हैं। इन मूलरुद्र भगवान् को ही इन के चान्द्र (आय्य) सहकृत पार्थिवभूत समन्वय से 'भौम' कहना अन्यर्थ बनता है, जिस 'भौम' ( मूल पार्थिव रुद्रपितर ) रुद्र का प्राकृतिकरूप ही 'भोमियाँ' है। 'इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा' ( शत० १८।१।२।१८ ) 'अग्निनामानि-भूवपतिः, भूवपतिः, भूतानांपतिः' ( शत० १।३।३।७४ ) 'एष देवो रुद्रोऽभवत् । तदस्यैतत् भूतयन्नाम्' ( तैत्ति० ३।३३ ) "रुद्रोऽभिमन्येत-अग्नयं रुद्रयते पुरोडाशमष्टकपालं निरुप्य-अथ-भौम-मेकपालं निरुप्य-अन्यमालभेत" ( ताण्ड्य० २।१।१।१४ ) इत्यादि निगमवचन पद्य ही पार्थिव भूताधिपति मूलरुद्र का भूतविवेचन भौमव्य प्रमाणित कर रहे हैं, जो भौम ( भोमियाँ ) रुद्र-अपने परिवार में सर्वतः अग्रणी माने गए हैं, जिस इस वेदान्ताय का ही भाषान्तर है—'आग आग भोमियाँ जी'। जैसे देवमण्डल-देवपरिवार-में—'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' रूप से देवप्रमुख अग्नि आगे आगे चलते हैं, तथैव पितृमण्डल में भौम ( मूल एकाकी ) रुद्र ही आगे आगे चलते हैं।

'पाछ पाछ कुछ चाल छ' ? प्रश्न का उत्तर भी यही मूर्त्ति-पातङ्गी भुक्तियों (कुलस्त्रियो) से पृष्टिए, ममाधान प्राप्त हो जायगा। मूलरुद्र के चान्द्रमोमनिबन्धन जहाँ १४-२१-४२ अवान्तर विभेद हैं, वहाँ स्थानुगत अग्निप्राणनिबन्धन ११ अवान्तर विभेद भी सुप्रसिद्ध हैं। एकादशाक्षर त्रिष्टुप्छन्द ही—'त्रिष्टुप्छन्दाणां पत्नी' ( गौ० ३० ३।६ ) के अनुसार रुद्रपत्नी है। एकादशाक्षर त्रिष्टुप् के समन्वय से ही मूलरुद्र ११ तूलभागों में परिणत हो रहे हैं। 'अर्थन-इन्द्र-दक्षिणस्यां दिशि रुद्रा अभ्यपिञ्चन्

- \* (१) 'दक्षिणावृद्धि पितृणाम्'—( तै० १।३।३।३१ )—'पितृणां वा एषा दिक्-पदक्षिणा' ( प. ३।१ )  
 'दक्षिणसंस्थो वै पितृवजः' ( गौ० ३।७ ) ( इति नु-अन्नादपितृणामवमानमंस्था )  
 (२) 'उत्तग इ मोमो राजा (चन्द्रमाः)' ( ऐत० १।१ ) 'पदुत्तरतो वांसि, सोमो राजा भूतो  
 सामि ( तै० ३५० आ० ३।२।१८ ) 'इति नु-अन्नादपितृणामवमानमंस्था )।

भोज्याय' ( ऐत० ८।१।४। ) इत्यादिरूप से दक्षिणादिक् ही इन रुद्रों का गमन-आवास-विश्रामस्थान है। एकादश इन दक्षिणसंस्थ चान्द्रसोमसद्वृत्त ४ मूलरुद्रों के लिए ही काम्य-महाहविर्भाग में— 'रुद्रा एकादशकपालेन माध्यन्दिने सवने' ( जै० १४।१।१।१। ) इत्यादिरूप से एकादशकपाल पुरोडाश का निर्वाप विहित है।

ऋक ११ रुद्रों में अन्तिम रुद्र (ग्यारहवें रुद्र) ही 'महावीर' रुद्र हैं, जिनके अवतार माने गए हैं भगवान् मारुति (बजरंग-यज्ञाङ्ग-बालाजी हनुमान्)। सुप्रसिद्ध और धर्मयागापरपर्यायक प्रवर्ग्य-नामक 'महावीरयाग' का मूलाधार ये ही द्विधरीपैथानीय ११ वें रुद्रभगवान् हैं, जिन का यों स्वरूप-विरलेषण हुआ है—

“स यः स विष्णुर्यज्ञः सः। स यः स यज्ञोऽसौ स आदित्यः। स तिसृधन्वमादाय—  
अपचक्राम। स धनुरात्न्या शिर उपस्तम्य तस्थौ। ताह वम्रथ ज्यामपिजलुः। तस्यां क्षिपायां  
धनुरात्न्यां विष्णोः शिरः प्रविच्छिदतुः। तद् 'धृङ्' इति पपात। तस्माद् धर्मः। यत्  
प्राशृज्यत-तरमात् प्रवर्ग्यः। ते देवाः अम्रुवन्-‘महान् वत नो वीरोऽपदि’ इति। तस्मान्  
महावीरः”।

— शत० १४।१।१।१-१२।

“वम्रथः” ( दीमक ) द्वारा उस धनुष की मनादुग्धी प्रत्यक्षा के द्वारा-जिस पर कि मस्तक रख कर ( यज्ञात्मक ) विष्णु सो गहे थे—मस्तक के ढट जाने से-‘धृङ्-ङ्’ इस घोष के साथ वह मस्तक गिर पड़ा। वही धर्मयाग कहलाया, वही 'महावीर' माना गया। इस यज्ञात्मक महावीरतत्त्व से रुद्र का तो क्या सम्बन्ध ?, रुद्र का सम्बन्ध इससे मान भी लिया जाय तो, लोकमान्यतानुगत 'बजरंगबली-हनुमान् हठीले' के साथ यज्ञमूर्ति महावीरयाग का क्या सम्बन्ध ?, ( क्या केवल 'महावीर' नामसाम्य ने ही इस अन्ध श्रद्धा के समन्वय का विफल प्रयास हो रहा है ?। तब तो सर्वनिषेधवादी जैनी अपने 'महावीरजी' को भी वेदशास्त्रसम्मत घोषित क्यों न कर दें ?। यह कैसा नैगमिक आन्नाय है ?। तभी तो हम इन सब प्रपञ्चों को अद्वैदिक होने से अमान्य ठहराते हैं” अभिनिविष्ट वेदभक्त की इस परध्यामोहक आपातरमणीयता का हम लोकसंग्रहधिया स्वागत ही करेंगे। किन्तु 'अर्द्धचन्द्राकार-प्रदान' ही इस स्वागत की परिणामानुगता महान् व्याख्या होगी। और इस स्वरूपानुगत स्वागत के लिए वे वेदभक्त हमें 'योग्यं योग्याय' के आधार पर क्षमा ही कर देंगे, ऐसी है हमारी आस्था उन अभिनिविष्टों के प्रति।

प्रथम ही उच्छिष्ट है, जिसका 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः-उच्छिष्टाञ्जिरे सर्वम्' इत्यादि रूप से ईशविज्ञानमात्र प्रथमस्रष्ट में विस्तार से निरूपण हुआ है। विष्णु यज्ञ है, यज्ञ आदित्य है— 'स यः स यज्ञः, असौ स आदित्यः' से प्रमाणित 'अग्निरु वै यज्ञः, अग्निर्वा रुद्रः' भी नैगमिक ही वचन हैं। 'उच्छेपणभागो वै रुद्रः' ( तै० १।७।८।५ ) तो स्पष्ट ही रुद्राग्नियज्ञ की घर्मयज्ञता, महावीरत्व प्रमाणित कर रहा है। अब विवाद शेष है 'वज्ररंग' और 'बाला' शब्दों का। 'वज्राङ्ग' (वज्रसम पटोर-क्रोधाचिष्ट-निर्हय) ही वज्राङ्ग के फलितार्थ हैं, जिन का प्राकृतरूप है—'वज्ररंग'। 'बाला' शब्द 'बाल' भाषानुगत उस सौम्यभाव का सूचक है, जिसका 'पितर बाला भोला' इस चतुर्थ महासङ्गीत वाक्य में समन्वय किया जा चुका है। तत्काल आविष्ट-क्रुद्ध होकर संहार करने लग जाना रुद्र की घोर आग्नेयीतनू का जहाँ सहज स्वभाव है, तथैव स्तुति-विद्वान् द्वारा तत्काल प्रसन्न होकर संरक्षण करने लग जाना रुद्र की शान्त-सौम्य-अघोर तनू का सहज स्वभाव है। घोरतनू से रुद्र वज्राङ्ग हैं, तो अघोरतनू से रुद्र शिव बनते हुए सर्वथा बालभावापन्न-सौम्य-भोलानाथ हैं। यही तो 'क्षणे रुद्राः-क्षणे तुष्टाः' विरुद्धभावानुगत शिव, किंवा रुद्रपरिवार का सर्वाधिक वैलक्षण्य है। स्वयं रुद्र में यदि विरोधी भावों का समन्वय है, तो तत्परिवार की भी यही स्थिति है। पिता का बाहन वृषभ, तो माता का बाहन सिंह, दोनों में सहज द्वैत। पुत्र गणेश का बाहन मूषक, तो पुत्र कुमार का बाहन मयूर, पिता के आमूषण सर्प, सर्प-मयूर-मूषक में परस्पर कोई मैत्री नहीं। सर्वविरोधों का एकत्र समसमन्वय ही तो 'शिवभाव' का जनक बना करता है। विरोधात्मक निषेध ही जिन अभिनिविष्टों का मुख्य पुरुषार्थ है, वे कैसे रुद्रानुगत पितृपरिवार का स्वरूप बोध प्राप्त कर सकते हैं।

रुद्र-त्रिष्टुप्-माध्यन्दिनवन-सविता-आदित्य-पञ्चदशस्तोम-यज्ञ-चन्द्र-भूतसर्ग-आदि शब्दों का नैगमिक इतिहास (वैज्ञानिकस्वरूप) जब तक जान नहीं लिया जाता, तबतक भारतीय किसी भी वैदिक-लौकिक आम्नाय का समन्वय कर लेना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। आन्तरिच्य पञ्चदशस्तोम को ही निगमपरिभाषा में 'वज्र' कहा गया है। रुद्र आन्तरिच्य है, इनका त्रिष्टुप् छन्द आन्तरिच्य है, इनका सवन माध्यन्दिन (मध्याह्न) है। और यही अन्तिम रुद्र की-महावीर रुद्र की-वज्राङ्गता है, जिसका निम्नलिखित श्रौत तत्त्वों के आधार पर स्वरूपबोध प्राप्त करने का प्रयास करते रहें वे आर्या-श्रद्धाशून्य श्रमिर्निविष्ट आकल्पान्त, तथापि 'मनस्खलन तिनकाकमी सम्भव नॉहि सुज्ञान'—

“द्वितीयमहरन्तरिक्षलोकः, आयततेनेन्द्रः। त्रिष्टुप्। पञ्चदशस्तोमः। बृहत्साम। वज्रवद्रूपम्। दक्षिणां दिशम्। ग्रीममूतूनाम्। मरुतः। (साङ्ख्यन ब्राह्मण-२.२।२।) 'मरुतो रुद्रपुत्राः' ( तत्पुत्रः-मारुतिः-हनुमान् )।

\* 'अर्द्धमास एव पञ्चदशस्यायतनम्' ( शत० १-१६।४ )—'वज्रो वै पञ्चदशः' ( तै० १६। २।५ )— 'पञ्चदशो हि वज्रः' ( शत० १।३।३।५ )।

तद्विधं—मूलरुद्र के अवान्तर रुद्र वसाङ्ग—वाला प्रमुख ( महावीरप्रमुख ) बने रहते हुए—  
अग्रगामी दक्षिणपथसञ्चारी मूलरुद्र के पीछे पीछे गमन किया करते हैं, यही भाव, यही नैगमिक  
सिद्धान्त—‘पाद्य वज्ररंग वाला’ इस महासङ्गीत से अभिव्यक्त हुआ है।

अथ क्रमप्राप्त चतुर्थ ‘भैरवनाथ’ शब्द के नैगमिक समन्वय की ओर पाठकों का ध्यान आक-  
र्षित किया जाना है। रुद्रपत्नी महामाया \* जगदन्वा दुर्गा से प्रसूत तमोगुणप्रधान सर्ग ही रुद्रसृष्टि  
कहलाई है, जिसे भीषणभावात्मिका होने से ‘भैरव’ कहा गया है। महाभयावहा पार्थिवी रुद्रसृष्टि ही  
‘भैरव’ है, जिसकी भयानकता आगमानुगत रुद्रसर्ग में बड़े आटोप के साथ उपरिणत है + ।  
‘भीरयता’ ही भैरव की भीरयता है ( + ) । रुद्रगणरूप से भी आगमशास्त्र में बड़े ही विस्तार के साथ  
इस भैरवविचर का उपबृंहण हुआ है। यह सब कुछ शुक्ल-कृष्णपञ्चामक चान्द्रसर्ग का ही पार्थिव  
विस्तार है। इसी आधार पर आगमने अनेकधा विभक्त भी भैरवसर्ग के कृष्णपञ्चानुगत ‘कृष्णभैरवसर्ग’,  
शुक्लपञ्चानुगत ‘शुक्लभैरवसर्ग’ नाम से दो ही मुख्य विचर माने हैं, जैसाकि, भैरवयरोपर्यन्तात्मक  
लोकगीतों की—‘काला-गौरा न मनावौं, अजन गारा न र मनावौं ए, चालो ए सहेय्यो आपौं  
भैरू न र मनावौं ए’ इत्यादि भावव्यञ्जनाओं से भी स्पष्ट है, जिसका आगमान्नाय उत्तरपृष्ठ से  
गतार्थ बन रहा है—

\*-साम्प्रिधं तत्र राजेन्द्र ! रुद्रपत्न्या कुरुडह ।

शमिगम्य च तां देवीं न दुर्गतिमवाप्नुयात् ॥ ( महाभारत ३।२३। ५८५ ) ।

—ततः श्रुत्वा महातेजाः सर्वज्ञः परमेश्वरः ( रुद्रः ) ।

शुकोप सुभृशं देवो वाक्यञ्ज्नेदमुवाच ॥१॥

अहं पूर्वन्तु कविना ( भार्गवचान्द्ररुद्रेण ) सृष्टः सर्वार्थमना विभुः ।

प्रजाः सृजस्वेति तदा वाक्यमेतच्छ्रुत्वा ॥२॥

एवमुक्त्वा भृशं कोपाब्जनाद परमेश्वरः ।

तस्य वा नदतो ज्वालाः श्रोत्रेभ्यो ( दिग्भ्यो ) निर्य्ययुस्तदा ॥३॥

तत्र भूतानि वेताला उच्छ्रुत्वाः प्रेतपूतनाः ।

कृष्माण्डा यातुधानाश्च सर्वे प्रज्वलिताननाः ॥४॥

—चराहपुराण ।

× “भयङ्करो रवो यस्य-स भीरवः” अणुप्रत्ययेन ‘भीरव’ एव भैरवः । तेन सर्वे पार्थिवा  
देवाः—भीषयमाणा अतिष्ठन्” ।



.....तस्यां तु सद्यो जातं सुतद्वयम् ॥

ततस्तपोर्नामचक्रं नारदो वचनान्वृष !

ज्येष्ठो भैरवनामाभूत् भीरोः पुत्रो भयङ्करः ।

चेतालसदृशः कृष्णो वेतालोऽभूत्, तथापरः... ( शुक्लः )

—इत्यादि कालिकापुराण ४६ अ० ।

पार्थिव मूलरुद्र प्राणप्रधान है, तत्पुत्रस्थानीय तूलरुद्रगणात्मक पार्थिव रुद्र भूतप्रधान है । प्राणरुद्र पृथिवी पर 'भूत' रूपात्मक भैरव रूप से ही पार्थिव प्रजा को अपने संहाररत्मक भीष्णरूप से विकल्पित करने हुए इतर भूतप्रजा ( प्रेतभूतवर्ग ) पर अनुरासन करते रहते हैं । पृथिवी में मूल-प्राणरुद्र की उपलब्धि भूतप्रधान भैरवरूप से ही हुई है, अतएव रुद्रपेक्षया भैरव ही ( गणदेव ही ) विशेषरूप से लोकमान्यता के अनुगामी बने हुए हैं, अतएव 'ध्वजा' इन्हीं की मानी जाती है । भण्डा इन्हीं का फहरा रहा है पार्थिवप्रजा पर । तभी तो इनका 'भण्डो भैरूनाथ को' इत्यादि रूप से उपवर्णन हुआ है ।

इसी सम्बन्ध में एक प्रासङ्गिक विशेष आम्नाय की ओर भी इसलिए आस्तिक भारतीय प्रजा का ध्यान आकर्षित करना सामयिक बन रहा है कि, गतानुगतिक वर्त्तमान युग का युगधर्माक्रान्त भारतीय मानव उत्तर से—'भँडा ऊँचा रहे हमारा' का निनाद करता हुआ 'राष्ट्रियध्वज' रूप से, 'भण्डोचोलेन-भण्डाभिषादन-ध्वजारोहण', आदि आदि रमणीय भावनाओं के माध्यम से अपना 'ध्वजा' राग अभिव्यक्त करता हुआ नहीं अघाता । सुत्यागत है राष्ट्रप्रेमानुबन्धिनी इस भण्डाभिव्यक्ति का, जिसके वर्त्तमान राष्ट्रियध्वज में 'वर्णत्रयी' समन्वित है, अतएव जो राष्ट्रध्वजा 'तिरंगा भण्डा' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है । भारतीय निगमानुगता आम्नाय ने भी बड़ विस्तार से 'ध्वजारोहण' की मान्यता प्रदान की है । किन्तु यह मान्यता केवल गतानुगतिक नहीं है, नाहीं किसी बौद्ध-तदनुगामी अशोकदि मन्द-धादपरम्परा का भावुकतापूर्वक समर्थन करने वाली ही है । अपितु भारतीय राष्ट्रियध्वजा का मूल है वह भारतीय निगमागमसम्मत शाश्वत सनातनधर्मानुग्राहित सनातन आम्नाय, जिस आम्नाय में देश-पाल-पात्र-द्रव्य-भद्रा-वर्ण-आधम-देवता-भूत-आदि आदि के विभिन्न स्वरूपों के आधार पर विभिन्न ध्वजाओं की ही प्राकृतिक व्यवस्था हुई है, जो एक स्वतन्त्र विषय है, एवं आम्नायनिष्ठ आस्तिक भारतीय के लिए सर्वात्मना विधेय । जयपुर राज्य का ध्वजादण्ड लोकनीति, धर्मनीति, दो विभिन्न भागों के माध्यम से दो स्वरूपों में विभक्त है ( था ), जो गतानुगतिक आवेशानुमह से कुछ समय के लिए विन्मृत बना दिया गया है । पञ्चविध यवनभ्राण के विजयोपलक्ष से सम्बन्धित 'पचरंग भण्डा' जहाँ लोकनीति का समर्थक था, वहाँ जयपुर की स्थिरभावपन्ना सुवर्ण-राजनीमुद्राओं ( सोने की मोहर-पाँदों का स्पष्ट-अष्टमी-चवथी-दुपथी मुद्राओं ) में 'वृद्धध्वजा' समाविष्ट थी, जो सूर्यवंश का प्रतीक

थी। भगवान् रामने कुलाम्नायसंरक्षण का आदर्श उपस्थित करते हुए वनगमन किया, यहाँ सर्वप्रथम जिस 'काञ्चनार' ( कचनार ) वृक्षच्छाया में राम ने विश्राम किया, आगे चलकर रामवंश ने इस पावन स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए काञ्चनारवृक्ष को ही सूर्यवंश की ध्वजा का प्रतीक मान लिया, जैसाकि— 'काञ्चनारध्वजो राजा' इत्यादि से स्पष्ट है। वही सूर्यवंशात्मक-ध्वजाप्रतीक निगमाग्नायनिष्ठ जयपुर-राजवंश की राजमुद्रा में 'वृक्षध्वजा' रूप से संगृहीत हुआ, जिस वृक्ष का प्रान्तीय नाम है—'भाड़'। इसी से यहाँ की मुद्रा ( सिक्का ) 'भाड़शाही' ( वृक्षयुक्ता ) कहलाई। भगवान् कृष्ण की रथध्वजा में 'गरुड़' ( सुपर्ण ) समाविष्ट था, अतएव ये 'गरुड़ध्वज' कहलाए। महावीर अर्जुन की ध्वजा में भगवान् महावीर ( मारुति ) समाविष्ट थे। उपासनाकाण्ड में भी तत्तत्-प्राणदेवताओं के स्वरूपभेद से विभिन्न ध्वजाएँ उपर्याप्त हैं, जैसा कि—'काकध्वजरथारुढ़ा' इत्यादि से स्पष्ट है। जोधपुरराज्य की ध्वजा में खचित 'चिह्न' ( चील-आकारा बिचरणशील वृहदाकार पक्षी ) सुपर्णभाषापन्न भगवती भवानी का ही प्रतीक है। निवेदन का निष्कर्ष यही है कि, भारतीय आम्नाय में कुलधर्मभेद से विभिन्न ध्वजों का संग्रह सनातन है। पित्रदेवकर्म में प्रदत्त ध्वज रक्षणीता है, जैसा कि महासङ्गीत की कुलदेवी संस्मरणात्मिका प्रथम पावनस्मृति में 'राती पीली धजाए छद्वावला' इत्यादि रूप से स्पष्ट कर दिया गया है। सिंहरुढ़ा, कपिसंस्था, वृषसंस्था, हंससंस्था, मयूरसंस्था, गरुत्मगा, महिषस्था, पद्मधा, प्रेतस्था, आदि आदि रूप से विभक्त विभिन्न ध्वजाओं के विभिन्न फल हैं। इसी ध्वजाग्नाय की अनिवार्यानुगति का समर्थन करता हुआ शास्त्र कहता है—

१—यावन्नो दीयते शुक्र ! ध्वजः प्रासादमूर्द्धनि ।

• तावच्च न भवेत्-वत्स ! प्रासादो देववाञ्छितः ॥

२—शून्यध्वजं सदा भूता नानागन्धर्वराक्षसाः ।

विद्रवन्ति महात्मानो ( सोम्यासः ) नानावाधान् च कुर्वते ॥

३—तस्माद् देवगृह-द्वार-पुर-पर्वत-पचने ।

उच्छिन्नाः शान्तिकामाय ध्वजाः शुक्र ! सदा हिताः ॥

आन्तरिदय रुद्रपरिचार में रुद्र-रिवार के प्राकृतिक ध्वजदण्ड का-नियतिर्लक्षण भयप्रदानात्मक दण्ड का-दण्डग्रहण का-उत्तरदायित्व है भीषयमाण, अतएव 'भैरव' नाम से प्रसिद्ध रुद्रदेवता का, जिसके भय से त्राण पाने के लिए ही 'शान्तरुद्रिय' कर्म का आविर्भाव हुआ है। इसी ध्वजाग्नाय का महासङ्गीत के 'भ्रएडो भैरूँनाथ को०' इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। ध्वजसमन्वित इस भीषयमाण भैरवात्मक तलरुद्र का नैगमिक आम्नाय उत्तरपृष्ठ में यों अभिव्यक्त हुआ है—

“सोऽयं शतशीर्षा रुद्रः—सहस्राक्षः—शतेषुधिः—अधिज्यधन्वा—  
प्रतिहितायी—\*भीषयमाणः—अतिष्ठन् । तस्माद् देवा अभिमयुः” ।

—शत० ब्रा० ६।१।६।

अब सर्वान्त में ‘सातूँ भँगा’, वाक्य का समन्वय शेष रह जाता है। जैसा कि प्रस्तुत पञ्चम सङ्गीत के ‘भोमियाँ’ पद का समन्वय करते हुए पूर्व में अन्नाद-अन्नात्मक दो पितृसर्गों का दिग्दर्शन कराया गया था, वहाँ घसन्तादि शरदुपसंहारात्मिका पङ्क्तुसमष्टि का सम्बन्ध नित्य पितरों से (देव-पितरों से) यतलाया गया है। एवं शरदादि यंसन्तोपसंहारात्मिका पङ्क्तु-सर्माष्टि का सम्बन्ध औप-पातिक पितरों (पितृपितरों) से चतलाया गया है। अतएव रुद्रगणात्मक भ्रातृसर्ग की (१४ सर्ग की) स्वसा-स्थानीया (भगिनी-स्थानीया) अम्बिकाशक्ति का उपक्रम स्थान भी ‘शरद्’ श्रुत को ही माना गया है, जिसके उपलक्ष में ‘शरद नवरात्र’ में अम्बिकोपासना का आगमिक विधान सुप्रसिद्ध है। इसी दृष्टि से ‘शरत्’ को रुद्रस्वसा मान लिया गया है, जिन १४ स्वमात्रों में ७-७ के दो शुभों का पूर्व के चान्द्रसर्ग-व्याख्यान में स्पष्टीकरण किया जा चुका है। यही नैगमिक सप्तत्वम्वर्ग यहाँ ‘सातों भँगाँ’ हैं, जिन के लिए कहा गया है—‘अगवाणी सातूँ भँगाँ’। अम्बिका-शक्तिपुञ्ज ही रुद्रपरिवार-भ्रातृधर्म-को गतिशील बनाती है, वे इनसे आगे ही रहती हैं। यही इनका अगवाणी करना है। निगमान्ताय उत्तर-प्रश्नानुगत भूमिः यों से प्रसिद्ध ही है—

ॐ प्रतीरुपिधानुगत उपांमनारहस्य में भैरव का वादन ‘श्वान’ माना गया है। श्याव-शवल नामक-हिंस्रक दो श्वानप्राण जिन श्वानप्राणियों में विशेषतः उद्बुद्ध रहते हैं, वे तो साक्षात् भैरवप्रतीक ही माने गए हैं। इनका रुदन अवश्य ही तनुप्रदेश में घटित होने वाली भावी अशुभ घटना का सूचक माना गया है। इस आवरण का श्वानरव बड़ा ही भीषयमाण-डरा देने वाला-होता है। ‘श्याव-शवल’ दोनों प्राकृतिक वे ‘श्वानप्राण’ हैं, जो ‘सारमेय’ नाम से भी व्यवहृत हुए हैं। प्रेतपितृपथात्मक अन्तरिक्ष ही ‘यमसदन’ है, जिसमें चतुर्दिक् रूप से ये दोनों प्राण मानों इस पथ से आने जाने वाली पितरप्राण के संरक्षक (पहिंदेदार) ही हैं। चतुर्दिक्स्थता ही इनका ‘चतुरस्रों’ (चार आँखों वाला) भाव है। इन प्राणों की प्रपातना से युक्त श्याव-शवल यक्षात्मक पार्थिव श्वानपशु (कुत्तों) के लिए प्रेतकर्म में बलिबिधान हुआ है। इस बलिप्रदान से वृत्त श्वानपशु सजातीय प्राणकर्षण-सम्बन्ध में श्वानरिदय श्वानप्राण की वृत्ति के कारण बन जाते हैं। एवं वृत्त श्वानप्राण यमपथ से आने जाने वाले प्रेतपितरों को कोई कष्ट नहीं पहुँचाने। इसी आधार पर आगमशास्त्र ने कहा है—

ॐ श्वानां श्याव-शवलां वैश्वतुल्योद्भवां ।

ताभ्यामथ प्रयच्छामि स्वावावेतावदिमकी ॥

—पुराण

(१)—अम्बिका ह वै नामास्य रुद्रस्य स्वसा ( भगिनी )

—शत० २।६।२।६।

(२)—शरद्धा अस्य रुद्रस्य अम्बिका स्वसा ।

—तै० ब्रा० १।६।१०।४।

(३)—शरद्धं रुद्रस्य योनिः ( उपक्रमविन्दुः ) स्वसाम्बिका ।

—मैत्रायणीसंहिता १।१०।

(४)—अम्ब्यी वै स्त्री भगा नाम्नी, तस्मात् अम्बिकाः ।

—काठकमंहिता ३६।१४।

दिव्यक्षण-भोगियाँ-यजरंगयाला-भैरुनाथ-सातूँ भैरों, इत्यादि दिग्देशानुगत १४-२१-४२ भागों में विभक्त विष्णुपरिवार को उपस्तुति चतुर्दशी की रात्रि में चौदह पथों में, अवान्तर ५२ पाक्यों

( २७६ पृष्ठ की टिप्पणी का शेष )

अभिनिविष्ट कहेंगे, “पुराण में तो इसी प्रकार की कल्पनाओं का साम्राज्य है, जो वेदविरुद्ध होने से केवल कल्पना ही है” । इन अभिनिविष्टों का संतोष करना इसलिए कठिन है कि, ये आन्ति से भी स्वप्न में भी कभी वेद पर दृक्पात भी तो नहीं करते । यदि वे निगम पर दृष्टि-निक्षेपमात्र भी कर लेते, तो इन्हें विदित हो जाता कि—‘निगमादागतः-आगमः’ निर्वचनानुगत आगम-पुराणशास्त्र का अक्षर-अक्षर निगम ( वेद ) आम्नाय से अंतर्गत है । क्या निम्न लिखित निगमवचनानुगत दोनों श्वानप्राण उन अभिनिविष्टों का उद्बोधन कराने के लिए पर्याप्त नहीं मान लिए जायेंगे—

अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ श्वलौ साधुना पथा ।

अथा पितृन्सुविदश्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ॥

यां ते श्वानां यम ! रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षौ नृचक्षौ ।

ताभ्यामेनं ( पितरं ) परिदेहि राजन्स्वस्ति चास्या अनमीवञ्च धेहि ॥

—श्रुक्संहिता १० मण्डल, १४ सूक्त,

श्रुति का ‘नृचक्षौ’ पद प्राणी श्वान के ( पार्थिवश्वान-कुत्ते के ) कर्त्तव्य का भी संग्रह कर रहा है । श्वान से बढ़ कर पथिरक्षिता ( द्वाररक्षक-गृहरक्षक-मार्गरक्षक ) दूसरा ओर कौन हो सकता है । अथर्वाप्राण का प्रकृत्या विज्ञाता श्वानपशु अथर्वाप्राण के अनुशायमात्र के माध्यम से स्तेयकर्मकर्त्ता नर ( चौर ) के अन्वेष्टण में सफलता प्राप्त कर लेता है । आन्तरिक्ष्य इन्द्रप्राण का अनुशाय भी इस श्वानपशु में, विशेषतः इसकी जिह्वा में प्रतिष्ठित रहता है । अतएव आम्नायानुगता प्राणीय चिकित्सा-प्रणाली में गहरे घावों पर दही डाल कर इसे श्वान की जिह्वा से चटा दिया जाता है, और इन्द्रप्राणानुगत अमृतसोम के अनुशाय से युक्त श्वानजिह्वा से घाव ठीक होता देखा गया है । इति नु प्रासङ्गिकम् ।

में संख्यानुरूपतापूर्वक जिस इस पञ्चम महासङ्गीत के द्वारा हुई है, उसकी पावनस्मृति के आधार पर दक्षिण की ओर गमनशील-गमनोत्सुक बने हुए पित्रपरिवार से—‘दिवसुख म मृत न जाओ सा’ इस प्रकार कुछ समय के लिए तन्त्र आवेदन कर अब अग्रिम पावनस्मृति के द्वारा मुख्यपितर (ज्येष्ठ-पुरुषरूप मूलपुरुष भौम-पार्थिव पितर-भोमियाँ) से साक्षातरूप से ही कुलस्त्रियों त जाने का आमह अभिव्यक्त करती हुई कहती हैं—

—४—

(६)—मुख्यपितृनिरोधात्मक महासङ्गीत की पष्ठ पावनस्मृति—

\* (१)—आप घरज भोमियाँ, थाँ की माय घरज जी ।

उस चाँबल पर भोम्याँ मत जाओजी ।

उस लिलड़ी र देस भोम्याँ मत जाओजी ।

काला खेलणी र देस भोम्याँ मत जाओजी ॥

\* जयपुर के प्रान्तों में यत्रतत्र इन आम्नायगीतों का स्वरूप प्रान्तभेद से परिषत्तित हो गया है, जिनका संग्रह भी यावद्वर्तमान माना जायगा । प्रस्तुत पष्ठ महासङ्गीत की प्रान्तीय विकल्पस्मृति का स्वरूप इस रूप से उपलब्ध हुआ है—

(१) भोमियाँजी हाथी न सिणगारो, आप हाथी ने सिणगारो जी ।

(२) आपाँ जपर स...र...म चालस्याँ जी ।

(३) भोमियाँजी जपर स...र...छ दुरो ।

(४) आपाँ तो कोटा स...र...म चालस्याँ जी ।

(५) भोमियाँजी कोटा का भलका म ‘झाँधा’ छान दीखो जी ।

(६) भोमियाँजी घूँदी का भलका म ‘वरा’ छान दीखो जी ।

(७) भोमियाँजी गोटा तो चेंड़ा, दुनियाँ छान दुलख जी ।

(८) भोमियाँजी हाथी न सिणगारो जी ॥

—६—

“हे भौमदेवता ! आप हाथी को अलङ्कारभरणयसन से सुशोभित करें । हम ( आपके साथ ) जयपुर शहर में चलेंगे । ( नहीं नहीं ) जयपुर तो यहाँ से ( अपने प्रान्त में ) बहुत दूर पड़ेगा, अपने तो ( समीप के ) कोटा शहर में ही चलेंगे । हे भौमदेवता ! आप ( गजारूढ़ बने ) कोटा में विचरते हुए यहाँ के चारुचिक्क में हमें ‘अन्धे’ प्रतीत हो रहे हैं, घूँदी के चारुचिक्क में हमें बहिरे प्रतीत

(२)—नहीं हॉला बापजी, हॉ नहीं हॉलॉ ए मायइ नहीं हॉला ए ।

झारी चढ़ी असपारी अमलो प्यारो लाग जी ।

झारा सेलझा भलक छ बालू + रेत माँई जी ।

झारा साथीझा खझा छ चम्पा बाग माँई जी ।

झारी जीत का नगारा च्यारू फूँट बाज जी ॥

(३)—भाई वरज भोमियाँ, थाँकी भावज वरज जी,

उस बाँवल पर०

(४)—नहीं हॉला भाई जी, हॉ नहीं हॉला ए भावज नहीं हॉला रा ।

झारी चढ़ी असपारी० ॥

हो रहे हैं । हे भौमदेवता ! हम आपके ( सम्मान में ) गोटा-किनारी लगा रहे हैं, ( आपका शृङ्गार कर रहे हैं—इस प्रकार हम सर्वात्मना आप की रहती हुई भी संसार की दृष्टि में वैभव से युक्त हैं, (अतएव) संसार हमें ( यह कह कर कि, क्या मिल गया तुम्हें भौमदेवता की आराधना से ) तिरस्कृत कर रहा है । ( क्या अब भी संसार हमारा यों ही तिरस्कार करता रहेगा, जब कि हमने आपका आश्रय ले लिया है ? कभी नहीं, सर्वथा नहीं । ”) अद्वैतमन न आँख रखता, न कान । न वह आँखों से परीक्षण करना चाहता, न कानों से परीक्षणालिका व्याख्या सुनने को ही आतुर बनता । अपितु अन्ध-बधिर बन कर आम्नायपरम्परा के सम्मुख नतमस्तक होकर प्रणतभाव से अद्वैतपूर्वक देवपितृकर्म में आत्मसमर्पण किए रहता है ! यही स्थिति प्राणायामक देवपितरों की है । अद्वैतपूर्वक अनुगति रखने वाला उपासक कैसा है ?, साधु है—अथवा असाधु ?, यह प्रश्न सीमांसा यहाँ नहीं है । उनका सहज अनुग्रह अद्वैताध्यममात्र से सब श्रेष्ठि के कुल प्राप्त कर सकते हैं । “अपि चेतुदुराचारी भजते मामनन्य-भाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्पन्न व्यवसितो हि सः” ( गीता ) - “यो यच्छ्रद्धः, स एव सः” इत्यादि सिद्धान्त सुरसिद्ध हैं । ‘ज्ञान आँधा दीखोजी-बहरा दीखोजी’ का यही रहस्यार्थ है, जो सहजरूप से सहजभाषा में-कुलदेवियों के सहज मह सङ्गीत में अभिव्यक्त हुआ है, जिस की रहस्यदिशा का पूर्व में भी सङ्केत हो गया है ।

+ दक्षिणदिशा आग्नेयी है, अतएव सीमा उत्तरदिशा की अपेक्षा रुक्ता है । यही दक्षिणदि-गनुगता सृष्टि की कृष्णवर्णता, तथा उत्तरदिगनुगता प्रजा की गौरवर्णता का रहस्य है, जिस का शतपथभाष्य में विस्तार से विश्लेषण हुआ है । दक्षिण आग्नेयी रुक्ता दिक् की रुक्ताता का स्पष्ट प्रतीक है रुक्ता बालुका ( बालुरेत , जो हमारी मरुभूमिका का भी हृदय है, एवं हमारा आत्मा । दक्षिण का लम्बलम्बायमान सुप्रसिद्ध ‘सहारा’ नामक मरुस्थल भी प्रसिद्ध ही है । दक्षिणदिगनु-गता यह रुक्ताता ‘झारा सेलझा (त्रिशूल) भलक छ बालू रेत माँई जी’ द्वारा अभिव्यक्त हुई है ।

- (५)—भण वरज भोमियाँ, थॉकी भण वरज जी,  
उस चाँवल पर० ॥
- (६)—नहीं हॉला भण ए हारी नहीं हॉला ए ।  
हारी चढ़ी असवारी० ॥
- (७)—जोय वरज भोमियाँ थॉकी जोय वरज जी,  
उस चाँवल पर० ॥
- (८)—नहीं हॉला गोरी ए हो नहीं हॉला ए,  
हारी चढ़ी असवारी० ॥

—६—

(१)—हे भौमदेवता ! आपके पिता माता आपको रोक रहे हैं । इसलिए आप ( हमारे नगर की ) नदी के उस पार ( अभी ) न जायें । उस मायावी देश में आप न जायें, उस सर्वक्रीड़ा \* करने वाली के देश में आप न जायें । ( २ )—हे पिता, हे माता ! अब हम यहाँ नहीं रहेंगे, ( नहीं रह सकते ) । हमारा सैन्यबल अब सजीव हो गया है, हम अश्वारूढ़ बन चुके हैं ( घोड़े चढ़ चुके हैं, ) अब हमें हमारा सैन्य ही प्रिय लग रहा है । हमारे अस्त्र शस्त्र इस बालुकायम तेज में चमक रहे हैं । हमारे सहचर चम्पाबाग में खड़े हुए हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । हमारे विजय का निनाद—उद्योप—चतुर्दिक् में व्याप्त हो चला है ( ऐसी स्थिति में हम अब अधिक इस गृह में कैसे ठहर सकते हैं ) । ( ३ )—हे भौमदेवता ! आपके भ्राता, आपकी भ्रातृपत्नी आपको रोक रहे हैं । इसलिए तो आप रुकें । ( ४ )—हे भ्राता, भ्रातृपत्नी ! हमें पस्तुतः अब नहीं रुक सकते० । ( ५ )—हे भौम देवता ! ( देखिए ) ये आपकी कनिष्ठ बहिनें आपसे आमह कर रही हैं कि, आप थोड़ी देर और ठहर जायें । ( ६ )—हे प्रिय-भगिनियों ! ( तुझी यत्ताओ ! ) अब हम कैसे ठहर सकते हैं । ( ७ )—हे भौमदेवता ! ( उधर देखिए ) यह आपकी पत्नी आपसे रुक जाने का आमह व्यक्त कर रही है ( इसलिए तो आप रुक जाइए ! ) ( ८ )—हे पत्नी ! ( तुझी सोचो तो भला कि, इस साज सज़ा के अनन्तर भी क्या कोई पुरुष ( पत्नी के आकर्षण से ) घर में रहा है ? ( निष्कर्षतः भौम देवता को दक्षिणपथानुगमन करना ही है ) ।

पूर्व में सांक्ष्यभिमत पितृपरिवार का स्वरूप विश्लेषण किया जा चुका है—( देखिए पृष्ठ संख्या २२४..... ) । चान्द्रसम्बत्सरात्मक ध्रुवोक्त चतुर्दशविध भूतमर्ग का पिता है, चान्द्री पृथिवी माता है, पार्थिव भूलरूढ़ ज्येष्ठपुत्र स्थानीय ( जिनके चतुर्दशविध गणात्मक-परिवारत्मक विभाग हैं ) भौमपितर हैं । शेष पार्थिवमर्ग कनिष्ठभ्राता, भ्रातृपत्नियाँ, स्वमूर्ध्वग ( भगिनियाँ ), एवं पत्नियाँ हैं । इन सबके माध्यम से ही लोकाभावनानुगत-लोकमान्या-आग्रहभावना के माध्यम से इतस्त्रियाँ कुछ समय के लिए ( मूर्तिस्थापनावधिपर्यन्त के लिए ) और यहाँ रोक लेने की भावना अभिव्यक्त कर रही हैं, आठ

\* दिति-अदितिभूलक मुप्रसिद्ध 'सौपर्णाख्यान' में असुरमाता दिति दक्षिण में प्रतिष्ठित है, एवं यह सर्वप्राणमयी है । इसी आधार पर 'धरला खेलणी र देस०' इत्यादि भाव अभिव्यक्त हुआ है ।

पद्यात्मक महासङ्गीत से। 'अष्टाक्षरा वै गायत्री-या वै सा गायत्री आसीदियं वै सा पृथिवी' ( शत० १।४।१।३४।... ) रूप से आपः-फेन-मृत-सिक्ता-शर्करा-अश्मा-अयः-हिरण्यरूपा अष्टावयवा पृथिवी (भूमि) गायत्र अष्टावयव-सम्पत्ति से युक्त है। पार्थिव भौम पितर भी इस दृष्टि से अष्टावयव-सम्पत्ति से युक्त हैं। संख्यासम्पत् के संग्रह के लिए इस सङ्गीत में आठ पद्य समाविष्ट हुए हैं।

\*दक्षिणादिक् असुर-राक्षसप्राणों का आवासस्थान दिक्-माना गया है। ये हमारे गृह्य भौम पितर दक्षिण की ओर वायव्यप्राणरूपेण-शरीरेण-आक्रमण करने वाले असुर-राक्षस-नाश्रुगणों की दक्षिणदिशा की ओर उन्हें जाते हुए नष्ट करते हुए हमारे (इनके अपने ही) परिवारों का संरक्षण करते रहते हैं - । भौम पार्थिव पितर इन्हीं आरसुमायों को शीघ्र से शीघ्र परास्त कर हमारे परिवारों को सुरक्षित बनायें, यही कामना शस्त्रास्त्रसुसज्जित भौमपितर के मुख से अभिव्यक्त कराई गई है।

—६—

(७)-कुलानुगता महासती के संस्मरणात्मक महासङ्गीत की सप्तम पावनंस्मृति

- (१)-सत्ती क दरवार चम्पा फूल रही द्वारी द्वाय
- (२)-यो कुण तोड़ फूल, या कुण द्वार गुँथ द्वारी माय
- (३)-हरिचन्द्रजी तोड़ फूल राण्यों हरे गुँथ द्वारी माय
- (४)-गुँथो ए गुँथायो द्वार सत्ती के सीस चढ़ द्वारी माय
- (५)-प... र... भवानीं माय हो थारा सेवक छौं द्वारी माय
- (६)-प... र... सत्ती द्वारी माय हो बक्सीस द्वारी माय

—७—

\*एतद् देवा अभिमयुः-यद् नो यज्ञं दक्षिणतो रक्षांसि नाप्रा न हन्युरिति ( शत० ७. १।३७। )

→ दक्षिणदिशा की ओर से आसुरप्राण आक्रमण करता रहता है। अतएव भारतीय वास्तुशास्त्र में विहित प्रासादनिर्माण-शिल्प में दक्षिण की ओर द्वार रखना सर्वथा निषिद्ध माना गया है। नैगमिक आम्नाय के अनन्य संरक्षक जयपुरनिर्माता स्व० श्री जयसिंहनृपति ने वास्तुशास्त्र के आधार पर ही जिस जयनगर का निर्माण कराया था, जिस जयनगर के चारों ओर परकोटा में ६ द्वार निर्मित हुए थे, जिसके नवों द्वार दक्षिणादिक् के आभिमुख्य से असंस्पृष्ट रहते हुए आसुराक्रमण-भय से उन्मुक्त थे, जयनगर की यह नैगमिकता यवनसंस्कृतिनिष्ठ एक श्वन ( मिर्जा इमाइल ) के मन्त्रित्व में द्विध भिन्न हो गई, दक्षिण की ओर द्वार निकलवा दिए गए, जिसका-दर्शकरूप से अवलोकन करता रहा आम्नायस्वरूपसंरक्षक यहाँ का सामन्त क्षत्रियबन्धुसमाज। तभी से जयपुर का नैगमिक वैभव.....?.....।



जयपुर प्रान्तीय शेखावाटी के लोकगीतों में 'सतीराणी' के रूप से महामान्यता प्रचलित है। वहाँ मतियों के सुविशाल मन्दिर भी निर्मित हैं। लोकगीत नामक प्रकाशित ग्रन्थ में उसके सम्पादक-प्रकाशक ने यह मान्यता व्यक्त की है कि, "यह राणीसती अग्रवाल जालान वंश में कोई साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व हुई थी। इन की मसमपर भूँ गल्लू में मन्दिर बना हुआ है" ( देखिए राजस्थान के लोकगीत, प्रथमभाग २२ पृष्ठ )। आस्थायुक्त श्रद्धा से हम इस मान्यता का समादर कर रहे हैं। किन्तु 'सती' शब्द की केवल यही व्याख्या हमारी श्रद्धा की अवसानभूमि नहीं है। नैगमिक आम्नाय के अनुसार, तदनुगत मानवधर्मशास्त्रानुसार तो स्त्रीमात्र सती है, महासती है। शरीरतः नारी सामान्या बनी रहती हुई भी यह अपनी आभ्यन्तर देवी प्रकृति से 'माता' है, आराध्या है, पूज्या है। स्त्री अपने आभ्यन्तर सहज प्रकृतिभाय से देवी है, सती ही नहीं, महासती है। 'पुरचली-कुलटा-असती-स्वैरिणी-दुष्टा-' आदि उपाधियों का सर्जन हुआ है एकमात्र मानव के अपने दोष से। 'न स्वैरी स्वैरिणी कुतः', इत्यादि महाराज कैफयोक औषनिपद सिद्धान्त के अनुसार स्वैरी पुरुष ही नारी को स्वैरिणी बनाता है। इसी आधार पर—'न स्त्री जारेण दुष्यति' इत्यादि स्मार्त सिद्धान्त स्थापित हुए हैं। अतएव मानवधर्म-शास्त्र में स्त्री सर्वार्थमना 'अदण्ड्या' घोषित हुई है। जैसे अदिति गौमाता अच्युता है, तथैव अदितिमातृ-स्वरूपा नारी सदा ही अदण्ड्या-पूज्या-मान्या-सती है, और यही 'सती' शब्द की नैगमिक व्याख्या है, नैगमिक आम्नाय है। प्रत्येक कुल की दिवंगत, तथा वर्त्तमान सभी नारियाँ सती हैं, जिनके अनुग्रह से पारिवारिक आम्नाय अद्यावधि सुरक्षित है। वर्त्तमान में इनके स्वरूप में जो दोष आगए हैं, उन सब का एकमात्र उत्तरदायित्व पुरुष पर ही अवलम्बित माना जायगा।

सर्वगुण सम्पन्ना भी पत्नी [ स्त्री ] पतिदोष से [ पुरुषदोष से ] दोषयुक्ता बन जाती है। तथैव गुणहीना भी स्त्री पुरुषगुण से गुणवती बन जाती है। इस प्रकार स्त्री के गुणदोषभाय पुरुष के गुण-दोषों पर ही अवलम्बित हैं। उदाहरण—चारसमुद्र, और मधुसमुद्र। स्वादूक्ष [ मिष्टजला ] भी नदी चारसमुद्र में जाकर चारा बन जाती है, एवं चारा भी नदी स्वादूक्ष समुद्र में जाकर मिष्टजला बन जाती है। ऐतिहासिक तथ्य है कि अधमयोनिजा [ निम्नकुला ] भी 'अक्षमाला' स्त्री वसिष्ठ महर्षि के सहधर्माचरण से, चटका शारङ्गी स्त्री मन्वपालाश्रपि के सहवास से लोकपूज्या बन गईं। स्पष्ट है कि नारी सहजरूप से 'नीराकारा' है, निर्दोषा है। इसके गुणदोषभाय वसी प्रकार स्वस्थ-भर्तृगुण-दोष-सारतम्य पर ही अवलम्बित हैं, जैसे निर्मलालाकार नीर—'यद्यत् स्वरूपमादत्ते, तेन तेन स युज्यते' के अनुसार वत्तदाकाराकारित तत्तत्तु चूद्र-महान् [ छोटे-बड़े ] पात्रों के सम्बन्ध से तत्तत्तु चूद्र-महान् आकारों में परिणत हो जाता है। नारी 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' के अनुसार 'नारा' [ आपः-नीर ] ही है। इसी आधार पर हमारे अ.म्नाययुक्त प्रान्त में रूप कुलवृद्धमित्रियाँ कनिष्ठ नारियों को उनके वास्तविक 'नारा' [ आपः रूप निर्मल ] स्वरूप का परोक्षरूप से उद्बोधन कराती हुईं कहा करती हैं—"अर 'नारा' बैठी र-छोनी र चुपकी र, कोई सुण...लो तो आपणी काँई' बड़ाई

कर...लो" । 'नारा' रूप निर्मल आपः [सौम्य-पारमेष्ठ्य-पवित्र 'अम्भः'] ही 'नारी' का स्वरूपारम्भक है, और इस स्वरूप से प्रत्येक नारी-पत्नी-माता-भगिनी-कन्या-सब सतिथी हैं, महासतिथी हैं। देखिए मनु क्या कह रहे हैं इस सम्बन्ध में—

(१)—यादृग्गुणेन भर्वा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।

तादृग्गुणा सा भवति समुद्रेणैव निम्नगा ॥

(२)—अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा ।

शारङ्गी मन्दपालेन, जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥

(३)—एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।

उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैः स्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥

—मनुः ६।२२, २३, २४।

सती-नारी के ज्ञात-अज्ञात सम्पूर्ण दोष नारी के नहीं, अपितु पुरुष के दोष हैं। नारी तो आदियुग से प्रलयपर्यन्त सती ही रहेगी। पारिवारिक सत्ता ही पुरुष की सत्ता है। पुरुषसत्ता ही पुरुष का 'सद्भाव' है, जिसकी मूल प्रतिष्ठा बनती है एकमात्र नारी। इस सद्भावप्रदान से भी नारीमात्र 'सती' (सद्भावप्रवर्त्तिता) ही है। रात्रिजागरण में सती कुलस्त्रियाँ अपने कुल की स्पर्गीया प्रेतभाषा-पन्ना सती नारियों का ही स्तवन कर रही हैं इस महासङ्गीत के द्वारा, जिनके अनुग्रह से यह रात्रि-जागरणात्मिका पितृकर्म-निवन्धना आम्नायपरम्परा चली आ रही है इनके परिवार में।

"चम्पा पुष्पमाला से मातासती (कुत्तानुगता दिग्गता प्रेतभाषाप्रज्ञा सतीनारी) का स्वातिथ्य ही सङ्गीत से अभिव्यक्त हुआ है। महासती के पितृपरिवारात्मक साम्राज्य वैभव (दरबार) में चम्पा-पुष्प विकसित हो रहे हैं (खिल रहे हैं)। ये कौन चम्पा पुष्प तोड़ रहा है?, ये कौन इन चम्पापुष्पों के द्वार (माला) बना रही है?। हमारे कुल के ज्येष्ठ श्रेष्ठ कुलपुरुष मिश्र हरिरचन्द्रजी शास्त्री पुष्प तोड़ रहे हैं, उनकी धर्मपत्नी हार बना रही हैं। यह सूत्रप्रोक्त चम्पकहार माता सती के मतक पर हम बड़ा रही हैं। माता सती भवानी इन्हे धारण कर रही हैं, (पहिन रही हैं—पर भवानी माय)। हे माता! हम सब आपके सेवक हैं। हे सती माता! यह पुष्पहार धारण करें आप, एवं हमें (आपके धंश को) आशीःप्रदान करने का अनुग्रह करें।" इत्यादि अक्षरार्थ-त्मक सङ्गीत में केवल 'चम्पकपुष्प' का आम्नाय विजिज्ञास्य है।

आम्रवृक्षवत विशाल पर्णवाला सुर्मासद 'चम्पकवृक्ष' ही 'चम्पा का पेड़' है, जिसके पीतवर्ण के पुष्प आते हैं इनमें बड़ा ही मन्दगन्ध-आकर्षक-गन्ध(मोनी मोनी-मनोमोहक सुगन्धी-सुगन्ध-) रहता है। यह पुष्प शिवशक्ति की आराधना में विशेषरूप से ग्राह्य माना गया है। 'यत् पीतत्वं, तत्

पितृणां' ( शत० ब्रा० ) के अनुसार पीतवर्ण पैत्र वर्ण माना गया है। अतएव पीतपुष्पानुगत चम्पकवृक्ष पैत्रकर्म में संगृहीत हो गया है। 'द्वारा साथीड़ा ऊभा छ चम्पावाग में जी' इत्यादि रूप से पष्ठ महासङ्गीत में भी चम्पक का समावेश इस पितृभाव से ही हुआ है। 'चाम्पेयश्चम्पको हेमपुष्पकः' ( श्रमर० २।४।६३। ) से चाम्पेय ( चम्पापुष्प ) का हेमवर्णत्व प्रमाणित है। एवं निम्न लिखित आगमवचन चम्पकचतुर्दशी ( ज्येष्ठशुक्ल-चतुर्दशी ) तिथि में विहित शिवशक्त्याराधनारूप से इसका संग्राहक बन रहा है। देखिए !

चतुर्दश्यां च शुक्लायां ज्येष्ठे मासि महेश्वरम् ।

चम्पकैः पूजयेद् भक्त्या शिवलोकमवाप्नुयात् ॥

—उत्तरकामाख्यातन्त्र ११ वाँ पटल

चम्पकपुष्पहार से सम्मानित कुलसतीवर्ग के अनन्तर इनका, इनके द्वारा कुलान्नाय ( कौलिक आम्नाय ) के आधार पर प्रकान्त रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म में अवरोध रहा है 'पितृभूतस्थापनात्मक' ( पितृमूर्त्तिस्थापनात्मक ) केवल एक कर्म, जिसके लिए इस सतीसम्मानात्मक महासङ्गीत के अनन्तर ही हमें पावन करने के लिए हमारे मानस धरातल में उदित होगी अष्टम पावन स्मृति, जिसे अभिव्यक्त होने से पूर्व हन सप्तम स्मृति के दो लोकविकल्पों का भी प्रासङ्गिक दिग्दर्शन करा देते हैं।

—७—

सतीसम्मानात्मक सप्तम महासङ्गीत के प्रान्तभेद से विविध विकल्प उपभूत-उपवर्णित-उपगीत हैं। उनमें से प्रसङ्गधिया दो महासङ्गीत यहाँ उद्धृत कर दिए जाते हैं। इनमें प्रथम विकल्प सतीपरम्परा का सामान्यरूप से विकल्प है। एवं द्वितीय विकल्प कुलस्त्री में जो मुख्य स्त्री पुत्रादिकामना-रक्षा-वृद्धि-कामना से जागरण करती है-और यह यदि अपने पति की द्वितीया पत्नी है- प्रथमापत्नी यदि भ्रेतपितृभाव में परिणत हो गई है-तो उस अवस्था से सम्बन्ध रखना है। अतएव इस द्वितीय विकल्प को खोलावाटी प्रान्त में 'पितरार्थी' कहा गया है। श्रूयताम् !

(७)—सतीसंस्मरणात्मक सप्तम महासङ्गीत के प्रथम विकल्प की सप्तम पावनस्मृति—(१)

- (१)—कुण्ड चुणायो थारो देवरो माता ! कुण्ड तो लगाई अजगजनीव ।
- (२)—राजा चुणायो थारो देवरो माता ! परजा लगाई अजगजनीव ।
- (३)—ये कुण्ड गाती थार आवसी माता ! ये कुण्ड ल्याव थार भेट ।
- (४)—राख्यो गाती आवसी थार माता ! हरीचन्द्रजी ल्याव थार भेट ।
- (५)—सामू चट्ट थार आवसी माता ! चोर जिटाख्यो ल्याव थारो भेट ।
- (६)—गोद जट्टला ल्याव थार पूत० ! प धारो धाय ॥

—१—

(७) पितुराज्ञो (पितराणी) संस्मरणात्मक महासङ्गीत के द्वितीय विकल्प की सप्तम पावनस्मृति (२)

- (१)—इन्दर लोकोँ स द्वारा जीजीबाई कटरवा जी,  
कोई बड़तल लियो छ मुकाम, द्वारा जीजीबाई० ।
- (२)—आज छोटी क जी बड़ी आया पाँवणाँ जी,  
चोकी तो चन्नण जीपर द्वारा जीजीबाई वेठियाजी ।
- (३)—चाँवल तो राँधोँ ऊजला जी, हरिया तो भूँगाकी दाल जी,  
बीजापुर को बीजणों जी, गढ़ मधुरा को थाल जी,  
बाँदी की कचोल्याँ थाँका थालमें जी द्वारा जीजीबाई० ।
- (४)—भूँगफली सी थाँकी आँगल्याँ जी जीजीबाई,  
दाह्यूसिरसा दाँल जी द्वारा जीजीबाई,  
थे तो जीमो जी द्वारा जीजीबाई द्वारा हाथ से जी, द्वारा जीजीबाई० ।
- (५) जीन्याँ जी चूँठवा जीजीबाई पाँटरम रहा जी,  
सोयान हान ठोर बताए हारी छोटी भए ए,  
रमबा ने हान ठोर बताए हारी छोटी भए, द्वारा जीजीबाई० ।
- (६)—थे तो सोओ द्वारा जीजीबाई थाँका राजदालम जी,  
थाने बीजणी हुलापाँ द्वारा जीजीबाईजी,  
रमग्यो रमग्यो जी हल्लों में द्वारा जीजी बाई, द्वारा जीजीबाई० ।
- (७)—थे ही सो ओ द्वारा छोटी भए द्वारा हल्लों म जी,  
थाने ही दियो छ हों तो अम्मर मुहांग जी,  
हो तो अब आस्यो इन्दर लोकोँ में हारी भए ए, द्वारा जीजीबाई,  
इन्दर लोकोँ स द्वारा जीजीबाई० ॥

—२—

दोनों विकल्पों का अर्थ स्पष्ट है । (१)—हे सती माता ! आप के मन्दिर का निर्माण किसने किया है ? किसने इस की सुविस्तृत ( अजगज ) नींव ( शिलान्यास ) लगाई है ? ( देशाधिपति—धाम्नायनरत्नक—धर्मरत्नक ) राजा ने तो अपने हाथों मन्दिर का निर्माण किया है, एवं प्रजाने इसका शिलान्यास किया है, नींव भरी है । हे माता ! ये कौन आपके गाते ( और बजाते ) आवेंगी ( आरही हँ ) ? हे माता ये कौन आपके भेट—पूजनपरिमह लावेंगे ला रहे हँ ? । कुलसाम्राजियों ( कुलवधूवर्ग ) आपके भक्तलगान करती हुई आदेंगी ( आरही हँ ), एवं कुल ज्येष्ठ श्रेष्ठ पुरुष मिश्र हरिश्चन्द्रजी प्रमुख सम्पूर्ण पुरुषवर्ग आपके भेट पूजन परिमह लावेंगे , ला रहे हँ ) । हे माता सासुएँ,

मैंने, आपके आवेगी ( यों ही परम्परा सदा ही आती रहेंगी ( आती रहती हैं ), देवरानियाँ ( घोरानियाँ, ) जितानियाँ ( यों ही सदा ही ) आपके भेट लाती रहेंगी ( लाती रहती हैं ), इन सब कुलस्त्रियों की गोद में हे माता ! चूड़ायुक्त ( जड़लायुक्त केशपाशयुक्त ) बालक रहते हैं, इन्हें साथ-गोद में लेकर ये आपके ( जड़ला उतारने ) आती रहती हैं ( क्यों कि हे माता ! ) हे मेरी करुणामयी माता ! ( आपके निःसीम अनुग्रह से ही तो इन कुलस्त्रियों की गोद भरी हुई रहती है ) ! ।

द्वितीय विकल्प का भाव बड़ा ही करुणापूर्ण है । कुलपुरुष की पूर्ण स्त्री भर चुकी है, इसने दूसरा विवाह कर लिया है । इस के सन्तति हो गई है । यह अपने राज्ञागारण में अपने पति की पूर्वपत्नी को ( जो प्रेतभाव में परिणत होकर प्रेत लोक में पितरपरिवार के साथ निवास कर रही है, वहे ही आत्मीय भाव से,—‘हारा जीजीवाई’ ( मेरी बड़ी बहिन ) इस भाव से उनका भी आमन्त्रण करती है । इहीं के अतिथ्य का इस विकल्प में गान ( विस्तार ) हुआ है । “(२)–(१)—मेरी बड़ी बहिन ( इस अपनी छोटी बहिन के द्वारा सम्पादित पितृकर्म में आशीः प्रदान करने ) इन्द्रलोक से उतरे । वहाँ से उतर कर सर्वप्रथम वहाँ ( पातोपान्त्यप्रदेश में—स्थित ) वटवृक्ष की छाया में ( जो कि वृक्ष इनका पार्थिव अध्यामग्रह है ) विश्राम लिया । वहाँ से चलकर (२)—मेरी बड़ी बहिन आज ( चतुर्दशी की रात्रि में ) इस अपनी छोटी बहिन के अतिथि बने हैं । मैंने दूध से उनके चरणकमल धोए हैं ( जो प्रथम अतिथ्यकर्म माना गया है ) । (३)—मैंने इनके लिए श्वेत चाँवल, हरित शुक्लाल सःपन्न की है । गीजापुर का सुप्रसिद्ध पद्म भँगाया है, मधुरा का सुप्रसिद्ध धाल भँगाया है, इस में चाँदी की कटोरियाँ सजाई हैं । ऐसे पात्रों में इनके लिए मिष्टान्न सहित मालभात का पर्यवेष्टण—( परोसा गया ) हुआ है । (४)—हे मेरी जीजीवाईजी । आप के ( हाथों की अँगुलियाँ ) बड़ी ही सुहोती हैं ( जिनमें आप नेत्रग्र ग्रहण करने वाली हैं ) । आप की दन्तावली दाहिम-कलपन बड़ी ही मनोहर है ( जिस से आप गलाधःकरणानुबूल-व्यापाररूप भोजन करने वाली हैं ) । हे मेरी बड़ी बहिन ! अब आप ( अपने दूध के साथ साथ ) मेरे हाथों से भी भोजन की जाए ( जो मेरे हाथ भी आपही के स्थान पर आने के कारण—आपही के हाथों के प्रतीक हैं ) । (५)—( जीजी ने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर प्रसन्नतापूर्वक भोजन कर लिया )—भोजन जलपानादि कर्म से निवृत्त होकर जीजीवाई ( यहाँ के आवासस्थानरूप ) पितृ-पेट पर विभ्राम कर रहे हैं । इन्होंने मुझसे यह कथना प्रकट की कि, हे छोटी बहिन ! अब मुझे तुम शयन का स्थान बताओ—( परीक्षा लेने की दृष्टि से कि, कहीं मुझ बड़ी से इस छोटी को इच्छा तो नहीं है—‘मैनामन्योऽद्राक्षीन-रुपा’ ) । हे बहिन हमें रमण के लिए अनुरूप स्थान बताओ । (६)—हे मेरी जीजीवाई ! ( यह आपने क्या कहा ) आप अपने राजमहल में ( जहाँ भौतिक शरीर से मेरे आगमन से पूर्व आप ही सोते थे—अनल्प जो आज भी आपही का महल है ) शयन करें । मैं आपको वैसा भालूंगी । इस प्रकार आप अपने ही राजमहल में रमण करें । (७)—गङ्गा हो यही पितृत्वाभि-देयलोकपामिनी यही

वहिन छोटी की इस भावना से, परीक्षा समाप्त हुई, छोटी वहिन परीक्षा में सर्वात्मना समुत्तीर्ण हो गई। इस भाव से अन्तरात्मना तुष्ट तुष्ट बड़ी वहिन गद्गद होकर कहने लगी कि ( हे मेरी छोटी ( लाडली ) वहिन ! तुम्हीं मेरे महलों में शयन करो । मैंने तुम्हें ही ( अपना शरीर छोड़ने के अनन्तर ) अपनी ओर से अमर सौभाग्य प्रदान कर दिया है । अब तुम हमें-जाने दो ( अपनी प्रेतयोनिमर्यादा के अनुबन्ध से अब ( अधिक हम समय यहाँ नहीं ठहर सकती ) अबतो हम अपने इन्द्रलोक में ही जायेंगे" । विकल्पद्वयात्मक इस सप्तम पावन स्मृति के अनन्तर हमें पवित्र करती हुई उदित होर ही है—

(८)—पितृमूर्तिस्थापनानुगत महासङ्गीत की अष्टम पावनस्मृति—

(१)—झारा राय खाती का र, तू तो चतर सुजान !

विराणीझार, झार पाटङ्गलो घड़ल्यार विराणीझा ।

(२)—झार + पितर बाबा जोगो, बड़वासण माता जोगो,

ध्याड़ी माता जोगो, हणमत बाबा जोगो,

भैरू बाबा जोगो, देई देवताँ जोगो,

पाटङ्गलो घड़ल्यार र विराणीझा ।

(३)—झारा राय खाती बाबा, तन करड़ फसार, विराणीझा,

झारो खातण माई जोग लचपच लापसीर, विराणीझा ।

(४)—झारा राय खाती का र ! तन पचरँग पाग विराणीझा,

झारी खातण जोगी भो रँग चूँ दड़ी जी ।

(५)—झार खाती बाबा जोग मुरकी पराय, विराणीझा,

झारी खातण जोगी तिलड़ी, देवटो जी,

(६)—झारा खाती बाबा तूतो मन 'पाटङ्ग-पाटड़ी' र ।

झारा खानी बाबा तूतो ल्यार 'सोना पाटड़ी' र ।

झारा खाती बाबा तूतो ल्यार 'पितरौ पाटड़ी' र ।

"पितरौ पाटड़ी जी, पितरौ पाटड़ी जी" ॥

—८—

— विवाहकर्म में भी काष्ठपट्ट स्थापित होता है । पाटा और चोपड़ा, दोनों घर का खाती ही घड़कर लाता है, एवं इस कर्म के लिए, तथा मण्डपानुगत तोरख-थाम के लिए गृहस्थ रथकारदम्पती सम्मानित किए जाते हैं । यहाँ भी इसी प्रकार का लोकगीत गाया जाता है । किन्तु यहाँ 'झार पितर बाबा जोगो' के स्थान में 'झार विदायक बाबा जोगो' का समावेश होता है । और भी कई स्थानों में परिवर्तन होता है, जो तद्गीत में ही द्रष्टव्य है ।

वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, अतिवृद्धप्रपितामह, वृद्धप्रपितामह, प्रपितामह, पितामह, एवं पितुःश्री-  
वालचन्द्रशास्त्री पर्यन्त पदपितृपद की नैदानिक सवर्ण प्रतिमा ॐ रथकार द्वारा निर्मित होती है,  
जिस पितृपदकसम्पन्न संग्रह के लिए प्रस्तुत महासंगीत में ६ पद्य समाविष्ट हुए हैं। वैसे सुवर्ण-  
रत्नादि की प्रतिमा-आभूषणादि वनाता 'सुवर्णकार' (सुनार) का कर्म माना गया है, एवं काष्ठ-  
पट्टादि कर्म 'रथकार' (खाती) का माना गया है। किन्तु इस पितृकर्मात्मक सौम्य पावन कर्म में  
उपयुक्त काष्ठ पट्ट जहाँ रथकार से निर्मित है, वहाँ-स्वर्णकारकर्मानुगत स्वर्णमूर्ति का निर्माण भी  
रथकार के द्वारा ही विहित हुआ है। कारण स्पष्ट है। आकाररूप, और वर्णरूप, दोनों के लोककर्म-  
कर्त्ता क्रमशः रथकार, एवं पेशास्कार कहलाए हैं। ये ही दोनों लोकाभाषा में 'खाती-सुनार' कहलाए  
हैं। दोनों में रथकार श्रेष्ठ इस लिए माना गया है कि, यह माहिष्यपुरुष से करिणीस्त्री में उत्पन्न  
होता हुआ द्विजाति-भाषानुरूप से समन्वित होता हुआ पेशास्कारादि इतर प्रतिलोमसंकर-जातियों की  
तुलना में पावन है, पवित्र है, शुचिभाषापन्न है। अतएव इसे अपशुद्राधिकरण में अग्न्याधानादि  
कतिपय श्रौतकर्मों का, एवं परिणित स्मार्त्त कर्मों का अधिकारी मान लिया गया है +। इसी  
शुचिता के कारण पितृकर्म में रथकार से ही पट्ट और पातड़ी बनवाए जाते हैं।

ॐ बिना-मस्तक-हस्त-पादादि शरीरायुषों की फेबल पट्टिकामात्रा पितृप्रतिमा ही पितृकर्म में  
प्राप्त है। प्रंत का फेबल बाह्य आकार ही प्राप्ति बन सकता है, जीवित मानवाकार नहीं। यह आकार-  
भाव ही 'नैदानिकप्रतिमा' कहलाई है, जिसे प्राकृतभाषा में 'पितरों की पातड़ी' कहा जाता है।

—'श्रीपुत्रं प्रमदे कुमारीपुत्रं मेघार्थं रथकारं धैर्यार्थं तदात्मम्' (या० सं० ३०।६।) इस  
मन्त्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार महीधरेने कहा है—'रथकारं माहिष्येण करिण्यां जातम्'।  
क्षत्रियपुरुष में धैर्या स्त्री (यनियानी) में उत्पन्न पुत्र 'माहिष्य' कहलाया है, एवं धैर्यपुरुष से शुद्रास्त्री  
में उत्पन्न कन्या 'करिणी' (हस्तिनी) कहलाई है। इस माहिष्य संकरपुरुष से करिणी संकरा स्त्री में  
उत्पन्न मस्तति 'रथकार' कहलाई है (अक्षयस्वयम्भूति, ४, ६३।) स्मार्त्त-चार्य्य शङ्क के मतानुसार रथकार  
के ज्ञाया-ज्ञात-उपनयन-आदि मान्य हैं, जैसाकि स्मृति वचन से प्रमाणित है—

'क्षत्रिय-धैर्यानुलोमान्तोऽप्यथो यो रथकारस्तस्य-इत्याद्यानोपनयनसंस्कारक्रिया, अथ-  
प्रतिष्ठापयप्रनास्तुविद्याप्ययनशुचिता च' (शङ्कस्मृतिः)।

मिताक्षरार ने भी कहा है—'एवं ब्राह्मणक्षत्रियोत्पन्नमूर्ध्वावसितमाहिष्यादनुलोममंकरे  
ज्ञान्यन्तरता उपनयनादिप्राप्तिश्च वेदितव्या, तयोर्द्विजातिच्चात्'। रथकार शब्द की जात्यनुगता  
मोमर्मा का मुख्य प्रयोजन है मदात्मज्ञान में पुनः पुनः पठित 'विराणीदा' शब्द, धैर्या (यनियानी-  
पतिगुप्ती) हो प्रानीय भाषा में 'विगाणी' कहलाई है। 'धामण-वापया' और 'धामणी-विराणी'  
गुण प्रसिद्ध है। माहिष्य पुरुष ही रथकारजाति का मूलप्रयत्नक है। माहिष्य की उत्पत्ति हुई है  
क्षत्रिय के गुण एवं धैर्या (विराणी) के योगिस्थानीय शोचिन के दागपत्यमात्र से। 'वीजाद्योनिर्वलीपसी'  
मिदान प्राकृतिक है। अतएव माहिष्य 'क्षत्रियपुत्र' न कहलाए 'धैर्यापुत्र' (पतिगाणी का पुत्र)  
ही कहलाएगा। यही धैर्यापुत्र माहिष्य क्योंकि रथकार का मूलप्रयत्नक है, अतएव इसे भी धैर्यापुत्र  
(माहिष्य) के पुत्र होने में 'धैर्यापुत्र' (विराणीदा) ही कहा जाएगा।

अब दो शब्दों में महासङ्गीत के अक्षरार्थ का भी समन्वय कर लीजिए । (१)-हे मेरे सम्मानित रथकार ! तुम बड़े चतुर ( शिल्पी-कारीगर ) हो, साथ ही सौम्यस्वभाव ( सुज्ञान, अतएव सौम्य पितृकर्म के अनुरूप ) । हे विराणीड़ा ! ( रथ्यापुत्ररूप से मूलदृष्ट्या प्रख्यात-देखिए इसी महासङ्गीत की टिप्पणी में इस शब्द का निर्वचन ) तुम मेरे-इस पितृकर्म के लिए काष्ठपट्ट धड़लाओ । (२)- ( यह ध्यान रहे कि ) यह पट्ट पितरों के, वटुवासिनी माता के, ध्याड़ीमाता ॐ के, महावीर के, भैरव के, ओर ओर भी समस्त पितृपरिवारानुगत-पितृदेवता ( देवता ) और पितृपत्नियों ( देई-देवी ) के अनुरूप ही हो । (३)-इसके उपलक्ष में मैं तुम्हें 'करड़कसार' + से सम्मानित करूँगी । तुम्हारी पत्नी को पुतालुत लचपच लापसी से सम्मानित करूँगी । (४)-तुम्हें पचरँग उष्णीष ( पगड़ी ) दूँगी, तुम्हारी पत्नी को विविधरंगरञ्जित पीतयस्त्र ( पोला-चूँदड़ी-जिसे पत्रयस्त्र माना गया है ) । (५)-तुम्हारे कानों में मुँकी ( कुड़की ) पहिनाऊँगी, तुम्हारी पत्नी को कण्ठी ( गले की तिलड़ी-त्रिगुणिता-त्रिचलित गलमाला ) और पचमय्याँ ( टेंकटा ) पहिनाऊँगी । (६)-अब ( इन सर्वविध सम्मान पारम्प्यों से सम्मानित-तुष्ट-हृष्ट होकर ) हे रथकारवावा ! तुम्हें पट्ट के लिए 'पट्टप्रतिमा'- 'पितृ-प्रतिमा'- 'पितरप्रतिमा' ला दे' ( अ ) यह पितरों के लिए प्रतिमा है, यह पितरों के लिए प्रतिमा है ( पितरों पातड़ी जी, पितरों पातड़ीजी ) ।

कुलस्त्रियों के द्वारा महता समारम्भ से यह पितृप्रतिमास्थापन कर्म सम्पादित हुआ है । इस कर्मकाल में सब स्त्रियाँ ( सौभाग्यती स्त्रियाँ ) सावधान बन जाती हैं । दीपक को सँभालती हैं,

ॐ हमारी कुलदेवी जहाँ पटुवासिनी है, वहाँ विभिन्न अन्य कुलों की मान्यता के अनुसार विभिन्न भी कुलदेवियाँ हैं । कुलदेवी का सामान्य नाम है- 'ध्याड़ी माता' । अतएव जिस अवसर पर कुलदेवी का कौलिक नाम स्मृत नहीं होता, वहाँ 'ध्याड़ी' अभिधा का सन्निवेश हो जाता है । 'ध्यात-ध्यान' ही 'ध्याड़ी' शब्द के निर्वचनार्थ हैं ।

+ गोधूमचूर्ण को घृत में परिपक्व कर (गुहूँ के आटे को घी में सेक कर) उस में गुड़ मिला कर जो मोदक बनाया जाता है, उसे 'कसार' कहा गया है । घृत इसमें नाममात्र ही रहता है । अतएव यह कठिनायय रहता है । अतएव यह 'करड़-कठिनायय-कसार' कहलाया है । यह गुड़ के मम्पन्ध से मादलिक माना गया है । अतएव विवाह में भी मादलिक दानपरिग्रहों में 'सूत मगद का लाह' रूपमें सूत मोदक या ( करड़कसार मोदक का ) ग्रहण हुआ है ।

[अ]--(१) प्रपितामह (२) पितामह (३) पिता ( श्रीवालयन्त्र ), ये तीनों मुख्य माने गए हैं । तीनों के भाषनात्मक संग्रह के लिए ही (१) 'पट्टप्रतिमा-पितृप्रतिमा-पितरप्रतिमा' इन तीन शाय्यों का सन्निवेश हुआ है ( देखिए तैत्तिरीय ब्राह्मण-२।६।३।३। ) ।



मँहदी लगाती हैं, अञ्जन अँजती हैं। इस प्रकार सर्वात्मना सञ्जीभूत बन कर, मङ्गलभावापन्न बन कर प्रतीमास्थापन कर्म करती हैं, और यही मुख्य पितृकर्म का अन्तिम कर्म माना गया है कुलत्रियों की मान्यता में। तदनन्तर शेष रात्रि में स्त्रियों की सहज भावुकता से सम्बन्धित-सहज आमोद-प्रमोद-भावनिवन्धन अन्यान्य लोकगीत गाए जाते हैं, जिनमें से कुछ को तो रहस्यपूर्ण ही माना जायगा। दीपकके गीत, कज्जलके गीत, मँहदीके गीत, आदि विशेष महत्त्व रखते हैं। इन गीतों की परोक्षव्यञ्जना भी बड़ा ही महत्त्व रखती है, जिसे विस्तारमिया यहाँ समाविष्ट नहीं किया गया है। प्रतिमास्थापनान्त अष्ट महासङ्गीतों के अनन्तर गाए जाने वाले सम्पूर्ण शेष गीतों को हम 'परिशिष्ट गीत' कहेंगे, एवं इन सबकी समष्टिका नवम विभाग माना जायगा, जो नवम संख्या अपनी अपूर्णता से- 'नवो नवो भवति जायमानः' के अनुसार चान्द्रसर्ग को सदा प्रक्रान्त रक्खा करती है। प्रसङ्गोपात्त संख्यासम्पत् के सम्यग्ध में भी दो शब्द निवेदन कर देना संभाव ही माना जायगा श्रद्धालुओं की श्रद्धापूर्त दृष्टि में।

“प्राणतत्त्व जिन जिन संख्याओं में प्रकृतिमण्डल में विभक्त हैं, प्राणानुगत पार्थिव भूतों की उन उन संख्याओं के साम्य से तत्-संख्यासमनुलित प्राकृतप्राणसम्पत् स्वतः ही प्राप्त हो जाती है” यह नैगमिक रहस्य है। उदाहरण के लिए यदि इन्द्रदेवता के लिए महदुक्त्यात्मिका अश्राद्धाति दी जायगी, तो मन्त्रसंख्या ८० होगी। ८० संख्या का सूचक शब्द है 'अशीति'। उधर यही शब्द 'अन्न' का भी सूचक बन रहा है। इसी आधार पर 'अशीतिभिर्हि महदुक्त्यामाप्यायते' सिद्धान्त स्थापित हुआ है। अस्ती मन्त्र, अस्ती अक्षर, अस्ती पदार्थ, इस प्रकार अशीतिसंख्या देवान्सम्पत् की संग्राहिका बन जाती है। इष्टियाग में दस पात्र दो दो का युग्म बनाकर रखे जाते हैं। दशसंख्या से प्राकृतिक दशावयव विराड्यज्ञ-सम्पत् का संग्रह हो जाता है, एवं युग्मसंख्या से दाम्पत्यभावानुगत प्रजननसम्पत् का संग्रह हो जाता है \*। शतपथविज्ञानभाष्य में यत्रतत्र सर्वत्र इस संख्यासम्पत् के समन्वय के द्वारा ही यज्ञरहस्य का स्वरूपविरलेषण हुआ है। क्या लोकमान्यतानुगत रात्रिजागरणात्मक पितृकर्म में भी निगमानुगत संख्यासम्पत् का आम्नाय प्रतिष्ठित हुआ है?, प्रश्न है।

यदि महासङ्गीतों का समन्वय पूर्ववर्णनानुसार निगमान्नायप्रामाण्य-सम्पत् से सर्वात्मना संयुक्त है, तो अवश्य ही संख्यासम्पत्-दृष्टि से भी महासङ्गीत-समष्टि को सम्पशमान्नायप्रामाण्य से संयुक्त

\* “द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति-शर्पश्च, अग्निहोत्रहवणीश्च। स्फ्यश्च, कपालानि च। शम्पाश्च, कृष्णाजिनश्च। उलूखल-मुसले। चपत्-उपले। तदश (१०)। दशाक्षरा वै विराट्, विराड् वै यज्ञः। तद्विराजमेवैतत्-यत्तमभिसम्पादयति। अथ यद् द्वन्द्वं-द्वन्द्वं वै वीर्यम्। यदा वै द्वां संरमेते, अथ वीर्यं भवति। द्वन्द्वं वै मिथुनं प्रजननम्। मिथुनमेवैतत् प्रजननं क्रियते”



आदि पदार्थों को मध्यस्थ बनाया जाता है, ठीक इसी निगमात्म्या के अनुसार भारतीय लोकमान्यात्मक गृह्य देवपितृकर्मों में भी चान्द्रमण्डलात्मक प्राकृतिक अधिदैवत के साथ चान्द्रभावात्मक मनःप्रधान अथात्म का सम्बन्ध कराने के लिए चान्द्रसोमप्रधान पार्थिव क्षीराब्जादि-वैखरी वाणीरूप (मानसिक भावापन्न लोकगीतरूप) महासङ्गीत, आदि आदि आधिभौतिक भावों को मध्यस्थ बनाते हुए सर्व-सम्पत् का संग्रह कर लिया जाता है। 'आधिभौतिकसम्पत्' वह प्राजापत्या भौतिक सम्पत् है, जिसके द्वारा उस ओर की अधिदैवतसम्पत्, एवं इस ओर की अथात्मसम्पत्, दोनों का समसम्बन्ध सुसमन्वित बना रहता है। 'प्राजापतिः षोडशी' के अनुसार प्राजापति संख्यासम्पत् के अनुपात में सोलह कलाओं में विभक्त माने गए हैं, जिस षोडशभावापन्न प्राजापति के 'षोडशीपुरुष-प्राजापति, षोडशकलपराप्रकृतिप्राजापति, षोडशकलोपेतअपराप्रकृतिप्राजापति, ये तीन क्रमशः आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिक महिमरूप (विधर्त्तृभाव) निगमशास्त्र में प्रसिद्ध हैं, जिनका संक्षिप्त दिशापरिचय-इसी प्रकरण से सम्बन्धित आगे आने वाले 'पावनस्मृति के सम्बन्ध में तदस्य आलोचना, एवं तत्समाधान' नामक अग्रन्तर प्रकरण में स्पष्ट होने वाला है। प्रकृत में कहना यही है कि, कुलस्त्रियों से सम्बन्धित रात्रिजगारणात्मक सम्पूर्ण वैवाहिकादि लोकमान्यतानुबन्धी मानस-भावाप्रधान देवपितृकर्म षोडशकलोपेत आधिभौतिक पार्थिव प्राजापति से ही सम्बन्धित हैं। इस षोडशकलोपेत प्राजापतिसम्पत् के संग्रह के लिए ही लोकमान्यतानुबन्धी विवाहाद्यनुगत देवपितृकर्म-नियन्धन सम्पूर्ण लोकगीत (देवीदेवताओं-देईदेवताओं के गीत) १६ ही आम्नायानुगत बन रहे हैं। विवाह हो, यज्ञोपवीत हो, किंवा काम्यरात्रिजगारण हो, सर्वत्र देवकर्मसम्बन्ध में कुलस्त्रियों की पारम्परिक आम्नाय के अनुसार सोलह ही गीत गाए जाते हैं। प्रकृत पावनस्मृति में आठ महासङ्गीत तो मुख्य यवनसंस्कृति के सम्पर्क से आज 'मैहदी' ने ग्रहण कर लिया है—आदि कतिपय महासङ्गीतों के अतिरिक्त 'दुर्गास्तुति' (स्वस्वमान्यतानुबन्धी (कुलमान्यतानुबन्धी) 'कालापहाड़वास्तुति, नारायणस्तुति (विष्णु के श्रीश्रीदेवाधिदेव कल्याणभगवान्) आदिरूप से अन्यान्य महासङ्गीतों का समावेश करती हुई कुलस्त्रियों जब तक १६ संख्यासम्पत् (प्राजापतिसम्पत्) प्राप्त नहीं कर लेतीं, तबतक अपने देवपितृकर्मनुगत महासङ्गीतकर्म को ये देवियों अपूर्ण ही मानती हैं निष्कर्षतः मुख्य महासङ्गीतों के साथ अन्य उनके महासङ्गीत अवश्य ही देवपितृकर्म में कुलस्त्रियों के द्वारा समाविष्ट होते हैं, जिनसे १६ संख्या परिपूर्ण बन जाय, यही तात्पर्य है। इस प्रासङ्गिक वक्तव्य को लक्ष्य में रखते हुए ही तालिका से अपने मानस क्षेत्र को हम पावन बना रहे हैं। प्रस्तुत निबन्धग्रन्थ के १८६ वें पृष्ठ पर आरम्भ कर २६४ वें पृष्ठ पर्यन्त अनुमानतः शतश्रृंखला में परिपूर्ण यह महासङ्गीतनियन्धना पावन-स्मृति आम्नायशील आत्मिकों को रातापु बनावे, इसी मङ्गलकामना के साथ पितृतालिका उपरिथत हो रही है।

पंचमहासङ्गीतानुगत-संख्यासम्पत्-(परिलेख):- (पितृश्रावणात्मकः-महानात्मानुगतः सङ्गीत एव महासङ्गीतः) ।

क्रम संख्या	महासङ्गीत-अभिधायि ( नाम )	महासङ्गीतानुगत-आत्मकप्रतीक	महासङ्गीत पद्यावयवसंख्या	पद्यावयवसंख्यासम्पत्
(१)	कुलदेवीसंस्मरण	"अं औ आञ ह्यार जन घन०" (२३२ पृष्ठ)	एकादश [११]	रुद्रसम्पत् [११]
(२)	कुलदेव्यातिथ्य	"माथान मँमद परल्यो आराण्यो ए०" (२४३)	एकादश [११]	रुद्रसम्पत् [११]
(३)	दुग्धदेहन	"पोली सी धूसर झारी कपला सी गाय" (२४४)	अष्ट [८]	पार्थिवगायत्रसम्पत् [८]
(४)	पितृ-आविर्भूय	"काए का तोला ओ काए की डाँडी" (२६)	अष्ट [८]	पार्थिवगायत्रसम्पत् [८]
(५)	पितृपरिवारस्तुति	"आरा माथान मँमद ल्याओ सा, दिक्खण०" (२६४)	चतुर्दश [१४]	पितृपरिवारसम्पत् [१४]
(६)	पितृगानतन्निरोध	"वाप वरज भोमियाँ थँकी माय वरज जी०" (२७८)	अष्ट [८]	गायत्रसम्पत् [८]
(७)	कुलसतीसंस्मरण	"सत्ती के दरवार, चम्पा फूल रही झारी माय०" (२८२)	एट् [६]	पद्मस्तुसम्पत् [६]
(८)	पितृमूर्तिसंस्थापन	"आरा राय सतीका रू, तूतो चतर सुजान०" (२८७)	एट् [६]	पद्मस्तुसम्पत् [६]
अष्टपद्यानुगत-संख्यासम्पत् का संकलन-—८ गायत्रसम्पत्-पैत्रसम्पत् पितृ-प्राकृतिका-गायत्रा-अपिदैक्यम् ( अथिदैवतसम्पत्संग्रहः )				पद्यावयवानुगतासंख्यासम्पत् का संकलन-७२ प्राणनाड्य-अध्यात्मम् ( अध्यात्म- सम्पत्संग्रहः )

(८०)

"अरोतिभिर्महदुच-  
मायायते"  
इत्याहुर्गमिकाः

—पैत्रसम्पत्-अधिदैवानुगत, एवं ७२ प्राणसम्पत्-अध्यात्मानुगत, संकलनेन ८+७२="८०" सम्पत्-अरोतिः  
मायायते"  
अत्रसम्पत् अत्रसम्पत्पदानात्मकमहासङ्गीतपरम्परया पितृनुष्टि-पितृनुष्टि, पितृसम्पद्वापि  
अन्यान्यदेवपितृमानुगत-आप्तसंख्यामित-लोकमोतिसम्बन्धमातृ वोदशकलोपेत-आजापत्यसम्पद्वापि

## श्राद्धविज्ञान

पितृकर्मनिबन्धना-लोकमान्यतानुगत-अन्नपितृप्राणसन्तर्पिका-रात्रिजगिरणप्रधाना-कुलस्त्रीवर्ग-सम्पादिता-अष्टमूलपद्यात्मिका-द्वसप्तति (७२) पद्यावयववृत्ताङ्गा महासङ्गीतमयी पावनस्मृति प्रव्रजन्त 'गयाश्राद्ध' कर्म के आन्ध्र्यन्तर में ही प्रसङ्गान्कर्षण से शुचिभावापन्न श्राद्धालु मानव की श्राद्धवृद्धि-श्री-वृद्धि की कामना से यहाँ अपनी अस्तव्यस्त-असम्बद्ध-किन्तु श्राद्धपूत-स्मृति के आधार पर गृहप्रतिष्ठा-क्षरणा कुलदेवी के निःसीम अनुग्रह से समुपस्थित की गई, जिसे स्मृत्वा स्मृत्वा 'रोमहर्षः प्रजायते'।

उपरता चेपं महासङ्गीतनिबन्धना पावनस्मृतिः

पितृकर्मनिबन्धना

प्रासङ्गिकी

—:ॐ:—

पावनस्मृति के सम्बन्ध में प्रासङ्गिकी तटस्थ आलोचना, और तत् समाधान —

अभी एक प्रासङ्गिक चर्चा जोर शोर रह गई है, जो प्रासङ्गिक चर्चा युगधर्मानुगत वर्त्तमान भौतिक युग की अपेक्षा से, भूतायिष्कारपरम्परानुग्रह से केवल भूतपरायण भूतनिष्ठ-भूतायिष्ट-(मनो-गर्भितशरीरपरायण-शरीरनिष्ठ-शरीरायिष्ट) बन जाने वाले वर्त्तमान विज्ञानवादी (ज्ञानिक-भूत विज्ञानवादी) नराभासवर्ग की अपेक्षा से अपना एक विशेष, निरतिशयरूपेण विशेषतर-विशेषतम महत्त्व रख रही है। सुनिए तो सांवाधान होकर अपनी सहजश्रद्धा को अरमांखलवन् (पापागुणिलाबन्) सुनिधर-अविचलित बनाए रखते हुए उस अश्रद्धामूला वैकारिकभूतसर्गनिबन्धना प्रासाङ्गिक चर्चा-आलोचना मा इतिवृत्त, जो सदसा पूर्णप्रतिपादित पावनस्मृति की ही भाँति आप जैसे श्रद्धालुओं के मुख से भी 'रोमहर्षदय जायते' भाव एकबार तो दीखरी-द्वारा अभिव्यक्त करा ही देगा।

"मृतात्मा के लिए गयाश्राद्ध न कराने से श्रीवैपतिक महानात्मा, तदनुगत बाधक्य हंसात्मा मुक्त नहीं होगा। भद्र-रुष्ट महानात्मादि-हंसात्मादि पितर तद्गंशजों को अपत्य-सम्पत्-श्रीविहीन करते रहेंगे। रात्रिजगिरणद्वारा लोकनिबन्धन पितृकर्म के बिना गृह पितर अप्रसन्न हो कर काय-प्रवेश द्वारा पारिवारिक व्यक्तियों को उत्पीडित करते रहेंगे। अतएव कुलस्त्रियों के द्वारा महासङ्गीत के माध्यम से यथासमय-यथापूर्व अन्य देवकार्यों की भाँति इन गृह प्रेतपितरों की भी अन्नप्रदान-द्वारा सुष्टि वृत्ति प्रव्रजन्त रहनी ही चाहिए। अन्यथा ये भी कुलस्त्री-सम्पत्-सन्तति-सीत्य-के उत्पीडक-विनाशक-बनते रहेंगे। ये प्रेतपितर श्मशानस्थ 'श्मशा' नामक प्रेतदेवता के द्वारा मद्भ्रालित रहते हुए स्वतन्त्रः आकाश में-घट-पिप्पलादि वृत्तों में-पुरातन शून्य गृह-कन्दराओं में-मध्याह्न में, सायं फाल-मध्यरात्रि में-श्मशानभूमि में-चतुष्वथ में विविधाकारों में परिणत रहते हुए परिभ्रमण करते रहते हैं। सुगन्धिद्रव्य (इत्र-पुष्पमाला आदि) लगा कर पढ़िन कर, क्षीरान्न-मिष्टानादि मा पीकर

उक्त स्थानों में उक्त समयविशेषों में घूमने फिरने विश्राम करने वाले बालकों पर स्त्रियों पर तत् स्थानीय प्रेतों का आक्रमण होना सम्भव है, जिस इस आक्रमण से इनका विविध उत्पादादि रोगों से आक्रान्त बन जाना भी सम्भव है। अतएव परिवार के प्रहाराशील (सममदर) स्त्री पुरुषों को अपने अपने पारिवारिक यशों को, नववयस्का-विशेषतः शृणुमती, सगर्भा स्त्रियों को उक्त स्थान-उक्त समयविशेषों में गमनागमन से बचाते रहना चाहिये।

इत्यादि इत्यादि पूर्वोक्तलक्षणा जिस भूत-प्रेतयाघापरम्परा का पार्वण-महालय-क्षयाह-गयाआद्धादि आद्धपरम्परा का शृणुमोचनोपायोपनिषत् से आरम्भ कर पूर्वोपवाणित 'महासङ्गीत की पावनस्मृति' नामक प्रासङ्गिक प्रेतपितृकर्म पर्यन्त जो स्वरूप विरलेपण हुआ है, इसकी प्रामाणिकता के लिए जो जो निगमागम-प्रमाण-आम्नायपरम्परा-बड़े आटोप के साथ उप-यर्णित हुई है, इसके माध्यम से भावुक अद्भुत मानवर्ग में जो भय-कम्पन-उत्पन्न करने का प्रयास हुआ है, वह अथर्व ही एतद्देशीय-परम्परा आम्नायभक्त (रूढ़िभक्त) धर्मभीरु भारतीय आस्तिक भावुक मानव के लिए ही अद्भुत का विषय बन सकता है, मदा से ही बनता चला आ रहा है। किन्तु इन सब प्रयासों का वर्तमान युग के उस तटस्थ आलोचक ही दृष्टि में क्या महत्त्व शेष रह जाता है, जिसकी बुद्धि ने, प्रहाराशीला मनीषा ने प्राकृतिक तत्त्ववादानुरीलनपरम्परा के, तर्क-युक्ति, सर्वोपरि विज्ञानपरीक्षणपरम्परा के प्रामाण्य माध्यम से सम्पूर्ण प्राकृतिक तत्त्ववाद के घात-विक-तथ्यात्मक-स्वरूपज्ञान के द्वारा तथाविध केवल शब्द प्रामाण्यानुगत-सर्वथा अपरीक्षित-मान्यता-परम्पराओं की निःसारिता-अनुपयोगिता-घातकता का इतिहास जान लिया है, सर्वात्मना पट्टिचान निया है। ऐसे प्रहाराशील मनीषी तटस्थ वैज्ञानिक का ओर से यदि निम्नलिखित आलोचना-परम्परा उपस्थित होती है हम केवल प्रमाणभक्तों के सम्मुख, तो उसका हमारी तर्क-युक्ति-विज्ञानशून्या जड़-अद्भुत-अन्धअद्भुत क्या समाधान करेगी?, एवं हम तथा हमारी 'काल्पनिक' मान्यता परम्परा, दोनों ही कैसे सुरक्षित रह सकेंगे उन तटस्थ आलोचकों की तर्क-विज्ञानसम्भता तटस्थ आलोचना की प्रति-द्वन्द्वता में, जिस तटस्थ आलोचना का स्वरूप वर्तमान युग में न केवल पठितवर्ग के लिए ही, अपितु सर्वसाधारण के लिए भी सर्वथा मुलुभ बन गया है।

“अहोरात्र देखते हैं, देख रहे हैं, अनुभव कर रहे हैं हम मुकुलित नयन बन कर कि, जो प्रगति-शील मानवजातियों शास्त्रप्रमाणानुमोदित आद्धादि परम्परा के नाममात्र से भी परिचित नहीं हैं, 'पञ्चमहाभूतविज्ञानान्वेषण' के अतिरिक्त जिनके कोश में 'भूत-प्रेत' नाम का कोई कल्पित पदार्थ समा-विष्ट नहीं है, जो सपरिवार-सबन्धुबान्धव सर्वत्र स्वैराचारेण निर्भयरूपेण विचरण करते जिनके परमसौम्य बालवृन्द, अनन्यसौम्य नारीवृन्द सर्वत्र मध कालों में सब कुद्ध र से अशान-पान करते हुए अपने मानवजीवन को घन्य बना रहे हैं, जगदवस्था को

स्वप्नावस्था में भी तो वे भूत-प्रेत-पितर-भैरव-देवी-यक्ष-गन्धर्वादि स्पर्श भी तो नहीं कर पाते, उनका, जिन भूत-प्रेत-पितर की मान्यता से भारतीय परिवार अहर्निश विकम्पित बने रहते हैं। उतनी विद्वत् अनुधावन करने की क्या आवश्यकता है, जबकि हम हमारे ही देश में हमारी शास्त्रीय मान्यताओं के प्रति आदरभाव सुरक्षित रखने वाली कतिपय जातियाँ वैसे स्थानों में न केवल प्रमण ही करती, अपितु वे स्मरानस्थान-शून्य चैत्यादि स्थान ही उन जातियों के अहोरात्र के निवास स्थान बने हुए हैं, जहाँ गमनमात्र से हम नागरिकों के, श्रद्धालु-शास्त्रमत्त नागरिकों के—बच्चे, और स्त्रियाँ विकम्पित होने रहते हैं। स्वयं हमारे धर्मशास्त्र ने कतिपय बौद्धी जातियों को बर्होस किया है, जो शास्त्रीय विधिपूर्वक स्मरानादि स्थानों में ही सपरिवार यावजीवन तत्रैव निवास करती हैं। स्मरानकरमाहिणी सुप्रसिद्ध 'महाब्राह्मणजाति' (काठ्या) सपरिवार चिताओं से संलग्न गृहों में ही सुख-शान्तिपूर्वक निवास करती है। इनके दुधनुं हे बच्चे स्मरानचिता के आस-पास क्रीड़ा कौतुक करते हुए, वहाँ प्रेतकर्मनिबन्धन आगत-दुग्ध-मिष्टान्न-बॉयल से अपनी रसना को रसान्वित करते रहते हैं, और स्मरानवासी भूत-प्रेतगण, किंवा वेदात्म्यासिद्ध स्मरानशक्तनुगत पोरपोरतम 'स्मशा' देवता इनकी ओर भ्रूविक्षेप भी तो नहीं कर सकते। कहना, और मानना पड़ेगा, कहना चाहिए, और मानना चाहिए कि, शास्त्रीय आत्म्याप्रामाण्य पर अवलम्बित भद्रापूर्वक विहित सर्वविध आध्यादि औषधैर्देहिक-कर्म, मृतमेतवेश-मृतमेतवाचा-सय-कुल विज्ञानदृष्ट्या इस वर्तमान वैज्ञानिक युग में सर्वोत्तमा आलोच्य, अतएव अप्रामाणिक, अतएव नितान्त अपेक्षणीय ही हैं। अन्धश्रद्धालु-गान्तुगतिक-स्त्री-समाज (सो भी भारतीय अपठित स्त्रीसमाज) के अतिरिक्त, एवं तत्समानधर्मा जड़मति मानवधर्म के अनिर्दिष्ट कोई भी प्रहाराशील मानव युक्तिविज्ञानतर्कशून्य ऐसी काल्पनिक मान्यताओं के प्रति, काल्पनिक शास्त्रमति के प्रति युक्तिविज्ञान भी आधा नहीं रख सकता, नहीं रख सकता, नहीं रखनी चाहिए। प्रत्यक्षप्रामाण्यतुल्य तयाकथित कुछ एक लौकिक निदर्शनों के माध्यम से ही जब कि आपकी शास्त्र-मान्यता का मुद्द हुरी सर्वात्मना विकम्पित है, तो इस सम्बन्ध में विज्ञानानुमोदित अन्य तर्क-कारणों का माध्यम इसलिए (हम आलोचक) सर्वथा व्यर्थ ही मान रहे हैं कि, निवृत्त्य-निरर्थक-दर्शनों में अपनी विज्ञानबुद्धि का दुरुपयोग करना तदर्थ आलोचकों का धर्म नहीं।"

"आलोचनाप्रसङ्गे—'श्रोम्' इत्येतदुवाच श्रद्धालुरप्य"

अपराधः तदर्थ आलोचकों की उक्त आलोचना इसलिए शास्त्रमत्त आत्म्याप्रामाण्यवादी श्रद्धालु के लिए मान्य होगी कि, आस्तिक श्रद्धालु केवल 'विधिवत्' का ही समर्थक है। यह 'हाँ' करना ही जानता

ॐ निपादस्त्री तु चाण्डालान्-पुत्रमन्त्यविंशतिपिनम् ।

'स्मरानशोचरं' सते शायानामपि गहितम् ॥ मनुः १०।३६।

है, 'ना' करना नहीं। 'निपेधभाव' उसकी अस्तिभावानुगता विधि से सर्वथा तटस्थ है। अतएव आलोचकों की आलोचना का सर्वोत्तम अन्तःकरण से समर्थन करते हुए, उनकी विज्ञानानुमोदित भावुकतापरम्परा को सुरक्षित रखते हुए ही हम उनकी तटस्थ आलोचना का तटस्थरूप से ही समाधान करने का सामयिक प्रयास करने की चेष्टा करेंगे।

समाधान से पूर्ण मुक्त एक प्रतिप्रश्न है हमारी ओर से उन तटस्थ आलोचकों की आलोचनात्मक प्रश्नपरम्परा के सम्बन्ध में। जो असंख्य-असंस्कृत-मूर्ख-यथाज्ञात-मानव मानवसर्ग के आरम्भ युग से वर्तमान युगपर्यन्त सभ्यता-संस्कृति-शिक्षा-नीति-धर्म-विज्ञान-तत्त्वमीमांसा-आचारमीमांसा-मनोविज्ञान-आदि आदि से सर्वथा अपरिचित रहते हुए, पशुवत् केवल आहारनिद्राभयमैधुनपरायण ही बने रहते हुए, पशुसमान ही जीवनयापन करते हुए 'जायस्व-म्रियस्व' (पैदा हो जाओ, और मर जाओ) को ही अपने मानवजीवन का परमपुरुषार्थ मानते चले आ रहे हैं, उनकी दृष्टि में क्या संस्कृति-सभ्यता आदि से सम्बन्धित विधि-निपेध (नियम और अपवाद) का कोई महत्त्व है?। क्या मानव ही एकमात्र प्राकृतसर्ग का प्राणी है?। क्या मानवैतर पशु-पक्षी-कीट-कृमि-आदि प्राकृतिक सर्ग के प्राणी नहीं है?। क्या इन पश्वादि प्राकृतिक प्राणियों के लिए, इनके समुद्धार के लिए, इन्हें सुसंस्कृत-शिक्षित-सभ्य बनाने के लिए प्राकृतिक विज्ञानवादियों ने आज तक कोई वैसा सफल प्रयास किया है, जिसके द्वारा इनकी आकृति-भाषा-व्यवहार मानवसदृश बन गया हो?। मीमांसा कीजिए अपनी तर्क-युक्ति-सम्मता वि. नदृष्टि से इन प्रतिप्रश्नों की। मीमांसा से आप जिस निष्कर्ष पर पहुँचें, अनुग्रह कर उससे हमें भी कृतकृत्य कीजिए!

प्रकृतमनुसरामः। अवश्य ही अमुक जातियाँ श्रद्धादिकर्म-भूतप्रेतमान्यता-आदि से असंख्य रहती हुई भी अपने ऐहलौकिक सुखोपभोग में-अपत्य-कलात्रपरम्परा से आज सर्वाग्रणी, विशेषतः मान्यतानुगामिनी आस्तिक वर्तमान भारतीय हिन्दूजाति की अपेक्षा से तो अवश्य ही सर्वसुखोपेता प्रमाणित हो रही हैं। और ऐसी समस्या आज ही कोई नवीन नहीं है। पुरायुग (वैदिकयुगात्मक देवयुग) में भी यह समस्या ठीक इसी रूप से आस्तिक भारतीय मानव के सम्मुख उपस्थित हुई थी. उस युग के विज्ञानपरायण लोकमुखानुगत-भारतीय आस्तिक-मान्यताओं के अन्यतम प्रतिद्वन्द्वी-विरोधी-मानव-समाज के समतुलन में। श्रुतिसिद्ध यज्ञकाण्ड पर, देवयजनकर्म पर, पितृयजनकर्म पर उस युग में आस्तिक मानव की पूर्ण श्रद्धा थी। किन्तु जब इसने यह देखा, और यह अनुभव किया कि, "जो जातियाँ हमारे शास्त्र पर अणुमात्र भी विश्वास-श्रद्धा न कर केवल अपने बुद्धि-विज्ञानबल पर लोकोत्तमूलक भौतिक कर्मों में परायणा हैं, वे हमारी अपेक्षा विशेष समृद्ध हैं। इधर श्रद्धापूर्वक देव-पितृयजनकर्म में अहोरात्र तल्लीन हम भारतीय परलोक सुख की कौन कहे, ऐहलौकिक सुख से भी वञ्चित हैं"। इसी समतुलनभावानुग्रहेण उत्पन्ना तान्त्रिक अश्रद्धा से उस युग का भारतीय आस्तिक



‘स्थितस्य गतिरिचन्तनीया’ इसलिए कि, तदर्थ आलोचक, विज्ञानगादी आलोचक हमारे पूर्वोद्गारों से इस तथ्य के अनुगामी बनते जा रहे होंगे कि, आलोचना का युक्ति-तर्क-विज्ञानसम्मत समाधान तो श्रद्धालु-आस्तिक के कोश में है नहीं। अपितु-‘शेषं कोपेन-पूरयेत्’ न्याय से वह उसी शास्त्र-प्रामाण्य की घोषणा का अनुगामी बनता हुआ उन हम-आलोचकों की प्रतारणा से गतानुगतिक अन्धवर्त्मा अपने मूर्ख अनुयायियों को तुष्टमात्र करना चाहता है, जो तदर्थ आलोचक बिना युक्तितर्कसम्मत विज्ञानवाद के केवल-काल्पनिक शास्त्रव्यामोहन से स्वप्न में भी प्रभावित होना नहीं जानता। इस स्थिति का अनुभव कर रहा है स्वयं यह श्रद्धालु भी अपने अन्तर्जगत् में। किन्तु इस स्थिति से वह चिन्तित इस लिए हो रहा है कि, यह भूतविज्ञानवाद से सर्वथा अपरिचित है, एवं अपरिचित है भूतविज्ञानवादियों की सभ्यता—संस्कृति-शिक्षा-धर्म (मत)—नीति-आचार-विचार-प्रणाली से। इसी सहजचिन्ता ने स्थिति-परिस्थिति-के जानकार भी इस श्रद्धालु को हत-प्रभ बन रक्खा है। इन के समीप तो इस चिन्तावियुक्ति का एकमात्र यही शास्त्रसम्मत समाधान है कि—

१—पापिडनो विकर्मस्थान्-वैडालव्रतिकाञ्छठान् ।

हेतुकान् वक्तृर्चाश्च बाङ्मात्रेणापि नाश्चेत् ॥ (मनु० ४।३०।)

२—या वेदवाद्या स्मृतयः—याश्च काश्च कुदृष्टयः ।

सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य, तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ (मनु० १२।६५।)

३—उत्पद्यन्ते ज्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित् ।

तान्यर्वाक्कालिकतया ‘निष्फलान्यनृतानि च’ ॥ (मनु० १२।६६।)

४—श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।

ते सर्वाथेयमीमांसे, ताम्यां धर्मो हि निर्वर्मी ॥ (मनु० २।१०।)

तस्मात्—

५—योऽवमन्येत ते भूले हेतुशास्त्राभयाद्विजः ।

स साधुभिर्वहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ (मनु० २।१२।)

निष्कर्ष उक्त स्मार्त वचनों का यही है कि, “जिस” विधि-आम्नाय-मान्यता का मूल श्रुति, एवं स्मृतिशास्त्र ( निगमागमशास्त्र ) है, उसके सम्बन्ध में किसी भी तर्क हेतु-विज्ञान-किंवा मीमांसा-आलोचना को कोई भी अवसर नहीं है। ‘यदस्माकं शब्द आह तदस्माकं प्रमाणात्’—यतो हि शब्द प्रमाणका वयम्’ ही हमारा एकमात्र समाधान है। जो व्यक्ति तर्क-युक्ति-विज्ञानवाद को अप्रणी बना कर हमारी निगमागममूला आस्था श्रद्धा-मान्यता की आलोचना-प्रत्यालोचना करते हैं, साधू लोग

(दण्डकमण्डलुधारी वीतराग चतुर्थाश्रमी-तत्त्वचिन्तक-तत्त्वोपदेष्टा आचार्य्य संन्यासी) उस वेदनिन्दक केवल हेतुवादी-तर्कवादी का सर्वात्मना बहिष्कार (उपेक्षा) ही कर देते हैं। और तो और, वे संन्यासी जैसे हेतुवादी-वकृत्तिपरायण x-वैदालव्रतिक-पाखण्डी-विकर्मस्थ (शास्त्रविरुद्ध निन्द्य-असत्-कर्मालुगामी) का वाणी से भी सम्मान करना उचित नहीं मानते।

क्या भारतीय शास्त्रानुष्ठा में तर्कवाद, युक्तिवाद, एवं विज्ञानवाद का उसी प्रकार प्रवेश निषिद्ध है, जैसे कि अमरतीयों के मतवादों में तर्क-युक्ति-विज्ञान-‘कुफ़’ माना गया है?। क्या इस प्रकार भयग्रस्त हैं भारतीयशास्त्र मतवादों की भाँति ही तर्क-युक्ति-विज्ञानवाद से?। यहाँ हमें आपद्धर्मानुगता विधि की आज्ञा से सर्वथा अपवादरूप से ‘निति होवाच श्रद्धालुः’ इस निषेध भाषा का अनुगामी बन ही जाना पड़ा, विवशतावश बन जाना पड़ा। कौन कहता है कि, भारतीय कर्म केवल उसी प्रकार ‘मान्यता’ मात्र है, जैसे कि इतर आधुनिक-युगधर्मानुगत मतवाद?। कौन यह प्रमाणित करने का दुःसाहस कर सकता है कि, भारतीय युतिस्मृतिसिद्ध धर्म के पावन-विशाल-शाश्वत-सनातन-विमल-प्राप्ति में युक्ति-तर्क-हेतु-विज्ञानवाद का समावेश निषिद्ध है?। अभी अनुपद में ही मनुस्मृतियों के द्वारा हमने ही तो समावेश निषिद्ध बतलाया था। बतलाया था। बतलाना एक विशेषदृष्टिकोणसे अनिवार्य था, इसलिए बतलाया था, इसलिए तर्क-विज्ञानादि का प्रवेश निषिद्ध प्रमाणित किया था। जहाँ जिज्ञासा नहीं, केवल वितण्डावाद है, जहाँ तत्त्वबोध के लिए सीमांसासम्मत ‘वाद’ नहीं, जहाँ केवल ‘वाद’ के लिए ‘वाद’ है, निरर्थक वाद-विवाद है, शुष्क वाक्कलहमात्र है, अनुज्ञा है, अतपस्कता है, यहाँ तर्क-युक्ति-विज्ञानद्वारा शास्त्रनिष्ठा प्रमाणित भी यदि कर दी गई, तो अभिनिषिद्धों का इस से कोई उपकार न सम्भव नहीं। हाँ, श्रद्धालु का समय अवश्य व्यर्थ प्रमाणित हो जाता है। इसका स्वयं अपना अपकार अवश्य निश्चित बन जाता है। इसी दृष्टिकोण से भगवान् मनुने तर्कवादादि का प्रवेश निषिद्ध माना है। ठीक इसके विपरीत जो जिज्ञासाबुद्धि रखते हैं, सार्विक भाव से कुछ जानना चाहते हैं, अतएव जो तपस्क-श्रुतुकाय-अजिह्व-भद्रालु हैं, उन के समाधान के लिए ये ही भगवान् मनु क्या कहते हैं?, सुनिए!

(१)-प्रत्येवं-चानुमानञ्च-शास्त्रञ्च त्रिविधागमम्।

प्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ ( मनु: १२।१०५। )

x-‘अन्तःशाक्ताः-वद्विर्भावाः-समामध्ये च वेष्णवाः’ को परिचय करने वाले।

\* “तद्येह प्रजापतिव्रतं चरन्ति, ते मिथुनमुत्पादयन्ते। तेषामेवैष ब्रह्मलोकः-येषां तपः, ब्रह्मचर्यं, येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्। तेषामेवैष विरजो ब्रह्मलोकः-न येषु जिह्वा, अनृतं-न माया चेति”।

—-मनोपनिषद् १।१६।

(२)-प्रापं धर्म्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।

‘यस्तर्कैणानुसन्धत्ते’ स धर्म्मं वेद नेतरः ॥ ( मनुः १२।१०६॥ )

तस्मान् -

(३)-नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले !

‘कारणात्’ धर्म्ममन्विच्छन्-स लोकानाप्लुतं शुभान् ॥

यादृष्यादमूलक तर्क जहाँ ‘तर्कप्रतिष्ठानात्’ (वै० दर्शन) रूप से उपेक्षणीय है, वहाँ तत्त्वज्ञानासामूलक तर्कवाद के लिए-‘यस्तर्कैणानुसन्धत्ते’-‘कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन्’ इत्यादि घोषणाएँ हुई हैं। और फिर केवल विधि-निषेधस्मारक ‘धर्म्मशास्त्र (स्मृतिशास्त्र)’ का यह उत्तरदायित्व है भी कहाँ, जो प्रभुसम्मत-राजाज्ञाममसुलित-वेदशास्त्र के रहस्यपूर्ण-विज्ञानपूर्ण-तर्कयुक्तिसम्मत विधि-विधानों में हेतुवाद का समन्वय करे। यह उत्तरदायित्व तो एकमात्र है रहस्यपूर्ण वेदशास्त्र का ही। दुर्भाग्यवश कतिपय शताब्दियों से वेदशास्त्र की आम्नायमिद्धा तत्त्वविज्ञानपरिपूर्णा अध्ययनाध्यापनप्रणाली विस्मृत कर दी भारतीय विद्वानों ने। लक्ष्य बने रह गए इनके प्रधानरूप से केवल स्मृतिशास्त्र, पुराणशास्त्र, एवं आचारमीमांसाशास्त्र केवल शुष्कज्ञानानुगत तत्त्वमीमांसात्मक दर्शनशास्त्र। आज तो वह लक्ष्य भी स्वार्थमना विस्मृत बन चुका है। आज तो लक्ष्य बन गए हैं अर्थाधीन शुष्क नव्यन्यायग्रन्थ, मनोरमादि वादात्मक-व्याकरणग्रन्थ, एवं मानसिक दुर्बलाताओं को प्रोत्साहित करने वाला काव्य-साहित्यप्रपञ्च। आज तो यह खलित ग्रन्थनिष्ठा भी पलायित है। आराध्य है आज के युग में तो सर्वलक्ष्यशून्या केवल ‘नामभक्ति’। नैगमिक आम्नाय गया, स्मृतिशास्त्र विलुप्त हुआ, इतिहास (महाभारत) पुराण विस्मृत बने, ज्ञानमीमांसात्मक दर्शनशास्त्र स्मृतिगर्भ में घिलीन हुआ, नव्यन्यायग्रन्थ पलायित हुए, परिष्कारसमाकुलित व्याकरणवाद अगत हुआ, मनोऽनुरञ्जक काव्यसाहित्य पराःपरावत बना, रह गया केवल यह ‘हरे राम-हरे राम’, जो सुषुप्त (मरणसन्न) मानव

( ३०० पृष्ठ की दिप्पयणी का शेषांश )

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।

न चाशुश्रुषवे वाच्यं न च मां ( आत्मसत्तां ) योऽभ्यसूयति ॥ ( गीता १२।६७॥ )

श्रद्धावाननुसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।

सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥ ( गीता १२।७१॥ )

\*-श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः, धर्म्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः । ( मनुः २।१०१॥ )

की भाषा मानी गई है । इस प्रकार 'विवेकप्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखम्' को अक्षरशः चरितार्थ करने वाली यह स्थलनपरम्परा अभी भारतीय विद्वानों को ओर वहाँ लेकर निःशेष बना देने वाली है ?, प्रश्न के संस्मरण से भी आज हम विकम्पित हैं-।

ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण वेदशास्त्र की व्यात्यन्तिक उपेक्षा का ही यह दुष्परिणाम है कि, हमारा आस्तिक सम्प्रदायवाद भी मनोऽनुभूत्यात्मक भक्तिकाण्ड से आविष्ट बनता हुआ प्रत्यक्षरूप से वेदसिद्ध नैगमिक आम्नायग्रामाण्य पर प्रतिष्ठित चतुर्दशविध चान्द्र भूतसर्ग के तार्विक स्वरूप से अपरिचित रहता हुआ 'पितृपरिवार' के स्वरूपज्ञान में कुण्ठित बन गया है । अतएव जिसने रुद्रविभूत्यात्मक भैरव-भौमपार्थिव पितर ( भेमियाँ )-महावीरादि-मान्यताओं का विरपट-शब्दों में उपहास-उपेक्षा करने में ही अपने कल्पित भक्तिकाण्ड के संरक्षण का अनेकान्तिक उपाय मान लिया है । अपने आपको सनातनधर्मसंरक्षक-आस्तिकमूर्खन्य घोषित करने वाले भारतीय सम्प्रदायवाद की जहाँ ऐसी काल्पनिक प्रज्ञा बन गई है, तो उन अन्य तदर्थ आलोचकों के सम्बन्ध में हम क्या आलोचना करें, जो भारतीय वर्णमाला से, भारतीय भाषा की मौलिक व्यञ्जना से भी सत्यमता असंस्पृष्ट बने हुए हैं । यह सर्वविधा आपातरमणीयता सम्बन्धित है वेदान्ताय-के परित्याग से, उस वेदान्ताय के परित्याग से, जो प्रत्येक विधि की विधि के साथ ही ज्ञानविज्ञानमम्मता रहस्यपूर्णव्याख्या का समन्वय करना अपना मुख्य लक्ष्य मानती है । ऐसा करो ! कहने के साथ ही 'तत्-यत्-कृष्णाजिन-मादत्ते-(तदुच्यते-तस्य कारणमीमांसा क्रियते)' इत्यादि रूप से उस विधि की वैज्ञानिक मीमांसा करके ही अग्रगमिनी बनती है । अतः स्मार्त विधिभावों की नकारणमीमांसा-विज्ञानमीमांसा-आचारमीमांसा-से सम्बन्धित जिज्ञासाओं के वैज्ञानिक समाधान का उत्तरदायित्व एकमात्र वेदशास्त्र पर ही अवलम्बित है । धर्म का धर्मस्य, कर्म-का कर्मस्य, मान्यता का मान्यतास्य, सब कुछ विज्ञानद्वारा, वेदशास्त्र में समाहित है । देखिए ! स्वयं स्मार्तचार्य इस सम्बन्ध में अपने क्या मनोभाव अभिव्यक्त कर रहे हैं—

(१)—चातुर्वर्ण्यं, त्रयो लोकारवत्त्वारथाश्रमाः पृथक् ।

भूतं-भव्यं-भवचैव सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥ ( मनुः १२।६७ )

(२)—शब्दः-स्पर्शश्च-रूपश्च-रसो-गन्धश्च पञ्चमः ।

वेदादेव प्रव्यन्ते, प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ( मनुः १२।६८ )

—वेदविहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रविहीनाश्च पुराणपाठकाः ।

पुराणहीनाः क्वयो भवन्ति, अप्टास्ततो भागवता ( नामसंकीर्तनपरायणाः ) भवन्ति ॥

अपहाय निजं धर्मं 'रामकृष्णेति' वादितः ।

ते हरेर्द्वेषिणः पापाः, धर्मार्यं जन्म यद्वरे ॥

—रुद्रांत-

भक्तभातालमृदङ्गवाद्यनिरता दासाः कलौ दैवेषवाः ( नामभक्ताः ) ।

( गन्धर्वाप्सरप्राणप्रधानाः-नृत्य-गीत-वादनचतुराः )

(३)—विभक्तिं सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।

तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ (मनुः १०।६६।)

(४)—अर्थकामेवसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

“धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः” ॥ (मनुः २।१३।)

तस्मान्—

(१)—वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।

तं ह्यस्याहुः परं धर्मं—उपधर्म्मोऽन्य उच्यते ॥ (मनुः ४।१४७।)

(२)—वेदमेव सदाभ्यस्येत्—तपस्तप्यन् द्विजोचमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ (मनुः २।१६६।)

वेदानभ्यामेतु—

(३)—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रत्त्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ (मनुः २।१६७।)

ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण वेदशास्त्र-स्वाध्यायान्माय का ही यह सुपरिणाम था कि, वेदवित् एतदेशीय भारतीय अग्रजन्मा भूदेव ज्ञानविज्ञानव्याख्या के द्वारा अपनी सनातननिष्ठा की सुरक्षा करता हुआ सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल की तत्तत् विभिन्न मानवजातियों की मान्यताओं में भी यही पथप्रदर्शक बना रहता था, जिसके आधार पर भगवान् मनु ने यह घोषणा अभिव्यक्त की थी कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिष्टैरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

सब मतवादी सर्वत्र अपने अपने मतवाद की मान्यता की ही घोषणा करना अपना परम पुरुषार्थ मानते हैं। सबको अपना अनुयायी बनाने में ही अपनी सफलता मानते हैं। उधर भारतीय आर्य-द्विजाति बुद्धिभेदमान्यतानुबन्ध से यह घोषणा कर रहा है कि—‘हम से पृथिवी के सम्पूर्ण मनुष्य अपने अपने चरित्र, स्वस्व देशकालप्राप्त द्रव्यब्रह्माण्डरूप अपने अपने कर्तव्यधर्म का मौलिक स्वरूप समझे’। है कहीं अन्यसंस्कृतियों में ऐसी निर्व्याज घोषणा ?। वर्त्तमानयुग में ‘तर्क-युक्ति-हेतु-बाद-संशयवाद’-‘आदि के सम्बन्ध में सर्वसाधारण आस्तिक-भावुकप्रजा का वैसा आत्मविमोहन नहीं है, जैसा कि आत्मविस्मृति वर्त्तमानयुग के आस्तिकमानव—किन्तु भावुकमानव—की प्रचलित ‘विज्ञान’ शब्द से हो रहा है। ‘विज्ञान’ शब्द अर्थवैज्ञानिक से इसकी दृष्टि के सम्मुख बाष्पयान (रेलगाडी)—वायुयान—मोटोरयान—विद्युत्—तार—टेलीफोन—वायरलेसटेलिग्राफी—रेडियो—ग्रामोफोन—रेडियम—सर्वो-

की भाषा मानी गई है + । इस प्रकार 'विवेकप्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखम्' को अन्तराशः चरितार्थ करने वाली यह स्थलनपरम्परा अभी भारतीय विद्वानों को ओर कहीं लेजाकर निःशेष बना देने वाली है ?, प्रश्न के संस्मरण से भी आज हम विकम्पित हैं-।

ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण वेदशास्त्र की आत्यन्तिक उपेक्षा का ही यह दुष्परिणाम है कि, हमारा आस्तिक सम्प्रदायवाद भी मनोऽनुभूत्यात्मक भक्तिकाण्ड से आविष्ट बनता हुआ प्रत्यक्षरूप से वेदसिद्ध नैगमिक आम्नायप्रामाण्य पर प्रतिष्ठित चतुर्दशविध चान्द्र भूतसर्ग के तार्विक स्वरूप से अपरिचित रहता हुआ 'पितृपरिवार' के स्वरूपज्ञान में कुण्ठित बन गया है । अतएव जिसने रुद्रविभूत्यात्मक भैरव-भोमपाथिव पितर ( भेमियाँ )-महावीरादि-मान्यताओं का विरपट-शब्दों में उपहास-उपेक्षा करने में ही अपने कल्पित भक्तिकाण्ड के संरक्षण का अनेकान्तिक उपाय मान लिया है । अपने आपको सनातनधर्मसंरक्षक-आस्तिकमूर्द्धन्य घोषित करने वाले भारतीय सम्प्रदायवाद की जहाँ ऐसी काल्पनिक प्रज्ञा बन गई है, तो उन अन्य तदस्य आलोचकों के सम्बन्ध में हम क्या आलोचना करें, जो भारतीय वर्णमाला से, भारतीय भाषा की मौलिक व्यञ्जना से भी सर्वार्थमना असंस्पृष्ट बने हुए हैं । यह सर्वविधा आपातरमणीयता सम्बन्धित है वेदाम्नाय-के परित्याग से, उस वेदाम्नाय के परित्याग से, जो प्रत्येक विधि की विधि के साथ ही ज्ञानविज्ञानमम्भता रहस्यपूर्णव्याख्या का समन्वय करना अपना मुख्य लक्ष्य मानती है । ऐसा करो !. कहने के साथ ही 'तत्-यत्-कृत्वाजिन-मादत्ते- ( तदुच्यते-तस्य कारणमीमांसा क्रियते )'. इत्यादि रूप से उस विधि की वैज्ञानिक मीमांसा करके ही अग्रगामिनी बनती है । अतः स्मार्त विधिभावों की स्कारणमीमांसा-विज्ञानमीमांसा-आचारमीमांसा-से सम्बन्धित जिज्ञासाओं के वैज्ञानिक समाधान का उत्तरदायित्व एकमात्र वेदशास्त्र पर ही अवलम्बित है । धर्म का धर्मस्व, कर्म-का कर्मस्व, मान्यता का मान्यतास्व, सब कुछ विज्ञानद्वारा, वेदशास्त्र में समाहित है । देखिए ! स्वयं स्मार्तार्चाचार्य इस सम्बन्ध में अपने क्या मनोभाव अभिव्यक्त कर रहे हैं—

(१)—चातुर्वर्ण्यं, त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।

भूतं-भव्यं-भवर्च्यैव सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति ॥ ( मनुः १२।६७ )

(२)—शब्दः-स्पर्शश्च-रूपश्च-रसो-गन्धश्च पञ्चमः ।

वेदादेव प्रव्यन्ते, प्रसूतिगुणकर्मतः ॥ ( मनुः १२।६८ )

—वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रं, शास्त्रैर्विहीनाश्च पुराणपाठकाः ।

पुराणहीनाः कवयो भवन्ति, अप्ठास्ततो भागवता ( नाममर्क-चर्चनपरायणाः ) भवन्ति ॥

अपहाय निजं धर्मं 'रामकृष्णोति' वादितः ।

ते हरेर्देहिणः पापाः, धर्माथं जन्म यद्वरेः ॥

—सृष्टांत.

भक्तभक्तालम्बदङ्गवाद्यनिरता दासाः कलौ वैष्णवाः ( नामभक्ताः ) ।

( गन्धर्वाप्सराम्राणप्रधानाः—नृत्य-गीत-वादनचतुराः )

(३)—विमर्चि सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।

तस्मादेतत् परं मन्ये यजन्तोरस्य साधनम् ॥ ( मनुः १०।६६। )

(४)—अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।

“धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः” ॥ ( मनुः २।१३। )

तस्मान्—

(१)—वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतेन्द्रितः ।

तं ह्यस्याहुः परं धर्मै—उपधर्म्मोऽन्य उच्यते ॥ ( मनुः ४।१४५। )

(२)—वेदमेव सदाभ्यस्येत्—तपस्तप्यन् द्विजोचमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ ( मनुः २।१६६। )

वेदानभ्यामेतु—

(३)—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रस्त्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥ ( मनुः २।१६७ । )

ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण वेदशास्त्र-स्वाध्यायान्माय का ही यह सुपरिणाम या कि, वेदविन् एतद्देशीय भारतीय अग्रजन्मा भूदेव ज्ञानविज्ञानव्याख्या के द्वारा अपनी सनातननिष्ठा की सुरक्षा करता हुआ सम्पूर्ण पृथिवीमण्डल की तत्तत् विभिन्न मानवजातियों की मान्यताओं में भी यही पथप्रदर्शक बना रहता था, जिसके आधार पर भगवान् मनु ने यह घोषणा अभिव्यक्त की थी कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

सं स्वं चरित्रं शिखेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

सब मतवादी सर्वत्र अपने अपने मतवाद की मान्यता की ही घोषणा करना अपना परम पुरुषार्थ मानते हैं। सबको अपना अनुयायी बनाने में ही अपनी सफलता मानते हैं। उधर भारतीय आर्य-द्विजाति बुद्धिभेदमान्यतानुबन्ध से यह घोषणा कर रहा है कि—‘हम से पृथिवी के सम्पूर्ण मनुष्य अपने अपने चरित्र, स्वयं देशकालपात्र द्रव्यश्रेष्ठानुरूप अपने अपने कर्त्तव्यकर्म का मौलिक स्वरूप समझे’ । है कहीं अन्यसंस्कृतियों में ऐसी निर्व्याज घोषणा ?। वर्त्तमानयुग में ‘तर्क-शुक्ति-हेतु-बोद्ध-संशयबोद्ध-’आदि के संबन्ध में सर्वसाधारण आस्तिक-मायुकप्रजा का वैसा आत्मविमोहन नहीं है, जैसा कि आत्मविस्मृति वर्त्तमानयुग के आस्तिकमानव-किन्तु मायुकमानव-की प्रचलित ‘विज्ञान’ शब्द से हो रही है। ‘विज्ञान’ शब्द श्रेष्ठमात्र से इसको दृष्टि के सम्मुख बाध्यमान ( रेलगाड़ी )—वायुयान—मोटोरॉयन—विद्युत्—तार—टेलीफोन—वायरलेसटेलिग्राफी—रेडियो—ग्रामोफोन—रेडियम—सर्वो—

परि एटमबॉम-आदि आदि शतशः-सहस्रशः वैज्ञानिक-भौतिक आविष्कारपरम्परा प्रेतवत् नृत्य करने लगती है, ओर भावुक आस्तिक मानव इस लीला के वास्तविक ध्वंसात्मक मर्म से अज्ञ बने रहने के कारण अपनी सुध बुध ही खो बैठता है। दिङ् विमूढ़-सा, आरच्यचकित-सा, विभ्रान्त-सा, आन्त-सा, स्तब्ध-सा, चित्रचित्रित-सा यह स्वस्वरूपविमुग्ध मानव इन भौतिक वैज्ञानिक तात्कालिक-आपांतरमणीय आविष्कारों को, तथा आविष्कारकों को ही 'दूसरे रामजी' मानने-कहने की भयावह भ्रान्ति कर डालता है। प्रभावितानुगता इस भयावह भ्रान्ति का एकमात्र कारण है इसका अपने पुरातन 'देवासुरेतिहास' से अपरिचित रहना। उस पुराण में षण्णानुमोदित-दैत्यगुरु शुक्राचार्य के द्वारा आविष्कृत आसुरभाषापन्न जिन जिन भौतिक-आविष्कारपरम्पराओं का आविर्भाव हुआ है, उनकी तुलना में तो ये नितान्त क्षणिकविध्वंसक-मानवसहजशान्तिविधातक वर्तमान भौतिक आविष्कार कुछ भी तो महत्त्व नहीं रखते। प्रमाण के लिए रामरायणयुद्धप्रसङ्ग में, तथा महाभारतयुद्धप्रसङ्ग में घटित उपर्युक्त आसुर-आविष्कारपरम्परा के लोकोत्तर चमत्कारों का जाग्रत इतिहास ही पर्याप्त मान लेना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं है कि, युक्रशास्त्र में, किंवा तदनुगत आसुरशास्त्र में वर्तमान युगानुगत रेल-वेलन-तार-टेलीफोन-आदि जैसे ही आविष्कार थे, जैसा कि वर्तमानयुग के कतिपय आस्तिक भारतीय विद्वान् अपने अतित गौरवगान के आधावेश से भूतवैश्यात् आविष्ट बनते हुए शब्दों की अनर्थ-व्यञ्जना के माध्यम से रेल-तार-का अर्थ घोषित करने की महती भ्रान्ति कर रहे हैं। इनके प्रमाणित न करने से वेदशास्त्र के वैज्ञानिक दृष्टिकोण का महत्त्व घट नहीं जाता, एवं इन्हें आवेशधिया वर्ण-अक्षर-शब्द-पद-साम्यभ्रान्ति से प्रमाणित करने की व्यर्थचेष्टा से हमारे शास्त्र का गौरव अभिवृद्ध नहीं हो जाता। अपितु, हम तो कहेंगे, ऐसे आवेश से, इस प्रकार की 'वैज्ञानिकखोज' की नितान्त खननरूपा भावुकवृत्ति से वेदशास्त्र-सर्वज्ञानविज्ञाननिधि निगमशास्त्र-का महत्त्व हम न्यूनतम हो प्रमाणित करेंगे। "गंगानल में कीटाणु मारने की शक्ति है, इसलिए यह पवित्र है। गोमूत्र-गोमय का चोका भां हिन्दूपद्वति में कीटाणुविनाशक ही है" इत्यादिरूप से वर्तमान क्षणिकविज्ञानवादियों की कीटाणुसमगुलित कीटाणु-परम्परा का समावेश करते हुए विज्ञान की घोषणा करना आस्तिक विद्वानों की आपातरमणीयता ही कही जायगी। तब तो उन समूह-कीटाणुविनाशक सहजरूप से लभ्य-हीट-रक्तयण-अकार्यक आदि पदार्थों का ही हमें गंगा गोमूत्र-गोमय- (जिससे वर्तमान विज्ञानवादी घृणा ही अभिव्यक्त करता सुना गया है) के स्थान में सन्निवेश कर लेना चाहिए जिसमें

६. कुछ समय पूर्व एक वेदभक्त सनातनधर्मावलम्बी गुजराती महानुभाव से साक्षात्कार हुआ था। आपने एक दिन वेद के अमुक मन्त्र में पठित 'अक्यारि-इन्द्रम्' का यह अर्थ ? (अनर्थ-महा-अनर्थ) व्यक्त करने का अनुमति किया था कि, "इमो 'अक्यारि' से यवनों का 'अक्षर' शब्द विनिर्गत हुआ है। उन्होंने हम से ही इस प्रकार मय कुछ लिया है" इत्यादि। धन्य हैं ये वैज्ञानिक व्याख्याता।



हमारा गुहा भ्रम भी बच जाय, एवं हम इन विज्ञानवादिनों की दृष्टि में सभ्य सुसंस्कृत भी प्रमाणित हो जाय ।

'कीटाणु' का महत्त्व भारतीयों ने सर्वथा उपेक्षित ही किया हो, यह बात तो नहीं है । स्वयं अथर्ववेद ने आसुरभावापन्न-राजयत्नमादिप्रवर्तक 'अमीषा' कीटाणुओं का सविस्तर उपवर्णन किया है, इनके निराकरण के मणि-मन्त्र-ओपध्यादि सभी प्रकार के उपाय भी तत्र विस्तार से उपवर्णित हुए हैं । कीटाणुजनित सांक्रामिकता का विरोध भी हमारे शास्त्र में जैसा हुआ है, वर्तमान विज्ञानवादी अभी तक इसके संस्मरण का भी पात्र नहीं बनने पाया है, जिसके आधार पर स्पृश्यास्पृश्य-आशीच संक्रमणादि वैज्ञानिक पद्धतियाँ आविष्कृत हुई हैं, जिनका संहित स्वरूप क्रमशः आशीचविज्ञानोपनिषत् चतुर्थखण्ड में बतलवा जाने पाला है । किन्तु 'कीटाणु' ही यहाँ सर्वस्व नहीं है । स्मरण कीजिए उस चतुर्दशविध-पाथय भूतसर्ग का, जिसे 'चान्द्रजीव' माना गया है, जिसके अन्त में 'कीट-कृमि' नामक दो सगे उद्धोषित हुए हैं । इन चौदहों ब्रह्मादि-स्तम्भान्त सर्गों का तो केवल मानवीय मन, तथा मानवीय-शरीर पर ही अवसान माना गया है । मानवसंस्था के बुद्धि, भूतात्मा, नामक दो विवर्त्त तो अभी शेष ही रह जाते हैं, जिनका इन चान्द्रजीवों से सर्वथा पाथेय्य ही माना गया है । बुद्धपतुगल विज्ञानकाण्ड, एवं भूतात्मानुगत विज्ञानकाण्ड, दोनों इस क्षणिक भौतिक विज्ञान से बहुत परे की वस्तु हैं । 'तद्विज्ञानेन परिश्यन्ति घोरः'—सत्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—'विज्ञानमित्युपास्य'—विज्ञानं ब्रह्मति विजानात्' इत्यादि श्रौतवचनपठित 'विज्ञान' और वर्त्तमान भूतवादी का कीटाणुसमतुलित केवल 'पद्म-विज्ञान', सीमांसा कीजिए दोनों दृष्टिकोणों की, एवं सभी भारतीय विज्ञानवाद के समन्वय में प्रवृत्त होने का अनुग्रह कीजिए । अन्यथा 'विमेत्यन्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति' ही चरितार्थ बनेगा । कहीं है इस प्रकार की विज्ञानयोपणा अन्यत्र, जिसे सम्पूर्ण चर-अचर का मूल माना गया है, देखिए !

\* "विज्ञानाद्बोधो खल्विमानि भूतानि जायन्ते,  
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति  
विज्ञानं प्रयन्त्यभिरविशन्ति"

— तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली

मानव की आप्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक, तीनों कारण-सूक्ष्म-स्थूल-संस्थाओं का समन्वय पूर्वक सुविकास-स्वरूपसंरक्षण-सुरक्षित रखने वाले संघर्षात्मक जीवन के विरोधी शुक्रशास्त्र-

\* ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।  
पञ्ज्ञात्वा नेह भुयोऽन्यद् ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ ( गीता० ७।२।)

नुगत वे सम्पूर्ण अनुकूलताप्रवर्त्तक, साथ ही परिणाम में ध्वंस के जनक आसुर भौतिक आविष्कार, इन क्षणिक विध्वंसक-भौतिक आसुर आविष्कारों का आविष्कारक क्षणिक भौतिक विज्ञान यहाँ देवभावा-नुगत परिपूर्णतानुगामी मानव के लिए सर्वथा त्याज्य ही घोषित हुआ है, जिसका न्यून न्यूनतर-न्यूनतम रूप-विकृतरूप वर्तमान विज्ञान, एवं इसकी आविष्कारपरम्परा में दुर्भाग्यवश देवविज्ञानोपासक भारतीय हिन्दूमानव को सर्वथा इसकी भावुकता से आज व्यामोह में डाल कर इसे आश्चर्यविभोर बना रही है, इससे अधिक इसका और क्या पतन होगा ? क्या था इस देवभावापन्न भारतीय मानव का वैज्ञानिक दृष्टिकोण ? प्ररन की भीमांसा स्वतन्त्रनिबन्धसापेक्ष है। यहाँ 'भारतीय-विज्ञान' के सम्बन्ध में केवल यह दृष्टिकोण जान लेना अनिवार्यरूपेण आवश्यक होगा कि, "प्राणदेवमूलक यज्ञकाण्ड ही वह भारतीय विज्ञानकाण्ड है, जिसमें आकाशात्मा-स्वयम्भू ब्रह्मा से आरम्भ कर भूतात्मा पार्थिव पञ्चभू ब्रह्मापर्यन्त समस्त आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिर्भौतिक-नांक्षत्रिक-प्रहोपग्रह-अव्य-यात्मविज्ञान-महदात्मविज्ञान-विज्ञानात्मविज्ञान-प्रज्ञानात्मविज्ञान (मनोविज्ञान)-भूतात्म-विज्ञान-प्राणविज्ञान (तत्त्वविज्ञान)-समन्वयविज्ञान (आचारविज्ञान)-विद्वद्बुद्धिज्ञान-वृष्टि-विज्ञान-दुर्गागलविज्ञान-उक्थविज्ञान-औपधिवनस्पतिविज्ञान-पशुविज्ञान-पक्षिविज्ञान-कृमिकीट-विज्ञान-आदि आदि यक्षयावत् प्राकृतिक दैर्घ्यिक खण्डविज्ञान समाविष्ट हैं। समस्त खण्ड-विज्ञानगर्भित यज्ञविज्ञान ही भारतीय विज्ञानदिशा का मापदण्ड है। यही यहाँ की देवविद्या-नुगता ब्रह्मविद्या (चरविद्या) है, जो 'अक्षर' नामकी पराविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित है। पराविद्या का मूलाधार है अक्षर चर, पर अक्षर से भो अतीता अव्ययविद्या, जिसे 'पुरुषविद्या' कहा गया है, यही विज्ञानकाण्ड की पराकाष्ठा है, "सा काष्ठा सा परागतिः"।

पुरुषविद्यात्मक पुरुषविज्ञान आधार बन रहा है अक्षरविज्ञान का। यह आधार बन रहा है चर-विज्ञानात्मक उस यज्ञविज्ञान का, जिसमें समस्त तथाकथित खण्ड-खण्डात्मक सृष्टिविज्ञान प्रतिष्ठित (गर्भीभूत) हैं। पुरुषविज्ञानालम्बन पर प्रतिष्ठित अक्षरविज्ञान के द्वारा ही चरविज्ञानात्मक उस यज्ञ-विज्ञान का आविर्भाव हुआ है, जो सम्पूर्ण प्रजा का मूल उपादान माना गया है। यही यज्ञविज्ञान कर्मकाण्डात्मक लौकिक अभ्युदय (विश्वसम्पत्ति-अभिलषित सम्पत्ति) का प्रदाता माना गया है, जो आश्रमव्यवस्थानुसार गृहस्थाश्रमी द्विजाति का 'इष्टकामधुक' \* (यथेच्छफलप्रदाता) माना गया है, जिसमें देव-पितृकर्म मुख्य बन रहे हैं। चरानुगत यज्ञकाण्ड ही उन शत-सहस्र देवविद्याओं का

\* सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।

अनेन प्रसविष्यध्वमेव वोऽस्त्विष्टकामधुकः ॥

—गीता ३।११।

प्रवर्तक है, जिसका स्वरूपपरिचय भी उन दार्शनिकविज्ञानवादियों को आश्चर्यविमूढ़ करने की क्षमता रखता है। जिन भूतविज्ञानवादी वैज्ञानिकों के कृमिकीटात्मक विज्ञानाभासों से दुर्भाग्यवश अपनी नैगमिक आम्नाय को विस्मृत कर देने वाला कर्मशून्य-उत्पद्यकर्मनुगामी-लक्ष्यभ्रष्ट वर्त्तमान आस्तिक हिन्दूमानव स्वयं प्रभावित हो रहा है। "कालाय तस्मै नमः"।

अव्ययविज्ञानात्मक पुरुषविज्ञान १-‘ज्ञानकाण्ड’ ( सापेक्ष ज्ञानात्मक ज्ञानकाण्ड ) का आधार बनता हुआ द्विजाति शिरोव्रतानुगामी १-‘संन्यासी’ का आधार है। अक्षरविज्ञानात्मक प्रकृतिविज्ञान २-‘उपासनाकाण्ड’ का आधार बनता हुआ द्विजाति २-‘वानप्रस्थी’ का आधार है। एजं.क्षरविज्ञानात्मक प्रकृतिविज्ञान ३-‘कर्मकाण्ड’ का आधार बनता हुआ द्विजाति ३-‘गृहस्थी’ का आधार है। इन तीनों भारतीय विज्ञानकाण्डों का मूलसंहिताव्याख्यात्मक-तुल्यवेदात्मक १-‘उपनिषद्’-२-‘आरण्यक’ ३-‘ब्राह्मण’ ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध हो रहा है, जिनकी स्वाध्यायपरम्परा आज सर्वात्मना विलुप्त है। फिर कैसे भारतीय का स्वरूपोद्बोधन हो। प्रकृत में तो हमें पितृकर्मनिबन्धना उस तटस्थ आलोचना के सम्बन्ध में ही भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्ति-वर्क-सम्मत-विज्ञानमाध्यम से कुछ निवेदन कर देना है, जिससे यह आस्तिक अडालु, किन्तु भावुक मानव इस विद्या में वर्त्तमान चाक-चिक्यात्मक-दिग्बिमोहात्मक-भूतप्रेतावेशसमनुलित भूतविज्ञान के प्रभाव से बचे रहते हुए ‘देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते’ अपनी इस नैगमिकनिष्ठा से पराङ्मुख न बन जाय।

जब पाण्डव वनगमन करने लगे, तो कुजपुत्रेहित धौम्य के साथ साथ अन्य ब्राह्मण भी साथ हो लिए। वननिवास में युधिष्ठिर जैसे धर्मात्मा इन ब्राह्मणों की शरीरयात्रा के निर्वाह में अपने आपको असमर्थ देख जब दुःखार्त बन गए, तो धौम्य ने सौरप्राणानुगता देवविद्या के प्रदान से स्थाली के माध्यम से युधिष्ठिर का सम्प्राण किया। स्थाली से शतसहस्र अतिथि सम्मानित हो जाते थे, तो भी स्थाली परिपूर्ण ही रहती थी। कौरवप्रासाद में ही अवस्थित प्रज्ञाचक्षु धृतराष्ट्र संजयद्वारा जिस देवविद्या के माध्यम से महाभारतयुद्धप्रसङ्ग सुनने में समर्थ हो सके थे, व्यासप्रदत्ता यह देवविद्या भी सभी ने क्यानकरूप से तो सुन रखी ही होगी। क्या महत्त्व है इन देवविद्याओं के × समतुलन में विशुद्ध ध्वंसमूला वर्त्तमान दार्शनिक-आविष्कारपरम्परा का ? यह ठीक है कि, आम्नायविस्मृति से भारत-वर्ष उन यज्ञविज्ञानमूला देवविद्याओं से वञ्चित होता हुआ आज सर्वसमृद्धि शून्य-सा माना जा रहा है। किन्तु क्या इसीलिए यह अपने आपको पशुमात्र में परिणत कर ले ? निगमाम्नाय को निश्चित प्रतीक्षा

× ‘वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्’ नामक संस्कृतनिबन्ध में भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण का, तथा ‘उपनिषद्विज्ञानमाध्यमभूमिका-प्रथमखण्ड’ के उपक्रम में इस दृष्टिकोण का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गई है।

में इसे कभी इन पशुभावों का अनुगामी नहीं बनना चाहिए, मले ही इसकी शरीरय त्रा युगधर्म्म-नुसार वर्त्तमान से भी दुःसाध्य क्यों न बन जाय। ऐसे ही अवसर नो नैष्ठिक भारतीय मानव के के परीक्षण के अवसर माने गए हैं। और हमें हृदयम आत्मविश्वास है कि, 'आमृतस्य पुत्रा अभूम्' की घोषणा करने वाला भारतीय आम्निक मानव, नैष्ठिक मानव कभी युगधर्म्मानुगत मृत्युपाशों के पाश में आवद्ध न होता हुआ अपने को गतानुगतिक पशुसमानधर्म्मा नहीं बनाएगा, स्वप्न में भी नहीं बनाएगा।

“देवस्मरण, आदिकर्म्मानुगमन, रात्रिजागरणालम्क पितृकर्म्मानुगमन न करने से देवता और पितर अप्रसन्न होकर हमारा अनिष्टकर देते हैं। यन्नत्र अयुक्त स्थानों में गमन करने से हमारे बालक-स्त्रियों भूत-प्रेतबांधा से युक्त होकर कष्ट पाते हैं, और जो ऐसी मान्यताओं को सर्वथा उपेक्षणीय मानते हैं, उन इतर जातियों का न तो हम कोई अनिष्ट ही देखते, न उन्हें वित्त-पुत्र-लोक-विभूतियों से ही वञ्चित पाते। अतएव कहना पड़ेगा कि, यह सब अकर्मण्य-भीरु-तत्त्वविज्ञानशून्य-यथाज्ञात-भारतीय मानवों की शून्य मान्यता मात्र है”-यही तो है तटस्थ आलोचक की यह आलोचना, जिसके समाधान में लोकसंमहबुद्धि से हम प्रयुक्त होना चाहते हैं। एवमस्तु।

एक सुप्रसिद्ध लोकमुख है कि, “जो जिसका गुण है, वही ( निःसीम बनकर) उसका दोष ग्रन जाता है”। भारतीय आस्तिक मानवका सहस्रगुण था, ‘आस्थायुक्तश्रद्धा’। यह गुण ही निःसीम-भावानुगत बनता हुआ आज हमका महान् दोष प्रमाणित हो रहा है। स्वस्वरूपदोष से वञ्चित आस्तिक भारतीय मानव की आस्था-श्रद्धा के क्षेत्र आज बन रहे हैं दरार-विज्ञानवादी पश्चिमी विद्वान्। अतः सर्वप्रथम हम इन भारतीयों की वर्त्तमान परानुगत-आस्थाश्रद्धा से समतुलित प्रतीच्य विद्वानों की ( अज्ञातप्राय-किन्तु सहस्रदोषानुग्रह से यदाकदा श्रुतस्मृतप्राय ) सरणी की दिशा से ही समाधान का उपक्रम कर रहे हैं।

मुनते हैं, आज से लगभग २००० वर्ष पूर्व सुप्रसिद्ध दारोनिक् विद्वान स्वनामधन्य सर्वग्री ‘प्लेटो’ (Plato) ने ग्रीक (Greek) देश को पावन बनाया था, जिसके जीवन की दो धाराएँ तत्त्वमीमांसक पश्चिमी विद्वानों में प्रसिद्ध हैं। आरम्भ का तरुण प्लेटो शरीरानुगत मानसभावों, मानस अनुभूतियों का ही अन्वेषक बना रहता हुआ ‘अध्यसाहित्य’ का श्रष्टा बना। सीमाव्य से किसी ज्ञात-अज्ञात महामानव के माध्यम से प्लेटो का ध्यान भारतीय निगमान्माय की ओर आकर्षित हो पड़ा, जिस आम्नाय का

ॐ जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् हररिटलर (Herr Hitler) के दीक्षागुरु-पथप्रदर्शक शॉपनहॉवर (Schopenhaver) के पथवर्त्ता मन्थी ‘निट्श्चे’ (Nietzsche) ने यही भाव निम्न-लिखित शब्दों में व्यक्त किया है-जिसका नागरीलिपि में यह रूपान्तर सम्भव है-“One is best punished for One's Virtues” (अर्थात् मानव अपने सद्गुणों से ही दण्डित होता है)।

—निट्श्चे (जर्मनविद्वान्)।

मूलाधार बुद्धि और भूतात्मकक्षेत्र माना गया है। आमूलचूड़ परिवर्तन कर दिया प्लेटो का इस भारतीय दृष्टिकोण ने। विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गई इस तरुणकी काव्यसाहित्यानुगता मानस उत्तालतरङ्ग। ओर बन गया यह सहसा आत्मानुगत-बुद्धिवादी, तत्त्वविमर्शपरायण तत्त्वमीमांसक दार्शनिक। कहते हैं, इसने दार्शनिक जीवनधारा में प्रवाहित होने के साथ ही अपनी मानसिक भावुकता से सम्बन्धित समस्त काव्यसाहित्यरचना को अपने ही हाथों से कव्यादाग्नि में आहुत कर डाला इस रचना के प्रति परचात्ताप अभिव्यक्त करते हुए। प्लेटो की दार्शनिक जीवनधारा से अनुप्राणित सुप्रसिद्ध 'रिपब्लिक' ग्रन्थ (चार भागों में विभक्त—Republic of Plato) में भारतीय आचारमीमांसा का सर्वात्मना समर्थन हुआ है, जिसके कुछ एक

..... 'द्वितीयखण्ड 'ख' विभागान्तर्गत 'वर्णव्यवस्थाविज्ञान'

..... प्लेटो की मानसिकधारा को दार्शनिक-बौद्ध-विचारधारा में प्रवाहित करने का श्रेय जिस महामानव को प्राप्त हुआ था, वह भारतीय वेदान्तनिष्ठा के अनुशय से प्रभावित होने वाला 'सांक्रिटीज' (Socrates-सुकरात) ही था। यही प्लेटो का दार्शनिक गुरु था, जिसकी अव्यक्त दार्शनिकता व्यक्तरूपमें परिणत हुई प्लेटो में। प्लेटो ने अपना विद्यापुत्र बनाया 'एरिस्टाटल' (Aristotle-अरस्तू-सिकन्दरमहान् का गुरु—Alexander the Great) को, जो प्लेटो की दार्शनिकता के साथ साथ कथारास्त्रात्मक तर्कशास्त्र (लॉजिक—Logic) के माध्यम से आगे चलकर अपने गुरु प्लेटो का महान् आलोचक बनता हुआ दार्शनिक दृष्टिकोण के साथ साथ वैज्ञानिक दृष्टिकोणात्मक 'व्यथार्थवाद' का मूल सर्जक बना। ओर यों इन तीनों प्रीक विद्वानों की परम्परा ने तीन प्रकार की सरणियों के सर्जन का श्रेय प्राप्त किया—

- ❖ १—केवल तत्त्वमीमांसा (वेदान्तनिष्ठा) सांक्रिटीज (Socrates)
- २—आचारमीमांसासम्मत तत्त्वमीमांसा (सांख्यनिष्ठाानुगता वेदान्तनिष्ठा) प्लेटो (Plato)
- ३—व्यथार्थमीमांसाानुगत तत्त्वविमर्श (वैशेषिकनिष्ठाानुगता सांख्यनिष्ठा) एरिस्टाटल (Aristotle)

- (१)—परमगुरु—सांक्रिटीज (Socrates) तत्त्वद्रष्टा
- (२)—गुरु—प्लेटो (Plato) आचारसम्मततत्त्वमीमांसक
- (३)—शिष्य—एरिस्टाटल (Aristotle)—व्यथार्थसम्मततत्त्वलोचक

प्रीकविद्वत्त्रयी

❖ इसी आधारपर वर्तमान परिचयी चिन्तकों के निम्न लिखित दो दृष्टिकोण व्यवस्थित बनें—  
 'फिलासफिकल आउटलुक'—एवं—'साइन्टिफिक आउटलुक'  
 Philosophical outlook & Scientific outlook  
 दार्शनिक दृष्टिकोण—और—वैज्ञानिक दृष्टिकोण

विगत प्रक्रान्त शताब्दियों में पश्चिम में जितने भी तत्त्वविचारक हुए हैं, वे सभी प्रायः उक्त त्रयी के विचारों के ही समर्थक-आलोचक-मीमांसक माने गए हैं, जिन तत्त्वविचारकों में शॉपनहावर (Schopenhaver), कान्त (Kant), हाभर (Haumer), निट्स्चे (Nietzsche), ब्रॉडले (Bradley), हीगल (Hegel) आदि पश्चिमी विद्वानों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय माने जाते हैं उनकी मान्यता में। Greek Plato को छोड़कर निगमाम्नाय के सम्बन्ध में इन उल्लेखनीय विद्वानों में से किसी ने अपने स्पष्ट विचार अभिव्यक्त नहीं किए हैं। केवल तत्त्वमीमांसा (Metaphysics—मेटाफिजिक्स), आचारमीमांसा (Ethics—एथिक्स), प्रमाणमीमांसा, मनोविज्ञान (Psychology—साइकालॉजी), आदि दार्शनिक दृष्टिकोण ही इन का प्रधान प्रतिपाद्य रहा है। 'मेक्समूलर' (Maxmuller) आदि परिगणित विद्वानों ने यदि निगम-शास्त्र पर कुछ आलोचनात्मक निबन्ध लिखे भी हैं, तो वे भारतीय आम्नाय से विपरीत होने से उपेक्षणीय ही माने जायेंगे। धर्म के सम्बन्ध में—जिसका प्रधान सम्बन्ध आचारमीमांसा के साथ माना गया है—इन अधिकांश विद्वानों के ये उद्गार हैं कि—“सबल-समर्थों के आक्रमण से अपने आपका विरोध करने के लिए—( बचाव करने के लिए ) ही—निर्बलों ने धर्म ( मत ) का आश्रय ग्रहण कर रक्खा है”—जिसका व्यञ्जनार्थ यही है कि असमर्थ मानव ही धर्म की घोषणा करते रहते हैं, जो असमर्थ मानव समर्थ विद्वानों के लिए सदा उपेक्षणीय ही रहते हैं \*। इत्थंभूतलक्षणा इन प्रतीच्य विद्वानों की विश्वास ( Belief ), श्रद्धा ( Faith ), वैयक्तिक शिष्टाचार-रूपा शिष्टता ( Ettiquette ), पारिवारिक शिष्टाचाररूपा सभ्यता ( Civilization ), सामाजिक शिष्टाचाररूपा संस्कृति ( Culture ) लक्षणा विचारसंरणिपरम्परा निगमाम्नाय से कैसे कब सुसमन्वित होगी ?, प्रश्न वास्तव में मीमांस्य है। फिर भी कतिपय तत्त्वानुचिन्तक उन प्रतीच्य दार्शनिक विद्वानों की इस मान्यता से प्रभावित होना ही पड़ता है, जिनके विचार सर्वात्मना नहीं, तो अंशतः पूर्वदृष्टिकोण से इस रूप से समजुलित हैं कि, “बिना धर्म के दर्शन सर्वथा चतुर्विहीन (अन्ध) हैं, एवं बिना दर्शन के धर्म सर्वथा निस्सार ÷”।

\* “Morality is an invention erected by the weak, to deter the strength of the STRONG”

—Nietzsche.

+ “Philosophy blind is without religion and religion without philosophy is contentless” देखिए, ‘भारतीय हिन्दू मानव और उसकी भावुकता’ नामक निबन्धन पर ‘भारतीयदर्शन, और प्रतीच्यदर्शन’ नामक अग्रान्तर प्रकरण।

न सही आचारमीमांसानुगता धर्ममीमांसा का समावेश तथाकथिता प्रत्येकसरणी के सम्मान की दृष्टि से। केवल तत्त्वमीमांसा की सरणी से ही आलोचना के समाधान का अन्वेषण कीजिए। “यह सब कुछ प्रत्यक्षदृष्टि प्रपञ्च क्या है?, कैसा है?, कैसे उत्पन्न हुआ है?, किससे उत्पन्न हुआ है?, कब तक रहेगा?, अन्त में कहाँ कैसे नष्ट, किंवा विलीन हो जायगा?,” इत्यादिरूप से पाञ्चभौतिक, किंवा (उन्हीं की सरणी के अनुसार केवल ‘भौतिक’ हो) संसार के सम्बन्ध में प्रहारील मानव की सहजप्रज्ञा में जो ज्ञान-जिज्ञासिका-प्रश्नपरम्परा उदित होती रहती है, उस ज्ञान-जिज्ञासा (जानने की इच्छा) को दृष्ट-तुष्ट-समाहित-करने के लिए अपनी सहजप्रज्ञा से उन मनीषियों ने जिस ‘ज्ञानसरणी’ को अपनाया, वही उनकी अपनी दार्शनिक भाषा में-‘तत्त्वमीमांसा’ नाम से प्रसिद्ध हुई।

तथोपपत्तिता विरुद्ध दर्शनदृष्टिमूला तत्त्वमीमांसा, किंवा ज्ञानमीमांसा के प्रारम्भ के इतिहास में उस ‘आचरणात्मक धर्म’ का समावेश उपलब्ध नहीं होता, जो ‘आचरणात्मक धर्म-परामर्श’ उनकी मान्यता में आगे-बहुत आगे-चल कर प्रादुर्भूत हुआ, एवं जिसका नामकरण हुआ उन्हीं की भाषा में-‘आचारमीमांसा’ (Ethics-एथिक्स) इस कालान्तरभाषिनी आचरणात्मिका आचारमीमांसा को जन्म दिया मानवीय उस प्रज्ञात्मक मन की सहज चिन्तनवृत्ति ने, जो सहजरूप से मानवीय बुद्धि को तत्त्वानुरीलन की वास्तविकता की ओर शनैः शनैः आकर्षित करती रहती है। यही मानसिक चिन्तनवृत्ति यहाँ \*‘मनोविज्ञान’ (साइकोलॉजी-Psychology) नाम से प्रसिद्ध है, जिसे हम आचारमीमांसा की जननी कह सकते हैं। प्रज्ञा के सहज उत्कर्षतारतम्य से मनोविज्ञान अनेक सामान्य-विशेष विचार-विमर्शपरम्पराओं में विभक्त हुआ। यह विमर्शपरम्पराएँ अपनी सामान्य-उत्कृष्ट विशेषताओं के अनुपात से प्रथम-मध्यम-तृतीयादि श्रेणिविभागों में विभक्त हुईं। सहज मननशील उन दार्शनिकों ने

\* दुर्भाग्य है यह परिचमीजगत के दार्शनिक दृष्टिकोण का कि, मानसिक चिन्तनवृत्तिलक्षण जो मनोविज्ञान (Psychology) यहाँ तत्त्वमीमांसानुगता आचारमीमांसा (धर्ममीमांसा) के लिए आविर्भूत हुआ था, वह आत्माभेदा धरातल से यन्त्रित रहने के कारण कालान्तर में उस मनःशरीरानुगता कामवृत्ति (Sex-कामवासना) का ही समर्थक बन गया, जिसके तदनु रूप इतिहास का आपत्त स्वरूप वर्तमान युगमें प्रधानरूप से ‘अमेरिकनमनोविज्ञानवेत्ता-समाज’ बना हुआ है। इस दिशा में ‘मनोविज्ञान’ जैसे पवित्र लक्ष्य को दूषित कर देने वाले जिस ‘कामविज्ञान’ के माध्यम से ‘मनोविज्ञान’ नाम से जिन सुविशाल ग्रन्थों का निर्माण यहाँ के सेक्स-स (sexologists) पण्डितों की ओर से हुआ है, भारतीय शिक्षणालयों में सहशिक्षा (Co-education) प्राप्त करने वाले तन्त्र-तरुणीयुग्म उन मनोवैज्ञानिक? ग्रन्थों से किस प्रकार की आचारमीमांसा के पथिक बनते जा रहे हैं?, प्रश्न का समाधान उन स्वच्छन्दविचरणशील तरुण तरुणियों से ही प्रपञ्च्य है।

अपेक्षाभेदभिन्ना मान्यता के विभेद से उद्बोधेण के चिन्तकों की चिन्तनशैली को सम्मानित दृष्टिसे देखा, उन्हें अपनी चिन्तनशैली का पथप्रदर्शक (Author-ऑथर स्वीकार किया, और यों मनोविज्ञानानुगता चिन्तनमीमांसा ही उनकी सुप्रसिद्ध 'प्रमाणमीमांसा' (Epistemology) की जननी बनी। इस दृष्टिकोण से परिचम की क्रमव्यवस्थानुमोदिता, अतएव समादरणीया मीमांसाचतुष्टयी का क्रम यदि हम निम्न लिखितरूप से स्वीकार करें, तो सम्भवतः उन्हें कोई आपत्ति न होगी—

- |                    |  |   |
|--------------------|--|---|
| ( ज्ञानमीमांसा )   | १-तत्त्वमीमांसा (मेटाफिजिक्स-metaphysics)  | } प्रतीच्यानुगता<br>मीमांसा—<br>सरणी-चतुष्टयी |
| ( मनोमीमांसा )     | २-चिन्तनमीमांसा (साइकालॉजी-Psychology)     |   |
| ( धर्ममीमांसा )    | ३-आचारमीमांसा (एथिक्स-Ethics)              |   |
| ( आप्तवचनमीमांसा ) | ४-प्रमाणमीमांसा (अपिस्टोलॉजी-Epistemology) |   |

उक्त विचारसरणी के आधार पर यह तो सर्वात्मना प्रमाणित है कि, तत्त्वमीमांसा (Metaphysics) को ही सर्वेसर्वा मानने वाले प्रतीच्य विद्वानों ने भी पूर्वाच्य विद्वानों की भाँति किसी न किसी रूप से आप्तवचनप्रमाणरूपा 'प्रमाणमीमांसा' (Epistemology) स्वीकृत की है। किन्तु उनकी यह प्रमाणमीमांसा उनकी आचारमीमांसा (Ethics) की शिथिलता से अन्ततोगत्वा केवल 'मीमांसा' ही बनी रह गई। इस मीमांसात्मक वाद से उन्हें 'बोध' न हो सका। हाँ एक नवीनवाद इस मीमांसा ने और उत्पन्न कर दिया, वाद वादका ही जनक बनकर उपरत हो गया, जिसकी उपरति के दुष्परिणाम स्वरूप कालान्तर में धर्ममीमांसानुगता आचारमीमांसा में चार्णिक भूतविज्ञान (Materialism) के आधारभूत उन दिग्-देश-काल (Time-Space-Causality) तीन सीमित भावों का अभिव्यक्ति हो पड़ी, जिस भावप्रयी का अव्यक्तरूप Greek विद्वान् दार्शनिक Plato के शिष्य एरिस्टाटिल (Aristotle) की दार्शनिक विचारमीमांसा (तत्त्वमीमांसा) में समाविष्ट हो चुका था। और यही तत्त्वमीमांसक परिचमी जगत् की तत्त्वमीमांसा- (दर्शनमीमांसा-ज्ञानमीमांसा) के हास का उपक्रम बना, जिसने कालान्तर में इसे दार्शनिक से वैज्ञानिकभाव में परिणत कर डाला। यों मीमांसाचतुष्टयी के अन्त में प्रतिष्ठित आप्तवचनप्रमाणरूपा प्रमाणमीमांसा के अनुग्रह से ही परोक्षरूप से उस 'विज्ञानमीमांसा' (Scientific Outlook) का अधिर्भाव हो पड़ा, जिसने न केवल प्रतीच्यदेश के सम्मुख ही, अपितु विश्व मानवकी सहजशान्ति के सम्मुख एक भयानक समस्या उपस्थित कर दी है। जिस विज्ञान को मनोपी विद्वान् लोकमुख का अन्यतम कारण घोषित करते आ रहे हैं आदिपुग से ही, यह विज्ञान-वर्तमानविज्ञान-यों सहसा लोकध्वंस का निमित्त कैसे बन गया ? इस समस्या का समाधान फोड़ फठिन मीमांसा नहीं है, जब कि हम वर्तमानविज्ञानवादियों की धर्मानुगता आचार-



कान्त के 'रिलीजन' (Religion) शब्द से प्रभावित वर्तमान प्रतीच्य दार्शनिक, एवं तद्भक्त भारतीय दार्शनिक, दोनों ही 'लेटो-एरिस्टाटल-शॉपनहॉवर-आदि की तत्त्वमीमांसा को गौण मानते हुए वर्तमान पाठ्यग्रन्थों में युगधर्मप्रभाव से 'कान्तदर्शन' को ही प्रमुखता प्रदान करने के लिए आकुल-व्याकुल बनते प्रतीत हो रहे हैं। बहुत सम्भव है, हमारे इन उद्गारों के व्यक्त होने के साथ साथ ही यह प्रतीति शिक्षणालयों (College-कॉलेजों) में कार्यरूप में परिणित भी हो जाय। यद्यपि तद्वास्तु। आरम्भ से अब तक की प्रतीच्य सरणी के दृग्दृशंग के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, पश्चिमी विद्वानों में भी एक ओर जहाँ कान्तप्रतिद्वन्द्वी \* सुप्रसिद्ध विज्ञानवादी 'ह्याड्ट्हेड' (Whitehead) नामक विद्वान् वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही मानवजीवन के लिए चरमोत्कर्ष का साधन घोषित कर रहा है, वहाँ दूसरी ओर कान्तसदृश प्रज्ञार्शील मनीषी भारतीय अध्यात्मवाद को भी मानव जीवन में समाविष्ट करते हुए से प्रतीत हो रहे हैं। बड़ी संकर अवस्था है इस दिशा में पश्चिमी तत्त्व-मीमांसकों की, आचारमीमांसकों की, एवं सर्वोपरि विज्ञानवाधियों की, जिन्होंने अणुबम (Atom Bomb) आविष्कृत तो कर दिया, किन्तु इसके निरोध के उपाय में अद्यावधि असमर्थ बने रहते हुए; भाषी भया-शङ्का-परम्पराओं से सन्त्रस्त बनते हुए, सुनते हैं आज कल वे इस अन्वेषण में प्रयत्नशील बने हुए हैं कि, सूर्य से ऊपर की सूर्य से भी प्रबल किसी ब्रैसी (पारमेष्ठ्य) शक्ति का सर्जन किया जाय, जो सौरी अणुशक्ति (सौर विद्युत्शक्ति-भारतीयपरिभाषानुसार उल्कापुञ्ज रूप धूमकेतु) का निरोध कर सके। जगदीश्वर इन्हें इस सर्जनकर्म में सफलता प्रदान करे, यही कामना है + ।

\* वस्तुतः कान्त के प्रतिद्वन्द्वी नहीं, अपितु कान्त के सहयोगी, कान्तसदृश ही दार्शनिक विद्वान् ह्याड्ट्हेड की दृष्टि में जहाँ दिग्देशकालनिबन्धना 'फिजिक्स' (Physics) की मान्यता प्रधान बनी हुई है, वहाँ कान्त सांख्यदर्शनानुसार दिग्देशकालातीत 'तत्त्व' को प्रधानरूप से मान्य घोषित कर रहा है। 'फिजिक्स' से सम्बन्धित विज्ञानवाद के कारण ही ह्याड्ट्हेड विज्ञानवादी घोषित हो गया है, अतएव उसकी विज्ञानभावापन्ना दार्शनिक भाषा दार्शनिक जगत् में 'दुरधिगम्या' मानी जा रही है।

+ भारतीय नैगमिक वैकारिक सृष्टिविज्ञान (पृथिव्यपुतेजवायुराकाशात्मक पञ्चमहाभूतात्मक वैकारिक भूतविज्ञान) की शिरोमूला दृष्टि के अनुसार मस्तकस्थानीय सत्यस्वयम्भू से श्रुत आपोमय परमेष्ठी का उद्गम हुआ है, जो परमेष्ठी 'सरस्वान् समुद्र' कहलाया है, एवं जिसके गर्भ में समहिम सूर्य की वही स्वरूपसत्ता है, जो सत्ता समुद्र में एक बुद्बुद (बुलबुले) की रहती है। अतएव पुराण से सूर्य को 'बुद्बुद' नाम से भी व्यवहृत किया है। 'द्रप्सश्चस्कन्द' (ऋग्वेद) रूप से श्रुति ने सूर्य को 'द्रप्स' (बृहद्विन्दु-द्रप्स-द्राप्स-द्राप्स) कहा है। एवं- 'अपां गभन्त्सीद' (ऋग्वेद) रूप से इस द्रप्सात्मक बुद्बुदसमुल्लिखित सूर्य को पारमेष्ठ्य आपोमय सरस्वान् समुद्र के अन्तस्तल (गहराई) में प्रतिष्ठित माना है। 'असौ यस्ताम्रो अरुण उत वध्रुः सुमङ्गलः' इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार



प्रतीच्य दर्शन तत्त्वतः धर्मशून्य, केवल तत्त्वमीमांसारूप । अतएव वहाँ परलोक-भय का आत्यन्तिक अभाव । वहाँ परलोक का उत्तरदायित्व न धर्म पर है, न आत्मस्वरूपबोध पर । अपितु एकमात्र 'क्राइस्ट' ही इनके अमुक अवसर पर बड़े से बड़े अपराध भी क्षमा करवा देते हैं । इस मान्यता के विरुद्ध एक शब्द भी बोलना वहाँ 'ब्लेस्फेमी' ( Blasphemy ) नामक महा अपराध माना गया है । इस दिशा में वहाँ का मानव विचारस्थानतन्त्र-अभिव्यक्त करने में सर्वात्मना असमर्थ है । जिस प्रकार व्यक्तिनिन्दा ( डिफेमेशन-Defamation )-राजनीतिनिन्दा ( सेडीशन-Sedition ) वहाँ अपराध है, तथैव धर्मनिन्दा भी 'ब्लेस्फेमी' नामक महा अपराध है । 'कुछ मत करो, केवल क्राइस्ट पर विश्वास रखो' इस प्रकार का निषेधभाव ही वहाँ धर्माचरण का एकमात्र इतिहास है, जब कि 'यह करो-यह न करो, ऐसे करो वैसे मत करो, अपने पर अपने आत्मस्वरूप पर-व्यापक सत्ता-ब्रह्म पर विश्वास रखो' इस प्रकार का विचारस्थानतन्त्रात्मक विधिभाव ही यहाँ धर्माचरण का महत्त्वपूर्ण इतिहास रहा है । यहाँ कभी विचार स्वातन्त्र्य पर किसी को 'बध' दण्ड नहीं दिया गया, जैसे कि वहाँ मान्यता के विरुद्ध शब्दोच्चारणमात्र से बधदण्ड निर्णीत बन जाता है । यही कारण है, ब्रॉडले ( Bradley ) जैसा तत्त्वज्ञ दार्शनिक वेदान्तनिष्ठानुगत धर्म का अतीन्द्रिय स्वरूप अंशतः जानता हुआ भी अपने देशानुगत धर्मदण्ड-भय से इस सम्बन्ध में न तो अपने विचार अभिव्यक्त ही करना चाहता, एवं न कुछ लिखना ही चाहता ।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं समझ लेना चाहिए कि, वहाँ के तत्त्वज्ञ विद्वान् आचारमीमांसा, किया तद्रूप ईश्वरीय-पारलौकिक धर्म की, दूसरे शब्दों में अध्यात्म-तानिष्ठा की जिज्ञासा ही नहीं रखते । अवश्य ही वहाँ के कतिपय तत्त्वज्ञों का ध्यान इस भारतीय अध्यात्मवाद ( Theism ) की ओर आकर्षित हुआ है । इसी आकर्षण का यह सुपरिणाम है कि, वहाँ की तत्त्वमीमांसा में 'रियलिटी' ( Reality-वास्तविकता-सत्ता ) के आधार पर उस 'एल्टीमेट्रीपोलिटि' ( Elte-Metre-Polite ) सत्तावाद ( Existentialism ) का आविर्भाव हो पड़ा, जिसके उनकी तत्त्वमीमांसा में 'मोनिज्म' ( Monism-एक सत्तावाद अद्वयब्रह्मवादवादी ) 'ड्यूएलिस्ट' ( Dualist-द्विसत्तावाद-प्रकृतिपुरुष-

( ३१३ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश )

पश्चिमी जगत् ने आचारमीमांसा की उपेक्षा करते हुए भी गतानुगतिकता से जिस क्षणिक विज्ञान के द्वारा जहाँ कुछ समय के लिए भौतिक सुख-साधन जुटाने में सफलता प्राप्त कर ली है, वहाँ भारतीय दार्शनिक ने धर्माचारमीमांसा से असंस्पृष्ट रहने के साथ साथ क्षणिक विज्ञानकाण्ड से भी असंस्पृष्ट रहते हुए अपना ऐहिक जीवन भी कण्टकाकीर्ण बना लिया है, जिसे भारतीय आदर्शवाद की दृष्टि से हम अभिनेन्दनीय ही मान लेते हैं ।



हाँ, तो हमने यह अनुभव किया संगमांवातुगता अपनी स्थलित स्मृति के आधार पर परिचयी जगत् की सरणी के द्वारा उनके एवंविध मनोभावों के सम्बन्ध में कि, भले ही अधिकांश में उनका समाज विज्ञानवाद से आविष्ट रहता हुआ भारतीय नैगमिक-आगमिक आम्नायपरम्परा की पूर्व निर्दिष्ट तटस्थ-आलोचना करने की घृष्टता करता हुआ हमारी आम्नाय परम्परा को विज्ञानदम्भ के

( ३१६ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश )

अङ्गिरोऽग्नि-पुञ्जरूप सूर्य ही ताम्रवर्णात्मक विविधवर्णसमन्वित ( रक्त-वध्रु-नील-पीत-आदि युक्त ) यह ऐन्द्रविद्युत्पुञ्ज है, जिसे संहारक 'रुद्र' माना गया है। जब तक पारमेष्ठ्य सोम का इसके साथ सम्बन्ध होता रहता है, तब तक 'सूर्यो ह वा अग्निहोत्रम्' ( शत० ) के अनुसार अग्नीपोमात्मक बने हुए सौर रुद्र 'शिव' भाव में परिणत रहते हैं, एवं तभी तक रोदसीत्रैलोक्यरूप पार्थिव विश्व का स्वरूप-संरक्षण है। यदि कारणवश सौर रुद्र पारमेष्ठ्य सोम से प्रयत्न हो जाते हैं, तो तत्क्षण ये विश्वसंहारक बन जाते हैं। रुद्र की इस ध्वंसप्रवृत्ति के उपशम के लिए ही तो-'शान्तरुद्रिय' नामक यज्ञकर्म ( शत-रुद्रियकर्म ), 'सान्धसदाशिवोपासना', 'जलाभिषेक' ( सहस्रघट ) आदि विधान विहित हुए हैं।

आपोमय परमेष्ठी शृगु-अङ्गिरोमय है। शृगु 'स्नेह' तत्त्व है, अङ्गिरा 'तेज' तत्त्व है, सुतीक्ष्ण है। आपोमय समुद्र में दोनों अद्वैतरूप से परिभ्रममाण हैं। इन दोनों में अङ्गिरोऽग्निमय अतपुञ्ज ही 'धूमकेतु' माने गए हैं, जिनके भारतीय विज्ञान ने 'सहस्रधूमकेतवः' रूप से सहस्र वर्ग माने हैं। पारमेष्ठ्य समुद्र में विचरणाशील प्रचण्ड-घोरघोरतम उल्कारूप परिभ्रममाण यह अङ्गिरोऽग्निपुञ्ज ही धूमकेतु है, जो कालान्तर में 'यक्षवराह' नामक पारमेष्ठ्य सौम्य वायु से शनैः शनैः केन्द्रीभूत होता हुआ सहसा 'सूर्यपिण्ड' रूप से अभिव्यक्त हो पड़ता है। यही सूर्यविर्भाव का एक प्राकृतिक क्रम है, जिसका शतपथभाष्य में विस्तार से निरूपण हुआ है। श्रग्वेद के अष्टम मण्डल के ५३ वें सूक्त में ३३ मन्त्रों में इसी पारमेष्ठ्य धूमकेतु का स्वविशद निरूपण हुआ है, जिसका एक मन्त्रभाग यहाँ उद्धृत हो रहा है—

हरयो धूमकेतवो वातजूता उपधावि ।

यतन्ते बृथगग्रयः ॥

—अथसंहिता ८।१३।१।

यतन्त्य यही है कि, पारमेष्ठ्य अङ्गिरोमूर्ति लम्बलम्बायमान-कटक-अण्डाकार-यम्राकारादि विविधाकाराकान्त-उल्कापुञ्जलक्षण अग्निपुञ्ज ही धूमकेतु का स्वरूपपरिचय है, जिसके द्वारा पिण्डाभाव-माध्यम से सूर्य का पिण्डस्वरूप विनिर्मित हुआ है। अवश्य ही यह धूमकेतुप्रतीकरूप सूर्य पार्थिव विश्व को क्षणमात्र में भस्मावशेष बना डालता, यदि इसके साथ पारमेष्ठ्य मार्गव-शान्तिपुञ्जरूप-सोम का सम्बन्ध न होता तो। देखना है, केवल अग्निपुञ्जात्मक, अतएव रुद्रात्मक, अतएव संहारात्मक अणुधूम कब उन आविष्कारकों के द्वारा पारमेष्ठ्य सौम्य शक्ति से समन्वित बन कर विश्वभय को अभयरूप में परिणत करता है।

माध्यम से केवल 'अकर्मण्यो की कल्पना' कहने मानने का अक्षम्य अपराध करना ही अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान रहा हो। किन्तु हैं वहाँ भी, उस समाज में भी वैसे यशःशरीरी कतिपय मनीषी विचारविमर्शक नैष्ठिक परिगणित विद्वान्, जो भारतीय आग्नायपरम्परा को 'अध्यात्ममूलक' मानते हुए सत्पुण्ड्रः ण्डि से इसकी ओर जिज्ञासाभाव से अपना यह प्रणतभाव अभिव्यक्त कर देने में अणुमात्र भी संकोच नहीं कर रहे कि, "विज्ञान की इस चरम उन्नति के संघर्षकाल में भी अध्यात्मगुरु भारतवर्ष से आज भी हमें वह शान्ति सन्देश प्राप्त हो सकता है, जो मानव के वास्तविकरूप से अम्पुदय निःश्रेयस् साधन की क्षमता रखता है"। सर्वथी प्लेटो, एगिस्टाटल, शॉपनहावर, डॉ साइल्स (Sailes), गौस (Gose), एमर्सन् (Emerson), हक्सले (Huxley), शेगल (Shegal), बाल (Ball), रास्को (Rasko), विल्सन् (Wilson), मैक्समूलर (Maxmuller) वेबर (Weber), सिसरो (Cicero), वेल्लेन्टिन (Walington), बॉप (Bopp), मिस् कार्पेन्टर (Miss carpenter), वेल्लेस (Wallace), फ्रेंचपण्डित लुई जेकोलियंट (Louis Jacolliot), क्रोझर (Crozor), विक्टरकजिन (Victor cousin), काउन्ट जॉन स्टर्जना (Count John Stirjana), पालड्यून (Polldusion), काउण्ट जोनटोन, (Count Johnnton), स्वेडिश काउन्ट (Swedish Count), कोलब्रुक (Colebrook), मेगडा नल्ड (Megdaunld), हीरेन (Heeren), विलियमजोन्स (Williamjones), पायरी लॉटे (Pierce Late), आदि विद्वान् उक्त प्रणतभाव के ही समर्थक हैं \*।

पश्चिम की जिज्ञासा—

अंशतः आस्थाप्रधानगत तथाकथित प्रणतभाव को चरितार्थ करने के लिए ही पश्चिम ने यही ही आशा-उन्मुक्तता से पूर्व की ओर देखा। यहाँ उमे मिला क्या?, मिल क्या रहा है?, उत्तर स्पष्ट है। आस्था-भ्रष्टा के नैगमिक आग्नाय में ही अपने पङ्कभावविकारों से पुष्पित-पल्लवित होने वाले भारतीय आस्तिक जिज्ञासुको यहाँ के वर्तमान युग के-सन्धासी-साधु-सम्प्रदायाचार्य-मठाधीश-दार्शनिक विद्वान्-पद्माभारतगत मनीषी-नाग्निक-सिद्ध-मौनी-तपस्वी-आदि आग्नायसंरक्षकों से विगत कतिपय शताब्दियों से जो कुछ जिज्ञासासमाधान के लिए मिला है, मिल रहा है, और भगवान् जाने-कब तक इसी प्रकार यही सच कुछ? मिलता रहेगा, यही सब कुछ ता मिलना चाहिए था उन प्रतियोगितामूर्तों को भी। और परिणाम इस जिज्ञासा समाधान? क्या यही तो होना था, जो परिणाम आज भारतीय आस्तिक प्रजा अधुपूणवृत्तेक्षण वन कर भोग रही है। सम्भवतः क्यों, निश्चयेन दूरदर्शी दार्शनिक ईश्वरदादी कान ने इसी परिणाम की, सुपरिणाम? की भावी कल्पना के आधार पर ही यह करना सामयिक माना होगा कि-"हम वृत्त हैं भारतीयों की आत्मनिष्ठा से, तत्त्वमीमांसा से। किन्तु हमें उनकी आधारमीमांसा का कभी अनुगामी नहीं बनना चाहिए, जो मानव को अकर्मण्य बना देती

७ इनके सोदाहरण निदर्शन 'उपनिषद्विज्ञानमाध्यममिति' प्रथमखण्ड में द्रष्टव्य है।

है"। विश्वाम न हो तो प्रमाणमीमांसानुगता जिज्ञासा को सर्वात्मन्य उपशान्त करने के लिए कुछ ही समय पूर्व जिज्ञासू अर्थाथि बन कर समागत 'श्री पॉलब्रन्टन' (Paul Brunton) की अनुभूति से सम्यग् 'गुप्त भारत की खोज' नामक उनके ही लिखे निबन्ध में देखिए।

## डॉ० पाल ब्रन्टन की खोज का परिणाम—

क्या मिला पॉल को इस भारत की गुप्त खोज से ? प्रश्न का समाधान तो स्वयं पॉल से ही प्राप्त करना चाहिए, जिन्होंने उन क्रीड़ा-कौलुकों को-सामान्य गन्धर्वलीलाओं ( बाजीगरी के प्रदर्शनों ) को ही 'गुप्त भारती खोज' में विस्तार से उपस्थित किया, जो यहाँ के नगर नगर में, ग्राम ग्राम में भोली भेड़ा लगाए इतस्ततः दंद्रम्यमाण बाजीगर कालवेलिया ( सँपरे ) कुछ एक पैसों के आकर्षण से, करपट्टिकाखण्डाकपण ( रोटी के टुकड़ों के ) पर जीर्णशीर्ण वस्त्रों पर बिना निमग्नण के ही, बिना जिज्ञासा अभिव्यक्त करते हुए ही न-न करते भी दिखलाते फरते हैं। 'प्राणनिरोध' जैसे सामान्य शारीरिक कर्म को ही 'समाधि' जैसे लोकोत्तर शब्द से घोषित करने वाले योगीराज, सामान्य चेटकों को ही महासिद्धि घोषित करने वाले तान्त्रिक सिद्धियों के सिद्ध आचार्य, नारीकर्मसुलभ हंसामस्तम्भन (मेस्मेरेजम-Mesmerism) को ही आत्मस्वरूपबोध करा देने की प्रक्रिया घोषित करने वाले तपस्वी-श्रेष्ठ, ( अमुक किसी गुप्त खोज में ही तल्लीन ) लोहसंग्रह-के निन्दक गिरिकन्दराओं में-शून्यपर्वत-कन्दराओं में परोक्षरूपेण अपने भक्तवृन्द से अहोरात्र संवेष्टितकाय मुनिराज, सभी के तो उपयुक्त हुए हैं 'गुप्त भारती की खोज में'। आलप्यालमिदं सर्वम्।

पॉल महोदय को क्या विदित था कि, यहाँ कोई आम्नाय 'गुप्त' नहीं है, खनिजद्रव्यसम भूगर्भ में निहित नहीं है। अपितु-यहाँ की सहज आम्नाय में संघकुल्ल स्फुटतरूप से आचरण में समाविष्ट है ( पूर्व में पुरुष समाज में, और है वर्तमान में भी अपठित कहे जाने वाले सहजजीवनानुगत-संघर्ष-परायण ग्रामीण मानव समाज में, एवं अपठित नारीसमाज के महासङ्गीतों की आम्नायानुगता आम्नायभाषा में )। निगमाम्नायानुगता सर्वथा सहज देवसिद्धियों, तदनुगत सहज आचरण, सप्रभुद्ध लुप्त हो गया निगमाम्नाय की विलुप्ति से। एवं स्थलित मान्यतारूप से यत्र तत्र ग्रामीण समाज में, तथा नारीसमाज के महासङ्गीतों में जो निगमाम्नायशेष आज भी बचा रह गया है, उसे निगमाम्नायवञ्चित आज का मानव स्वयं समझने-समझने में असमर्थ रहता हुआ इस ओर से उपेक्षा कर बैठा। इस दिशा में आकर ही अपने आप को शिक्षित-विद्वान्-सिद्ध-तान्त्रिक-दार्शनिक-वेदान्तनिष्ठ-योगी-महात्मा-मुनि-घोषित कर देने वाले भारतीय गुरुसम्प्रदाय को स्वप्रतारणापूर्वक परप्रतारणा से सम्यग् रखने वाली लौकैपणा के अनुग्रह से ही अपनी उन खोजों ? को खोज करने वाले जिज्ञासुओं के सम्मुख रख देना पड़ा, जिससे प्रभावित होकर अन्वेषक पॉल को अन्त में जो कुछ मनोभाव परोक्ष रूपसे इस

वर्तमान गुप्त भारत के सम्बन्ध में अभिव्यक्त करने पड़े, उन्हें यथासम्भव छ न सुना जाय, इसी में आस्तिक भारतीय मानव का श्रेय है ।

स्तुत्य एवं मर्यादमना स्पष्टणीय है उन प्रतीच्य विद्वानों की जिज्ञासावृत्ति, जो विविध प्रकारों से सदा ही भारत के आमन्त्रण के लिए उत्सुक है । उसने शान्तिसंवाहक ? बौद्धमतों की धूलि को मरतक पर लगाया, वाराणसी में रहकर मुण्डनपूर्वक कापायवस्त्र धारण कर तपःपूत कष्टसाध्य जीवन-यापन को अपनाया, भारतीय दार्शनिक ? विद्वानों को आमन्त्रित कर अपनी शिक्षासंस्थाओं में उनके विचारप्रवाहों का सर्वात्मना आतिथ्य किया, सभी कुछ किया, सभी कुछ हुआ, किया-जायगा, होता जायगा, करते ही रहेंगे वे जिज्ञासू कर्मठ । किन्तु ? इस सर्वस्य घातक 'कन्तु-परन्तु' का इतिहास हम क्या निवेदन करें, जबकि स्वयं हम ही अपनी नैगमिक आम्नाय से परा-परावत धन गए हैं । "हमारे शास्त्रों में ऐसा, हमारे दर्शन ऐसे, हमारे वेदों में सब कुछ, यहाँ से सबने लिया, सब ने सीखा", इसी को क्या आम्नाय कहा जायगा ? यही है वर्तमान युगके भारतीय विद्वानों की

● 'गुप्त भारत की खोज' नामक सामयिक निबन्ध के मूललेखक तरुणयुवा सर्वश्री 'पाल-ग्रन्टन' के गुप्त अन्वेषणों का 'श्री बी० वेङ्कटेश्वरशर्मा शास्त्री' द्वारा अनुपादित एतन्नामक हिन्दीनिबन्ध में जो उपवर्णन हुआ है, उसमें आदि से अन्त पर्यन्त भारतीय उस नैगमिक-आम्नायपद्धति का संस्पर्श भी हमें उपलब्ध नहीं हुआ, जो आम्नाय ही भारत का एकमात्र रहस्यपूर्ण अन्वेषण माना गया है । यही कारण है कि, डॉ० महोदय को यहाँ जिनसे जो कुछ उपलब्ध हुआ, उस से वे सन्तुष्ट न हो सके । अपनी सहज शिष्टता से भावुकतापूर्ण वर्तमान भारतीय मान्यताओं के प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त करने वाले इस शिष्ट मानव को मध्ये मध्ये अपने ये भी सहज उद्गार प्रकट कर ही देने पड़े कि—

(१) "पाकी रात मुझे तनिक भी नींद नहीं आई : मैं जागता हुआ लेटा रहा, और कुम्भकोणम् के जगद्गुरु श्रीराष्ट्राचार्य, जिन्हें भारत की—भोली हिन्दू जनता ईश्वर का प्रतिनिधि मानती है—"

—इत्यादि ( पृष्ठ २२६ ) ।

(२) "लेकिन किसी मनुष्य ने किसी जी उवाने वाले भारतीय गाने-भजन-टंक को उब स्वर से अलाप कर मेरी इस स्वर्गीय स्वापिक अनुभूति को बड़ी ही कर्करता से टेस पहुँचाई" ।

—इत्यादि ( पृष्ठ ३५७ ) ।

(३) "मैं फिर एकबार मानवजीवन की अविश्वसनीय कथा सुनने लगा । स्पष्ट है कि, पूरबी संसार में कही भी जाऊँ, इस कहानी से मेरा पिंड न छूटेगा । किन्तु क्या कभी इन कल्पनामय पुरुषों से भेंट होगी ? क्या इस प्राचीन सिद्धान्त को विज्ञान और मानसिक शास्त्र के लिए महत्त्वपूर्ण मान कर पश्चिम कभी स्वीकार करेगा, या नहीं" ( पृष्ठ ३५५ ) ।



शास्त्रभक्ति, दर्शनाभिनिवेश, वेदान्तायधोपणा । आम्नाय का स्वरूप क्या है ? वेद किन विद्याओं का किस पद्धति से प्रतिपादन करता है ? उन स्वरूपों-विद्याओं-पद्धतियों-का मानवजीवन के साथ कैसे महज सम्बन्ध है ? यह है आचरणात्मिका नैगमिक आम्नाय का वास्तविक स्वरूप, जिसकी वैज्ञानिक पद्धति का एकमात्र स्रष्टा है—‘निगमशास्त्र’, जो आम्नायपरम्परा से भारतीय जीवन से अनेक शताब्दियों से सर्वथा विनिर्गत हो चुका है । व्यक्त धन गई है । सर्वात्मना आम्नायविरुद्ध कल्पित मतवाद-परम्परा, कल्पित शास्त्राभास, आम्नायव्याख्यावञ्चित भारतीय दर्शनशास्त्र, और सर्वोपरि मूर्द्धाभिहित धन-गण हैं पूर्वोपवर्णित दीक्षाभय-समाकुलित सिद्धियों के आकार-प्रकार । क्या निगमात्मनायानुमोदित भाषका अनुगामी नहीं बनेगा भारत ? । नेति होवाच । यह आम्नाय इसकी सनातन आम्नाय है । इसे दिक्-देश-कालसीमा कभी छूत-चिह्न नहीं कर सकती । यही शाश्वत आम्नाय मानव की सहज जिज्ञासा का गुप्तरूप से नहीं, सर्वथा प्रकटरूप से आज भी समाधान करने के लिए सूर्यवन् जरीजागर्त्ति-जरीजागर्त्ति । हूँ दिष्ट, सत्यानिष्ठा से अन्वेषण कीजिए, आस्थाभ्रष्टापूर्वक अनुगमनप्रवृत्ति को जामत बनाइए ।

—उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! ! प्राप्य वराचिवोद्यत ! ! !

क्या घर प्राप्त किया हमने इस आम्नायमूलक उस समाधान से, जो तदस्थ आलोचकों की तदस्थ आलोचना के प्रसङ्ग से प्रतिज्ञात बना था ? । वरप्राप्तिमूलक समाधान एकमात्र है—ज्ञानविज्ञानपरिपूर्ण निगमशास्त्र का आम्नायनिष्ठा से—‘स तु दीर्घकालादरनरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ-भूमिः’ नियमानुगतिपूर्वक आम्नायपरम्परात्मक स्वाध्याय, तत्त्वानुशीलन, तत्त्वचिन्तन । कथमपि सम्भव नहीं है भाषायम-निबन्धों के माध्यम से, व्याख्यानपरम्परामाध्यम से, एवं तर्क-युक्तिलक्षणा वितण्डावादानुगति से आम्नायजिज्ञासाका वास्तविक समाधान । यही है तदस्थ-आलोचना का प्रासङ्गिक तदस्थ एकमात्र समाधान, जिसकी तदस्थता आपद्धर्मधिया निम्नलिखित पावन स्मृति के रूपसे दो शब्दों में निवेदन कर इस प्रासङ्गिक चर्चा से अपेक्षाकृत महण किया जा रहा है ।  
अन्त से अनन्तर की ओर—

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि, प्रतीच्य विद्वानों की तत्त्वमीमांसानुगता ( आचारमीमांसात्मिका धर्ममीमांसा से सर्वथा असंस्पृष्टा ) चारसरणी के माध्यम से ही हमें तदस्थ आलोचना के प्राप्त ज्ञक समाधान की चेष्टा में प्रवृत्त होना चाहिए, एवं इस दृष्टिकोण-माध्यम से भौतिक विश्वकी स्वरूपानुगता केवल तत्त्वमीमांसा की सरणी से ही समाधानोपक्रम करना चाहिए ( देखिए, पृ० स० ३०६ ) । तुष्यदुर्जनन्यायेन थोड़ी देर के लिए हम भी भौतिक विश्व की तत्त्वमीमांसा का ‘फेनोमेनल’ सम्बन्धी प्रत्यक्षदृष्ट शरीरात्माधिकरण इन्द्रियजन्य ज्ञान का ही उपवृंहण मान लेते हैं, एवं इस दृष्टि से ही उनकी सरणी से ही ‘अन्त से अनन्त की ओर’ ( सत्य से प्रतिसत्य की ओर, सञ्चर से प्रतिसञ्चर की ओर, विज्ञान से ज्ञान की ओर, अनेकत्व से एकत्व की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, असत् से सत् की ओर, तप से ज्योति की ओर, विनाश से सम्भूति की ओर, अविद्या

से विद्या की ओर, प्रकृति से पुरुष की ओर, कार्य से कारण की ओर, जड़ से चेतन की ओर, मेटर से फार्म की ओर, फेनोमेलन से रीजन की ओर, मेटर से फोर्स की ओर, अर्थोम से थीम की ओर, निष्कर्षित विनश्वर जगत् से अविनश्वर जगदीश्वर की ओर) इस दृष्टिबिन्दु के माध्यम से ही हम आलोचना के संक्षिप्त समाधान में प्रवृत्त हो रहे हैं।

प्रणवसर्गत्रयीमीमांसा—

‘जो जिसका गुण, वही उसका दोष’ इस पूर्वोपात्त लोकसूत्र का अपवाद ही माना जायगा भौतिक प्राकृतिक विश्वसर्ग। प्राकृतसर्ग में गुण गुण ही रहता है, दोष दोष ही रहता है। इसी दृष्टि से हमें धिरेवश्वर के गुणसर्ग की, एवं विकारसर्ग (दोषसर्ग) की दिशा की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है। कारणसमुदाय को ही वस्तु के प्रति कारणता है अन्तमूला सर्गव्याख्या की दृष्टि से, जैसा कि शरीरात्मापिकरणयादिनी अतएव अन्तयादिनी प्रमाणमीमांसानुगता न्याय-वैशेषिक-सांख्यदर्शन से सम्बद्धा सृष्टिसर्गव्याख्याओंमें स्पष्ट घोषणा हुई है—। प्रत्यक्षदृष्ट भौतिकविश्व का स्वरूप क्या?, संक्षिप्त उत्तर परस्पर प्रतिद्वन्द्विताक्रान्त, ‘प्रतिक्षण विलक्षण परिवर्तन, सदैकरस अविलक्षण अपरिवर्तन’। परिवर्तन के कारण प्रत्येक भौतिक पदार्थ (जो कि इन्द्रियगोचर है) बदल रहा है, द्रुतवेग से परिवर्तित हो रहा है। तभी तो इसके ‘अस्ति-जायते-वर्द्धते-अपक्षीयते-विपरिणमते-विनश्यति’ इत्यादि पटभाषयिकारात्मक स्थूल परिवर्तन प्रत्यक्षदृष्ट बन रहे हैं। किन्तु आश्चर्य, प्रतिक्षण विलक्षण परिवर्तन के विद्यमान रहते भी आदि से अन्तपर्यन्त “यह वही पदार्थ है, जो पहिले न था, आज उत्पन्न हुआ, यह वही है, जो पूर्वकाल में नयोन था, भावी काल में पुराना हो जायगा” इत्यादि रूप से परिवर्तनीय भागों के साथ साथ ही ‘वही है-वही है’ इस रूप से प्रत्यक्षसृष्टिवत् इस अपरिवर्तनीय भाव का भी हमें साक्षात्कार हो रहा है, जो साक्षात्कार ‘स एवायं देवदक्षः, यः पुरा मया मपुरायां दृष्टः’ इत्यादि वाक्यमाध्यम से ‘प्रत्यभिज्ञा’ नाम से प्रसिद्ध है, जिस प्रत्यभिज्ञा के आधार पर (प्राणदृष्टि के आधार पर) सुप्रसिद्ध ‘प्रत्यभिज्ञादर्शन’ का आविर्भाव हो पड़ा है। परिवर्तन, अपरिवर्तन, दोनों परस्पर तमःप्रकारावत् अत्यन्त विरोधी, महान् प्रतिद्वन्द्वी, किन्तु दोनों का अन्तरान्तरीमाय सम्बन्ध से x एक ही बिन्दु में समसमन्वय, क्या यह आश्चर्य नहीं है—‘ते हन्ते

॥—‘प्योपर मेटर, तथा क्योपर फार्म नाट’। “फार्म (आकार-चेतन-अक्षर), और मेटर (आकारित-जड़-क्षर), दोनों का शुद्धरूप स्वतन्त्ररूप से अनुपलब्ध है। ‘अमृतं चैव मृत्युश्च सद-सचाहमर्जुन’।

÷ “यद्यत् कार्यं, तद्यत् कर्तृजन्यम्, कार्यत्वात्-षटवत्। हित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यम्। कारणसमुदायस्यैव कार्यं प्रति कारणत्वम्”।

x ‘अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृत आहितः’।

‘उदन्तरस्य सर्वस्य, तदु सर्वस्य बाह्यतः’।

ब्रह्मणो महती अभ्ये महती यत्ने' । जब कार्य का स्वरूप भावद्वयापन्न है, तो कारण भी अवश्य ही तद्रूप ही होना चाहिए । कारणरूप वही स्वरूप कार्यरूप-भावद्वयात्मक-भौतिकजगत् का स्रष्टा प्रजापति है, जिस कारणरूप स्रष्टा प्रजापति के कारणरूपक अभौतिक दोनों रूप क्रमशः 'रस-बल' नाम से, 'आधू-अभ्व' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं निगमान्ताय में ।

बलगर्भित रसात्मा वही स्रष्टा जहाँ मुक्तिभाव का अधिष्ठाता बनता है, वहाँ रसगर्भित बलात्मा वही स्रष्टा मुक्तिभाव का प्रवर्तक बनता है । मुक्ति-मुक्ति-अधिष्ठाता वह रसबलात्मक प्रजापति- 'आत्मा उ एकः सन्नेततत् त्रयम्' इत्यादि रूप से तीन प्रकार से अपनी महिमा से-विभूति सम्बन्ध से-योग सम्बन्ध से-एवं ग्रन्थ सम्बन्ध से-व्यक्त होता है । स्रष्टाप्रजापति के इन सम्बन्धों का स्वरूप-बोध प्राप्त कर लेना ही भौतिक विश्व का सर्वात्मना स्वरूपबोध प्राप्त कर लेना है ।

अपने इन विभिन्न सम्बन्धों से प्रजापति तीन प्रकार के सर्गों में प्रवृत्त होता है, जो तीनों प्राजापत्य सर्ग ( किंवा उपनिषदों को भाषा में 'महिमसर्ग' ) क्रमशः १- 'ऋषिसर्ग'-२- 'पितृसर्ग'-३- 'देवसर्ग' नामों से प्रसिद्ध हुआ है-निगमान्ताय में +, जिन इन तीनों नैगमिक श्रौत सर्गों का सृष्टि में इसी नाम से, एवं पुराणपुरुरूप की भाषा में 'भावसर्ग-गुणसर्ग-विकारसर्ग' नामों से उपवर्णन हुआ है ( अ ) । पुराणपरिभाषा में, ये ही तीनों सर्ग 'मानसीसृष्टि-देवसृष्टि-मैथुनीसृष्टि'—

÷(१)-असद्वाऽइदमग्रऽआसीत् । ऋपयो वाव तेऽग्रंऽसदासीत् । प्राणा वा ऋपयः । इदं ( विश्वं ) इच्छन्तः भ्रमेण तपसा 'अरिपन्' ( प्राणाः-असद्रूपाः-इति प्राणा एव ) तस्मात्- 'ऋपयः' । ( शत० ६।१।१।१ ) ।

(२)-आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी । ता हि परमे स्थाने ( सूर्यादिषु परस्थाने-ऊर्ध्वस्थाने तिष्ठन्ति ) ( शत० ८।२।३।१३। तै० २।२।१०।३१ ) ऋतमेव परमेष्ठी ( तै० १।१।१।१ )-सं ( ऋषिसृष्टिः स्वयम्भूः प्रजापतिः ) पितृनसृजत । तत् पितृणां पितृचक्षुः । ( तै० २।३।८।२ )-(शत० ११।१।६।१०।)।

(३) स ( परमेष्ठी ) प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत्- 'अनेन च कामप्रेष यज्ञेन प्रजायानि, येन मां पिता प्रजापतिः ( स्वयम्भूः-ऋषिः ) अयीयजन्-इति । तथेति । ता वा एता देवताः- एतेन कामप्रेष यज्ञेन-अयजन्त' । ( शत० ११।१।६।२०।) ।

(अ)-ऋषिभ्यः पितरो जाता, पितृभ्यो देवमानवाः

देवेव्यश्च जगत् सर्वं चरं स्यात्पुनरुर्वशः ( मनुः ) ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चचारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ( गीता० १०।७ )

विकारांध गुणैश्चैतान् विद्धि प्रकृति-सम्भवान् ( गीता० )

इन नामों से प्रसिद्ध हुई है। पञ्चदशकलाधारभूत निष्कल सर्ववलयिशिष्टरसैकधन मायातीत परात्पर ब्रह्म की अखण्ड सत्ता से अनुगृहीत पञ्चकल अव्ययात्मा, पञ्चकल अक्षरात्मा, पञ्चकल चरात्मा, की समष्टि रूप षोडशकल प्रजापति ही इस सर्गत्रयी का सर्वेश्वर बना हुआ है, इसी आधार पर—‘षोडशकलं वा इदं सर्वम्’ यह निगमाम्नाय प्रतिष्ठित हुआ है ॐ । पञ्चकल चरात्मा, पञ्चकल अक्षरात्मा, दोनों को स्वर्ग में भुक्त रखने वाला अखण्ड परात्परामित्र ‘पञ्चकल अव्ययात्मा ऋषिसर्ग का प्रवर्तक बनता है’। चर-अव्यय को गर्भ में निहित रखने वाला ‘पञ्चकल अक्षरात्मा पितृसर्ग का प्रवर्तक बनता है’। एवं परात्परव्ययाक्षरको स्वर्ग में भुक्त रखने वाला ‘प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नादमूर्ति’—‘पञ्चकल-चरात्मा देवसर्ग का आरम्भक (उपादान) बनता है’। इन तीन सर्गों में ही मुख्य आत्मसर्ग परिसमाप्त है, जिसका परिपूर्ण समन्वय हुआ है परिपूर्ण ‘मानव’ सर्ग में। इसीलिए भगवान् मनु ने—‘पितृभ्यो देवमानवाः’ रूप से आत्मसंघत्रयी के अन्तिम देवसर्ग के साथ ‘मानव’ का भी संग्रह कर लिया है। इन तीनों आत्मसर्गों को अवधान पूर्वक लक्ष्य बनाइए, एवं इसी आधार पर अपनी तटस्थ आलोचना के आसन्निक समाधान का अन्वेषण कीजिए। अवश्य आप-सर्वात्मना सुसमाहित बन जायेंगे—

÷ (१) अव्ययात्मसर्गः—ऋषिसर्गः—	भावसृष्टिः	} पुरुषसर्गः (१)	} प्रणवसर्गः
(२) अक्षरात्मसर्गः—पितृसर्गः—	गुणसृष्टिः		
(३) चरात्मसर्गः—	देव (देवमानव) सर्गः-विकारसृष्टिः	} प्राकृतसर्गां (२)	

—१—

- १-परात्परामित्र-पञ्चकलाक्षर-पञ्चकलचरगर्भितः-आनन्दविज्ञानमनोचनप्राणवाङ्मूर्तिरव्ययात्मा षोडशी
- २-परात्परामित्रपञ्चकलाव्यय-पञ्चकलचरगर्भितः-ब्रह्मोन्द्रविष्णुसोमाग्निमूर्तिरक्षरात्मा—षोडशकलः
- ३-परात्परामित्रपञ्चकलाव्यय-पञ्चकलक्षरगर्भितः-प्राणपोवागन्नादमूर्तिः चरात्मा—षोडशकलोपेतः

—२—

ॐ इसी निगमाम्नाय के आधार पर कुलस्त्रियों की देव-पितृकर्मनुगता महासङ्गीतव्यवस्था षोडश (१६) महासङ्गीतों से ही परिपूर्ण मानी गई है। ‘देईदेवता’ ( देवपत्नियों-और देवता ) ओं के गीत स्त्रियों की लोकाम्नाय में १६ गीतों में ही परिपूर्ण माने जाते हैं।

+ इन आत्मसर्गों का विशुद्ध वैज्ञानिक विवेचन ईशभाष्य, आत्मपरीक्षात्मक गीताभूमिका ‘क’ विभाग, आदि अन्य निबन्धों में द्रष्टव्य है—

- (१)-पोडशीप्रजापतिः—अपिसर्गाधारः—स्वयम्भूवृद्ध एव अपिभावः ( ज्ञानगम्यः )  
 (२)-पोडशकलप्रजापतिः—पितृसर्गाधारः—परमेष्ठी सुब्रह्म एव पितृभावः ( आपासनिकः )  
 (३)-पोडशकलोपेतप्रजापतिः—देवसर्गाधारः—सूर्यस्त्रयीधन एव देवभावः ( यज्ञाधिष्ठाता-कर्माधिष्ठाता )

—३—

वेशेषिक-सांख्य-वेदान्त के आलोच्य दृष्टिकोण—

सांख्याभिमत प्रकृति-पुरुषद्वन्द्व की अपेक्षा से नैगमिक सर्ग यद्यपि अव्याख्यात है। तथापि हम अपनी ओर से सांख्याभिमत प्राकृतिक सर्ग के साथ नैगमिक सर्ग का समन्वय करते हुए चार प्रकार के सर्गों का यहाँ प्रसङ्ग समन्वय की दृष्टि से संग्रह कर लेते हैं। सांख्य जिसे प्रकृति कहता है, निगमात्मना-दृष्टि से वह है वास्तव में 'वैकारिक पशु भाव'। एवं सांख्य जिसे 'पुरुष' कहता है, यह है निगमदृष्टि से वास्तव में 'विकृति' भाव, जो इत्यंभूत दृष्टिकोण अवश्य ही अव्यक्तनैगटिक प्राधानियों की उत्तेजना का कारण बन सकता है। अणिमामहिमादि सम्पूर्ण सिद्धियाँ, भूतप्रतसर्ग-आदि सब कुछ सांख्य के उस वैकारिक पशुसर्ग में ही अन्तर्भूत मानें जायेंगे, जो पशुसर्ग वर्तमान दर्शन, दिवा तत्सम अन्य तन्त्रादि शास्त्रों में उपरिणत सिद्धिपरम्पराओं के माध्यम से निगमात्मना से देवभाव में परिणत भी मानव की वैकारिक प्रवृत्ति का ही कारण प्रमाणित हो रहा है। निगमने इस वैकारिक दृष्टिकोण का समर्थन नहीं किया हो, यह बात तो नहीं है। अवश्य ही निगमशास्त्र ने विज्ञानात्मिका कारणता-मीमांसा-पूर्वक विस्तार से सांख्याभिमत वैकारिक सर्ग का भी निरूपण किया है।

निगमशास्त्र (मूलसंहिताओं) में विस्तार से सांख्यदृष्टिकोणनिबन्धन चतुर्दशविध उस भूतसर्ग का विस्पष्ट निरूपण हुआ है, जिसे हमने पार्थिव चान्द्रसर्ग, किंवा चान्द्रगर्गित पार्थिवसर्ग कहा है। अतएव चतुर्दशविध भूतसर्गों के आदिभूत ब्रह्मादि आठ देवसर्ग निगम में 'पार्थिवदेवाः' कहलाए हैं, जो अपनी सहस्रसिद्ध प्राकृतिक सिद्धियों से यथाजात मनःशरीरपरायण चान्द्रपार्थिव 'नर' पर अनुग्रह किया करते हैं। तत्त्वगुणानुबन्ध से दिव्यभाषापन्न इन पार्थिव अष्टविध चान्द्रदेवताओं का प्रादुर्भाव 'अत्रा ह गोरमन्वत-इत्या चन्द्रमसो गृहे०' ( ऋग्वेद ) इत्यादि मन्त्रानुसार चन्द्रानुगता-चन्द्रमण्डल-भुक्ता सौररश्मियों से ही हुआ है। इसी सौरगो (रश्मि) सम्बन्ध से इन दिव्य सत्त्वगुणक पार्थिव-चान्द्रदेवों को 'गोजाताः' ( सौररश्मि से चन्द्रमण्डल में उत्पन्न ) कहा गया है। चन्द्रमा स्वयं 'चन्द्रमा अप्सवन्तरा सुपर्णः०' के अनुसार आपोमय है। अतएव तद्रूप इन गोजात देवों को 'अप्याः' ( आपोमय ) कहा जायगा। पितृमायापन्न ये ही चान्द्रदेव 'नर' नामक पार्थिव यथाजात मानव को ( मानवद्वारा मान्यता-आस्था अद्यापूर्वक तुष्ट वृत्त किए जाने पर ) सम्पत्ति, पुत्रादि आसी-र्भावों से समन्वित कर देते हैं। तभी तो इन्हें 'दाताः' कहा गया है। चान्द्रपितृदेवानुबन्धिनी आसीः

का इसी दृष्टि से—‘दातारो नोऽभिवर्द्धन्ताम्’—‘गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्’—‘बहुदेयं च नोऽस्तु’ इत्यादि रूप से वर्णन हुआ है। स्वयं मूलसंहिताने स्पष्ट रूपसे इस पार्थिवदेववर्ग का यों स्वल्पविरूपण किया है। देखिए !

तं नो रायो द्युमतो वज्रवतो दातारो भूत नृवतः पुरुचोः ।

दशस्यन्तो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता अप्या मृलता च देवाः ॥

—ऋक सं० ६।५०।११।

किन्तु तत्प्रतिपादक स्वयं सांख्य नैगमिक आचारमीमांसा से, नैगमिक व्याख्या से असंस्पृष्ट रहता हुआ। जैसा कि सांख्य की त्रिगुणात्मिका अव्यक्तभाषा से प्रमाणित हो रहा है) इस नैगमिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से एकमतः पराङ्मुख हो बना रह गया है। अवश्य ही सांख्य ने ‘न वयं पट-पदार्थं वादिनः—वैशेषिकवत्’ कहते हुए अपने लक्ष्य को वैशेषिक दर्शन से उच्च प्रमाणित करते हुए दिग्देराकालसीमा से निकलने का स्तुत्य प्रयास किया है। सम्भवतः सांख्य के इसी दृष्टिकोण के स्वाध्याय से प्रभावित पश्चिमी दार्शनिक (जिसे इस दृष्टिकोण से हम सांख्यवादी कह सकते हैं) सर्वश्री कान्त की तत्त्वमीमांसा अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा अंतरतः व्यवस्थित, अतएव वर्तमान दार्शनिक जगत् की दृष्टि में मान्या भी प्रमाणित हो रही है। किन्तु सांख्य का सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान, उसकी त्रिगुणात्मिका सर्वाधिष्ठात्री प्रकृति के माध्यम से संख्यातः सिद्ध उसका पुरुषानुगत ज्ञान (तत्त्वमीमांसा) यस्तुतः पुरुषार्ग के मूलाधारभूत विकारचर की ही मीमांसा है। अतएव सांख्य अभ्यात्मज्ञानानुगता नैगमिक आचारमीमांसा से सर्वथा पराङ्मुख बनता हुआ दर्शनाभास ही प्रमाणित हो रहा है।

जब सांख्य की यह स्थिति है, तो अणुवादी उस विशेष-भूतपदार्थ की व्याख्या करने वाले दिग्देराकालसीमा में न्यामूलपूढ़ निबद्ध वैशेषिकदर्शन के सम्बन्ध में क्या मीमांसा की जाय, जो नैगमिक प्रवर्ग्य (उच्छिष्ट) भूतभीतिक आत्यन्तिक वैकारिकसर्ग से समनुलित बन रहा है। शेष रह जाती है सुप्रसिद्ध वेदान्तिपिष्टा, तत्प्रतिपादक वेदान्तदर्शन। सचमुच हमें अन्तरात्मा से उच्च होते हुए इसके सम्बन्ध में भी यही भाव अभिव्यक्त करना पड़ रहा है कि, नैगमिक आचारमीमांसा-प्राकृत-समन्वयाख्या से वैशेषिक-सांख्यवत् असंस्पृष्ट रहता हुआ यह दर्शन भी केवल ‘क्षरब्रह्म’ का ही स्पर्श कर पाया है, जो क्षरब्रह्म ‘भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि महद्ब्रह्मैकमक्षरं—बहुब्रह्मैकमक्षरम्’ इत्यादि निगम-पञ्चनानुसार जन्मरियतिभङ्गात्मक विश्व के मूलभूत क्षरब्रह्म को ही अपना मुख्य लक्ष्य बना रहा है, जिसे नैगमिक परिभाषानुसार ‘विकृति’ ही कहा जायगा। यही वहाँ का ‘ब्रह्म’ है, इसी की वहाँ प्रारम्भमूला सिद्धांता है, यही वहाँ जन्मादि का कारण घोषित हुआ है, एवं यही शास्त्रसिद्ध ब्रह्म है वहाँ ॐ ।

\* “अयातो ब्रह्मजिज्ञासा, जन्माद्यस्य यतः, शास्त्रयोनिन्नात्, तत्तु समन्वयात्”

—वेदान्तसूत्रचतुष्टयी

## वेदान्त का विवर्तवाद—

वेदान्त का 'विवर्त' वाद ही इसका सूचक है कि, औपनिषद् सिद्धान्त के माध्यम से सञ्जीभूत वेदान्त ने उपनिषद् के 'महिमा' शब्द की उपेक्षा कर उस कल्पित 'विवर्त' शब्द की व्याख्या से वेदान्तनिष्ठा का समन्वय करने की चेष्टा की, जिस 'विवर्त' का समन्वय दार्शनिकों से अद्यावधि नहीं हो सका है। पश्चिमी विद्वान् भी सांख्यपर्यन्त तो यथाकथाञ्जन अनुधावन कर लेते हैं, किन्तु वेदान्त के 'विवर्त' शब्द से संश्रुत बन कर उन्हें भी यहाँ हतप्रभ ही हो जाना पड़ता है। 'महिमा' शब्द जहाँ ब्रह्मसर्गव्याख्या को, नैगमिक सृष्टिविज्ञान को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखता हुआ वेदान्तदर्शन को तत्त्वमीमांसा को आचरणात्मिका आचारमीमांसा से समन्वित करने की क्षमता रखता है, वहाँ 'विवर्त' शब्द 'भृगुमरीचिका—वन्ध्यापुत्र—शशभृङ्ग—सुपुष्प—स्थारूपुरुष—स्वप्नजगत्'—जैसे बालभाषापत्र लोकप्रतारणात्मक उदाहरणभासों से प्राकृत नैगमिक सर्ग का मानो उपहास सा ही करता हुआ 'जगन्निध्यास' वाद की जो व्यञ्जना व्यक्त कर रहा है, उसी के अनुग्रह से भारतीय नैगमिक आम्नाय आज धिस्मृति के गर्भ में धिलीन होता हुआ भारतीयों को अभिशप्त-अभितप्त-लक्ष्यच्युत-अकर्मण्य ही बनाता जा रहा है। प्राकृतिकसर्गान्नायमूलक नैगमिक पुरुषार्थ से वञ्चित वर्तमानयुग का भारतीय मानवसमाज एकहेलया वेदान्तनिष्ठ बनता हुआ उभयलोकसम्पन् से वञ्चित होता हुआ—'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' को अक्षरशः चरितार्थ कर रहा है। सर्वश्री कान्त ने यह ठीक ही कहा है कि, "पश्चिम को पूर्व की ऐसी आचारमीमांसा का अनुगामी नहीं बन जाना चाहिए, जो अकर्मण्यता का ही सर्जन करती है"।

## सम्बत्सरचक्रवर्ती, और सर्गवर्ती—

निरूपितः अणुशब्दी देशोपिक ने पञ्चमहाभूतात्मक वैकारिकसर्ग को अपना प्रतिपाद्य बनाया दिग्देशकालानुगतितपूर्वक, जिसका 'पार्थिवसम्बत्सरचक्र' से सम्यन्ध माना जा सकता है। 'त्रिगुणशब्दी' सांख्य ने दिग्देशकाल को अमान्य टहराते हुए 'वैकारिकसर्ग' को अपना निरूपणीय माना, एवं इस 'वैकार' को ही इसने 'प्रकृति' नाम से घोषित किया, जिसका 'चान्द्रसम्बत्सरचक्र' से सम्यन्ध माना जा सकता है। 'विवर्तवादी' वेदान्त ने 'चरवृक्ष' को अपनी जिज्ञासा का लक्ष्य बनाया, एवं यही यहाँ जन्मस्थितिभङ्गाधार 'वृक्ष' घोषित हुआ, जिसका 'अक्षरधिया' 'सौरसम्बत्सरचक्र' से सम्यन्ध माना जा सकता है। यह साथ ही स्पष्ट कर लेना चाहिए कि, इस दर्शनत्रयी की चर-वैकार-वैकारिकभाव-निबन्धना तत्त्वमीमांसा इसकी अपनी कल्पनिक मीमांसा है, जिसके साथ निगमव्याख्यानगुता आचारमीमांसाभाषापत्रा सौर-चान्द्र-पार्थिव-सम्बत्सरचक्रवर्ती से कोई सम्यन्ध नहीं है, जिसके बिना इस भारतीय दर्शनत्रयी का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान शेष नहीं रह जाता। तालिकद्वारा समन्वय कर लीजिए इस दार्शनिक दृष्टिकोण का—

१	(१)-आत्मक्षरः (अपराप्रकृतिः) — ब्रह्म (२)-विकारक्षरः (पञ्चजनप्रकृतिः) — विश्वम्	वेदान्तनिष्ठा (विवर्त्तवादः) — सौरसम्बत्सरात्मिका
२	(१)-विकारक्षरः (गुणप्रकृतिः) — पुरुषः (२)-वैकारिकक्षरः (भूतप्रकृतिः) — प्रकृतिः	सांख्यनिष्ठा (गुणवादः) — चान्द्रसम्बत्सरात्मिका
३	(१)-वैकारिकक्षरः (पशुप्रकृतिः) — चिहृतिः (२)-पञ्चमहामूतानि (वैकारिकजगत्) — विकाराः	वैरोपिकनिष्ठा (भूतवादः) — पार्थिसम्बत्सरात्मिका

### ‘सेतु’ माध्यम से भीमांशोपक्रम—

जिन नैगमिक भाव-गुण-विकार-नामक इन तीन अति-पितर-देव-सर्गों का पूर्ण में दिग्दर्शन कराया गया है, उनके समतुलन की दृष्टि से ब्रह्म, किंवा ‘पुरुष’ किसे कहना चाहिए?, एवं प्रकृति किसे मानना चाहिए?, ये भीमांश प्रश्न हैं दार्शनिकों के लिए। दो राष्ट्रों में इस समन्वयदृष्टि की भीमांसा कर लेना भी अभासजिक न होगा। इस समन्वय के लिए हमें किसी वैसे ‘सेतु’ (कूल-किनारे) को माध्यम बनाना पड़ेगा, जो वास्तव में—‘यः सेतुरीजानानाम्’ इस औपनिषद् सिद्धान्त के अनुसार ‘सेतु’ अभिधा से प्रसिद्ध हुआ है। ‘मानव’ दृष्टया हम मानवसर्ग को ही नैगमिक ‘सेतु’ कहेंगे, जो उस ओर की अमृतभावापन्ना वैज्ञानिकसर्गत्रयी (अति-पितृ-देवसर्गत्रयी) का, एवं इस ओर की मर्त्यभावापन्ना दार्शनिकसर्गत्रयी का माध्यम प्रवेशक, वालम्ब में माध्यम बनता हुआ ‘सेतु’ प्रमाणित हो रहा है। यद्यपि चान्द्रसर्गवादी सांख्य की दृष्टि से मानवसर्ग सत्त्वगुणप्रधान-अप्रविध-देवसर्ग से इस ओर, एवं तमोगुणप्रधान स्तम्भसर्ग के उस ओर मध्य में प्रतिष्ठित मर्त्य सेतु है, रजोगुण-प्रधान सर्ग है। किन्तु निगमव्याख्या के अनुपात से मानवसर्ग का साक्षात् सम्बन्ध है ‘सौरसम्बत्सरात्मिका’ से, जैसा कि—‘अहं सूर्य इवाजनि’ से प्रमाणित है। पृथ्वी में भी सांख्यमार्गानुगत ‘पितरपरिवार’ की भीमांसा करते हुए हमने दोनों दृष्टिकोणों का स्पष्टीकरण कर दिया है (देखिए वृष्टमंथना २८६)।

### पञ्चपुण्डरीका प्राजापत्यवन्दना—

पिपयः बहूत विमृत्युत बनता जा रहा है। अतः अब विरोध विस्तार की ओर न जाकर हमें ‘पञ्चजन’ रीति में अनुप्राणित उस ‘पञ्चपुण्डरीकाप्राजापत्यवन्दना’ के माध्यम से इन नैगमिक



( वैज्ञानिक ), तथा दार्शनिक सगों के तारतम्य की मीमांसा में प्रयुक्त हो जाना चाहिए, जो बल्शा ( दहनी-शाखा ) के अव्ययेधरपोडशप्रजापति-सहस्रबल्शामूर्ति-अधत्त्ववृक्षमूर्ति की सहस्रबल्शाओं में से केवल 'पञ्चजन' नाम की एक बल्शा से ही सम्बन्धित है। अव्ययेधर से संयुक्त अक्षरद्वारा आत्मचरोपादान से उत्पन्न विकारक्षरों के पञ्चीकरण से जो-पञ्च-पञ्चात्मक पाँच स्तर प्रादुर्भूत हुए, वे ही 'पञ्चजन' कहलाए। इन पञ्चीकृत पञ्चात्मक ( प्रत्येक ) पाँच स्तरों से ( पञ्चजनों से ) इन के पञ्चीकरण से पञ्चविंशति-पञ्चविंशति ( २५-२५ ) कल पुरभावसमर्पक जो स्तर सम्पन्न हुए, वे 'वेदाः-सोकाः-देवाः-पशवः-भूतानि' नामक 'पुरञ्जन' कहलाए। इन पुरञ्जनों के पञ्चीकरण से जो पाँच पुत्र प्रादुर्भूत हुए, वे ही निगमपरिभाषा में क्रमशः 'स्वयम्भूः-परमेष्ठी-सूर्यः-चन्द्रमाः-पृथिवी-' इन नामों से प्रसिद्ध हुए। इन पाँचों पुरों का इतिहास ही निगमाग्न्यानुगत प्राकृत सगैतिहास है, जिसे हम निगम के शब्दों में 'ऋषि-पितर-देव-मानव-पशु-भूत' इन ६ भागों में विभक्त मानते हुए 'पदविधप्राकृतसगैतिहास' भी कह सकते हैं। भूत, किया-पञ्चमहामूर्तों का इतिहास ही 'पृथिवी का इतिहास' ( १ ) है। पशु, किया प्रवर्ग्य का इतिहास ही 'चन्द्रमा का इतिहास' ( २ ) है। मानव, किया भुवत्यनुगत मानवात्मक लौकिक मानव का इतिहास ही सत्तुस्थानीय 'मानव का इतिहास' ( ३ ) है। देव, किया मुक्त्यनुगत देवात्मक-देवभावापन्न अलौकिक मानव का इतिहास ही 'जनेतिहासात्मक सूर्य का इतिहास' है ( ४ )। पितरों का इतिहास ही 'परमेष्ठी का इतिहास' ( ५ ) है। एवं ऋषियों का इतिहास ही 'स्वयम्भू ब्रह्म का इतिहास' है ( ६ )। इस पदविध इतिहास को मूल बना कर ही तो हमें आलोचना का समाधान करना है।

- (१)-ऋषि-इतिहासः-( स्वयम्भू-इतिहास )-—प्राणैतिहासः  
( आकाशैतिहासः )
- (२)-पितर-इतिहासः- परमेष्ठी इतिहास )-—अवितीहासः  
( वायुरितिहासः )
- (३)-देव-इतिहासः } - ( सूर्य-इतिहास )-—वागितिहासः  
(४)-मानव-इतिहासः } ( तेज इतिहासः )
- (५)-पशु-इतिहासः-( चन्द्रेतिहास )-—अन्नेतिहासः  
( जलेतिहासः )
- (६)-भूत-इतिहासः-( पृथिवी-इतिहास )-—अश्रदेतिहासः  
( पृथिवीतिहासः )

सोऽयं पञ्चपुट्टीरप्रजापत्यव्यवस्थेतिहासः  
पञ्चविध-पदविधो वा

\* यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्, यस्मात्क्षणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।

पृथ इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

(१)-अपि इतिहासः-(स्वयम्भूः)

“प्राण वा ऋषयः” (शत० ६।१।१।१।) — “ब्रह्म वै स्वयम्भूस्तपोऽतप्यत । स सर्वेषु भूतेषु आत्मानं हुत्वा भूतानि चात्मनि (हुत्वा) - सर्वेषां भूतानां धृष्ट्यं-स्वाराज्यं-आधिपत्यं पर्येतु” (शत० १३।५।१।१।) ।

(२)-पितर-इतिहासः ( परमेष्ठी )-

“आपो वा इदं सर्वं-यत् परमे स्थाने तिष्ठन्ति । तस्मात् ‘परमेष्ठी’ नाम” (शत० ११।६।१।१।६।) — “तृतीये वा इतो लोके ( सोमात्मके परमेष्ठिलोके-‘तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोमः’ ) पितरः” ( तै० भा० १।३।१०।३।) ।

(३)-देव-इतिहासः ( सूर्यः )-

“तं देवा अमृवन्-सूर्याय्यो मर्या यथा गोपायत्, इति-तत् सूर्यस्य सूर्यक्षम्” ( तै० भा० २।२।१०।४।) — “नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः” — “सूर्यो ह सर्वेषां देवानामात्मा” (शत० १।३।२।६।) ।

(४)-पशु-इतिहासः ( चन्द्रमाः )-

“एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमाः” (शत० १।६।१।५।) — “असौ वै चन्द्रः पशुः, तं देवाः पार्ष्णमास्यामालभन्ते” (शत० ६।२।२।१।५।) ।

(५)-भूत-इतिहासः ( पृथिवी )-

“इयं वै पृथिवी भूतस्य प्रथमजा” (शत० १।४।१।१।१०-यजुः सं० ३।५।४।) — “सर्वेषां भूतानां पृथिवी रसः” । ( छन्दोग्य उ० १।१।२।) — “इयं वा पृथिवी अन्नादी” ( तै० २।६।१।) ” । “अस्मिन् हि लोके-पृथिव्यामेव-सर्वाणि क्षियन्ति” (शत० १।४।१।२।४।) ” ।

दार्शनिकतत्त्वमीमांसा के अनुरोध से उक्त द्रष्टव्य ऐतिहासिक मर्गों को क्रमशः (१)-अव्ययात्मानु-  
गत ( षोडशीप्रजात्यनुगत ) ऋषिसर्ग को ‘पुरुषसर्ग’ कहा जायगा । (२)-अक्षरात्मानुगत ( षोडशकल  
प्रजात्यनुगत ) पितरसर्ग को ‘पराप्रकृतिसर्ग’ कहा जायगा । ( ३ )-आत्मक्षरानुगत ( षोडशकलोपेत  
प्रजात्यनुगत ) देवसर्ग को ‘पराप्रकृतिसर्ग’ कहा जायगा । ( ४ )-विकृतिक्षरानुगत सौर सम्यत्सर-  
पदान्तक मानससर्ग को ‘विकृतिसर्ग’ कहा जायगा । ( ५ )-विकारादि सामान्यक्षरानुगत चान्द्रसम्यत्सर-  
पदान्तक पशुसर्ग को ‘विकृतिसर्ग’ कहा जायगा । ( ६ )-एवं वैकारिक विशेषक्षरानुगत पाण्डित्यसम्यत्सर-  
पदान्तक वैज्ञानिक सर्ग को ‘भूतसर्ग’ कहा जायगा । इस निगमाम्नायदृष्टि से द्रष्टव्य मर्गों का तात्त्विक  
( तत्त्वमीमांसासम्मत ) समन्वय लोकसमग्रधिया तालिकामाध्यम से निम्न लिखित रूप से समन्वित  
माना जा सकेगा—

(१)-प्राकृतिकसर्गाधारः-सर्गनिमित्तः-सर्गोपादानः-सर्वमूर्तिः-सर्वेश्वरप्रजापतिपरिलेखः-

अद्वे मात्रः-अमात्रः-सर्वमात्रः-मात्रातीतः-मायातीतः-परात्परः-विरवातीतः-‘अखण्डपरात्परः’

१	१	२	३	४	५	अव्ययः ‘पुरुषः’ पञ्चकलः
१	आनन्दः	विज्ञानम्	मनः	प्राणः	वाक्	अक्षरः पञ्चकलः ‘पराप्रकृतिः’
२	१	२	३	४	५	
३	ब्रह्मा	विष्णुः	इन्द्रः	सोमः	अग्निः	आत्मक्षरः-पञ्चकलः ‘अपराप्रकृतिः’
४	१	२	३	४	५	
५	प्राणः (शुद्धः) (१)	आपः (शुद्धाः) (१)	वाक् (शुद्धा) (१)	अन्नम् (शुद्धम्) (१)	अन्नादः (शुद्धः) (१)	विकृतिक्षरः पञ्चजनः ‘विकृतिः’
६	१	२	३	४	५	
७	प्राणः (पञ्चीकृतः) (५)	आपः (पञ्चीकृताः) (५)	वाक् (पञ्चीकृता) (५)	अन्नम् (पञ्चीकृतम्) (५)	अन्नादः (पञ्चीकृतः) (५)	विकारक्षरः पुरञ्जनम् ‘विकारः’
८	१	२	३	४	५	
९	वेदाः (पञ्चपञ्चीकृताः) (२५)	लोकाः (पञ्चपञ्चीकृताः) (२५)	देवाः (पञ्चपञ्चीकृताः) (२५)	पशवः (पञ्चपञ्चीकृताः) (२५)	भूतानि (पञ्चपञ्चीकृतानि) (२५)	वैकारिकक्षरः पुराणि ‘वैकारिकानि’
१०	१	२	३	४	५	
११	हवयम्भूः (आकाशात्मा) (१००)	परमेष्ठी (वाय्वात्मा) (१००)	सूर्यः (तेजोमयात्मा) (१००)	चन्द्रमाः (जलात्मा) (१००)	पृथिवी (पृथिव्यात्मा) (१००)	
१२	पञ्चपञ्चीकृत- वेदपुरञ्जन- प्रधानः शतमूर्तिः सर्वमूर्तिः	पञ्चपञ्चीकृत- लोकपुरञ्जन- प्रधानः शतमूर्तिः सर्वमूर्तिः	पञ्चपञ्चीकृत- देवपुरञ्जन- प्रधानः शतमूर्तिः सर्वमूर्तिः	पञ्चपञ्चीकृत- पशुपुरञ्जन- प्रधानः शतमूर्तिः सर्वमूर्तिः	पञ्चपञ्चीकृत- भूतपुरञ्जन- प्रधानः शतरूपा सर्वरूपा	संज्ञा प्रजापत्यवस्था
१३	१	२	३	४	५	

यदक्षरं पञ्चविधं समेति, युजो युक्ता अभि यत् संवहन्ति ।  
सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति  
एष एव सर्वेश्वरः प्रजापतिः

(२) अश्वन्थवृक्षात्मनियन्धनपुरुषप्रकृतिभावपरिलेखः—

(१) परात्पराभिन्नः—पञ्चकलाक्षरपञ्चकलात्मक्षरगमितः—

आनन्दविज्ञानमनोधनोवाक्प्राणमूर्तिः—अव्ययात्मा (१)

(२) पञ्चकलात्मक्षर-परात्पराभिन्नपञ्चकलाव्ययगमितः—

ब्रह्मेन्द्रविष्णुधनःसोमामिमूर्तिः—अक्षरात्मा (२)

(३) परात्पराभिन्नपञ्चकलाव्ययपञ्चकलाक्षरगमितः—

प्राणपोवागधनोऽन्नान्नादमूर्तिः—आत्मक्षरात्मा (३)

(४) अव्ययाक्षरात्मक्षरगमितः—पञ्चीकृत—

प्राणपोवागान्नामादमयः—विकृतिभावः (३)

(५) अव्ययाक्षरात्मक्षरपञ्चीकृतविकृतिक्षरगमित-पञ्चपञ्चीकृत-

वेदलोकेदेवपशुभूतमयः—विकारभावः (२)

(६) अव्ययाक्षरात्मक्षरविकृतिविकारगमितः—शतमूर्तिः—

स्वयम्भुपरमेष्ठीसूर्यचन्द्रभूमिमयः—वैकारिकभावः (१)

(३) विश्वेश्वरात्मनियन्धन-पुरुषप्रकृतिद्वन्द्वपरिलेखः—

(१) अव्ययात्मा—पोडशीप्रजापतिः—पुरुषः—अपनिषदः ( श्रुतिसर्गाधारः )

(२) अक्षरात्मा—पोडशफलप्रजापतिः—प्रकृतिः परा—आरण्यकी ( वितृसर्गाधारा )

(३) आत्मक्षरात्मा—पोडशकलोपेतप्रजापतिः—प्रकृतिरपरा—आद्यणानुगता ( देवसर्गाधारा )

(३) विकृतिविश्वम्—विश्वम्—विकृतिः—वेदान्तानुगता ( मानवसर्गाधारा )

(२) विकारविश्वम्—जगत्—विकारः—सांख्यानानुगता ( पशुसर्गाधारः )

(१) वैकारिकविश्वम्—संसारः—वैकारिकः—नीचोपक्रमानुगता ( भूतसर्गाधारः )

(४) दार्शनिकदृष्टिकोणनिबन्धनप्रकृतिपुरुषद्वन्द्वपरिलेखः—

१	प्रकृतिरपरा ( पराप्रकृतिरूपाक्षरानुगृहीतः क्षरः ) एव विजिज्ञास्यं ब्रह्म— वेदान्तब्रह्म विकृतिरेव—विश्वम्—ब्रह्मसर्गः—विश्वसर्गः—जन्मादिलक्षणः—वेदान्तसर्गाभासः
२	विकृतिरेव—संख्यातः सिद्धः—ज्ञानात्मकः—पुरुषः—सांख्यपुरुषः विकार एव—पशुभाव एव—चतुर्दशविधसर्गाधिष्ठात्री प्रकृतिः—सांख्यप्रकृतिराभासिकी
३	विकारा एव—भौतिकं विश्वम्—धर्माधारः—ईश्वरः—औशेषिक—आत्माभासः वैकारिक एव—भौतिकसर्गमीमांसा—धर्मसाधकाः पदार्थाभासाः—औशेषिकविज्ञानाभासः

(५) नैगमिकदृष्ट्यनुगत-प्रकृतिपुरुषद्वन्द्वानुबन्धी-सर्गपरिलेखः—

दम्पती	सत्यम्	(१) सत्यम्भूः—परमाकारः—पुरुषः—'पुरुष एवेवं सर्वम्' (२) परमेष्ठी—ऋतमेव—प्रकृतिः—प्रकृतिरेवेवं सर्वम्	१ २	ऋतिसर्गाधारः (पुरुषसर्गः) (ऋतिमानवाधिष्ठाता)
दम्पती	परमेष्ठी	(१) परमेष्ठी—ऋतमेव—पुरुषः—प्रकृतिलक्षणः पुरुषः (२) सूर्यः—पुराणाकारः—प्रकृतिः—विकृतिलक्षणा प्रकृतिः	१ २	वितृसर्गाधारः (प्रकृतिसर्गः) (यतिमानवाधिष्ठाता)
दम्पती	सूर्यः	(१) सूर्यः—सत्यमेव—पुरुषः—प्रकृतिविकृतिलक्षणः पुरुषः (२) चन्द्रमाः—ऋतमेव—प्रकृतिः—विकृतिलक्षणा प्रकृतिः	१ २	मानव— देवसर्गाधारः (विकृतिसर्गः) (मुनिमानवाधिष्ठाता)
दम्पती	चन्द्रमाः	(१) चन्द्रमाः—ऋतमेव—पुरुषः—विकृतिविकारलक्षणः पुरुषः (२) पृथिवी—भूताकारः—प्रकृतिः—विकारलक्षणा प्रकृतिः	१ २	पशुसर्गाधारः (विकारसर्गः)
दम्पती	पृथिवी	(१) पृथिवी—भूतम्—पुरुषः—विकारवैकारिकलक्षणः पुरुषः (२) भूतानि—सत्यमेव—प्रकृतिः—वैकारिकलक्षणा प्रकृतिः	१ २	लोक— मानवस्थानम् भूतसर्गाधारः (वैकारिकसर्गः)

## भारतीय दर्शन का आलोच्य दृष्टिकोण—

भारतीय दार्शनिकों ने जिस शैली से तत्त्वमीमांसा करते हुए अपने दार्शनिक-दृष्टिकोण को परम्परा आत्मबोध का साधक घोषित किया है, वह प्रथम तो पञ्चम परिलेखानुगत नैगमिक दृष्ट्यनुगता प्रकृति-पुरुषद्वन्द्वानुबन्धिनी पञ्चविधा सर्गमीमांसासालक्षणा उस आचारमीमांसा (पञ्चविध-प्राकृतमर्गमीमांसा) से सर्वथा असंस्पृष्ट ही रहा है, और यही आचारमीमांसा-बहिर्भूता भारतीय दार्शनिक तत्त्वमीमांसा की ऐकान्तिकी वह अनुपादेयता, तथा अनुभोगिता है, जिसे मूल बना कर भारतीय आध्यात्मिक आचारमीमांसा के जिज्ञासु प्रतीच्य विद्वान् भारतीय दर्शनशास्त्रों से, तद्विन्न दार्शनिकों से बड़ी ही आराध-प्रतीक्षा के साथ समय समय पर अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त करते रहते हैं। केवल भारतीभाषा ( संस्कृतभाषा ) के विद्वान् भारतीय दार्शनिक प्रतीच्य विद्वानों की जिज्ञासा-शान्ति में असमर्थ इस लिए बने रह जाते हैं कि, न तो इनके द्वारा उनकी भाषा में भारतीय दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण ही सम्भव, एवं न उनके द्वारा इन की भाषा ( संस्कृत ) में जिज्ञासा का ही स्पष्टीकरण सम्भव। अवश्य ही वैसे भारतीय दार्शनिक इस दिशा में सफलता प्राप्त कर सकते हैं, जो संस्कृत-पाठ्य के साथ साथ न केवल प्रतीच्यभाषा के ही, अपितु प्रतीच्य दार्शनिक दृष्टिकोण के भी सुविज्ञ नही, तो विज्ञ अवश्य हों। होंगे अवश्य ही वैसे भी उभयनिष्ठ भारतीय दार्शनिक, किन्तु हम दुर्भाग्यवश वैसे उभयनिष्ठ भारतीय दार्शनिकों की अभिधा से अपरिचित ही हैं। यदि वैसे उभयनिष्ठों से परिचित होते, तो अवश्य ही उनसे यह जानने का प्रयास किया जाता कि, आचार-मीमांसायजिता प्रतीच्य-तत्त्वमीमांसा को ही लक्ष्य बनाने वाले उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के समतुलन में नैगमिकाचारमीमांसा ( सृष्टिसर्गव्याख्या ) से एकान्ततः असंस्पृष्ट केवल तत्त्वमीमांसात्मक ही भारतीय उस दार्शनिक दृष्टिकोण का क्या महत्त्व है, जो नैगमिक आचारनिष्ठा आचारव्याख्या से पराङ्मुख रहता हुआ प्रतीच्य दर्शनवत् केवल नास्तिकता का ही उपोद्बलक प्रमाणित हो रहा है ? ७ ।

७ यह कटुसत्य है कि, जबतक दर्शनों का विज्ञानानुमोदित नैगमिक दृष्टिकोण से समन्वय नहीं कर लिया जाता, जब तक दर्शनशास्त्र का भारतीय शास्त्राभ्यासपरम्परा में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं माना जा सकता। जो भारतीय विद्वान् अपने आप को उभयनिष्ठ मानते हुए विदेशों में ख्यातिलाभ प्राप्त कर चुके हैं, उन 'स्वामी (विवेकानन्दादि) परिव्राजकादि (सत्यदेवादि)' के यशःशरीर की कोई आलोचना न करते हुए हम दिशा में हमें वर्तमान युग की मान्यता के अनुसार सुप्रसिद्ध भारतीय ? दार्शनिक सर्वश्री माननीय राधाकृष्णन् महोदय से सम्मानपूर्वक यह आवेदन कर ही देना चाहिए कि, विदेशियों को भी चमकृत कर देने वाली उनकी बड़ी ही ओजपूर्ण-गभीरार्थसमन्वित-महत्त्वपूर्ण रंग-लिखावट-शैली, तद्रूपा ही लेखनशैली-मात्र का माध्यम स्वप्न में भी भारतीय दार्शनिक

तदस्य आलोचना का मुख्य लक्ष्यबिन्दु—

तदस्य आलोचना का मुख्य लक्ष्यबिन्दु बना हुआ है भारतीय श्रद्धालु-आम्नायभाक्त ( शास्त्र-भाक्त ) भारतीय मानव । आलोचना का प्रवर्तक बना हुआ है मुख्य रूप से भूतविज्ञानवादी प्रतीच्य

( ३३४ वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश )

दृष्टिकोण से सम्बन्धित आचारमीमांसा का पुनः-स्थापन जवतक करने में अणुमात्र भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा, जवतक कि वे भारतीय शिरोभूत नैगमिक आम्नाय का अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के साथ समन्वय न कर लेंगे । क्या हमारा यह दृष्टिकोण सर्वाधी राधाकृष्णन् के सम्बन्ध में अन्वर्थ बन सकेगा ? प्रश्न बड़ा ही महत्त्वपूर्ण इस लिए है कि, सम्भवतः सन् ३६-४० में ( जबकि श्रीराधाकृष्णन् महोदय हिन्दूविश्वविद्यालय के 'वाइसचांसलर' पद को समलङ्कृत कर रहे थे ) महामना स्व० श्रद्धेय श्रीमालवीयजी महाराज के विशेष आग्रह से नैगमिक दृष्टिकोण के विचारविनिमय के लिए तत्रैव जब हम उनकी सेवा में उपस्थित हो कर संस्कृत में अपना मन्तव्य प्रकट करने का उपक्रम करने लगे, तो ( सम्भवतः 'सर' महोदय के उस समय के प्राइवेट् सेक्रेट्री ) श्रीपन्त महोदय ने इस भारतीय ? महान् दार्शनिक का यह अभिप्राय व्यक्त करने का निःसीम अनुग्रह किया कि, 'सर' महोदय संस्कृत में उत्तर नहीं देंगे ! हाँ, यदि—'इंग्लिश के माध्यम से हम अपने विचार-अभिव्यक्त कर सकें, तो हमें उनका इंग्लिश के माध्यम से ही उत्तर प्राप्त हो सकता है । इस दिशा में निरन्तरमूर्द्धन्य इस व्यक्ति का प्रणतभाव से 'कालाय तस्मै नमः' की अनुभूति को शिरोधार्य कर वहाँ से परायस्मित हो जाना ही परमपुरुषार्थ शेष रह गया था । वही हुआ भी । एवं-इस प्रकार 'इंग्लिश' भाषा जैसी तत्त्वमीमांसा परिपूर्ण ? दार्शनिक-भाषा ? के बोध से वञ्चित रहने के कारण हमें उस महान् दार्शनिक, उस भारतीय दार्शनिकश्रेष्ठ के दार्शनिक-विचार-अग्रण-लाभ से वञ्चित ही रह जाना पड़ा, जो महान् दार्शनिक-सुनने हैं प्रतिवर्ष विदेशी विद्वानों से आमन्त्रित होकर वहाँ भारतीय उन दार्शनिक सिद्धान्तों से उन्हें चमस्कृत करता रहता है, जो भारतीय दर्शनशास्त्र हम जैसे भारतीयों के सीमाग्य से केवल-विशुद्ध उस भारतीय भारतीयभाषा ( संस्कृत ) को ही समलङ्कृत कर रहे हैं, जिनके तत्त्वबोध की कथा तो दूर, चिन्ता संस्कृत-भाषा की परिपूर्ण विज्ञता के जिन दार्शनिक सूत्रों का अन्तरार्थ भी समन्वित नहीं हो सकता । सम्भव है हमें अपात्र समझते हुए ही उस समय 'सर' महोदय ने 'इंग्लिश' के माध्यम की पहिली मध्यस्थ व्यक्ति के द्वारा हमारे सम्मुख उपस्थित करवा दी हो । मान लेते हैं इस सम्भावना को भी लोकसंग्रहबुद्धया निश्चयात्मिका ही । तदपि हमारा यह आग्रह, किंवा दुराग्रह तो सर्वथा सुरक्षित ही है कि, निगमानुगत आचारमीमांसा से असंस्पृष्ट भारतीय दर्शन भारतीयभाषा के माध्यम से विज्ञात बनते हुए भी न तो हमारे ( भारतीयों के ) धर्म का ही संरक्षण कर सकते, एवं न इस केवल तत्त्वमीमांसात्मक भारतीय-दर्शन से भारतीय दार्शनिक विदेशी तत्त्वमीमांसकों का ही सम्यक समाधान सम्भव बना सकते । इस दिशा में तो एकमात्र नैगमिक समन्वय ही भारतीय दर्शनप्रतिमा में प्राणप्रतिष्ठा करता हुआ इसो उपास्य बना सकता है ।

मानव । अतएव आलोचना के सामयिक समाधान से पूर्व हमें इन दोनों विभिन्न ऐन्द्र-धारण मानवों के प्राकृतिक तत्त्वात्मक स्वरूप को लक्ष्य में आरुढ़ कर लेना चाहिए, जो तत्त्विक स्वरूप-परिचय विस्तारभिया अन्य निबन्ध के तत्प्रकरणविशेष की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देता है ॥ ऐन्द्र भारतीय आस्तिक मानव का स्थान पञ्चविध, किंवा षड्विध प्राकृतिक सगे में कौनसा ?, एवं धारण प्रतीच्य मानव का ( तथा तदुच्छिष्टभोगी तदनुवर्त्मा गतानुगतिक भारतीय वर्त्तमान उस मानव का-जो इस गतानुगतिकता से प्रभावित होकर अपने को धारणभावात्मक धारणपारा से आवद्ध करता हुआ प्रतीच्यमानवयत् अपनी शास्त्रान्नाय का उनकी भाँति ही आलोचक बन गया है युगधर्मांत-ग्रह से ) कौनसा स्थान ?, सर्वप्रथम यही प्रश्न मीमांस्य है ।

‘सूचीकटाहम्याय’ से सर्वप्रथम उस वर्त्तमान भारतीय दार्शनिक दृष्टिकोण से मानव-स्थान का अन्वेषण कीजिए, जो आचारमीमांसा से असंस्पृष्ट रहता हुआ समवर्त्तनात्मक सर्वस्यघातक ‘साम्य-वाद’ की खोपणा कर रहा है । इस की दृष्टि में ‘मानव प्रज्ञाशील बुद्धिनिष्ठ प्राणी है’ । स्थान इसका यही भूलोक । पुरुषार्थ इसका इस लोक में तत्त्वों का अन्वेषण-प्रचार, एवं सम्पूर्ण पृथिवी के मानवमात्र में समानदृष्टि, विध्वंशुत्त्वभावना, पारस्परिक सहयोगादानप्रधान” । अलमतिपल्लवितेन । एवंविधे दार्शनिक मानव के स्थान की मीमांसा वर्त्तमान दार्शनिकों के अनुग्रह से बड़े आटोप के साथ मीमांसित है, उपयुक्त है, जिसके पुनरावर्त्तन में इस मानव का कोई सीहार्द नहीं है । इसे तो अपने भारतीय दृष्टिकोणात्मक नैगमिक दृष्टिकोण से ही, ‘विषमवर्त्तनत्वे सति समदर्शनत्तम्’ लक्षणा नैगमिक मीमांसा के माध्यम से ही मानवस्थान का अन्वेषण करना है ।

नैगमिकमानवचतुष्टयी—

‘चतुष्टयं वा इदं सर्वम्’ इस नैगमिक अनुगमे के आधार से मानव के चार स्थान मानव के सम्मुख उपस्थित हो रहे हैं पूर्वीक षड्विध, किंवा षड्विध प्राकृतिक धरातल में । पूर्णेश्वर प्रजापति के तीन विषयों का स्मरण कीजिए, जिनका पूर्व में दिग्दर्शन कराया जा चुका है (देखिए पृ० सं० ३२६) । षोडशीप्रजापति, षोडशकलप्रजापति, षोडशकलोपेतप्रजापति, तीनों क्रमशः अव्ययात्मा-अक्षरात्मा-आत्मचरात्मा-प्रधान बनते हुए क्रमशः अपिलक्षण भावसर्ग, पितृलक्षण गुणसर्ग, देवलक्षण विकारसर्ग के अधिष्ठाता बने हुए हैं । इन तीनों सर्गों के अधिष्ठान हैं क्रमशः ‘स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य’ ये तीन प्राजापत्य विवर्त्त ( प्रजापतिमहिममण्डल ) । इन तीन आत्मनिबन्धन सर्ग-पर्वों के सम्बन्ध में नैगमिक मानव के षोडशीप्रजापतिलक्षण-अव्ययात्मप्रधान-‘स्वायम्भुवरथान,’ षोडशकल-

॥ देखिए-गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-यहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्डान्तर्गत ‘गौर-कृष्णरहस्य’ ( ‘हम काले, और वे गौर’ ) नामक परिच्छेद ।



प्रजापतिकृण-अक्षररूपप्रधान-‘पारमेष्ठ्यस्थान,’ एवं षोडशकलोपेतप्रजापतिकृण-आत्मक्षरप्रधान-‘सौरस्थान,’ ये तीन ही मुख्य स्थान प्रमाणित हो रहे हैं। निरूपणीय चतुर्थ स्थान तो निगमदृष्ट्या, किंवा निगमानुगत आत्मबोधदृष्ट्या अस्थान ही माना गया है, जिसका दिग्दर्शन अनुपद में ही कराया जाने वाला है। स्वायम्भुवस्थानवासी मानव स्वयमपि ‘स्वयम्भू’ है, पारमेष्ठ्यस्थान का मानव ‘परमेष्ठी’ है, एवं सौरस्थान का मानव ‘सूर्य’ है।

आत्मबुद्ध परिपूर्ण आरूढ़ सिद्ध सहज मानव ‘स्वयम्भू’ है। आत्मबोधसन्निकटवर्ती परिपूर्ण-पथवर्ती-आरूढ़वत्-सिद्धवत्-सहज मानव ‘परमेष्ठी’ है। एवं आत्मबोधपथानुगत-परिपूर्णपथानुगत-आरूढ़वत्-सिद्धिमार्गा-रूढ़-सहज भावारूढ़ मानव ‘सूर्य’ है।

आचारमीमांसात्मक स्मार्तदर्शनात्मक भगवद्दर्शन ( श्रीमद्भगवद्गीता ) की दृष्टि से ही पहिले उक्त मानवत्रयी की आम्नाय-प्रामाणिकता का अन्वेषण कीजिए। गीताने विस्पष्ट शब्दों में अनेकधा इन तीनों मानववर्गों का दिग्दर्शन कराया है। गीतादृष्टि के अनुसार उक्त तीनों मानव-श्रेणियों को क्रमशः ‘ऋषिमानव, यतिमानव, मुनिमानव’ नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। तीनों क्रमशः—‘आरूढ़-मध्यस्थ-आरूढ़वत्’ रूप से, ‘युक्त-मध्यस्थ-युज्जान’ रूप से गीता में व्यवर्णित हुए हैं। निम्न लिखित गीतावचन इन्हीं श्रेणिविभागों का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

## १—ऋषिमानवः—स्वायम्भुवः

१—लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं “भूयः” क्षीणकल्मषाः ।

छिन्नद्वेषा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥ ( गी० ५।२५ ) ।

२—योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।

त योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ ( गी० ५।२४ ) ।

३—योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ( गी० ६।१ ) ।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुपज्जते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी ‘योगारूढ’ स्तदोच्यते ॥ ( गी० ६।१४ ) ।

## २—यतिमानवः—पारमेष्ठ्यः

१—कामक्रोधवियुक्तानां “यतीनां” यतचेतसाम् ।

अमितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्चते विदितात्मनाम् ॥ ( गी० ५।२६ ) ।

२—प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ ( गीता ६।१४ ) ।

३—भोक्तारं यत्तपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमश्नुते ॥ ( गी० ६।२६। ) ।

३—मुनिमानवः—सौरः

१—यतेन्द्रियमनोबुद्धि—“मुनि” भोक्तरायणः ।

विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा, मुक्त एव सः ॥ ( गी० ६।२८। ) ।

२—यदा हि नेन्द्रियाण्येषु न कर्मस्वनुपजते ।

सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ( गी० ६।३। ) ।

३—आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्मकारणमुच्यते ॥ ( गी० ६।३। ) ।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ( गी० २।५०। ) ।

— x —

तीनों नैगमिक मानवों का मूलप्रतिष्ठा रूप नैगमिक आध्यात्म है क्रमशः उपनिषद्—आरण्यक—ब्राह्मण । ब्राह्मणानुगत श्रौतदेवपितृ “यज्ञकर्म” सौर मुनिमानव की, आरण्यकानुगत श्रौत उद्गीथादि उपासनालक्षणा “तपश्चर्या” पारमेष्ठ्य यतिमानव की, एवं उपनिषदानुगत श्रौत शिरोव्रतलक्षणा “आत्मबोध” स्वायम्भुव ऋषिमानव की सहज आध्यात्म है । तीनों आध्यात्मों का एक ही भारतीय द्विजाति—मानव की ‘गृहस्थाश्रम—वानप्रस्थाश्रम’ संन्यासाश्रम’ न तीन श्रौत आश्रमव्यवस्थाओं के साथ क्रमिक सम्बन्ध है । आत्मबोधपरायण परिपूर्ण भारतीय ऋषिमानव ‘संन्यासी’ है, तपश्चर्यारत परिपूर्णवानुगामी यतिमानव ‘वानप्रस्थी’ है, एवं आत्मबोधपरारुरुक्षु मुनिमानव ‘गृहस्था मी’ है । यही नैगमिकी प्राकृतिक-सर्गनियन्धना मानव की संचित स्थानमीमांसा है, जिसके नैगमिक मूलों का निम्न लिखितरूप से समन्वय किया जा सकता है—

१—पोडशीप्रजापतिरव्यवात्मप्रधानः—स्वायम्भुवः—

१—यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा ।

प्रजापतिः प्रजया संरराष्ट्रीणि ज्योतींषि सचते स पोडशी ॥

—यजुःसंहिता ८।३६।

२—अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।

सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥

—अथर्वसंहिता १०।७।४०।

३—प्रजापते ! न त्वदेतान्यन्यो विधा जातानि परि ता वभूव ।  
यत् कामास्ते जुहूमस्तन्नो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥

—अण्मोचिता १०१२११०१

२—पोडशकलः प्रजापतिरक्षरात्मप्रधानः-पारमेष्ठ्यः

पोडशकलं भारद्वाज ! पुरुषं वेत्थ । इहैवान्तःशरीरे सोम्य ! स पुरुषः,  
यस्मिन्नेताः पोडशकलाः प्रभवन्ति” इति ।

—प्रश्नोपनिषत् ६।१।

२—“एवमेवास्य परिद्वन्दुरिमाः पोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य अस्तं  
गच्छन्ति, भिद्येते तासां नामरूपे । ‘पुरुष’ इत्येवं प्रोच्यते । स एषो-  
ऽकलोऽमृतो भवति (पोडशी भवति)” ।

—प्रश्नोपनिषत् ६।६।

३—अरा इव स्थनामौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।  
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा ॥

—प्रश्नोपनिषत् ६।६।

३—पोडशकलोपेतः-प्रजापतिः मौरसम्बत्सरात्मा-आत्मक्षरात्मप्रधानः-सौरः

१—स एष सम्बत्सरः प्रजापतिः पोडशकलः (कलोपेतः) । —शत० १४।४।३।२१।

२—पोडशकलं वै ब्रह्म ( क्षरात्मा ) —जैः ३० ३।३।२।

३—स प्रजापतिः पोडशधाऽऽत्मानं व्यकुर्वत्-१-भद्रं च, २-समाप्तिश्च ।

३-आभूतिश्च, ४-सम्भूतिश्च । ५-मृतं च, ६-सर्वं च । ७-रूपं च,

८-अपरिमितं च । ९-श्रीश्च, १०-यशश्च । ११-नाम च, १२-

अग्रं च । १३-सज्जानाश्च, १४-पयश्च । १५-महिमा च, १६-रसश्च ॥

—जैः ३० १।४।२।

— x —

१—पोडशीप्रजापतिर्गर्भितः-स्वायम्भुवः-अपिसर्गः--

१—विश्ववर्मा विमना आब्रिहाया घाता विधाता परमोत्त सन्तक् ।

तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त अषीन् पर एकमाहुः ॥

२—यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।

यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्ररुतं भुवना यन्त्यन्या ॥

३—तथावजन्त द्रविणं समस्या ऋषयः पूर्वं जरितारो न भूना ।

अधूर्ते सूर्ते रजसि निपत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि ॥

—ऋक्संहिता १०।८२ सूक्त ।

२-पोडशकलप्रजापतिगर्भितः-पारमेष्ठ्यः-पितृसर्गः--

१—अङ्गिरसो नः पितरो नवग्या अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।

तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रं सौमनसे स्याम ॥

२—सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्त्तेन परमे व्योमन् ।

हित्यायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्या सुवर्चाः ॥

३—उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।

असुं य ईयुरष्टका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥

—ऋक्संहिता १० । मं० । १४, १५ सूक्त ।

३-पोडशकलोपेतप्रजापतिगर्भितः-सौरः-देवसर्गः--

१—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।

आप्रा चावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

तत् सूर्य्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तव्यं संजभार ।

यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥

अद्या देवा उदिता सूर्य्यस्य निरंहसः पिपृता निरवघात ।

तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥

—ऋक्संहिता १ मं० । ११५ सूक्त ।

— x —

१ अव्ययात्मा षोडशी २	२ अक्षरात्मा षोडशकलः	३ क्षरात्मा षोडशकलोपेतः
स्वयम्भूः ( पितामहः )	परमेष्ठी ( पिता )	सूर्यः [ पुत्रः ]
अपिभावः ( अपिसर्गः )	पितृभावः ( पितृसर्गः )	देवभावः ( देवसर्गः )
अपिमानवः अपिः आरूढः संन्यासी	पितृमानवः यतिः मध्यमः यानप्रस्थी	देवमानवः देवः आरूढः गृहमेधी
उपनिषद्गान्नायः	आरण्यकगान्नायः	ब्राह्मणगान्नायः

त्रिविध प्राकृतिक स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर, इन तीन अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-निबन्धन तीन-मानव संस्थानों के अतिरिक्त चतुर्थ क्रमप्राप्त चान्द्र-पार्थिवोभयसमष्टिरूप विकृति-विकारभाषावन्न संस्थान चतुर्थ 'लोकमानव' का संस्थान ( स्थानप्रतिष्ठा ) बनता है, जिस में चान्द्र-रौद्र-भौम-पार्थिव चतुर्ह शक्ति भूतसर्गों का समावेश माना गया है \* । गृह स्मार्त धर्मात्मक लोकधर्म का इस चतुर्थ लौकिक मानव के साथ ही सम्बन्ध माना गया है, जिसके लक्ष्य-स्थान हैं प्रधानरूप से 'चन्द्रमा, तथा पृथिवी' नामक दो प्राकृतिक विवर्त । चन्द्रमा मन का प्रभव है, पृथिवी शरीर की अधिष्ठात्री है । मनःशरीरप्रधान सामान्य लौकिक मानव ही लोकसाम्यताओं का लक्ष्य बना करता है, एवं यही रात्रि-जागरणात्मक लोकसाम्यतानिबन्धन पितृकर्म से सम्बन्ध रखने वाली लोक-वित्त-पुत्रादि पार्थिवचान्द्र समृद्धियों का भोक्ता बना करता है । यत्कथांश प्रकृत में केवल यही है कि, 'पञ्चविध प्राकृतसर्गदृष्टि से मानव के चार स्थान हो जाते हैं, एवं इस स्थानचतुष्टयी के सम्बन्ध से ही मानव को चार भेदि-विभागों में विभक्त माना जा सकता है, जैसा कि पूर्वपरिलेखों से स्पष्ट है ।

चेतन-अचेतनसर्ग भीमांसा—

इत चारों के अतिरिक्त पाँचवाँ पार्थिवसर्ग केवल जड़सर्ग ही माना गया है, जिसे सांख्य परिभाषा में 'असंज्ञ-अचेतनसर्ग' भी कहा गया है । इस दृष्टिकोण से हम पञ्चविधसर्गों को हम क्रमशः

\* "रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशं स्तोममुदजयैस्तमुज्जेषथ" यजुःसंहिता-६।३४। ) इत्यादि यजुर्मन्त्राधारेण भीमांसित चतुर्दशाक्षर समन्वित आन्तरिक्ष चान्द्र चतुर्दशभूतसर्गों का पूर्वपरिच्छेदों में अनेकधा स्पष्टीकरण किया जा चुका है ( देखिए पृ० सं०-२०४ से २१२ पर्यन्त ) ।

‘आत्मसर्ग, महत्सर्ग, प्राणसर्ग, चेतनसर्ग, जड़सर्ग’ इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। ऋषि-सर्ग-आत्मसर्ग है, पितृसर्ग महत्सर्ग है, देवसर्ग प्राणसर्ग है, पशुसर्ग चेतनसर्ग है, भूतसर्ग जड़-सर्ग है। क्या ऋषि-पितृ-देवात्मक आत्म-महत्-प्राणसर्गत्रयी चेतन नहीं है?, प्रश्न का समाधान ‘हाँ’ में भी होगा, एवं ‘ना’ में भी। ‘चेतन’ का जैसा अर्थ दार्शनिकोंने मान रखा है, उस दृष्टिकोण से तो हम कहेंगे कि ‘आरम्भ की सर्गत्रयी चेतन नहीं है’। यदि ‘चेतन’ का अर्थ निगमसम्मत ‘आत्मा’ है, तो अवश्य ही सर्गत्रयी ही चेतन है, एवं पशु-तथा भूत दोनों अधः सर्ग निगमदृष्ट्या अचेतन हैं।

जड़ और चेतन की महत्त्वपूर्ण तत्त्वमीमांसा। नैगमिक-बैज्ञानिक दृष्टिकोण से घञ्चित रहती हुई आज सर्वात्मना पदे पदे संदेह भाजना ही प्रमाणित हो रही है। यदि दार्शनिक ‘मूढगर्भ’ माध्यम से चेतन-जड़ मीमांसा में प्रवृत्त हो जाते, तो कदापि उस सन्देहपरम्परा का जन्म न होता, जिसने सर्व-साधारण की सहज आत्मबोधनिष्ठा को आज सर्वात्मना विकम्पित कर दिया है। जड़ भूत के साथ ओतप्रोत सम्बन्ध से मग्न रहने वाली क्रियारहीला प्राणराशि को ही ‘चेतनसर्ग’ का मूलाधिष्ठान मानने की भयावह भ्रान्ति करते हुए तत्त्वमीमांसकों ने जड़-भूत-समनुलित पशु- (तदुपलक्षित चतुर्दशविध भूत)-सर्ग को भी जिस प्रकार ‘चेतनसर्ग’ मानते हुए ‘आत्मचेतन्य’ रूप से पशुसर्ग की तत्त्वमीमांसा कर डाली है, उसकी आलोचना का यहाँ प्रसङ्ग नहीं है। नापि प्रसङ्गावसर है उस चेतना-स्वरूपबोधानुगता महा भ्रान्ति की आलोचना का, जिस भ्रान्ति ने भारतीय नैगमिक सनातन-शाश्वत आन्नायसिद्ध नित्य धर्म के सम्बन्ध में धर्म्मानुगता अहिंसा-हिंसा व्याख्याओं में, लोक-परलोक-गतिभावों में, शुचि-अशुचिभावों में, सत्यानृतभावों में, व्रत-दानभावों में, सर्वत्र भ्रान्तिपरम्परा का सर्जन कर डाला है। और नाहीं हमें दार्शनिकों की (विशेषतः गुणवादी-अव्यक्तनिष्ठ-सांख्य-दर्शन की) उस दृष्टि की ही आलोचना करनी है, जिन्होंने सर्वमूर्द्धन्य-सहजज्ञाननिष्ठ-ईश्वरप्रज्ञापति-समनुलित-परिपूर्ण-पुरुष (मानव) को चतुर्दशविध भूतसर्गात्मक पशुसर्ग की श्रेणि में समुपस्थित करने की घोरघोरतमा भ्रान्ति करते हुए सहजपूर्ण-सहजसिद्ध भी मानव को भूतसर्गनिबन्धना भूतप्रेत-भावापन्ना तान्त्रिक-सिद्धिपरम्पराओं के मोहजाल में आवद्ध कर, विविध योगानुगता विविध अणिमादि-सिद्धियों के व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्त कर इसकी सहज शान्ति को विकम्पित कर डाला है। सर्वोपरि केवल भूतसर्गवादी? भूततत्त्वमीमांसक उन प्रतीच्य तत्त्वमीमांसकों के सम्मान को भी हम अगुमात्र भी आलोचना का विषय बनाना सर्वथा निःसार ही मानेंगे, जिन विदेशी तत्त्ववादियों ने ‘मानव’ का स्थान पशु-श्रेणि से भी निम्न भूतश्रेणि में निश्चित करते हुए जड़वाद के माध्यम से ‘मानव’ के पुरुषार्थ को समन्वित करने में ही, अपने जड़ विज्ञानात्मक भौतिक आविष्कारों से मानव की नैसर्गिक संघर्ष-मूला शान्ति का, ‘संघर्षशून्या मृतप्राया अनुकूलता का सर्जन करने में ही अपने आप को गौरवान्वित मान लिया है। प्रणम्य है सम्मानपूर्वक इत्यंभूत ज्ञात-अज्ञात भारतीय दार्शनिकों का निष्कैवल्य

(आचारमोक्षासारहित) तत्त्ववाद, भग्यतायादाभिनिविष्ट भारतीयों का सम्प्रदायवाद, एवं प्रतीच्य विद्वानों का केवल भूतयादानुगत तत्त्ववाद, तथा तदनुगत हं सर्वस्य विपातक जड़-विज्ञानवाद ।

चेतनजड़व्यवहारमीमांसा—

यद्यपि नैगमिक दृष्टि से 'चेतन'—'चिन्'—'चिदाभास'—'जीव'—आदि शब्द सर्वथा महत्त्वशून्य हैं । तथापि प्रचलित मान्यता को विषयसमन्वय की दृष्टि से मान्यता प्रदान करते हुए हम 'आत्मा' के सम्बन्ध में 'चेतन' शब्द, एवं भौतिक विश्व के सम्बन्ध में 'जड़' शब्द मेंमात्र मान लेते हैं । 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' के अनुसार नैगमिकदृष्टि से पर-अपर-सबकुछ 'चेतन' हैं । आत्मव्याप्ति-दृष्ट्या कोई जड़ नहीं है । इसी आधार पर 'सर्वं खान्विदं ब्रह्म'—'ब्रह्म वेदं सर्वम्' इत्यादि अद्वैत सिद्धन्त स्थापित हुए हैं । क्या निगम में 'जड़' व्यवहार का कोई महत्त्व नहीं है ? है, और अवश्य है । किन्तु आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति—अनभिव्यक्ति रूप से । जिस भौतिक सर्ग में आत्मस्वरूप (चेतनस्वरूप) अभिव्यक्त है, वह निगम परिभाषा में 'चेतन' (आत्मयुक्त) माना जायगा, एवं जिस भौतिक सर्ग में आत्मस्वरूप अनभिव्यक्त रहेगा, वह 'अचेतन' (विमूढात्मसर्ग) कहा जायगा । अत्रैव घण्टाघोष पूर्वक हमें उस नैगमिक सिद्धान्त को नतमस्तक होकर स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि, यद्यप्यन् प्राणी-सर्गों में केवल 'मानव' सर्ग में ही आत्मा स्वरूप से अभिव्यक्त है । अतएव इसी के लिए 'पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्' (शत० २।५।१।११) यह सिद्धान्त स्थापित हुआ है । अव्यय-पुरुष ही 'पुरुष' है, यही 'चिदात्मा' है, जिसकी अभिव्यक्ति हुई है सहज रूप से एकमात्र मानव में ही । अतएव यद्यप्यन् सर्गों में 'पुरुष' लक्षणा आत्म-अभिधा का सम्मान एकमात्र मानव को ही प्राप्त हुआ है । इस 'पुरुष' भाव के कारण ही एकमात्र मानव ही स्वतन्त्र पुरुषार्थद्वारा असम्भव को सम्भव, सम्भव को असम्भव बनाने की क्षमता रखता है, जब कि मानवेतर सम्पूर्ण प्राणी केवल 'प्राकृत' बनते हुए प्रकृतिपरवश बने रहते हुए स्वतन्त्र पुरुषार्थ में एकात्मतः असमर्थ हैं । इन का वद्भय-विलयन-शरीरयापन-सब कुछ परतन्त्र है, प्रकृत्याधीन है । आत्मबोधस्वरूपा ब्रह्मविद्या के यत्न पर (स्वप्नरूप बोधाधार पर) मानव जहाँ कर्त्तृमकर्तृभग्यथाकर्तृसमर्थ ॐ है, वहाँ प्रकृति-भावापन्न इतर सर्ग प्रकृत्यवयरूप बने रहते हुए प्रकृत्या नियन्त्रित हैं, परतन्त्र हैं, जिन की भावुकता का संरक्षण निगमने—'स्वैपमेव चकार' रूप से किया है ।

जड़चेतनानुगता महती समस्या—

बहुत बड़ी समस्या उपस्थित हो जायगी निगमरहस्यासंस्पृष्ट केवल दर्शनभक्त-सम्प्रदायभक्त भारतीय आस्तिक मानव के लिए यह सुन कर कि, "मानवेतर सम्पूर्ण प्राणिसर्ग अचेतन हैं, पोषण

\*—'ब्रह्मविद्यया ह न सर्वं भविष्यन्ती मन्यन्ते मनुष्याः' (शत० १।५।३।२) ।

लोष्टवत् जड़ हैं'। समस्या चास्त्व में तदवधिपर्यन्त, इसके लिए समस्या ही रहेगी, जब तक कि मानव भारतीय मूलसमस्यामीमांसक निगमशास्त्र के तात्त्विक स्वाध्याय में प्रवृत्त नहीं हो जायगा। यही तो स्वयं अपनी 'हमारी समस्या' है, जिसका समाधान विषयान्तरानुगत प्रस्तुत निबन्ध में शक्य नहीं है। मानते हैं मानवेतर पशु-पक्षी-कीट-कृमि, आदि में ही क्या, 'अन्तःसज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख-समन्विताः-तस्मात् हंसन्ति पादपाः-तस्माद्दुर्दन्ति पादपाः-तस्माद्विप्र्रन्ति पादपाः' (महाभारत) इत्यादि रूप से ओषधि वनस्पतियों में भी सेन्द्रियमन प्रतिष्ठित है। इस सेन्द्रिय मन से इन्हें भी मानवधन सुख-दुःखानुभूति होती है। और सम्भवतः एकमात्र इन्द्रियानुगत मनोभाव को ही 'चेतन' का लक्षण मानने की भावना आन्ति करते हुए अन्यकनिष्ठ दार्शनिकों ने, एवं तदनुगामी भारतीय शिष्टों ने \* इन्हें 'चेतन' मान लिया है। यदि 'चेतन' का अर्थ केवल 'क्रियाशीलतानुगता-सुखदुःखादि-दुन्द्यानुभूतियाँ' ही हैं, तब तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि 'चेतन' शब्द से 'आत्मसत्ता-आत्मा-मिव्यक्तिलक्षणा-आत्मबोधसत्ता' उनका अभिप्राय है, तो यह सर्वथा आपातरमणीय, अतएव अपेक्षणीय ही माना जायगा। अहिंसा-हिंसा-जनिता पुण्यपापव्यवस्था, सत्य-दया-दान-अस्तेय-शौच-इन्द्रियनिग्रहादि लक्षणा धर्मव्यवस्था, ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ-पितृयज्ञ-भूतयज्ञादिरूपा यज्ञव्यवस्था, श्राद्ध-पितृ-दान-रात्रिजागरणादिरूपा प्रेतपितृकर्मव्यवस्था, अभ्युदय-निश्रेयस्-स्वर्ग-नाक-मुक्ति-आदि आत्मगतव्यवस्था, परलोकव्यवस्था आदि आत्मस्वरूपानुबन्धिनी सम्पूर्ण व्यवस्थाओं का एकमात्र उत्तरदायित्व 'मानव' से ही सम्बन्धित है, यही चिदात्मलक्षण पुरुष है, एवं इस दृष्टि से एकमात्र यही 'चेतन' अभिधा का पात्र है। मानव ही परिपूर्णबोधव्यवस्था में श्रुति है, बोधपथानुगतिकाल में मानव ही पितर है, और बोधपथसाधकमार्गानुगमनकाल में मानव ही 'देव' है। यदि मानव अपनी आत्मानुबन्धिनी इस स्वरूप-प्रयी के बोध से यज्ञित (पराङ्मुख) है, तो हमें निरतिशया दुःखानुभूतिपूर्वक इस सहजरूपेण परिपूर्ण भी मानव के लिए इस कटुसत्य की अभिव्यक्ति करनी ही पड़ती है कि, "अमुक आगन्तुक पदधर्मा के आगमन से अपने आपको विस्मृत करते हुए मानव ने 'पशुभाव' का ही अभ्यास कर लिया है।"

### पशुमानव की अनुभूतियाँ—

यही कारण है कि, पशुमात्राकान्त मानव की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ 'पशु' को, तदभिन्न जड़भूतवर्ग को मध्यस्थ बना कर ही प्रवृत्त हो रहीं हैं। न केवल अनुभूतियाँ ही, अपितु इत्थंभूत भावुक मानव की

— इन समस्या परम्पराओं की आलोचना 'हमारी समस्या' नामक स्वतन्त्र निबन्ध में ही तज्ज्ञासुओं को देखनी चाहिए।

\* 'सिन्द्रिपं चेतनद्रव्यं, निरिन्द्रियमचेतनम्'।

—चरकसंहिता



तत्त्वमीमांसा का माध्यम भी पशु एवं मृतसर्ग ही बनता है। परिणाम इस मध्यस्थता का यह होता है कि, पशुशरीर-पशुमन-पशुइन्द्रियाँ, तथा भूतानुगत अणु-परमाणु ही इसकी अपनी स्वरूपमीमांसा के उदाहरण-दृष्टान्त-बनते हुए इसे सर्वात्मना लक्ष्यच्युत बना रहे हैं। परिपूर्ण मानव के आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर-भागों का स्वरूपबोध प्राप्त करने के लिए यह भावुक मानव पशु एवं भूतों के परीक्षण [ एक्सपेरिमेन्ट-Experiment ] में प्रवृत्त हो पड़ता है-। एवं पशु तथा भूतों के प्राकृतिक परिवर्तनों के माध्यम से मानव अपने परिवर्तनों का समतुलन करता हुआ अपने आपको वैज्ञानिक-तत्त्वमीमांसक घोषित करने लगता है। यही एवंविध मानव की पशु-भूतभावसमतुलित चिकित्सा प्रणाली है, यही इसके सर्वविध अन्त्यान्त पुरुषार्थक्षेत्र हैं, जिनका आविष्कारक पशु-भूतवादी मानव मानव के सहज परिपूर्ण स्वरूप का आज के वर्तमान युग में उसीप्रकार मानो उपहास ही कर रहा है, जैसे कि विगत शताब्दियों से भारतीय दार्शनिक-साम्प्रदायिक-तान्त्रिक-योगपरायण भावुक मानव केवल चान्द्र सर्गानुगत पशु-सर्गस्थान ही मानव का स्थान मानते हुए भारतीय आस्तिक किन्तु भावुक मानव के सम्मुख आचारशून्या ( निगमव्याख्याशून्या ) तत्त्वमीमांसा, केवल-मानसानुभूतिलक्षणा सम्प्रदायानुगता भक्तिमीमांसा, भूतप्रेतपिशाचनिबन्धना सिद्धिमीमांसा, चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणा-धारणाध्यानसमाधिरूपा योगमीमांसा आदि ( और और भी ज्ञात अज्ञात विविध प्ररोचनामीमांसाएँ ) समुपस्थित करते हुए इसकी सहज परिपूर्णता का उपहास ही करता आ रहा है।

**पञ्चविध मानवसर्ग समन्वय—**

यद्वा तद्वास्तु । प्रतिप्रशनात्मिका उक्त सामयिक आलोचना से प्रकृत में हमें निगमानुगत उस पञ्च-विध सर्ग को ही लक्ष्य बनाना है, जिसके आधार पर तत्स्य आलोचना का समाधान व्यक्तनिष्ठ है। अध्यात्मदृष्ट्या इस पञ्चविध सर्ग को हम दो भागों में विभक्त मानेंगे-पुरुषसर्ग, एवं प्रकृतिसर्ग। पुरुषसर्ग को हम 'सर्वाधार' कहेंगे, एवं प्रकृतिसर्ग को सर्वाधार पर प्रतिष्ठित 'सर्व' कहेंगे। इस प्राकृतिक सर्वसर्ग के चार विवर्त अध्यात्म में क्रमशः 'महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, भूत' नामों से व्यवहृत होंगे, एवं पाँचवाँ सर्वातीत पुरुष 'आत्मा' कहलाएगा। इस आत्ममहिमा ( पुरुषात्ममहिमा ) में प्रतिष्ठित महदादि क्रमशः "महानात्मा-विज्ञानात्मा ( बुद्धि )-प्रज्ञानात्मा ( मन )-भूतात्मा ( शरीर )" नामों से व्यवहृत होंगे। स्वायम्भुव पुरुषात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र प्रज्ञानात्मा, पाथिव भूतात्मा, इन पाँचों के साथ क्रमशः ऋषि-पितर-देव-पशु-भूतसर्गों का सम्बन्ध है। इन पाँचों का उद्गीथ ( केन्द्र ) मध्यस्थ देवभावात्मक विज्ञानात्मा ( बुद्धि ) है, इसके उस ओर पुरुषात्मा, महानात्मा, ये दो अमृतभाव प्रतिष्ठित हैं, इस ओर प्रज्ञानात्मा-भूतात्मा, ये दो मर्त्य भाव प्रतिष्ठित हैं, मध्यस्थ सौर विज्ञानात्मा उभयात्मक है + । यह है पुरुष-प्रकृतिसमन्वित-रूपात्मक परिपूर्ण मानव के-परिपूर्ण स्वरूप का एक नैगमिक दृष्टिकोण, जिसके आधार पर ही हमें तथाकथित मानव की चार स्थानमीमांसाओं को अवधान पूर्वक लक्ष्य बनाते हुए ही समाधान के निकटतम पहुँचने का प्रयास करना है -

❧—"तद्यत् किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्सम्" ( शत० १८।१।११ )

❧—"आकृष्णेन रजसावर्तमानः-निवेशयन्नमृतं-मर्त्यञ्च" ( यजुःसंहिता ३।४।३१ )

सर्वतंत्रग्रहस्वरूपः-परिपूर्णमानवस्वरूपपरिलेखः—(३)

(१) —

१	१-स्वयम्भूः—वृषा-पुरुषः—पुरुष एव २-परमेष्ठी—योषा-प्रकृतिः—प्रकृतिरेव	प्रकृतिगर्भितः पुरुषात्मा (आत्मा) —स्वायम्भुवः—	अमृत- संस्था
२	३-परमेष्ठी—वृषा-पुरुषः—प्रकृतिः ३-सूर्यः—योषा-प्रकृतिः—विकृति	प्रकृतिलक्षणः-महानात्मा (सत्त्वम्) —पारमेष्ठ्यः—	
३	४-सूर्यः—वृषा-पुरुषः—प्रकृतिविकृतिः ४-चन्द्रमा—योषा-प्रकृतिः—विकृतिः	विकृतिलक्षणः-विज्ञानात्मा (बुद्धिः) —सौरः—	अमृत- मर्त्यसंस्था
४	५-चन्द्रमा—वृषा-पुरुषः—विकृतिविकारः ५-पृथिवी—योषा-प्रकृतिः—विकारः	विकारलक्षणः-प्रज्ञातात्मा (मनः) —चान्द्रः—	मर्त्यसंस्था
५	६-पृथिवी—वृषा-पुरुषः—विकारवैकारिकः ६-भूतानि—योषा-प्रकृतिः—वैकारिकः	वैकारिकलक्षणः-भूतात्मा (शरीरम्)	
<div style="display: flex; justify-content: space-around; align-items: center;"> <div style="text-align: center;"> <p>इति नु-अधिदेवतम्</p> <p>प्रजापतिरीधरः</p> <p>पूर्णमदः</p> </div> <div style="text-align: center;"> <p>इति नु-अध्यात्मम्</p> <p>पुरुषो मानयः</p> <p>पूर्णमिदम्</p> </div> </div>			
<p>पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठमित्यादृष्टाचार्याः</p>			

(२) —

उपनिषदाख्य ब्रह्मण्युगताः नेगमिकमानवः	१-स्वायम्भुवः—पुरुषात्मा—ऋषिप्राणवच्छिन्नः—तत्प्रधानः—ऋषिमानवः—ज्ञानपरायणः (१) २-पारमेष्ठ्यः—महानात्मा—पितृप्राणवच्छिन्नः—तत्प्रधानः—पितृमानवः—उपासनापरायणः (२) ३-सौरः—विज्ञानात्मा—देवप्राणवच्छिन्नः—तत्प्रधानः—देवमानवः—ऋषिपितृदेवकर्मपरायणः (३)
आगमिक- मानवः	४-चान्द्रः—प्रज्ञानात्मा—पशुप्राणवच्छिन्नः ५-पार्थिवः—भूतात्मा—भूतप्राणवच्छिन्नः सत्प्रधानः—लोकमानवः—लोकपरायणः (४)

(३) +

सर्वो हि मानवः 'चतुष्टयं वा ह्ये' सर्वम्	१-ज्ञानपरायणः—स एव पुरुषः—'संन्यासी'—'संविन्' शीलः (१००) २-उपासनारतः—स एव मानवः—'यानप्रस्थी'—'महिम' शीलः (७५) ३-कर्मनुगतः—स एव मनुष्यः—'गृहस्थी'—'निष्ठा' शीलः (५०) ४-लोकानुगः—स एव नरः—'लौकिकः'—'निष्ठानुगतः' (१-१००)	एकस्वैव भारतीयमानवस्य सैषा-पुरुषप्रकृत्यनुगता संस्थानचतुष्टयी
---	---	---

+ प्रकृतिपुरुषरहस्यवेत्ता नेगमिक महापयोंने पुरुषाधार पर प्रतिष्ठित जिन आठ प्रकृतियों के आधार पर 'प्राकृतिक-वैकारिक-विमूढ़' नामक तीन मानवसर्गों की रहस्यपूर्णा व्याख्या की है, उसके भाष्यम से होने वाले इन तीनों मानवसर्गों के प्रत्येक के १६-१६-१६ विधर्त हो जाते हैं। सम्भूय सम्पूर्ण पार्थिव मानवों के ४८ वर्ग हो जाते हैं, जिनका स्वरूप परिचय 'भारतीय हिन्दू मानव' और 'उसकी भावुकता' में संक्षेप से, तथा 'मानवस्वरूपमीमांसा' नामक निबन्ध में विस्तार से प्रतिपादित हुआ है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-सूक्ष्म, ये चार वर्णमानव, अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यू-म्लेच्छ, ये चार अवर्ण मानव, सम्भूय आठ मानववर्ग वर्णविर्णसर्ग से सम्बद्ध हैं। वर्णमानव के ब्राह्मणादि चार वर्ग प्रत्येक चतुर्दा-चतुर्दा विभक्त होते हुए १६ अवान्तर सर्गों में विभक्त हैं, जिन्हें यहाँ 'पुरुष-मानव-

## कृतकृत्यमानव—

यावज्जीवन सम्पूर्ण लोकमान्यताओं का सुप्रसिद्ध शास्त्रीय \* लोकनीति के माध्यम से लोक-समृद्धिमानव से भावुकतापूर्वक अनुगामी बना रहने वाला भारतीय आस्तिक द्विजाति अपने प्रथमाश्रम ( गृहस्थाश्रम ) में श्रौत देव-पितृयज्ञकर्मों का अनुगमन करता हुआ द्वितीय आश्रम में श्रौत उद्गीथोपासनाप्रवण बनता हुआ तृतीय ( ज्ञानशिक्षणात्मक प्रथम ब्रह्मचर्याश्रमापेक्षया चतुर्थ ) आश्रम में श्रौत ज्ञानपरायण बन जाता है । इस परम्परा से इस मानव की ईश्वरस्वरूपानुगता ज्ञानकर्मोभयात्मिका परिपूर्णता सर्वात्मना संसिद्ध हो जाती है । यही इस नैगमिक परिपूर्ण मानव की 'कृतकृत्यता' है । ऐसे ही महामानव के लिए—'न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते' घोषणा हुई है ।

भारतीय प्राकृतिक सर्गनिबन्धन मानववर्ग के उपनिषदनुगत संन्यासी ऋषिमानव, एवं आरण्यकानुगत घानप्रस्थी पितृमानव, इन दो के सम्बन्ध में, इन दोनों की जीवनेतिकर्तव्यता-मान्यताओं के सम्बन्ध में हम अपने गृहमेधी भावानुबन्ध से कोई भी आलोचना-प्रत्यालोचना-मीमांसा करना इस लिए निगमात्मनाविरुद्ध मान रहे हैं कि, दोनों ही मानववर्ग-विधि-निषेध से परे रहते हुए वर्णधर्ममीमांसा, लोकमान्यता मीमांसा से सर्वात्मना असंस्पृष्ट हैं, जैसा कि निम्न लिखित शब्दों में विस्पष्ट घोषणा हुई है—

( ३४० पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश )

मनुष्य-नर' नामों से व्यवहृत किया गया है । 'चत्वारः पुरुषा इति वाध्वः' ( पेतरेय आरण्यक ) इत्यादि नैगमिक सिद्धान्तों के अनुसार पुरुषादि चारों-प्रत्येक-चार चार भागों में विभक्त होते हुए षोडशविध ( १६ प्रकार के ) बन जाते हैं, यही प्रथम प्राकृतिक मानवसर्ग है, जिसके उद्भव का एकमात्र श्रेय उसी पावन देश ( भारतवर्ष ) को है, जहाँ त्रयीवेदात्मक यज्ञ का प्रतीकभूत कृष्ण धृग्वस्वद्वन्द्व विचरण करता रहता है । अन्यथाज्ञि रूप चतुर्थ अवर्ण सर्ग वैकारिक सर्ग है, जिस के प्रत्येक के ४-४ अक्षान्तर भेदों से सोलह अक्षान्तर धर्ग बन जाते हैं । तीसरा मानव विभाग विमूढात्मक है, जिसके चार विभाग मुख्य, अक्षान्तर १६ विभाग हो जाते हैं । इन अष्टाचत्वारिंशत् मानवधर्मों में तटस्थ आलोचकों का कौनसा स्थान है ?, प्रश्न को अभी हम मीमांस्य मानते हुए उपेक्षणीय ही ठहरा देते हैं । कोई सा भी स्थान हो आलोचक मानव का । यह निश्चित है कि, प्राकृतिक वर्णानुगत १६ सोलह प्रकार के वर्णविभागों से प्रथक् ही उस अलोचक का-तटस्थ आलोचक का-स्थान माना जायगा, जो भारतीय निगमामात्मनाय से एकान्ततः अपरिचित-असंस्पृष्ट-बहिर्भूत ही है ।

\* न बुद्धिभेदं जनयेत्-अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।

जीपयेत् सर्वकर्मणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ ( गीता ३२६ ) ।

(१)—यत्र त्वस्य सर्वमात्मनाभूत्—तत् केन कं परयेत्—जिघ्रैत्—अभिवदेत्—शृणुयात्—मन्वीत्—विजानीयात्—। येनेदं सर्वं विजानाति, तं केन विजानीयात्, विज्ञातारमरं ! केन विजानीयात् । ( शत० १४।४।१६ ) ।

(२)—तदा अस्पेतत्—अलिङ्घ्यन्, अपहृतपाप्मा, अमयं रूपं, अशोकान्तरम् । अत्र पिता अपिता, माता अमाता, लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, यज्ञा अयज्ञाः । स्तेनोऽस्तेनः, अणूहा अभ्रणूहा, पाँन्कसोऽर्पाँन्कसः, चाण्डालोऽचाण्डालः, अमणोऽअमणः, तापसोऽतापसो भवति । पापेन तीणो हि तदा सर्वाञ्छोकान्ददयस्य भवति । ( शत० १४।४।१२२ ) ।

(३)—तत्र ब्रह्म ( ब्राह्मणः ) अब्रह्म भवति, वज्रमवज्रम् इत्यादि ।

अलौकिक मानव की लोकसंग्राहकता—

उक्त दोनों मानववर्ग ( मन्व्यासी, एवं धानप्रस्थी आत्मबोधयुक्त मानव ) लोकमान्यनामीमांसाओं से सर्वथा परा-परायत हैं । भूत-प्रेतादि की कथा तो विदूर रही, सृष्टिसञ्चालक देवता भी इन दिग्देशकालान्त परिपूर्ण गान्धर्वों पर दृष्टिनिक्षेप करने में असमर्थ हैं । अब शेष रह जाते हैं दो प्रकार के भारतीय मानववर्ग—देवभावात्मक गृहस्थी मानव, एवं लोकभावात्मक लोकमानव । श्रौतदेवपितृयज्ञ-निष्ठ, निरान्तर्नैष्ठिक द्विजाति मानव ही देवभावात्मक गृहस्थी मानव है । इसके प्रचण्ड आध्यात्मिक सौर दिव्य नैगमिक तेज के सामने भी चान्द्रसर्गानुगत चतुर्दशविध भूतसर्ग उसी प्रकार अभिभूत है, जैसे कि अहःकाल में सौर आतपमण्डलभुक्त चन्द्रमा सर्वार्थमना अभिमूर्त-निस्तेज बना रहता है । देवभावापन्न यही गृहस्थी मानव अपने लोकनिबन्धन पारिवारिक जीवन की अपेक्षा से लौकिक मानव भी है, जिसके परिवार में चान्द्रसोमप्राणप्रधान बालवृन्द, तथा सौम्य नारीवृन्द भी समाविष्ट है, जो दोनों ही वर्ग श्रौत दिव्यसंस्कारात्मक-यज्ञकर्म में अनधिकृत माने गए हैं । रात्रिजागरणात्मक कर्म से चान्द्र-अन्न पितृपरिवार को तुष्ट-तृप्त बनाए रखना एक ओर जहाँ पारिवारिक कुलस्त्रियों का अनन्य कर्त्तव्य है, यहाँ लोकसंग्रहदृष्ट्या नैगमिक देवमानव का इस पारिवारिक मान्यता में सहयोग प्रदान करना भी इसका लौकिक उत्तरदायित्व बन जाता है । देवमानव के वातावरण में सुरक्षित परिवार को भी यद्यपि कोई भय नहीं होना चाहिए चान्द्रभूतप्रेतबाधा का । किन्तु बालक स्वभावतः बालक (सौम्य-भावुक) ही है, स्त्रियों स्वभावतः स्त्रियों (सौम्या-भावुका) ही हैं । अतएव इन देवपरिवारानुगत, देवसंस्कारानुशयभावापन्न अतएव श्वेतवस्त्रसमनुलित निर्मल बाल-नारीवृन्द की ओर चान्द्रमूलसर्गात्मक प्रेतादि का आकर्षण सहज बना रहता है । इन अन्तरिक्षचारी उभयतः—अमूल प्रेत-राक्षसगणों \*

\* “अमूलं वा इदमुभयतः परिच्छिन्नं रचोऽन्तरिक्षमनुचरति” ।

—शत० ३।१।३।३।

के आकर्षण से ज्ञान पाने के लिए बाल-नारीवृन्द का सतर्क रहना सर्वथा प्रकृति सम्मत है, जिसका आयुःशास्त्र की सुप्रसिद्ध आर्षभावात्मिग्र चरकसंहिता के 'भूतोपशमनीयाध्याय' में विस्तार से उप-वृंहण हुआ है। इस लोकमान्यता के साथ साथ पारिवारिक मृतप्राणियों के 'श्मशा' नामक पितृदेवता के अनुशासन से अनुशासित गृह-पार्थिव पितरों की अनुमद प्राप्ति के लिए कुलस्त्रियों के द्वारा रात्रि-जागरणमाध्यम से पितृकर्मनुगमन भी आवश्यक है। एवमेव भूतात्मानुगत हंतात्मा के बन्धनविमोक्त के लिए स्वयं श्रौतकर्मधिष्ठाता कुलपुरुष के द्वारा स्थानविशेष में गयाश्राद्धानुगमन भी सर्वथा अनिवार्य है।

### लोकसंग्रहविघातक विमूढमानव—

"जो मानव ऐसा नहीं करते, नहीं कर सकते, उनका कोई अनिष्ट देखा-सुना नहीं गया" इस आलोचना का केन्द्र मानवानुबन्धी यह पशुभाव है, जड़तमक भूतभाव है, जिसके ईकारिक-विमूढ नामक दो अवान्तर विभेद पूर्व में स्पष्ट हो चुके हैं। लक्ष्यभ्रष्ट भारतीय मानवसर्ग वैकारिक है, एवं पर-लक्ष्यानुगत मानवसर्ग विमूढसर्ग है, जिसे 'आमुरसर्ग' 'चारुणसर्ग', आदि नामों से भी व्यवहृत किया गया है। इस उभयविध मानवसर्ग की अध्यात्ममंस्था के आत्मा, आत्मनिबन्धना सत्यभाषापन्ना विद्या-बुद्धि, दोनों वैयधर्म सघातमना अभिभूत रहते हैं। अतएव आत्मज्ञान-बुद्धिविद्याविमूढ ऐसे मानव-सर्ग के लिए अवतारपुरुषों के द्वारा यही व्यवस्था हुई है कि—'सर्वज्ञानविमूढांस्तान्-विद्धि नष्टान्-चेतसः' (गीता ३।३२)। पशुमर्गजन एवंविध विमूढ मानवों में सेन्द्रियमन, तत्कामनाश्रयरूप शरीर, ये दो ही भाग मुख्य घने रहते हैं। मनोयशस्विनी बनती हुई इन आसुरभाषापन्न मानवों की बुद्धि तमोगुणयदृता बनती हुई 'अविद्या-अस्मिता-आसक्ति-(रागासक्ति, एवं द्वेषासक्ति)-अभिनिवेश' इन चारों मायामय तमोमय भावों से सतत आक्रान्त रहती है। ऐसे ही मानवसर्ग के सम्बन्ध में नीति का यह मिथ्यान्त सर्वज्ञमना समन्वित हो रहा है, भले ही यह भारतीय मानव हो, अथवा तो अभारतीय।

आहारनिद्रामयमयुनञ्च मामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषः, धर्मेण होनाः पशुभिः समानाः ॥

मनःशरीरमात्रपरायण, तमोबहुलबुद्धि के परमाचार्य ऐसे विमूढ मानवों का चरम पुरुषार्थ है माया, तम, धन, कपट, मात्सर्य, पिशुनता, चमूया, आदि आमुरभावों के माध्यम से नानाविध उत्पात-परम्पराओं के मर्जन द्वारा लोक में महज प्राकृतिक थरापत्ति का उद्भव करते रहना, एवं तद्द्वारा शार्पण्यधनपूर्वक केवल शरीरपरायण, नदनुगत मनःपरायण (कामभोगपरायण) घने रहते हुए— "आज ऐसे यह प्राज्ञ कर लिया, वैसे यह प्राज्ञ कर लेंगे" इस चर्चणा में ही अशरीर आसक्त व्यासक्त घने रहना, जिन आमुर दलरूपटादि समस्त आमुर-भावों का भीत 'माया एवंतम' इन दो मठा

अश्वों में अन्तर्भाव हो रहा है \* । आत्मबोधस्वरूपविश्लेषिका, धर्म-ज्ञान-वैराग्य-प्रेरकलक्षणा विद्या-बुद्धिचतुष्टयी के द्वारा अग्निनिवेशात्मक अधर्म, आधिद्यात्मक अज्ञान, आसक्तिरूप रागद्वेष, अस्मिता-लक्षणा अनैश्यलक्षणा अविद्याबुद्धि-चतुष्टयी के निवृत्त्युपाय प्रदर्शक सर्वेश्वर-पूर्णेश्वर भगवान् ने तथो-पवर्णित विमूढ़ आसुरभावापन्न मानवों के सम्बन्ध में जो निम्न लिखित उद्गार प्रकट किए हैं, सम्भव है उनके द्वारा स्वजनपथारूढ़ गतानुगतिक आज के युग के भारतीय मानव का उद्बोधन सम्भव बन जाय ।

मानवोद्बोधक विभूतिद्वयवर्णन—

१—दैवमानवानुगता देवीसम्पत् (विमोक्षाय) —

१—अभयं-सत्त्वसंशुद्धि-ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।  
दानं-दमश्च-यज्ञश्च-स्वाध्यायस्तप आज्ञैवम् ॥

२—अहिंसा-सत्य-मक्रोधः-त्यागः-शान्ति-रप्येयम् ।  
दया-भूतेषु-अलोलुप्त्वं-मार्दवं-ही-रचापलम् ॥

३—तेजः-तमा-धृतिः-शौच-मद्रोहो-नातिमानिता ।  
भवन्ति सम्पदं देवीमभिजातस्य भारत !

—१—

२—आसुरमानवानुगता आसुरीसम्पत् (निबन्धाय) —

१—दम्भः-दर्यः-अभिमानश्च-क्रोधः-पारुष्यमेव च ।  
अज्ञानं-चाभिज्ञानस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ॥

—२—

३—द्वयोः सम्पदोः उदर्को—

दैवीसम्पद्धिमोक्षाय, निबन्धायासुरी मता ।

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पारुहव ! ॥

—३—

\* अथ हैनं शश्वदप्यसुराः-उपसेदुः-इत्याहुः । तेभ्यस्तमश्च, मायां च प्रददौ । अस्त्य हैव-  
'आसुरमाया' इति-ईव । पराभूता हत्वेव ताः प्रजाः । ( राव० २।४।२।४ ) ।

सम्बन्धित सम्पूर्ण पाप्मा-मलीमस विचार-मलिनता-सर्वात्मना पलायि हो जाते हैं। 'धियो यो नः प्रचोदयात्'—'तेषामादित्यवज्ज्ञानम्' इत्याद्यनुसार सौर 'विज्ञानात्मा' ही ३—'ज्ञान' (योग) है, जिसकी अनगति के अनन्तर अज्ञानावृत्त ज्ञानात्मक मोह एकान्ततः पलायित हो जाता है उसी प्रकार, जैसे कि उदित सूर्य से 'अन्यन्तमः' निःशेष बन जाता है। मर्त्यसूर्यनुगत प्लव ४—यज्ञ, चान्द्र 'प्रज्ञानात्मा' युगत ५—दान, एवं पार्थिव 'भूतात्मानुगत' 'द-दम्', ये तीनों मर्त्यकर्म-शक्तियाँ भी देवगानय में सहजरूप से उदबुद्ध रहती हैं, जिनकी मूलप्रतिष्ठा स्वायम्भुव अभय, पारमेष्ठ्य सत्त्व, अमृतसौरज्ञान ही माने गए हैं।

### आत्मविभूतयः—

१—स्वायम्भुवं यज्ञ	अभयाधारम्	( पुरुषात्मानुगतम् ) ।
२—पारमेष्ठ्यं सत्त्वम्	सत्त्वसंशुद्धे राधारम्	( महानात्मानुगतम् ) ।
३—अमृतसौरज्ञानम्	ज्ञानयोगव्यवस्थिते राधारम्	( विज्ञानात्मानुगतम् ) ।
४—मर्त्यसौरः-यज्ञः	यज्ञाधारः	( प्राणात्मानुगतम् ) ।
५—चान्द्र-दानम्	दानाधारम्	( प्रज्ञानात्मानुगतम् ) ।
६—पार्थिव-दम्	दमाधारः	( भूतात्मानुगतम् ) ।

— x —

### आत्मविभूतिप्राप्तिसाधनानि—

१—सर्वत्र सर्वायस्थामु स्थितिभाषः	अभयम्	( निडर रहो ) ।
२—सर्वत्र सर्वायस्थामु विशुद्धभाषना	सत्त्वसंशुद्धिः	( पवित्र रहो ) ।
३—सर्वत्र सर्वायस्थामु निर्योगबुद्धे रनुगतिः	ज्ञानयोगव्यवस्थितिः	( ज्ञानोपासक बने रहो ) ।
४—सर्वत्र सर्व यस्थामु प्राकृतिककर्मानुगतिः	यज्ञ	( कर्म करते रहो ) ।
५—सर्वत्र सर्वायस्थामु आत्मपरिग्रहार्पणम्	दानम्	( आदान के लिए प्रदान करते रहो ) ।
६—सर्वत्र सर्वायस्थामु इन्द्रियमर्यादानुगतिः	दम्	( अपने को मर्यादित रखो ) ।

— x —

### प्राप्त-आत्मविभूतिसंरक्षणोपायः—

- (१) सर्वत्र सर्वायस्थामु—प्राकृतिरहस्यानुशीलनपरायणता ( स्वाध्यायशील बने रहो )— स्वाध्यायः
- (२) सर्वत्र सर्वायस्थामु—प्राकृतिकपरिभ्रमानुगमनम् ( सदा प्राणदान करते रहो )— तपः
- (३) सर्वत्र सर्वायस्थामु—ज्ञानक्रियार्थभाषानां अनुगता ( सदा सप्तत्त्व का अनुगमन करो ) आर्जवम्

—(१६)—१—



देवभावसंरक्षकाः—सामान्योपायाः—(सामान्यवृत्तयो वा—साच्चिकमानवस्य )

(१)—सर्वभूतहिते रतिः	सबको सहयोग प्रदान करो	अहिंसा
(२)—विज्ञानसम्मतो धाम्न्यवहारः	तत्त्वसम्भता भाषा बोलो	सत्यम्
(३)—शारीरिकोत्तेजननियन्त्रणम्	उत्तेजित मत बनो	अक्रोधः
(४)—कामासक्तौ—अनासक्तिः	आसक्तिबन्ध से बचे रहो	त्यागः
(५)—मानसिकोत्तेजनस्योपेक्षा	मानसिक चञ्चलता की उपेक्षा करो	शान्तिः
(६)—परच्छिद्रान्वेषणे उपेक्षा	दूसरों के दोषदर्शन से बचे रहो	अपेक्षुनम्
(७)—असमर्थेषु सहयोगप्रदानम्	असमर्थों की सहायता करो	दया
(८)—विचपरिमहे लिप्साया अभ्यासः	वित्तलालसापारा में न बंधो	भूतेष्वलोलुप्त्वं
(९)—व्ययहारेषु कोमलता	लोकव्ययहार में उग्र न बनो	मार्दवम्
(१०)—निन्दकर्मसु लज्जाशीलता	असतकर्मों में लज्जाशील बनो	ह्रीः
(११)—मनसः—इन्द्रियाणाञ्च बुद्ध्या नियन्त्रणम्	बुद्धि के स्थिरधर्म को अपनाओ	अचापलम्

—(१६)-२—

(१२)—अयसयबुद्धेः सुतीक्ष्णता	सूक्ष्मदर्शी बनो	तेजः
(१३)—अपराधोपेक्षा	अपराधों की उपेक्षा करो	क्षमा
(१४)—बुद्धेरकम्पनरूपम्	बुद्धि को सुस्थिर रखो	धृतिः
(१५)—बाह्याभ्यन्तरमलशुद्धिः	उभयशुद्धि को अपनाओ	शौचम्
(१६)—अपकारिषु उपेक्षा	निन्दकों की उपेक्षा करो	अद्रोहः
(१७)—स्वशक्तेः परोक्षता	स्वशक्ति को प्रकट न करो	नातिमानिता

—(१६)-३—

जिस द्विजाति मानव की परंपरापरम्परा में आम्नायसिद्ध निगमानुगत सनातनधर्म परम्परया प्रक्रान्त रहता है, यह कुलीन ही 'अभिजात' है देवसम्पद्दृष्ट्या । उस मानव में जन्मतः उक्त दैवी-सम्पत् परम्परया प्रतिष्ठित रहती है—

“भवन्ति सम्पदं देवोमभिजातस्य भारत !”

—१—

२—आसुरभावानुगता आसुरीसम्पत्-निबन्धाप—

दैवीसम्पत् के अभयादि-दमान्त ६ विशेषधर्म, स्वाध्याय-तप-आर्जवरूप ३ संरक्षणोपाय, एवं अहिंसादि नातिमानितान्त १७ विशेषधर्म, सम्भूय इन २६ (छद्मबीस) दैवीसम्पदाओं के भयादि २६ ही

४-दैव-आसुरमानवभेदभिन्नप्राकृतिकसर्गद्वयस्वरूपमीमांसा-

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव, आसुर एव च ।

दैवो विस्तरशः प्रोक्तः, आसुरं पार्थ ! मे शृणु ॥

—४—

५-आसुरमानवस्वरूपोपवर्णनम् ( दैवमानवोद्बोधनधिषा )-

१-प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।

न शौचं, नापि चाचारः, न सत्यं तेषु विद्यते ॥

२-असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीधरम् ।

अरस्तरसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुकम् ॥

३-एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टमानोऽन्वयुद्धयः ।

प्रमदन्त्युग्रकर्म्मणिः स्वयम् जगतोऽहिताः ॥

४-काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भ-मान-मदान्विताः ।

मोहाद् गृहीत्वाऽसद् ग्रहान् प्रवर्चन्तेऽशुचिव्रताः ॥

५-चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।

कामोपभोगपरमा 'एतावदिति' निश्चिताः ॥

६-आश्लाषाशर्तवद्वाः कामकोपपरायणाः ।

ईदन्ते काममोघार्थमन्यायेनार्थमञ्जयान् ॥

७-इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये 'मनोरथम्' ।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

८-शशां मया हतः शत्रुः, हनिष्ये चापराजपि ।

ईधरोऽहमहं 'मोगो', सिद्धोऽहं, बलवान्, सुखी ॥

९-याद्व्यो-ऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यच्च-दास्थामि-मोदिष्ये-इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

१०-अनेकविधविश्रान्ता मोहबालसमाश्रुताः ।

प्रमत्ताः 'काममोगेषु' पतन्ति नरकेऽशुचा ॥

११-आत्मसम्भाविताः स्वधा धनमानमदान्विताः ।

यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥

१२-अहङ्कारं-त्रलं-द्वयं-कामं-क्रोधं च संधिताः ।

मामात्मपरदेहेषु प्रद्विपन्तो ऽभ्यक्षयकाः ॥

१३-तानहं द्विपतः क्रूराश्च संसारेषु नरायमान् ।

द्विषाम्यजस्रमशुमानासुरीष्वेव योनिषु ॥

१४-आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।

मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्ययमां गतिम् ॥

श्रीमद्भगवद्गीता १६ अ० । १ से, २० पर्यन्त

—५—

“३-१-१-१-१४-”इन पाँच भागों में विभक्त विंशति ( २० )-श्लोकात्मक ‘देवासुरस्वरूप-निरूपण’ नामक प्रकरण में भगवान् ने जिस उपनिषत् ( रहस्यात्मक तत्त्वविज्ञान-मौलिकविज्ञान ) का विरलेषण किया है, उसका विराट् निरूपण को गीताविज्ञानभाष्यान्तर्गत सत्प्रकरण में ही देखना चाहिए । प्रकृत में केवल अक्षरार्थ-समन्वय से ही सन्तोष मान लिया जाता है ।

(१)-दैवमानवानुगता दैवीसम्पत्-विमाज्ञाय-

‘विःसत्या वै देवाः’ इस नैगमिक आम्नायानुसार दैवीसम्पत्-स्वरूपपरिचयात्मक प्रथम-अध्यान्तर प्रकरण में तीन ही श्लोकों से भगवान् ने ‘अभयं सत्त्वसंशुद्धिः’ इत्यादि रूप से जन्मजात दैव-भावापन्न मानव ( द्विजातिमानव ) की उस दैवीसम्पत् के महज गुणों ( प्राकृतिक गुणों ) का ही स्वरूप विश्लेषण किया है, जो दैवीगुण गुणधर्मानुगत आसुरभावों के सम्पर्क में आकर भी ‘प्रकृतिं यान्ति भूतानि, निग्रहः किं करिष्यति’ इत्यादि के अनुसार येनकेनरूपेण सुरक्षित रहते ही हैं । ‘वि परतस्तम्भ पडिमा रजोसि-अजस्य रूपे किमपि सिद्देकम्’ ( श्रृष् सं० ) —‘अभयं वै ब्रह्म’—( बृह० उप० ४।४।२५। ) —‘ब्रह्म वै स्वयम्भू अभ्यान्तरत्’ ( शत० ब्रा० ) आध्यानुसार स्वायम्भूय ‘पुरुषात्मा’ ही १-‘अभय’ ( पद ) है, जिसकी अनुगति ( बोध ) के अनन्तर देवमानव सर्वात्मना स्वयम्भूवत पद-लोकात्मक ( भू-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः ) रजों से अतीत ‘विरज’ बनता हुआ संसरण-कम्पन-शील सांसारिक यथयावत् भयभावों ( कम्पनभावों ) से पृथक् हो जाता है । ‘या सम्भक्त्यदिदेवतामयी’—( कठोपनिषत् ४।७। ) —‘सत्त्वादधि महानात्मा’ ( कठोपनिषत् ६।७। ) —‘सत्त्वस्यैवः प्रवर्तकः’ ( उपनिषत् इत्याद्यनुसार-पारमेष्ठ्य ‘महानात्मा’ ही २-‘सत्त्व’ ( पद ) है, जिसकी अनुगति ( बोध ) के अनन्तर त्रिगुणात्मक विश्व के त्रैगुण्यभाव से

विषय्यम मानें गए हैं, जिनका ममावेश तो जन्मना आसुरीसम्पत्-युक्त मानव में रहता ही है। इनके अतिरिक्त 'दम्भ-दर्प-अभिमान-क्रोध-पाश-अज्ञान' ये ६ विरोध धर्म इसमें ओर समाविष्ट हो जाते हैं। इस विरोधता के कारण ही तो देवासुरप्रतिद्वन्द्विता में आत्म में कुछ समय के लिए देवत्व पराभूत सा प्रतीत होने लगता है, जबकि अन्त में असुरत्व के लिए 'समूलस्तु विनश्यति' पुस्कार ही सुरक्षित माना गया है। इसी आधार पर 'वलं सत्यादोजीयः'-सत्यमेव जपते-नानृतम्' सिद्धान्त स्थापित हुए हैं—

आसुरीसम्पद्युक्तमानवस्य सामान्यविरोधधर्माः—

(१)-मनसि सदा विकम्पनता	मनमें सदा भयसंस्त्रत हैं	भयम्
(२)-सदा मलिनविचारानुगतिः	सदा अपवित्र हैं	तमः
(३)-सदा अनिश्चितमत्यनुगतिः	सदा संशयशील हैं	अज्ञानम्
(४)-सदा विरुद्धकर्मलुगतेः	प्रकृतिविरुद्ध कर्म करते हैं	विकर्म
(५)-परपरिग्रहाकर्षणवृत्तिः	परसम्पत्ति अपहरण में कुशल हैं	अपहरणम्
(६)-सदा उन्मथिता	सदा अनर्थादित हैं	अमर्थ्यादा
(७)-सदा आम्नायाजोचना तद विरोधश्च	शास्त्र-धर्मविरोधी हैं	स्वाध्यायविरोधः
(८)-उच्छ्रद्धालभमानुगतिः	निरर्थक माहसों के अनुगामी हैं	आयामः
(९)-मर्याद कुटिलव्यवहारः	मर्याद कुटिलता रखते हैं	कुटिलता
(१०)-सर्वभूतोत्पीडनम्	मनुष्यो पीड़ित करते रहते हैं	हिंसा
(११)-स्वार्थसम्मतो वाग्व्यवहारः	स्वार्थ में ही बात करते हैं	अनृतम्
(१२)-शारीरिकोत्तेजनानुगतिः	तनत्रण उत्तेजित हो पड़ते हैं	क्रोधः
(१३)-अमासकिरायणता	कामभोग में तल्लीन हैं	आसक्तिः
(१४)-मानमिकोत्तेजनानुगतिः	मन से सदा अशान्त हैं	अशान्तिः
(१५)-परदोषमीमांसानुगतिः	दूसरों को दोष मानते रहते हैं	विशुद्धता
(१६)-अभयानुप दण्डप्रदानम्	निर्यक्तों को दण्ड देते हैं	क्रूरता
(१७)-विषेषु किम्प्रा	सम्पत्ति लातसा में लिप्य हैं	लिप्सा
(१८)-व्यवहारेषु रुक्षता	व्यवहार में बड़े रुखे हैं	रुक्षता
(१९)-निन्दाकर्मसु यथाऽव्यारतता	बुरे कर्मों को पुण्यार्थ मानने हैं	निर्लाजता
(२०)-मनसः इन्द्रियाणाञ्च परतन्त्रता	मन चक्षत्र बने रहते हैं	परतन्त्रता
(२१)-प्रत्यक्षदृष्टेः अनुगतिः	मन प्रत्यक्ष से प्रभावित रहते हैं	गूढदृष्टिः
(२२)-परस्वययु निर्ममव्यवहारः	हानि करना जानने को नहीं	क्रूरः

(२३) बुद्धेर्विकम्पनता	बुद्धि मदा डाँपाडोल रहती है	अव्ययसायिनः
(२४)-वाद्याभ्यन्तरमलिनता	सर्वात्मना मलिनविचार रखते हैं	अशुचयः
(२५)-उपकारिणु उपेक्षा	उपकारी को भूल जाते हैं	कृतघनाः
(२६)-स्वराके धैर्यटापोपः	सदा अपनी बड़ाई करते रहते हैं	एषणाख्यापकाः

—पूर्वविपर्ययाः—

(२७)-१-परमहृत्स्थग्यापनप्रवृत्तिः	अपने महत्त्वस्थापन के लिए आकुल हैं	एषणाकासुकाः
(२८)-२-परमहृत्स्थनिन्दाप्रवृत्तिः	परमहृत्स्थ के विशिष्ट निन्दक हैं	परगुणनिन्दकाः
(२९)-३-भूतावेशवत्-आवेशानुगतिः	सदा भावाविष्ट रहते हैं	भावाविष्टाः
(३०)-४-मनसि वच्चसि कथयेनिष्ठु रता	सर्वात्मना वापाणहृदय हैं	वापाणहृदयाः
(३१)-५-अविद्याचतुष्टयानामासक्तिः	अविद्याचतुष्टयी के महापरिहृत हैं	बुद्धियोगव्रण्डाः

—(१६)-५—

—‘अभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम्’

(३) द्वयोः सम्पदोः-उदकीं-

प्रतिपादित उभयसम्पत्तियों का स्वरूप ही दोनों के उदकभावों (परिणामों) का स्पष्टीकरण कर रहा है। पेन्डी देवीसम्पत् जहाँ पाराविमोचिका है, वहाँ बारुणी आसुरी सम्पत् पारावन्धन-प्रवर्तिका है। यह ठीक है कि, जन्मना देवीसम्पत्-युक्त मानव अपनी भावुकता के शेष से अजुमादिवत् परधर्माक्रान्त बनता हुआ, अपने सात्त्विक-आस्थानुगता-भ्रष्टाप्ताविता संज्ञ निष्ठा से पराङ्मुख बनता हुआ कुछ समय के लिए अवश्य ही उत्पथपथानुगामी हो जाता है। किन्तु कालान्तर में इसका उद्बोधन सहज है। यही भाव भगवान् के ‘मा शुचः सम्पदं देवीमभिजातोऽसि पाण्डव !’ (१६।५।) इन शब्दों में अभिव्यक्त हुआ है, जिसका अन्वय इन शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

\* स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा ।

कतुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ (गीता १६।६०।)

\*-‘ज्यों का पन्था सुभाव (स्वभाव-प्रकृति) जासी जीवसे’ (लोकोक्तिः) ।

‘प्रकृतिदुस्त्वजा’ (साहित्यशक्तिः) ।

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।

स्वभाव एवात्र तयातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गन्धं पयः ॥ (नीतिशक्तिः) ।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोच्यति ॥ (गीता १८।१६) ।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥ (गीता ३।३३) ।

ठीक इसके विपरीत जन्मना आसुरीसम्पत्-युक्त मानव अपनी स्वार्थलिप्सा-परिपूर्णा-आस्था-श्रद्धा-असंश्लेषता जघन्यनिष्ठा (कुनिष्ठा) के माध्यम से केवल स्वार्थसाधन के लिए स्वार्थसाधन प्रसङ्गायस्ते पर अपने आपको श्रद्धाशील-धर्मभक्त घोषित करता हुआ, 'मुखे रामः कवे चुरिक' को अन्वर्थ बनाता हुआ कुछ समय के लिए अवश्य ही दैवीसम्पत्-युक्त सा प्रतीत होने लगता है । किन्तु कालान्तर में इसका व्याघ्रचर्मच्छात्ररासभ का स्वरूप अवश्य ही सुव्यक्त हो जाता है । ऐसे प्रताण्डों से दैवमानव को सर्वात्मना सतर्क रहना चाहिए, जिनका यशोधर्शन ? विस्तार से स्वयं भगवान् ही करने वाले हैं ।

—(१६)-५—

---३---

(४)-दैव-आसुरभावभेदमिन्नप्राकृतिकमर्गद्वयस्वरूपमीमांसा—

स्वायम्भुव ब्रह्मात्मक षष्टिसर्ग, एवं पारमेष्ठ्य ब्रह्मात्मक पितृसर्ग, दोनों कालचक्रात्मक सम्बत्सरसीमा जुगता विधि-निषेधसीमा से बहिर्भूत हैं + । अतएव तद्वरूप संन्यासी, तथा तपस्वी, इन दो आश्रममार्गों की भूतपर्गसीमा से पृथक् ही मना जायगा, जिन्हें भगवान् ने—'महर्षयः सप्त पूर्वे' इत्यादि रूप से भावात्मक मानससर्ग (अद्वय्यात्मकसर्ग-असर्गात्मक सर्ग) ही कहा है (x) । सर्गमर्त्यादा का उपक्रम होता है संसृष्टिलक्षण 'सृष्टि' से । यह सृष्टि अवलम्बित है रयिप्राणत्मक दाम्पत्यभाव पर, मिथुनभाव पर । अतएव इसे—'मैथुनीमृष्टि' कहा गया है । यही संसृष्टिलक्षण-मिथुनभावात्मक-भूतमर्ग है, जिसका उपक्रम स्थान है देवप्राणचक्र विश्वकेन्द्रस्थ 'सूर्य' । यहाँ क्योंकि अधोभागावस्थित पार्थिव प्लान्ड मर्त्यमर्ग का भी समन्वय है, अतएव सौर-भूतमर्ग के ही 'दैवमर्ग'

\*—'मुख में राम, वगल में लुरी' (लोक व्याभाषक) ।

÷ यस्मादर्वाक सम्बत्सरोऽहोभिः परिवर्तते ।

तदेवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्लोपासतेऽमृतम् ॥ (रात० १४।१।२०) ।

× महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।

मद्भावा मानमा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः (देवप्रजा, असुरप्रजा च) ॥ (गी० १०।६) ।

‘आसुरसर्ग’ ये दो विभाग मान लिए जाने हैं। सूर्य्य हो अपने द्वावापृथिव्य करयप मण्डल से ॥ परयक वनता हुआ ‘करयपप्रजापति’ है, जिसकी अदितिपत्नी से दैवसर्ग, एवं दितिपत्नी से दानवसर्ग (आसुरसर्ग) का उदय हुआ है। इन दोनों सर्गों के उपवृहंणात्मकविवेचन का ही नाम सौरपुराण-काशविद्याप्रतिपादक ‘पुराणशास्त्र’ है।

सौरसर्ग ही अदिति-दिति भेद से दैव-आसुर इन दो सर्गों से परिणत हो जाता है, जिस के सूर्य्य-चन्द्रमा, चन्द्रमा-पृथिवी, पृथिवी-भूत, ये तीन अवान्तर विवर्त्त हो जाते हैं, जिन का दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है ( देखिए पृष्ठ सं० ३३३ का परिलेख )। सूर्य्याचन्द्रमसौ, चन्द्रमापृथिव्यौ, भूतपृथिव्यौ, ये तीनों दाम्पत्यभाव ही वहाँ क्रमशः देव, पशु, भूत, इन तीनों सर्गों के प्रवर्त्तक बतलाए गए हैं। चान्द्रपृथिव्य पशुसर्ग ही सांख्याभिमत चतुर्दशविधभूत-चेतनसर्ग है, एवं पार्थिव लोण्ड-पापाणादि जड़सर्ग ही अचेतनसर्ग है। इन दोनों सर्गों में क्रमशः तमोगर्भित रज, रजोगर्भित तम का प्राधन्य है। तमो भाव ही ‘सर्वं वृत्त्वा शिष्ये’ लक्षण आवरणधर्मा ‘वृत्र’ प्रमुख आसुरभाव है। एवं इस दृष्टिकोण से इस चान्द्र-पार्थिव उभयविध भूतसर्ग को हम ‘आसुरसर्ग’ ही मान सकते हैं। इसी आधार पर उभयसर्ग-मूलभूत चन्द्रमा को ‘वृत्र’ कहा गया है, जैसा कि निम्न लिखित घर्चनों से प्रमाणित है—

(१)-वृत्रो ह इदं सर्वं वृत्त्वा शिष्ये यदिदमन्तेरेण द्वावापृथिवी।

स इदं सर्वं वृत्त्वा शिष्ये, तस्माद् वृत्रो नाम। ( शत० १।१।३।४। )

(२)-पाप्मा वै वृत्रः ( शत० १।१।३।५। )-स यद्वर्त्तमानः ( प्रत्यक्षभूतानुगतः )

समभवत्, तस्माद्-वृत्रो नाम ( शत० १।६।३।६। )।

(३)-वृत्रो वै सोम आसीत् ( शत० ३।४।३।१३। )। इन्द्रस्तं वृत्रं द्रुधा-अन्वाभि-

नत्। तस्य यत् सौम्यं न्यक्तमास, तं चन्द्रमसं चकार। अथ यदस्य-आसुर्य्यमास,

तेनेमाः प्रजा उदरेण ( अशनायया बुधुक्षया ) आविध्यत् ( शत० १।६।३।१५। )-

“अथैष एव वृत्रः, यच्चन्द्रमाः ( शत० १।१।६।४।१३। )।

निष्कर्ष यह निकला कि, सौर-चान्द्र-पार्थिव-ये तीन मर्त्य विवर्त्त हीं क्रमशः देव, चतुर्दशविध-भूतात्मक चेतनपशु, एवं असंख्यविभेदात्मक अचेतन भूत, इन तीन सर्गों के अधिपत्या बने हुए हैं, जिस में सौर ‘दैवसर्ग’ का एक स्वतन्त्र विभाग है, एवं चान्द्र चेतनसर्ग ( पशुसर्ग ), तथा पार्थिव अचेतनसर्ग

॥ “एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदसृजत-अकरोत्। तद्यत्-अकरोत्, तस्माद् कूर्मः। करयपो वै कूर्मः। स यः स कूर्मः-असौ स आदित्यः” ( शत० ७।३।१।१५। )

(भूतसर्ग), दोनों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही लक्ष्यात्मक वृत्रप्रमुख आसुरसर्ग है, जो देववर्गानु-  
बन्धिनी विद्वाननुद्धि (विद्याबुद्धिचतुष्टयी) के नियन्त्रण में रहता हुआ जहाँ देवसर्गात्मक देवभावपत्र  
गृहस्थाश्रमी द्विजाति मानव की लोकानुगता चान्द्र-पार्थिव-परिवारत्मिका स्वस्ति का संरक्षक बना  
रहता है, वहाँ अविद्याबुद्धि से संयुक्त होकर यही आसुरसर्ग द्विजाति के लिए-द्विजाति के भावुकता  
प्रधान सौम्यबाल-नारीवृन्द के लिए-सौमात्मक (चन्द्रात्मक) भावप्राधान्य से सजातीय सौम्याकर्षण के  
द्वारा अनिष्टपर बना रहता है, जिसके लिए नारीवृन्द लोकमान्यताओं का अनुगामी बना रहता है।  
तद्विध, पञ्चविध प्राकृतिक सर्गों में आरम्भ के असर्गात्मक-भावात्मक दो सर्गों (ऋषि-पितृसर्गों)  
को समुचिततया मार्गमार्ग्यादा से पृथक् करते हुए भगवान् ने शेष रहे हुए देव-पशु-भूत, इन तीन  
सर्गों में से अन्त के 'पशु-भूत' दोनों सर्गों को एक मानते हुए दैव, आसुर भेद से दो प्रकार के ही  
विश्वानुबन्धी भूतसर्ग स्वीकार किए हैं, जिनका पुराणपुरुष [व्यास] की "द्वौ भूतसर्गौ लोके-  
ऽस्मिन्-दैव, आसुर एव च" इस वाणी से स्पष्टीकरण हुआ है।

आसुरिः मायसृष्टिः सर्गादौ [२]	१-परमेष्ठिगमितः—स्वायम्भुवसर्गः [स्वयम्भु-परमेष्ठिरूपः]—	सर्गातीती
	२-सूर्यगमितः—पारमेष्ठ्यसर्गः [परमेष्ठि-सूर्यरूपः]—	
	पितृसर्गः [यतिमानवः-वानप्रस्थी]	
सृष्टिः सर्गादौ [३]	३-चन्द्रगमितः—सौरसर्गः [सूर्यचन्द्ररूपः]—	दैवसर्गः
	देवसर्गः [देवमानवः-गृहस्थी]	
	४-पृथिविगमितः-चान्द्रसर्गः [चन्द्रपृथिविरूपः]-पशुसर्गः	आसुरसर्गः
	५-चन्द्रगमितः-पार्थिवसर्गः [पृथिविभू रूपः]-भूतसर्गः	
		लोकमानव- लौकिकः

—[१६]-६—

—२—

(५)-आसुरमानवस्वरूपोपवर्णनम् (दैवमानवोद्बोधनधिया)

(१)-प्रकृतिसम्मत असुर कर्म करने से मानव का अभ्युदय-निःश्रेयस् साधन होता है, एवं  
असुर प्रकृति-विरोध कर्म करने से मानव का महज अल्पम्वरूप प्राप्त हो जाता है, इस प्रकृतिसिद्ध  
प्रकृतिरूप विधि, एवं निषेध का भर्म्म आसुर मानव नहीं जान सकते। (उनका एकमात्र पुरोपाध है



प्राकृतिसम्मत विधिकर्मों की उपेक्षा, एवं निर्पद्ध कर्मों का अनुगमन, अतएव) ऐसे आसुर मानव बाह्याभ्यन्तर-दोनों प्रकार की पवित्रता से वञ्चित रहते हैं। अतएव इनका कोई आचारधर्म (सात्त्विक आचरणधर्म) नहीं है। अतएव ये प्राकृतिक नर उस सत्यनिष्ठा से सर्वोत्तमा वञ्चित ही रहते हैं, जिस सत्य का प्रतीक 'धर्म' (प्राकृतिक आचरण, प्राकृतिकी मर्यादा) माना गया है। ❁ (१६।७)।

(२)-(अपनी मानसिक अमर्यादित कामपरायणता, शारीरिक भोगपरायणता को ही 'मानव जीवन' का अनन्य पुरुषार्थ घोषित करने वाले इन विमूढ़ आसुर मानवों का कहना है कि) "ईश्वर-परमात्मा-जगदाधार-विश्वेश्वर नामक कोई वैसा सत्य तत्त्व नहीं है, (जो मानव के अच्छे बुरे कर्मों का साक्षी बनता हुआ मानव पर निग्रहानुग्रह करता रहता है)। सम्पूर्ण जगत् क्षणिक है, अनित्य है, मिथ्या है, ईश्वरनामक नियन्ता का यहाँ अभाव है। सम्पूर्ण जगत् केवल अपने समग्रिषम (अपरस्पर) संयोग का परिणाममात्र है। प्राणियों की सहज मानसकामना (सेक्स्) ही सृष्टि (प्रजासर्ग) का मूल है। कामभाव के अतिरिक्त मोर (ईश्वरादि) कारण हो ही क्या सक्त है।" (१६।८)।

(३)-इस प्रकार की अनीश्वरवादमूला-प्रत्यक्षभूतमूला-असत्य-अप्रतिष्ठात्मिका नास्तिकदृष्टि को ही अपनी तत्त्वमीमांसा का मुख्य आधार मानते हुए ये कामभोगपरायण पशुसमानधर्मा इन्द्रियाराम आसुर मानव अपने सहज परिपूर्ण आत्मस्वरूप को सर्वोत्तमा विस्मृत कर चुके हैं। विद्याबुद्धि का विशाल दृष्टिकोण इनका विलुप्त हो चुका है। नितान्त सीमिता केवल प्रत्यक्षप्रभाषानुगत इन विमूढ़ों की तमोषहुला स्वल्पबुद्धि (स्थूलबुद्धि-लोकबुद्धि) अपनी कामभोगलिप्सा के उपशमन के लिए जैसे जैसे उग्र-भयानक-सर्वशान्तिविघातक-सर्वसंहारक-भूतविज्ञानात्मक कर्मों की अनुगामिनी बनी रहती है, जिनसे परिणाम में जगत् (जङ्गमशील मानवसमाज) की सहजशान्ति का सर्वनाश ही निश्चित बन जाता है। संसार को अपने उपक्रमों से विनाशोन्मुख बनाते रहना ही इन आसुर मानवों की उत्पत्ति का एकमात्र परिणाम है। (१६।९)।

(४)-"स शान्तिभाप्नोति न कामकामी" के अनुसार कभी भी उपशान्त-परिपूर्ण न होने वाली वह कामवासना-भोगलिप्सा ही-जिसकी परम्परा घृताग्नि-संयोगवत् शान्त होने के स्थान में उत्तरोत्तर-प्रवृद्ध ही होती रहती है-÷ जिन मानवों की एकमात्र आश्रयभूमि बनी रहती है, जो आसुर मानव

❁-"यो वै स धर्मः, सत्यं वै तत् । तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुः-धर्मं वदति' इति ।  
धर्मं वा वदन्तं-सत्यं वदति' इति" ।

—शत० भा० १।१।२।३।

÷ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

अपनी जन्मजात-अभिजात-दुर्बुद्धि-अविद्याबुद्धि के कारण सर्वनाशक आसुर चत्त्वों के अन्वेषण में कुशला बुद्धि के अतिमान (हम से बढ़कर अन्य कोई बुद्धिमान नहीं, इस प्रकार की विमुग्धा वाणी के अनुगमन) लक्षण 'दम्भ' की, कामवासना से परिपूर्ण मन के अतिमान (हम से अधिक-महत्त्वशाली और कौन हो सकता है, इस प्रकार की मत्त वाणी के अनुगमन) लक्षण 'मान' की, एवं भोगलिप्सापर-यण शरीर के अतिमान (हमारे जैसे सुहोन्न-गौर-स्वच्छ-केशपाश-विन्यासकुशल-केशरामभूशण्य-आकर्षक शरीर की समता कौन कर सकता है, इस प्रकार की उन्मत्ता वाणी के अनुगमन) लक्षण 'मद' की चर्चणा में अहोरात्र आसक्त हैं, एवंविध दम्भ-मान-मदान्वित (बौद्ध-मानस-शारीरिक गर्व-अतिमान से नित्य युक्त), सर्वात्मना (बौद्ध विचारों से, मानस संकल्पों से, शारीरिक कर्मों से विरचनाशपूर्वक स्वत्यार्थसाधनरूप) अपवित्रभावों से सदा अपवित्र बने रहते हुए अज्ञानामृतज्ञानलक्षण (प्रत्यक्ष भौतिक-ज्ञानरूप अल्पज्ञानलक्षण) मोहपाश से भूतवेशवत् अभिनिषिद्ध (दुराग्रही-सर्वज्ञ-) बने रहते हुए सर्वविनाशक असद्भावों-असत्कर्मों-को ही सन्-उपादेय मानते हुए इनके संग्रह-आविर्भाव-अचार में ही सतत प्रवृत्त रहते हैं, जिन इनके असद्माहों से सांसारिक आर्कृतिक शान्ति का सत्य पूर्वकथनानुसार [१६।६।] सर्वात्मना निश्चित बन जाता है। [१६।१०।]

[५]-ऐसे आसुर मानवों की मानसी चिन्ता का न इस जीवन में अवसान है, एवं न अन्य-जन्मों में। प्रतिस्तर्गमिक प्रलयकाल पर्वन्त 'जायस्व-त्रियस्व' [कीद-गत-ज्ञादिवत्-उत्पन्न होते रहो, मरते रहो] रूप जन्ममरण चक्रानुगत नानाविध हीन योनियों में चक्रमण करते हुए जन्ममात्र-के लिए भी चिन्ता से उपराम नहीं पा सकते। चिन्ता से त्राण सम्भव भी कैसे हो सकता है इन आसुर मानवों का, जबकि इन्होंने परिपूर्ण आत्मनिष्ठ मानव जैसे व्यक्ति के जीवन का एकमात्र लक्ष्य मनोऽनुगत कामभाव [इन्द्रियारामपरायणता], एवं शरीरानुगत भोगलिप्सा ही मान रखता हो, एवं इसी को-“मानवजीवन का एकमात्र निश्चित लक्ष्य-अनन्य पुरुषार्थ है 'खाना पीना (भोगलिप्सा), और मौज उड़ाना (कामभाव)'" इस रूप से जो अपना निश्चित सिद्धान्त मान बैठे हों। [१६।११।]

[६]-अप्राप्त भौतिक परिमहों की प्राप्तिरूपा लिप्सात्मयी इच्छारूपा आशा की, परम्परा से दृढ़-पाशधनवत् निरन्तर आवृत्त, कामलिप्सा में आसक्तव्यासक्त, (कामलिप्सा प्रतिबन्धकता में-) मनसा एवं शरीरेण बाणें बाणें उत्तेजित [क्रोधाविष्ट] बने रहने-हुए अपनी इस काम-भोगलिप्सात्मिका स्वार्थवृत्ति में इस प्रकार अन्ध हो जाते हैं कि, सर्वथा अन्यायपूर्ण मायाबलकषट-भ्रूततादि आसुर कर्मों से यत्तमंग्रह में ही अहोरात्र तल्लीन बने रहने हैं। जैसे भी हो, द्रव्यसञ्चय हो, जिससे-इनकी काम-भोगलिप्सा चरितार्थ बने, यही है इनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य। [१६।१२।]

[७]-[स्पष्ट है कि, तमोगुणप्रधान आसुर भौतिक प्रपञ्च में] अविद्याबुद्धियुक्त तमोगुणप्रधान मन, तथा भोगपरयण शरीर को ही मुख्य मानने वालों का दैवात्मभाव सर्वात्मना अभिभूत हो जाता

है। परिणामस्वरूप—‘बलं सत्यात् ( पुरुषात्मनः ) ओजीयः’—‘बलं वाव विज्ञानात्’ ( विज्ञानात्मनः विद्याबुद्धेः ) भूयः’ इत्यादि निगमसिद्धान्तानुसार आसुर मानवों को कुछ समय के लिए अपने पूर्वोपस्थित कुकृत्यों के परिणामस्वरूप सफलता प्राप्त होती है अवश्य होती है ❀ । इसी सफलता के चल पर ये अपने इन कुर्रुमों की घोषणा करते हुए उन देवभावापन्न मानवों का उपहास किया करते हैं, उनकी उभयलोक-संसाधिका धर्म्मनिष्ठा की कुत्सित आलोचना किया करते हैं, जो युगधर्म्मानुसार कुछ समय के लिए उत्पीड़ित बन जाया करते हैं। [ अपनी इस तात्कालिक सफलता के मद से मदान्ध बने हुए इन वितैपणा-रायण आसुर मानवों की अतिमानात्मिक उत्तेजनापूर्णा ऐसी घोषणा कर्णाकर्णपरम्परया सुनी जाती है कि ]—“ देखो ! हमने अपनी योग्यता से पुरुषार्थ से कीशाल से आज अमुक धैम्य प्राप्त कर लिया है, कुछ ही समय में हमारा अमुक मनोरथ पूर्ण होने ही वाला है, इतना प्रभूत भूतपरिमह तो हमने सज्जन कर लिया है, निकट भविष्य में ही हम कोट्याधीश, इससे अबुद-खबुद-न्यबुदादि अधीश बन जाने वाले हैं। ( १६।१३। ) ।

(=) हमने अपने अमुक प्रतिद्वन्द्वी को ( अपने वित्तबल से ) निःशेष कर दिया है। जो हमारे वचे सुचे अन्य शत्रु रह गए हैं, निश्चयेन उन्हें भी हम निकट भविष्य में ही निःशेष कर देंगे। हम आज सर्वसमर्थ ( ईश्वर ) हैं, ( हम न केवल सञ्चय ही करना जानते, अपितु सञ्चित अर्थ का शोभन बहुमूल्य वस्त्राभूषण-सुस्वादु भोजनारानपान-विशिष्टतमा याह्नानुगति, भव्यभवननिवास-सुविस्तृतोद्यानविहार, आदि रूप से भोग भी कर रहे हैं। हम आज सर्वतन्मा सांसारिक सब व्यवसायों के परपारदर्शी विद्वान् ( सिद्ध ) हैं, हम अपने इस वित्तवत्त के द्वारा असंख्य अङ्गरक्षकों, विविधास्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित रहते हुए चलवान् हैं, निष्कर्षतः हम सुखी हैं, सब दृष्टिकोणों से कृतकृत्य हैं। ( १६।१४। ) ।

(६)—पेसा न समक्क बैठना कि, हमने भोगैरव्ययसुखसाधनों में ही अपना कोश रित्त कर दिया है। अपितु हमारे कोश में अभी प्रभूत सम्पत्ति विद्यमान है, और यही हमारी आकृष्यता ( बहुधन-सम्पन्नता ) है। जानते नहीं तुम, मैं असाधारण कुत्तीन हूँ, जिसकी कुत्तीनता वंशश्रेष्ठता सर्वत्र प्रसिद्ध है। मेरे बावा-पड़वावा-बाप-सब प्रसिद्ध थे, अवश्य ही इस प्रकार वंशपरम्परया में अमुक प्रान्तीय अभिधाओं से अभिजात हूँ, ( कुलप्रतिष्ठा-कुलयोग्यता-समृद्धपरिवार, सर्वात्मना सब दृष्टियों से मैं लोक में विख्यात हूँ ) । मेरे इस सर्वसमृद्ध धैम्य की, मेरी कौन ममता कर सकता है। “मैं नामयज्ञों के द्वारा

\* अधर्म्ममैरुधते पूर्वं, ततो भद्राणि पश्यति ।  
ततः सपत्न्याञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥

—मनुः

यश प्रातः कहूँगा, नट-चिट-गणक-गणिका-कोई याचक मेरे दान से वञ्चित न रहेंगे, और इस प्रकार इन सर्वाविध लोकेश्वर्यों से मैं परम आसोद-प्रमोद-मोद का उपभोग करता रहूँगा" अज्ञान-विमूढ़ मानव इस प्रकार की दर्पानुभूतियों-अविमानात्मिका दर्पकियों के द्वारा अपनी आत्म-विमूढ़तालक्षणा-पशुसमतुलित-आसुरवृत्ति का उद्बोधन करते हुए "इतस्ततो दन्त्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा भुवि कीट-पतङ्गादिवत्-अन्वेनैव नीयमाना यथान्धाः" । (१६।१५) ।

[१०]-अविधि-भ्रान्तियों से सतत उन्मत्तवत् विभ्रान्त-दिङ्-विमूढ़-लक्ष्यच्युत बने रहते हुए, मोह-परम्परापाश से आलोमभ्यः आनस्ताप्रेभ्यः आवद्ध बने रहते हुए, कामवासनानुगता भोगलिप्सा में अहोरात्र आसक्त [ मनसा ], व्यासक्त [ शरीरेण ] ऐसे आसुर मानव [ यहाँ तो इस जीवन में तो प्रलयान्तचिन्ता से संयुक्त रहा ही है, अनन्तर भी ये मानव ] कुम्भीपाक-रीरव-आदि भीषण-पूतिगन्ध-युक्त-मलीमस नरकपरम्पराओं में अपने प्रेतशरीर से निःसीम परिताप का आत्वादन किया रहते हैं । [ १६।१६ ] ।

[११]-[शिष्ट-सम्मान्य-योग्य-आत्मबोधपथानुगत देवमानव यद्यपि जानते हैं इनके तथाविध स्वरूप को ; किन्तु लोकसंमहधिया, एवं युगधम्मपिच्छा ने तटस्थ बने रहते हैं इनकी आलोचना से । यद्वा कदा परोक्षमिव देवमानव परोक्षरूपेण इनके स्वरूप का उद्बोधनार्थ विस्लेषण भी करते रहते हैं, किन्तु इनका उद्बोधन तो होता नहीं, प्रतिक्रियात्मक अभिनिवेश अवश्य इनमें जागरूक बन जाता है । और इस दिशा में आकर ये ] असुर मानव अपने मनोराश में हों अपने आपको इतर सम्पूर्ण मानवों से श्रेष्ठ-सम्पन्न-कुलीन-पेश्वर्याशाली मानने की अनुभूति में तल्लीन रहते हुए अपने लक्ष्ण-दम्भ-वर्षपूर्ण वैखरी ध्वनिवाक् [ पशुवाक् ] से इस शून्य-जघन्य-अतिमानलक्षणा अनुभूति की चाटु-कार-रजनिचरितपरायण-सलज्जन-मण्डल में धोपणा करते हुए यन्त्रिजिन् भी तो लज्जा से अवगत-शिरस्क नहीं बन जाते ये ऐकान्तिक 'आत्मसम्भावित' घृष्ट निर्लज्ज-पासुर मानव ।

अपने चाटुकारमण्डल में जहाँ इनकी वैखरी वाणी अट्टाट्टासरूप उद्देग कर निनाद से माता-पितृ की सहजशान्ति को विकम्पित करती रहती है, वहाँ शिष्ट-सांस्कृतिक-भद्र-आदर्शपरायण-विद्वान्-नैतिक-देवमानवमण्डल में ये ही बाक्शूर अतिमानी आत्मसम्भावित आसुर मानव अपनी सम्पूर्ण योग्यता को सर्वात्मना विस्मृत कर अपने मुख को स्थिर नेत्रों से 'ख' प्रदेश ( शून्याकाश ) में योगसमाधिबन्धन-स्थिरता पूर्वक मर्यादित बनाते हुए 'गृहः खेऽन्यतस्पाप्' इस पाणिनिसिद्धान्त को अन्यर्थ बना देते हैं । मुख को 'ख' के अनुगत करने वाले शून्याकाशानुगामी ऐसे शून्य निरक्षर-मूर्धन्य आसुर मानवों के लिए ही तो 'मूर्ख' शब्द का आविर्भाव हुआ है सर्वभावसंमाहक 'कोश' मोड में । गुणधर्मानुग्रह से पुण्यतरन्यायेन तथाविध शिष्टमण्डल में यदाकदा प्रवेश पा जाने वाले

लोकैषणाकामुक ये आत्मसम्भावित मानव यहाँ के सात्त्विक-प्रभावपूर्ण वातावरण से अभिभूत होकर प्रथम तो सब कुछ विस्मृत करते हुए सर्वात्मना स्तब्ध बन जाने में ही अपना कल्याण समझते हैं। यदि किसी समानशीलव्यसन-धुरीण की प्रच्छन्न प्रेरणा से पंक्तिबद्धस्थानुगति के आधार पर कभी ये कुछ तत्र शिष्टमण्डल में कुछ अनर्गल-असम्बद्ध बोलते हुए इस बुबुलिपा के माध्यम से इस मण्डल में भी अपने आपको मूर्धाभिषिक्त बनाने का दुस्साहस कर बैठते हैं, तो वत्क्षण ही हठानुसम्पूर्ण शिष्ट समाज को भी स्तब्ध करते हुए अपनी अनर्गलता से ये भूर्ख सदृशा स्वयमपि सर्वात्मना 'स्तब्ध' हो बन जाते हैं।

हो जाना चाहिए था इस दिशा में पहुँचने ही इनका हार्दगतवरोध (हार्टफेल), किन्तु इनके आन्तर में धन-मान-मद-गर्व प्रतिष्ठित जो हो रहा है। यही आसुरमद [धन-मान-मद-गर्व, शरीर-सम्बद्ध शरीरभोगसाधनभूत धनगर्व, मनःसम्बद्ध मानसकाम-साधनभूत मानगर्व, बुद्धिसम्बद्ध बौद्ध अतिमानसाधनभूत मदगर्व] इन आसुर मानवों की निर्लज्जता का संरक्षक बना रहता है, जिसके अनुग्रह से ये शिष्ट सांस्कृतिक मण्डल में स्तब्ध बने रहते हुए भी अपनी अतिमानभाषा का उद्घोष प्रकान्त ही रखते हैं। अपनी इस प्रकान्ति को शिष्टसमाज के द्वारा घुणाघरन्यायेन सुरक्षित रखने के लिए ये

‘धनमानमदान्वित’—

आसुरमानव लोकैषणात्मक अवैध कार्गनिक नामयशों का दम्भ करते रहते हैं, जिन नामयशों का स्वरूप वर्तमान में आवालुट्ठवनिश—सबके लिए प्रत्यक्ष बन चुका है। कहीं धीतस्मार्त्तपद्धति-नियम-म-पादा-आदि का अनुगमन नहीं, कहीं नैगमिक आम्नाय का आधार नहीं, केवल मानस मान्यतानुगता लोकैषणा के आधार पर कहीं विवशान्ति की घोषणा से, तो कहीं ‘अधर्मक्षय, धर्मस्थापन’ के व्थात्र से आत्र नैगमिक पावन भारत के कोङ्क में शरभदलवत् (टिड्डीदल की भाँति) यत्रतत्र सर्वत्र इन नामयशों का ताण्डव प्रकान्त हो रहा है, जिन नामयश-ताण्डवों में ‘दम्भ’ लक्षण अविधि ही एकमात्र पद्धति है—‘यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्’ । (१६।१७)।

(१२)—हम से अग्रे अष्ट कुञ्जशीलराजी और कौन है, सर्वशास्त्रपारङ्गत-धर्मरहस्यवेत्ता-धर्मिष्ठ-सर्वोत्तम (देखिये शङ्करानन्दी व्याख्या) और कौन है, इस प्रकार के ‘अहङ्कार’ में लिप्त शारीरनिबन्धन वित्तपल, प्राणनिबन्धन दर्पवल, मनोनिबन्धन काम-क्रोधवल, एवं बुद्धिनिबन्धन मोह-लोभ-पारुष्यादिवल, इत्यादि मलीमस भावों में ही अहोरात्र ओतप्रोत सर्वव्यापक अन्तर्ध्यामी सत्ता के ऐकान्तिक विरोधी आसुर मानव सदा सर्वदा अपने को सर्वगुणसम्पन्न, एवं दूसरों को सर्वदोषसम्पन्न प्रमाणित करते हुए-परगुणों की निःसार आलोचना करते हुए अपने ऐहिक-आधुनिक, दोनों भावों को पुरुषार्थ-साधन से वञ्चित बना रहे हैं। (१६।१८)

(१३)-जानते हो अर्जुन! सर्वशास्ता नियतिदण्डाधिपता-सर्वेश्वर अन्तर्ध्यामी तयोपवर्णितं आसुरनानां के लिए परिणाम में क्या दण्डव्यवस्था व्यवस्थित करते हैं? असुनो! प्राणिमात्र से द्वेष करने वाले ( केवल अपनी कामवासना-भोगलिप्सा से ही अनुराग रखने वाले-स्वार्थसाधनमात्र परायण ) क्रूरकर्मा ऐसे नराधमों की सहजशान्ति, सहज सत्त्वबुद्धि, सहज प्रजुता, तो तन्त्रुण ही। आत्मस्वरूपविस्मृति से पूर्वकथनानुसार विलुप्त हो ही जाती है (१६।११), इसके अतिरिक्त अपनी नश्वरलीला समाप्त करते ही अन्तर्ध्यामी, धन, यमसर्वनात्मक दण्डविधान इन्हें हीन-हीनतर-हीनतम; आ-सूकर-सर्प-व्याघ्र-आदि योनियों का सत्पात्र बना देता है। ( १६।१६ )

(१४)-ओर यों विविध आसुरी योनियों में इन्द्रम्यमाण ये भूदात्मा जन-जन्म-मृत्युपरम्पराओं में विचरण करते हुए उत्तरोत्तर निष्कृष्ट-योनियों में परिणित होते हुए 'असूया' नाम की उस अन्ध तमोगति के गर्त में प्रविष्ट हो जाते हैं, जहाँ से प्राण तितान्त असम्भव है- तात्पर्य, यदि मानव अपने मानवजीवन में आत्मबोध प्राप्त न कर उत्पथानुगामी बना रह गया, तो इसका निःश्रेयस असम्भव बन जाता है ( १६।२० )। इस आसुरभाववृत्त का भगवान् ने अन्य स्थलों में भी यत्र तत्र आक्रोशपूर्वक स्वरूपविरलेषण, एवं अन्धिम परिणाम व्यक्त किया है, जिसके कतिपय उदाहरण सम्भव है मानव की आसुरवृत्ति का अभिभव कर सके।

१-ये ज्वेतदव्यस्यन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।

सर्वज्ञानविमूढास्तान् विद्धि तथानचेतसः ॥

२-न मां दुष्कृतिनो भूदाः प्रवचन्ते नराधमाः ।

माययापहतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

३-अवजानन्ति मां भूदा मानुषी तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

४-मां धाशा मोघकर्माणां मोघज्ञानां विचेतसः ।

राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥

५-मां हेतुं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥

६-अव्यक्तं व्युक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।

परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुचमम् ॥

- (१)-ये मे मतम्—अव्ययात्मस्वरूपानुगतं भगवन्मतम् ।
- (२)-न मां दुष्कृतिनः—असत्कर्मरताः—आत्मस्वरूपं न विजानन्ति ।
- (३)-अवर्जानन्ति मां मृदाः—मौ—अव्ययात्मिनं—अव्ययेश्वरसंचक्षिपहसन्ति यथाज्ञाताः—  
नास्तिस्वः । कथमीश्वराव्ययः—मौतिके शरीरे समाविष्टः ?  
असम्भ्रमेतत्—इति जल्पन्तिः केवलप्रकृतिपरायणा  
आत्मस्वरूपानभिज्ञाः—आसुरमानसाः ।
- (४)-प्रकृतिं मोहिनीम्—वैशारिकभागात्मज्ञानानुगता प्रकृतिं मोहात्मिनां श्रिताः ।
- (५)-नाहं प्रकाशः—भूतानुगतशुभायालक्षणविष्णुमायया युक्तोऽयमव्ययात्मा न-निर्मूढ-  
मनसि समायाति-योगमायाहरचैतत् तथा सम्मोह्यते जगत् ।
- (६)-अव्यक्तं व्यक्तिम्—सूर्याः—यथाज्ञाता-लौकिकाः 'प्रकृतिरेवेदं सर्वम् । प्रकृतेः-  
सञ्चालको नान्य-ईश्वरः', इति उद्बोधोपयन्तः प्रकृतिमेव सर्व-  
समभिमन्यन्ते नराधमाः—आसुरमानसाः ।

॥ ५ ॥

पूर्वोत्तर अतिमानव ( आधिनारिक मानव ॥ अस्तारपुरुष ) श्रीकृष्ण ने देव आसुर सर्गभेद की मौमासा के माध्यम से मानव स्वरूप को जो मौमासा मानव के अभ्युदय नि श्रेयस् के लिए स्पष्ट की, उस पञ्चधा विभक्त देवासुरसं स्वरूप-मौमासा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पडा कि, मानव यदि अपना नैसर्गिक देवभावानुगत आत्मस्वरूप परिज्ञान प्राप्त कर ले, तो वह चतुर्धा विभुत उन्नत मानव श्रेणि-विज्ञान का क्रमशः अनुगमन करता हुआ लोकसमग्रपूर्वक सहजभाव से ऐहिक-आधुनिक अभ्युदय नि श्रेयस् का फलभोक्ता बनता हुआ अपनी सहज परिपूर्णता को सुरक्षित रख सकता है, जिस श्रेणिचतुष्टयी का पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है, (देखिए ३४१ पृष्ठ) ।

। प्राकृतिक श्रणिसंस्थानुगामी भारतीय द्विजाति मानव किस सद्धति आम्नाय एवं लोकमान्यतासक लोकाधार के अनुगमन से अपनी परिपूर्णता, अपने आत्मबोध को अच्युत बनाए रख सकता है ? प्रश्न का समाधान ही निगमागमशास्त्र की रहस्यपूर्णा पारम्परिक-आम्नायानुप्राणिता सहजव्यवस्था है, जो दुर्भाग्यवश सिद्धिकामुक श्रेयप्रवर्तकों के प्रतारणार्थक, समाधि-धारणा-ध्यानादि भावों से, तन्त्रभा यानुगता द्वात्ताप्रसारा से, पुराणमर्मज्ञता से वञ्चित कथावाचकों की मानसकाम शारीरिकभोगभावानुगता

\* "यावदधिकारमवस्थितिराधिनारिकणाम्" ( वेदान्तसूत्र )

व्याख्यापरम्पराओं से, मतवादाभिनिष्ट साम्प्रदायिकों की दासभावानुगत भक्तिपरम्परा से, लोकमान्यतानुगत आम्नायों के केवल मानस कल्पनानुगत रुढ़िवादों से, एवं अन्यान्य भी अनेक ज्ञात-अज्ञात-परम्पराओं के निधानग्रह से आज अपने पारम्परिक आम्नायस्वरूप से सर्वतमना अभिभूत हो गई है ( रहस्यपूर्ण निगमागमव्याख्या ) ।

आरम्भ की पञ्चविंशति में अक्षरब्रह्मविज्ञानात्मक सहजसिद्ध-‘वर्णसमाम्नाय’ लक्षणा प्राक्की-भाषा ( ‘भारती’ नामक संस्कृतभाषा ) के सुबोध पूर्वक ‘पथ्यास्वस्ति’ (२८८ वर्ण विभागों में विभक्ता वैदिक वर्णमात्रिका से कृतस्वरूपा ‘छन्दोग्यस्ता’ नामकी वैदिकभाषा ‘शिक्षा’-शास्त्रमाध्यम से अक्षर-ज्ञान को बुद्धिस्थ बनाते हुए, जिह्म-अनृत-माया-आदि मलीमस भावों से सर्वात्मना असंस्पृष्ट रहते हुए सत्त्वभावंपूर्वक निगमागमशास्त्र का अनन्यानिष्ठ से ऋषिमानवाचार्य के सान्निध्य में स्नाय्या करते हुए जो ‘ज्ञानसम्पत्’ प्राप्त की जाती है, वही मानव का प्रथम ‘ब्रह्मचर्याश्रम’ है। ‘आचार्याय प्रियं धन-माहृत्य’ ( गुरुवक्षिणा प्रदान कर ) सर्वज्ञाननिष्ठ युवापुरुष द्वितीय ‘गृहस्थाश्रम’ में प्रविष्ट होता हुआ उत्तर पञ्चविंशतिपर्यन्त ( ५० पर्यन्त ) शीत स्नान सहज कर्मानुगतिपूर्वक ( देवपितृयज्ञानुष्ठानपूर्वक ) ‘प्रजातन्तु’ मा व्यवच्छेत्तीः’ इस आचार्यादेशानुसार पुत्रोत्पादनद्वारा पितृश्रद्धा से उन्मत्त बनता हुआ मानव अपने पेटिक गृहमेधी जन्म को सफल कर लेता है ।

गृहस्थाश्रम की समाप्ति पर इस गृहमेधी ( पारिवारिक गृहस्थी ) का युवापुत्र पारम्परिक आम्नायानुसार इस के परिवार में पारिवारिक उत्तरदायित्वग्रहण-योग्यता सम्पादन कर ऋषिगृह से आजाता है। तत्काल + ‘नश्यन्ति बहुनायकाः’ की लौकिक व्यावहारिक भावुकतापूर्ण व्यञ्जना का अनु-

÷ ‘सिद्धो वर्णसमाम्नायः’ (आम्नाय व्याकरण), जिसका प्रान्तीय विकृतरूप “सीधो बरणा, समामुनाया” इत्यादि ।

+ आज के भारतीय पारिवारिक जीवन में जो सर्वत्र कौटुम्बिक-पारिवारिक क्लेश देखा सुना जा रहा है, उसका मूल कारण है नैगमिक पारम्परिक जीवनव्यवस्था-गृहस्थव्यवस्था का अभिभव । प्रसिद्ध है कि—

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः ।

स्त्रीनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बालनायकाः ॥

जिस परिवार में, संस्था में, किंवा सत्तातन्त्र में कोई नैष्ठिक नायक ( सञ्चालक ) नहीं होता, वे नष्ट हो जाते हैं। जिन में अनेक नायक हो जाते हैं, उनका विनाश भी निश्चित है। जहाँ प्रकृत्या भावुका स्त्री नायक बन जाती है, वह संस्था भी ‘स्त्रीपुंस्वच तद्धि गेहं विनष्टम्’ ( महाभारत ) के



भवी प्रौढ गृहमेधी-‘धनं पञ्चाशतो व्रजेत्’ इस आदेश को शिरोधार्य कर आधुनिक आत्मचिन्तन-पथ में आरुढ़ हो जाता है, जो इस का ‘वानप्रस्थाश्रम’ नामक तृतीय आश्रम कहलाया है। इस आश्रम में यह अश्रमी अन्य-धर्मानुगता कामनात्यागमूला निवृत्ति के अभ्यासपथ का अनुगामी बनता हुआ शनैः शनैः शारीरिक भोग, मानसिक काम, दोनों के आसक्ति-पाशबन्धन से नैष्ठिकी योगात्मिका

( ३६८ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश )

अनुसार नष्ट हो जाती है। एषमेव जहाँ प्रकृत्या भावुक बालबुद्धि ( २७ वर्षपर्यन्त का कुमार ) नायक बन जाता है, वह संस्था भी उन्धिप्त हो जाती है। वर्तमान भारतीय परिवारों-कुटुम्बों-संस्थाओं, एवं सत्तातन्त्रों में आज जो कलह-अशान्ति-श्रीसमृद्धिविहीनता दृष्ट-श्रुत है, उसका मुख्य कारण उक्त सूक्ति ही मानी जायगी। कहीं एक भी नैष्ठिक सञ्चालक नहीं है, तो कहीं अनेक सञ्चालक बने हुए हैं। जिन में प्रत्येक में लोक-वित्त-पुत्रैषणा, विशेषतः लोकैषणा जागरूक है। संस्था-सत्तातन्त्रादि की आलं चना तो अपराध माना जायगा। गृहस्थ को ही उदाहरण बना लीजिए। गृहस्थ में आभरणान्त सुमुखी वृद्ध भी अपना नायकत्व परित्याग करना नहीं चाहता। उसने तो श्रौत अभिहोत्रवत् अपने अनुशासन के सम्बन्ध में ‘जरया वा जीर्यते, मृत्युना वा शीर्यते’ इस सिद्धान्त को ही सर्वात्मना चरितार्थ कर रक्खा है। आज तो ‘जरया’ भी अपवाद ही है। मरणासन्न भी अपने अनुशासन-ध्या-मोह का परित्याग करने के लिए कदापि स्वीकृति नहीं देसकता। उधर परिवार में प्राप्तवयस्क युवापुत्र प्रकृत्या अपना अनुशासन चाहते हैं। इस प्रकार इन अनेक नायकों के बौद्ध मानसिक-शारीरिक संघर्ष के परिणाम स्वरूप प्रथमतः सब में महान् विस्फोटन हो जाता है। यदि वृद्ध की निकृष्ट-जघन्य-प्रतारणा-भर्त्सना से प्रतारित भर्त्सित पारिवारिक अन्य व्यक्ति इस विस्फोट को सहा बना लेते हैं, तो निश्चयेन इनका सहज बौद्धिक समतुलन-सहज मानसिक शान्ति-सहज शारीरिक स्वास्थ्य, सब कुछ नष्ट-प्राय बन जाता है, अथवा तो वे वृद्ध महाभाग अपने पुत्रों के द्वारा ही उपेक्षित प्रतारित-भर्त्सित बना दिए जाते हैं। परिणाम में गृहस्थ इस बहूनायक पद्धति से मर्षात्मना क्षत-विक्षत-अशान्त-दुःखी बना रहता है।

उधर पारम्परिक आम्नाय में ५० वर्ष की प्रौढ़ता के आगमन के साथ ही गृहस्थाध्यक्ष अपना अधिनायकत्व युवापुत्र को समर्पित कर इस गृहस्थोत्तरदायित्व से उन्मुक्त बनता हुआ आधुनिक पुरुषार्थ साधन में प्रवृत्त हो जाता है। भले ही वर्तमान में सत्तातन्त्र के दोष से इसे शान्त अरण्य उपलब्ध न हो, अतएव वनगमन भले ही इसका सम्भव न बन सके। किन्तु यह गृहस्थ में रहता हुआ भी ‘पुष्करपलाशवर्जिते’ ही बना रहता है। किसी पारिवारिक वित्त-पुत्र-लोकैषणा-लालसा में इस की मानसिक वृत्ति का समावेश नहीं हो पाता। और इस प्रकार हम री भारतीय आम्नाय के सहज जीवन तन्त्र में कभी कबह-संघर्ष-अशान्ति, किंवा दुःखलेश का समावेश नहीं हो पाता।

( कौशलात्मिका ) बुद्धि के बल से विमुक्त होने का प्रयास करता हुआ क्रम क्रमशः आत्मबोधानुशीलन परायण बन जाता है । आचारमीमांसात्मक आचरणात्मक बाह्य स्वरूप का ( अपने स्थूल भौतिक रूप का ) परित्याग करता हुआ क्रमशः तत्त्वानुशीलनात्मक आभ्यन्तर सूक्ष्म-आचरण पर अनुगामी बनने लगता है । यही इस ग्रन्थ-श्रमों की तत्त्वोपासनात्मिका आचारमीमांसा ( सूक्ष्मधर्माचरण ) है । तृतीया पञ्चविंशति ( ७५ वर्ष ) के उपरत होते होते यह तत्त्वानुशीलन-तत्त्वोपासनारूप-आचार में सफलता प्राप्त करता हुआ सर्वात्मना विरजलोकनिष्ठापण का सफल यात्री प्रमाणित हो जाता है । यहाँ अब इस के शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक, तीनों तन्त्र ( भूमीदर्कपद्धति के अनुपात से ) अस्मत्ता से अभिभूत हो जाते हैं । सम्पूर्ण परिग्रह-आत्मिक-व्यवधानरूपा क्रमास्तिक का परित्याग प्रकृत्या सहजभाव से हो जाता है, और यही चतुर्थी पञ्चविंशति से सम्बद्ध इस पुरुषवर्णन का चतुर्थ 'संन्यासाश्रम' कहलाया है, जिसके द्वारा 'ज्ञाननिष्ठा' लक्षणा आत्मबोध की भावना से यह सर्वात्मना वृत्तकृत्य बनता हुआ सम्पूर्ण विश्व के हितसाधन में विश्वेश्वरवत् अपने आपको समर्पित कर देता है । इन तीन आश्रमों के अनुबन्ध से ही मानव के तीन स्थान बन जाते हैं, जिनका 'स्वायम्भुवस्थान, पारमेष्ठ्यस्थान, सौरस्थान,' रूप से पूर्ण में दिग्दर्शन कराया जा चुका है । इन तीनों अलौकिक स्थानों के अतिरिक्त एक चौथा- 'बान्द्रगर्भित पार्थिव स्थान' रूप एक स्थान और है, जिसे इन 'लौकिक स्थान' कहेंगे । इसी स्थानपेक्षया अलौकिक भी द्विजातिमानव 'लौकिकमानव' बना रहता हुआ, यथा- जात भायुक्लोक-समाज की दृष्टि में अपने आपको सर्वथा लौकिक ही प्रमाणित करता हुआ लोक-मानवों में बुद्धिभेद उत्पन्न न कर परोक्षरूप से अपनी अलौकिकता के माध्यम से लोकमानवसमाज का उद्बोधन करता हुआ लोक-परलोक संसाहक यह त्रिस्थान मानवभेद अपने मानवजीवन को वास्तव में धन्य बनाता रहता है । इस प्रकार ३ अलौकिक स्थान, १ लौकिक स्थान, रूप से द्विजातिमानव के चार स्थान हो जाते हैं, जिनका पूर्व में स्पष्टीकरण किया जा चुका है ( देखिये प्रष्टसंख्या ३२२ से ३४२ प्रष्ट पर्यन्त ) ।

यद्यपि पूर्व में चारों स्थानों का दिग्दर्शन कराया जा चुका है । तथापि क्योंकि अब हम तदर्थ आलोचना-समाधान के सन्निकट पहुँच रहे हैं । अतः सन्दर्भसङ्गति के लिए एक नवीन दृष्टिकोण से उस त्रिजातिमानवों का सिंहावलोकन और कर लिया जाता है । अतस्मात् सहज संस्कारों से सुसंस्कृत द्विजाति मानव इस प्रकार पूर्वोक्त अपने चार आश्रमों के द्वारा सहजरूप से कर्म-ज्ञानोभयलक्षण, अग्र्ययाज्ञात्मनसमूति षोडशी-षोडशकल-षोडशकलोपेत प्रजापतिरूप, स्वायम्भुवपुरुषात्मा, पारमेष्ठ्य महानात्मा, सौर विज्ञानात्मा-रूप ऋषि-पितृ-देवमूर्ति प्राकृत विश्वेश्वर की पूर्णता सम्पादन करता हुआ गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास, इन तीन आश्रमों का क्रमिक अनुगमन करता हुआ इन तीन आश्रमों के द्वारा क्रमशः 'मुनि-यति-ऋषि' पद प्राप्त कर लेता है, जिन इन तीन मानवपदों की संचिप्त स्वरूपदिशा का यों समन्वय किया जा सकता है ।

(१) — 'गुणिमानव' का अर्थ है घोषणा-कीर्ति-यशःख्यापन-लोकैषणा-आदि से सर्वात्मना अपने आपको असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए सर्वथा तूष्णीभावा (मौनभाव-चुपचाप) से निगमगमाम्नायप्रामाण्य के द्वारा श्रौतस्मार्त देवपितृकाव्यों का (कर्मकाण्ड का) अनुगमन । यही इस मानव का 'देवभाव' है । एवंविध द्विजाति मानव ही 'भूदेव' है, 'गुनि' है (वेदतत्त्वानुमन्ता-मननशील कर्मठ द्विजाति है) । यही मानव का गृहस्थाश्रमानुबन्धी द्वितीय पञ्चविंशति (२५ से ५० पर्यन्त) ये सम्बद्ध 'प्रथमस्थान' है । यही षोडशकलोपेत आत्मस्वरूप अपराप्रकृतिलक्षण सौरसंस्थानलक्षण 'क्षरप्रजापतिस्थान' है, जिसका विद्याबुद्धिलक्षण-व्यवसायनिष्ठ सौर 'विज्ञानात्मा' से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है । यही प्रथम मानव 'मानव' अभिधा का सत्पात्र माना गया है । एवंविध द्विजातिमानव को हम धर्मतः 'लोकपिता' उपाधि से विभूषित मान सकते हैं ।

(२) — 'यतिमानव' का अर्थ है मनःशरीरानुगता कामभोगपरायणता से भूतात्मा को पृथक्कर अनुभूत करते हुए \* रागद्वेषासक्तिबन्धनविमुक्तिपूर्वक सहजरूप से मानसिक-शारीरिक यात्राओं में प्रवृत्त रहते हुए आभ्यन्तर प्राणव्यापाररूप तपोऽनुष्ठान के द्वारा अपने अभ्यात्म को तमोगुणात्मक दोषों से पृथक् करते हुए बुद्धिसहकृत भूतात्मा को 'क्षीणदोष' बना लेना । यही इस मानव का 'पितृभाव' है । एवंविध द्विजाति मानव ही 'मपिता' है, 'यति' है (आरण्यकतत्त्वोपासक क्षीणदोष संयमी उपासक द्विजाति है) । यही मानव का धानप्रस्थाश्रमानुबन्धी तृतीय पञ्चविंशति (५० से ७५ पर्यन्त) से सम्बद्ध 'द्वितीयस्थान' है । यही षोडशकल अक्षररूप पराप्रकृतिलक्षण पारमेष्ठ्य संस्थानलक्षण 'अक्षरप्रजापतिस्थान' है, जिसका सत्त्वभावापन्न गुणत्रयाधिष्ठाता गुणातीत गुणमय पारमेष्ठ्य 'महानात्मा' से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है । महानात्म-सम्बन्ध से ही यह यतिमानव लोकात्म्याय में 'महानात्मा' — 'महात्मा' — 'तपस्वी' आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध है । यही द्वितीय मानव 'महामानव' अभिधा से सम्मान्य पोषित हुआ है । एवंविध द्विजातिमानव को हम धर्मतः 'लोकपितामह' उपाधि से विभूषित कर सकते हैं + ।

(३) — 'ऋषिमानव' का अर्थ है-शरीरमनोबुद्धितन्त्रानुगता भोग-काम-तत्त्वचिन्तनवृत्तियों को निरलिशयरूपेण आत्मसंयत्तधर्म की अनुगामिनी बनाते हुए सर्वत्र सम्पूर्ण बाह्यभ्यन्तर-मूर्तामूर्त-

\* रागद्वेषवियुक्तस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवरपेविधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गीता० २।६५) ।

+ आम्नायनिष्ठ जयपत्तन के संस्कारानुशय से अंशतः अनुप्राणित शोखावादीप्रान्त में सम्मान्य द्विजाति के लिए इसी महानात्मसम्बन्ध से व्यवहार में 'बाबोजी' (बाबा-पितामह) राज्द प्रयुक्त हुआ है ।

निरुक्तानिरुक्त-स्थूलसूक्ष्म-भावों में व्यापक 'पुरुषब्रह्म' चिन्तन का ही समावेश करते हुए (भूमोदक-पद्धति से, क्योंकि क्षीणोदकपद्धति में ऐसा सम्भव नहीं है, जो सांख्यनिष्ठा मानी गई है) सवेभूतहित-रतिपूर्वक सहजभाव से अपने आपको सहजनिष्ठ बना लेना। यही इस मानव का 'ऋषिभाव' है। एवंविध द्विजातिमानव (विधिवत् शिरोधृतानुगामी दण्ड-कमण्डलुधारी वीतराग संन्यासी) ही 'सर्वपिता' है, 'ऋषि' है (औपनिषद् तत्त्वानुशीलनपरायण ज्ञाननिष्ठ द्विजाति है)। यही मानव का संन्यासाश्रमानुबन्धी चतुर्थ पञ्चविंशति (७५ से १०० पर्यन्त) से सम्बद्ध-**'तृतीयस्थान'** है। यही षोडशी अव्ययरूप परापरप्रकृतिविशिष्ट-परापरप्रकृत्यतीत-सर्वोत्तम स्वयम्भुव संस्थान-लक्षण **'पुरुषप्रजापतिस्थान'** है, जिसे प्राप्त करने के अनन्तर मानव जन्म-मृत्युचक्रपरम्परा से अतिमुक्त घनता हुआ-**'न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते'**, जिस इस मानव का सत्यात्मक सत्यत्यमत्यात्मक सर्वेश्वर विरज-लोकतीत स्वयम्भुव **'पुरुषात्म'** से ही प्रधान सम्बन्ध माना गया है। पुरुषात्मसम्बन्ध से ही यह ऋषिमानव लोकान्नाय में **'पुरुषधारेय'**-**'योगयुक्त'**-**'आरुढ'**-**'कृतात्मा'** आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है। यह तृतीय मानव **'अतिमानव'** अभिधा से उपस्तुत हुआ है। एवंविध द्विजाति मानव को हम धर्ममतः **'लोकप्रपितामह'** उपाधि से ही समलङ्कृत करेंगे।

(४)-**'लोकमानव'** का अर्थ स्पष्ट है पूर्व की मानवव्रत्ती से ही। निगमाम्नायपरायण द्विजातिमानव अपने चारों आश्रमों से क्रम क्रमशः अलौकिकता सम्पादित करता हुआ जिस लोक-समाज में रहता है, उस लोक का संग्रह भी इसका अनन्य निष्ठाकर्म बना रहता है। इस दिशा में अलौकिक मानव को अपने आपको सर्वोत्तम लौकिक ही प्रमाणित कर देना पड़ता है। यदि यह ऐसा नहीं कर सकता, तो इसकी अलौकिक साधना कभी सफल नहीं बन सकती। वैय्यक्तिक धिकासातुगामी मानव प्रकृत्या सामाजिक प्राणी भी है। भले ही युगधर्मानुसार समाज का स्वरूप कैसा भी क्यों न हो, प्रत्यक्ष रूप से समाज का कथमपि विरोध नहीं किया जा सकता, नहीं करना चाहिए। सहज-भावुक लौकिक मानव समाज, सदा ही भावुकतावश प्रत्यक्ष से प्रभावित होने वाला समाज प्रत्यक्षरूप से अपनी भावुकता पर किसी भी प्रकार के धाक्का, आलोचना-आदि को सहन करने में असमर्थ है। जो व्यक्ति इस सामाजिक दृष्टिबिन्दु को न समझ कर, किंवा समझ कर भी स्वयं अपनी ही भावुकता के आवेश में आकर प्रत्यक्षरूप से सामाजिक विधि-विधानों के लोक-मान्यताओं के विरोधी घनते हुए आलोचना में प्रवृत्त हो जाते हैं, समाज ऐसे पथप्रदर्शकों के प्रति प्रतिक्रियावादी बन जाता है। इस से न तो व्यक्ति का ही कोई उपकार होता, नहीं समाज का ही कोई हितसाधन होता। अतएव यह आवश्यक है कि-**'न बुद्धिभेदं जनयेत्-अज्ञानां कर्म-सङ्गिनाम्'** \* इत्यादि लोकनीति सूत्रादेश के अनुसार मानव को सदा परोक्षप्रिय बन कर ही

\* न बुद्धिभेदं जनयेत्-अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।

जोपयेत् सर्वकर्मणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥ (गीता० ३।२६।)

परोक्षरूप से ही सामाजिक उद्बोधन में प्रवृत्त होना चाहिए। यही अलौकिक मानव की, नैष्ठिक मानव की लौकिक समाजानुबन्धिनी चौथी लोकमानवता है। समाज-भावुक समाज-के भावुक व्यक्तियों की वैसी भावुकता-परम्पराओं-मान्यतापरम्पराओं का तो लोकान्तर अलौकिक लोकमानव के द्वारा स्वप्न में भी समर्थन न होगा, जिन मान्यताओं का केवल भावुकतापूर्ण कल्पनाओं से ही सम्बन्ध है, जिन मान्यताओं से नैगमिक आम्नायपरम्परा का अनुमोदन-समर्थन-संरक्षण तो विदूर, अपितु जिन से नैगमिक आम्नायपरम्परा का मूलोच्छेद सम्भावित ही, क्या है, निश्चित है, कदापि 'लोकसंग्रह' जैसे निष्पाप के माध्यम से समर्थन नहीं किया जायगा, नहीं करना चाहिए। ऐसा श्रुत उपश्रुत है कि, हमें किसी मान्यता का प्रत्यक्ष विरोध इस लिए नहीं करना चाहिए कि, इस से 'बुद्धिभेद' उत्पन्न हो जायगा। क्या 'न बुद्धिभेदं जनयेत्' का यह तात्पर्य है कि, "मान्यता भले ही सर्वथा निष्मूल हो, नैगमिक सिद्धान्तविरोधिनी हो, मानव का उत्तरोत्तर सर्वनाश करने वाली हो, तदपि हमें लोकसंग्रहदृष्टि से उसका विरोध न करते हुए 'जोपयेत् सर्वकर्मणि' इत्यादि उत्तरयाक्यानुसार स्वयं भी इन मान्यताओं का अनुगामी बना रहना चाहिए"। क्या भगवान् के 'लोकसंग्रह' आदेश का यही तात्पर्य है?। वर्तमान में हम इस प्रश्न के 'ओमिति'—'नेति' दोनों ही समाधान करेंगे।

'ओमिति' (हाँ) इसलिए कि, गतानुगतिक एषणालिप्त असन्निष्ठ मानवों की ऐसी धारणा है कि, वर्तमानयुग 'अर्थतन्त्रप्रधान' युग है, भौतिक युग है, जिसमें केवल आत्मा-सत्त्वबुद्धपुण्य आदर्शों-नैगमिक आम्नायों के अनुगमन से कदापि आज के युग के अर्थसंकटमस्त मानव का परलोक साधन तो क्या, शरीरयात्रानिर्वाह भी तब तक असम्भव है, जब तक कि वह वर्तमानयुग के अर्थ-तन्त्राभिषिक्त सम्पन्न महानुभावों की, सदसत्-सर्वविध मान्यताओं का, भावुकताओं का अक्षररतः अनु-मोदक-समर्थक-प्रशंसक बनना हुआ सर्वोत्तमा स्वयं को भी लोकसंग्रहदृष्ट्या इसी पथ का पथिक नहीं बना लेता। और इस दृष्टिकोण से हमें भी उन सभी मान्यताओं का बुद्धिभेदभय से (जो भय वास्तव में हमारे स्वार्थ से सम्बन्धित स्वयं हमारा अपना भय है) समर्थन-अनुगमन ही करना चाहिए, जैसा कि युगधर्माक्रान्त आज का मानव कर रहा है, एवं इसी पुरुषार्थ? के बल पर तथाविध गणवः शरीरयात्रानिर्वाह में सफल हो रहे हैं।

'नेति-नेति' (ना-ना) इसलिए कि, आम्नायानुगत एषणालिप्त सन्निष्ठ श्रेष्ठ मानवों की ऐसी निश्चित आस्था है कि, कैसा भी युग क्यों न हो, मानव सदा ही मानव ही है, आत्मवोषा-नुगता परिपूर्णता ही मानव का सर्वयुगानुगत परमपुरुषार्थ है। विज्ञानतन्त्र-कामतन्त्र-अर्थतन्त्र, किया और और भी वर्तमानयुगानुगत-प्रजातन्त्र-गणतन्त्र-आदि आदि तन्त्र कभी इस आत्मनःप्राप्ति मानव की ह्युत्तन्त्री को, इस तन्त्री को सहज सत्त्वनिष्ठा को यन्त्रिन् भी विकल्पित नहीं कर सकते, नहीं कर सकते। शरीरयात्रानिर्वाह जैसे नगण्य-प्रश्न की तो क्या हो दूर है, विश्व के अन्य सुमहद ममहदा-

कर्षण भी निगमाभ्यायनिष्ठ इस सहज मानव को अशुभमात्र भी प्रभावित नहीं कर सकते, नहीं कर सकते। पुणान्तरन्यायेन सम्भव है अपने भावुक परिवार की भावुकतापूर्ण मनोवृत्तियों के उत्तरदायित्व के नाते ऐसे आभ्यायनिष्ठ को यदाकदा लौकिक-व्यावहारिक संकटों का अनुगमन करना पड़े। किन्तु एतावता ही इसकी सहजनिष्ठा की कोई क्षति नहीं हो सकती, नहीं हो सकती। ऐसे नैगमिक मानवश्रेष्ठ केवल उन्हीं मान्यताओं के लोकसंग्राहक बना करते हैं, जो मान्यताएँ निगमाभ्यायानुशय से अनुप्राणित रहती हैं।

आभ्यायविरुद्ध, अतएव आदर्शविरुद्ध किसी भी युगधर्मानुगता दार्शनिक मान्यता का समर्थन तो क्या, श्रवण भी इन्हें अप्रिय ही प्रतीत होता है, और ऐसे अप्रिय-श्रवण प्रसङ्गों पर ये 'शान्तं पापम्'-'आलप्यालमिदम्' \* रूप से तत्क्षण आत्मभावानुगत बन जाते हैं। अपनी निगमनिष्ठा, तत्त्वरूपसंरक्षिका निगमागमशास्त्र-स्वाध्यायनिष्ठा ही इन मानवश्रेष्ठों की एकमात्र अनन्यनिष्ठा बनी रहती है जरामर्यासत्प्रवृत्त। विश्व का कोई भी प्राबाहिक-युगधर्मानुगत भावुकतापरिपूर्ण कामार्थकर्मण इन्हें इस निष्ठा से विच्युत नहीं कर सकता, नहीं कर सकता। केवल एकमात्र 'परापराणां परमा' भावानुगता इष्टदेवानुगता मानसिक भावुकता ही इनकी भावुकता है, जिसके द्वारा निष्ठाओं को आत्यन्तिक रूप से तत्र समर्पित करते हुए ये नैगमिक मानव अहोरात्र सतत अपनी उपास्या इस परापराणां परमा निगमाभ्यायसम्भता हैमवतीउमा भगवती (वागाम्भृणीसमन्विता सौरी इन्द्रवागूरूपा बृहतीवागलक्षणा गायत्रीमात्रिकवेदनत्थानुगता सत्यब्रह्माभिन्ना हिरण्मयी-हैमवती-महाशक्ति) के द्वारा राक्षान्तित 'ब्रह्मणो वा विजये महीपध्वम्' (केनोपनिषत्) इस वेदान्तसिद्धान्ता (उपनिषत्सिद्धान्ता) वेदान्तनिष्ठा को ही अपना लक्ष्य बनाए रहते हैं। इसी इष्टदेवभावुकतानुगता निरतिशया संविलक्षण निष्ठा से इनकी सम्पूर्ण लोकयात्राएँ सहजरूप से प्रारब्धकर्मनुसार नियतिचक्र के द्वारा परिपूर्ण बनती रहती हैं। अतएव तात्कालिक असुविधा-परम्पराएँ इन्हें कबमपि अपनी स्वाध्यायनिष्ठा से विच्युत नहीं कर सकती, नहीं कर सकती। ऐसे युगधर्मानुगता-एषणालिप्सापरिपूर्ण सम्पूर्ण आर्थिक आकर्षण इन अनन्य नैष्ठिकों के लिए अहिः-कञ्चुकिवन त्याग्य ही बने रहते हैं, जो अर्थाकर्षण स्वाध्यायनिष्ठा में विघ्नपरम्परा का सर्जन करते हुए इनकी सत्त्वबुद्धि को मलीमस कर देने की ध्वर्षचेष्टा किया करते हैं ॥ यही है लोकसंग्राहक अलौ-

\* आलप्यालमिदं बभूवैत स दारानपहरत् ।

क्यापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥

—महाभारत

॥ सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः ।

यथातथाध्यापयन्तु सा यस्य कृतकृत्यता ॥

—मनुः

किंक लोकमानव की उस लोकसंप्रहृतिदिशा की रूपरेखा, जिसके माध्यम से वह आम्नायविरुद्ध संप्रहृति के प्रति विस्पष्ट शब्दों में—‘शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि’ इस धर्मनीति का अवलम्बन करता हुआ अपने नैतिक प्राज्ञण में आततायी का प्रवेश नहीं होने देता, नहीं होने देता, भले ही वह आततायी कैसा ही क्यों न हो + ।

भगवान् के लोकसंमहात्मक भावुकतासंरक्षण आदेश से सम्बन्ध रखने वाले नैगमिक मानव-श्रेष्ठ के इस ‘नेति-नेति’ राद्धान्त के सम्बन्ध में हमें उक्त पैखरीवाक् का आश्रय इसलिए लेना पड़ा कि, ‘लोकसंप्रहृ’ के नैगमिक आम्नायविरुद्ध को विस्मृत कर काल्पनिक ‘ओम्’ रूप लोकसंप्रहृभाव का अनुगमन करने वाले भारतीय भावुकमानव ने न केवल धर्मक्षेत्र में ही, अपितु नितान्तभावुक पाण्डवों की भाँति तद्युग से ही आरम्भ कर वर्त्तमानयुग पर्यन्त सभी क्षेत्रों में अपने आपको सर्वात्मना पराजित कर लिया है। इसी लोकसंमहात्मकभावपरम्परा के द्वारा भारतीय मानव की नैगमिक आम्नाय-परम्परा में प्रत्यक्ष-प्रच्छन्नरूप से स्वार्थसंसाधक विविध मतवाद, सम्प्रदायवाद-रुढ़िवाद-काल्पनिक मान्यतावाद प्रविष्ट होते गए हैं। जिसका ही यह दुष्परिणाम है कि, नैगमिक आम्नायपरम्परा अपने स्वरूप से इन आगत-समागत-लोगसंप्रहृद्वारा आमन्त्रित निमन्त्रित मतवादादि-परधर्मावरणों से अभिभूत हो चली है। इसी का यह दुष्परिणाम है कि, आज नैगमिक महामहर्षियों की पावनगाथा ही क्या, केवल नामस्मरण भी जहाँ विलुप्त है, वहाँ निगमाम्नायविरोधी बुद्धादि की अस्थियों को भी यह पूर्वयुग का नैगमिक भारतीय भावुक मानव अपने शिरोऽनुगत बनाता हुआ अपने आपको धन्य घोषित करने का जघन्य कर्म कर रहा है। निष्कर्षतः यदि हमें भारतीय नैगमिक आम्नाय के स्वरूपदर्शन करने हैं, तो हमें एकदिलेला कटिति इन सब निगमविरुद्ध लोकसंप्रहृतियों का परित्याग कर ही देना पड़ेगा। ‘नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’। यदि हम ऐसा नहीं करते, नहीं कर सकते, नहीं कर पाते, तो ऐसे लोकसंप्रहृ के द्वारा तो लोकविषात पूर्वक सर्वाविषात ही प्रोत्साहित होता रहेगा।

यह तो हुई चर्चा अपने नैगमिक आवेश की, जिसका नैगमिक मानव ही स्वागत कर सकता है। किन्तु निगमशास्त्र की वर्णमाला से भी अपरिचित, किन्तु गतानुगतिक, भावावेशद्वारा केवल गीताभक्त आज का भारतीय भावुक मानव तो हमारे तथोक्त नैगमिक भावावेश का इसलिए समादर ही क्या न करेगा, विरोध कर बैठेगा। क्योंकि ऐसा न करने से इस की भावुक-मान्यतापरम्पराएँ उच्छिन्न हो जाती हैं। वह सामिनिवेश हमारे सम्युक्त गीता के आधार पर यह तर्क समुपस्थित करने का

÷ गुरुं वा, शालं वा, अपि वेदान्तपारगम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । यतो हि—

मन्युस्तं मन्युमृच्छति ।

निरर्थक साहस कर ही बैठेगा कि, 'अज्ञानाम्' पद स्पष्ट ही यह घोषणा कर रहा है कि, 'जो मूर्खता-वश शास्त्रविरुद्ध पथों के अनुगामी बन जाते हैं, वे न करने वाले अकर्मियों की अपेक्षा तो अच्छे हैं। कर्म में तो सङ्ग रखते हैं। अतएव ऐसे 'अज्ञ कर्मसङ्गी' मानव में बुद्धिभेद उत्पन्न नहीं कराना चाहिए', एवं इस गीतासिद्धान्त के अनुसार सभी मान्यताओं का लोकसंग्रहदृष्ट्या सम्मान करना ही चाहिए'। वैसे ही तो आज हम ( निगमाम्नायध्रष्ट, अतएव सर्वलक्ष्यध्रष्ट, अतएव सर्वशून्य बने रहते हुए वर्तमानयुग के गतानुगतिक भावुक भारतीय मानव ) कर रहे हैं, जो कर्त्तव्य गीताराक्षसम्मत बनता हुआ सर्वथा प्रामाणिक ही माना जायगा।

निगमशास्त्र के नितान्त रहस्यपूर्ण उपनिषद्शास्त्र की रहस्यव्याख्यारूपा पुराणपुरुषद्वारा वेदरीयाणी में उपनिषद्वा गीतोपनिषत् का निगमशास्त्र से अणुमात्र भी सम्पर्क न रखते हुए केवल आवेशद्वारा यों गीता की मनोऽनुगता भावुक-व्याख्याएँ करने का हम इस लिए विरोध नहीं करेंगे कि, इन की इन व्याख्याओं से नैगमिक आम्नाय का कुछ भी तो बनता बिगड़ता नहीं। अज्ञ कौन, और कर्मसङ्गी कौन ?, प्रश्न का समन्वय कर लीजिए, समाधान हो जायगा। निगमशास्त्र का विरोधी, किंवा निगमशास्त्र को कुछ न जानने वाला, एवं अपनी कल्पना से ही काल्पनिक मनमाने कर्म में प्रवृत्त होने वाला मानव क्या 'अज्ञ और कर्मसङ्गी है'। यदि ऐसा होता, तो अवश्य ही अर्वाचीन व्याख्याताओं की, पश्चिमानुगता 'अच्छे-बुरे' की परिभाषा \* को मान्यता प्रदान करने वाले भारतीयों की मान्यता का हम भी लोकसंग्रहदृष्ट्या समादर कर लेते। किन्तु तथ्य है कुछ और ही। जिन्होंने स्वयं निगमशास्त्र का विधिपूर्वक स्वाध्याय न कर केवल उपदेश श्रवण के आधार पर निगमशास्त्रीय कर्मों पर अड्डा कर ली है, एवं जिन भारतीय स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धुओं को निगमशास्त्र-स्वाध्याय का उत्तरदायित्व तो प्राप्त नहीं है, किन्तु हैं नैगमिक पारम्परिक कर्मों के जो समर्थक, ऐसी दोनों श्रेणियों को ही हम यहाँ 'अज्ञकर्मसङ्गी' कहेंगे। प्रथमश्रेणि अपूर्ण-अर्द्ध-ज्ञानात्मक अज्ञानभाव से- 'अज्ञ' है, द्वितीय श्रेणि सर्वथा ज्ञानभाव से 'अज्ञ' है। किन्तु हैं दोनों ही श्रेणियाँ निगमशास्त्र पर, तदाम्नायसिद्ध कर्म पर आस्था अड्डा रखने वाली। श्रौतस्मार्त्त-वैधविधि से दोनों ही श्रेणियाँ नैगमिक कर्मानुगमन में असमर्थ हैं। किन्तु आस्थाभ्रष्टा के आकर्षण से 'अज्ञ पुरुषवर्ग भी श्रौतस्मार्त्त कर्मों का अनुष्ठान करने लगते हैं, एवं अनधिकृत स्त्रीशूद्र-वर्ग भी श्रौतस्मार्त्ताम्नायानुगत चान्द्र-पितृकर्मों के प्रवृत्त रहता है। दोनों ही अज्ञ, दोनों ही कर्मसङ्गी, दोनों ही निगमशास्त्र के प्रति आस्था भ्रष्टा रखने वाले। यहाँ इन दोनों के सम्बन्ध में ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, क्या इन

\* 'सम् थिंग् इज़ बेटर-दैन्-नर्थिंग' (Something is better than nothing) न करने से कुछ तो भी करना अच्छा है।



दोनों का इस अवेध ( यथापद्धतिपूर्वक न किए जाने वाले ) कर्म से कुछ उपकार सम्भव है ? । यह स्मरण रहे कि, ये दोनों ही श्रेणियाँ श्रौतस्मार्त आम्नायमिद श्रौतसूत्र-गृह्यसूत्रादि पद्धतियों के प्रति ही आस्थाश्रद्धा रखती हैं । अभिनिविष्ट वेदभक्तों की भाँति इनकी पद्धतियाँ कोई नवीन नहीं हैं । अपितु प्रथमश्रेणि पद्धति का स्वरूप यथावत् जानती नहीं, द्वितीय श्रेणि श्रौतस्मार्तपद्धति के अनुसार कर्म कर सकती नहीं । इसी दृष्टि से इन दोनों को अज्ञ कहना अन्वर्थ यनता है । उपकार-अपकार की मीमांसा करना तो लोकसंग्रह का विघात ही माना जायगा ।

वस्तुतस्तु यदि देवयुग में दर्मांतरण से पूर्व वेदि के स्पर्शमात्र से इष्टकामसिद्धि के स्थान में यज्ञ इष्टविनाशक बन जाता है, तो पद्धतिपूर्वक न किया जाने वाला श्रौतस्मार्तकर्म कदापि अभ्युदय का साधक नहीं माना जा सकता । 'जहाँ लाभ नहीं, वहाँ हानि निश्चित है' इस लोकसूत्र के अनुसार यदि अभ्युदयात्मक उपकार नहीं, तो प्रत्ययारूप अपकार निश्चित है । इस सम्बन्ध में तो हमें यह भी स्पष्ट कर देने में कोई संकोच नहीं है कि 'अतिथि को निमन्त्रण न देना उत्तम पक्ष है । किन्तु निमन्त्रण देकर उसके स्वरूप के अनुरूप आतिथ्य न करना सर्वनाश का ही कारण है । 'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्' \* के अनुसार यदि केवल मन्त्रोच्चारण से सम्बन्धित उदात्त-अनुदात्तादि स्वरों में भी खलन हो जाता है, तो यज्ञकर्म अभ्युदय के स्थान में नारा का ही कारण बन जाता है । अतएव प्रथमश्रेणि के अज्ञवर्गात्मक पद्धतिविरुद्ध कर्मानुष्ठाता यजमान, तथा पुरोहित, दोनों का ही सर्वनाश विनिश्चित माना जायगा । एवं इस विषय में कभी प्रथमश्रेणि-सम्बद्धा अज्ञतामूला कर्मसंज्ञिता क्षम्य न मानी जायगी । कदापि अज्ञानमूलक, अतएव पदे पदे खलित कर्मकारण का कभी लोकसंग्रहधिया समर्थन नहीं किया जायगा, नहीं किया जायगा \* । हमारी नहीं, अपितु शास्त्र की यह निश्चित धारणा है कि, भारतवर्ष की आस्था-श्रद्धाशीला आस्तिक प्रजा का अहोरात्र 'उर्म-धर्म' की घोषणा करते हुए भी, ग्रामे ग्रामे नगरे नगरे स्थाने स्थाने निरन्तर यज्ञोत्सवानुगमन करते हुए भी, देवपितृकार्यानुगमन करते हुए भी दिन दिन जो पराभूति अश्रद्धा, दीनता होती जा रही है, उसका एकमात्र कारण अज्ञतामूला कर्मसंज्ञिता ही माना जायगा । आस्तिक प्रजा की आस्था श्रद्धा का जहाँ हम अभिनन्दन करेंगे, वहाँ इतकी अज्ञतामूला कर्मानुगति को हम भव्यात्मना घातक ही उद्घोषित करेंगे, फिर चाहे लोकसंग्रह सुरक्षित रहे, स्वरक्षितमात्र रहे, अथवा तो अरक्षित । ( देखिए शतपथब्राह्मण १।२।३।२६ ) ।

\* द्रष्टव्यः—स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।

स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः ( वृत्रः ) स्वरतोऽपराधात् ॥

× ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत, नाज्ञात्वा कर्म आचरेत् ।

अज्ञानेन प्रवृत्तस्य स्पलनं स्यात् पदे पदे ॥

दूसरा अज्ञ-कर्मसङ्गीतार्ग है स्त्री, शुद्र, एवं द्विजवन्धुवर्ग । इसकी अज्ञता का मूल है श्रौतस्मार्त वैध पद्धतियों में इनका अनधिकार । अतएव इन्होंने अपनी मान्यताओं के अनुसार (किन्तु निगमाम्नाय के विरोध में न जाने वाली आस्था तथा भद्रा के आधार पर) जो कर्मसङ्गिता परम्परया स्वीकृत कर ली है, वह अवश्य ही लोकसमूहधिया अलौकिक लोकमान्य के द्वारा परोक्षरूपेण-तटस्थरूपेण अनुमोदनीया मानी जा सकती है । नैगमिक आम्नाय की पारम्परिक प्रतिच्छाया से अनुप्राणित गृहपितरतृप्तिसंसाधिका लौकिक-पार्थिव-भौम-गृहपितरस्वरूपानुगता महासङ्गीतनियन्धना ( निगमाम्नायसम्मत देवभाषापत्र लोकगीतसमन्विता ) पितृस्वरूपनिबन्धन श्वेतस्तव्यस्त्र-धूमाकपिलागोधुग्धद्वारा निष्पन्न क्षीरात्रादि परि-महसमन्विता अमावास्यात्मकरात्रिजांगरणात्मिका गृहपितरकर्मसङ्गिता इसलिए लोकसमूहधिया स्त्रीवर्ग की मान्य मान ली जायगी कि, इसका शरीरानुगता केवल मानसी यद्वात्मिका मान्यता से ही सम्बन्ध है, जिससे इस निगमाम्नायानुशयानुप्राणित लोकमान्यता से पारिवारिक स्वस्तिभाव सुरक्षित रहता है । यहाँ लोकेष्टतासाधनता के अतिरिक्त किसी अनिष्टता का समावेश नहीं है । दूसरे शब्दों में 'थाँ जीम्याँ स हारो मन मर जाय' ही यहाँ कर्मसङ्गिता का फल है, जिसे निगम ने 'स्वस्त्ययन-कर्म' रूप से इष्टसाधक ही घोषित किया है + । इसी प्रकार स्त्री-शुद्र-द्विजवन्धुवर्गत्रयी के अन्यान्य स्वस्तिभावात्मक आगमानुमोदित-मानमभाषानुगत अश्वत्थ-यट-वित्थ-तुलसी-सिद्धन, कर्त्तिक-नाचादि-स्तान-आगमानुगत प्रदोष-अष्टमी-नवमी-चतुर्दशी-शिवरात्रि-नवरात्र-पूर्णिमा-आदि व्रतानुष्ठान, सूर्य्या-वर्षप्रदानादि कर्म शालमानशिलादर्शन-शिवदर्शन-नर्मदागङ्गायमुनास्नान-दिव्यप्राणतिशयानुप्राणित पुष्कर-कुरुक्षेत्र-गालवाभ्रम-बदरिकाभ्रम-आदि तीर्थानुगमन-आम्नायानुगत दासभावता से असंस्पृष्ट केवल भगवन्महिमावर्णनात्मक स्तुतिगान-आदि आदि स्वस्त्ययनात्मक कर्म भी इस अज्ञ-अनधिकृतत्रयी के लोकसमूहधिया मान्य कहे जा सकेंगे । क्योंकि केवल मन-शरीरानुबन्धी स्वस्तिभावात्मक इन कर्मों से इष्ट ही सम्भावित बना रहता है यदि आस्था अज्ञा है, तो ।

उक्त दृष्टि से अब हम 'अज्ञकर्मसङ्गी' के तीन श्रेणिविभाग मान लेंगे, जिन तीनों में ही निगमाम्नायानुगता आस्था-भद्रा का समावेश है । एक वैसा अज्ञकर्मसङ्गी-वर्ग माना जायगा, जो आस्था-भद्राशील 'द्विजाति' है, अतएव श्रौतस्मार्त सौर दिव्यकर्म (यज्ञ) का अधिकारी है । किन्तु स्वयं न तो वह इस वैदिक कर्म का रहस्य ही जानता, न पद्धति से ही परिचय रखता । अपितु अपने आवेश से-भद्रावेश से-अपने सदृश ही योग्यता रखने वाले पुरोहितों के सहयोग से श्रौतस्मार्त कर्मों में

८ असंख्य स्वस्त्ययनात्मक मान्यतात्मक लौकिक नैगमिक कर्मों में से कुछ एक स्वस्त्ययनकर्मों का स्वरूप-उपपत्तिपूर्वक गीताभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड के तृतीय 'ग' विभाग के 'स्वस्त्ययनकर्मपरि-गणना' नामक अचान्तर प्रकरण में द्रष्टव्य है ।

प्रवृत्त हो जाता है। निश्चयेन ऐसे यज्ञकर्त्ता यजमान का, तथा यज्ञकरयिता पुरोहित का, दोनों का अनिष्ट अनिवार्य बन जाता है। ऐसे अज्ञकर्मसङ्गी में तो बुद्धिभेद अवश्य हो उत्पन्न करा देना चाहिए, जिससे यह धर्म अनिष्ट से बचा रह जाय। हाँ, यदि अज्ञकर्मसङ्गी यजमान को विज्ञ कर्मठ पुरोहित सौभाग्य से उपलब्ध हो जाय, तो इसके द्वारा ऐसे अज्ञकर्मसङ्गी यजमान का भी कर्म विज्ञ ऋत्विजों के देवयजनात्मक अनुग्रह \* से इष्टसाधक बन जाता है। एवं ऐसे यजमान-अज्ञकर्मसङ्गी यजमान-के सम्बन्ध में विज्ञ ऋत्विक् के माध्यम से 'न बुद्धि भेदं जनयेत्' इत्यादि आदेशा समन्वित हो जाता है।

दूसरा अज्ञकर्मसङ्गी-धर्म निगमान्नायपरायण परिवारों का भीतस्मार्चानधिकृत कुलस्त्रीवर्ग है। यदि इसकी मान्यताएँ, कर्मसङ्ग (लौकिक स्वस्त्ययनकर्म) नैगमिक आम्नाय के विरोध में नहीं जाता, तो इनकी सब मान्यताएँ लोकसंग्रहधिया परोक्षरूपेण मान्य हैं। तीसरा धर्म द्विजबन्धु (यथाजल-संस्कारशून्य-निरक्षरमूर्खन्य ब्राह्मण-कृत्रिय-वैश्य), तथा शूद्रवर्ग का है, जिसकी नैगमिक आम्नाय के संरक्षण के लिए ही पुराणपुरुष के द्वारा 'आर्य्यसर्वस्वसंहिता' (पुराणसंहिता) का आविर्भाव हुआ है। इन दोनों अज्ञकर्मसङ्गी-धर्मों की मान्यता भी लोकसंग्रहरूपेण संग्राह्या मानी जा सकती है। एवं यहाँ आकर 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' के अनुसार तीन के स्थान में चार अज्ञ-सङ्गीवर्ग प्रस्तावित हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

अज्ञसङ्गी-धर्मचतुष्टयपरिलेखः—

- १—विज्ञऋत्विग्युक्तः—द्विजातिर्यजमानः—अज्ञः कर्मसङ्गी—लोकमान्यः
- २—अविज्ञपुरोहितयुक्तः—द्विजातिर्यजमानः—अज्ञतमः कर्मसङ्गी-उपेक्षणीयः
- ३—लोकान्नाययुक्तः—शूद्राः-द्विजबन्धवश्च-अविज्ञातः कर्मसङ्गी-लोकसंमाद्यः
- ४—कुलान्नाययुक्तः—कुलस्त्रीवर्गः—अविज्ञानः कर्मसङ्गी-लोकानुगतः

— x —

\* "ऋत्विजो ह वै देवयजनम्। ये ब्राह्मणाः शुभ्रवांसोऽनुचाना विद्वांसो याजयन्ति (यजमानं-अज्ञं कर्मसङ्गिनम्), सैव 'अह्वला' (वैधकर्मणः साङ्गोपाङ्गपरिपूर्णता)। तन्नेदिष्टामिव मन्यामहे" (शत० ब्रा० ३।१।१।१)।

÷ आख्यानैथाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कल्पशुद्धिभिः।

'पुराणसंहिता' चक्रे भगवान् वादरायणः ॥

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिमोचरा। (तेषामेवैतन् पुराणशास्त्रम्)।

दूसरा अङ्ग-कर्मसङ्गीवर्ग है स्त्री, शूद्र, एवं द्विजवन्धुवर्ग। इसकी अङ्गता का मूल है श्रौतस्मार्त वैध पद्धतियों में इनका अन्तर्धार। अतएव इन्होंने अपनी मान्यताओं के अनुसार (किन्तु निगमात्मनाय के विरोध में न जाने वाली आस्था तथा श्रद्धा के आधारपर) जो कर्मसङ्गिता परम्परया स्वीकृत कर ली है, वह अवश्य ही लोकसंग्रहधिया अलौकिक लोकमानव के द्वारा परोक्षरूपेण-तटस्थरूपेण अनुमोदनीया मानी जा सकती है। नैगमिक आत्मनाय की पारम्परिक प्रतिच्छाया से अनुप्राणित गृहपितरतृष्टिसंसाधिका लौकिक-पाथिव-भौम-गृहपितरस्वरूपानुगत महासङ्गीतनिबन्धना, (निगमात्मनायसम्मत देवभावापन्न लोकगीतसमान्यता) पितृस्वरूपनिबन्धन स्वैत्तरक्तवस्त्र-धूम्राकपिलागोधुग्धद्वारा निष्पन्न क्षीरान्नादि पारि-प्रदसन्धिता अमावास्यात्मकरात्रिजंगरणात्मिका गृहपितरकर्मसङ्गिता इसलिये लोकसंग्रहधिया स्त्रीवर्ग की मान्य मान ली जायगी कि, इसका शरीरानुगत केवल मानसी श्रद्धात्मिका मान्यता से ही सम्बन्ध है, जिससे इस निगमात्मनायानुशायानुप्राणित लोकमान्यता से पारिवारिक स्वस्तिभाव सुरक्षित रहता है। यहाँ लोकेष्टतासाधनता के अतिरिक्त किसी अनिष्टता का समावेश नहीं है। दूसरे शब्दों में 'थौं जीम्यां स द्वारो मन भर जाय' ही यहाँ कर्मसङ्गिता का फल है, जिसे निगम ने 'स्वस्त्ययन-कर्म' रूप से इष्टसाधक ही घोषित किया है + । इसी प्रकार स्त्री-शूद्र-द्विजवन्धुवर्गत्रयी के अन्यान्य स्वस्तिभावात्मक आगमानुमोदित-मानसभायानुगत अश्वत्थ-यट-विल्व-तुलसी-सिञ्चन, कार्तिक-भाषादि-रान-आगमानुगत प्रदोष-अष्टमी-नवमी-चतुर्दशी-शिवरात्रि-नवरात्र-मूर्खिमा-आदि प्रतीनष्टान, सूर्यार्ध्वप्रदानादि कर्म शालमानशिलादर्शन-शिवदर्शन-नर्मन्वागन्नायमुनास्तन-दिव्यप्राणायामानुप्राणित पुष्कर-कुसुमेत्र-गालवाश्रम-वर्दार्काश्रम-आदि तर्धानुगमन-आत्मनायानुगत दासभावना से अमंस्पृष्ट केवल भगवन्महिमावर्णनात्मक स्तुतिगान-आदि आदि स्वस्त्ययनात्मक कर्म भी इस अङ्ग-अनधिकृतत्रयी के लोकसंग्रहधिया मान्य कहे जा सकेंगे। क्योंकि केवल मनःशरीरानुबन्धी स्वस्तिभावात्मक इन कर्मों से इष्ट ही सम्भावित बना रहता है यदि आस्था श्रद्धा है, तो।

उक्त दृष्टि से अब हम 'अङ्गकर्मसङ्गी' के तीन श्रेणिविभाग मान लेंगे, जिन तीनों में ही निगमात्मनायानुगत आस्था-श्रद्धा का समावेश है। एक वैसा अङ्गकर्मसङ्गी-वर्ग माना जायगा, जो आस्था-श्रद्धाशालि 'द्विजाति' है, अतएव श्रौतस्मार्त सौर दिव्यकर्म (यज्ञ) का अधिकारी है। किन्तु स्वयं न तो वह इस वैदिक कर्म का रहस्य ही जानता, न पद्धति से ही परिचय रखता। अपितु अपने आवेश से-श्रद्धावेश से-अपने सदृश ही योग्यता रखने वाले पुरोहितों के सहयोग से श्रौतस्मार्त कर्मों में

+ असंख्य स्वस्त्ययनात्मक मान्यतात्मक लौकिक नैगमिक कर्मों में से कुछ एक स्वस्त्ययनकर्मों का स्वरूप-रूपरूपपूर्वक गीताभाष्यभूमिका द्वितीयखण्ड के तृतीय 'ग' विभाग के 'स्वस्त्ययनकर्मपरि-गणना' नामक अन्तर्गत प्रकरण में द्रष्टव्य है।

प्रवृत्त हो जाता है। निश्चयेन ऐसे यज्ञकर्त्ता यजमान का, तथा यज्ञकारयिता पुरोहित का, दोनों का अनिष्ट अनिवार्य बन जाता है। ऐसे अज्ञकर्मसङ्गी में तो बुद्धिभेद अवश्य ही उत्पन्न करा देना चाहिए, जिससे यह धर्म अनिष्ट से बचा रह जाय। हाँ, यदि अज्ञकर्मसङ्गी यजमान को विज्ञकर्मठ पुरोहित सौभाग्य से उपलब्ध हो जाय, तो इसके द्वारा ऐसे अज्ञकर्मसङ्गी यजमान का भी कर्म विज्ञ ऋत्विजों के देवयजनात्मक अनुग्रह से इष्टसाधक बन जाता है। एवं ऐसे यजमान-अज्ञकर्मसङ्गी यजमान-के सम्बन्ध में विज्ञ ऋत्विक् के माध्यम से 'न बुद्धि भेदं जनयेत्' इत्यादि आदेश समन्वित हो जाता है।

दूसरा अज्ञकर्मसङ्गी-धर्म निगमाम्नायपरायण परिवारों का श्रौतस्मार्त्तानधिकृत कुलस्त्रीधर्म है। यदि इसकी मान्यता, कर्मसङ्ग ( तौष्टिक स्वस्त्ययनकर्म ) नैगमिक आम्नाय के विरोध में नहीं जाता, तो इनकी सब मान्यताएँ लोकसंग्रहप्रिया परोक्षरूपेण मान्य हैं। तीसरा धर्म द्विजबन्धु ( यथाजात-संस्कारशून्य-निरक्षरमूर्ख न्य ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य ), तथा शूद्रधर्म का है, जिसकी नैगमिक आम्नाय के संरक्षण के लिए ही पुराणपुरुष के द्वारा 'आर्य्यसर्वस्वसंहिता' (पुराणसंहिता) का आविर्भाव हुआ है। इन दोनों अज्ञकर्मसङ्गी-धर्मों की मान्यता भी लोकसंग्रहरूपेण संप्राप्ता मानी जा सकती है। एवं यहाँ आकर 'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्' के अनुसार तीन के स्थान में चार अज्ञ-सङ्गीधर्म प्रमाणित हो जाते हैं, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

अज्ञसङ्गी-धर्मचतुष्टयपरिलेखः—

- १—विज्ञऋत्विग्युक्तः—द्विजातिर्यजमानः—अज्ञः कर्मसङ्गी—लोकमान्यः
- २—अविज्ञपुरोहितयुक्तः—द्विजातिर्यजमानः—अज्ञतमः कर्मसङ्गी-उपेक्षणीयः
- ३—लोकाम्नाययुक्तः—शूद्राः-द्विजबन्धवश्च-अविज्ञातः कर्मसङ्गी-लोकसंप्राप्तः
- ४—कुलाम्नाययुक्तः—कुलस्त्रीधर्मः—अविज्ञानः कर्मसङ्गी-लोकानुगतः

— x —

\* “ऋत्विजो ह वै देवयजनम्। ये ब्राह्मणाः शुश्रूषांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति (यजमानं-अज्ञं कर्मसङ्गिनम्), सैव 'अह्वला' ( वैधकर्मणः साङ्गोपाङ्गपरिपूर्णता )। तन्नेदिष्टामिव मन्यामहे” ( शत० ब्रा० ३।१।१।१। )।

÷ आख्यानैवाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कम्पशुद्धिमिः।

'पुराणसंहिता' चक्रे भगवान् बादरायणः ॥

स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां त्रीणि न श्रुतिगोचरा। ( तेषामेवैतत् पुराणशास्त्रम् )।

चारों में १-३-४, ये तीन वर्ग लोकसंग्रह, एवं द्वितीय वर्ग सर्वात्मना आलोच्य-एवं उपेक्षणीय, यह निष्कर्ष निकला पूर्व के सन्दर्भ का। इस प्रकार चारों में तीन वर्ग ही 'न बुद्धि भेदं जनयेत्' इत्यादि भगवद्देश के लक्ष्य माने जायेंगे। मनःशरीरानुगता जिस मान्यता का (निगमाम्नायपरम्परा-नुप्राणिता आस्थाश्रद्धायुक्ता मान्यता का) अज्ञकर्मसंज्ञी त्रिविध वर्ग की अपेक्षा से जिस लोकसंग्रह का आदेश दिया, उस लोकसंग्रह का नैगमिक मर्म ही, नैगमिक आम्नाय ही भगवान् की दृष्टि में लोक-संग्रह माना जायगा। अन्योन्य क्षेत्रों की भाँति इस लोकमान्यता क्षेत्र में भी वर्तमान युग में जो नैतिक पतनानुगता स्वतन्त्रपरम्पर हैं (सर्वथा कल्पनिक, किंवा दूषित निगमविरुद्ध कल्पनाएँ) प्रविष्ट हो गई हैं, उनके प्रति भी लोकसंग्रह उसी प्रकार सर्वथा उपेक्षणीय ही माना जायगा, जैसा कि अविज्ञ पुरोहितयुक्त अज्ञतम कर्मसंज्ञी वर्तमान युग के अवैध श्रौतस्मार्त्तिकर्मानुगत द्विजातिव्रजमान की मान्यता सर्वथा उपेक्षणीय ही मानी गई है।

चान्द्र-पार्थिव-रौद्र-सर्गनिबन्धन भूतप्रेतावेशलक्षण-परकायप्रवेशात्मक-मानसिक मान्यता-भावों का जिस स्त्रीशूद्रद्विजवन्धुवर्गव्रयी की मान्यता से पूर्व में सम्बन्ध बतलाया गया है, इस मान्यता के माध्यम से इस वर्गव्रयी में व्यसंख्य कल्पनाभावों का समावेश हो गया है। साधारण सा ज्वरांश, अक्षुब्ध-साधारण रक्तचापानुगत उत्तेजन, हृदयदैर्घ्यानुगता मूर्च्छा, आदि आदि मानसिक-शारीरिक रोग भी आज दुर्भाग्यवश अपठित स्त्री-शूद्र-द्विजवन्धु-परि-चारों में 'भूतप्रेतवाधा' नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। बड़े बड़े दीनकर्मा कृत्स्तिवृत्तिपरायण-भाड़ा-हूँ का करने वाले आसुर मानवाधम परप्रतारणा-परव्यामोहनमात्र के लिए शिर-हस्त-पादादि के विकम्पन पूर्वक-"आँ-आँ-हूँ-हूँ-हा हा-ही ही-लेना लेना-पकड़ना पकड़ना-बांध दे लटकादे-मारो मारो-खाऊँ गा-लेजाऊँ गा-नहीं छोड़ूँ गा-बकरा लाओ-मदिरा लाओ-रत-जगा फो-भेट धरो-चौराहे में कलसी रखो-श्मशान में भूत को तृप्त करो" इत्यादि घोषणा करते हुए नितान्त अज्ञों का विमोहन करते रहते हैं। पुत्रपत्नी-वित्तपत्नी-लिप्सु अज्ञजन, अज्ञ-स्त्रियाँ अधिकांश में एवंविध नीचकर्म प्रतारकों के द्वारा अहर्निश प्रतारित होते हुए अपना सर्वनाश कराते रहते हैं। काय-शिर-ग्रीवा-विकम्पनकुशल ये घुड़ले, डोरा-डॉँडाबन्धननिपुण ये प्रेतविद्याविशारद, नानाविध उच्चालतरङ्गायिता ये जीवित भूतनियाँ, इनको वश में करने वाले ये सिन्दूरललाटी घृष्टितनेत्र महायमाङ्गलिक पिशाचाकृतितृष्ट नराधमसिद्ध (श्यामा-भोपा-आदि नामों से अज्ञप्रजा में प्रसिद्ध) आज अन्तकर्मसङ्घियों की भावुकता से अनुचित लाम उठाते हुए भारतीय नैगमिक लोकाम्नाय की ओर सहज श्रद्धालुवर्ग की श्रद्धा को उत्तरोत्तर स्वलित करने के जघन्य कर्म का अनुगमन कर रहे हैं। आस्तिक लोकवेदा को सदा संतर्क-रावधान गटना चाहिए इन प्रतारकों से, एवं इनकी प्रतारणाओं से। मान्यता बही अनुगमनीया बननी

बनानी चाहिए इस प्रजावर्ग को, जिसका आधार निगमाम्नाय है। अतएव जो बिना किसी जयन्त्य-हीन-कुत्सित प्रवृत्ति के सहजरूप से मान्यता का संरक्षण करती हुई स्वस्तिभावापन्ना ही बनी हुई है। जहाँ जिस परिवार में निगमाम्नायनिष्ठ देवभावापन्न श्रौत पुरुष सञ्चालक-नेता-नायक हैं, वहाँ प्रथम तो चान्द्री भूतवाधा का अवसर ही नहीं है। यदि पारिवारिक भावुक स्त्री-बालवृन्द के स्खलन से काचित्क कहीं कभी भूतवाधा का आक्रमण हो भी जाता है, तो निगमोक्ता ( अथर्ववेदीया घोराङ्गिरा ) विद्या-देवविद्या से तत्क्षण ऐसी तात्कालिक भूतवाधा उपशान्त हो जाती है। अन्य कोई नैगमिक उपाय उपलब्ध न भी हो, तो आगमीय केवल आत्मशक्ति के संस्मरण \* से राक्षस भूतात्मा तत्क्षण पलायित हो जाते हैं, निश्चयेन पलायित हो जाते हैं। ऐतरेय-शाङ्खायनादि ब्राह्मणग्रन्थों में, विशेषतः उपासनाकाण्डप्रधान तैत्तिरीयारण्यकग्रन्थ में मानस-मान्यतानुबन्धी असंख्य नैगमिक उन प्रकारों का सहजभावेन स्पष्टीकरण हुआ है, जो नैगमिक विद्वानों के द्वारा स्वतन्त्र 'संग्रहग्रन्थ' रूप से समाजानुबन्धी सामूहिक लोकाभ्युदय के लिए शीघ्र अभिव्यक्त हो जाने चाहिए।

बुद्धिभेदसंरक्षणात्मक 'लोकसंह' के प्रसङ्ग में इस चतुर्थ स्थानीय 'लोकमानव' के विभेदण में हमें इस लिए विशेष आवेदन करना पड़ा कि, अपने मुक्त जीवन में हम स्वयं 'लोकसंह' माध्यम से तथाविध उन प्रतारकों का सम्मान करते रहे हैं, जो वस्तुतः 'वाङ्मात्रेणापि नाच्येत्' रूप से वाणी-सम्मान के भी पात्र नहीं हैं। युगधर्मानुसार प्रत्यक्ष में हम उन प्रतारकों का लोकसंहधिया सम्मान करते रहे इसलिए कि, दुष्टबुद्धि के अन्तिम परिणाम को जानते हुए भी भारतीय आम्नाय में अपनी शिष्टता के स्वरूप संरक्षण के लिए अन्तिम क्षणपर्यन्त उस के स्वरूपोद्बोधन के लिए उसका बुद्धिभेद संरक्षण शिष्टपरम्परा-सम्मत माना गया है। भगवान् कृष्ण का आततायी दुष्टबुद्धि दुर्व्योधन को अन्तिमक्षण पर्यन्त उद्बोधन कराने का प्रयत्न करना, बैरा ( शिशुपाल ) की असुरसंख्यासन्मित नवतीर्तव ( ६६ ) परुषवाणी की उपेक्षा करते रहना, आदि निदर्शने ही अत्र प्रमाणम्। किन्तु उस पूर्वयुग में, तथा वर्तमान नितान्त म्लित युग में अहोरात्र का व्यवधान हो गया है। अतएव वर्तमान युग में उस भूतयुगानुगता शिष्ट मान्यता का नितान्त अशिष्ट-अशुचि-अमद्र-अमहल-भावापन्न होना-

\* स्थाने हर्षिकेश ! तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रवांसि भूतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥ ( गीता-११।३६। )

इस श्लोक को भूर्जपत्र पर लिख कर प्रीया में बांध देने मात्र से बघों का 'कुम्भपुरास' ( कुरकुरासी-वाली खाँसी ) अविलम्ब स्मृतिगर्भ में विलीन होती देखी गई है।

कर्मा निष्कृष्टकर्मा स्वस्त्ययनकर्मपराङ्मुख—शील—विनय—सौजन्यादि सद्गुणबहिर्मुख श्रमा-  
 द्वालक वेशमूपापरायण—उद्देगकरी अश्लीलभाषा के प्रयोक्त—निगमागमाम्नायविरोधी—सर्वज्ञान-  
 विमूढ—आसुरमानवों के लिए कोई महत्त्व शेष नहीं रह गया है। अब वैसे प्रतारक-  
 दम्भी—धनमानमदान्ध—लोकैषणालिप्सू निगमागमनाथ—विरोधी हीनकर्मा अज्ञ कर्मसङ्घियों के  
 सम्बन्ध में 'लोकसंग्रह' जैसे शिष्ट-पावन आदेश का स्वप्न में भी उपयोग नहीं करना चाहिए,  
 नहीं करना चाहिए नैगमिक शिष्ट श्रेष्ठ मानवों को। लक्ष्मीभूत मानव की आभ्यन्तर-बाह्य-  
 स्थिति-परिस्थिति का आमूलचूड़ अन्वेषण करते हुए आस्थाश्रद्धा की अनुगति उपलब्ध होने पर  
 ही निगमागमनाथपरायण उन मानवों की मान्यता का ही लोकसंग्रह होना चाहिए, जो स्वयं विज्ञ नहीं  
 हैं, अथवा तो अल्पज्ञ हैं, अकृतज्ञ हैं, साथ ही जिज्ञासा रखते हैं, इसे आस्था-श्रद्धापूर्वक प्रणतभाव  
 से अभिव्यक्त करते हुए जानना चाहते हैं निगमागमरहस्यों को आगमनायविधिपूर्वक। ऐसे अकृतज्ञ-  
 मन्द-जिज्ञासू मानव ही कृत्स्न नैष्ठिकों के द्वारा लोकसंग्रह माने जायेंगे। परप्रतारक वक्त्रकों की  
 सहज आसुरवृत्ति के पूर्णज्ञाता भगवान् को स्वयं ऐसी आराद्धा हुई होगी कि, कहीं उनके—  
 'न बुद्धिभेदं जनयेत्०' आदेश का यह अर्थ न लगा लिया जाय कि, एकहेलया वे सभी व्यक्ति  
 लोकसंग्रह हैं, जो निगमागमनाथ से विरोध करने हुए यथेच्छ कल्पित मान्यताओं से अपने आपको—  
 'कर्मवीर'—'कर्मठ'—'निष्कानकर्मयोगी' घोषित करते हुए विश्वस्त्य के निमित्त बने हुए हैं। इसी  
 लिए भगवान् को अन्यत्र इस 'लोकसंग्रह' आदेश का पूर्वाक्त नैगमिक दृष्टिकोण के माध्यम से निम्न  
 लिखित रूप से स्पष्टीकरण करना पड़ा। श्रवणाम् !

१-सक्ताः कर्मण्यविदांसो यथा कुर्वन्ति भारत !

कुर्याद्विदांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥

२-न बुद्धिभेदं जनयेद्भानां कर्मसङ्गिनाम् !

जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन् ॥

३-प्रकृतेर्गुणमम्बुदाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।

"नानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविष विचालयेत्" ॥

—गता २१२५, २६, २६।

प्रवृत्तमनुसरामः। मानव के चतुर्थ मांथानरूप 'लोकमानव' का क्रमसिद्ध प्रमङ्ग प्रक्रान्त है,  
 जिस के मध्य में ही प्रमङ्गस्थिता उपात्त 'लोकसंग्रह' की सीमांसा का स्पष्टीकरण करना पड़ा। अब  
 पुनः प्रश्न की ओर लौकनिष्ठ मानवों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जैसा कि स्पष्ट किया गया  
 है, मानव के तीन अलौकिक स्थानों (शपि-पितृ-देवस्थानों) से ही मानव का प्रवृत्त चतुर्थ स्थान



( सांख्यसम्मत चतुर्दशविध भूतसर्ग के मध्य में प्रतिष्ठित रजोविशालसर्गात्मक मानवस्थान ) व्याख्यात वन रहा है । अपने गृहस्थानुबन्धी ब्राह्मणग्रन्थनिबन्धन कर्मकाण्ड में तत्पर देवमानव ( मुनिमानवरूप श्रेष्ठमानव ), वानप्रस्थानुबन्धी आरण्यकग्रन्थनिबन्धन उपासनाकाण्ड में आत्मपर पिहमानव ( यतिमानवरूप महामानव ), संन्यासानुबन्धी उपनिषद्ग्रन्थनिबन्धन ज्ञानकाण्ड में मत्पर अतिमानव ( अतिमानव ) अपने आश्रमानुगत इन तीनों संस्थानों में क्रमशः निष्ठापूर्वक आरुढ़ रहता हुआ \*‘लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुं प्रर्हास’ इस आदेश को शिरोधार्य कर केवल चान्द्र-पार्थिवसर्गनिबन्धात्मक—मनःशरीरमात्रपरायण—किन्तु आस्थाश्रद्धायुक्त—रजोविशालसर्गात्मक—निगम-परम्परानुशय से अनुप्राणित—एवं अज्ञ पूर्वोपवर्णित त्रिविधकर्मसङ्गी—यथाज्ञात लोकमानवों—एवं लोकमानवियों ( कुलस्त्रियों ) की आम्नायानुगता मान्यता के प्रति परोक्षरूप से लोकसंग्राहक बनता हुआ, स्वयंमपि बुद्धिभेदनियन्त्रणदृष्टि से गतानुगतिक बनता हुआ ही ‘लोकमानव’ कहलाएगा, यही इनका सच्चित् स्वरूपपरिचय माना जायगा, जिस स्वरूपपरिचय का इस लोकमानव के त्रिविध नैगमिक अलौकिक स्वरूपों के साथ यों समसम्बन्ध किया जासकेगा—

‘लोकमानव’ का अर्थ है—‘मनःशरीरमात्रानुगता सैय्यक्तिक-पारिवारिक-सामाजिक-तथा राष्ट्रिय नैगमिक मान्यताओं की अनुभूति-अनुमोदन-समर्थन- ( गतानुगतिकतारूप से अनुगमन भी ) करते हुए मान्यतासक्ति-मान्यताचर्चणा-घोषणा-व्युक्तिपूर्वक सहजरूप से सर्वथा परोक्षरूप से-अपनी आभ्यन्तर-आत्मा-बुद्धपनुगता संवित एवं निष्ठा पर आरुढ़ रहते हुए ( श्रौतस्मार्त्तान्नायपरायण ही बने रहते हुए ) केवल लोकसंग्रहबुद्धया प्रत्यक्ष में सर्वथा गतानुगतिक बने रहते हुए ( अपने आप को लौकिक-व्यावहारिक-सर्वसमानधर्मा ही प्रमाणित करने हुए ) यथाज्ञात कर्मसङ्गी लौकिक मानवों की मान्यता को क्रम क्रमशः नैगमिक निष्ठा की ओर आरुढ़ करने के लक्ष्य से अपने मनः-शरीरात्मक प्रज्ञानगर्भित भूतात्मा ( शारीरिक आत्मा-प्राणात्मा ) को ही लक्ष्य बनाए रखना” ।

यही इस लोकमानव का ‘मानवभाव’ है । एवंविध द्विजाति मानव ही ‘लोकेनेता’ है, ‘मानव’ है [ मनःशरीरानुगत-प्रज्ञानभूतात्मानुगत लोकनिष्ठ द्विजाति है ] । यहां इस मानव का सर्वाश्रमानुबन्धी सर्वायु से सम्बद्ध ( सम्पूर्ण जीवन से सम्बद्ध ) ‘चतुर्थस्थान’ है । यही त्रिःप्रजापतियों ( अश्वयत्मात्मक षोडशी, अक्षरात्मक षोडशकल, आत्मक्षरात्मक षोडशकलोपेत तीनों प्रजापतियों ) से गभित विकृति-क्षरलक्षण चान्द्र-तथा विकरलक्षण पार्थिव-प्रज्ञातात्मभूतात्मस्वरूप ‘विकृतिविकाररूप विश्वस्थान’ ( लोकस्थान ) है, जिसका सर्वभावपन्न-सर्वगुणात्मक चान्द्रपार्थिव ‘प्रज्ञानगर्भितभूतात्मा’ से ही सम्बन्ध माना गया है । प्रज्ञानगर्भित भूतात्मसम्बन्ध से ही यह लोकमानव लोकाम्नाय में ‘प्राज्ञ-मनीषी-महाप्राण-महासत्त्व’ आदि अभिधाओं से प्रसिद्ध हुआ है । यही चतुर्थ मानव ‘मानव’ अभिधा से मान्य घोषित हुआ है । एवंविध द्विजानिमानव को ही हम ‘लोकज्ञान्यु’ उपाधि से विभूषित कर सकते हैं । ऐसे ही त्रिःस्वरूपगर्भित श्रेष्ठमानव-अतिमानव-महामानवात्मक लोरुमानव के लिए पुराणपुरुष की यह घोषणा हुई है कि—

गुणं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि—

नहि “मानुषात् श्रेष्ठतरं ह किञ्चित्” ।

—महामातव

२-वेदान्तविज्ञानमुनिश्रितार्थाः संन्यासयोगात्-यतयः-शुद्धसत्त्वाः ।

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

—मुण्डकोपनिषत् ३।२।६।

३-अविमुक्ते प्रविष्टानां विद्वास्तु न विद्यते ।

यतिभिर्मोक्षकामैश्च अविमुक्तं निषेव्यते ॥

—मत्स्यपुराण १५६ अ० ।

४-यदक्षरं वेदविदो वदन्ति, विशन्ति यद्यप्यसौ वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तच्चे यदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥

—गीता ८।११।

( देखिए-पृष्ठसं० ३३७ )

—२—

(३)-देवमानवसंस्थासमर्थकानि-निगमागमवचनानि-

( क्षरात्मनिष्ठा देवाः )

१-एतेन वै अष्टरात्रेण देवाः ( प्राणरूपाः ) देवस्त्वमगच्छन् । देवस्त्वं गच्छति-  
यो यज्ञियमानवः-एवं वेद । ( ताण्ड्यमहाब्राह्मण २२।११।२,३, ) ।

२-आहुतिमिरेव देवान् प्रीणाति, दक्षिणाभिर्मनुष्यदेवान् ब्राह्मणाञ्छुभ्रुषुषोऽनू-  
चानान् । ( शत० २।२।२।६। ) । विद्वांसो वै-याज्ञिकाः-देवाः । ( शत० ३।७।३।१०। )

३-द्वया वै देवाः । देवा अहैव देवाः । अथ ये ब्राह्मणाः शुभ्रवृषांसोऽनूचानास्ते  
मनुष्यदेवाः । तेषां द्वेधा विभक्त एव यज्ञः । आहुतय एव देवानां, दक्षिणा  
मनुष्यदेवानां ब्राह्मणानां शुभ्रवृषामनूचानानाम् । त एतं ( यजमानं )  
उभये देवाः प्रीताः स्वर्गं लोकमभिवहन्ति । ( शत० ४।३।१।१। ) ।

( देखिए पृष्ठ सं० ३३८ ) ।

— x —

## (४) - पार्थिवमानवसंस्थासमर्थकानि - मिगमागमवचनानि ( विकृतिविकारनिष्ठा मानवाः )

\* १-बृहती इव स्रनवे रोदसी गिरो होता मनुष्यो न दत्तः ।

स्वर्गवे सत्यशुष्माय पूर्वी वैश्वानराय नृतमाय यद्भीः ॥ ( ऋक् १।५६।४ )

—मनुष्यो लौकिको वन्द्री दातारं बहुविधया स्तुत्या स्तौति-इति तद्रूपे सायणः-

२-“पद्भ्यां पृथिवी द्यौः सर्वभूतान्तरात्मा—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः-सोमात्-पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।

धुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसृताः ॥

सम्बत्सरं-चान्द्रं-यज्ञमानश्च-लोकाः-सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ।

तस्माच्च देवा बहुधा ( अष्टविधाः ) सम्प्रसृताः—

मनुष्याः-पशवो-व्यांसि-प्राणापानौ

ग्रीहियवौ

तपश्च भद्रां सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च” ।

—मुण्डकोपनिषत् २।१।

३-मादुषं ह वै नामैतद्यन्मानुषम् । तन्मादुषं ( निर्दुष्टं दोषरहितं ) सन्तं

‘मानुषं’ मित्याचक्षते । ( ताण्ड्यमहामा ० १।५।१२ ) ।

४-मनोर्वशा मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ।

ब्रह्मवैवर्तपुराणस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः ॥

—महाभारत १।७५।

— x —

\* यान्ति देवव्रता देवान्, पितृन् यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतेज्याः, यान्ति मद्याजिनोऽपि माध् ।

इन षतुविध मानवों को हम गौतमोपनिषत् परिभाषा के अनुसार क्रमशः ‘मद्याजीमानव, पितृयाजीमानव, देवयाजीमानव, भूतयाजीमानव’ इन नामों से भी व्यपहृत कर सकते हैं। स्वायम्भुव आत्मपरायण ऋषिमानव ही ‘मद्याजीमानव’ है। पारमेष्ठ्य पितृव्रत्यपरायण यतिमानव ही ‘पितृयाजीमानव’ है। सौर देययज्ञपरायण मुनिमानव ही ‘देवयाजीमानव’ है। एवं चान्द्रपार्थिव मृतपरायण (लोक-परायण) लौकिक मानव ही ‘भूतयाजीमानव’ है जैसा कि तालिका से स्पष्ट है—

चतुर्विधमानवसंस्थानपरिलेखः—सर्वसंग्रहात्मकः—(निर्माणमपराधभास्वतीयाद्विज्ञातिमानवस्य अवस्थाचतुष्टयी)

लघुविज्ञान

“चत्वारः पुंलिंगा इति वाच्यः”

१—	अन्यात्मरूपोदशीप्रजापति—लक्ष्मणः—स्वायम्भुवः—पुरुषात्मा—तदभिज्ञोऽर्तमानवः—संनगसी—ज्ञाननिष्ठः— प्रपितामहो लोकस्य-श्रुपिः—श्रुपिः (प्रथमस्थानः)।
२—	अक्षरात्मरूपोदशीप्रजापति—लक्ष्मणः—पारमेष्ठ्यः—महानासा—तदभिज्ञो महामानवः—धानप्रसू—तपोनिष्ठः— प्रपितामहो लोकस्य—यतिः—पिताः (द्वितीयस्थानः)।
३—	आत्मसारात्मरूपोदशीप्रजापति—लक्ष्मणः—सौरः—विज्ञानात्मा—तदभिज्ञः धेठमानवः—गृहस्थी—कर्मनिष्ठः— पिता लोकस्य—मुनिः—देवः (तृतीयस्थानः)।
४—	विकृतिविकारक्षाररूपमिश्र—लक्ष्मणः—चान्द्रपाथिभः—प्रज्ञानगमिभद्रभूतात्मा—तदभिज्ञो मातवः— सर्वाभ्ययी—लोकनिष्ठः—बन्धुलोकस्य—मानवः— चतुर्थस्थानः— सर्वस्थानो वा

लोकमानवः

अलौकिकमानवत्रयी

(१)—महापुरुषः—तस्यासायादित्यो रसः (श्रुतिमानवः—सर्वज्ञः)  
(२)—वैवपुरुषः—तस्यैतस्य भद्रा रसः (पितृमानवः—सुभाः)  
(३)—क्षन्द्पुरुषः—तस्यैतस्याकांरो रसः (देवमानवः—विक्रः)  
(४)—रासीरपुरुषः—तस्याहरीरः प्रज्ञात्मा रसः (मानवमानवः—ग्राहः)  
}—‘चतुष्टयं वा इदं सर्वम्’

‘चत्वारः पुंलिंगा’ इति वाच्यः (महापिः)—

‘श्रीरपुरुषः—क्षन्द्पुरुषः—वैवपुरुषः—महापुरुषः’ इति ।

—एतरेय आरण्यक ३।१।३।

‘मानव’ के चार स्थानविभागों के सम्बन्ध में, यद्यपि तालिका प्रदर्शिता भगवान् ऐतरेयसम्भता गैचतुष्टयी के अनन्तर अन्य नैगमिक प्रमाण अनपेक्षित है। तथापि निगमस्वाध्याय से धञ्चित, किन्तु प्रतारणामात्र के लिए निगमभक्तिप्रदर्शक अभिनिविष्ट निकृष्ट नर मातृकप्रजा में इस दृष्टिकोण से भी यमोद्भूत उत्पन्न कर सकते हैं। अतएव तन्मुखबन्धनाय यहाँ कुछ एक वैसे वचन उद्धृत कर दिए गते हैं, जिन से पूर्वोपवर्णित मानव के चारों संस्थान स्पष्टरूप से प्रमाणित हो जाते हैं।

## (१)–अपिमानवसंस्थासमर्थकानि–निगमागमप्रमाणानि–

( अथ्ययात्मनिष्ठा महर्षयः )

१–अपे मन्त्रकृतां स्तोमैः कस्यपोढर्द्धयन् गिरः ।

सोमं नमस्य राजानं यो जज्ञे वीरुषां पतिः॥ ( ऋक्सं० ६।११४।२। ) ।

२–यो वै ज्ञातोऽनूचानः, स ऋषिरार्षेयः ( शत० ४।३।४।१६। )–ऐते वै विप्राः, यद्-  
अपयः ( शत १।४।२।७। ) ।

३–सप्त–( अवान्तरविभागाः–अपीणाम् )–यथा—

“—प्रक्षपिं–देवपिं–महर्षिं–परमर्षयः ।

काण्डपिंश्च–श्रुतपिंश्च–राजपिंश्च” क्रमावराः ॥

—आगमः

४–लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकन्मपाः ।

छिन्नद्रौघा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

—गीता ४।२३।

( इति प्रमाण सम्बन्ध में देखिए पृष्ठसं० ३३७ )

—४—

## (२)–यत्तिमानवसंस्थासमर्थकानि–निगमागमप्रमाणानि–

( अक्षरात्मनिष्ठा यतयः )

१–तच्चा यामि सुवीर्यं तद्ब्रह्म पूर्वचिन्तये ।

येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्फुरवमाविध ॥

—अकर्म. ८।३।६।

## निगमागममान्यतानुगामी भारतीय मानव—

चतुःसंस्थान भारतीय द्विजाति मानव, तदनुगत वर्णशुद्ध, तदनुगता अवर्णचतुष्टयी के अन्त्यज-अन्त्यावसायी-दस्यू-श्लेच्छ, इन चार विभागों में से आदि के तीन भारतीय अवर्णविभाग निगमागमामान्यासम्मत लोकमान्यताओं के सम्पादक बनते हुए भी यदि वर्त्तमानयुग में मान्यताविरोधी वर्गों के समतुलन में दुःखी-दीन-हीन-से प्रतीत हो रहे हैं, तो यह मान्यता का अपराध नहीं माना जा सकता। इस सम्पूर्ण दयनीय दशा का एकमात्र उत्तरदायी है वह रात्र्यसत्तावन्त्र, जिसने अज्ञता से, किया स्वार्थसाधन के लिए भारतीय आस्तिक प्रजा की धार्मिक मान्यताओं को निगमागमामान्या से पृथक् कर दिया है। “राजा एष कालस्य कारणम्—इति ते संशयो माम्भूत्” (महाभारत)।

आपिपीलिकाभ्यः—कीटपतङ्गेभ्यः—अन्तःसङ्गसरवेभ्यः ( चींटी-कीट-पतङ्ग-वृषादि ) के लिए भी तुष्टि-तृप्ति के साधन-परिमह समुपस्थित करते रहने वाला आस्तिक भारतीय मानव, आनृशधर्म-परायण भारतीय हिन्दू मानव आज अपनी भूलान्नायप्रतिष्ठा ( वेदप्रतिष्ठा ) से रखलित होता हुआ, किया सत्तानुगत घातक राजनैतिकवन्त्र से लज्जयच्युत कर दिया हुआ आज अपनी शरीरयात्रा के निर्वाह में भी यों असमर्थ बन जायागा, यह क्या कम प्रायश्चित्त है इसके आम्नायविरोधरूप महतोमहीयान् पातक कर्म का ?।

## भारतीय मानव की शाश्वतनिष्ठा—

कोई इसे अन्ध अश्रद्धालु कह कर इसका उपहास कर रहा है, कोई इसे रुढिभक्त प्रमाणित कर रहा है, तो कोई विज्ञान-तर्क-युक्ति-हेतुवादशून्य निरस्तरमूर्द्धन्य। और यह सनातन भारतीय मानव सय आक्रोशों को अपनतशिरस्क बना रहता हुआ तूष्णी रूप से सहन करता हुआ नानो अपनी ‘वृक्ष इव स्तब्धः’ इस शाश्वतनिष्ठा को ही अभिव्यक्त कर रहा है। क्षणिकमदान्धजातियों प्रचण्डवेग से इस पर आक्रमण करती हुई कालान्तर में विनिष्ट होती रही। किन्तु यह अमृतपुत्र सनातन मानव अरसाखण्ड्य अपनी निष्ठा पर, आस्था-अद्धा पर हिमगिरिसम निश्चलता से निश्चल बना रहा, एवं निश्चल ही बना रहेगा, भले ही इसका वर्त्तमान विचलित माना जाता रहे। यह

( ३८० वें पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश )

- (१) स्वायम्भुव—अव्यमात्मपरायणाः—मद्व्रताः—मद्याजिनः
- (२) पारमेष्ठ्य—महानात्मपरायणाः—पितृवृताः—पितृयाजिनः
- (३) सौर—विज्ञानात्मपरायणाः—देवव्रताः—देवयाजिनः
- (४) चान्द्रपार्थिवः—प्रज्ञानभूतात्मपरायणाः—भूतव्रताः—भूतेज्याः

ठीक है कि, वर्तमानयुग के भौतिक-विज्ञानचक्रवर्त्य ने इसे कुछ समय के लिए प्रभावित कर लिया है। किन्तु जब भी यह अपने शाश्वत-नैगमिक विज्ञान की ओर, तद्गुण देवविद्या की ओर दैयानुग्रह से आकर्षित हो पड़ेगा, तत्क्षण आत्मबोधपथारूढ वरता हुआ यह इस प्रभाव से अपने आपको अहि-कञ्चुकित उन्मुक्त करता हुआ उभयलोक की समृद्धि-शान्ति का अनन्यभोक्ता बन जायगा, निश्चयेन बन जायगा, निकट भविष्य में ही बन जाने वाला है। अपनी विस्मृत उस ज्ञानविज्ञाननिधि की स्वाध्यायपरम्परा का अनुगमन करने के अव्यवहितोत्तर क्षण में ही यह भारतीय मानव उस 'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' का शाश्वत अधिकारी प्रमाणित हो जायगा, जिस नित्यविज्ञान का उपक्रम हुआ है 'वाग्ब्रह्म' से, एवं उपराम हुआ है—'प्राणब्रह्म' पर। यही प्राणब्रह्मात्मक प्राणविज्ञान इसे महा-प्राण बनाता हुआ इसे महाप्राणशक्ति से समन्वित कर देगा, जिसके अख्येय-अदाह्य-अवलेय-अशोष्य-सनातनस्वरूप से प्रत्याहृत होने वाली एक ही तटस्थ आलोचना नहीं, अपितु परमपरादर्भिता आलोचना-परम्परा भी इसकी मान्यता का यत्किञ्चिन् भी अहित न कर सकेगी, इसी मातृलिक सनातन भावना के माध्यम से अब तक के सन्दर्भ से परोक्ष-प्रत्यक्षरूप से सर्वात्मना भी समाहित तटस्थ आलोचना बैखरी चागाध्रय के द्वारा दो शब्दों में समाहित करते हुए यह प्रासङ्गिक अप्रिय चर्चा समाप्त की जाती है।

अवधेय भारतीय वैज्ञानिक दृष्टिकोण—

भारतीय विज्ञान की दिशा का पूर्व में दिग्दर्शन कराते हुए 'यज्ञविज्ञान' को ही नैगमिक विज्ञान घोषित किया गया है, जिसके गर्भ में खण्ड-खण्डात्मक असंख्य विज्ञान, एवं विज्ञानानुप्राणित देव-विद्यात्मिका अवान्तर उपनिषत् (रहस्यात्मिका भौलिक विद्याएँ) समाधिष्ट हैं। अनन्त असंख्य इन देव-विद्यात्मक खण्ड विज्ञानों में से अभी भारतीय-मानव को—'नायमात्मा—बलहीनेन लभ्यः।' उस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार सर्वप्रथम निगमान्नाय-परम्परानुगत वेदस्वाध्याय के द्वारा आत्मस्वरूपबोधोपयिक उस आध्यात्मिक विज्ञान के अनुशीलन में ही सर्वतोभावेन प्रवृत्त हो जाना चाहिये, जिस आध्यात्मिक विज्ञान का उपक्रम—उपराम—विन्दु माना गया है—“वाग्ब्रह्मानुगत—प्राणब्रह्म”।

सर्वखण्डविज्ञानात्मक स्वायम्भुव \* 'सर्गहुत' नामक 'यज्ञकाण्ड' के माध्यम से पूर्व में जिस भारतीय विज्ञानकाण्ड की स्वरूपदिशा का दिग्दर्शन कराया गया है, शब्दद्वयात्मिका तटस्थ-आलोचक-

\* “तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्, यजुस्तस्मा-दजायत्” (यजुःसंहिता)। ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽस्तप्यत। तत् सर्गेण भूतेष्वामानं हुत्वा, भूतानि चान्मानि हुत्वा सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्यत्। स वा एष सर्वमेधः—सर्वहुतः—दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। परमो वा एष यज्ञक्रतूनां, यत् सर्वमेधः—सर्वहुतः”। (शत० १३।७।३१,२, ३)।

समाधानात्मिका आस्थाश्रद्धाशून्या अभियन्त्रा से पहिले भारतीय मानव के नैगमिक स्वरूपोद्बोधन के लिए, साथ ही भूतविज्ञानवादी चर्चामान उदस्य आलोचक की सर्वविनाशकारिणी ध्वंसात्मिका भूतविज्ञान-दृष्टि के अतिमानोद्बोधन के लिए आस्थित श्रद्धालु भारतीय की उस प्रिय विज्ञानचर्चा का माझलिक-संस्मरण दो शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया जाता है, जिस आध्यात्मिकी श्रेयःप्रेयोभावात्मिका हितकर-रुचिकर-प्रियचर्चा का स्वरूप विस्मृत कर सचमुच भारतीय श्रद्धालु ने अपना बंधुत बड़ा अहित कर लिया है।

पावन आध्यात्मिकचर्चा का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है देवविद्यानिष्ठात आधिदैविक-आधिभौतिक मन्त्रविज्ञाननिष्ठ देवर्षिनारद की अध्यात्मविज्ञानमूला पावन जिज्ञासा के आधार पर धिनिःमृता तत् समय के अध्यात्मविज्ञाननिष्ठ सर्वविज्ञानज्ञाननिष्ठात भगवान् 'सनत्कुमार' महर्षि की वाणी के द्वारा। देवर्षि नारद ने अनन्यनिष्ठा के द्वारा चिरकालिक स्वाध्याय-अनुशीलनात्मिका तत्त्वचर्चा के माध्यम से आधिभौतिक पार्थिव, एवं तन्मूलमूलभूत आधिदैविक सौर, दोनों यज्ञविद्याओं का, तदाधार-रूप अग्न्यगुःसामतत्त्वात्मक पार्थिव छन्दोमात्रिक वेद, एवं अग्न्यगुःसामतत्त्वमय सौर \* गायत्रीमात्रिक वेदतत्त्व का स्वरूपबोध प्राप्त किया। और यों नारद ने चायाधिव्य-सौरवाधिव रोदसी-त्रैलोक्य के अधिभूत-अधिदैवत यज्ञ का, तदनुगता सम्पूर्ण मन्त्रात्मिका देवविद्याओं का स्वरूपज्ञान प्राप्त कर अपनी 'देवर्षि' अभिधा को अन्वर्थ बना लिया। अब नारद के अन्तःकरण में जिज्ञासा उत्पन्न हुई उस 'ब्रह्मर्षि' पद के स्वरूपबोध की, जिस ब्रह्मर्षिपद का अधिष्ठान माना गया है अधिभूत-अधिदैवतमूलरूप-किया मर्ममूलभूत अध्यात्मविज्ञान। इसके स्वरूपबोध के लिए ही नारद समिध ग्रहण कर ब्रह्मर्षि सनत्कुमार के सम्मुख प्रणतभाय से विधियन् + उपसन्न होते हुए कहने लगते हैं—

‘अधीहि भगव ! (भगवन् ! ) इति होपससाद् सनत्कुमारं नारदः’

\* “यदेतन्मण्डलं तपति-तन्महदुक्थं, ता अचः, स अचः लोकाः। अथ यदेतदधिर्दीप्यते-तन्महावतं, तानि सामानि, स सामानां लोकाः। अथ य एतस्मिन् मण्डले पुरुषः-सोऽग्निः, तानि यजूंषि, स यजुषां लोकाः। सैषा अग्न्येव विद्या-गायत्रीमात्रिकवेदतत्त्वरूपा-तपति-योऽसी-सूर्यः। तदैतदप्यविर्भास आहुः ( मूर्त्ताः-लौकिका अपि जानन्तिस्म तद्युगे, यत्-सूर्यः खलु त्रयीविद्यात्मकः-का कथा तद्युगानुगतानां तच्चविदुषाम् )-‘त्रयी वा एषा विद्या तपति’ इति। ‘वाक्’ इव तत् पश्यन्ती यदति” ( शत० १०।१।३।१, २, १ )।

+ सारदं दशमूलमित ( १०॥ अक्षुलपरिमित ) आध्यात्मिकप्राण-मभिन्धन की प्रतीकभूता तत्परि-माणरूपा ही प्रादेशमिता ‘समिधा’ हाथ में लेकर ही पुराणुगे जिज्ञासा शिष्य आचार्य के सम्मुख प्रणतभाय में उपस्थित होता हुआ अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त किया करता था।



समित्पाणी देवर्षि नारद से नैष्ठिक ब्रह्मचारी धीतराग ब्रह्मर्षि सनतकुमार ने प्रश्न किया कि, 'यद्वेत्थ, तेन मोपसीद । तत ऊर्ध्वं वक्ष्यामि' इति । तात्पर्य, 'अब तक तुमने जो कुछ 'प्राध्ययन किया है, उसका स्वरूप अभिव्यक्त करो । तब मैं तुम्हें उससे आगे का स्वाध्याय बतलाऊँगा' । नारद अपनी पठित विद्याओं की तालिका सनतकुमार के सम्मुख अभिव्यक्त करते हुए कहने लगे कि—

“भगवन् ! मैंने ऋग्-जुः-साम-अथर्व-इतिहासपुराण-पित्र्यराशि-देवनिधि-वाकोवाक्य-एकायन-देवविद्या ( आत्मस्तरविद्या-सौरविद्या )-ब्रह्मविद्या ( स्तरविद्या-पार्थिवविद्या-( चान्द्रविद्या )-स्तरविद्या-नक्षत्रविद्या-सर्पदेवजनविद्या'-इत्यादि सम्पूर्ण ( आधिदैविक-आधिभौतिक, सौर पार्थिव ) विद्याओं का स्वरूप जान लिया है” ।

अपनी ज्ञात-विज्ञात विद्यातालिका उद्धृत करने के अनन्तर नारद कहने लगते हैं, “भगवन् ! मैं केवल 'मन्त्रवित्' ( वाग्व्रह्मात्मिका शब्दविद्यावित् ) ही हूँ । मैंने अभी तक अध्यात्मस्वरूप नहीं प्राप्त किया है । आप जैसे ब्रह्मर्षि आत्मवेत्ताओं से ऐसा सुनता आ रहा हूँ कि, आत्मस्वरूपबोध प्राप्त किये बिना मानव अशान्तिरूप शोक से सन्त्राण नहीं प्राप्त कर सकता । इसी आत्मबोध के अभाव से ओर सब पृथक् ( दैवत-भौतिक विद्याएँ ) जानता हुआ भी मैं नैष्ठिकी आत्मशान्ति प्राप्त नहीं कर सका हूँ । किन्तु मुझे विश्वास है कि, आप अवश्य ही मुझे शोकसागर से पार लगा देंगे” । सनतकुमार कहने लगे, “ठीक है नारद ! वास्तव में आत्मस्वरूपबोध के बिना शोकसन्तरण सम्भव नहीं है । अब तक तुम्हें जो कुछ पढ़ा और जाना है, वह तो केवल अध्यात्म का सर्वथा बाह्य भौतिक 'नामात्मक' स्वरूप ही है । अवश्य ही नामभावात्मक दैविक-भौतिकविज्ञान से जो भी लौकिक पारलौकिक फल मिलने चाहिये, अवश्य मिल जाते हैं । किन्तु ये सब फल-प्लवा होते अदृढ़ा यज्ञरूपाः' इत्यादि के अनुसार नश्यत हैं । अतएव इन नामात्मक विज्ञानों से कदापि शाश्वत शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती । शान्ति प्राप्त होती है उससे, जो इन सम्पूर्ण नामभावों का—दैविक भौतिक सौर पार्थिव खण्ड-खण्डात्मक-यज्ञविज्ञानों का-अवारपारीण एक अलम्बन-आधार-अधिष्ठान है, अतएव जो इन नामभावात्मक दैविक-भौतिक-विज्ञानों की अपेक्षा महतोमहीयान् है” ।

वाग्व्रह्म-ही नामप्रपञ्च का सर्वाधार है, जो 'वपट्कार' रूप से 'यावद्व्रह्मविष्टितं-तावती वाक्' रूप से भुकेन्द्र से आरम्भ कर स्वायम्भुव परमाकाशपर्यन्त समुद्ररूप से अभिव्याप्त है । इसी वाक्-समुद्र में सम्पूर्ण नाम ( नामभावात्मक आधिदैविक सौर-आधिभौतिक पार्थिव विश्व ) प्रतिष्ठित है । देवता-असुर-राक्षस-गन्धर्व-सब कुछ, सम्पूर्ण चर अचर प्रपञ्च इसी लोकवेदसमन्विता साहस्री-वाक् पर प्रतिष्ठित हैं । इसी वाक् की स्तुति करते हुए ऋषि ने कहा है—

१—सहस्रधा पञ्चदशान्युक्या यावद्यावावृथिवी तावदिच्छत् ।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्व्रह्मविष्टितं तावती वाक् ॥

किं तत् सहस्रमिति ? इमे लोकाः—इमे वेदाः—

अथो वागिति ब्रूयात् ।

२—वाचं देवा उपजीवन्ति विस्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।

वाचीमा विद्या भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥

३—वागचरं प्रथमज्ञा ऋतस्य वेदानां मता अमृतस्य नाभिः ।

सा नो जुषाणोपयज्रमागादयन्ती देवी सुहवा मे ऽस्तु ॥

इस वाग्ब्रह्म से ही अध्यात्मविज्ञान का उपक्रम किया भगवान् सनतकुमार ने । अनन्तर क्रमशः सूक्ष्म आध्यात्मिक पर्वों का स्वरूप अभिव्यक्त करते हुए सर्वान्त में सनतकुमार ने 'प्राणब्रह्म' को उपराम बनाते हुए यह 'अध्यात्मविज्ञान' दिशा नारद के सम्मुख रखी । वाग्ब्रह्म का आधार 'मनोब्रह्म', इसका आधार-'संकल्पब्रह्म', तदाधार 'चिच्चब्रह्म', तदाधार 'ध्यानब्रह्म', तदाधार 'विज्ञानब्रह्म', तदाधार 'बलब्रह्म', तदाधार 'अन्नब्रह्म', तदाधार 'आपोब्रह्म ( भृगुक्षिरोब्रह्म )', तदाधार 'तेजोब्रह्म', तदाधार 'आकाशब्रह्म', तदाधार 'स्पर्शब्रह्म', तदाधार 'आशान्नाब्रह्म', एवं सर्वान्त का सर्वोधार वाक्-शरीरी 'प्राणब्रह्म', इस प्रकार वाग्ब्रह्म से आरम्भ कर प्राणब्रह्मपर्यन्त इस अध्यात्मविज्ञान के सम्भूय चतुर्दश विभाग हो जाते हैं । जिस प्रकार चान्द्र-पाथिवसर्ग चतुर्दशविध है, तथैव अध्यात्मसर्ग भी इस प्रकार चतुर्दशविध हो बना हुआ है । रहस्यपूर्ण छान्दोग्योपनिषत् के इस चतुर्दशविध आत्मसर्ग का स्वरूप भारतीय त्रिजाति को आत्मस्वरूप बोध के लिए अवश्य ही जान लेना चाहिए ।

अध्यात्म-अधिभूत-अधिदैवत, तीनों की मूलप्रतिष्ठा अध्यात्मविज्ञानोपक्रमरूपा वाग्देवी ही है, जिसका ऋग्वेद के 'आम्भृणीसूक्त' में विस्तार से उपबृंहण हुआ है । भगवान् ऐतरेय के—'सहस्रधा पञ्चदशान्युक्ता' इस वाक्य को समन्वय करने पर हमें तीनों विज्ञानतन्त्रों के समसंख्यासमन्वय से आरचन्यविमोह हो जाना पड़ता है । १५ उक्थ सहस्रमहिमाभों में परिणत हो रहे हैं तीन स्थातों में । वेदस्थान, लोकस्थान, वाक्स्थान, तीनों क्रमशः अधिदैवत-अधिभूत-अध्यात्मविवर्त्त हैं । तीनों के लिए ही पूर्वोपात्त मन्त्र में—'किं तन् सहस्रमिति ? इमे वेदाः, इमे लोकाः, अयो वाक्-इति ब्रूयात्' यह कहा गया है । वेदसाहस्री, लोकसाहस्री, वाक्साहस्री से समन्वित, पञ्चदश उक्थ ( १५ उक्थ ) जिस महतोमहीयान् अणोरणीमान् सर्वेश्वर में 'अरा रयनामो इव' अर्पित हैं, यही 'महदुक्थ' है, जिसके आधार पर 'उक्थवैराजिक' नाम की मानवानुगता अध्यात्मबोधविद्या प्रतिष्ठित हुई है । समष्टि-व्यष्टिरूप से यह साहस्रीत्रयी पञ्चदश-पञ्चदश-पञ्चदश-संख्याओं में विभक्त है, जिनमें १-१-१ संख्या समष्टिभाव की सूचिका है, एवं १४-१४-१४ संख्याएँ व्यष्टिभाव की सूचिकाएँ हैं । वेदसाहस्रीरूप-पञ्चदशोपलक्षण आधिदैविकसर्ग भी समष्टिव्यष्टिरूप से १५ भागों में विभक्त है । लोकसाहस्रीरूप आधिभौतिकसर्ग भी इन्हीं भागों में, एवं वाक्साहस्रीरूप आध्यात्मिकसर्ग भी इन्हीं भागों में विभक्त है । इसी समसमन्वय के आधार पर हम इन तीनों सर्गों के समन्वय में यह कह सकते हैं कि—

(१)-चतुर्दशविध एव-अध्यात्मसर्गः ( आत्मसर्गः ) ।

(२)-चतुर्दशविध एव-अधिदैवतसर्गः ( देवसर्गः ) ।

(३)-चतुर्दशविध एव-अधिभूतसर्गः ( भूतसर्गः ) ।

त्रिकाण्डात्मक यही त्रिविध विज्ञान भारतीय विज्ञान है, जो सहस्रवल्ग्यामूर्ति 'ब्रह्मापवध' के आधार पर प्रतिष्ठित है । समतुलनभावानुरक्त मानव की सुविधा के लिए यहाँ इस सर्गत्रयी की तालिका-मात्र उद्धृत करदी जाती है, जिसके आधार पर यह नैगमिकमानव विज्ञानसाध्याय में सुविधापूर्वक प्रवृत्त हो सकता है ।

॥ इसी नैगमिकआत्मनय के आधार पर संकल्पित मानवाश्रमावस्थापीठ का नैगमिक सर्वधा परोक्ष नामकरणमेंत्तर हुआ है- 'मानवोक्थवैराजिकब्रह्मौघ' ।

देशावास्याभिर्दं सर्वं यत् विज्ञा जगत्यां जगत् ।  
तेन त्यक्तेन मुञ्जीयाः मा गुरुः कस्य सिद्धिदत्तम् ॥

१ याकसाहस्री	२ वेदसाहस्री	३ लोकसाहस्री	३	१
१-पोडपी अव्यय- पञ्चदशः	१-पोडशकलः- अक्षरः-पञ्चदशः	१-पोडशकलोपेतः- क्षरः-पञ्चदशः	३	२
१-प्राणब्रह्म	१-सूत्रब्रह्म	१-ब्रह्मब्रह्म	३	३
१-आशाब्रह्म	२-नियतिब्रह्म	२-प्रजापतिब्रह्म	३	४
३-स्मरब्रह्म	३-अत्रिब्रह्म	३-इन्द्रब्रह्म	३	५
४-आकाशब्रह्म	४-अङ्गिराब्रह्म	४-पितृब्रह्म	३	६
५-तेजोब्रह्म	५-भृगुब्रह्म	५-गन्धर्वब्रह्म	३	७
६-आपोब्रह्म	६-आयुर्ब्रह्म	६-यक्षब्रह्म	३	८
७-अग्निब्रह्म	७-गौब्रह्म	७-मानवब्रह्म	३	९
८-वज्रब्रह्म	८-श्रोत्रिर्ब्रह्म	८-पिशाचब्रह्म	३	१०
९-विज्ञानब्रह्म	९-वशोब्रह्म	९-राक्षसब्रह्म	३	११
१०-ध्यानब्रह्म	१०-भद्राब्रह्म	१०-पशुब्रह्म	३	१२
११-चित्तब्रह्म	११-रेतोब्रह्म	११-पक्षिब्रह्म	३	१३
१२-संकल्पब्रह्म	१२-चीब्रह्म	१२-कीटब्रह्म	३	१४
१३-मनोब्रह्म	१३-गौब्रह्म	१३-कृमिब्रह्म	३	१५
१४-वाग्ब्रह्म	१४-वाग्ब्रह्म	१४-साम्ब्रह्म	३	१६
चतुर्दशविधः आत्मसर्गः अध्यात्मम्	चतुर्दशविधः देवसर्गः अधिदैवतम्	चतुर्दशविधः भूतसर्गः अधिभूतम्	५८ कलाजगत्	पोडरीपुरुषः

यस्मादस्यो न परो अस्ति ज्ञातः-य आविवेश भुवनानि विश्वा ।  
प्रजापतिः प्रजया संस्मरणस्वीणि ज्योतींषि सचते स पोडरी ॥

## आलोचनासमाधानोपराम—

मानव ने अपना स्थानपरिचय प्राप्त किया। इस स्वात्मानुगत-आत्मानुगत-सुपरिचित पूर्वोक्त चार स्थानों में अपने आपको संन्यास-वानप्रस्थ-गृहस्थ-लोकतन्त्र में प्रतिष्ठित किया, एवं तदनुपात से ही औपनिषद्-आरण्यक-ब्राह्मण-भागानुगत, तथा लोकमान्यतात्मक चतुर्विध पथों पर व्यवस्थितरूप से अपने आपको मर्यादादित किया सर्वथा सहज रूप से। एवंविध व्यवस्थित-मर्यादादित-मान्यतानुगत परिपूर्ण मानव क्या कभी श्री-समृद्धि-शान्ति-शुद्धि-शुद्धि से वञ्चित रह सकता है। ऐसा मानव तो जिस वातावरण में विचरण करता है, जहाँ निवास करता है, वहाँ सर्वसमृद्धि-अयाचित रूप से सुप्रतिष्ठित हो जाता है। जिसे आज का आलोचक समृद्धि-सुख कहता है, वह तो है प्रकृत्या पशुधर्म, अनर्प्यादिता इन्द्रियपरायणता। ऐसी आसुरशुक्ति-पशुशुक्ति ही जब सर्वश्रेष्ठ-जेष्ठ अनेष्ट है, तो इससे अधिक इस का ओर क्या अनिष्ट होगा। पापाणलोलुप्सम-जड्वन्-आत्मस्वरूपेभूत पशुओं पर भूत-पापा क्यों होने लगी, जबकि वे स्वयं ही भूतयोनि का चरितार्थ कर रहे हैं। श्वेत-स्वच्छ वस्त्र पर ही मलिनता का आक्रमण प्राकृतिक है। कृष्ण-मलिनयस्त्र पर मलिनता क्या आक्रमण करेगी। मर्यादा-शील के लिए ही पतनभय प्राकृतिक माना जायगा। उन्मर्याद मानव को पतन से भय होगा ही क्यों। एक ओर का ऋषिसंस्थान यदि अभयपद है, तो दूसरी ओर का विमूढ़ आसुरमातृव भी अभयपद ही माना जायगा ॐ। वह आत्मबोध द्वारा अभयपदारूढ है, तो यह आत्मस्वरूपविस्मृति के द्वारा अभय-निर्भय बनता हुआ स्वैराचारपरायण है, स्वच्छन्दविचरणशील है। भय है अस्मदादि सदृश मध्यस्थ गृहस्थ मानव को, जिसे निगमाम्नायनिष्ठा प्राप्ति के लिए, आस्था-श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए, 'श्रद्धा च नो मा व्यगमत्' भय से, एवं लोकसंग्रहधिया निगमाम्नायानुगता लोकमान्यताओं का गतानुगतिक बनना ही पड़ता है, बनना ही चाहिए। यही है एकमात्र समाधान उन तटस्थ आलोचकों की तटस्थ आलोचना का, जिससे वे सन्तुष्ट हों, अथवा न हों, इसकी हमें अंगुमात्र भी चिन्ता नहीं है। हमारा तो एकमात्र लक्ष्य है श्रद्धापूर्वक निगमाम्नायसम्मत लोकमान्यताओं का लोक-संग्रहधिया अनुगमन, जिसके आधार पर प्रस्तुत नैगमिक निबन्ध में हमने 'महासद्गीत' माध्यम से पितृकर्मनिबन्धिनी-रात्रिजागरणरूपा पितृकर्ममान्यता को मान्यता प्रदान करना अनिवार्य माना है।

समाप्ता चेयं प्रासङ्गिकी

तटस्थालोचकस्थ-तटस्थसमाधानपरम्परा

सामयिकी

— x —

\* यश्च मूढतमो लोके, यश्च बुद्धेः परङ्गतः ।

द्वावेव सुखमेवेते क्लिरपत्यन्तरितो जनः ॥

पुनः प्रकृतानुसरण, एवं सन्दर्भसङ्गति—

‘अष्टमोचनोपायोपनिषद्’ नामक प्रक्रान्त द्वितीय परिच्छेद के सपिण्डीकरणात्मक आनृ-  
ण्यभाव, प्रजोत्पादनात्मक आनृण्यभाव, पावणेशाद्वादिरूप आनृण्यभाव, इन तीन आनृण्यकर्मों  
के स्वरूपविरलेपण के अनन्तर ( पृष्ठ सं० ८५ से १८१ पृष्ठ पर्यन्त ) पार्थिव प्रेत रूप औपपातिक महा-  
नात्मा के बन्धनविमोह से सम्बन्ध रखने वाले क्रमप्राप्त चतुर्थ ‘गयाश्राद्धानुगत आनृण्यभाव’ नामक  
अवान्तर प्रकरण का उपक्रम हुआ । पृष्ठ १८२ से १८८ पर्यन्त गयाश्राद्ध के वैज्ञानिक स्वरूप का दिग्-  
दर्शन कराया गया । इसी प्रसङ्ग में लोकमान्यतात्मक गृह्यप्रेतपितरसन्तर्पक-रात्रिजागरणात्मक वह प्रास-  
ङ्गिक प्रकरण उपस्थित हो गया, जिसकी लोकमान्यता के सम्बन्ध में आस्तिकप्रजा का वर्तमान में  
विमोहन देखा सुना गया है । जिस नैगमिक आन्नायपरम्परा को मूल आधार बना कर इस लोकमा-  
न्यता को लोकसंप्रबुद्धया नैगमिक नैष्ठिक विद्वानोंने लोकमान्या घोषित किया था, परप्रतारकों के निप्र-  
हानुग्रह से उसमें अनेक प्रकार की निगमविरुद्ध मान्यताओं का समावेश हो गया । फलस्वरूप लोक-  
परिवार की इष्टसाधनता के स्थान में यह लोकमान्यतात्मक पितृसन्तर्पण कर्म अनिष्ट का कारण बन  
गया, जिसका गयाश्राद्धाधारभूत पार्थिव औपपातिक महानारमा की सामयिक कृति से सम्बन्ध माना गया  
है । अतएव प्रक्रान्त चतुर्थ गयाश्राद्धानुगत आनृण्यकर्म प्रकरण के मध्य में ही इस प्रासङ्गिक लोककर्म  
का ‘तृणस्पर्शन्याय’ ❁ से समावेश कराना अनिवार्य समझ लिया गया । “कुलस्त्रियों के प्रास-  
ङ्गिक महासङ्गीत की पावन स्मृति” नाम से यह प्रासङ्गिक प्रकरण पृष्ठ संख्या १८६ से २६४ पृष्ठ  
पर्यन्त उपवर्णित हुआ ।

भारतीय नैगमिक शास्त्रीय विधिविधानों पर, तन्मूलधाररचनेन प्रतिष्ठित निगमाग्नायानुप्राणित  
लोकमान्यताओं पर भारतीय शास्त्र-लोकसूत्रों से सर्वथा अपरिचित तदस्थ आलोचनों की ओर से जो  
निर्म्मम कटु आलोचना-परम्परा वर्त्तमान में श्रुत उपश्रुत है, प्रसङ्गोपात्त उसका स्वरूप परिचय, एवं  
निराकरण भी अनिवार्य बन गया । अतएव महासङ्गीत की प्रासङ्गिक पावन स्मृति के अनन्तर ही  
“पावनस्मृति के सम्बन्ध में प्रासङ्गिकी तदस्थ आलोचना, और तत्-समाधान” नाम से इस  
अवान्तर प्रकरण का भी उसी तृणस्पर्शन्यायमाध्यम से समावेश करना अनिवार्य मान लिया गया,  
जिस अनिवार्यता की पूर्ति पृष्ठ संख्या २६४ से आरम्भ कर पृष्ठ संख्या ३६४ पर्यन्त समन्वित बनी ।

❁ संस्कृत साहित्य में ‘ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति’ न्याय सुप्रसिद्ध है, जिसका तात्पर्य स्पष्ट  
है । ग्रामयात्रा करता हुआ पथिक मार्ग में आगत समागत वृक्ष-लता-गुल्म-वृक्षादि का भी कौतूहल रूप  
से अन्वेषण स्पर्शादि करता जाता है । मुख्य उद्देश्य ग्रामगमनानुगत पथसन्तरण ही है । किन्तु मध्ये  
मध्ये प्रसङ्गरूपेण समागत वृणादिस्पर्श भी इसके कौतूहलात्मक गौण उद्देश्य बनते जाते हैं ।

यह है सन्दर्भसङ्गति, जिसके अनन्तर मुख्यप्रतिपाद्यरूप गयाश्राद्धकर्म के शेष निरूपणीय विषय का दिग्दर्शन करता हुआ 'अणुमोचनोपायोपनिषत्' नामक द्वितीय परिच्छेद उपरत हो रहा है।

**औपपत्तिक प्रेतात्मबन्धनविमोचक गयाश्राद्ध—**

प्रकृत गयाश्राद्ध से इन आगन्तुक पितरों की मुक्ति हो जाती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि, पार्वणादि श्राद्ध जहाँ केवल स्व पितरों की ही मुक्ति के कारण बनते हैं, वहाँ गयाश्राद्धकर्त्ता स्वआगन्तुक पितरों के बन्धन-विमोक के साथ साथ अन्यो की भी विमुक्ति का निमित्त बन सकता है। स्थानविशेष के माहात्म्य से आस-पड़ोस के बन्धु-बान्धवों के प्रेतात्मा आशोन्मुख बन कर श्मशानपरिक्रमा के साथ ही गयाश्राद्धकर्त्ता के अनुगामी बन जाते हैं। स्वप्न में अपने लिए याचना करते हैं। एवं यह इन का भी सन्तोष कर सकता है, करना चाहिए।

**गयाक्षेत्र का वैज्ञानिक स्वरूपपरिचय—**

उक्त 'गयाश्राद्ध' कर्म के लिए ऋषियोंने सुप्रसिद्ध 'गया' स्थान ही उपयुक्त माना है, जिसके कई एक प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष कारण हैं। भौगोलिक विद्वानों को विदित है कि, गयास्थान सुप्रसिद्ध 'फल्गु-नदी' के सम्वन्ध से तीर्थ बन रहा है, एवं पितरप्राण के साम्राज्य से क्षेत्र बन रहा है। इस प्रकार यह स्थान 'गयातीर्थ' भी है, 'गयाक्षेत्र' भी है। फल्गुनीनक्षत्रप्राण के सम्वन्ध से ही यह नदी फल्गु कहलाई है। तत्तत् पदार्थविशेषों में जो एक प्रकार का श्लथभाव उपलब्ध होता है, वह इसी नाक्षत्रिक प्राण का माहात्म्य है। तूल (रूई), भुमर पापाण, श्लथावयव शर्करा, आदि इसी प्राण से युक्त हैं। जातिविशेष के पापाण भी इसी प्राणसम्वन्ध से कालान्तर में सर्वथा श्लथावयव (फोसरे) बन जाते हैं। श्लथभाव ही फल्गु है, फल्गुभावसम्पादन से ही यह नक्षत्र 'फल्गुनी' कहलाया है, जिस का निम्न लिखित शब्दों में उपवर्णन हुआ है—

“गवां पतिः फल्गुनीनामसि त्वं तदर्थ्यमन् वरुण मिश्र चारु।

तं त्वा वयं सनितारं सनीनां जीवा जीवन्तमुपसंविशेम ॥ (तैत्तिरीय ब्राह्मण)

फल्गुभावसम्पादक फल्गुनीनक्षत्रप्राणातिशय से ही यह नदी 'फल्गु' कहलाई है। गङ्गा-यमुना-सरस्वती-गोदावरी-नर्मदा-सरयू-आदि नदियों तत्तत्प्राणातिशय-सम्वन्ध से ही तत्तत् नामों से व्यवहृत हुई हैं। इस जलातिशय से ही वह प्रदेश 'तीर्थ' कहलाया है। एवं भूमि के सम्वन्ध से वह 'क्षेत्र' कहलाता है। जिस प्रदेश में जो कार्य चिरकाल पर्यन्त हो जाता है, वहाँ उस कार्य का अनुशय (प्राणरूप से) प्रतिष्ठित हो जाता है। यदि किसी प्रदेश में कोई तपस्वी चिरकाल पर्यन्त तपोसाधन करते रहते हैं, तो उनका विभूतिप्राण विभूति-सम्वन्ध से तत् प्रदेश के कण कण में अन्तर्व्याप्त-सम्वन्ध से व्याप्त हो जाता है। इसी तपःप्राण-प्रभाव से वहाँ का घातावरण शान्त-निरापद बन जाता

है। हिंसक जन्तु भी ऐसे स्थानों में अपना सहज बैर छोड़ देते हैं। बलुपितान्तःकरण मनुष्य भी ऐसे स्थान पर पहुँच कर शान्तिलाभ करने में समर्थ हो जाता है। ऐसे पवित्र भूप्रदेश ही शास्त्र में 'क्षेत्र' नाम से व्यवहृत हुए हैं। 'वाराणसी का भूप्रदेश पवित्र है। गङ्गातीव्र ब्रह्म का साक्षात् द्रवरूप है, अतएव यह क्षेत्र भी है, तीर्थ भी है। परन्तु कुरुक्षेत्र केवल क्षेत्र ही है।

गयास्थान गयाप्राण के सम्बन्ध से क्षेत्र भी है, फल्गु नदी के सम्बन्ध से तीर्थ भी है। हमें प्रेतात्मा का बन्धन-विमोक अभीष्ट है। पशुभाव इती इष्टसिद्धि का सहायक है। यह यहाँ पशु नदी के अनुप्रवाह से प्रवृत्त्या प्राप्त है। इन्हीं सब कारणों से गयाश्राद्ध के लिए यही स्थान उपयुक्त माना गया है। परन्तु ये सब सिद्धान्त हैं किन के लिए?, कौन इन पर विरवास करेगा?, उत्तर—'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छुद्धः स एव सः' यही भगवद्वचन है। आस्तिक श्रद्धालुओं के लिए जहाँ केवल आप्त वचन ही पर्याप्त है, वहाँ नास्तिक-श्रद्धाशून्य अभिनिविष्टों का अनुरञ्जन स्वयं ऋष्या से भी सम्भव नहीं है।

आगन्तुक महानात्मा के लिए होने वाला गयाश्राद्ध इस औपपातिक महानात्मा की भी मुक्ति का कारण बन जाता है, एवं परम्परया कर्मात्मबन्धनासक्तिविमोक का कारण भी बन जाता है, यह कहा गया है। यदि जीवनदशा में ही कर्मात्माने विदेहभाव प्राप्त कर लिया, तो ऐसे मुक्तत्मा के लिए गयाश्राद्ध एकान्ततः अनपेक्षित बन जाता है। शास्त्रविहित निवृत्तिमुलक निष्कामकर्मों के सम्यगनुष्ठान से कर्मात्मा का विद्यारूप ज्ञानाग्नि प्रज्वलित हो पड़ता है। यह प्रज्वलित ज्ञानाग्नि—'सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' सिद्धान्तानुसार कर्मात्मा के ब्रह्म भाग पर प्रतिष्ठित भावना-वासनात्मक सम्पूर्ण सञ्चित कर्मों को निशेष कर डालता है। ऐसा निष्कामयोगी, गीतापरिभाषानुसार बुद्धियोगी इस प्रकार ज्ञानाग्निप्रवाह से निर्धूसकलिवप्य वनता हुआ विदेहभाव प्राप्त कर सर्वबन्धनविमोक-प्रभाव से अन्तकाल में—'ब्रह्मनिर्वाणमुच्छति, न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते'।

दूसरा उपाय है—योगमार्ग। योगी कायाकल्प के द्वारा एक ही क्षण में अनेक शरीर धारण कर सर्वकर्ममुक्ति का अनुगामी बनता हुआ मुक्त हो जाता है। एतत्क्षण ज्ञानाग्नि केवल सञ्चिन कर्मापाय में ही समर्थ है। प्रक्रान्त कर्मव्यूह को सहस्र ज्ञानाग्नि भी क्षीण नहीं कर सकते। कारण स्पष्ट है। एक व्याध मृग पर बाण चलाने के लिए सन्नद्ध खड़ा है। यदि आपने प्रक्षेप से पहिले उसे उपहत कर लिया, तब तो मृगदंष्ट्रा सम्भव है। यदि तीर उसके हाथ से निकल गय, तो फिर कोई उपाय नहीं है। इस दशा में केवल तूखीर के शेष बाणों को अपहत कर आपआगे का हिंसाकर्म अवरुद्ध कर सकते हैं। ठीक यही अवस्था कर्मव्यूह की है। जो व्यूह चल पड़ा, उसका निरोध असम्भव है—जैसा कि—'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' से स्पष्ट है। योगी लोगों को इसी प्रारब्धकर्ममुक्ति के लिए कायाकल्प का अनुगमन करना पड़ता है।

उपर एक विदेहमुक्त निष्कामयोगी को प्रारब्ध कर्मानुसार अवश्य ही सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का अनुगमन करना पड़ता है। हाँ, इस सम्बन्ध में यह अवश्य कहना पड़ेगा कि, एक निष्कामयोगी का अभिक्रमरूप प्रारब्धकर्म्म नष्ट न होता हुआ भी उसके आत्मप्रत्यवाय का कारण नहीं बनता। बड़े बड़े तपस्वी प्रारब्धकर्म्मवश शरीरपीडा भोगते हैं, परन्तु विश्वास कीजिए, उन तपस्वियों का आध्यात्मिक जगत इस से अगुमात्र भी च्युत नहीं होता। ये सदा सब अवस्थाओं में—‘आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्’ इस वृत्ति के अनुगामी बने रहते हैं। इनकी इसी वृत्ति-स्थिति को लब्ध में रमते हुए भगवान् ने कहा है—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

—गीता

सम्पूर्ण दर्शन, सम्पूर्ण उपनिषद्, तदनुगत गीताशास्त्र कर्मात्मा के बन्धनविमोक्त के बुद्धि-योगात्मक इसी मार्ग का प्रदर्शन कर रहे हैं। उन सबका निष्कर्षभूत निम्न लिखित मन्त्र हमारे सम्मुख उपस्थित हो रहा है—

“कुर्पेन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽति न कर्म लिप्यते नरः” ॥

—ईशोर्पानपन

“सांसारिक द्वन्द्वों का भार इन्द्रियों पर डालते हुए, सर्वभूतहितरति का अनुगमन करते हुए, लोक-राज-कुल-आचार-व्यवहार-आदि धर्मों का सम्यक् अनुष्ठान करते हुए, किसी से उद्वेग न करते हुए शास्त्रोक्त-तत्त्वदर्शानुगत यज्ञ-तपोदानादि तत्तत्कर्म्मों का आसक्तिरहित वन कर जराभरपर्यन्त नामक अग्निहोत्रवत् यात्राजीवन अनुगमन करना ही कर्मातिबन्धनविमोक्त का अर्थ उपाय है”—मन्त्र का यही निष्कर्षार्थ है। तात्पर्य—ऐसे कर्मात्मा के लिए गया-आद्व की कोई आवश्यकता नहीं है। ऐसे मुक्तात्मा का भी पार्वणादिआद्व प्रत्येक देश में अपेक्षित है।

गया-आद्वद्वारा प्रेतपितर की तृप्त—

सामान्य कर्मात्मा अन्तर्यमेव आगन्तुक महान् से युक्त रहता है। अतः उसके लिए अवश्य ही गया-आद्व विषय है। शास्त्रग्रहस्यानभिज्ञ तीर्थगुरुओं (पण्डों) के स्वार्थमय आदेशानुग्रह से साधारण जनता में आज यह भ्रम फैला हुआ है कि, “गया-आद्व से हमारे सब पितर मुक्त होगे। हमने ब्रह्मरूपाली करा-दी। अतः अब पार्वणादि आद्वों की कोई आवश्यकता नहीं है”। दुःख है कि, अज्ञानतावश यह मूल आज पुण्डित-फल्लवित हो रही है। वे मूल जाते हैं कि—आद्व, तथा



गयाश्राद्ध, दोनों के लक्ष्मीभूत पितर भिन्न भिन्न हैं। पार्वणादि श्राद्ध होता है—चान्द्रलोकस्थ उन पितरों के लिए, जो सातपुरुषपर्यन्त अपनी व्याप्ति रखते हैं। गयाश्राद्ध होता है—कर्मात्मानुगत उन पितरों के लिए, जो आगन्तुक हैं। इस कर्म से केवल इसकी मुक्ति सम्भव है। प्रजातन्तुप्रवर्त्तक चान्द्र पितर तो यद्वधिपर्यन्त सपिण्डना है, तद्वधिपर्यन्त के लिए बद्ध हैं। सातवीं सन्तति से आठवें परंपुरुष का बन्धन-विमोक्त होता है। यद्वधिपर्यन्त चान्द्रप्रेतपितरों का एक भी सहःपिण्ड तन्यरूप से भूमि पर सन्तान में प्रतिष्ठित है, तद्वधिपर्यन्त पिण्डलालसा अनिवार्य है। एवं तद्वधिपर्यन्त श्राद्धकर्म भी अनिवार्य है।

तृति-गयाश्राद्धात्मकं चतुर्थमानुष्यं कर्म

— ४ —

— x —

### \*—द्वितीयपरिच्छेदोपसंहार—

ऋणरूप से प्राप्त ५६ कलाओं में से ३५ से आनुष्यमात्र प्राप्त करने के लिए प्रजोत्पादन कर्म आवश्यक है, शेष २१ ऋणकलाओं के परिशोध के लिए सपिण्डीकरण स्वतःसिद्ध है, चान्द्रलोकस्थ प्रेतपिण्डवृत्ति के लिए पार्वणादि श्राद्धकर्म अपेक्षित है, प्रेत-कर्मात्मानुगत आगन्तुक-औपपातिक महानात्ममुक्ति के लिए, एवं परम्परया कर्मात्मबन्धविमोक्त के लिए 'गयाश्राद्ध' अपेक्षित है, आवश्यकतम है। इन चारों आनुष्यकर्मों की मूलप्रतिष्ठा प्रजातन्तुवितान (पुत्रपौत्रादिरूप वंशवितान) ही माना गया है। इसी आधार पर आचार्य कहते हैं—

१—'एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत् ।

यजेत वाधमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत् ॥

२—अपुत्रेण सुतः काय्यो यादृक् तादृक् प्रयत्नवः ।

पिण्डोदकक्रियाहेतोर्नामसङ्कीर्चनाय च ॥

३—सर्वं क्षपत्यमोजरच शौच्यं क्षेत्रं बलं तथा ।

पुत्रश्रैष्ठ्यं च सौभाग्यं समृद्धिं मुख्यतां शुभाम् ॥

४—प्रवृच्चक्रतां चैव वाणिज्यप्रभृतीनापि ।

अरोगिभ्यं यशो वीतशोक्तां परमां गतिम् ॥

—संग्रहः

आद्वसम्बन्धी अतीन्द्रिय रहस्यों का यथावत विरलेपण कर देना मादरा अनापेक्षित्युक्त व्यक्ति के लिए असम्भव है। गुरुप्रसाद के बल पर जैसा जो कुछ ध्यान में आया है, वह परीक्षा के लिए भद्रालु जगत् के सम्मुख उपस्थित कर दिया है। सर्वान्त में इस सम्बन्ध में अपनी ओर से केवल यही निवेदन करना शेष रह जाता है कि, आद्वकर्म अतीन्द्रियभावापन्न है। अतः इस सम्बन्ध में तद्ववाद को ग्रहण कर अनन्य भद्रा का ही अनुगमन करना चाहिए। एवं देवकार्य से भी अधिक माहात्म्य रखने वाले 'सर्वाभौष्ट्रफल देने वाले इस पितृकार्य की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। निम्न लिखित घटन आद्वकर्म के इसी माहात्म्यातिशय का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१—“आद्वत् परतरं नान्यच्छेत्पस्करमुदाहृतम् ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन आद्वं कुर्याद्विचक्षणः ॥” ( सुमन्तुः ) :

२—“तस्माच्छादं नरो भक्त्या शक्यैषि यथाविधि ।

कुर्वीत भद्रया तस्य कुले कथिन्न सीदति ॥”

३—आचारमाचरेच्च पितृमेधाश्रितं नरः ।

आयुषा-धन-पुत्रैश्च वर्द्धते नैव संशयः ॥” ( अग्रपुराणम् ) ।

४—“आयुः-पुत्रान्-यशः-स्वर्गं-कीर्तिं-पुष्टिं-बलं-श्रियम् ॥ ।

पशून्-सौख्यं-धनं-धान्यं-प्राप्नुयात् पितृपूजनात् ॥” ( यमः ) .

५—“अरोगः प्रकृतिस्थश्च चिरायुः पुत्र-पौत्रवान् ।

अर्थवानर्थभोगी च आद्वकामो भवेदिह ॥

परत्र च परां पुष्टिं लोकांश्च विपुलान् शुभान् ।

आद्वकृत् संभवाप्नोति यशश्च विपुलं नरः ॥” ( देवलः )

६—“वक्रो-न्द्र-रुद्र-नासत्य-सूर्या-ग्नि-वसु-मास्तान् ।

विश्वेदेवान्-अपिगणान्-वयांसि-मनुजान्-पशून् ॥

सरीसृपान्-पितृमणान्-यच्चान्यद् भूतसंज्ञकम् ।

आद्वं भद्रान्नितः कुर्वन् तर्पयत्यखिलं हि तत् ॥” ( विष्णुपुराणम् ) .

७—“धनं-वेदान्-भिक्षु-सिद्धि-कृप्यं-गा-अप्यनाविकम् ।

अथानायुश्च-विधिवच्च-“आद्वं सम्प्रयच्छति” ॥

८—“कृचिकादिभरण्यन्तं स कामानापुयादिमान् ।  
आस्तिकः श्रद्धावान् पितृन् श्राद्धेन तर्पिताः ॥”

९—“आयुः प्रजां धनं विद्यां स्वर्गं मोक्षं सुखानि च ।  
प्रयच्छन्ति तथा राज्यं प्रीता नृणां पितामहाः ॥”

१०—“यद्यद् ददाति विधिवत् सम्यक् श्रद्धासमन्वितः ।  
तत्तत् पितॄणां भवति परत्रानन्तमक्षयम् ॥”

११—“देवकार्याद् द्विजातीनां पितृकार्यं विशिष्यते ।  
दैवं हि पितृकार्यस्य पूर्वमाप्यायनं श्रुतम् ॥ ( मनुः ) ।”

‘पितरो धाम्यमिच्छन्ति’ इस श्रद्धेय वचन को आधार मान कर उक्त शास्त्रमय पिण्डद्वारा श्रद्धेय पितुःपिण्ड की पूर्णवृत्ति करते हुए, उनसे निम्न लिखित अनुमह की कामना करते हुए द्वितीय परिच्छेद उपरत किया जा रहा है—

“कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा—

आयुः पितरो न मर्त्याः ।

ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा—

“महा” स्तस्मै ते कामं नम इत् कृणोमि” ( अथर्व ३।२।१६ )

“गोत्रं नोऽभिवर्द्धन्ताम्”

“दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां—वेदाः सन्ततिरेव च ।

श्रद्धा च नो मा व्यगमद्—बहुदेयं च नोऽस्त्विति ॥

अन्नं च नो बहुभवेदतिर्य्यश्च लभेमहि ।

याचितारश्च नः सन्तु—मा च याचिष्म कञ्चन”

ओम्—शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!

समाप्ता चेयं—ऋणमोचनोपायविज्ञानोपनिषत्

द्वितीयपरिच्छेदात्मिका

१

आनृण्यं करोत्वनया पितृदेवता

श्रीः

श्राद्धविज्ञानग्रन्थान्तर्गत—

‘सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्’ नामक

द्वितीयखण्डान्तर्गत

“ऋणमोचनोपायोपनिषत्” नामक

द्वितीय परिच्छेद उपरत

१



श्रीः

अथ—भ्राह्मविज्ञानग्रन्थान्तर्गत—

‘सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्’ नामक

तृतीयखण्डान्तर्गत

“आशौचविज्ञानोपनिषत्” नामक

तृतीय परिच्छेदं

३



श्री:

अथ—सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषदि

आशौचविज्ञानोपनिषत्

परिभाषाज्ञान की विलुप्ति, एवं सांस्कृतिक पतन—

यद्यपि निबन्ध आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जा रहा है, तथापि आवश्यकतम विषयों की दृष्टि से विषय-होकर इस विस्तारभाष्य का आश्रय लेना अनिवार्य बन रहा है। सनातन-मानव-धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली परिभाषाओं के विलुप्तप्राय हो जाने से, परिभाषाओं के विरलेपक वेदशास्त्र के पारम्परिक अध्ययनाध्यापन के उच्छिन्न हो जाने से, अनार्यग्रन्थों की अनन्यता से, ओर ओर भी कई एक ज्ञात-अज्ञात कारणों से आज सनातन विधि-विधान विचारशील विद्वानों की दृष्टि में भी जब भीमास्य धन रहे हैं, तो ऐसी दशा में साधारण्यवर्ग यदि इनकी उपादेयता के सम्बन्ध में व्यामोह में पड़ जाय, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। प्रकृत प्रकरण में जिस विषय को लेकर हमें विचार करना है, उस विषयने वर्तमान युग में एक ऐसा तूलरूप धारण कर रखा है, जिसे देखकर भारतीय सांस्कृतिक पतन का भलीभाँति अनुमान लगाया जा सकता है।

अस्पृश्यता के सम्बन्ध में राष्ट्रिय दृष्टिकोण—

तत्त्वानुगत अशुचिभाव को लक्ष्य में रखते हुए शास्त्रकारों ने असञ्छद्रों (अन्यज-अन्त्याय-सायी-द्यू-म्लेच्छों) को अस्पृश्य माना है। शास्त्र के इस अस्पृश्यता-सिद्धान्त को लेकर भारतवर्ष के राष्ट्रिय प्राङ्गण में आज पर्य्याप्त कोलाहल मचा हुआ है। कहा जा रहा है कि, “अस्पृश्यता ही हिन्दूजाति का एकमात्र ऐसा कलङ्क है, जिसने भारतवर्ष का, भारतस्यातन्त्र्य का अपहरण किया है”। अपने आपको ईश्वर के निकटतम सम्बन्धी समझने का अभिमान करने वाले, वर्णाश्रमव्यवस्था के अनन्यसमर्थक-शास्त्रप्रमाणिकशरण गीताशास्त्र जैसे शास्त्र को अपनी प्रातिस्विक सम्पत्ति उद्धोषित करने वाले, गीता-प्रतिपादित कर्ममार्ग को ही एकमात्र जीवन का परम पुरुषार्थ कहने वाले कतिपय राष्ट्रिय नेता ही आज ‘अस्पृश्यता’ जैसे विज्ञानसिद्धान्त को, शास्त्रसिद्धान्त को, अतएव इस इश्वरीय आदेश को हिन्दूजाति का कलङ्क मान रहे हैं, और मनवा रहे हैं। ‘गतानुगतिको लोको न लोकः परमार्थिकः!’ रूप से ‘शिक्षित’ कहलाने वाला वर्तमान युग का शिक्षितवर्ग भी इन कल्पित राष्ट्रिय प्रवादों की ओर क्रमशः आकर्षित होता जा रहा है।

## प्रकृति का प्राकृतिक वैषम्य-

हमारे वे कर्णधार, एवं तदनुगत शिष्ट-मानव असच्छूद्र की धाम्पूरयता का इसलिय विरोध कर रहे हैं कि, उनकी विशाल-उदार-तत्त्वपूर्ण दिव्यदृष्टि में 'असच्छूद्र-मानव' और वर्णमानव के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। इसी आधार पर उनकी यह तार्त्विक घोषणा है कि— "यह भी उनके जैसा ही मनुष्य है। उसी शुद्ध-शोणित के दाम्पत्यभाव से उत्पन्न होने वाला, उन्हीं आत्मा, मन, बुद्धि, इन्द्रियगणों से युक्त रहने वाला, उसी ईश्वरीय समानक्षेत्र (भूक्षेत्र) को अपनी आवासभूमि बनाने वाला असच्छूद्रवर्ण हम से सर्वात्मना समतुलित है। जैसे हम हैं, ठीक वैसा ही यह है। हमें जो प्राकृतिक अधिकार, जो सामाजिक अधिकार प्राप्त हैं, अवश्यमेव यह भी इनका पूर्ण अधिकारी है। 'शुनि चैव शत्रुपाके च परिहृताः समदर्शिनः' इस गीताराध्यान्त से भी इस समानाधिकारता का समर्थन हो रहा है।" इस प्रकार के समदर्शन के आधार पर समानाधिकार-प्रदान की व्यवस्था करने वाले आवेशाभिनिविष्ट हमारे ये आत्मबन्धु परोक्षदृष्टि से जिस सर्वनाश का बीजवपन कर रहे हैं, हन्ता ? उन्हें यदि यह विदित हो जाता, अथवा तो विदित करा दिया जाता कि, उन्होंने जिस समदर्शन के आधार पर जिस समानाधिकारता का सिद्धान्त स्थापित करने की जो मूल की है, यही मूल उनके अनुमह से, परमात्मा न करे ऐसा हो, भारतीय प्रजा को ऐसे गर्च में डाल देगी, जिससे परित्राण पाना एकमात्र अवतारपुरुष पर ही निर्भर होगा।

हमारे ये विचारशील बन्धु जिसे समदर्शन कर रहे हैं, वचनतः यह विषमदर्शन है, यह उस समय भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है, जब इस शब्द के प्रयोक्तृ शास्त्र से हम इसकी परिभाषा कराने आगे बढ़ते हैं। "श्रेय-चक्षु-नासिका-मुख-हस्त-पादादि-युक्त स्थूलशरीर की दृष्टि से हम सब समान हैं", इत्यादि रक्त समदर्शन तो भारतीय तत्त्वदृष्टि से, तथा उनकी आराध्या प्रतीक्य तत्त्वदृष्टि से भी एकाग्रतः विषमदर्शन ही है। वैषम्य ही सृष्टि का मूल उपादानकारण माना गया है। प्रकृति-रहस्यवेत्ता प्राचानिकों ( सांख्य ) का इस सम्बन्ध में यह निर्णय है कि, प्रकृति के 'सत्त्व-रज-तम' नामक तीनों गुणों की विषमता ही, दूसरे शब्दों में गुणत्रयरूपा प्रकृति का वैषम्य ही इस स्थूलजगत् का उपादान बनता है। क्योंकि सृष्टजगत् का उपादान विषम प्रकृति है, अतएव 'कारणगुणाः कार्य-गुणानामन्ते' न्याय से स्थूल प्रपञ्च का अणु अणु इस प्राकृतिक विषम-भाव से, नित्य आक्रान्त बना रहता है। जिस दिन प्रकृति, किंवा प्रकृति के गुणत्रय अपनी विषमता छोड़ कर साम्यभाध में परिणत हो जायेंगे, उसी क्षण समस्त भौतिक प्रपञ्च प्रलयगर्भ में विलीन हो जायगा, तिसरे उपक्रम को हमारे ये नयबन्धु श्रेयःपन्था मानने की अग्रद्वार मूल कर रहे हैं।

## समानाधिकारव्याप्तीहान-

जिन प्रकृतितन्त्र में गन्त्राको पूर्णधरूप भी आवद्ध है, जिस विषम प्रकृति को, किंवा प्रकृति की विषमता का आगे कर परपुरुष (अन्यपुरुष) विरवन्तया विश्वप्रजा के निर्माण में समर्थ होता है, जो

विषमा प्रकृति-“मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृजते सचराचरम्” ( गीता ६।१० ) के अनुसार विश्व का मूल-कारण वनी हुई है, जिस प्रकृतिपाश में आवद्ध पुरुष को भी ‘परवश’ रहना पड़ता है, उस भिन्नप्रकृति-मूलक भिन्नवाद को सम देखने वाले तत्त्वटप्ट्या सचमुच प्रणम्य हैं, इन का समदर्शन प्रणम्य है, और प्रणम्य है तदाधारेण ( कल्पिताधारेण ) प्रतिष्ठित उनका कल्पित समानाधिकारवाद। क्या पशु-पक्षी-कृमि-कीटों में आँख-नाक-कान-मन-बुद्धि नहीं है ?। क्यों नहीं इन्हें भी समानाधिकार दे दिया जाता ?। उस समदर्शी ईश्वर के साम्राज्य में उत्पन्न होने वाले अन्न का सारभाग तो हम निगरित कर जायें, और पशुओं को केवल निस्तत्त्व तृण खाने मात्र का अधिकार दिया जाय, यह कैसा समदर्शन है ?, वैसा समानाधिकार है ?। आप हम शीत मीप्प-वर्षा से बचने के लिए सावरण प्रासादों में सुख भोगें, और ये बेचारे पशु-पक्षी हमारे जैसे ही आँख-नाक-कान-आदि रखते हुए भी शीतलपर्वण के कण्ट सहते रहें। अवश्य ही आज से ही इसी क्षण से तृण के स्थान में इनके लिए न केवल जौ-नेहूँ की ही, अपितु उन सब तिक्त-मधुर-लघणादि दुक्त भोग्य पदार्थों की व्यवस्था करनी ही चाहिए। उनके लिए भी भव्य-अट्टालिकाओं का निर्माण होना ही चाहिए। प्राणिमात्र की हितैषिता की पोषणा करने वालों की सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-सत्ता में यह अनाचर ?, यह अत्याचार ?, यह विषम वर्त्तन ? अन्नद्वयम् ! अन्नद्वयम् !!

### जात्युपजातिमीमांसा—

हम भूल कर रहे हैं। हमें इतनी विदूर अनुभावन न कर केवल मनुष्यजाति को ही विचारविषय का केन्द्र बनाना चाहिए। अभ्युपगमवाद से अपनी भूल स्वीकार करते हुए थोड़ी देर के लिए ऐसा भी माना जा सकता है। अभ्युपगमवाद इस लिए कहना पड़ रहा है कि, जिन ‘पशु’-‘पक्षी’ आदि-जातियों को एक एक जाति मानने की भूल की जा रही है, उनमें प्रत्येक में वही प्रकृतिवैषम्य से अनेक जात्युपजातियाँ व्यवस्थित हैं। अश्व-गौ गर्दभ-सिंह-मृग-वराह-आदि पशुजाति की अनेक अवान्तर जातियाँ हैं। अर्वा-बाजी-श्यामकर्ण-आदि अनेक अधोपजातियाँ हैं, जिनका ‘अश्वशास्त्र’ नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ में निरूपण हुआ है। वशा-रूपिला-कामवेनु-धूम्रा-आदि भेद से गौजाति भी अनेक भागों में विभक्त है। गर्दभ की अवान्तर उपजातियों का अन्वेषण कर्म तो आज के युग में सुकर है ही। इसी प्रकार सिंहादि की व्यवस्था समझिए। पक्षियों में अवान्तर असंख्य जाति-उपजातियाँ। कृमियों में यही व्यवस्था। सर्प नामक केवल एक कृमिविशेष की ? सङ्ख्य उपजातियाँ। क्या महाभारत के सर्प-सत्र को देखने का कष्ट करेंगे ?। इसीलिए हम अपनी भूल को अभ्युपगमवादमूला वतला रहे हैं। विशेष विज्ञासा की पूर्ति के लिए गीताभाष्यभूमिका-कर्मयोगपरीक्षा प्रकरण का ‘वर्णव्यवस्थाविज्ञान’ नामक प्रकरण देखने का कण्ट कीजिए। यदि पशुजाति की अवान्तरजातिमूलो अश्व-गर्दभादि जातियों में प्रकृतिभेदद्वारा असंख्य उपजातियाँ हो सकती हैं, तो अवश्य ही मनुष्यजाति की अवान्तर जातिभूता हिन्दुजाति में भी प्रकृतिभेदमूला ब्राह्मणक्षत्रियादि-अनेक उपजातियाँ हो सकती हैं।



## सर्वोच्छेदक दृष्टिकोण—

जाति-तत्त्व का भी तो सम्बन्ध करना पड़ेगा। 'जाति' शब्द का मूलप्रभव कौन ? महत्-प्रकृति-रूप वह महानात्मा, जिसमें इस आद्विविज्ञाननियन्ध में आरम्भ से यशोगान किया जा रहा है। 'आकृति, प्रकृति, अहङ्कृति' एवं 'सत्त्व-रज-तम' इन ६ भावों के सम्बन्ध से यह जाति- (जाति-आयु-भोग)-प्रवर्त्तक बहुगुणक महानात्मा ही कार्यविध का मूलप्रवर्त्तक है। आकृति का तमोगुण से, प्रकृति का जो गुण से, अहङ्कृति का सत्त्वगुण से सम्बन्ध है। आकृति की प्रतिष्ठा प्रकृति है, प्रकृति की प्रतिष्ठा अहङ्कृति है। अतएव सत्त्वगुणानुगत अहंभाव-(आत्मभाव)-मूला-आत्मदृष्टि ही बाह्यदृष्टियों की मूलप्रतिष्ठा मानी गई है। आकृति-साम्य समदर्शन का मूल नहीं है, अपितु प्रकृतिसाम्य समदर्शन का मूल है। नहीं, नहीं, प्रकृति तो पूर्वकथनानुसार स्वयं विपम है। भला यह समदर्शन का मूल कैसे बन सकती है। तो क्या अहं-साम्य समदर्शन का मूल है ? नहीं, महत्प्रकृत्यनुगत यह अहंभाव भी तो प्राधानिक सिद्धान्त के अनुसार प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न ही है। प्रत्येक का सविशेष आत्मा अपने-अपने सुखदुःखादि इन्द्रों से पृथक्-पृथक् अतिशय रख रहा है। इस प्रकार महत्प्रकृति से सम्बद्ध, अतएव सर्वथा विपम आकृति-प्रकृति-अहङ्कृति (सविशेष आत्मा), तीनों में से किसी को भी समदर्शन का मूल नहीं माना जा सकता। जब ये तीनों ही समदर्शन के मूल नहीं, तो इनके आधार पर समानाधिकार की कल्पना केवल खपुष्पकल्पना-स्वरूप में शेष रह जाती है। हमारा शरीर, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन, हमारी बुद्धि, हमारा स्वभाव, हमारा सविशेष-कर्मफलभोग-कर्मकर्त्ता भूतः-प्रति-योगमाया के भेद से परस्पर एक दूसरे से विपम है। इन विपम उपकरणों के सम्बन्धी बर्थावत लौकिक जड़-चेतन पदार्थ विपम हैं। इसी विपमता से सब के अधिकार परस्पर विपम हैं। इस प्रकार जिसे हम चलते फिरते समदर्शन कर रहे हैं, वह तो तत्त्वतः आत्यन्तिक रूप से विपमदर्शन है। एवं ऐसे विपमदर्शनात्मक समदर्शन के आधार पर जिसे हम समानाधिकार कहने चले हैं, वह तो वस्तुगत्या विपमाधिकार है। तत्त्व को तद्रूप से देखना, एवं तत्त्व को तदधिकार में ही सुरक्षित रखना सृष्टि की स्वरूपवा है। एवं तत्त्व को अतद्रूप से देखना, एवं तत्त्व को अतदधिकार के लिए प्रोत्साहित करना ही सृष्टिस्वरूप का उच्छेद करना है। यह उच्छेद विश्वोच्छेद का कारण तो नहीं बनना, हों हमारे स्वरूप का उच्छेदक अवश्यक बन जाता है।

## समविपयभाव मीमांसा—

तत्त्वदृष्टि को छोड़ कर भूतदृष्टि से ही विचार कीजिए। आपके आपह दुराग्रह-विशेष से मान लिया हमने कि, मनुष्य-मनुष्य सब एक हैं, समान हैं, जब कि तत्त्वतः पूर्वकथनानुसार इस मान्यता में कोई सार नहीं है। क्या आप इस समदर्शन के आधार पर मनुष्यमात्र को समानाधिकार दे सकेंगे ? क्या आपने कभी किसी को ऐसा अधिकार दिया है ? अधिकार का अपहरण ही किया

होगा आपने। अधिकार-प्रदान की शक्ति आप में है ही कहें। आप नहीं जानते, आप में एक बहुत बड़ी निर्बलता है। उसी निर्बलता का नाम है—सविरोध आत्मा से सम्बन्ध रखने वाला आत्माभिमान, जो कि आत्माभिमान साधारणभाषा में 'व्यक्तिप्रतिष्ठा' कहलाया है। स्वभावतः प्रत्येक व्यक्ति अपने आप को इतर व्यक्तियों की तुलना में आगे बढ़ा हुआ देखना चाहता है। समदर्शन का वृद्धातिवृद्ध-प्रतिपत्ति भी मानव का इस प्रलोभन से ग्रहण नहीं कर सकता। निरोध कर सकती है इस प्रलोभन का एकमात्र वह ब्रह्माद्वैतभावना, जिसे प्राप्त कर लेने पर मानव भेद की तो क्या कथा, जड़-चेतन का वैषम्य भी विस्मृत कर देता है। परन्तु जबतक हम व्यवहारजगत् में प्रतिष्ठित हैं, जयनक हम राष्ट्र-समृद्धि के इच्छुक हैं, समाजोन्नति के पक्षपाती हैं, वैयक्तिक विकास के अनुगामी हैं, तबतक उक्त प्रलोभन से पीछा छुड़ाना सर्वथा असम्भव ही है। यही आत्माभिमान आगे जाकर विषमाधिकार का प्रयत्न बन जाता है।

आपादमस्तक इस विषमदर्शन, तथा समानाधिकार के कुचक्र में बह मूण करते रहने वाले, केवल यादमात्रेण 'समदर्शन-समानाधिकार' शब्दों का उद्योष करने वाले उन कर्णधारों को समामन्त्र के उष पीठ पर बैठने का अधिकार किसने दिया? जहाँ के समान आँख नाक वाले दर्राक नीचे अप्रतिष्ठा से घेरे, और वे समदर्शी भगवत्प्रतिमावत् पीठ पर विराजमान रहें, यह कैसा समदर्शन?, और कैसा यह समानाधिकार?। गतानुगतिक इन दर्राकों का भगवद्दर्शनाधिकार सम्भवतः सुलभ है। किन्तु वे ब्रह्मालु उन सत्तापीठाधीश्वरों के दर्शनाधिकार के लिए विदित नहीं, किन्तु कष्ट उठाते रहते हैं। अनुग्रहदृष्टि तो असम्भव ही है। वे उपदेशक हैं, हम उपदिष्ट हैं। वे पथप्रदर्शक हैं, हम पथिक हैं। वे अनुशासक हैं, हम अनुशासित हैं। हमारी थोड़ी भी भूल हमारा महा अपराध है, उनकी महाभूल भी हमारी दृष्टि में कोई गुप्त-मग्नलप्रद परोक्ष रहस्य है। और यह दर्शन-अधिकार-वैषम्य इसलिए स्थाभाविक है कि, उनकी जन्मदात्री प्रकृति स्वयं विषमा है। अपने इस स्थाभाविक विषम-दर्शनात्मक समदर्शन के आधार पर इनकी ओर से जिस कल्पित समदर्शन का सूत्रपात हो रहा है, उसके दुष्परिणाम आज हमारे सामने उपस्थित हैं। राष्ट्रिय व्यवस्था से आरम्भ कर व्यक्तिमन्त्र पर्यन्त अनधिकार-चेष्टाओं का साम्राज्य हो रहा है। जो कल राष्ट्रवादी था, वही आज राष्ट्रविरोधी बन रहा है। आत्माएँ नियन्त्रिणी हैं, दृष्टिधाम बनते हैं। 'अनुशासन भङ्ग कर दिया' का करुण मन्दन आरम्भ होता है, परन्तु सब निष्फल। सामाजिक व्यवस्था में भी यही दुर्गति सामने आ रही है। समाज के शिष्टों का अनुशासन आज यथार्थतः तुल-सुखादि की अपेक्षा से भी निर्भर (इल्लभ) प्रमाणित हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने अपने सामाजिक विचार अपने अपने लिए नियत हैं। एक एक व्यक्ति एक एक समाज बनता हुआ 'मममग्नानि' लक्षण 'समाज' शब्द का गला घोट रहा है। व्यक्तिप्रतिष्ठा की रक्षा के नाते समयोचित-आकर्षक-प्रभावोत्पादक चेतन धारण कर यत्र तत्र सभा-समितियों में पहुँचने वाले ये बन्धुगण आदर्शाद के-धर्म-धीरता के-समानाधिकार के-समदर्शन के उद्योषों से जहाँ भूमावारी

शेषमस्तक को स्वपदापातों से कम्पित करते रहते हैं, मुष्टिप्रहारों से काष्ठमञ्च के अङ्ग-प्रत्यङ्ग विदीर्ण करने का परमपुरुषार्थ करते रहते हैं, यहाँ आस-पड़ोस के दुःखी-आर्त्ता-बन्धुओं के लिए ये ही पुरुष-पुङ्गव गजनीमीलिकान्याय की उपासना करते रहते हैं। अधिक दृष्टा तो समाज के नियमों का भङ्ग कर उसे जलाजलि से वृम करने का अनुग्रह कर देते हैं। व्यक्तिगत प्रवृद्ध आवश्यकताओं को उद्दाम-वासनाओं से भाषितान्तःकरण इन समाजनेताओं की दिव्यदृष्टि में भारतीय सभी सामाजिक नियमों-पनियम रुढ़िवाद हैं, व्यर्थ के आडम्बर हैं।

### आदर्श समतुलन—

‘एको गोत्रे य भवति पुमान् सः कुटुम्बं विमर्त्ति’ से सम्बद्ध कीटुम्बिक व्यवस्था के रत्नर-सामाजिक नियम रुढ़िवाद, एवं-‘धुञ्जते ते त्वयं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्’ (गीता ३।१३।) के अनुसार केवल व्यक्तिगत पापमयी तुष्टि वृत्ति के अनुगामी इन दिव्य पुरुषों का आदर्श आदर्श ?। देशभक्ति-स्वदेशभक्ति पर यन्त्रिस्त्रिन् भी प्रहार न करने वाले ? धनियन्त्र (रेडियो) की उपासना तो आदर्श है, जिसे समाज के सभी व्यक्ति सुलभतया प्राप्त नहीं कर सकते। किन्तु विवाहाद्युत्सवों में मेरी-ताल-माङ्गहार-आदि वाद्यों का वादन इनको दृष्टि में रुढ़िवाद है। बन्धु वाग्धवों के साथ सोत्साह गज-तुरग पदाति द्वारा वरधात्रादि के प्रदर्शन तो रुढ़िवाद है, किन्तु विशुद्ध विदेशी जड़ यानसाधनों की परम्परा का ग्रहण आदर्श है। वर-वधू के सम्मुख उपस्थित होकर उनके प्रणयभाव से प्रसन्न होकर साक्षात् रूप से उन्हें आशीर्वाद देना तो रुढ़िवाद है, किन्तु-‘मेरे अमुक का विवाह है, कृपया आशीर्वाद भेजिए’ वाली आशीर्वादपद्धति-आदर्श है। भारतीय शिष्टमर्यादा ने आसनादि लगाकर भारतीय भोज्य पदार्थों से अतिथियों का सम्मान करना तो रुढ़िवाद है, किन्तु विद्युच्छटाच्छादित घातावरण में कुर्सी-टेबुल-अदि के महर्घ विन्यास द्वारा विविध प्रकार के फ्रूट्स, और सर्वतो मुख्य घट भारतीय पेय, जो गर्मी में भी बहुत ठंडक पहुँचाने वाला माना जा रहा है, आतिथ्य के लिए उपस्थित करना आदर्श है। यही दुर्ब्यवस्था आज हमारी कीटुम्बिक व्यवस्थाओं की है।

### मानवीय मर्यादा का आत्यन्तिक स्वतन्त्र—

वात अप्रासङ्गिक होती हुई भी हमारी संकुचित दृष्टि में लाभ की है। हमारे एक अनन्य मित्र ने जो वैदिक साहित्य के अन्वय प्रेमी हैं, जिनका नामोल्लेख शिष्टता के नाते अप्राकृत है, एक बार हमारे सामने ‘पॉलिसी’ (वोमा) का महत्त्व उपस्थित किया। “वर्त्तमान दशा में सभी व्यवस्थाओं के अस्तव्यस्त हो जाने से भले ही कुछ समय के लिए इस वोमापद्धति से हमें कहने भर को अर्थसुविधा मिल जाय, किन्तु भारतीय दृष्टिकोण से, विरोधतः भारतीय कीटुम्बिकव्यवस्था के दृष्टिकोण से यह व्यवस्था सर्वथा घातक है” इस प्रतिवाद से कहीं घड़ी कउनता से उन्होंने अपना मन्तव्य पढ़ा। पति-पत्नी-माता-पिता-पुत्र-कन्या-भ्राता-भगिनी-बन्धु-आदि की समष्टि से सम्बन्ध रखने वाली

कौटुम्बिक व्यवस्था एक प्रकार का शासनतन्त्र है, सम्पत्तन्त्र है। कुटुम्ब के ज्येष्ठ-श्रेष्ठ व्यक्ति के आधार पर सम्पूर्ण कुटुम्ब का उत्तरदायित्व निर्भर है। उधर-उकपॉलिसी व्यक्तिगत स्वार्थ को प्रोत्साहन देती हुई इस व्यवस्था पर पूर्णरूप से आघात करती है। अपनी व्यक्तिगत अर्थलालसा को उत्तेजित करने वाली यह पॉलिसी पिता को पुत्र से, भाई को भाई से पृथक् कर देती है। ज़ुदाहरणों की दुर्भाग्य से आज कोई न्यूनता नहीं है। भारतीय आध्यात्मिक आदर्श ( जिसने भारतीय मानव को—  
‘अमृतस्य पुत्रा अभूम’ यह दीक्षा दी है, जिस दीक्षा से दीक्षित यह सदा ‘अमर-भावना’ का उपासक बना रहता है, ऐसे इस दिव्य सांस्कृतिक आदर्श ) को अपनी मूलप्रतिष्ठा मानने वाले आस्तिक भारतीय मानव को, अपनी प्रकृतिसिद्ध कौटुम्बिक व्यवस्था के पारम्परिक आदर्श को लक्ष्य बनाते हुए इस आदर्श की महत्ता को परोक्षरूपेण आमूलचूड़ विनष्ट कर देने वाली घातक ‘पॉलिसी’ के व्यामोहन से इसे अपने आगो ओष्ठ ही बनाए रखना चाहिए। व्यक्तिगत विचैपणा को प्रोत्साहित करती हुई यह प्रतोष्य ‘पॉलिसी’ रूपा ‘पॉलिसी’ कालान्तर में लोकाणा को जननी बनती हुई कौटुम्बिक व्यवस्था के उच्छेद के साथ साथ व्यक्ति के आध्यात्मिक निःश्रेयस् भाव का भी मूलोच्छेद कर डालती है।

ब्रह्मानुगत समदर्शन—

कौटुम्बिक व्यवस्था की दुर्दशा का प्रत्यक्ष निदर्शन आज भारतवर्ष का प्रायः प्रत्येक ( शिञ्चित ) गृहस्थ है। “हम भी मनुष्य, हमारा भी स्वतन्त्र स्वत्त” इस प्रकार पूर्वप्रतिपादित विपाक समदर्शन-भावना के अनुग्रह से आज पारम्परिक सद्भाव उच्छिन्न हो गया है। पुत्र कहता है—‘इसे न भूलिए, मैं प्रथम मनुष्य हूँ, पुनः आपका पुत्र हूँ’। कन्या कहती है—‘सावधान ! मैं शिञ्चित हूँ, मेरे काप्यों में हस्तक्षेप करने की भूल न कर बैठना’। पत्नी कहती है—‘नारीजाति-को पददलित करने का युग बीत गया है। हम देश की सम्पत्ति हैं। जितना जो अधिकार तुझारा है, उतना यही अधिकार हमारा है’। तद्विषय, आज सभी व्यक्तिवर्ग इस प्रकार अधिकारव्यामोहन से आत्मस्वरूपविमुग्ध बन रहे हैं। पारम्परिक मानमर्यादा-संयम-आदर्श सब कुछ स्मृतिगर्भ में विलीन है। और राष्ट्र-समाज-कुटुम्ब की इन उक्त अव्यवस्थाओं का श्रेय है, एकमात्र उस व्यक्तिवर्ग को, जिसने समदर्शनरत्मक विषम दर्शन की भावना से अपना स्वरूप विस्मृत कर दिया है। हमारा व्यक्तित्व आज ‘अनुप्या एवैकैऽतिक्रामान्ति’ इस शीत उद्गार को चरितार्थ कर रहा है। आज हम स्वयं अपनी अधिकारमर्यादा से वञ्चित हैं। कब-किस प्रकार-कहाँ-कबतक-क्या करना चाहिए ? इस कम्प्लेक्सनिपत् के ज्ञानाभाव से आज स्वयं हम अपना भी नियन्त्रण करने में असमर्थ होते हुए उत्पन्न-गमन के अनुगामी बन रहे हैं। यही महादोष सर्वप्रथम व्यक्ति में, तद्द्वारा व्यक्तिमण्डिरूप कुटुम्बों में, कुटुम्बमण्डिरूप समाजों में, समाजमण्डिरूप राष्ट्र में सांक्रामिक महामारी की भाँति व्याप्त होगया है। अमर्यादित व्यक्ति-समष्टिरूप कुटुम्ब-तत्समष्टिरूप समाज-तत्समष्टिरूप राष्ट्र का यह समदर्शन, और यह समानाधिकार, कौन कह सकता है कि, हमारा सर्वनाश करके ही विश्राम न लेगा।

प्रचलित समदर्शन के ( जो आज उन्हीं समदर्शियों की भाषा में 'साम्यवाद' नाम से भी पुष्पित पल्लवित हो रहा है ), तथा तत्रप्रतिष्ठ समानाधिकारतत्त्व के उक्त इतिवृत्त से पाठकों को सम्भवतः यह स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति न होगी कि, भारतीय ऋषियों ने जिसे-समदर्शन कहा है, उसका प्रकृतितन्त्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । जिस गीतावचन के आधार पर अपनी कल्पना से मान्य विचारकों ने समदर्शन की उक्त परिभाषा की है, उसी गीताशास्त्र से इस की परिभाषा समन्वय कराना चाहिए । सम्पूर्ण विश्वप्रपञ्च को गीतादृष्टि से-पुरुषदृष्टि, प्रकृतिदृष्टि, भेदसे दो भागों में विभक्त किया जा सकता है । पुरुषदृष्टि के अव्ययदृष्टि, ईश्वरदृष्टि, ब्रह्मादृष्टि, समदृष्टि, आदि विविधरूप हैं । एवं प्रकृतिदृष्टि के ही अन्तरगर्भिता क्लृप्तदृष्टि, जीवदृष्टि, विषमदृष्टि, विश्वदृष्टि, आदि अनेक विधियाँ हैं । समपुरुषतत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित विषमा प्रकृति ही विश्व का निर्माणा करती है । प्रकृति-पुरुष के समन्वित रूप का ही नाम 'इदं विश्वम्' है । फलतः विश्व में परस्परान्यन्ताधिकृष्ट-भावों का समन्वय सिद्ध हो जाता है । जड़-चेतन-सर्वविषय पदार्थों में यह अभिन्न-अविभक्तरूप से व्याप्त है । इस अभिन्ना-अखण्डा-पुरुषसत्ता के आधार पर भेदमूलक-भेदभाषापञ्च प्राकृतिक पदार्थ प्रतिष्ठित हैं । अपनी विज्ञानदृष्टि से सर्वानुरूपत इत अविभक्तियों की भाषना रखना ही समदर्शन है । इसी समदर्शन का नाम धात्विक समदर्शन है । 'शुनि चैव श्रुपाके च परिहृताः समदर्शिनः' से ब्रह्मदर्शन अभिप्रेत है । क्योंकि यही ब्रह्म 'सम' नाम से प्रसिद्ध है । निम्न लिखित वचन सर्वव्यापक ब्रह्म के इसी समस्व का स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१-समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ ( गी० ६।२६। )

२-समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ ( गी० १३।२७। )

३-समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हि नस्त्यात्मनात्मानं धत्ते याति परां गतिम् ॥ ( गी० १३।२८। )

४-यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तथा ॥ ( गी० १३।३०। )

५-क्षेत्र-क्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ( गी० १३।३४। )

६-सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ( गी० ६।२६। )

७-यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ( गी० ६।३७ ) ।

८-इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

“निर्दोषं हि समं ब्रह्म” तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ( गी० ५।१६ ) ।

अर्जुन, विचारशील अर्जुन समदर्शन की भावना को लेकर आगे बढ़ा था । “ये सब हमारे ही तो बन्धु-बान्धव हैं, भेला इन्हें मार कर हम कैसे सुखी हो सकते हैं” यही तो अर्जुन की समदर्शन मूला दयामयी-भावना थी । परन्तु भगवान् ने इसका लेशतोऽपि समादर न किया । कारण, अर्जुन का यह समदर्शन वस्तुतः विषमदर्शन था, प्रकृतिविरुद्ध दर्शन था । जो जैसा है, उसे वैसा न समझना ही प्रकृति-विरोध है । अर्जुन ने स्वयं अपने आपको ही समझने में भूल करी । यह भूल गया कि, “मैं क्षत्रिय हूँ, क्षात्रवीर्य मेरी प्रकृति है, जिसकी स्वरूपरक्षा एकमात्र आततायी-वध पर ही अवलम्बित है” । अर्जुन की दृष्टि विषमा थी, वर्त्तन सम था । विषमदर्शन-समवर्त्तन का अनुगामी बना हुआ अर्जुन इस प्रकार जब कर्त्तव्यविमुख हो आता है, प्रकृतिधर्मविरुद्ध अधर्म जब इस पर आक्रमण कर लेता है, तो भगवान् इसके सम्मुख प्रकृति-पुरुष के विवेक का विरलेषण करते हुए यह सिद्धान्त स्थापित करते हैं कि, वास्तविक समदर्शन अव्ययारमानुगत है, एवं वास्तविक वर्त्तन प्रकृत्यनुगत है । ब्रह्म सम है, अतः इसे भूल बना कर सर्वत्र आत्मभावना का अनुभव करना चाहिए । प्रकृति विषमा है, अतः इसे भूल बना कर विषमवर्त्तन का अनुगामी बनना चाहिए । समदर्शन का सर्वशरीरों में समानरूप से व्याप्त अखण्डब्रह्म से सम्बन्ध है, पुरुष से सम्बन्ध है, जो कि जन्म-मृत्युप्रवाह से अस्पर्श रहता हुआ विभूतिसम्बन्ध से सर्वत्र समरूपेणावस्थित है । समदर्शनमूलक इसी अखण्डपुरुष को लक्ष्य बना कर भगवान् ने यह व्यवस्था की कि—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्मायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—गीता २।२०

विश्वानुगत विषमवर्त्तन—

कर्मप्रधान व्यावहारिक जगत् का सत्तात्र है प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न प्राकृतिक सोपाधिक भूतात्मा, जो महानात्मा, विज्ञानात्मा, भूतादि से नित्य सम्परिप्लव्त रहता है । यह प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है । इस दृष्टि से प्रत्येक प्राणी का तन्त्र स्वतन्त्र है । इसका जन्म होता है, मृत्यु होती है । उस निर्दिशेष के लिए जहाँ एक ओर भगवान् ‘न जायते म्रियते’ कहते हैं, वहाँ इस सविशेष आत्मा के लिए निम्न लिखित सिद्धान्त स्थापित करते हुए इसे जन्म-मृत्युप्रवाह से आक्रान्त घतला रहे हैं—

ज्ञातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च ।  
तस्मादपरिहार्ये न च शोचितुमर्हसि ॥

—गीता २।२७।

विषमभावापन्न विषम विश्व की मर्यादा-रक्षा के लिए व्यवहार के अनुबन्ध से इसे लक्ष्य बनाना चाहिए, एवं पराशान्ति के लिए व्यवहारातीत उस समग्रता को लक्ष्य बनाना चाहिए। यदि हम केवल विश्वासक्ति में अनुरक्त हो गए, तो सर्वनाश है। साथ ही यदि केवल ब्रह्मभावना में ही विलीन बने रह गए, तो लोकसंग्रह-लोकमर्यादा-विश्वस्वरूप का उच्छेद है। क्या करना चाहिए ? भगवान् उत्तर देते हैं—सम-ब्रह्म को आधार बनाओ, विषम विश्व को आधेय बनाओ। व्यवहारजगत् में सविशेष आत्मा को प्रधान बनाओ, इससे तो लोकसंग्रह सुरक्षित रहेगा, मर्यादा सुव्यवस्थित बनी रहेगी। एवं अपने व्यवहारकाल के साथ साथ ही उस समग्रता की भावना सुरक्षित रखो। इससे विश्वासक्तिमूलक बन्धन अपना प्रभाव न डाल सकेगा। इस प्रकार समग्रतामूलक समदर्शन के आधार पर विषम प्रकृतिमूलक विषमवर्त्तन से उभयलोकनिष्ठा सुरक्षित बनी रहेगी।

फलतः सुपरिणाम होगा— ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्बसा ॥

—गीता १।१७।

ऐच्छिक सर्वनाश का आमन्त्रण—

भारतीय प्रजा ने उक्त आदेश का मूल्य समझ, और ऐसा समझा कि, सम्भवतः किसी अन्य जाति को इस समझ का सौभाग्य न प्राप्त हुआ होगा, न भाविष्य में ही कोई आशा है। इसका समदर्शन केवल चेतन-जगत् पर ही विश्रान्त नहीं हो गया, अपितु जड़पदार्थों में भी इसकी यह ब्रह्मभावना व्याप्त हो गई। इस समदर्शन के साथ इसने विषमवर्त्तनद्वारा लोकनिष्ठा का भी संग्रह किया। एकत्र में अनेकत्र स्थापित कर, एवं अनेकत्र में एकत्र के दर्शन कर आर्षप्रजा ने उभयलोकनिष्ठा को सफल बना लिया। समदर्शन के प्रभाव से जहाँ इसने आध्यात्मिक आत्मजगत् पर विजय प्राप्त किया, वहाँ विषमवर्त्तन से आधिभौतिक वाहजगत् को पुष्पित-पल्लवित किया। एक ओर विषमवर्त्तनपक्षपाती भगवान् जहाँ अर्जुन को—‘युद्धाय कृतनिश्चयः’ यह आदेश दे रहे हैं, वहाँ समग्रतामूलक समदर्शन के पक्षपाती भगवान्-साय-साय ही—‘समः शत्रौ च मित्रे च’ (१।२।१८) यह भी आदेश देना अनिवार्य मान रहे हैं। विषमवर्त्तनानुगत ऐसा समदर्शन जहाँ उभयलोककल्याणकर भारतीय साम्यवाद है, वहाँ समवर्त्तनानुगत विषमदर्शन तमोगुणमूलक, अतएव अधर्ममूलक सर्वथा काल्पनिक आज के मान्य धन्धुओं का आज का सर्वनाशक वह साम्यवाद है, जिसके व्यामोह में पड़कर हम अपने सर्वनाश का इच्छापूर्वक आमन्त्रण कर रहे हैं।

शूद्र, वैश्य, स्त्री, क्षत्रिय, ब्राह्मण, राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक, पुत्र, पिता, भ्राता, भगिनी, आदि भेदों का मूल प्रकृतितन्त्र है। प्रकृतितन्त्र से सम्बद्ध सविशेष मित्र आत्माने ही इनके स्वरूपभेद को प्रतिष्ठित कर रक्खा है, यही भेद इनका स्वरूपरक्षक है। जिन नियम-व्यवहार-अधिकार-मर्यादाओं से इनका यह विशेषभाव सुरक्षित रहता है, वे ही इनके लिए धारणलक्षण धर्म हैं, विपरीत अधर्म हैं। ब्राह्म-क्षत्र-विट्-शूद्र-आदि विशेषताओं का प्राकृतिक वैशिष्ट्य से सम्बन्ध है। विज्ञानानुगत प्राकृतिक इस भेदवाद मूलक वैशिष्ट्य के आधार पर व्यवस्थित स्पृश्य-अस्पृश्य-व्यवस्था का मूल धरातल प्राकृतिक जगत् है। एक वृक्षपत्र के ताड़न से जिस भारतीय का हृदय कम्पित हो जाता है, जो भारतीय कृमि-कीटादि तक के लिए अन्न व्यवस्था करता है, यह समस्तजातीय शूद्रवर्ग के लिए घृणा के आधार पर उन्हें अस्पृश्य मान बैठेगा, यह कौन विचारशील स्वीकार करेगा ? 'मा करिचद् दुःखभाग्भवेत्'-'परस्पर-भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ'-'शूद्रोऽपि दशमी ज्यायान्' आदर्श को सर्वप्रथम स्थापित करने वाली भारतीय प्रजा शूद्रावृथत्ता के सम्बन्ध में घृणा को मूल मानती है, उनसे उद्वेग करती है, यह उन अभिनिषिद्धों के प्रचार का कुफल है, जो अपने कल्पित सिद्धान्त की रक्षा के लिए शास्त्र के नाम से मिथ्या प्रचार कर सर्वनाश का बीज बपन कर रहे हैं। अथर्व ही यह अस्पृश्यता-विज्ञानमूला है, अतएव अथर्व ही स्पृश्य-अस्पृश्य दोनों भाषों की स्वरूपरक्षिका है। स्त्री-शूद्र-वैश्यों को पापयोनि बतलाने वाले भगवान् से उन कृपालुओं में प्रश्न नहीं किया कि, भगवन् ! आप तो समदर्शी हैं, आपने इन्हें पापयोनि कैसे, क्यों कह डाला ? सम्भवतः भगवान् उस समय यही उत्तर देते कि, समदर्शन हमारी अव्ययकला से सम्बन्ध रखता है, जिसका व्यावहारिक जगत् से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यवहार-काण्ड में तो विपरीत प्रकृति का ही साम्राज्य है। एवं तमोगुणप्रधाना रात्रि के कृष्णसोम से उत्पन्न स्त्री, दितिपृथिवीमूलक तमोभूत आसुरप्राण से उत्पन्न शूद्र, एवं सायंकालीन क्षयिष्णु क्षायामय जागतप्राण से उत्पन्न वैश्य अवश्य ही पापयोनियाँ हैं।

### प्राकृतिक विधिविधानों की उपयोगिता-

यह स्पष्टतम विषय है कि, सनातनशास्त्र का प्रत्येक विधि-विधान प्रकृति को, वस्तु के आध्यन्तर स्वरूप को, स्वभाव को, स्वरूपधर्मों को आधार बना कर ही उसकी रक्षा के लिए ही प्रवृत्त हुआ है। विज्ञानानुगत। नित्या नियति इन विधि-विधानों का नियमन कर रही है, जिसे हम अन्तर्ध्यामी का शासनसूत्र भी कहा करते हैं। इन्हीं नियतिमूलक नियत धर्मों (धर्मधर्मों) की रक्षा के लिए वेदमूलक धर्मभेद प्रवृत्त हुआ है। विभिन्न अधिकारमर्यादा से सुरक्षित यह धर्मभेद आध्यात्मिकदृष्ट्या समदर्शन को अपनी आधारशिला बनाता हुआ अवश्य ही हमारा आराध्य है, एवं यही भारतीय धर्म (प्राकृतिकधर्म) का इतर समयानुबन्धी मानवमर्तो की तुलना में वैशिष्ट्य है, जिसका गीता-उपनिषदादि भाष्यों में विस्तार से उपवृंहण हुआ है। समदर्शन की भावना से घृणा को प्रवेश करने का



अन्यतर नहीं मिलता, पारस्परिक सद्भाव सुरक्षित रहता है, 'समानानि मनांसि वः' मूलक पारस्परिक सहयोग सुरक्षित रहता है। कोई भी अपनी प्रातिष्ठिक वर्णाधिकारमर्यादा को परस्पर की तुलना में हीन-श्रेष्ठ समझने की भ्रान्ति नहीं करता। अपने अपने स्थान पर सुरक्षित रहने वाले इन सबका आत्म-दृष्ट्या एक ही बिन्दु में समन्वय हो रहा है। ऐसा समदर्शन-विषमवर्तनमूलक 'सममञ्जसि' लक्षण समाज ही भारतीय कौटुम्बिकसमाज-ग्रामसमाज-नगरसमाज-तथा राष्ट्रियसमाज है। आँख-नाक-मुख-उदर-पाद-आदि सभी परस्पर में अपना प्रत्यक्ष-वृधरूप रखने वाले हैं, सब का स्वरूप परस्पर में भिन्न, नाम-आकृति-गुण-जाति-कर्म-स्वभाव-सब कुछ भिन्न भिन्न। परन्तु कोई किसी के अधिकार पर आघात कर परस्पर अधिकार-विनिमय की यात्रा नहीं कर रहा। सब अपने अपने अधिकार पर सुरक्षित रहते हुए अह-भावत्मिका एक आध्यात्मसंस्था के लिए आत्मसमर्पण किए हुए हैं। सब का आलम्बन एक है, लक्ष्य एक है, प्रारिस्थान एक है। परन्तु इस एक आलम्बन पर आलम्बित सबका स्वरूप-अधिकार-भिन्न-भिन्न है। अपनी-अपनी अधिकारमर्यादा से कोई छोटा-बड़ा नहीं है। सबका स्व-स्वस्थान पर समान महत्त्व है। कोई परस्पर ईर्ष्या-वृणा-अहमहमिका नहीं करता। एवं जबतक प्राज्ञभौतिक आध्यात्मिक क्षेत्र में समानदर्शनमूला, तथा विभिन्नाधिकारमूला यह समाजव्यवस्था सुरक्षित है, तभी तक शरीर-समाज स्वरूप से सुरक्षित है। दुर्भाग्य से यदि शरीरसमाज के व्यक्तिस्थानीय चक्षु-श्रोत्र-पाद-उदरानि में कहीं अधिकारसाम्य को लेकर संघर्ष उपस्थित हो जाय, तो क्या परिणाम होे ? इसका समाधान उन्हीं सम-अधिकारमर्यादा के पक्षपातियों से ही कराना चाहिए। इसी व्यक्तिमन्त्र-लक्षण आध्यात्मिक क्षेत्र के आधार पर हमारी कुटुम्ब-समाज, तथा राष्ट्रिय अधिकारमर्यादाओं की प्रतिष्ठा हुई है। कहना न होगा कि, इन सब वर्तमान अव्यवस्थाओं का मूल एकमात्र व्यक्तिविमर्श का उच्छेदमात्र है। आज हमारा व्यक्तित्व आहारादि की विषमता से, परशिक्षाभ्रंश से सर्वथा विह्वल हो गया है, विह्वल व्यक्तित्व ने हमारे कुटुम्ब-समाज-राष्ट्र-सबको विह्वल कर डाला है। यही है वर्तमान युग का कुतुषित व्यक्तित्व, दारुण कुटुम्बव्यवस्था, मर्यादातिक्रान्त समाज, एवं अप्राकृतिक-धर्मविरुद्ध-समानाधिकारमूला राष्ट्रवादियों की राष्ट्रियभावना, जिसे बड़े अभिमान से वे 'साम्यवाद' जैसे पवित्र शब्द से उद्घोषित करने का दुःसाहस कर रहे हैं। इन दुर्दान्त वासनाओं का, इनके भोषण दुष्परिणामों का उत्तरदायित्व किस पर है ? प्रश्न की मीमांसा स्वयं उन्हें ही अपने अन्तर्जगत् में मुकुलितनयन बन कर करनी चाहिए।

तत्त्वमूला अस्पृश्यता-

किसी प्राकृतिक कारण से असच्छुद्ध अस्पृश्य है, एवं अस्पृश्य ही अस्पृश्य है। इस अस्पृश्यता के मूल में 'दण्ड' है, यह कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा। हमें तो यह कहने में भी संकोच नहीं करना चाहिए कि, आज जो वर्ण-व्रजाओं में परस्पर ईर्ष्या-दोह-वृणा-आदि कुत्सित भावनाएँ जागृत हो रही हैं, इनका एकमात्र कारण विषमदर्शन ही है, एवं विषमदर्शन को प्रोत्साहित करने वाला आत्माति-

मान ही है। साथ ही उन समानाधिकारियों के प्रचार का कुकृत। नहीं तो आज के २०० वर्ष पहिले के भारत पर दृष्टि डालिए। जिस अन्त्यज प्रन ने उनकी कृपा से आज ऐसा भीषणरूप धारण कर रक्खा है, उसका उस युग में नामशेष भी न था। सम्भव भी कैसे होता, जब कि सभी अपनी अपनी अधिकार-मर्यादा पर आरुढ़ थे। आज तो सभी सब कुछ बन जाना चाहते हुए, किंवा बने हुए सम्पूर्ण राष्ट्रवैभव के विलयन के महानिमित्त प्रमाणित हो रहे हैं। देखिए !

‘सर्वे यत्र नेतारः सर्वे पण्डितमानिनः ।

सर्वे सर्वस्वमिच्छन्ति तत्र सर्वं विलीयते ॥

उक्त भावना से जिस दिन से इस अधिकारमर्यादा पर आघात हुआ, उसी क्षण से दुर्दिन का श्रीगणेश हो गया। चतुर राजनीति-विशारदों ने गजनिभोलिका का आश्रय लेते हुए राष्ट्रवादियों की इस लक्ष्यच्युति को परोक्षपरोक्षरूपेण उत्साहित किया। परिणामस्वरूप हमारा राष्ट्रियसमाज मूल लक्ष्य से पराङ्मुख बन कर आज इस गृहकलहप्रवृत्तिका कारण बन गया। भारतीय संस्कृति, साहित्य, धर्म, लोक-राज-धर्मनीति, आदि किसी भी आश्रयक तथा उपादेय राष्ट्रिय कर्म की ओर आज हमारा ध्यान नहीं है। ध्यान है—एकमात्र हिन्दूजाति के उस कलहमार्जन पर, जो वस्तुतया सर्वस्व का मार्जन करने वाला बन रहा है। और यही हैं वर्तमान युग के ‘रचनात्मक कार्य’ का जर्जरित संक्षिप्त इतिवृत्त, जिसकी कृपा से—

समानाधिकारपङ्कनिमप्रता—

ब्राह्मणों का ब्रह्मशीर्ष्य पददलित है, क्षत्रियों का शीर्ष्य-पराक्रम पञ्चाशित है, वैश्यों का अधो-पाडर्जन संकटापन्न है, एवं शूद्रवर्ग का शिल्प-कला-कौशल स्मृतिगर्भ में विलीन है। मानों किसी राष्ट्र को अपनी राष्ट्रसमृद्धि के लिए ब्रह्मशीर्ष्यानुगत सत्याधारा ज्ञानराशि, क्षत्रीयानुगत प्रवृद्ध शीर्ष्य, विद्व-वीर्यानुगत प्रभूत धर्म, एवं शूद्रानुगत शिल्प-कला-आदि कुछ भी अपेक्षित नहीं है। यहिराक्रमणों के ऋज्ज्माथाओं से शताब्दियों से टककर लेते हुए भी भारतवर्ष ने अतीत शताब्दियों में समर्थरामदास, ज्ञानेश्वर, तुकोबा, तुलसी, सूर, जैसे सन्देशवाहक ब्राह्मण एवं साधु उत्पन्न किये, ‘शूद्राणामनिरासितानाम्’ वाले युग ने तक्षशिला-नालन्दा जैसे सांस्कृतिक-साहित्यिक क्षेत्रों को जन्म दिया, शिवाबा, प्रताप, हमीर, छत्रसाल जैसे वीरक्षत्रिय उत्पन्न किए, देश के कलाकौशल ने विदेशी शासकों को स्वकार्षीप में निमग्न बनाया। और आज !!! क्यों यह विशिष्ट-उत्पादन क्रम टूट गया ?, क्यों आज हमारी धम-नियाँ शिथिल हो गईं, आपान के प्रत्युत्तर न देने की हो अहिंसा मानने की भूल हम क्यों कर रहे हैं ?, ‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तैर्यव भजाम्यहम्’ वाला आदर्श कहाँ विलीन हो गया ?, उत्तर एकमात्र यही समानाधिकार-पङ्क। सब कुछ आज इसी महापङ्क में निमग्नित हो गया है।

## शुचि-अशुचिभावमीमांसा—

जिस प्राकृतिक प्राणभेद के आधार पर स्पृश्य-अस्पृश्य-व्यवस्था प्रतिष्ठित है, उस प्राणभेद के सम्यक्-बोधानन्तर ही आज का यह कोलाहल शान्त किया जा सकता है। मलशोधन, मलिन-तामस पदार्थों का साक्षिण्य, आदि सांकायिक दोषों का सर्वथा निराकरण न करते हुए भी इस सम्बन्ध में हमें यह नहीं भुला देना चाहिए कि, अस्पृश्यता का मूल वस्तुतः प्राकृतिक 'अशुचि' भाव है, जिसका कि अनुपद में ही स्पष्टीकरण होने वाला है। अशुचिभाव का वदरूप प्राण से सम्बन्ध है। इस प्राण-का जिनमें जन्मतः प्राधान्य है, वे मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी भी (काक-भान-आदि) अशुचिभावापन्न होने से शुचिभावापन्न स्पृश्य प्राणियों के लिए अस्पृश्य हैं। साथ ही कर्मणा-किया समयविशेषानुगत प्रकृति के सहयोग से जन्मतः स्पृश्य कहलाने वाले मनुष्यों में भी जब कभी यह अशुचिभाव प्रविष्ट हो जाता है, तब वे भी उस समय के लिए अस्पृश्य बन जाते हैं। जिन ब्राह्मणों पर अस्पृश्यता की प्रवृत्ति का कलङ्क लगाया जाता है, वे ब्राह्मण भी समय विशेष में अपने आपको अस्पृश्य कहने में अणुमात्र भी तो संकोच नहीं करते। जिन ब्राह्मणों में जिस प्राणानुगत अशुचिभाव को लक्ष्य में रख कर जिन जन्मजात अशुचिप्राणवच्छिन्न असच्छद्मों के लिए अस्पृश्यता की व्यवस्था की है, उन्हीं ब्राह्मणों में अशुचिभावप्रवर्तक कारणों के अनुगमन से स्वयं अपनी स्पृश्य जाति के सम्बन्ध में क्या उद्गार प्रकट किए हैं?, यह देख कर सम्भवतः फलङ्कमार्जकों को यह बोध हो सकेगा कि, अस्पृश्यता पृथगुक्तिका नहीं है, अपितु प्रकृतिमूला है, प्राणदोषमूला है। शुचिभावापन्न ब्राह्मण किसे माना गया है?, पहिले यही सुनने का अनुग्रह कीजिए।

१—जातकर्मोदिभिर्वस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः ।

वेदाध्ययनसम्पन्नः पट्सु कर्मस्ववस्थितः ॥

२—सत्यवाक्-विषयासी तु शीलवांश्च गुरुप्रियः ।

सत्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ॥

३—तपःश्रुते च योनिआप्येतत् ब्राह्मणकारणम् ।

सत्यं दानं तपो होम आनृशंसं क्षमा नृणाम् ॥

तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥

४—देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च भूतेभ्योऽतिथिभिः सह ।

दत्त्वा शिष्टन्तु यो भुङ्क्ते तमाहुर्विषसाशिनम् ॥

जात्या शुचिभावप्रवर्तक ब्राह्मणीय्य से युक्त रहता हुआ ब्राह्मण उक्त नियमोपनियमों की रक्षा से ही अपना शुचिभाव सुरक्षित रख सकता है। विपरीत पथानुगमन से इसका शुचिभाव मलिन हो जाता

है, एवं अशुचि-अस्पृश्य शूद्र की भाँति यह भी अव्यवहार्य बन जाता है, शूद्रसम स्थिति में आ जाता है। असद्वृत्तानुगामी शूद्रसम अत्राक्षणाक्षणा इसी आक्षणा का इतिवृत्त बतलाते हुए धर्माचार्यों ने अत्राक्षणात्मक आक्षणा के सम्बन्ध में ६ प्रकार के वर्गीकरण माने हैं। देखिए !

१—अत्राक्षणास्तु षट् प्रोक्ता अपिः शातातपोऽब्रवीत् ।

आधो राजभृतस्तेषां, द्वितीयः क्रयविक्रयी ॥

२—तृतीयो बहुयाज्यः स्यात्, चतुर्थो ग्रामयाजकः ।

पञ्चमस्तु भृतस्तेषां ग्रामस्य नगरस्य च ॥

३—अनागतां तु यः पूर्वां सादित्यां चैव पथिमाम् ।

नोपासीत द्विजः सन्ध्यां स षष्ठोऽत्राक्षणः स्मृतः ॥

४—ब्रह्मबीजसमुत्पन्नो मन्त्रसंस्कारवर्जितः ।

जातिमात्रोपजीवी च भवेदत्राक्षणस्तु सः ॥

५—कृपमात्रोदकग्रामे विप्रः सम्बत्सरं वसन् ।

शौचाचारपरिभ्रंशाद् ब्राह्मण्याद्धि प्रभुञ्ज्यते ॥

६—धृषो हि भगवान् धर्मस्तस्य यः कुरुते त्वलम् ।

धृषलं तं विदुर्देवाः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥

७—अनुवासितसन्ध्या ये नित्यमस्नानमोजनाः ।

नष्टशौचाः पतन्त्येते शूद्रतुल्याश्च धर्म्मतः ॥

८—ये व्यपेत्य स्वकर्मभ्यः परपिण्डोपजीविनः ।

द्विजत्वमभिरुह्यन्ति तांश्च शूद्रवदाचरेत् ॥

९—न षष्ठ वेदो न जपो न विद्या च विशाम्पते ।

स शूद्र इव मन्तव्य इत्याह भगवान् मनुः ॥

१०—योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते भ्रमम् ।

स जीवन्नेव शूद्रचमाशु गच्छति सान्वयः ॥

११—हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्धहन्तो द्विजातयः ।

कुलान्पेव नयन्त्याशु सप्ततानानि शूद्रताम् ॥

१२—“अथ योऽयमनग्निकः स कुम्भे लोष्टः। तद्यथा कुम्भे लोष्टः प्रक्षिप्तो नैव शौचार्थाय कल्पते, नैव शस्यं निर्वर्त्तयति, एवमेवायं ब्राह्मणोऽनग्निकः। तस्य ब्राह्मणस्यानग्निकस्य नैव देवं दद्यात्, न पित्र्यं, न चास्य स्वाध्यायाशिषः, न यत्र आशिषः स्वर्गज्ञमा भवन्ति”  
—गो० ब्रा० पू० २।२३।

१३—“अथोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयो वा शूद्रसधर्माणो भवन्ति। विद्वद्भोज्यान्यविद्वांसो येषु राष्ट्रेषु भुञ्जते। तान्यनाष्टृष्टिमुच्छन्ति महद्वा जायते भयम्”॥  
—यसिष्ठः।

उक्त वचनों के आधार पर यह मान लेने में अब सम्भवतः (उन्हें ?) कोई आपत्ति न होगी कि, अस्पृश्यता प्राणशुचिमूला है। इसी आधार पर प्रत्येक मास में परिगणित दिनों के लिए प्रत्येक स्त्री अशुचिमावापन्न होती हुई अस्पृश्य मानी गई है। रजस्वला स्त्री के स्पर्श का निषेध क्या घृणामूलक है ?। मार्गपतित केरा, अस्थि, चर्म, आदि का स्पर्शनिषेध क्या घृणामूलक है ?। साथ ही चमरीगौकेरा, शस्त्रास्थि, कृष्णमृगचर्म की उपासनाकाण्डानुगता उपादेयता क्या श्रद्धियों की उन्मत्तता है ?। मानना पड़ेगा, ये सब प्राणमूलक विधि-विधान हैं। साधारण अस्थि का प्राण-चर्मप्राण-केशप्राण जहाँ अशुचिभाव का प्रवर्त्तक हैं, वहाँ चमरी-शस्त्र-मृगचर्म के प्राण शुचिभाव के प्रवर्त्तक हैं। इस प्रकार एकमात्र प्राणविज्ञान के तारतम्य से व्यवस्थित अशुचि-शुचिभावमूला अस्पृश्यता-स्पृश्यता का उपहास करना क्या उन्मत्तप्रलाप नहीं है ?।

बाह्य-आम्यन्तर-शुचिभाव—

प्राणविद्यारहस्य से सर्वथा अपरिचित केवल भूतान्तक महानुभावों को दृष्टि में जहाँ केवल बाह्य अशुचि ही प्रधान है, वहाँ प्राणवायुओं की दृष्टि में प्राणशुचि का ही प्राधान्य है, जिसका हम अपने चर्मवस्तुओं से प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। फिर स्थूलभूतों की अपेक्षा सूक्ष्मभूतानुगत कीटाणु-गत अशुचिभाव की मान्यता तो वे भी कर रहे हैं। शुक्लाम्बरधर-स्वच्छ-भव्याकृति-व्यक्ति भी सूक्ष्म-कीटाणु के दोष से अस्पृश्य मान लिया जाता है। न कीटाणु आँस से दिखलाई-पड़ते, न उनका असत्-प्रभाव ही तत्काल दृष्टि गोचर होता। फिर क्यों ऐसे रोगियों से सर्ववत् वचने का प्रयास किया जाता है ?। “कलान्तर में इस स्पर्श का रोगोदय से प्रत्यक्ष हो जाता है” इस समाधान का भी कोई तत्त्व नहीं है, जब कि यहाँ समाधान हमारे पक्ष में भी सुरक्षित बन रहा है। कितने एक कीटाणुदोष वचन में सन्तान्त होते हैं, वृद्धास्था में उनका प्रतिफल प्रकट होता है। कितने एक कीटाणुओं का वीजवचन होता है मूलपुरुष में, विकास होता है सन्तनि में। यही व्यवस्था हमारी प्राणसंक्रान्ति में घटित है। प्राण-संक्रान्ति का विशेषतः आध्यात्मिक प्राण पर ही प्रभाव होता है। कालान्तर में यह प्रभाव भूतारमा के

पतन का कारण बन जाता है। प्राणों के जातिभेद ही इस कालभेद के नियामक बनते हैं। किसी का कुफल इहैव प्रकट हो जाता है, तो किसी का जन्मान्तर में। जिस प्रकार प्रत्यक्ष में तत्काल कुछ भी परिवर्तन न देखते हुए भी हमें कीटाणुपरीक्षक वैज्ञानिकों के वचनप्रामाण्य के आधार पर विश्वास करना पड़ता है, कर रहे हैं, वैसे ही इन्द्रियातीत प्राणों के उच्चावचभावपरिवर्तनों को न देखते हुए भी प्राणपरीक्षक वैज्ञानिकों के वचनप्रामाण्य पर क्या हमें विश्वास नहीं कर लेना चाहिए? स्मरण रखिए! प्राणतत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले इन उच्चावचभावों का यद्यपि तत्काल हमारी दृष्टि में कोई परिणाम उपस्थित नहीं होता, परन्तु कालान्तर में यही प्राणक्षोभ सर्वनाश का कारण बन जाता है। जिस प्रकार गौपशु सद्यः दुग्धफल प्रकट कर देता है, तथैव प्राणवैषम्य तत्काल फलप्रद प्रतीत नहीं होता, जबकि फलक्रिया आरम्भ तत्काल ही हो जाती है। जब कालान्तर में प्राणविपर्यय भूत पर आसन्न होता है, तभी यह फलाफल हमारी भूतदृष्टि के सामने आता है। प्राणतत्त्वानुगत इसी फलाफल-व्यवस्था का निम्न लिखित शब्दों से समर्थन हुआ है—

नाधर्म्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।

शनैरवर्त्तमानस्तु कर्तुर्भूतानि कृन्तति ॥ (मनुः ४।१७२) ।

प्राणतत्त्वानभिज्ञ जिन शस्त्रोंने विशुद्ध भूतदृष्टि के आधार पर अपने आपको प्रतिष्ठित किया, जो जातियाँ भूतजगत् को अनन्योपास्य बना कर कर्मक्षेत्र में अवतरण हुईं, उनका आज नामशेष भी नहीं है। किन्तु प्राणतत्त्व को प्रतिष्ठा बना कर भूतक्षेत्र का अनुगमन करने वाली भारतीयप्रजा ने आज तक अपना जीवनसूत्र सुरक्षित रखना, जिसे आज उसी जाति के वे महानुभाव, जिनकी दृष्टि संसर्ग-दोष से भूतप्रधान बन गई है, विच्छिन्न करने का भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं, यह देखकर किस आश्चर्यचकित को कष्ट न होगा। प्राणविक्षिन्ना भूतानुगति तमोगुणप्रधाना बनती हुई अथर्व ही कुछ काल के लिए भूतसृष्टि का कारण बन जाती है। दूसरे शब्दों में विशुद्ध वायुदृष्टि के उपासक भूतासक्त महानुभाव अथर्व ही भूतवैषम्य प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु परिणाम में समूलविनाश का भी निश्चयेन अनुगमन करना ही पड़ता है। अक्षय-प्राणविवृति से वञ्चित इनकी यह क्षणभंग्यात्मिका भूतसृष्टि ही क्षणमात्र में उन्हें सृष्टिगर्भ में विलीन कर देती है, जिसके क्षणिक प्रशोधनार्कण से आकर्षितमना अक्षयप्राणानुगत भारत अपने आपको भी क्षणधर्म्मा का पथिक बनाने की महाभूल करने जा रहा है। परिणाम क्या होगा?, यह प्राणचाप्यों के ही मुँह से सुनिश्च—

अधर्म्मैषैघते तावत्, ततो भद्राणि परयति ।

ततः सप्तनान् जयति, समूलरतु विनश्यति ॥ (मनुः ४।१७४) ।

अशुचिभाव, और आशीच—

अस्पृश्य शुद्धवर्ग से सम्बन्ध रखने वाले उक्त सन्दर्भ से प्रकृत में हमें कहना केवल यही था कि, 'अस्पृश्यता' का अशुचिभाव से सम्बन्ध है, एवं यह अशुचिभाव प्राणभाव से सम्बद्ध है। भौतिक

शुचि इसे दूर नहीं कर सकती, भौतिक अशुचि इसे दृढमूल अवश्य बना देती है। फलतः भौतिक अशुचि से अपनी जन्मजात अशुचि को दृढमूल बनाए रखने वाले अवश्य ही अप्रसूय माने जायेंगे। यही अशुचिभाव हमारे प्रकृत विषय से सम्बन्ध रखता है। जन्म से तथा मृत्यु से तद्वंशजों में नियत समय पर्यन्त के लिए अशुचिभाव का समावेश हो जाता है, अतएव तत्समयपर्यन्त के लिए वे अशुचिभावापन्न बनते हुए अस्तित्व-अव्यवहार्य बन जाते हैं। अशुचि से सम्बन्ध रखने वाला यही प्राकृतिक धर्म 'आशौच' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रकृत वृत्तीयपरिच्छेद इसी जन्म-मरणशौच की मीमांसा करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

### आशौचपात्रस्वरूपमीमांसा

किसी सदगृहस्थ के घर में पुत्र की, स्वयं की, अथवा किसी सगोत्र-सोदर-सपिएड वन्धु की स्त्री ने प्रकृतिनियमानुसार सन्तान-प्रसव किया। इस उत्पन्न सन्तति से इन सब सपिएडों में अपवित्रता कैसे आती है, किस अंश में ये अपवित्र हो गए? इसी प्रकार किसी के मर जाने से १० अहोरात्र के लिए सब वंशज अपवित्र कैसे, क्यों हो गए?, सचमुच यह प्रश्नपरम्परा हम स्थूलदृष्टि-दर्शकों के लिए एक जटिल समस्या है। इस जनन तथा मरण से पाञ्चभौतिक शरीरों की तो कोई क्षय-वृद्धि देखी नहीं जाती। शेष रहा आत्मा। आत्मा सर्वथा असङ्ग है, निर्लेप है। "असङ्गोऽहं यं पुरुषो न हि सज्जते न व्यथये, न रिप्यति" इत्यादि श्रुति के अनुसार, तथा "शरीरस्योऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते" इत्यादि षष्ण के अनुसार आत्मा पर भी इस अशुचि का सम्बन्ध असम्भव है। फिर 'आशौच का क्या अर्थ है? इस प्रश्न समाधि के लिए सर्वप्रथम पात्रता की ही मीमांसा करना आवश्यक हो जाता है।

शरीर पर आशौच धर्म का प्रत्यक्ष में कोई प्रभाव प्रतीत नहीं होता, शरीराधिष्ठाना आत्मा स्व-स्वरूप से सर्वथा असङ्ग है, ऐसी दशा में आशौच का भोक्तृ-पात्र कौन है, इस प्रश्न की समाधि के लिए 'अध्यात्मविज्ञान' से सम्बन्ध रखने वाले तीन आत्मविवर्त्तकों की ओर शुचिभावप्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। "१-विशुद्धआत्मा, २-अन्तरात्मा, ३-शरीरात्मा" इन तीनों में से सर्वप्रथम विशुद्ध आत्मस्वरूप का ही विश्लेषण कीजिए। (महामायावच्छिन्न सहस्रवल्ग्रात्मक महाधिरथ की अपेक्षा से) सर्वव्यापक ( विश्वव्यापक ) महामायावच्छिन्न, असंख्ययोगमायाप्रवर्त्तक पोदशीपुरुषपुरुषात्मक अक्षरद ( विश्वदृष्ट्या ) आत्मतत्त्व ही विशुद्ध आत्मा है। 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्'-(गीता १३।१६)। 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' (गी० १३।२७) इत्यादि स्मार्त्त सिद्धान्तानुसार विभक्त भौतिक पदार्थों में अविभक्तरूप से-समानैकरूप से-विभूति सम्बन्धेन व्याप्त रहता हुआ, पदार्थोपाधिभेद से मिश्रवत् प्रतीत होता हुआ, अन्तरङ्गप्रकृतिविशिष्ट ( चराचर-विशिष्ट ) परात्परानुग्रहीत अव्ययपुरुष ही विशुद्ध आत्मा है। वासना-भावनात्मक कर्म-ज्ञानसंस्कारों

से संस्कृत संस्कारमय भौतिक विश्व का समष्टि-व्यष्टिरूप से ज्ययथा सर्वप्रपञ्च का आलम्बन बनता हुआ भी यह विशुद्ध अव्ययात्मा विभूति नामक असङ्ग-बन्ध के कारण कर्मलेप से पृथक् रहता है। इस षोडशी आत्मा का अव्ययभाग ही यद्यपि चरकला के द्वारा भूतभावन बनता है, अक्षरकला के द्वारा भूतभूत बनता है। तथापि स्वस्वरूप से (अव्ययरूप से) यह भूतप्रपञ्च में आसक्त नहीं होता। अतएव भूतों में आधार रूप से नित्य प्रतिष्ठित रहता हुआ भी यह भूतस्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि आलम्बनरूप यह विशुद्धात्मा व्यापक है, विभूति-सम्बन्ध से सर्वत्र समरूप से अवस्थित है। अतएव उपाधिलक्षणा परिच्छिन्ना योगमाया से अनुगृहीत भूतलक्षित के सदसद्भावं, सुकृत-दुष्कृत-पाप-पुण्य इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। फलतः यह अपने स्वरूप से सर्वथा निर्लिप्त है। विशुद्ध अव्ययात्मा की इसी अलिप्तता का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने कहा है—

१—न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बद्धयते ॥ (गी०४।१५) ।

२—न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ (गी०५।१५) ।

३—नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनाश्रुतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ (गी०५।१५) ।

४—अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कत्तुमर्हति ॥ (गी०२।७) ।

५—य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते ततम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ (गी०२।१६) ।

५—न जायते म्रियते वा कदाचिन्नार्यं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे (गीता २।२०) ।

६—अच्छेद्योऽपमदोऽपमक्लेद्योऽशोष एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ (गीता २।२५) ।

७—उपद्रष्टानुमन्ता च भर्षा भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ (१३।२२) ।

८—सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽङ्गशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ (१३।१३) ।



६-सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभूतैर्वनिर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ (१३१४)।

१०-बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सुक्ष्मत्वात्तद विज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ (१३१५)।

११-अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्यु प्रमविष्यु च ॥ (१३१६)।

१२-समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ (१३१७)।

१३-यदा भूतपृथग्भावमेकत्वमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्मसम्पद्यते तथा ॥ (१३१८)।

१४-अनादिश्चानिर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कान्तेय ! न कृतोति न लिप्यते ॥ (१३१९)।

१५-यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रानस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ (१३२०)।

१६-यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ! ॥ (१३२१)।

१७ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञोपेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (१३२२)।

उक्त श्लोकों में जिस आत्मतत्त्व का विश्लेषण हुआ है, वह यही विशुद्ध व्यापक अव्ययात्मा है, जिसका जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वभावों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उक्त श्लोकों में से १६ वें श्लोक की ओर विशेष रूप से ध्यान आकर्षित किया जाता है। भगवान् ने सूर्य को दृष्टान्त बनाते हुए इस आत्मतत्त्व का विश्लेषण किया है, जो कि दृष्टान्त विज्ञानदृष्टि से सर्वात्मन्य समतुलित है। जिन तीन आत्मसंस्थाओं का पूर्व में नामोल्लेख हुआ है, उनके स्वरूप-परिचय के लिए सूर्य से अतिरिक्त अन्य विशिष्ट उदाहरण का अभाव है। भिन्न भिन्न प्रदेशों में अनेक जलपूरित पात्र रखे हैं। प्रत्येक जलपात्र में सूर्य प्रतिबिम्ब-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है। जितने पात्र हैं, उतने ही प्रतिबिम्ब हैं। साथ ही पात्रों के आयतन भेद से, तथा पात्रस्थित जलों के मलिन-स्वच्छ-वार्तम्य से तत्प्रतिष्ठ प्रतिबिम्ब भी तद्वरूप में ही परिणत हो रहे हैं। प्रत्येक प्रतिबिम्ब के साथ त्रैलोक्य व्यापक सौर-

लक्षण विदेह-भाव में परिणत हो जाता है। इसी शरीर में इस का देहाभिमान पलायित हो जाता है। ऐसे विदेह जीवगुण महापुरुष ही 'परमहंस' कहलाए हैं, जो विधि-निषेधभावानुगत अन्तरात्मा को विधि-निषेधातीत विशुद्ध आत्मसम्पत् में अपीत करते हुए विधि-निषेध से बहिर्भूत हो जाते हैं। ऐसे द्वन्द्वातीत, अतएव अलौकिक परमहंस विशुद्ध ब्रह्मवत्-नित्य-शुद्ध-बुद्ध-सुख हैं। व्यापक सूर्यप्रकाश जिस प्रकार अशुचि-शुचि-उभयस्वानों में समरूप से व्याप्त रहता हुआ इनके पुरय-पापतिशय से असंस्पृष्ट रहता है, एवमेव ऐसे परमहंस भी सर्वत्र समवर्त्यित बनते हुए लोक-आसक्ति से बहिर्भूत हैं। इनके साथ कभी अशुचि का सम्बन्ध नहीं हो सकता। नाहीं इन पर शुचि का ही कोई प्रभाव सम्भव। इनकी दृष्टि में सब वस्तु है, सब वृद्ध भय है, सब वृद्ध प्राण है। निम्नलिखित उपनिषद्-ब्राह्मणश्रुतियाँ अव्ययविभूतिप्राप्तकर्त्ता ऐसे ही मुक्तारमा-वृत्तपुरुषों का स्वरूप स्पष्ट कर रही हैं—

१-यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तारगेव भवति ।

एवं मुनेर्विज्ञानत आत्मा भवति गौतम ॥

—कठोपनिषद् ४ १५।

२-सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः—

न लिप्यते चाक्षुर्पार्श्वदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा—

न लिप्यते लोकदुःखेन वाश्रः ॥

३-नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां—

एको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्थं ये ऽनुपश्यन्ति धीरा—

स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

—कठोपनिषद् ५। ११, १३, ।

४-यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्यो ऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥”

—कठोपनिषद् ६। १४।

“(१)—जिस प्रकार लोटे में भरा हुआ शुद्ध पवित्र जल आपूर्य्यमाण-प्रवहणशील शुद्ध-पवित्र सामुद्र जल में प्रविष्ट हो कर अपनी सीमा तोड़कर तद्रूप (असीम) बन जाता है, एवमेव आत्मज्ञ-मुनि का अन्तरात्मा सर्वभूतान्तरात्मा में लीन होकर तद्रूप ही बन जाता है।” “(२,—जिस प्रकार

सर्वलोकचक्षुं बना हुआ सूर्य वाह्य चाक्षुष दोषों से असंस्पृष्ट रहता है, एवमेव सम्पूर्ण भूतों में समरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ भी वह सर्वभूतान्तरात्मा अपने विमुक्तलक्षण एकत्वधर्म से लोकदुःखों से सर्वथा बहिर्भूत रहता है ” ॥ (३) —“नित्य-सर्वशेष अन्तरात्माओं की वह विशुद्ध आत्मतत्त्व नित्य विभूति है, चेतन-चिदाभास-लक्षण अन्तरात्माओं का वह चिदंश है, एक साथ वह सबकी कामनाओं का प्रवर्त्तक बन रहा है । नित्य-चेतनालक्षण अन्तरात्मा में विभूति-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित जो विद्वान् इस विशुद्ध आत्मतत्त्व के दर्शन कर लेते हैं, वे ही पराशान्ति के अधिकारी बनते हैं । इतर अनात्मज्ञ सर्वथा अशान्त रहते हैं ” ॥ (४) —जिस समय निष्काम-कर्मलक्षण बुद्धियोग के सम्यगनुष्ठान से व्यानलक्षण हृद्ग्रन्थि के विमोक्त हो जाने पर इस अन्तरात्मा के कामबन्धन विमुक्त हो जाते हैं, अव्ययहितोत्तरकाल में ही यह असृतसम्पत्ति में लीन हो जाता है, एवं इसी स्थिति में आकर समग्रद्वय के साथ मादुःखमुक्ति का अनुगामी बन जाता है ” ॥

५—“तद्वा-अस्यैतदतिच्छन्दा, अपहतपाप्मा, अभयं रूपम् । तद्यथा-प्रियया स्त्रिया सम्परिप्यक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरं, एवमयं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिप्यक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नान्तरम् । तद्वा-अस्यैतत्-आप्तकामं, आत्मकामं, अकामं रूपं, शोकान्तरम् ।”

६—“अत्र-पिताऽपित्रा भवति, माताऽमाता भवति । लोका अलोकाः, देवा अदेवाः, वेदा अवेदाः ( भवन्ति ) । अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति, अणूहा अअणूहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्लसोऽपौल्लसः, धमणोऽधमणः, तापसोऽतापसः, ( भवन्ति ) । अनन्वागतं पुण्येन, अनन्वागतं पापेन । तीर्थो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदस्य भवति ” ।

७—“यद्वै तन्न पश्यति-पश्यन् वै तन्न पश्यति । नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशिच्चात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् परयेत् । यद्वै तन्न जिघ्रति, न रसयते, न वदति, न शृणोति, न मनुते, न स्पृशति, न विजानाति-जिघ्रन्-रसयन्-वदन्-शृण्वन्-मन्वानः-स्पृशन्-विजानन् वै तन्न जिघ्रति० । नहि-घ्रातुर्घातेः, रसयितु रसयतेः, वक्तुर्वक्तेः, श्रोतुः श्रुतेः, मन्तुर्मतेः, स्पृष्टुः स्पृष्टेः, विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशिच्चात् । न तु तद् द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं-यज्जिघ्रेत्, यद्रसयेत्, यद्वदेत्, यच्छृणुयात्, यन्मन्वीत्, यत् स्पृशेत्, यद्विजानीयात् ।

= यत्र वा अन्यदिव स्यात्, तत्रान्योऽन्यत् पश्येत्, जिघ्रेत्, रसयेत्, वदेत्, शृणु-  
यात्, मन्वीत्, स्पृशेत्, विजानीयात् । सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति । एष  
ब्रह्मलोकः सम्राट्-इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः । एषाऽस्य परमा गतिः,  
एषास्य परमा सम्पत्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः, एतस्यै-  
वानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्राण्युपजीवन्ति” ।

—वृ० आ० उ० ४।३।

५-“सो यह इत अन्तरात्मा का अतिच्छन्दा ( निःसीम-व्यापक ), पाप्मसम्पत्ति से बिरहित  
( विशुद्ध ) कम्पनरहित ( रथाणु ) अभयरूप है ( जो, कि विशुद्ध आत्मा है ) । अर्थात् अन्तरात्मा  
जसीका स्वच्छन्दस्व-पाप्म-सम्भयरूप है, एवं विशुद्धआत्मा छन्दोऽतीत-शुद्ध-अभयरूप है । जिस प्रकार  
अभिलषित स्त्री से संश्लिष्ट ( दाम्पत्यभाषापत्र ) पुरुष सम्मयता के कारण अपने आपको भूल  
जाता है, एषमेव प्राप्तस्थित विभूतिसम्बन्धावच्छिन्न अपने इस अतिच्छन्दः-अपहतपाप्मा-अभयलक्षण  
विशुद्ध चिदात्मा से सम्परिच्यक्त होकर यह अन्तरात्मा अपने आपको भूल जाता है । यही अद्वया-  
वस्था इस अन्तरात्मा की आप्तकामावस्था है, आत्मकामावस्था है, अकामावस्था है । इस अवस्था  
में आत्म-अनात्म-कामप्रपञ्चों से पृथक् होकर निष्काम बन कर यह सर्वशोक-सम्भव से  
सन्तरण कर जाता है” ।

६-“जब सविशेष अन्तरात्मा इस निर्विशेष-समब्रह्मभाव में लीन हो जाता है, तो उस स्थिति  
में पिता आत्मा बन जाता है, माता अमाता बन जाती है, लोक ( गृहस्थसंस्था ) अलोक बन जाते  
हैं, देवता ( इन्द्रियवर्ग ) अदेवता बन जाते हैं । यहाँ आकर स्तेन ( चोर ) अस्तेन, भ्रूणहृद् अभ्र-  
णहृद्, चण्डाल अचण्डाल, + पौलकस अपौलकस, × अमण अममण, + तापस अतापस, हो  
जाता है । शास्त्रविहित सत्कर्मालुप्तान से उत्पन्न पुर्यातिराय से, तथा शास्त्रप्रतिषिद्ध असत्कर्म-  
ालुप्तान से उत्पन्न पापतिराय से, दोनों से ५ पृथक् हो जाता है । सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्त होकर यह  
इस अवस्था में धर्म, अधर्म, कृत-अकृत, मृत-भय, पुण्य-पाप, वर्ण-अवर्ण, शुचि-अशुचि,  
सत्-असत्, आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों से पृथक् हो जाता है । फलतः तन्मात्रानुगत द्वन्द्व से सम्बन्ध  
रखने वाले सम्पूर्ण शोकों का सन्तरण कर जाता है । यह अवस्था सर्वथा मर्यादातिक्रान्त है, यही  
तात्पर्य है । क्या ऐसा परमहंस सर्वथा अमर्यादित आचरण करता है ?, ‘नेति होवाच’ । समब्रह्म

७. \* “शूद्र से मादानी में उत्तम पुरुष चाण्डाल है । + शूद्र से क्षत्रिय में उत्तम पुरुष  
पौलकस है । × परित्राट् । - वानप्रस्था ।

५ उमे पुण्यपापे विषय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।

के आंशिक अनुग्रह से अनुग्रहीत नियति ( प्रकृति ) जब मर्यादा का अतिक्रमण नहीं कर सकती, तो स्वयं मर्यादाप्रवर्त्तक ब्रह्म अमर्याद कैसे बन सकता है। श्रुति का अभिप्राय यही है कि, विधि-निषेध की मर्यादा उन्हें अपेक्षित है, जो सविशेष आत्मानुगामी बनते हुए मर्यादा का अतिक्रमण किया करते हैं। अव्यययोगप्रभाव से ( बुद्धियोगप्रभाव से ) जो-मर्यादा प्रवर्त्तक विरवेश्वर से अभिन्न बन गए हैं, उनके सम्बन्ध में अमर्यादा की आशङ्का ही नहीं है।

श्रुति ने एक स्थान पर यह कहा है कि, इस स्थिति पर पहुँचने वाले विदेहमुक्त के हाथ से यदि उसकी माता, किया पिता का भी बंध हो जाता है, तब भी उसे पातक नहीं लगता। यही क्यों-आत्मविन यदि चोरी करेगा तो उसे कोई पाप नहीं लगेगा। यह भ्रूणहत्या कर सकता है, बुरे से बुरा काम कर सकता है। जिस प्रकार साधारण मनुष्यों का मुल उक्त पापकर्मों के करने से मलिन हो जाता है, वैसे घोरानिघोर दुष्कर्मों में प्रवृत्त रहने से भी इसका मुखकान्ति श्यों की त्यों सुरक्षित रहती है। देखिए !

“स यो मां विजानीयात्, नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते।

न मातृवधेन, न पितृवधेन, स्तेयेन, न भ्रूणहत्याया ( लोको-मीयते )। नास्य पार्यं, न चकुरो मुखाशीलं वेचीति”।

—बी० आ ७० ३।१।—।

क्या विदेहमुक्त मुक्तात्मा के सम्बन्ध में आप यह कल्पना कर सकते हैं कि, वह अपने माता, पिता का बंध कर सकता है, चोरी कर सकता है, घोर से घोर दुष्कर्म कर सकता है ? प्रश्न के हाँ-ना-दोनों उत्तर हो सकते हैं। यदि समग्रब्रह्म पर प्रतिष्ठित, अतएव प्रकृति-पुरुष के समन्वित रूप से अभिन्न ऐसा कृतात्मा अपनी ब्रह्मदृष्टि ( जोकि एकान्ततः निर्व्रान्त है, ) से यह देखता है कि, मेरे माता-पिता के बंध मात्र से संसार का अभ्युदय हो सकता है, तो निश्चयन उस दशा में स्वविश्वरक्षा के नाते वह इन का बंध कर डालेगा। और उस दशा में निश्चयेन वह विमु-‘नादत्ते कस्यचित् पार्यं, न चैव सुकृतं विभुः’ न्या से मातृ पितृवध-जनित पाप से सर्वथा असंस्पृष्ट रहेगा। इसी प्रकार स्तेयकर्म से, भ्रूणहत्या से, किया और किसी भयङ्कर दुष्कृताचरण के गर्भ में कोई विश्वाभ्युदय-भावना द्विषी हुई है, तो अवश्यमेव वह इन का भी अनुगामी बन जायगा। अवश्य ही हम सविशेषों की विरोध-स्थूलदृष्टि में उसके ये अमर्यादित कार्य हैं, परन्तु तत्त्वतः इन का उद्देश्य विश्वमर्यादा की रक्षा ही माना जायगा। वीतराग कृतात्मा कब किस उद्देश्य से क्या लीला कर डालते हैं, इसका रहस्य हम लौकिक मनुष्य नहीं समझ सकते। हम जिसे धर्म मानते हैं, विरोध परिस्थितियों में वही अधर्म है, एवं उसका निरोध अवश्यमेव उसकी ओर से उन उपायों से होता है, जो उपाय हमें अधर्मवत् प्रतीत होने लगते हैं। अपने डन्डों की मार से

असाध्य रोगों का निवारण करने वाले बाबा भारती की गाथाएँ हमारे प्रान्त में आज भी अद्वा से गाई जाती हैं। भगवन्नामस्मरण में लीन शम्भूक का अवतारपुरुष (भगवान् राम) द्वारा वध कर दिया जाता है। स्वपितानुशासन से महात्मा परशुराम अपनी माता का वध कर डालते हैं। इस प्रकार धर्मसंस्थापक अवतारपुरुषों के, एवं तत्सम कृतात्माओं के कर्तव्यों में विशुद्ध लोका-अभ्युदयभावना निहित रहती है। एवं इसी दृष्टि से उक्त प्रश्न का 'हाँ' में उत्तर दिया जा सकता है।

एक सामान्य लौकिक पुरुष क्रोध-रागादि के आवेश में पड़कर यदि मातृवधादि उक्त-अवराध कर बैठता है। वह यदि शास्त्रसिद्ध स्पृश्यास्पृश्य व्यवस्था का अतिक्रमण कर धर्मधर्म का अतिक्रमण करने लगता है, अपने प्रच्छन्न पाप को प्रच्छन्न बनाने की कामना से ऐसा व्यक्ति यदि भ्रूणहत्या करता है, तो अवश्यमेव वह दोषभाक् है। एवं अवश्य ही उसे इन पापकर्मों का फल भोगना पड़ता है। परन्तु जो रागद्वपादि पाप्माओं से सर्वथा पृथक् होकर वीतराग बन चुका है, 'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि' न्याय से जो कृतात्मा विशुद्ध लोकाभ्युदय के नाते, लोकनिष्कारण के नाते अनामत बन कर कर्ममार्ग का अनुगामी बन रहा है, वह उक्त कर्मों का बैठेगा, स्वार्थ भावना से कर बैठेगा, इस की सम्भावना भी हमें प्रायश्चित्त का भागी बना रही है। एवं इसी दृष्टिकोण से उक्त प्रश्न का 'ना' में समाधान किया जा सकता है। निष्कर्ष प्रकृत वचन का यही है कि, उस स्थिति में पहुँचने के अनन्तर वह मनुष्य मनुष्य न रह कर साक्षात्-ब्रह्म बन जाता है। अतएव उनके चरित्रों की नकल करना सर्वथा निषिद्ध है। उसके आवेशरूप शब्द ही हमारे लिए कर्तव्याकर्तव्य में प्रमाण हैं, जैसा कि- 'तस्मात्तत्त्वात् प्रमाणं ते' इत्यादि से प्रमाणित है।

७-८-ऐसे कृतात्मा का देखना-सुनना-सूँघना-स्वाद लेना-स्पर्श करना-बोलेना-मनन करना-जानना, सब कुछ न सुनने-सूँघने आदि के समान है। क्या उस की इन्द्रियों नष्ट हो जाती हैं ?, क्या उस का मन, उस की बुद्धि अपना स्वरूप लो बैठते हैं ?, नहीं, अपितु जिस प्रकार द्वैतसम्पत्ति में आसक्त अस्मदादि लौकिक मनुष्य इन्द्रियों के दास बन कर नानाभावानुगता इन्द्रियासक्ति में आसक्त रहते हैं, वैसे वह इन्द्रियों का दास नहीं है। अपितु उसकी दृष्टि में द्रष्टा-द्रश्य-सब का अभेद है। उस के लिए सौन्दर्य-और विडूरूप दोनों समतुलित हैं। गन्ध-दुर्गन्ध समान हैं। ये भेद तभी तक हैं, जबतक कि हम भेद-प्रवर्तक सविशेष आत्मा के पाश में बद्ध रहते हैं। जिस प्रकार एक व्यापूर्यमाण समुद्र स्वरूप से सर्वथा आतच्छब्दा है, अपहृतपाप्मा है, एकद्वन्द्व है, जब कि उसके गर्भ में विदित नहीं किन्तु दृश्य अन्तर्लान है, तथैव यह भी उन सब भेददृष्टियों को अपने अद्वैत समुद्रगर्भ में लीन रखता हुआ लोकाभ्युदयभावना से कर्मानुगति का अनुगामी बना रहता है। उस स्थिति पर पहुँचने वाला यदि कुछ न भी करे, तब भी उसकी कोई हानि

नहीं है। परन्तु लौकिकों की सर्वनाश निश्चिन्ता है। अतएव—‘उत्सीदेयुरिमाः प्रजाः’ की रक्षा के लिए उसे अवश्य ही कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना पड़ता है। अवश्य ही इस की यह लोकशिक्षा सर्वथा मर्यादित ही रहती है। परन्तु किसी विशेष प्रयोजन की पूर्ति के नाते कभी कभी इस के द्वारा ऐसे भी लोकोत्तर कर्म—जिन्हें हम अपनी स्थूलदृष्टि से अमर्यादित समझने की भ्रान्ति कर बैठते हैं—हो जाते हैं, जिन के सत्परिमाणों की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। समग्रद्वय (अन्यत्र) के पूर्णवितार भगवान् कृष्ण की रासक्रीड़ादि लोकोत्तर लीलाएँ ही इस सम्बन्ध में कतिपय उदाहरण हैं, जिनका गीताभाष्यान्तर्गत आचार्यरहस्य के ‘ब्रह्मायसकृष्णरहस्य’ में विस्तार से उपबृंहण हुआ है।”

भौतिक दृष्टि में अहोरात्र आसक्त रहने वाले सामान्य मनुष्य जैसे कृतात्माओं के चरित्र रहस्यों की समझने में असमर्थ हैं, एवमेव उन कृतात्मा महर्षियों की आर्पदृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले ऋतम्भराप्रज्ञासूत शब्दादेशों के रहस्य को यथार्थतः समझ लेना भी अस्मदादि साधारणों के लिए दुःसाध्य बना रहता है। उक्त ८ वचनों में से प्रथम वचन के द्वारा ‘तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिप्यको न बाह्यं किञ्चनं वेद, नान्तरम्’ कहते हुए रतिलक्षण दाम्पत्यसुख के साथ ब्रह्मानन्द के सम्बन्ध में विपरीतप्रधान स्त्री-प्रसङ्गलक्षण विषयानन्द को दृष्टान्त बनाना हम सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में असंभव है, असंभवता बाह्य है। भारतीयता के नाते एक भारतीय इस दृष्टान्त को भी श्रद्धापूर्वक स्वीकार करले। परन्तु एक पर-सम्भवतः नुवर्त्ता अमरतीय इसे देख कर निश्चयेन यह कल्पना किए बिना न रहेगा कि, भारतवर्ष आत्मक्षेत्र की उच्चभूमिका में पहुँचकर भी विषयासक्ति की भावना से अपने आपको एकान्ततः पृथक् न रख सका। क्या उनकी यह कल्पना तथ्यपूर्ण मानी जायगी।

यह तो निर्विवाद है कि, ब्रह्मानन्द की तुलना किसी भी लौकिक आनन्द से नहीं की जा सकती। श्रुति को रचयं यह भय था कि, कहीं ‘तद्यथा प्रियया स्त्रिया०’ इत्यादि दृष्टान्त के आधार पर ब्रह्मानन्द को सचमुच लौकिक मानुष-विषयानन्द-समकक्ष न मान लिया जाय। यदि यह मान्यता हो गई, तो स्वभावतः दिव्यानुगत मानस, हृदय ब्रह्मानन्द प्राप्ति लक्षण परम पुरुषार्थ से वञ्चित रह जायगा। एवं उस आर्पप्रजा के जीवन का भी वही लक्ष्य बन जायगा, जो लक्ष्य अनार्षप्रजा में प्रतिष्ठित है, जिसका कि अनार्षप्रजा द्वारा—‘खाना पीना मौज उड़ाना’ इन शब्दों में साभिमान अभिनय होता रहता है। इसी भयनिवृत्ति के लिए—एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रासुप-जीवन्ति” कहने के साथ ही, तदव्यवहितोत्तरकाल में ही—‘स यो मनुष्याणां राद्रः०’ इत्यादि रूप से आनन्दश्रेणियों की सीमांसा करना आवश्यक होगया—

शोभना-सुरीला-गुणवती-पतिवता-कामिनी, एतद्गुणयुक्त पुत्र, तद्गुणवती कन्या, पूर्ण स्वास्थ्य, पूर्ण भोग्यसम्पत्ति, पूर्ण आयु, पूर्ण भोग्यशक्ति, इत्यादि परिपूर्ण मानुष-भोग्यसम्पत्तियों से युक्त

गृहस्थी-मनुष्य पूर्ण सुखी माना जायगा। यही मानवसम्प्रदाय में मानुष परमानन्द माना जायगा। मनुष्य-मनुष्यता के नाते इससे अधिक कुछ न चाहेगा। यही 'मानुष (पार्थिव) आनन्द' नामक प्रथम आनन्दकक्षा है। ऐसे मानुष आनन्द को शतगुण (सौगुण) बना दीजिए। ऐसी १०० आनन्द मात्रा एक स्थान पर समन्वित कर दीजिए। यह जितलोक वैश्य (चान्द्र) आनन्द कहा जायगा, यही आनन्द की दूसरी कक्षा होगी। ऐसे १०० वैश्य आनन्द मिल कर एक गन्धर्व (चान्द्र-अन्तरिक्ष) आनन्द होगा। ऐसे १०० गन्धर्व आनन्दों के मिलने से एक यह दैवानन्द। सौर आनन्द होगा, जो विशासमुच्चितकर्म से देवयोनि में प्राप्त होने वालों की सम्पत्ति बनता है। ऐसे १०० दैवानन्दों की समष्टि एक ब्राह्मणदेवों का आनन्द होगा, जो प्रकृति सौर मण्डल में प्रतिष्ठित हैं। ऐसे १०० ब्राह्मणदेवानन्दों की समष्टि एक प्राजापत्य (परमेश्वर) आनन्द होगा। एवं ऐसे कल्पनातीत १०० प्राजापत्य आनन्दों की समष्टि एक ब्राह्म (स्वायम्भुव-अव्यक्त) आनन्द होगा। यही परमानन्द माना जायगा,। इस प्रकार पृथिवी, चन्द्रमा, चान्द्र-अन्तरिक्ष, सूर्यसंस्था, अमृतसूर्यसंस्था, परमेष्ठा, स्वयम्भू, भेद से मानुष-वैश्य-गन्धर्व-कर्मभुगतदैव, आजानभायानुगत-दैव-पारमेष्ठ्य-स्वायम्भुव भेद से आनन्द को सात धाराओं में विभक्त किया जा सकता है। 'पड़ि-मा रजोति' (ऋक्संहिता) के अनुसार आरम्भ के ६ आनन्द तो मात्रानन्द हैं, रजोरूप हैं, सीमित आनन्द हैं। एवं-अज्ञस्य रूपे किमपि सिदेक्यु' वाला सातवाँ ब्रह्मानन्द अमात्र है, परम है। उसीके अंश-प्रत्यंश से ये ६ आँ तारतम्येन आनन्दयुक्त बन रहे हैं। ये ६ आँ जहाँ आनन्दवात् हैं, वहाँ यह परमानन्द आनन्दधन है। विज्ञानभाषा के अनुसार पञ्चानन्द-समष्टि समृद्धानन्द है, ब्रह्मानन्द शान्तानन्द है। समृद्धानन्द भेदसम्पत्ति से युक्त रहता हुआ अनुभव का विषय बन जाता है। परन्तु ब्रह्मानन्द अद्वयभाषानुगति से केवल स्वानुभवैकगम्य है, बिना स्वानुभूति से भी परे की वस्तु है। इस दृष्टि से शान्तलक्षण ब्रह्मानन्द की समृद्धिलक्षण इन ६ आँ में किसी भी आनन्द के साथ तुलना नहीं की जा सकती। जबकि इस आनन्दमीमांसा के द्वारा श्रुति विस्पष्ट शब्दों में ब्रह्मानन्द, तथा मानुष विषयानन्द का अहोरात्रवत् अन्तर बतला रही है, तो इस दशा में आर्य-अनार्य कोई भी व्यक्ति इस कल्पनापाप का उत्पाक नहीं बन सकता कि, श्रुतिदृष्टि उच्चभूमिका पर पहुँच कर भी विषयवैषण से अपने आपको एकान्ततः दुरक्षित न रस सफ़ी।

प्रश्न यह उपस्थित है कि, जब मानुषानन्द की तुलना में ब्रह्मानन्द सातवीं कक्षा पर प्रथित है, तो ऐसी दशा में मानुषानन्द की अपेक्षा शत-सहस्रगुणित मध्य की पाँच संख्याओं में से किसी एक को दृष्टान्त न बनाकर सर्वतः अधोऽवस्थित पार्थिव मानुष आनन्द को ही क्यों दृष्टान्त बनाया गया? "उपदेश मनुष्य को दिया जा रहा है, पितर-गन्धर्व-वर्मदेवादि को नहीं। मानवीय दृष्टि से वे इतर मध्यस्थ आनन्द सर्वथा परोक्ष हैं। फलतः उन्हें द्रष्टान्त बनाना आनन्दमात्रादृष्टि से उपयुक्त होता हुआ भी लक्ष्यदृष्टि से व्यर्थ है। एकमात्र इसी दृष्टि से अवि ने मानुषदृष्टान्त को लक्ष्य बनाना न्यायसङ्गत समझा है" यह समाधान ठीक ही है।



“ठीक ही है” इस अरुचि का कारण यही है कि, क्या दाम्पत्यभाव ही एकमात्र मानुष अनन्द है ?। इन तो देखते हैं कि, पुत्रवात्सल्य, गुरुभ्रष्टा, मित्रस्नेह, रसना-घ्राणेन्द्रियादि को आनन्द पहुँचाने वाले और और जड़काम, सभी तो मानुषानन्द हैं। इनमें से यदि किसी को दृष्टान्त बना दिया जाता, तो लक्ष्यसिद्धि भी हो जाती, एवं स्त्री-सम्परिपक्व जैसी वैयक्तिक वृत्ति से भी मानव समाज वचने की शिक्षा ग्रहण कर लेता। कम से कम शिष्टता के नाते तो अवश्य ही अपि को और ही कोई दृष्टान्त उपस्थित करना था।” क्षमा कीजिए ! अपियों को आप की शिष्टता मान्य न थी, जो घाणीमात्र से “शिष्टता” शब्द का प्रयोग करने हुए आज के युग की अशिष्टता के जन्मदाता बने हुए हैं। किंवा जिनकी दोषदृष्टि दृष्टि में भारतीय शिष्टता अशिष्टता बन रही है, एवं भारतीय शिष्टता-सभ्यता क्षेत्र की अपेक्षा मर्क्या अशिष्टता असभ्यता कहलाने योग्य यह वास्तविक अशिष्टता-शिष्टता बन रही है। जो दाम्पत्यभाव सृष्टि का मूल है, उसे दृष्टान्त मान लेना अशिष्टता है, एवं बिना मोचे समझे अपनी दोषदृष्टि से मलिनान्तःकरण बन कर इस पवित्र-प्रजातन्त्रुचितानप्रतिष्ठालक्षण दाम्पत्यभाव के दृष्टान्त का विरोध करना शिष्टता है। सच बात तो यह है कि, हमारी वर्तमान दृष्टि में ‘स्त्रियया सम्परिपक्वः’ का यही अर्थ समझ में आता है कि, मानों ‘कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा’ ही हमारा लक्ष्य हो। हमारे ये शिष्टबन्धु यह भूल जाते हैं कि, जिस युग के अपि जिस युग में यह दृष्टान्त दे रहे हैं, उस युग का—“न स्वैरी स्वैरिणो कुतः” यह आदर्श था। लैङ्गिक सम्बन्ध की अशिष्टता-शिष्टता अमर्यादा-मर्यादा भावों पर अवलम्बित है। मातापिता पुत्र-पुत्रपथ के सुखी दाम्पत्यजीवन से अपने आपको पितृदृष्टि से उन्मुक्त समझते हैं। ऐसी दशा में इस पवित्रतम दृष्टान्त के सम्बन्ध में हीनचरित्र स्वैरी मनुष्य के अतिरिक्त और कौन अशिष्ट अशिष्टता का लाञ्छन लगा सकता है ?।

अन्तु। अभ्युपगमवाद से मान लेते हैं दृष्टान्त सर्वथा अशिष्ट है। फिर भी यह इस लिए उपादेय है कि जिस ब्रह्मानन्द के स्वरूपबोध कराने के लिए आप को लक्ष्मीभूत मनुष्यप्रजा के लिए सत्समनुलित जिन मानुषानन्दों में से किसी एक को लक्ष्य बनाना है, उनमें से एकमात्र यह अशिष्ट उदाहरण ही सर्वाङ्गीण दृष्टान्त बन सकता है। एवं इसा तत्त्वदृष्टि से अपिने और कोई मानुषानन्द उदाहरण न मन कर एकमात्र इस अशिष्ट दृष्टान्त को ही प्रमुख स्थान दिया है। अवश्य ही तत्त्वापेक्षया यह अशिष्टता कम से कम अशिष्ट भारतीयों के लिए तो सर्वोत्तम माध्य है। जो इस अशिष्टता से बलान्त है, वे उस ब्रह्मानन्दमीमांसा में ही जब अन्तर्निहित हैं, तो उनके अध्यात्म-यादों में समय नष्ट क्यों किया जाय।

चान्द्रसमय प्रज्ञानमन से संयुक्त इन्द्रियों के द्वारा भूतात्मा का किसी अभिलक्षित भौतिक विषय की ओर उन्मुख बन कर स्नेदगुणप्रधान प्रज्ञानरस की कृपा से उस विषय के साथ वद्ध हो

जाना ही 'प्रेम' की वैज्ञानिक परिभाषा है। यही प्रेमलक्षण मानससम्बन्ध आनन्दानुभूति का कारण बनता है। आनन्दानुभूतिजनक मनोव्यापारलक्षण इस प्रेम-व्यापार में—“श्रोत्रः सारी-वा इन्द्रः, यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति, एव तत्रापरं गच्छति” (ऐत० ब्रा०) सिद्धान्तानुसार प्राद्व-इन्द्रसंयुक्त प्रधानमन का सोमरस, किंवा सोमरसमूर्ति मन विषय के साथ मद्ध हो जाता है। लक्ष्मीभूत विषय, तथा मन, दोनों का पारस्परिक रसानुगमनागमन ही प्रेम है। यह विषय (जिनके साथ प्रेम होता है) जड़-चेतन भेद से दो भागों में विभक्त है। चेतन प्राणियों के प्रति भी मनोरस प्रवाहित रहता है, एवं अचेतन-जड़भूतों के प्रति भी मनोरस प्रवाहित रहता है। इन दोनों विभागों के लौकिक-अलौकिक भेद से दो दो विधर्च हैं। ईश्वर, अवतारपुरुष, योगी, सन्त, आदि चेतनवर्ग गौणीक चेतनविभाग है, एवं शेष मनुष्य-पशु-पक्षी-वृमि-कीटादि लौकिक चेतन-विभाग है। अरवस्थ, वट, शालग्रामगिला, तुलसी, गङ्गा, यमुना, यज्ञाग्नि, आदि अलौकिक अचेतन विभाग है, एवं शेष जड़ पदार्थ लौकिक अचेतन विभाग है। अलौकिक चेतनवर्ग, तथा अलौकिक अचेतनवर्ग (अपने अभिमानी देवता के सम्बन्ध से) दोनों हम से उच्चश्रेणि में प्रतिष्ठित हैं। अतएव इन दो वर्गों के प्रति तो केवल ‘श्रद्धा’ नामक प्रेम का ही सम्बन्ध रहता है। शेष लौकिक चेतनवर्ग तथा लौकिक अचेतनवर्ग, दो विभाग बच रहते हैं। इनमें से लौकिक चेतन वर्ग की प्रेमधारा पाँच भागों में प्रवाहित रहती है, एवं लौकिक अचेतन वर्ग की प्रेमधारा एक ही स्वरूप में परिणत रहती है।

लौकिक चेतन वर्ग में प्राणिमात्र का समावेश है। तत्तद्दाराध्य प्राणदेवताओं के विरोधाधान से तत्तत्प्राणप्रधान बने हुए पशु-पक्षी-कृमि-कीटादि भी भारतीय आर्षप्रजा की दृष्टि में उच्च श्रेणि में प्रतिष्ठित रहते हुए श्रद्धेय माने जा रहे हैं। गोपशु हमारा श्रद्धेय है, श्याव-शबल जाति के श्याव चाम्यप्राण सम्बन्ध से हमारे श्रद्धेय हैं, इन श्रद्धापूर्वक इनके लिए पिण्डपितृयज्ञ (श्राद्ध) में बलिबिधान करते हैं। रीतलावाहनचन्द्रेण गर्दभपशु भी हम दृष्टि से कम श्रद्धेय नहीं हैं। अम्बावाहन सिंह का पूजन भी हम उसी प्रणतभाव से करते हैं। बराहप्राणमूर्ति शूकर भी हमारी दृष्टि में नम्रय है। बलिसम्बन्धेन काकपक्षी, दण्डिसम्बन्धेन नीलकण्ठपक्षी, विष्णुवाहनसम्बन्धेन गरुडपक्षी, आदि पक्षिविशेष भी हमारे लिए श्रद्धेय हैं। एवमेव आगन्तुक महत् सम्बन्धेन सर्व-विशेष आदि कृमि भी हमारे लिए श्रद्धेय हैं। सुप्रसिद्ध नागपञ्चमी इसी श्रद्धाभाव को प्रकट करने के लिए नियत है। निष्कर्षतः—“यद्यत्-विमूर्तिमत् सत्त्वं श्रीमद्भक्तिमेव वा” न्याय मे विमूर्तिप्राण-विराष्ट प्राणिविशेष भी इस प्राणदृष्टि से हमारे लिए श्रद्धेय है। इस श्रद्धा के अतिरिक्त गो-पशु गोवास आदि के साथ हमारा वात्सल्य भी रहता है। गृहस्थाश्रम में चिरकालिक सद्भाव से इनके साथ स्नेह भी प्रकान्त है। एवं दुग्ध-गोमयादि की दृष्टि से इनके साथ क्रम सम्बन्ध (जड़प्रेम)

भी सुरक्षित है। इस प्रकार मानव-वर्गातिरिक्त अन्य लौकिक चेतनवर्ग के साथ 'श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम' इन चार प्रेमक्षेत्रों का समन्वय हो रहा है। जो विशुद्ध लौकिक अचेतनवर्ग है, उसके साथ (द्रव्य-भवन अन्न-आभूषण-ओर ओर जड़परिग्रह के साथ) न श्रद्धा है, न वात्सल्य है, न स्नेह है। है केवल काम सम्बन्ध। क्योंकि श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह, तीनों में प्रेमकर्ता, तथा प्रेम-पात्र, दोनों का चेतन होना आवश्यक है। जड़पदार्थों के साथ प्रेम करने वाला चेतन अवश्य है, किन्तु ये स्वयं अचेतन हैं। अस्तु, इन सब रहस्यों का गीताभाष्यान्तर्गत 'भक्तियोगपरीक्षा' नामक ६ ठे खण्ड में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। प्रकृत में हमें विचारविषयीमूल केवल मानुष-प्रेमधारा की ही मीमांसा करनी है।

(१)-यदि हमारा मन (मानसपृच्छा, मनोमय थड्यासूत्र) अपने से उच्चश्रेणी के व्यक्ति के प्रति (माता, पिता, गुरु, ज्येष्ठभ्राता, अन्य श्रेष्ठ पुरुष आदि के प्रति) प्रवाहित है, तो यही 'अवर-प्रतियोगिक-परानुयोगिक' प्रेम 'श्रद्धा' कहलाएगा। सीधे शब्दों में अवरश्रेणी में प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि उच्चश्रेणी में प्रतिष्ठित व्यक्ति से प्रेम करता है, तो उसका यह प्रेम 'श्रद्धा' कहलाता है। प्रेमकर्ता का आसन नीचा है। जिसके साथ प्रेम किया जा रहा है, वह उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित है।

(२)-यदि हमारा मन अपने से अवरश्रेणी में प्रतिष्ठित पुत्र-पौत्र-कनिष्ठभ्राता-शिष्य-आदि की ओर प्रवाहित है, तो यही प्रेम 'वात्सल्य' कहलाएगा। सहजभाषा में उच्चश्रेणी में प्रतिष्ठित व्यक्ति यदि अवरश्रेणी में प्रतिष्ठित व्यक्ति से प्रेम करता है, तो वह प्रेम 'वात्सल्य' कहलाता है। अतएव इसे 'अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक' प्रेम माना गया है। इस प्रेमक्षेत्र में प्रेमकर्ता उच्चासन पर प्रतिष्ठित है, एवं प्रेमपात्र नीचे स्थान में प्रतिष्ठित है।

(३)-यदि हमारा मन अपने समकक्ष बन्धु-सखा-मित्र आदि की ओर प्रवाहित है, साथ ही उस समकक्ष का मन भी हमारी ओर प्रवाहित है, तो समानशीलव्यसनानुगत यही प्रेम 'स्नेह' कहलाएगा। सहजभाषा में समानवयस्क-समानार्थस्थिति-समानव्यसन-शील दो व्यक्तियों का पारस्परिक समानाकर्षण ही स्नेह है। अतएव इसे 'समानानुयोगिक-समानप्रतियोगिक' माना गया है। इस प्रेमक्षेत्र में दोनों ही प्रेमकर्ता हैं, दोनों ही प्रेमपात्र हैं। न दोनों में कोई छोट्टा है, न कोई बड़ा है। उच्चावचभाव के समाधिष्ट हांते ही यह स्नेहबन्धन उच्छिन्न हो जाता है। अतएव स्नेहबन्धनोपक्रम से पहिले 'समानशीलव्यसनेषु मैत्री' निर्णय कर लेना श्रेयःस्थ माना गया है।

(४)-यदि हमारा मन वस्त्र-गृह-आभूषण-पुस्तक-आदि जड़पदार्थों के साथ प्रवाहित है, तो यही प्रेम 'काम' नाम से व्यवहृत होगा। सहजभाषा में जड़प्रेम ही काम-प्रेम है। इस प्रेमक्षेत्र में

क्योंकि प्रेमकर्ता चेतन है, प्रेमपात्र ऊँच है, अतएव इसे 'एकतोऽनुयोगिक-एकतः'-प्रतियोगिक प्रेम कहा जाता है। कामप्रेम आत्मशान्ति का अनन्य विघातक है। कामानन्द आनन्द नहीं, मोह है, मूर्च्छा है, मृत्यु का निमन्त्रण है। शरीरयात्रानुबन्ध ऋजुभाव से सुरक्षित रहे, तत्पर्यन्त तो जड़काम उपादेय है। दूसरे शब्दों में उचितानुगत जड़काम जहाँ शरीरयात्रानिर्वाहक बनता हुआ, आध्यात्मिक यज्ञसंस्था को सुरक्षित रखता हुआ अवन्धन है, वहाँ उत्थाप्याकांक्षानुगत जड़काम आसक्ति-बन्धन का कारण बनता हुआ-यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म-बन्धन- के अनुसार बन्धन का ही प्रवर्त्तक माना गया है।

(५)-हमारा मन एक ही व्यक्ति को अपने आप में उन्मथने में भी प्रतिष्ठित सम्मन रहा है, अवरभ्रेणि में भी मान रहा है, समानभ्रेणि में भी मान रहा है, अंशतः जड़भ्रेणि में भी मान रहा है। इस प्रकार 'उन्मथ-अवर-समान-जड़' चारों का लक्ष्य एक ही को मान कर मन उसके प्रति आसक्त है, तो वही सर्वसमष्टिदलित, अतएव सर्वोत्कृष्ट प्रेम 'रति' नाम से व्यपहृत होगा। इस रतिप्रेम में विरुद्धाविरुद्ध सब धर्मों का समन्वय हो रहा है। अतएव 'सर्वधर्म्मोपपत्तेश्च' (वेदान्तसूत्र) इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार यह प्रेम ब्रह्मवत् सर्वधर्म्मोपपन्न बन रहा है।

इस रतिप्रेम के ऐसे सर्वधर्म्मोपपन्न क्षेत्र केवल दो हैं। प्रथम तो ईश्वर के साथ ही रति-सम्भव है, अथवा दूसरा क्षेत्र एकमात्र धर्म्मपत्नी ही बन सकती है। 'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्' रूप से ईश्वर की श्रद्धारूप से उपासना होती है। 'गोधूतिधूसराङ्गो नृपतिर्येदन्तसिद्धान्तः' श्याम से नन्दनन्दनस्वरूपद्वारा चास्त्वभाव से भी उसकी उपासना शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय (वल्लभ-सम्प्रदाय) में प्रायः है। नरावतार अर्जुन की भक्ति नारायणवतार भगवान् कृष्ण की मित्ररूप से भी उपासना सम्भव है। एवं जड़प्रतिभोपासना से सम्भव रखने वाला कामप्रेम तो आज पुष्पित-पल्लवित हो ही रहा है। इस प्रकार सर्वधर्म्मोपपन्न ब्रह्म की चारों ही प्रकार से उपासना सम्भव है। एक लक्ष्य में चारों का समन्वय हो रहा है।

दूसरा क्षेत्र धर्म्मपत्नी है। 'गृहिणी गृहमुच्यते'-के अनुसार धर्म्मपत्नी घर की अधिपति है। गृहस्थसंस्था में इसका वही महत्त्व है, जो महत्त्व पुरुष का बाह्य लोकसंस्था में है। स्वयं पुरुष इस क्षेत्र में इसका आसन अपने से ऊँचा समझता है। 'नार्यस्तु पूज्यन्ते' इस भावना से इसकी मानसिक पूजा करता है, इसे शक्ति-प्रतिमूर्ति मानता है। (हन्त!) कहीं आज का पुरुष समाज भी ऐसा मानता होना तो ???)। गृहिणी जीवनयात्रा में समय समय पर उपस्थित होने वाली विपन्न समस्याओं को (सन्मार्गप्रदर्शनपूर्वक) सुलझाने वाली उपदेशिका है, पूज्या है, गृहलक्ष्मी है। एवं इस अंश में अवरय ही यह श्रद्धाप्रेम की अनुगामिनी बनी हुई है। असमर्थ-बालावस्थापन्न-सौम्य

पुत्र-कन्या आदि के प्रति जिस प्रकार आपका स्वाभाविक वात्सल्यप्रेम रहता है, एवमेव सोम-प्रधाना, अतएव अयला, अतएव आश्रयाकान्तिणी स्त्री के साथ वात्सल्यभाव का उद्रेक भी स्वाभाविक है। वात्सल्यप्रेममूलक लालन-पालनादि जो कर्म एक पिता अपनी सन्तति के प्रति करता है, वह सम्पूर्ण कर्म स्त्रीक्षेत्र से भी सम्बन्ध हैं। आप पति हैं, पालक हैं। वह पत्नी है, पालिता है। आप आश्रय हैं, वह आश्रिता है। आप स्वामी हैं, वह सेविका है। एवं इसी दृष्टि से यह वात्सल्यप्रेम की भी अनुगामिनी बन रही है। गृहस्थ के प्रत्येक कर्म में 'सहधर्म चरताम्' इस आदेश के अनुसार स्त्री जीवनसङ्गिनी है। आप उसके सहयोग के बिना यज्ञ, दान, यात्रा, अन्य उत्सवादि में कभी भाग नहीं ले सकते। एक सम्मित्र की भाँति आपके शील-व्यसन-अर्थ-स्थिति-पारिवारिकस्थिति आदि से समतुलित रहती हुई वह जीवनपर्यन्त आप का साथ निभाती है। एवं इसी दृष्टि से यह स्नेहप्रेम की भी अनुगामिनी बन रही है। धर्मपत्नी के नूपुरों की ध्वनि, कटक-कुण्डलादि की आभा, अलङ्कार की लालिमा, केशपाशों का आकर्षक विन्यास, वस्त्रादि की भव्यता, आदि जड़पदार्थ भी पति के मानस क्षेत्र के आकर्षक बने रहते हैं। यही चौथे कामप्रेम का संक्षिप्त निदर्शन है। इस प्रकार प्रेमचतुष्टयोलक्षण पँचराँ यह रतिप्रेम ईश्वर-क्षेत्रयन स्त्रीक्षेत्र में भी सर्वात्मना चरितार्थ हो रहा है।

श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम, चारों में आरम्भ के तीन प्रेम उभयनिष्ठ चेतनधर्म से युक्त हैं, एवं चौथा कामप्रेम जड़ानुगत है। अपने अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठित रहते हुए ही चारों का विशेष-महत्त्व है। भाज चारों में से किस प्रेम का प्राबल्य है ? उत्तर है—'काम'। यदि किसी पर श्रद्धा की जाती है, तो आत्मोद्धार के लिए नहीं, अपितु कामानुगता अर्थलालसा की समृद्धि के लिए। साधु-सन्त-महात्मा-विद्वान्-आदि श्रद्धेयों में यदि इस प्रेमपात्र को लोक-भूतलिप्ता-पूरक कोई उपाय बतला दिया, तो वे श्रद्धेय हैं। अन्यथा अन्यथासिद्ध हैं। यही हुई शा वात्सल्यप्रेम की है। पिता अपनी सन्तति से आज विशुद्ध अर्थ-कामना रखता है, मास्टर (गुरु) का लक्ष्य केवल मासिक वेतन है। निष्काम वात्सल्यप्रेम सर्वात्मना पददलित है। स्नेह के सम्बन्ध में तो कुछ न कहना ही अच्छा है। आज मित्रता उन्हीं के साथ निभती है, जो मित्र की अर्थलालसा में सहयोग देता है। उपर सर्वधर्मोपपन्न स्त्रीक्षेत्र भी केवल कामक्षेत्र घनता हुआ सर्वथा जर्जरित हो रहा है। इस प्रकार आज चेतनप्रेमत्रयी का स्थान जड़ कामप्रेमने महण कर भारतीय अध्यात्मिक क्षेत्र को सर्वथा उत्तर बना डाला है।

अस्तु, जिस उद्देश्य से इस प्रेमपञ्चक की अप्रासङ्गिक गाथा गाई गई है, उस उद्देश्य पर दृष्टि डालिए। श्रद्धा-वात्सल्यादि पँचों में स्त्रीक्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाला केवल रतिक्षेत्र ही ऐसा है, जो अद्वैतानन्दवत् आत्मविस्मृति का कारण बन रहा है। रतिप्रेमासक्त इसी प्रकार अपने

आप को भूल जाता है, जैसे कि एक मद्यरति-आसक्त आत्मकाम गुप्तुं उस विशुद्ध आत्मतत्त्व के साथ रतिभाव प्राप्त करता हुआ अपने सविशेषरूप को भूल जाता है। लौकिक विषयानन्दों में एकमात्र यह 'स्त्रियया सम्परिप्वङ्ग' लक्षण रतिप्रेम ही ऐसा प्रेमानन्द है, जिस में द्वैतभाव नहीं रहता। अन्य भद्रा-वात्सल्यादि में द्वैतानुभूति सूचित रहती है। पारलौकिक पिष्ट-देवस्वर्गादि आनन्दों में एकमात्र ब्रह्मानन्द ही ऐसा है, जिसमें द्वैतभाव का आत्यन्तिक उच्छेद है। इस प्रकार द्वैतविध्युत्तिलक्षण-अद्वैतभावात्मक विषयानन्दों में रत्यानन्द, पारलौकिक आनन्दों में ब्रह्मानन्द, दोनों समतुलित हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, स्त्री-सम्बन्धी रतिप्रेम इच्छाप्रधान बनता हुआ बन्धन का कारण है, क्षणिक है। एवं परमात्मसम्बन्धी रतिप्रेम निष्कामप्रधान बनता हुआ मुक्ति का प्रयत्नक है, शाश्वत है। इस सम्बन्ध में भी यह संशोधन कर लेना चाहिए कि, स्त्रीरति-शास्त्रानुगता बनती हुई, केवल प्रजातन्त्रुयितानोद्देश्य को लक्ष्य में रखती है। यदि वैपयिक-इच्छा-भाव से प्रयत्न है, तो ऐसा अकाम भोगिय विद्वान् इस पद्धति से भी कमगति को आश्रय लेता हुआ ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है। इसी संशोधन को लक्ष्य में रख कर भुक्ति ने कहा है—

“अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दः ।

यथ भोगियः, अशुनिनः, अकामहतः” ( शृ० आ० ४०४।३।३३ ) ।

यदि विशुद्ध इच्छाभाव का ही आश्रय है, तो उस दशा में भवश्य हा स्त्री-रति बन्धन का मूल बन जाता है। ऐसी स्त्री-रति जहाँ बन्धनमूल है, वहाँ प्रत्येक प्रकार की आत्मरति मुक्ति का मूल है। एक विषयानन्द की पराश्रय है, दूसरी आत्मानन्द की चरमसीमा है। कामानुगता यही वैपयिक रति जिस दिन आत्मरतिरूप में परिणत हो जाती है, बन्धन-विमोक्त हो जाता है। इसी भाव का बड़ा सुन्दर निरूपण करने वाली निम्न लिखितसूक्ति लोक में प्रचलित है। गोरवामी-जी की धर्मपत्नी इच्छासक्त तुलसी की मोहनिनी भङ्ग करती हुई कहती हैं—

“जितनो हेत हराम सों, उतनो राम से होय ।

चन्पो जाय बकुल में रोक न राखै कोय” ॥

विषयानन्द की उक्त गोमांसा से विद्व पाठकोंनें अथ भलिभॉति यह जान लिया होगा कि, ब्रह्मानन्द के साथ अप्रियोंनें स्त्री-रति का क्यों समतुलन किया ? दृष्टान्त एकमात्र यही ऐसा है जिसमें क्षणमात्र के लिए अद्वैतानुभूति है। एक दूसरा दृष्टान्त 'सुपुति' है। 'स्वमपीतो भवति' के अनुसार सुपुतिकाल में भी अद्वैतसम्पत्ति प्राप्त हो जाती है। अतएव अन्यत्र उपनिषदों में ही यह दृष्टान्त भी उद्धृत हुआ है। परन्तु आनन्दानुभूतिजक्षण आनन्दगोमांसा में जैसा

जामदग्न्यानुगत उदाहरण समतुलित बनता है, ऐसा सुपुष्टि का नहीं। अतः ऋषि ने इस प्रकरण में यही दृष्टान्त देना अन्वर्थ समझा है। यही अन्वर्थता आज की कल्पित अशिष्टता का सम्यक् समाधान है।

“शतप्रजापति के आनन्द से समतुलित, पर्ण-अर्ण, पशु, पक्षी, कृमि, कीट, स्थावर, जङ्गम आदि आदि यच्चावत् पदार्थों में समरूप से व्याप्त रहने वाला चराकरगर्भित अव्यय ही पहिला ‘विशुद्ध’ आत्मा है, यही हमारे सविशेष आत्मा का निर्विशेष अतिच्छन्दा-अपहतपाप्मा-अकाम रूप है” उक्त उपनिषद्-ब्राह्मण-भूतिवचनों का यही निष्कर्ष है। यही वह आत्मतत्त्व है, जो प्राणियों, अप्राणियों में सर्वत्र समरूप से प्रतिष्ठित है। शरीरोपाधियुक्त अन्तरात्मा का साक्षी बनता हुआ वह इस सोपाधिक सविशेष अन्तरात्मा की दृष्टि से विभक्तवत् प्रतीत होता हुआ भी स्व-स्वरूप से सर्वाथा अविभक्त है। ‘सर्वधर्म्मोपपन्नो’ के अनुसार सर्वधर्म्मोपपन्न बनता हुआ ही वह ‘निविशेष’-उपाधि को चरितार्थ कर रहा है। वह कृष्ण-पीत-रक्त-लघु-गुरु-ह्रस्व-दीर्घ-स्पर्ण-महान्-सबकुछ बनता हुआ इन सब से अतीत है। कृष्ण उसे इस लिए नहीं कहा जासकता कि, वह पीत है। पीत है, इस लिए कृष्ण नहीं। ह्रस्व है, इसलिए दीर्घ नहीं। दीर्घ है, इसलिए ह्रस्व नहीं। न्यायशास्त्र के अनुसार प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चिन्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही शक्ति रहती है। उदाहरणार्थ-घट शब्द को ही लीजिए।

कम्बुमीमांसिन्च ‘घट’ पदार्थ के अवच्छेदक (भेदक-घट को टपटादि धर्म्मों से प्रथक् करने वाले) कम्बुमीमांसिन् भावों में ‘घट’ शब्द की शक्ति है। घटस्य विशेष्य है, घट विशेषण है। पटादि में क्योंकि कम्बुमीमांसिन् भावों का अभाव है, अतएव तत्सम्बन्धी पटशब्द वहाँ सम्बद्ध नहीं हो सकता। इसी व्यावृत्ति के आधार पर ‘घटोऽयं, नायं पटः’-‘पटोऽयं नायं घटः’ इत्यादि व्यवस्थाएँ व्यवस्थित हैं। प्रत्येक शब्द की गति (व्याप्ति) व्यवस्थित ज्ञानपर्यन्त ही विश्रान्त है। पूर्वोक्त सपेधर्म्मोपपन्न विशुद्ध व्यापक आत्मा को कोई भी धर्म्म एक दूसरे से प्रथक् नहीं कर सकता। आप उसे जिस शब्द से कहना चाहें, कह सकते हैं। अतएव आप उसे किसी भी शब्द से व्यवहृत नहीं कर सकते। क्योंकि प्रत्येक शब्द व्यावृत्तिधर्म्मावच्छिन्न बनता है। उस अवद-व्यावृत्ति की सीमाओं में प्रवेश नहीं कर सकता। मान लेना पड़ता है कि, व्यावर्त्तक शब्दशास्त्र से इस अव्यावृत्त विशुद्ध आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शास्त्र इसके सम्बन्ध में केवल तटस्थलक्षण का आश्रय लेता हुआ अन्ततः ‘नेति-नेति’ कहकर विश्राम कर लेता है। सर्वत्र समवस्थित, अतएव वाङ्मनसपथावीत यह विशुद्ध विभु राष्ट्र्रीय मर्यादाओं से एकान्ततः परिभूत है। धर्म्माधर्म्म, पापपुण्य, सुखदुःख, उन्नयनचय, आदत्तर्पण, इहलोकागमन, परलोकागमन, आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वभावों से सर्वथा असंस्पृष्ट इसी आत्मतत्त्व का स्वरूप परिचय कराते हुए अभियुक्तों ने कहा है—

१- अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताद् भव्याच्च यत् तत् पश्यसि तद्वद ॥

२- संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।

यतो वाचो निर्वर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

३- यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।

अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम् ॥

४- "नेति नेतीति होवाच" ।

५- "अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनगयो-

रतद्व्याख्यायं यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि ।

स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः" ॥

इस सम्बन्ध में प्रसङ्गोपात्त यह स्पष्ट और कर लेना चाहिए कि, महामायावच्छिन्न अव्यय को निर्विशेष मान कर उस के साथ उक्त श्रुति का समन्वय बतलाना आपेक्षिक भाव से ही सम्बन्ध रखता है। वस्तुतः सर्वधर्मोपपन्न अमायी परात्पर है, जिसे सर्वबलविशिष्टरस माना गया है। एवं विशुद्ध तत्त्व ही निर्विशेष है। इन सब सूक्ष्म दृष्टियों का 'आत्मविज्ञानोपनिषत्' में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। प्रकृत में विशुद्धरसात्मक निर्विशेष, अशेषबलवद्समूर्ति परात्पर, महामायावच्छिन्न हाराहरगमित अव्यय, तीनों को एक मानते हुए तीनों की समष्टि की अपेक्षा से 'विशुद्ध आत्मा' नामक प्रथम विवर्त्त का समन्वय हुआ है।

उक्त लक्षण; किंवा अलक्षण इसी विशुद्ध आत्मभावना के आधार पर आर्यप्रजा में कर्णाकर्णि यह व्यवहार प्रचलित है कि—“आत्मा सर्वव्यापक है, अखण्ड है, अज है। न उसका जन्म होता, न मृत्यु होती, न यह कहीं आता, न जाता”। आत्मतत्त्वानभिन्न मूढभी महाबुद्धि इसी व्यवहार को आगे बढ़ आत्मान्तर से सम्बन्ध रखने वाले आद्वै-आशीच-आदि धार्मिक कार्यों से मुग्ध प्रजावर्ग को भ्रान्त पथ की अनुगामिनी बना रहे हैं। कौन कहता है—आत्मा व्यापक नहीं, कौन कहता है—सब में एक ही आत्मतत्त्व का साम्राज्य नहीं। कौन कहता है—इस व्यापक आत्मा के लिए आद्यादि कर्म विहित हैं। कौन ह्ता है जनन-मरण व अशुचिभावों में यह व्यापक आत्मा आशीच धर्म से आक्रान्त हो जाता है। अवश्य ही जनन-मरण-धर्माक्रान्त आत्मतत्त्व उस व्यापक से पृथक् तत्त्व है, एवं वही आत्मविवर्त्त वस्तुतः आत्मप्रकरण का 'अन्तरात्मा' नामक दूसरा आत्मविवर्त्त है, जिसको लक्ष्य बनाकर सम्पूर्ण शास्त्र प्रवृत्त हुए हैं।



अव्ययात्मनामक विशुद्ध आत्मतत्त्व की अक्षरप्रकृति से सम्बन्ध रखने वाला आत्मतत्त्व ही 'अन्तरात्मा' है, जिसके 'शरीर-आत्मा' भेद से दो विशेष पर्व माने गए हैं। जीवभूता महाबाहो ! यथेदं धार्यते जगत्' के अनुराग अव्यय-क्षरगर्भित अक्षरतत्त्व ही इस जीवात्मलक्षण अन्तरात्मा का प्रयत्नक है। जीवात्मलक्षण यह अन्तरात्मा प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न है। यही द्वन्द्वभावों का भोक्ता है। हृदयस्थ इस भोक्ता के साथ सख्यभाव से प्रतिष्ठित पूर्वाक ईश्वरात्मा साक्षी है। वह निर्लेप है यह सलेप है। यह एक है, यह नाना है। जीवात्मलक्षण अन्तरात्मा भा यदि ईश्वरात्मयत्तव सव में समान होता, तो सुख दुःख का पारस्परिक संक्रमण उपलब्ध होता। उस दशा में एक जीवात्मा के सुखी हो जाने से यथायथ जीवात्मप्रपञ्च सुखी हो जाते, एवं एक के दुःखी हो जाने से सब दुःखी हो जाते। प्रतिशरीर में भिन्न भिन्न स्वस्वकर्मानुसार परस्पर विशेष भावों से युक्त, अतएव 'सविशेष' नाम से प्रसिद्ध यही सोपाधिक-साञ्जन-सावरण-आत्मा अन्तरात्मा है, जो सदा शरीरसम्बन्ध से आक्रान्त रहता है। यह देह में रहता हुआ भी देहाभिमान से ग्रस्त है, शरीर में विभूतिसम्बन्ध से रहता हुआ भी अशरीरी है। यह देह में रहता हुआ देहाभिमानी है, देही है, शरीरी है। यह परिच्छिन्न जीवात्मा ही उपनिषदों में 'भूतात्मा'-'भोक्तात्मा'-'कर्मात्मा'-'भोक्तासुपर्ण' 'अन्तरात्मा' आदि नामों से व्यवहृत हुआ है। उक्त सर्वभूतान्तरात्मा, एवं यह अन्तरात्मा, दोनों उसी हृत्प्रदेश में (दहराकाश में) प्रतिष्ठित है। "उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्" में 'आत्मना'—सर्वभूतान्तरात्मनामक ईश्वरात्मा (विशुद्ध आत्मा) है, एवं 'आत्मानम्' अन्तरात्मनामक जीवात्मा है। यही समन्वय 'न हिनस्व्यात्मनाऽऽत्मानम्' पद्यन का है। ईश्वरात्मा का उत्थिताकांक्षा से सम्बन्ध है, यही ईश्वरेच्छा है। एवं जीवात्मा का उत्थाप्याकांक्षा से सम्बन्ध है, यही जीवेच्छा है। ईश्वरेच्छामूलक कर्म अवन्धन है, जीवेच्छा कर्म-सम्बन्धन है। अर्जुन के सम्पूर्ण सन्देह, सम्पूर्ण जिज्ञासाएँ, सम्पूर्ण कातरभाव, जीवात्मा को लक्ष्य बना कर प्रवृत्त हुए हैं। भगवान् के सम्पूर्ण समाधान ईश्वरात्मा को लक्ष्य में रखकर प्रवृत्त हुए हैं।

बतलाया गया है कि, यह जीवात्मा तीन शरीरों से नित्य युक्त रहता है। यह शरीरत्रयी पाँच-परिमों से सम्पन्न हुई है। वे ही पाँचों परिग्रह स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा, सौर विज्ञानात्मा, चान्द्र महानात्मा—एवं प्रज्ञानात्मा, पाथिव शरीर, इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनका आत्मविज्ञानोपनिषत् में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। पाथिव शरीर इस अन्तरात्मा का स्थूलशरीर है, चान्द्रप्रज्ञानात्मा (मन), सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि), दोनों की समष्टि इसका सूक्ष्मशरीर है। एवं चान्द्र महान् पारमेष्ठ्य यज्ञ-स्वायम्भुव अव्यक्त, तीनों की समष्टि कारणशरीर है। कारणशरीरात्मिका अव्यक्त-यज्ञमहान्-की समष्टि 'आत्मा' है, सूक्ष्मशरीरात्मिका विज्ञान-प्रज्ञान की समष्टि 'प्राणाः' है, इसी में इन्द्रियवर्ग का अन्तर्भाव है। एवं स्थूलशरीर, 'परावः' है। आत्मा-आण-पणु, इन कारण-सूक्ष्म-स्थूल-

परिमहों से युक्त वैश्वानर-तैजस प्राज्ञलक्षण भूतात्मा ही 'अन्तरात्मा' है। पशुपरिमहावच्छेदन यही अन्तरात्मा प्राणात्मा है, एवं आत्मावच्छेदेन यही अन्तरात्मा आत्मा है। इस प्रकार तीन परिमहों के सम्बन्ध से इस एक ही अन्तरात्मा की तीन अवस्था हो जाती है।

दूसरी दृष्टि से सम्बन्ध कीजिए। प्राणमूर्ति अव्यक्तरूप का तो स्वासङ्गभाव की अपेक्षा से विशुद्ध आत्मकोटि में ही अन्तर्भाव हो जाता है। शेष अक्षमूर्ति यज्ञात्मा, वाङ्मूर्ति विज्ञानात्मा, पितृप्राणमूर्ति-महानात्मा, अन्नमूर्ति प्रज्ञानात्मा, एवं मर्त्याग्निमूर्ति पार्थिव स्थूलशरीर, ये पाँच विवर्त वच रहते हैं। इनमें पार्थिव स्थूलशरीर पृथक् संस्था है, यही शरीरात्मा है। शेष चारों की समष्टि, एवं तद्वत् वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्ति जीवात्मा 'अन्तरात्मा' है। उस ओर अन्तर्म सीमा में रहने वाले पार्थिव भौतिक स्थूलशरीर को यदि पृथक् मान लिया जाता है, तो मध्यस्थ-यज्ञ-विज्ञान-महत्-प्रज्ञानावच्छिन्न जीवात्मा ही अन्तरात्मारूप से अवशिष्ट वच रहता है। अव्यक्तानुगत विशुद्ध आत्मा 'ईश्वर' है, पञ्चकल अन्तरात्मा 'जीव' है, स्थूलशरीर इस जीवात्मा का जगत् है। यही सप्रसिद्ध विशिष्टाद्वैतसम्प्रदाय का त्रितत्त्ववाद है, जिसका इस दृष्टि से अभिनन्दन किया जा सकता है। आगे के परिलेखों से इस आत्म-विवर्तनकी का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है—

<p>विशुद्धात्मा साक्षी अव्यक्त</p>	<p>* — निष्कलः परात्परः — अर्द्धमात्रा (१) १ — पञ्चकलोऽव्ययः — अकारः (५) २ — पञ्चकलोऽक्षरः — उकारः (५) ३ — पञ्चकलः क्षरः — मकारः (५)</p>	<p>चराक्षरगमितः परात्परामिबो- ऽव्ययः — "ईश्वरः" (तस्य वाचकः प्रमाद्यः— इत्यादुराचार्याः)</p>
<p>अन्तरात्मा भोक्ता क्षरः</p>	<p>१ — पञ्चकलोऽक्षरः २ — पञ्चकलः क्षरः ३ — पञ्चकलोऽव्ययः * — निष्कलः परात्परः</p>	<p>अव्ययक्षरगमितः — अक्षरः — "जीवः" (तस्योपनिषदहमित्यादुराचार्याः)।</p>
<p>शरीरात्मा भोगावतप्तम् क्षरः</p>	<p>१ — पञ्चकलः क्षरः २ — पञ्चकलोऽक्षरः ३ — पञ्चकलोऽव्ययः * — निष्कलः परात्परः</p>	<p>अव्ययक्षरगमितः — क्षरः — "जगत्" (तस्योपनिषदहमित्यादुराचार्याः)।</p>

## आरौचयिज्ञानोपनिषत्

- १-क्षराक्षरगर्भितः—अव्ययपुरुषः—तत्प्रधानः—विशुद्ध आत्मा ( ईश्वरः ) ।  
 २-क्षराव्ययगर्भितः—अक्षरपुरुषः—तत्प्रधानः—अन्तरात्मा ( जीवः ) ।  
 ३-अव्ययाक्षरगर्भितः—क्षरपुरुषः—तत्प्रधानः—शरीरात्मा ( जगत् ) ।

१-१ षोडशीपुरुषः—सर्वव्यापकः—द्वेष्टे शो प्रतिष्ठितः—साक्षी—विशुद्धात्मा—“ईश्वरः”

२-१—अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः

३-२—यक्षारता—पारमेष्ठ्यः

४-३—विज्ञानात्मा—सौरः

५-४—महानात्मा—चान्द्रः

६-५—प्रज्ञानात्मा—चान्द्रः

७-१—प्राज्ञः—ऐन्द्रः

८-२—वैजसः—वायव्यः

९-३—वैश्वानरः—आग्नेयः

भोगसाधनानि

अन्तरात्मा—“जीवः”

भोक्तात्मा

१०-१—शरीरम्—पाथिवम्

भोगायतनम्

शरीरात्मा—“जगत्”

अथवा—

१-षोडशीपुरुषः—अमृतात्मा—विशुद्ध आत्मा

२-अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः—असङ्गः प्राणमयः

विशुद्धात्मा

“इति तु-अथात्मम् । स एष दशकलो विराट्”

२	<p>१—यज्ञात्मा आपोमयः—पारमेष्ठ्यः</p> <p>२—विज्ञानात्मा वाङ्मयः—सौरः</p> <p>३—महानात्मा—सोममयः—चान्द्रः</p> <p>४—प्रज्ञानात्मा—अन्नमयः—चान्द्रः</p> <p>५—कर्ममात्मा—अन्नादमयः—पार्थिवः</p>	}—अन्तरात्मा
३	१—शरीरात्मा मर्त्याग्निमयः—भौमः	}—शरीरात्मा

अथवा—

१	१—योद्धशीपुरुषः ]—शरीरेषु-अशरीरी ]—विशुद्धात्मा	
	<p>२—१—अव्यक्तात्मा स्वायम्भुवः</p> <p>३—२—यज्ञात्मा पारमेष्ठ्यः</p> <p>४—३—महानात्मा पारमेष्ठ्यः</p>	<p>कारणशरीरम् आत्मा</p> <p>}—अन्तःशरीरे</p>
२	<p>५—१—विज्ञानात्मा सौरः</p> <p>६—२—प्रज्ञानात्मा चान्द्रः</p>	<p>सूक्ष्मशरीरम् प्राणः</p> <p>}—अन्तरात्मा</p>
	<p>७—१—प्राज्ञः—एकविंशः (२१)</p> <p>८—२—तैजसः—पञ्चदशः (१५)</p> <p>९—३—वैश्वानरः—त्रिवृतः (६)</p>	<p>शरीरी</p> <p>}—शरीरेषु शरीरी</p>
३	१०—१—शरीरम्—भौमम्	<p>स्थूलशरीरम् (बाह्यशरीरम्)</p> <p>}—शरीरात्मा</p>

अथवा—

अमृतम्	१—सर्वव्यापकः षोडशी—शरीरेषु प्रतिष्ठितः—अशरीरी
तिशो माता मृत्युमर्याः	१—अव्यक्त-यज्ञ-महद्वच्छिन्नः कर्मात्मा प्राज्ञः—आत्मा (मनोमयः)—कारणशरीरम् २—विज्ञान-प्रज्ञानावच्छिन्नः कर्मात्मा तैजसः—प्राणाः (प्राणमयाः)—सूक्ष्मशरीरम् ३—शरीरावच्छिन्नः—कर्मात्मा वैश्वानरः—परायः (वाक्मयाः)—स्थूलशरीरम्

अथवा—

१	१—कार्यकारणातीतः—सर्वातीतः—सर्वमयः—साक्षी—असङ्गः ]—विशुद्धात्मा
२	१—कारणशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा—प्राज्ञः २—सूक्ष्मशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा—तैजसः }—अन्तरात्मा—ससङ्गः
३	३—स्थूलशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा—वैश्वानरः ]—शरीरात्मा—ससङ्गः

उक्त तीन आत्मविवर्तों में से प्रथम विशुद्ध आत्मा तो सर्वथा असङ्ग रहता हुआ निर्लेप है। शरीर में विभूतिसम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहने वाले शरीर, किंवा बाह्य दोषों का इस पर कोई प्रभाव नहीं होता। साथ ही न गुणाधान ही सम्भव। गुण-दोष-सम्पर्क से अतीत यह यह विशुद्ध आत्मा 'आशीच' मर्यादा से एकान्ततः अतिक्रान्त है। शेष बचे हुए अन्तरात्मा, शरीरात्मा, नाम के दो विवर्त ही आशीच सम्बन्ध के पात्र बनते हैं। इन पर दोषों का संक्रमण भी स्वाभाविक है, एवं गुणाधान भी स्वाभाविक है। फलतः प्रस्तुत आशीचप्रकरण में इन दो आत्मविवर्तों को लक्ष्य में रख कर ही आशीचस्वरूप की मोर्मांसा अभीष्ट बनती है। यही 'आशीचपात्रतामीमांसा' का सच्चिप्त स्वरूप प्रदर्शन है।

## आशौचस्वरूपमीमांसा—

‘आशौचपात्रस्वरूपमीमांसा’ परिच्छेद में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि, आध्यात्मिक-संस्था से सम्बन्ध रखने वाले विशुद्धात्मा, अन्तरात्मा, शरीरात्मा, इन तीनों आत्मविवर्त्तों में से असङ्गप्राणमूर्ति स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा से युक्त त्रिपुरुषपुरुषात्पक, अतएव ‘पोड़पी’ नाम से प्रसिद्ध अव्ययप्रधान विशुद्ध आत्मा व्यापक है, अतएव व्याप्य (पारच्छिन्न) शुचि-अशुचि-धर्मा-धर्मों से असंस्पृष्ट है, नित्यभूत है, नित्यसंस्कृत है, एकात्मतः शास्त्रानविकृत है। अतएव इसके सम्बन्ध में हमारा (‘अन्तरात्मा’ नामक जीवात्मा का) कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। उस निर्विशेष के साथ न तो सविशेष आत्मा का ही कोई ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध है, न सविशेष शरीरान्तर ही उस पर अपना कोई प्रभाव डाल सकते। इस प्रकार दोनों में से प्रथम विशुद्ध आत्मविवर्त्त तो सर्वथा अमीमांसेय बन जाता है। अब मीमांसेय हैं अन्तरात्मा, शरीरात्मा, नामक दो आत्मविवर्त्त।

इस सम्बन्ध में भी थोड़ा स्पष्टीकरण और कर लेना चाहिए। पूर्व परिच्छेद में स्पष्ट किया गया है कि, ‘अन्तरात्मा’ नामक कर्मात्मा करने कारण, सूक्ष्म, स्थूल, इन तीन शरीरों से युक्त रहता हुआ तीन क्षेत्रों में विभक्त हो रहा है। अव्यक्तयज्ञगर्भित महानात्मा इसका कारण-शरीर है, तदवच्छिन्न कर्मात्मा प्राज्ञप्रधान है। विज्ञानगर्भित प्रज्ञान (बुद्धिगर्भित मन, इसका सूक्ष्मशरीर है, तदवच्छिन्न कर्मात्मा तैजसप्रधान है। एवं प्राणान्निगर्भित (चित्तेनिधेयान्निगर्भित) भूतान्नि (चित्ताग्नि) इसका स्थूलशरीर है, तदवच्छिन्न कर्मात्मा वैश्वानरप्रधान है। वैश्वानरप्रधान कर्मात्मा ‘शरीरात्मा’ है, तैजस-प्राज्ञप्रधान वही कर्मात्मा अन्तरात्मा है। इस प्रकार शरीरत्रयी के सम्बन्ध से एक ही कर्मात्मा के अन्तरात्मा, शरीरात्मा, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं, जिन्हें किसी सीमापर्यन्त हम : ‘आशौचपात्र’ कह सकते हैं।

कर्मात्मविवर्त्तसंग्रहः—

- |  |               |
|--|---------------|
| १-स्वायम्भुवाव्यक्त-पारमेष्ठ्ययज्ञात्मगर्भितश्चान्द्रो महानात्मा | कारणशरीरम्    |
| २-सौरविज्ञानात्मगर्भितश्चान्द्रः प्रज्ञानात्मा                   | सूक्ष्मशरीरम् |
| ३-चित्तेनिधेयान्निगर्भितः पार्थिवश्चित्ताग्निः                   | स्थूलशरीरम्   |

- |  |              |
|--|--------------|
| १-कारणशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा वैश्वानर-तैजसगर्भितः-प्राज्ञः   | } अन्तरात्मा |
| २-सूक्ष्मशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा-प्राज्ञवैश्वानरगर्भितः-तैजसः |              |
| ३-स्थूलशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा प्राज्ञतैजसगर्भितः-वैश्वानरः   | } शरीरात्मा  |

कारणशरीरावच्छिन्न प्राज्ञप्रधान कर्मात्मा में १-स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा, २-पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा, ३-चान्द्र महानात्मा, प्रज्ञाप्राणात्मक एकविंशस्तोमावच्छिन्न दिव्य सर्वज्ञ का प्रवर्ग्यभूत १२-प्राज्ञात्मा, ये चार पर्व हैं। चारों में से चौथे प्राज्ञ आत्मा के गर्भ में गौणरूप से पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न आन्तरिक्ष्य हिरण्यगर्भ वायु का प्रवर्ग्यभूत तैजसात्मा, तथा त्रिषुत्तोमावच्छिन्न पार्थिव विराट् अग्नि का प्रवर्ग्यभूत वैश्वानरात्मा, दोनों अन्तर्भूत हैं। यदि इन दोनों आत्मकलाओं का भी-संकलन कर लिया जाता है, तो प्राज्ञ नामक कर्मात्मा 'पट्कल' बन जाता है। स्वायम्भुव अव्यक्तात्मा प्राणमूर्ति बनता हुआ असङ्ग बनता हुआ विशुद्ध आत्मा की भाँति शुचि-अशुचिभावों से असंस्पृष्ट है। फलतः प्राज्ञ-कर्मात्मा का अव्यक्तांश आशौच-सम्बन्ध से सहिभूत बन जाता है। पारमेष्ठ्य यज्ञात्मा अग्नीषोमात्मक है, इसी के आधार पर 'अंहरहर्ह्यज्ञ' नामक जीवनयज्ञ प्रतिष्ठित है। यमप्राण के समावेश से जिस दिन यह यज्ञसम्बन्ध उच्छिन्न हो जाता है, तत्काल जीवन समाप्त हो जाता है। चान्द्र-महानात्मा सोमप्रधान है, तैजस-वैश्वानरगर्भात प्राज्ञ आत्मा अन्नमय है। इस प्रकार त्रेनगुणप्रधान सोम से युक्त रहते हुए ब्रह्म, महान्, प्राज्ञ, तीनों ससङ्ग बन रहे हैं। इसी ससङ्गभाव के अनुग्रह से ये तीनों शुचि-अशुचिभावों के मोक्ष बन रहे हैं। इनमें यज्ञात्मा, महानात्मा, इन दोनों का अशुचिभाव तो 'अघ' कहलाया है, जो कि 'अघ' नामक अशुचिभाव हमारे इस आशौचप्रकरण का मुख्य लक्ष्य है। तीसरे प्राज्ञ आत्मा का अशुचिभाव 'एनः' कहलाया है।

(१)-कारणशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा-प्राज्ञप्रधानः

१-१-स्वायम्भुवः	अव्यक्तात्मा	प्राणमयः	} दोषासंस्पृष्टः
२-२-पारमेष्ठ्यः	यज्ञात्मा—	अग्नीषोमात्मकः	
३-३-चान्द्रः	महानात्मा—	सोमात्मकः	
४-४-दिव्यः (२१)	प्राज्ञात्मा	} अन्नमयः	} एनो-दोषेण संस्पृष्टः
५-५-आन्तरिक्ष्यः (१५)	तैजसात्मा		
६-६-पार्थिवः (६)	वैश्वानरात्मा		

कारणशरीरावच्छिन्नः-कर्मात्मा  
'प्राज्ञः'

सूक्ष्मशरीरावच्छिन्न तैजसप्रधान कर्मात्मा में १-सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि), २-चान्द्र प्रज्ञानात्मा (मन) आन्तरिक्ष्य ३-तैजसात्मा, ये तीन पर्व हैं। तीसरे तैजसात्मा के गर्भ में दिव्य-प्राज्ञ, पार्थिव वैश्वानर, दोनों अन्तर्भूत हैं। इन दोनों के संकलन से यह तैजस नामक कर्मात्मा पञ्चकल बन जाता है। इन में सौर विज्ञानात्मा (बुद्धि) सर्वथा असङ्ग है। फलतः अव्यक्तांशयन्त यह विज्ञानांश भी शुचि-अशुचिभावों से असंस्पृष्ट है। चान्द्र प्रज्ञानात्मा 'अन्नमय' हि सोम्य मनः'

सिद्धान्त के अनुसार सोमात्मक अन्नमय चनता हुआ ससङ्ग है। तथुक्त प्राक्षवैश्वानरगर्भित तैजस भी ससङ्ग है। इसी द्विकल ( प्रधानयुक्त तैजस), किंवा चतुष्कल ( १-प्रज्ञानयुक्त २-वैश्वानर ३-प्राक्ष-गर्भित ४-तैजस ) कर्मात्मा के साथ 'भ्रातृ' नामक अशुचिभाव का सम्बन्ध माना गया है।

स्थूलशरीरावच्छिन्न वैश्वानरप्रधान कर्मात्मा में भीम चित्ताग्नि ( शरीर ), पार्थिव चित्तेनिये-याम्नि, ये दो पर्व हैं। पार्थिव चित्तेनियेयाम्नि ही वैश्वानर है, जिस के गर्भ में प्राक्ष तैजस, दोनों प्रतिष्ठित हैं। इसी दृष्टि से यह चतुष्कल बन रहा है। चतुष्कल इस वैश्वानर के साथ भूतानुगत अशुचिभाव का सम्बन्ध है, जो शरीराशुचि, द्रव्याशुचि, भेदसे दो भागों में विभक्त है।

२-सूक्ष्मशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा तैजसप्रधानः—

१	१-सौरः	विज्ञानात्मा ( बुद्धिः )	दोषासंस्पृष्टः
२	२-चान्द्रः	प्रज्ञानात्मा ( मनः )	अन्नमयः
३	३-अन्तरीक्ष्यः	तैजसात्मा	भ्रातृदोषानुगतौ
	४-दिव्यः	प्राज्ञात्मा	
	५-पार्थिवः	वैश्वानरात्मा	

(३)-स्थूलशरीरावच्छिन्नः कर्मात्मा-वैश्वानरप्रधानः

१-प्राणाग्निः पार्थिवः	वैश्वानरः	वैश्वानर	शरीरात्मा-भूतदोषानुगतः (शरीर-द्रव्यदोषानुगतः)
२-प्राणाग्निरान्तरीक्ष्यः	तैजसः		
३-प्राणाग्निर्दिव्यः	प्राज्ञः		
४-दिव्याग्निर्भीमः	शरीरम्		

पञ्चविध अशुचिभाव—

उक्त चित्तेष्वपि से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, विद्युत्, आत्मा, अन्तरात्मा, शरीरात्मा, इन तान् आत्मविवर्त्तों में से सामान्यतः अन्तरात्मा, शरीरात्मा, ये दो आत्मविवर्त्त शुचि-अशुचि-भावों से युक्त हैं। इन में भी अन्तरात्मा के कारणशरीर से सम्बद्ध अन्नमयकांश, सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध विज्ञानांश, दोनों दोषासंस्पृष्ट हैं। यज्ञात्मा-महानात्मानुगत प्राज्ञभाग, प्रज्ञानानुगत तैजसभाग, शरीरानुगत वैश्वानरभाग, ये तीनों दोषों से संस्पृष्ट हैं। इन में यज्ञात्मगर्भित सहाय के साथ



‘अघ’ का, प्राज्ञ के साथ ‘एनः’ का, प्रधानानुगत तैजस के साथ ‘भाव’ का, एवं शरीरानुगत वैश्वानर के साथ शरीराशुचि, तथा द्रव्याशुचि का सम्बन्ध है। इस प्रकार पाँच अशुचिभाव पाँच क्षेत्रों में विभक्त हो रहे हैं। अवश्य ही ‘आशौच’ तत्त्व समन्वय के लिए इन पाँचों आधारवेद्यमात्रों का यथास्थान सञ्चयस्थित समन्वय अपेक्षित है। पाँचों का वर्गीकरण ही आशौचस्वरूप-मीमांसा की मूल प्रतिष्ठा है। ‘अघ’ नामक अशुचिभाव प्रधानतः महानात्मा को ही लक्ष्य बनाता है। ‘एनः’ नामक अशुचिभाव प्रधानतः प्राज्ञ आत्मा को ही लक्ष्य बनाता है। ‘भाव’ नामक अशुचिभाव प्रधानतः प्रज्ञान (मन) को ही अपना लक्ष्य बनाता है। एवं शरीर, तथा द्रव्यानुगत अशुचिभाव प्रधानतः वैश्वानरात्मयुक्त शरीर को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं। इसी प्राकृतिक स्थिति के आधार पर वैज्ञानिकोंने अशुचिभावों को पाँच भागों में विभक्त माना है। एवं इन पाँचों के निराकरण के लिए पाँच प्रकार के शुद्धिसंस्कार माने हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-कर्मयोगपरीक्षात्मक-द्वितीयखण्ड के ‘ग’ विभाग के ‘संस्कार-विज्ञान’ नामक प्रकरण में किया जा चुका है।

१	१-महानात्मा — अघदोषपात्रम् २-प्राज्ञात्मा — एनोदोषपात्रम्	} — प्राज्ञः कर्मात्मा	} — शरीरी-कर्मात्मा
२	३-प्रज्ञानात्मा — भावदोषपात्रम्	} — तैजसः कर्मात्मा	
३	४-वैश्वानरात्मा — शरीरदोषपात्रम् ५-शरीरम् — द्रव्यदोषपात्रम्	} — वैश्वानरः कर्मात्मा	

- १-अघशुद्धिसंस्कारः—ततो महानात्मविशुद्धिः  
 २-एनःशुद्धिसंस्कारः—ततः प्राज्ञात्मविशुद्धिः  
 ३-भावशुद्धिसंस्कारः—ततः तैजसात्मविशुद्धिः  
 ४-शरीरशुद्धिसंस्कारः—ततः वैश्वानरात्मविशुद्धिः  
 ५-द्रव्यशुद्धिसंस्कारः—ततः शरीरविशुद्धिः

“त एते पञ्चधर्मशुद्धिसंस्कारा भावकाः”

शुचिभाव पुण्यातिशय का प्रवर्त्तक है, एवं अशुचिभाव पापातिशय का प्रवर्त्तक है। ज्ञान-पूर्वक किए जाने वाले सत्कर्म शुभसंस्कार के जनक बनते हैं, एवं अज्ञानसहकृत असत्कर्म अशुभसंस्कारों के प्रवर्त्तक बनते हैं। इस प्रकार ज्ञान, अज्ञान-सहयोगियों के भेद से कर्मतन्त्र दो भागों में विभक्त हो रहा है। जिन कर्मों से शुभसंस्कार उत्पन्न होते हैं, वे पुण्यकर्म माने गए हैं, एवं जिन कर्मों से अशुभसंस्कार उत्पन्न होते हैं, वे पापकर्म माने गए हैं। शुभवासना पुण्यातिशय है, अशुभवासना पापातिशय है। पाप से (पापप्रवर्त्तक असत्कर्म से) पाप (पापसंस्कार) होता है, पुण्य से (पुण्यप्रवर्त्तक सत्कर्म से) पुण्य (पुण्यसंस्कार) होता है। यही पुण्य-पाप-कर्मद्वयी आगे जाकर ६ भागों में विभक्त हो जाती है, जिसका उक्त गीता-खण्ड के 'उदर्कनियन्त्रणपट्कर्म' नामक प्रकरण में विराद वैज्ञानिक निरूपण हुआ है। प्रकरण-सङ्गति के लिए प्रकृत में नाम मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं।

१	१-श्रद्धाश्रयसम्-अभ्युदयमूलकारुभसंस्कारप्रवर्त्तकम् (१) सत्कर्म २-दानः-प्रत्यवायमूलकारुभसंस्कारप्रवर्त्तकम् (१) असत्कर्म	}	उपादेयानि हेयानि
२	१-प्रायश्चित्तम्-प्रत्यवायनिमित्तप्रतिबन्धकम् (२) सुकर्म २-अघम्-अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धकम् (२) विकर्म	}	
३	१-सुकृतम्-प्रत्यवायनिमित्तविघातकम् (३) कर्म २-दुकृतम्-अभ्युदयनिमित्तविघातकम् (३) विकर्म	}	

प्रकाशितेण—

संख्या	कर्मनामानि	कर्मवृत्तयः	कर्मजातयः	कर्मतिशयाः
१	१-१-१ श्रःश्रेयसम्	अभ्युदयमूलकाशुभसंस्कारजनकम्	शास्त्रविहित-‘सत्कर्म’	उपादेयः—पुण्यातिशयः
	२-२-१ एतः	प्रत्ययायमूलकाशुभसंस्कारजनकम्	शास्त्रप्रतिषिद्ध- ‘असत्कर्म’	हेयः—पापातिशयः
२	३-१-२ प्रायश्चित्तम्	प्रत्ययायनिमित्तप्रतिबन्धकम्	शास्त्रविहित-‘सुकर्म’	उपादेयः—पुण्यातिशयः
	४-२-२ अघम्	अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धकम्	शास्त्रनिषिद्ध-‘विकर्म’	हेयः—पापातिशयः
३	५-१-३ सुकृतम्	प्रत्ययायनिमित्तविघातकम्	शास्त्रविहित-‘कर्म’	उपादेयः—पुण्यातिशयः
	६-२-३ दुष्कृतम्	अभ्युदयनिमित्तविघातकम्	शास्त्रविरुद्ध-‘अकर्म’	हेयः—पापातिशयः

आयुर्वेद का त्रिधातुवाद—

आत्मा की यह स्वाभाविक स्थिति, जिसमें प्रतिष्ठित रहता हुआ आत्मा स्वस्वरूप से विकसित रहता है, ‘शुचि’ अवस्था है। एवं यह स्थिति, जिसमें आकर आत्मा स्वस्वरूप से मुकुलित हो जाता है, ‘अशुचि’ अवस्था है। शुचिभावापन्न आत्मा पवित्र-पूत-शुद्ध-रहता हुआ जहाँ स्वस्वरूप से विकसित है, वहाँ इसमें अन्य दिव्य शुभसंस्कारग्रहण की भी योग्यता विद्यमान है। ठीक इसके विपरीत अशुचिभावापन्न अपवित्र-अशुद्ध-मलीमस-आत्मा जहाँ स्वस्वरूप से मुकुलित रहता है, वहाँ आगन्तुक दिव्यसंस्काराधान से भी वञ्चित रहता है, साथ ही दोषप्रवर्तक-दोषवर्द्धक-अशुभ-संस्कारों का भी अनुगामी बना रहता है। अतएव आवश्यक है कि, आत्मा को सदा उन अशुचि-भावों से बचाया जाय, जो दिव्य संस्कार के विरोधी हैं। यदि अगत्या अशुचिभाव का समावेश हो जाय, तो तब तक के लिए दिव्यकर्मों का परित्याग कर दिया जाय, जब तक कि प्राकृतिक अशुचिभाव हट न जाय। साथ ही प्रज्ञापराध से यदि अशुचिभाव आजाय, तो उसे उपायान्तर से हटाया जाय। साथ ही स्वाभाविक शुचिभावप्रवर्तक सत्कर्मों का सतत अनुगमन किया जाय, एवं आगन्तुक-अशुचिभावप्रवर्तक असत्कर्मों से अपने आपको बचाया जाय। अवश्य ही कर्म-तन्त्र से सम्यन्ध रखने वाले ये उच्चावचभाव जटिलतम हैं। कौन कर्म कब-कैसे-कहाँ-क्या अतिशय उत्पन्न कर देता है?, इन अतीन्द्रियभावों के निर्णय के लिए शास्त्रप्रामाण्य ही हमारे लिए अनन्य आश्रयभूमि है।

बतलाया गया है कि, आध्यात्मिक संस्था से सम्बन्ध रखने वाला अशुचिभाव अव-एत-भाव-शरीर-द्रव्य, भेद से पाँच श्रेणियों में विभक्त है। संक्षेप से इनका भी स्वरूप जान लेना अनावश्यक न होगा। सर्वप्रथम स्थूलशरीरानुगत-अशुचिभावों की ओर ही दृष्टि डालिए।

पितुःप्रवर्ग्यभूत शुक्र, तथा मातुःप्रवर्ग्यभूत शोणित, दोनों के सम्बन्ध से भूतशरीर का निर्माण हुआ है। जिस शुक्राहुति से गर्भाधान होता है, वह शुक्र रस-असृक्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-इन ६ धातुओं का अन्तिम परिणाम है। भुक्त अन्न शरीर वैश्वानराग्नि में आदृत होता हुआ रस-मल के क्रमिक विराकलन से सात धातुओं में परिणत होता हुआ शरीरसंस्था का अधिष्ठाता बनता है। इसी आधार पर पाञ्च गनिक शरीर 'अन्नमयकोश' कहलाया है। आयुर्वेदज्ञ विद्वानोंने सप्तधातु-मूर्त्ति इस अन्नमयकोश की प्रतिष्ठा धातुत्रयी माना है। 'प्रत्यक्षमेवेति चार्वाकाः' पथ का अनुगामी वर्तमानयुग का वैज्ञानिक चिकित्सक समाज इस भारतीय त्रिधातुवाद को इस लिए अधैज्ञानिक कहने की धृष्टता कर रहा है कि, उसे अपनी स्थूल आँखों से इनका प्रत्यक्ष नहीं हो रहा।

एक अङ्गुष्ठ के करोड़वें भाग में अपना आकार प्रतिष्ठित रखने वाले सूक्ष्मतम कैंटाण भी जब 'माइक्रसकोप' यन्त्र से प्रत्यक्ष देख लिए जाते हैं, उस यन्त्र से भी जब धातुत्रयी अप्रत्यक्ष है, तो निश्चयेन वह केवल काल्पनिक वस्तु ही उदहरी है। इस प्रकार अपने वैज्ञानिक यन्त्रों से शरीर के परमाणु-परमाणु की खाक छान डालने वाले इन वैज्ञानिकों को जब आयुर्वेदसम्भता धातुत्रयी शरीर में उपलब्ध नहीं हुई, तो कैसे वैज्ञानिक जगत् इस भारतीय त्रिधातुवाद को प्रामाणिक मान सकता है। 'नश्चयेन जैसे पञ्चतत्त्ववाद इनका अधैज्ञानिक है, तबैव त्रिधातुवाद भी सर्वथा खगुप से ही समतुलित है। जबकि इनका मूल ही भ्रान्त है, तो भ्रान्तमूलाधार पर प्रतिष्ठित इनकी भ्रान्त-चिकित्सा-प्रणाली क्यों कर मान्य हो सकती है। ये हैं उन 'द्राक्षर' भावापन्न क्षणिक विज्ञानपाशी नव्य चिकित्सों (डॉक्टरों) के प्रत्यक्ष-स्थूल दृष्टिमूलक अतिमानात्मक तत्त्वविरुद्ध अनर्गल छद्मगार।

क्या सचमुच हमारा त्रिधातुवाद निरी कल्पना है?, निर्भ्रान्त वेदप्रामाण्य पर प्रतिष्ठित आधुनिक सम्मत त्रिधातुवाद क्या सचमुच में शून्य कल्पना है?, हाँ। किन्तु दृष्टि में?, उन वैज्ञानिकों की दृष्टि में, जिसकी दृष्टि भूतवाया से भ्रान्त बन चुकी है। साथ ही उन भारतीय वैज्ञानिकों की दृष्टि में भी, जिन्होंने उच्छिष्ट भोजन करने करते अपनी आत्मसंस्थ को अशुचि बना लिया है, साथ ही जिन्होंने 'विज्ञान' पथ \* को इसी उद्देश्य से अपने स्वार्थ का साधन बना रक्खा है। ना। किन्तु की

\* दुःख है कि, भारतवर्ष में ही वैधसमाज के एक मान्य व्यक्ति ने आयुर्वेदसिद्धान्त का मर्म न समझते हुए 'त्रिधातुवाद' के प्रति विपयमन किया है। आपके तत्त्वावधान में 'विज्ञान' नाम का एक पत्र भी निकलता है। आप 'हरिशारखानन्द' नाम से प्रसिद्ध हैं। सुना है-आयुर्वेदशास्त्र के महत्त्व को सुरक्षित रखने के लिए आपने 'त्रिधातुसंरक्षण' लिखने का भी अनुग्रह किया है। सचमुच आपके इस लोकोत्तर पावन ? कर्म से नास्त्य-दस अतिशयरूप से आर पर अनुग्रहवर्षण करेंगे ?।

दृष्टि में ? उन भारतीय ऋषियों की आर्पणदृष्टि में, जिनकी दृष्टि इन्द्रियातीत विषयों का प्रत्यक्षत्व साक्षात् कर लेती है। साथ ही उन भारतीय प्रमाणभक्तों की दृष्टि में भी, जिनकी आध्यात्मिकसंस्था अवशून्य अत्रादान से अद्यावधि शुचिभाव में परिणत हो रही है। ऐसे ही भारतीयों के सम्मुख तत्त्वात्मक, अतएव पञ्चतत्त्ववत् इन्द्रियातीत आयुर्वेदसम्मत त्रिधातुवाद का स्पष्टीकरण करते हुए निम्न लिखित वेदमन्त्र उपस्थित हो रहा है—

(१) “त्रिणो अश्विना दिव्यानि भेषजा, त्रिः पार्थिवानि त्रिरु दक्षमद्भ्यः ।

ओमानं शंयोर्ममकाय स्रुवे त्रिधातु शर्मन् बहत् शुभस्पती” ( ऋक्सं० १।३४ ६। ) ।

(२) “त्रिणो अश्विना यजता दिवे दिवे परि त्रिधातु पृथिवीमशायतम् ।

त्रिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेर वातः स्वसराणि गच्छतम् ॥ ( ऋक्सं० १।३४।७। )

भारतीय त्रिधातुवाद—

नासत्य, दक्ष-नामक साध्य दिव्यप्राणों के परीक्षक, अतएव नासत्य-दक्ष नाम से ही प्रसिद्ध सुप्रसिद्ध प्राणाचार्य भगवन्तां अश्विनोक्तुमारोंने ही “त्रिधातु” के आधार पर चिकित्साशास्त्र की प्रतिष्ठा की है। “त्रयो वा इमे त्रिवृजो लोकाः” के अनुसार ‘दिव्याग्नि’ से उपलब्धित द्युलोक, ‘पार्थिवानि’ से उपलब्धित पृथिवीलोक, एवं ‘अद्भ्यः’ से उपलब्धित अन्तरिक्षलोक, तीनों क्रमशः अनिल-अमल-सोमात्मक बनते हुए त्रिधातुयुक्त ओषधियों के प्रभव धन रहे हैं, यही मन्त्रतात्पर्य है। मन्त्रोपात्त ‘त्रिधातु’ का अर्थ करते हुए सर्वश्री सयण चार्य ने कहा है—“त्रिधातु-वातपित्तश्लेष्मधातुत्रयशामन-विषयम्” ।

द्युलोकाधिष्ठाता सूर्य, सर्वलोकाधिष्ठाता वायु, एवं अन्तरिक्षलोकाधिष्ठाता चन्द्रमा, ये तीनों तत्त्व ही प्राकृतिक पित्र-मर्यादाओं के स्वस्वरूपक माने गए हैं। यद्यपि-‘सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्’ इत्यादि धृति ने विस्मयचरणा में सूर्य ( अग्नि ), चन्द्रमा ( सोम ), इन दो तत्त्वों को ही प्रधानता दी है, साथ ही ‘अग्नीषोमात्मकं जगत्’ ( इ० जा० उपनिषद् ) रूप से उपनिषद् ने भी इसी प्रधानता का समर्थन किया है। तथापि श्रुत्यन्तर के अनुसार वायु को भी अवश्यमेव सृष्टिरचना में समाविष्ट मानना पड़ता है। ‘तस्मिन्नापो मातरिश्वा दधाति’ ( ईशोपनिषद् )—“वायुर्वै मातम् ! तत्सुव्रतम्” ( शत० ब्राह्मण )—“वायुर्हृदि सर्वं करोति, यदिदं किञ्च” ( ते० मा० २३।१ ) इत्यादि धृतियचन स्पष्ट ही वायु का भी सृष्टिनिर्माणरूप सिद्ध कर रहे हैं। वस्तुतया भी वायु का सहयोग आवश्यक रूप से अपेक्षित मानना पड़ता है।

‘उच्छिष्टाज्जिरे सर्वम्’ ( अथर्वसंहिता ) इत्यादि अपर्ये सिद्धान्त के अनुसार उच्छिष्ट नाशक प्रत्येक भाग से ही विश्व का निर्माण हुआ है। चन्द्रमा प्रसोदनरूप से स्वस्वरूप से वस्तुतः

हुआ है। प्राणात्मक चान्द्र सोमधातु ही 'श्लेष्मा' (कफ) कहलाया है, एवं प्राणात्मक वायु ही 'वात' नाम से व्यवहृत हुआ है। दोनों धातु प्राणात्मक हैं। अतएव यन्त्रसहस्रों की सहायता से भी आप भूतदृष्टि से इनका साक्षात्कार नहीं कर सकते। भिषग्वर भूत की चिकित्सा नहीं करता, अपितु भूत के आधार पर (स्थूल औषधियों को माध्यम बना कर) तद्वगत प्राणों से धातुप्राणों की चिकित्सा करता है। अतएव उसे शरीराचार्य्य न कह कर 'प्राणाचार्य्य' कहा जाता है। ये ही प्राणात्मक तीनों धातु स्थूलशरीर के प्रतिष्ठापक 'त्रिस्थाणु' हैं, साथ ही 'अयमेतत् त्रिदण्डवत्' न्याय से तीनों अन्योऽन्याभिस्तु हैं। धातुत्रयी की साम्यावस्था नैरोग्य है, विपमावस्था रोगोपक्रम है। वेदसिद्ध इस्ती त्रिधातुवाद का स्पष्टीकरण करते हुए आयुर्वेदज्ञों ने कहा है—

१—“अत्र जिज्ञास्यं—किं पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निः?, आहोस्वित् पित्तमेवाग्निरिति?। अत्रोच्यते—न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरुपलभ्यते। आग्नेयत्वात् पित्ते—दहनपचनादिषु अभिप्रवर्चमाने अग्निवदुपचारः कियते—अन्तराग्निरिति। क्षीणे हि अग्निगुणे तत् समानद्रव्योपयोगात्, अतिशुद्धे शीतक्रियोपयोगात्। आगमाद्य पश्यामः—‘न खलु पित्तव्यतिरेकादन्योऽग्निरिति’ (सु० सू० २१।)।

२—“विसर्गादानविक्षेपैः स्लोक—सूर्य्या—निला यथा। धारयन्ति जगद्, देहं कफ—पित्ता—निलास्तथा ॥ (सु० सू० २१।)।

३—“नर्त्ते देहः कफादस्ति न पित्तञ्च च मालतत्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतस्तु धार्यते ॥” (सु० शा० २।)।

४—“तत्र (शरीरे) वायोरात्मैवात्मा, पित्तमानेयं, श्लेष्मा सौम्यः” (सु० सू० ४३।)।

५—“भरीचिरुवाच—अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा—पक्तिमपक्त्तिं, दर्शनमदर्शनं, मात्रामात्रचमूष्मणः, प्रकृतिविकृतिवर्णं, शौर्य्यं, भयं, क्रोधं, हर्षं, मोहं, प्रमादं, इत्येवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति”।

६—“तच्छ्रुत्वा मारीचश्च काप्य उवाच—सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। तद्यथा दाढ्यं, शैथिल्यं, उपचयं, कस्यं, उत्साहं, आलस्यं, घृणता, क्लीबता, ज्ञानं, अज्ञानं, मोहं, एवमादीनि चापराणि द्वन्द्वानीति”।

७—“तच्छ्रुत्वा काप्यवचो भगवान् पुनर्वसुरात्रेय उवाच—सर्व एव भवन्तः सम्पन्नाः—अन्यत्रैकान्तिकवचनात्। सर्व एव खलु वात—पित्त—श्लेष्माणः प्रकृतिभूताः पुरुष-

मध्यापन्नेन्द्रियं बल-वर्ण-सुखोपपन्नमापुषा महतोपपादयन्ति । सम्यगेवाचरिता धर्मार्थकामा इव निःश्रेयसेन महतोपपादयन्ति-पुरुषमिह, चापुष्मिश्च लोके । विकृतास्त्वेन महता विपर्ययेणोपपादयन्ति, ऋतवस्त्रय इव विकृतिमापन्ना लोक-मशुभेनोपपातकाले, इति" (चरकसंहिता-सू० १२ अ० ११, १२, १३) ।

**धातुत्रयी के मम-विषमभाव—**

धातुत्रयी के साम्य-वैषम्य से क्या लाभ-हानि है ?, धातुत्रयी के प्रभव, प्रतिष्ठा, योगि, आशय कौन कौन हैं ?, किन ऋतुओं में किस धातु का उपचयापचय होता है ?, इत्यादि प्रश्न अप्रा-कृत हैं । जिज्ञासुओं की यह जिज्ञासाएँ 'वेदस्य सर्वविधानिधानत्त्वम्' नामक रघतन्त्र निबन्ध से गतार्थ हैं । प्रकृत में हमें इस सम्बन्ध में यही बतलाना है कि, स्थूलभूत प्रपञ्चों के आधारभूत धात-पित्त-श्लेष्मा-नामक तीन धातु प्राणवायु-प्राणग्नि-प्राणसोमरूप से शरीर के धारक बन रहे हैं । प्राणात्मकत्वेन तीनों ही धातु शक्तिरूप हैं, अतएव चर्मचक्षुओं से, किंवा रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द, इन पाँचों तन्मात्राओं से अतीत हैं । केवल चर्मचक्षुओं को ही प्रधानता देने वाले को तो भूतवायु की सत्ता भी स्वीकार नहीं करने चाहिए । जो चिकित्सक (डॉक्टर) चर्म-चक्षुर्मर्त्यादिप्रतिष्ठान्त होने से ही धातुत्रयी की सत्ता में सन्देह करते हैं, अवश्य वे भी शरीर में 'फोर्स' (ताकत, बल, शक्ति) नामक तत्त्व की सत्ता स्वीकार करते हैं । बाह्य कर्म ही प्राणसत्तात्मक इस आध्यान्तर बलसत्ता का अनुमापक है । क्या कोई वैज्ञानिक यन्त्रसहस्रों से भी इस सर्वसम्मत स्वसम्मत फोर्स का आँखों से प्रत्यक्ष कर सकता है ? उदर में पीड़ा है, देखिए अगुबीक्षण यन्त्र से, बतलाइए ! दर्द का रँग कैसा है ? उधर आत्मा, परमात्मा, प्राण, बुद्धि, अव्यक्त, आदि शतराः इन्द्रियातीत तत्त्वों की सत्ता स्वीकार करने वाले भारतीय के लिए तो कभी भी ये इन्द्रियातीत तत्त्व सन्दिहान नहीं हैं । क्या सुखविहर की शोभा इस में है कि, हम हरेँ को दस हाथ की बतलाने में भी लज्जा का अनुभव न करें ? अस्तु, 'न खलु परतन्त्राः प्रभुधिपाः' न्याय से आज वे भारतीय तत्त्ववाद का अवयव ही मनमाना उपहास कर सकते हैं । परन्तु अरश्य ही एक समय आवेगा, जब आर्षप्रजा उनसे अपने इस अपमान का उत्तर माँगेगी । एवं निश्चयेन उस समय उन्हें अपनी भ्रान्ति पर परचात्ताप प्रकट करना पड़ेगा, जिसके परिशेष के लिए भारतीयों ने पहिले से ही प्राय-श्चित्त की व्यवस्था कर रखी है ।

**पञ्चकोश परिचय—**

प्रासङ्गिक धातुचर्चा को समाप्त करते हुए स्थूलशरीरानुगत प्रक्रान्त अणुचिन्मात्र की ओर पुनः पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है । विषयोपक्रम का हुआ बतलाया गया है कि, पाञ्च-भौतिक स्थूलशरीर अन्नमयकोश है । इस अन्नमयकोश की प्रतिष्ठा प्राणमयकोश माना गया है । "रस, अम्ल, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र" इन सात धातुओं की समष्टि अन्न-मयकोश है, एवं प्राणात्मिका धातुत्रयी प्राणमयकोश है । दूसरे शब्दों में सप्तधातु शरीर के स्थूल-

धातु हैं, एवं त्रिधातु सूक्ष्मधातु हैं। इन सूक्ष्म धातुओं की (प्राणमयकोश की) प्रतिष्ठा मनोमय कोश है, जिसे अपनी परिभाषा में हम 'अन्तरात्मा' (कर्ममात्मा) कह सकते हैं। अथवा यों कह लीजिए कि, विज्ञानमयकोश अव्यक्त-यज्ञ-महद्गर्भित बनता हुआ वैश्वानर-तैजस-प्राणमूर्ति अन्तरात्मा का कारणशरीर है, विज्ञान-प्रज्ञानमनमनोमयकोशगर्भित प्राणमयकोश (धातुत्रयी) इसी अन्तरात्मा का सूक्ष्मशरीर है, एवं पार्थिवमर्त्याग्निचिंतितक्षुण्ण अन्नमयकोश (सप्तधातु) अन्तरात्मा का स्थूलशरीर है। इस प्रकार 'विज्ञान-मन-प्राण-अन्न' इन चार कोशों में अन्तरात्मा की शरीरत्रयी भुक्त है। सर्वाधार-निराकार-गगनाकार-सर्वान्तरतम आनन्दकोश निर्दिशेषलक्षण विशुद्ध आत्मा है। इस प्रकार पञ्चकोशदृष्टि से भी प्रतिज्ञात आत्मवियत्तों का समन्वय किया जा सकता है।

१	१-आनन्दमयकोशः "रसो वै सः" } विशुद्ध आत्मा	
	२-विज्ञानमयकोशः अव्यक्त-यज्ञ-महद्गर्भितः } अन्तरात्मनः कारणशरीरम्	
२	३-मनोमयकोशः विज्ञानप्रज्ञानवर्द्धितः } अन्तरात्मनः सूक्ष्मशरीरम्	अन्तरात्मा
	४-प्राणमयकोशः स्नाय्वप्राणव्यापवर्द्धितः }	
३	५-प्रज्ञमयकोशः पार्थिवभूतावर्द्धितः } अन्तरात्मनः स्थूलशरीरम् } शरीरात्मा	

चिकित्साशास्त्रत्रयी के तीन चिकित्सा प्रकार—

इतने कोशमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, आनन्दरमैकपन विशुद्ध आत्मा को छोड़ कर शेष चारों कोश परस्पर सम्बद्ध हैं। चारों कोशों में एक क्रम से समन्वित शरीरत्रयी का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक कारणशरीरावर्द्धित अन्तरात्मा शरीर में प्रविष्टि है, तभी तक सूक्ष्मशरीरलक्षण मनोमय, तथा प्राणमयकोश स्वरूप में प्रविष्टि है। एवं जब तक सूक्ष्म-शरीर प्रविष्टि है, तभी तक स्थूलशरीर की स्वरूपरसा है। ठीक इसी भाँति स्थूलशरीर का स्वरूप सूक्ष्मशरीर के स्वरूप का कारण है, एवं सूक्ष्मशरीरलक्षण मनोमय की शान्ति कारण-शरीरोपलक्षित अन्तरात्मशान्ति की मूल प्रतिष्ठा है। तीनों में परस्पर इतरात्यर्थ-व्यकारक सम्बन्ध है, यही इनका त्रिदृष्टलक्षण त्रिरूपगुण्य है। एकमात्र इसी व्यापार पर स्थूलशरीर को अपनी



चिकित्सा का प्रधान लक्ष्य बनाने वाले आयुर्वेदशास्त्र ने अन्तरात्मगत 'चेतना' को शरीर का धातु मान लिया है। चेतनायुक्त अन्नरसमय शरीर ही आयुर्वेद का 'चिकित्सापुरुष' है। निम्नलिखित वचन स्पष्ट ही यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, हमारा लक्ष्य यद्यपि स्थूलशरीर है, तथापि क्योंकि यह इतर दोनों शरीरों से अविनाभूत है। अब नयुक्त शरीर ही चिकित्स्य है। स्थूल शरीर कि चिकित्सा करते हुए प्रत्येक दशा में दोनों संस्थाओं की प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य बनाना अनिवार्य है—

१—“यतोऽभिहितं पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः ‘पुरुषः’ इति । स एव कर्मपुरुषः (कर्म-त्मा ) चिकित्साधिकृतः” ( शु० सा० १ ) ।

२—“पद्धातवः समुदिताः ‘पुरुष’ इति शब्दं लभन्ते । तद्यथा—पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमित्येत एव—पद्धातवः समुदिताः ‘पुरुष’ इति शब्दं लभन्ते” ( चरक० शा० ५१ ) ।

३—“सादयश्चेतनापष्टा घातवः पुरुषः स्मृता” ( चरक० शा० ११ ) ।

कारणशरीरोपलक्षित अव्यक्त-यज्ञ-महानमूर्ति अन्तरात्मा, सूक्ष्मशरीरोपलक्षित विज्ञान-प्रज्ञान-धातुत्रयीलक्षण अन्तरात्मा, इन दोनों को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाला, दोनों से नित्य युक्त स्थूलशरीर की चिकित्सा 'आयुर्वेदशास्त्र' करता है, यही पहिली 'कायचिकित्सा' है। याव-पित्त-श्लेष्मा नाम की धातुत्रयी ही इस चिकित्साकर्म की मूल प्रतिष्ठा है, जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

१—विकारो धातुर्वैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते ।

गुणसंज्ञकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥ ( चरक सू० ६१ ) ।

२—याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे घातवः समाः ।

सां चिकित्सा विकाराणां कर्म तद् भिषजां मतम् ॥ ( चरक सू० १६१ ) ।

सूक्ष्मशरीर दूसरी लक्ष्यभूमि है, इसे ही 'सत्त्व' भी कहा गया है। सत्त्व, रज, तम, नामक तीन धातु इस शरीर की मूलप्रतिष्ठा माने गए हैं। सत्त्वलक्षण सूक्ष्मशरीर को भगवान् व्यास ने सप्तदश-राशि से युक्त माना है। ५ ज्ञानेन्द्रियवर्ग, ५ कर्मेन्द्रियवर्ग, ५ प्राण, मन ( प्रज्ञान ), बुद्धि ( विज्ञान ), इन १७ कलाओं से युक्त प्राज्ञ-वैश्वानरगर्भित तैजस आत्मा ही 'सत्त्वात्मा' है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥

—महाभारत

इनके अतिरिक्त रूप-रसादि भूतशय (भूतमात्रा), पूर्वप्रज्ञा, काम, कर्म (सांस्कारिक कर्म), अन्तःकरण, अहङ्कार, आदि मध्यस्थ कलाएँ सत्त्व से भी युक्त हैं, एवं कारणशरीरलक्षण आत्मा से भी युक्त हैं। अतएव इनका देहलीदीपकन्याय से दोनों से सम्बन्ध मान लिया जाता है। प्रधानता सप्तदशराशि की ही है। सप्तदशराश्यात्मक सत्त्वात्मा की प्रतिष्ठा सत्त्व-रज-स्वमोलक्षण धातुत्रयी है। इस संस्था की स्वस्वरक्षा इस धातुत्रयी के साम्य पर ही अवलम्बित है। सत्त्वभाग रजोगुण, तथा तमोगुण से नित्य आक्रान्त है। सत्त्व ज्ञानप्रधान है, रज क्रियाप्रधान है, तम अर्थप्रधान हैं। वातादिवत् ये भी तीनों अन्योऽन्याधिनाभूत हैं। गुणात्मक इन तीनों धातुओं की स्वरूपरक्षा कामादि षड्दोषसमष्टि पर अवलम्बित है।

मत्त्वाधार पर प्रतिष्ठित रजोगुण से 'काम, क्रोध, लोभ,' ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं, जैसा कि - 'काम एषः क्रोध एषो रजोगुणसमुद्भवः' से प्रमाणित है। रजोगुण को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाले तमोगुण से 'मोह, मद, मात्सर्य' ये तीन उरधातु उत्पन्न होते हैं। रजोगुण से उत्पन्न काम, तमोगुण से उत्पन्न मोह, दोनों समानसत्ता हैं। इसी प्रकार रजोमूर्ति क्रोध, तथा तमोमूर्ति मद, दोनों समानबन्धु हैं। एवमेव रजोमूर्ति लोभ, तथा तमोमूर्ति मात्सर्य, दोनों समतुलित हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि, रजोगुण के अपत्यस्थानीय काम-क्रोध-लोभ ही तमोगुण के सहयोग से क्रमशः मोह-मद-मात्सर्य के पिता बनते हैं। सत्त्वगुण अविष्टान है, तमोगुण योनि है, रजोगुण रेतोधा है, काम क्रोध लोभ रेत हैं, मोह, मद, मात्सर्य सन्तति है। जिस प्रकार सप्त स्थूल धातुओं की प्रतिष्ठा वातादि धातुत्रयी है, एवमेव कामादि षड्रिपुवर्ग की प्रतिष्ठा सत्त्वादि धातुत्रयी है। साथ ही मत्त्वादि धातुत्रयी की प्रतिष्ठा षड्धातुवर्ग भी है। इस प्रकार परस्पर सहयोग सुरक्षित है। कामक्रोधादि की नित्य समता ही सत्त्वशरीर के पालन-पोषण-रक्षण-भावों की मूलप्रतिष्ठा है। कारणशरीरोपलक्षित अव्यक्त-यज्ञ-महन्मूर्ति अन्तरात्मा (आत्मा), एवं स्थूलशरीरोपलक्षित त्रिधातुगर्भित सप्तधातुमूर्ति शरीरात्मा (शरीर), इन दोनों को अपनी प्रतिष्ठा बनाने वाले, दोनों से नित्ययुक्त सूक्ष्मशरीर की चिकित्सा धर्मशास्त्र करता है, यही दूसरी 'सत्त्वचिकित्सा' है। षड्रिपुसाम्य ही इस चिकित्सा-कर्म की मूलप्रतिष्ठा है।

कारणशरीर तीसरी लक्ष्य भूमि है। इसे ही 'आत्मा' भी कहा गया है। 'विद्या, काम, कर्म' ये-तीन धातु इस की मूलप्रतिष्ठा मानें गए हैं। विद्याधातु अव्यक्त से, धर्मधातु यज्ञ से, तथा कामधातु महान् से समतुलित है। अव्यक्त-यज्ञ-महद्गर्भित, दैवानर-तैजसदुक्त, विद्याकाम-कर्ममय प्राज्ञ ही कारणशरीर है। यही तीसरा 'आत्मा' दण्ड है। मध्यस्थ कामधातु का साम्य ही इस संस्था की शान्ति का अन्यतम उपाय है। स्थूल-सूक्ष्म-सर्वाध्याओं को अपनी 'प्रतिष्ठा' बनाने वाले, दोनों से नित्य युक्त इस कारणशरीर की चिकित्सा दर्शनशास्त्र करता है, यही तीसरी 'आत्मचिकित्सा' है। कामसाम्य ही इस चिकित्सा की मूलप्रतिष्ठा है।

इस प्रकार शरीरत्रयभेद से चिकित्सापुरुष 'आत्मा-सत्त्व-शरीर' न्याय से तीन संस्थाओं में विभक्त हो रहा है। तीनों इतर दोनों से नित्ययुक्त हैं। अतएव आयुर्वेद, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, तीनों चिकित्साशास्त्रों को स्व स्व चिकित्साधर्म में प्रधान लक्ष्यभूत शरीर, सत्त्व, आत्मा-के साथ साथ इतर दोनों का भी ध्यान रखना पड़ता है। यही कारण है कि, स्थूलशरीर-चिकित्सक आयुर्वेदशास्त्र में परम्परया रागादि आत्मदोषों को ही रोगप्रवृत्ति का मूल कारण माना है। इसी आधार पर रागादि आत्मदोष कायदोष मान लिए गए हैं। इस प्रकार अन्तिम भूमिका पर पहुँच कर तीनों शास्त्रों का लक्ष्य एक हो जाता है। उदाहरण के लिए आयुशास्त्र के 11 नमन लिखित वचन ही पर्याप्त होंगे—

१-रागादिरोगान् सततानुपत्तान्शेषकायप्रसृतान्शेषान् ।

आत्मक्यमोहरतिदान् जघान्-योऽपूर्ववैद्याय नमोऽस्तु तस्मै ॥

२-आयुः कामयमानेन धर्मार्थसुखपाधनम् ।

आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

३-एतत् सोम्य ! विज्ञानं यज्ज्ञात्वा मुक्तसंशयाः ।

मुनयः प्रशमं जग्मुर्वीर्यमोहरजः-स्पृहाः ॥ ( चरकमहिता ) ।

आयुर्वेद-धर्म-दर्शन, तीनों शास्त्रों की अभिन्नता—

स्थूलशरीरचिकित्सक आयुर्वेदशास्त्र में स्थान स्थान में उपदिष्ट धर्मदेश, तथा चरकादि में उपरिणीत कांथापुण्याध्यादि यह प्रमाणित कर रहे हैं कि, आयुर्वेद धर्मानुगता सूक्ष्मशरीर-संस्था को, तथा दर्शानुगता कारणशरीरसंस्था को भी लक्ष्य बना रहा है। एवमेव सूक्ष्मशरीर-चिकित्सक धर्मशास्त्र एक ओर यदि मानस शुद्धिस्कारों का विधान करता है, तो दूसरी ओर इसे शरीरमंस्कार पर भी लक्ष्य रखना पड़ता है। देश-काल-पात्र-द्रव्य-का विचार कर शरीरदशा को लक्ष्य में रखते हुए ही प्रायश्चित्तादि चिकित्सा विहित हैं। साथ ही निवृत्ति-कर्मद्वारा इसे कारणशरीर के उपकार का भी पूर्ण ध्यान रहता है। एवमेव कारणशरीरचिकित्सक दर्शनशास्त्र जहाँ बुद्धियोगचिकित्सा को प्रधान स्थान देता है, वहाँ उसे शरीरयात्रानुबन्धी लौकिक कर्मों का, तथा सूक्ष्मशरीरकारक वैदिक कर्मों का भी समर्पण करना पड़ता है। वात यथार्थ है। जिन की कारण-मूत्रमं संस्थाएँ निर्दुष्ट हैं, वे ही प्रज्ञापराध से बचते हुए दृढतमिलाशी बनते हुए शरीर को स्वस्थ रख सकते हैं। जिनका मन पवित्र है, वे ही शरीर को सुदृढ़ रख सकते हैं। एवं जिन का शरीर स्वस्थ है, उन्हीं की दोनों संस्थाएँ सुरक्षित रह सकती हैं। आत्मावयवपट्ट मन के पलायन हो जाने से शरीराकृति विकृत हो जाती है, मन को स्वस्थता

में शरीराकृति प्रसादगुण से युक्त रहती है। एवमेव शरीराघात मानससंस्था को क्लान्त कर देता है। स्वस्थ शरीर मनःशान्ति का कारण बनता है। इस प्रकार यद्यपि आत्मा-शब्द-शरीर, तीनों का परस्पर उपकारकार्य-उपकारकसम्बन्ध है, तथापि इस सम्बन्ध में-यह स्मरण रखना चाहिए कि, तीनों में पूर्वपूर्व संस्थाओं का विशेष महत्त्व है। स्थूलशरीर गौण है, सूक्ष्मशरीर प्रधान है, कारणशरीर सर्वप्रधान है। जो कर्म-द्रव्य-भोग्यादि स्थूलशरीर के उपकारक, किन्तु सत्त्व, आत्मा के अपकारक हैं, वे त्याज्य हैं। जो भोग्यादि सूक्ष्मशरीर के उपकारक, किन्तु आत्मा के अपकारक हैं, वे त्याज्य हैं। इस दृष्टि से आत्मचेत्र ही प्रधान लक्ष्य बन रहा है। भारतीय शास्त्र इसी लक्ष्य को प्रधान बना कर प्रवृत्त हुए हैं।

- १-अव्यक्त-यज्ञ-गर्भितः-प्राज्ञप्रधानः कर्मात्मा-आत्मा (कारणशरीरम्)।  
 २-महद्-विज्ञान-प्रज्ञान गर्भितः-तैजसप्रधानः कर्मात्मा-सत्त्वम् (सूक्ष्मशरीरम्)।  
 ३-त्रिधातु-सप्तधातुगर्भितः-वैश्वानरप्रधानः कर्मात्मा-शरीरम् (स्थूलशरीरम्)।

(१) १ विद्या

(१) २-कामः

(१) ३-कर्म

-आत्मा-दर्शनशास्त्रलक्ष्यः

(२) १-सत्त्वम्

(२) २-रजः

(२) ३-तमः

-सत्त्वम्-धर्मशास्त्रलक्ष्यम्

“आत्मा-सत्त्वं-शरीरञ्च-त्रयमेतत्  
त्रिदण्डवत्”

(३) १-घातः

(३) २-पित्तम्

(३) ३-श्लेष्मा

-शरीरम्-आयुर्वेदशास्त्रलक्ष्यम्

६-इन सब विषयों का विशद वैज्ञानिक विवेचन गीताविज्ञानभाष्यभूमिका अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड 'ग' विभाग के-“कर्मवृत्त का वर्गीकरण” नामक प्रकरण में देखा जाय।

## स्थूलशरीर के अशुचिभाव—

स्थूलशरीर से सम्बन्ध रखने वाले अशुचिभाव की मीमांसा के उपक्रम में शरीरत्रयी का दिग्दर्शन कराना पड़ा। अब तन्मसम्बन्धी (स्थूलशरीरसम्बन्धी) अशुचिभाव की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। जड़चेतनात्मक यन्त्रावत् पदार्थों में एक स्वाभाविक विसर्जन-प्रक्रिया होती रहती है। यही विसर्जित एक प्रकार से आदान की अधिष्ठात्री बनती हुई तत्तद्वस्तुस्वरूपरक्षा का कारण बनती है। विसर्जन ही वर्तमान भाषा में 'विसर्ग' कहलाया है। तत्त्वदृष्ट्या यही 'गति' है। विसर्जन, विसर्ग, गति, तीनों अंशः समानार्थक हैं। एवमेव सन्धान, आधान, आगति, तीनों अंशतः समानार्थक हैं। जिसे हम आदान कहते हैं, वह भी वस्तुतः क्रियारूप गतिभाव ही है। अतएव गतिपरिचायक विसर्गशब्द की सीमा में ही आगतिपरिचायक आदानशब्द प्रविष्ट है। इन उभय द्वन्द्वों को इसी दृष्टि से हम 'विसर्ग' कह सकते हैं, एवं ऐसे उभयधर्मावच्छिन्न इस विनर्ग को 'कर्म' कहा जा सकता है, जैसाकि—'विसर्गः कर्मसंज्ञितः' (गीता) इत्यादि से प्रमाणित है।

जिस प्राकृतिक विश्व के गर्भ में विकारसमष्टिलक्षण जड़चेतन पदार्थ प्रतिष्ठित हैं, वह विश्व भी विसर्गात्मक है, एवं तद्वर्गभीभूत पदार्थ भी विसर्गात्मक हैं। विसर्गात्मक (कर्मात्मक) पदार्थों का प्रकृतिभूत विश्व गुणत्रय से आक्रान्त रहता हुआ गुण-दोष दोनों विभूतियों से आक्रान्त है। गुण-विभूति सत्त्वप्रधाना है, यही वैद्योमम्पन है, आत्मबन्धनविमोक्त ही इसका मुख्यधर्म है। दोषविभूति तमःप्रधाना है, यही आसुरीसम्पन्न है, आत्मबन्धनप्रवृत्ति ही इसका मुख्य धर्म है। मध्यस्थ रजोगुण क्रियाप्रधान बनता हुआ ज्ञानप्रधान निष्क्रिय सत्त्वगुण, तथा अर्थप्रधान निष्क्रिय तमोगुण, दोनों का समन्वय कराता हुआ विश्वप्रभव बन रहा है। रज के अनुग्रह से ही दोनों विभूतियों का एकत्र समन्वय होता है, एवं यही समन्वय वस्तुस्वरूपोत्पत्ति का प्रधान हेतु है। इसी से यह भी सिद्ध हो जाता है कि, प्राकृतिक विश्व, एवं विश्वगर्भ में व्यष्टिरूप से प्रतिष्ठित पदार्थ, दोनों कर्मप्रधान बनते हुए गुण-दोष विभूतियों से नित्य आक्रान्त हैं। दूसरे शब्दों में ब्रह्म से आरम्भ कर स्तम्भपर्यन्त सर्वत्र त्रिगुणभाव का साम्राज्य है। जैसाकि निम्नलिखित पद्यन से प्रमाणित है—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।

सत्त्वं-प्रकृतिर्जैर्मुक्तं यदेभिः स्यान् विभिर्गुणैः ॥ (गीता ० १५:२०) ।

यद्यपि कर्मप्रधान विश्वप्रपञ्च में सत्त्वानुगता गुणविभूति, तमोऽनुगता दोषविभूति, दोनों ही हैं। फलतः विसर्जन लक्षण विसर्गधर्म के सम्बन्ध से प्रत्येक पदार्थ से गुण दोष, दोनों ही विभूतियों का विसर्जन प्रकृतिमिद्ध है। तथापि तमोगुणप्रधान भौतिक विश्व में सत्त्वगुण-पेक्षया तमोगुणानुगत दोषविभूतियों के विसर्जन का ही प्राधान्य स्वीकार करना पड़ता है। यही

कारण है कि, गुणविभूति के आधार के लिए संप्रह के लिए जहाँ प्रवृत्त प्रयास अपेक्षित है, वहाँ दोषविभूति स्वभावतः वस्तुगत गुणों को आवृत्त करती रहती है। प्रतिदिन मकान को झाड़ना-बुहारना पड़ता है। क्योंकि दोषसंसर्ग स्वाभाविक है। प्राकृतिक विस्फोट दोषाक्रमण पहिला, तथा मुख्य आक्रमण है, एवं स्वगत विस्फोट दोषाक्रमण दूसरा गौण आक्रमण है।

### द्रव्यदोष, एवं शरीरदोषमीमांसा—

उपयोग में आने वाले पात्र-द्रव्यादि को ही लीजिए। धातुपात्र स्वगत दोषरूप किट ( मैल ) से भी युक्त होते रहते हैं, एवं प्राकृतिक दोष भी इन्हें अशुचिभाव से युक्त करते रहते हैं। लौहादि कितने एक धातु तो ऐसे हैं, जिन्हें दोष से पृथक् किया ही नहीं जा सकता। ये सदा अशुचिभाषापन्न रहते हैं। अतएव दैवीसम्पदनुगत द्विजाति वर्ग के लिए ऐसे पात्र-द्रव्यादि, सर्वथा अव्यवहार्य माने गए हैं। इसी प्रकार द्रव्यों में लशुन-गृञ्जनादि, चलों में नीलवस्त्रादि, आदि अव्यवहार्य हैं। जिन पात्र-द्रव्य-वस्त्र-आदि परिग्रहों के दोष हटाए जा सकते हैं, वे ही व्यवहार्य हैं। दोषतारुतम्य से इन परिग्रहों का विशेषधन विभक्त है। प्राकृतिक, तथा स्वात्मगत दोषों से युक्त द्रव्यादि परिग्रहों को उपयोग में लेने से तद्गत दोष का शरीराग्नि पर प्रभाव होता है, शरीर-दोषावह बन जाता है, गुणाधान अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए आवश्यक है कि, शरीर-वित्त्यधातुओं को दोषसंसर्ग से बचाने के लिए व्यवहार्य द्रव्य-पात्रादि की शास्त्रोक्त शुद्धि कर के ही इन्हें उपयोग में लाया जाय। यही पहिली द्रव्यशुद्धि, किया द्रव्यशुद्धिसंस्कार है।

धातुत्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित सप्तधातुमूर्त्ति स्थूलशरीर भी उक्त विस्फोटन धर्म से निरय आक्रान्त है। स्थूलशरीर मलों का कोश ( खजाना ) है। वे मल अन्तर्याम, बहिर्व्याम सम्बन्ध से दो भागों में विभक्त माने गए हैं। मल-मूत्र-कफ-लाला-स्वेद-आदि शरीरमल जब तक शरीर पथमान आत्माग्नि की सीमा में अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहने हैं, तब तक ये आत्मा के प्रज्ञोदन बनते हुए आत्मस्वरूपरक्षा के कारण बने रहने हैं। आत्मगत शुचिभाव इन्हें शुचिभाव में परिणत रखता है। इन आभ्यन्तर मलों का उच्छेद ही आत्मोच्छेद का कारण है। ये ही मल-मूत्रादि शरीरमल जब आत्माग्निभुक्ति से बहिर्भूत होकर प्रवर्ग्य सम्बन्ध में परिणत हो जाते हैं, तो आत्मसीमा से विनिर्गत ये मल शुचिभाव से त्यक्त बन कर अशुचिभाव में परिणत हो जाते हैं। अन्तर्याम-सम्बन्धेन मलमाण्ड में प्रतिष्ठित जो मल आत्मप्रतिष्ठा का कारण बना रहता है, वही बहिर्व्यामभाष में आकर आत्मक्लान्ति का कारण बन जाता है। आत्मा ( वैश्वानराग्नि ) शीघ्र से शीघ्र इसे शरीर से पृथक् कर डालना चाहता है। यही अवस्था मूत्र-कफ-किट ( गोड़ )-लाला-स्वेद-आदि इतर मलों की हो जाती है। इन प्रवर्ग्यभूत मलों के विशेषधन से ही शरीरशुद्धि होती है। अशुचिभाषापन्न मलमूत्रादि त्याग में हस्तादि के स्पर्शमत्र से अशुचिभाव का संक्रमण हो जाता है। अतएव धर्मशास्त्र ने बड़े

धाटोप के साथ इन शुद्धियों का विधान किया है। यदि इन शरीरमलों को शीघ्र नहीं हटा दिया जाता, तो शरीर प्राणाग्नि निर्वल बन जाता है। फलतः शरीर प्राणाग्नि (वैश्वानराग्नि) की स्वस्थता के लिए द्रव्यशुद्धिबन् शास्त्रोक्त शरीरशुद्धि भी आवश्यक रूप से अपेक्षित है। यही दूसरा शरीरशुद्धि-संस्कार है। हम जानते हैं—शरीर में हृद्दियों का समावेश है। परन्तु ये कभी अशुचिभावप्रवात्तिका नहीं बनती। शरीराग्नि के उत्क्रान्त होते ही वे ही हृद्दियाँ आत्मविभूति से वञ्चित होते ही अशुचि-भाव में परिणत हो जाती हैं। इनका स्पर्श प्रत्येक दशा में दोषावह है। यही अवस्था केश-लोम-मलादि के सम्बन्ध में पटित है। उस प्रकार शरीरमल बहिर्प्यास-भाव में परिणत होते हुए अवश्य-मेव अशुचिभाव के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। इनका शोधन सतत अपेक्षित है। द्रव्यशुद्धिसंस्कार, तथा शरीरशुद्धिसंस्कार, दोनों का शरीर से सम्बन्ध है। शरीरगत प्राणाग्नि की रक्षा के लिए शरीरशुद्धि (शरीर-भूतों की शुद्धि) अपेक्षित है, एवं शरीरगत भूताग्निरक्षा के लिए द्रव्यशुद्धि (उपद्रोह में आने वाले शय्या-आसन पात्र-द्रव्य-आदि की शुद्धि) अपेक्षित है। इस प्रकार इन दोनों शुद्धियों का त्रिधातुगर्भित-प्राज्ञ तेजसयुक्त-वाञ्छनीय शूलशरीरावच्छिन्न वैश्वानरात्मसंहक भूतत्मा की शुद्धि से ही सम्बन्ध है। यही-मूजशुद्धि है। इसी आधार पर—‘आचारः परमो धर्मः’—‘शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्’ इत्यादि सूक्तियों प्रतिष्ठित हैं। वाञ्छनीय शरीर द्रव्यदोष का पात्र है; वैश्वानरात्मा शरीरदोष का पात्र है, यही निष्कर्ष है। द्रव्यदोष से शरीरसंस्था रोगाक्रान्त-हो जाती है। क्योंकि भौतिक शरीर प्रत्यक्ष दृष्ट है। अतएव द्रव्यदोष से उत्पन्न रोगादि भी प्रत्यक्ष में अनुभूत हैं। प्राणमूर्ति वैश्वानरात्मा शरीरदोष से निर्वल हो जाता है। क्योंकि यह वैश्वानराग्नि प्राणात्मक है, अतएव इस का दोष सर्वसाधारण के लिए अप्रत्यक्ष है। उद्धृत ५ अशुचिभावों में से केवल शरीर दोष ही प्रत्यक्ष का विषय बनता है, शेष चारों अप्रत्यक्ष, किन्तु उत्तरोत्तर महाभयावह माने गए हैं।

### भावदोषमीमांसा एवं चतुर्विध योग—

तीनरा क्रमप्राप्त ‘भावदोष’ है। इसे ही ‘चारित्र्यदोष’ भी कहा जा सकता है। इस का प्रधानतः वैश्वानर-प्राज्ञगर्भित तेजस आत्मा से युक्त प्रज्ञानात्मा (मन) से सम्बन्ध है। शरीराशुचि से कालान्तर में प्रज्ञानमन मलिन वासनार्थों से युक्त हो जाता है। जिस प्रकार मलिन दर्पण-वेष्टन से वेष्टित स्वच्छ भी दीपशीला से मलिन हो रहिमयों निकलती हैं, एवमेव-मलिन वासनापटल से वेष्टित स्वस्वरूप से स्वच्छ भी प्रज्ञानज्ञानधारा मलिन हो जाती है। इस मलिन वासना से मानस भाव अविशयरूप से दृष्ट हो जाते हैं। अधर्म में धर्मबुद्धि, पाप में पुण्यबुद्धि, असत् में सद्भावना, सत् में असद्भावना, धर्म में अधर्मभावना, इत्यादि प्रवृत्तिविरुद्ध भावनाएँ ही इस भावदोष का मुख्य फल हैं। प्रज्ञापराध से अज्ञान-पान-

शिक्षा-सङ्ग आदि में विपर्यय करने से ही भावदोष उत्पन्न होता है। प्रधानतः अन्नदोष, शिक्षादोष, ये दोष ही प्रधान हैं। हीनयोग, अतियोग, मिथ्यायोग, अयोग, ये चारों पतन के कारण हैं, एवं समस्त्वयोग विकास का कारण है। उदाहरण के लिए अन्न को ही लिजिए। अपेक्षित हित-मित भोजन से भी स्वल्पमात्रा में भोजन किया, यही हीनयोग है। अपेक्षाकृत अधिक भोजन कर लिया, यही अतियोग है। मित भोजन तो किया, परन्तु हित भोजन-न किया, यही मिथ्यायोग है। एवं कल्पित आधुनिक उरवामों के कुचक्र में पड़कर कुछ न खाया, यही अयोग है। हित-मित-नियत मात्रासुक्त भोजन करना समस्त्वयोग है। यही भावशुद्धि की, मूलप्रतिष्ठा है, शेष चारों भाव-अशुचि के प्रवर्त्तक हैं। इसी-प्रकार विपरीत शिक्षा, दोषियों का सङ्ग ईश्वरोपासनाविरक्ति, नास्तिकता, शास्त्रनिन्दा, अधर्मपथानुगमन, आदि अन्यान्य कारण भी भावदोष के उपोद्बलक बनते हैं। इस-दोष से मनस्थिता-गुण का उच्छेद हो जाता है। राग-द्वेष-मोह-मद-मात्सर्य-क्रोध-लोभादि सत्त्वधातु विकृत हो जाते हैं। धर्मभावना का आत्यन्तिक-रूप से उच्छेद हो जाता है। अभिनिवेश (दुराग्रह-दूषधर्मी) उदित हो जाता है। दुर्तर्क पुष्पित पल्लवित हो जाता है। अतएव इस भावदोष को महर्षियों ने पाँचों में प्रथम दोष माना है। इतर दोषों का मार्जन जहाँ सरलता से सम्भव है, वहाँ भावदोष दुःसाध्य माना गया है। “आप सचकुल ठीक कहते हैं, परन्तु हम नहीं मानते” यही इस भावदोष का भीषण परिणाम है, जो कि पक्षमान शिक्षाक्षेत्र की मूलप्रतिष्ठा बनता दृष्टा स्वधर्मपथ का अन्यतम शत्रु बन रहा है- ‘न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचिचमाराधयेत्’। जिस प्रकार पीलिया-रोगाक्रान्त के लिए मात्रा जगन पीत है, एवमेव भावदुष्ट की दृष्टि में सर्वत्र दोष का ही साक्षात्प है। गुणसाधाय है-केवल दोष पक्ष में। अभ्युदयप्रवर्त्तक यथायन् शास्त्रीय कर्म इस भावदुष्ट की दृष्टि में प्रत्ययायजनक हैं, एवं प्रत्ययायप्रवर्त्तक अशास्त्रीय कर्म अभ्युदय के जनक हैं। अतन् में तद्भावना, तत् में अतद्भावना को समाविष्ट करने वाले इसी भावदोष के अनुग्रह से आज भारतीय आर्षधर्म अपने ही शिथिल सु ? पुत्रों के अनुग्रह से संकट में पड़ रहा है।

### एनोदोषमीमांसा—

चौथा प्रथमप्राप्त ‘एनो’ दोष है। इसका प्रधानतः वैधानर-नैजस गभित प्राश्रयान्ना (कर्मस्मा) से सम्बन्ध है। कर्मस्मा का प्राश्रभाग स्नेहगुणप्रधान है। इसी स्नेहगुण के पारण स्पर्श द्वारा स्पर्श-क्रिय जाने वाले पदार्थ में प्रतिष्ठित अशुचि भाव का शरीर-सम्बन्धेन प्राप्त में सम्बन्ध हो जाता है। न केवल स्पर्श से ही, अपितु सहभागण, सहगमन, समानशय्यामनानुगमन, आदि इतर व्यापार भी इस एनोदोष के प्रवर्त्तक बन जाते हैं। प्राश्रपराय ही इस का भी प्रवर्त्तक बनता है। जो मनुष्य (अन्त्यज, अन्त्यवसायो, दग्यु, स्नेह्य),



जो पशु ( श्वान-गर्दभ-माज्जार आदि ), जो पक्षी ( काकादि ), जो द्रव्य ( भूमिष्ठ मल-मूत्र-नख-केश-अस्थि-चर्मादि ) दिति-पृथिवी से सम्बद्ध आसुर तमोमय आत्मज्योति के अवरोधक अत्रिप्राण से सदा युक्त हैं, उनके स्पर्श से, एवं जो मनुष्य ( आचारविहीन मनुष्य ), जो पशु-पक्षी-द्रव्यादि प्राकृतिक समयविशेषाक्रमण से मलिन है, उनके स्पर्श से एनोदोष का संक्रमण होता है । इस दोष से आत्मा प्रत्यवाय का अनुगामी बनता हुआ स्व विकास से आवृत हो जाता है । अतएव एनस्वी को 'पापी' कहा जाता है । प्रायश्चित्त ही इस की निवृत्ति का मुख्य उपाय है ।

'एनस्' शब्द का निर्वचन करते हुए 'अ-हन्-अस्' इस विभागत्रयी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है । 'नामैकदेशो नामग्रहणम्' न्याय के अनुसार 'इनः' शब्दाभिप्राय से प्रयुक्त 'इन्' से इनः का ग्रहण अभीष्ट है । स्वामी हों 'इनः' है । त्रैलोक्य का अधिपति सूर्य्य इसी अभिप्राय से 'इनः' नाम से व्यवहृत हुआ है । 'अ' कार का अर्थ 'अभाव' ( 'नहीं' ) है । 'अस्' का अर्थ भाव है । जिस कर्म से सौरतत्त्वांशभूत आत्मा अपने प्रभव स्वामी ( सूर्य्य ) की सम्पत्ति से वञ्चित हो जाता है, सौरसम्पत्ति-अवरोधक वही कर्मविरोध 'एनस्' कहलाया है । वह कर्म, जो आत्मविकास को इनः सम्पत्ति से वञ्चित कर दे, वही 'एनम्' कर्म है । उदाहरण के लिए \* रजःस्वला त्वा को लीजिए । ऋतुमती स्त्री के रज में अशुचिभावप्रवर्त्तक घामच्छद सूर्य्यविरोधी अत्रिप्राण का पूर्ण विश्वास रहता है । अतएव ऋतुमती स्त्री 'आत्रेयी' कहलाई है, जैसाकि 'आशीचनिमित्तपरिच्छेद' में विस्तार से बतलाया जाने वाला है । इस आत्रेयी स्त्री के स्पर्श से आत्मज्योति अभिभूत हो जाती है । साथ ही भूतानुगता अशुद्धि का भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता । यही दोष 'एनोदोष' है, तदयुक्त द्विजाति ही 'एनस्वी' कहलाया है ।

### स्पृश्यास्पृश्यविवेकमीमांसा—

यही अवस्था अस्पृश्य-शुद्धादि की है । दितिगत तमोमय सूर्य्यविरोधी आसुरप्राण इन के पीछे में जन्मना अन्तर्यामि-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित है । अतएव इन के स्पर्श से भी 'देवममीकरण' द्वारा द्विजाति एनस्वी धन जाते हैं । समीकरण प्राणों का स्वाभाविक धर्म है । अतिशयरूप से तप्त पानी में शीत पानी के समावेश से तप्त पानी अनुप्लवशीन बन जाता है । शीत का शीत्य धर्म उच्छिन्न हो जाता है, तप्त का तप्त धर्म उच्छिन्न हो जाता है । दोनों स्वधर्म से न्यून

\* कारुण्यी में जो अशुचिभाव है, वही रजःस्वला स्त्री में प्रतिष्ठित है । अतएव ऋतुमती माताएं-अपने बच्चों को स्पर्श-दोष से बचाने के लिए कहा करती हैं कि- 'देख ! मुझे न छूना मुझे बागला छूना है' ( 'कागलो भीट गयो छ, मन मन्न भीट जे'-प्रान्त-यमुक्ति ) ।

होते हुए अपना अपना प्रातिस्विक तप्त-शीत धर्म खो बैठते हैं। ठीक यही अवस्था यहाँ समझिए। द्विजाति के वीर्य में जन्मना क्रमशः अग्नि-इन्द्र-विश्वेदेव-प्राणों का अन्तर्व्यामि सम्बन्ध से प्रवेश है। तीनों आग्नेय तप्त प्राण हैं। अष्टसूर्य शूद्र में-आशुद्रवलक्षण तमोमय पारुण-आसुरप्राण अन्तर्व्यामि सम्बन्ध से जन्मतः प्रविष्ट है, जिसे बाह्य-शरीरशुद्धिमात्र से कर्ममपि नहीं हटाया जा सकता। यह शूद्रप्राण शीतप्राण है, आप्यप्राण है। यदि दोनों का स्पर्श हो जाना है, तो समीकरणप्रिय उभयप्राण एक दूसरे में आत्मसमर्पण करते हुए अपना अपना स्वरूप खो बैठते हैं। द्विजाति का द्विजातित्व उच्छिन्न हो जाता है, शूद्र का शूद्रत्व उच्छिन्न हो जाता है। साथ ही आगन्तुक परधर्मज्ञान-अतएव भयावह शूद्रधर्म का द्विजाति के साथ अन्तर्व्यामि सम्बन्ध न होकर बहिर्व्यामि सम्बन्ध हो जाता है। फलतः ऐसा सम्बन्ध एक ओर द्विजाति को जहाँ द्विजाति-कर्म से वञ्चित कर देता है, वहाँ इसे शूद्रकर्म के योग्य भी नहीं होने देता। दोनों ओर से पतन हो जाता है। एवमेव आगन्तुक द्विजातिधर्म का शूद्र के साथ अन्तर्व्यामि सम्बन्ध न होकर बहिर्व्यामि सम्बन्ध होता है। परिणामतः ऐसा सम्बन्ध एक ओर शूद्र को जहाँ शूद्रकर्म से वञ्चित कर देता है, वहाँ इसे द्विजातिकर्म के योग्य नहीं होने देता। यही वर्णसाङ्कर्य व्यक्तिपतन का कारण बनता हुआ अन्ततो गत्वा वर्णसङ्करसृष्टि का उपोद्बलक बन जाता है, जिसका हमारे राष्ट्र-हितैषी बीजवपन करते हुए ही राष्ट्र स्वातन्त्र्यरक्षा की विफल कामना कर रहे हैं। इसी समीकरण-भय से प्राण पाने के लिए कितने एक (ग्रहयागादि) विशेष यज्ञकर्मों में तो शूद्र के साथ सम्भाषण भी निषिद्ध माना गया है। मानवधर्मशास्त्र पर धूलिप्रक्षेप करने वाले उन अभिनिविष्टों का सन्तोष निम्न लिखित श्रुतिवचन से भी हो सकेगा, अथवा नहीं? यह सदिग्ध है। क्यों?, का समाधान किया जा चुका है—

“तत्र सर्व-इयामिप्रपद्येत। ब्राह्मणो वैव, राजन्यो वा वैश्यो वा। ते हि यज्ञियाः। स वै न सर्वेणैव संवदेत्। देवान्वा एव उपावर्षते, यो दीक्षते। न देवतानामेको भवति। न वै देवाः सर्वेणैव संवदन्ते। ब्राह्मणेन वैव, राजन्येन वा, वैश्येन वा। ते हि यज्ञियाः। तस्माद्यद्येनं शूद्रेण संवादो विन्देत्, एतेषामेवैकं ब्रूयात्-इममिति विचक्ष्व, इममिति विचक्ष्व इति। एष उ तत्र दीक्षितस्योपचारः” (शत० ३।१।२।३, १०)।

स्मरण रखिए, जिस शूद्र के साथ श्रुति ने आपण का भी निषेध किया है, वह अष्टसूर्य अवर्ण शूद्र नहीं है। अपितु पार्थिव पूजाप्राण से अनगृहीत, अतएव अंशतः दिव्यभाव से युक्त, अतएव व्यवहार्य सच्चूद्र ही यहाँ अभिप्रेत है। कारण ऐसा मानने का यही है कि, श्रुति ने द्विजातिवर्ग (ब्रा० क्ष० वै०) के सम्बन्ध को उद्धृत करते हुए शूद्र का उल्लेख किया है। गोपनापितादि सच्चूद्र ही द्विजाति के लिए व्यवहार्य हैं। लौकिक-गार्हस्थ्य कर्मों में इनका महण दोषावह नहीं है।

परन्तु ग्रहयागापरपर्याधिक सोमभाग में दीक्षित यजमान के लिए यह स्पृश्य-व्यवहार्य सच्छूद्र भी न केवल अस्पृश्य ही बन जाता, अपितु इसके साथ यज्ञकर्त्ता भाषण भी नहीं कर सकता। यदि सामग्री-सम्भार आदि के सम्बन्ध में इससे बात करने का प्रसङ्ग आजाय, तो श्रुति आदेश देती है कि, यजमान स्वयं इससे भाषण न करे। अपितु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों में से किसी एक के द्वारा अपना सन्देश इसे कहला दे। कारण, दीक्षित यजमान आज साक्षात् रूप से दिव्यप्राणरूप में परिणत हो रहा है। तब तो प्राकृतिक देवचर्या का केवल द्विजाति के साथ ही सम्बन्ध है। अतः विरोध दिव्य फल्गु में व्यवहार्य-स्पृश्य शूद्र भी एकान्ततः अव्यवहार्य है। इसी दिव्यप्राणविज्ञानस्वभाव को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है—

“वह दीक्षित यजमान सब से व्यवहार न करे। अपितु जहाँ तक बन सके, वहाँ तक तो ब्राह्मण से ही व्यवहार रखे ( ब्राह्मणेन वै ), अधिक से अधिक क्षत्रिय, अथवा वैश्य से व्यवहार रखे। क्योंकि ये ही तीनों वर्ण यज्ञिय हैं। वह यजमान सब से सम्भाषण न करे। वह देवमण्डली की ओर आता है, जो यज्ञकर्म में दीक्षित होता है। दीक्षित यजमान स्वयं देवताओं का एक अङ्ग बन जाता है। प्राकृतिक प्राणदेवताओं का सबके साथ ( चारों वर्णों के साथ ) सम्बन्ध नहीं है। अपितु ( मा० त्रि० ज० छन्दों के द्वारा ) ब्रा० क्ष० वै० वर्णों के साथ ही इनका सम्बन्ध है। क्योंकि ( जन्मतः ) ये ही तीनों वर्ण यज्ञिय हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि दीक्षित यजमान के साथ व्यवहार्य सच्छूद्र से बात चीत करने का कोई प्रयत्न उपस्थित हो जाय, तो उसे चाहिए कि, वह स्वयं शूद्र से बात न कर ब्रा० क्ष० वै० इन तीनों में से किसी एक को मध्यस्थ बना कर इनके द्वारा ही—‘उसे यह कह दीजिए, यह समझा दीजिए’ अपना यह सन्देश पहुँचावे। यही दीक्षित यजमान की दीवारवा की चिकित्सा है”।

शरीरविशोधक १—द्रव्यशुद्धिसंस्कार, वैश्वानरात्मविशोधक २—शरीरशुद्धिसंस्कार, प्रज्ञान-गर्भित नैजमात्मविशोधक ३—भावशुद्धिसंस्कार, एवं प्राज्ञात्मात्मविशोधक-४—एनःशुद्धिसंस्कार, इन चार धर्मशुद्धिसंस्कारों का प्रकृत में कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रकृत आशीच प्रकरण का सम्बन्ध है एकमात्र महानात्मविशोधक ५ अवशुद्धिसंस्कार से। यद्यपि अशुचित्वेन इन पाँचों को ही ‘आशीच’ कहा जा सकता है। तथापि पाँचों के पार्यवस्य के लिए पाँच पृथक् पृथक् शब्द नियत हैं। योगिकार्थ-मर्यादा से जहाँ पाँचों अपवित्रताएँ ‘आशीच’ नाम से व्यवहृत की जा सकती हैं, वहाँ रुद्धिमर्यादा से पाँचों के लिए क्रमसः आशीच, पाप, अभिनिवेश, अपवित्रता, अशुद्धि, ये शब्द नियत हैं। एवं पाँचों शुचिभावों के लिए क्रमसः शौच, पुण्य-धर्म पवित्रता, शुद्धि, ये शब्द नियत हैं। इन पाँचों का सिंहावलोकनश्रयानेन तालिका द्वारा लक्ष्य में स्थापित करते हुए ही पाँचों अपशुद्धिसंस्कार की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षण किया जाता है।

संख्यानम्	आशीचपात्राणि	जातयः	अशुचिभावाः	शुचिभावाः	संस्काराः
१	पितृप्राणमूर्चेरव्यक्त्यङ्गमितस्य महानात्मनो—मलं—	अयम्	आशीचम्	शीचम्	अथशुद्धिसंस्कारः (५)
२	सौम्यप्राणमूर्चे वैधानरतैजसगर्भितस्य प्राज्ञात्मनो—मलं—	एतः	पापम्	पुण्यम्	एतःशुद्धिसंस्कारः (४)
३	प्रज्ञानावच्छिन्नस्य वैधानरप्राज्ञगर्भितस्य तैजसात्मनो—मलं—	भावः	अभिनिवेशः	धर्मः	भावशुद्धिसंस्कारः (३)
४	प्राणावच्छिन्नस्य तैजसप्राज्ञगर्भितस्य वैधानरात्मनो—मलं—	मलम्	अपाविन्यम्	पाविन्यम्	शरीरशुद्धिसंस्कारः (२)
५	धातुत्रयावच्छिन्नस्य वैधानरगर्भितस्य शरीरस्य—मलं—	मालिन्यम्	अशुद्धिः	शुद्धिः	द्रव्यशुद्धिसंस्कारः (१)

१	(१) —अपदोपेण—महदात्मनः—अभ्युदयनिमित्तस्यावरोधः—ततश्चात्मा—आसीच्चभावापन्नः । (२) —अपशुद्धिसंस्कारेण—महदात्मनः—प्रत्ययार्थनिमित्तनिवृत्तिः—ततश्चात्मा शीघ्रभावापन्नः ।
२	(१) —एनोदोपेण—प्राज्ञात्मनः—प्रत्ययामूलकशुभसंस्कारप्रवृत्तिः—ततश्चात्मा पापभावापन्नः । (२) —एनःशुद्धिसंस्कारेण—अभ्युदयमूलकशुभसंस्कारप्रवृत्तिः—ततश्चात्मा पुण्यभावापन्नः ।
३	(१) —भावदोपेण—तैजसात्मनः—अभ्युदयनिमित्तविधातः—ततश्चात्माभिनिवेशभावापन्नः । (२) —भावशुद्धिसंस्कारेण—तैजसात्मनः—प्रत्ययार्थनिमित्तविधातः—ततश्चात्मा धर्मभावापन्नः ।
४	(१) —मलदोपेण—वैश्वानरात्मनः—विकासावरोधः—क्लान्तिश्च—ततश्चात्मा मलीमसः । (२) —शरीरशुद्धिसंस्कारेण—वैश्वानरात्मनः—विकासः—स्थिरता च—ततश्चात्मा निर्मलः ।
५	(१) —मालिन्यदोपेण—शरीरस्य—धातुनैपत्यं, रोगप्रवृत्तिश्च—ततश्चात्मा क्लिप्तः । (२) —द्रव्यशुद्धिसंस्कारेण—शरीरस्य—धातुसाम्यं—नैरोग्यश्च—ततश्चात्मा प्रसन्नः ।

ये शुद्धि-संस्कार अपेक्षित इति किं माने गए हैं कि, बिना इन शुद्धिसंस्कारों के न तो अन्तरात्मा में अतिशयाधानलक्षण गुणाधान ही सम्भव है, एवं न पूर्णताप्रवर्त्तक हीनाङ्गपूरक संस्कार ही सम्भव है। एकमात्र इसी आधार पर वैज्ञानिकोंने इस संस्कारप्रक्रिया को दोषमार्जन, अतिशयाधान, हीनाङ्गपूर्ति, भेद से तीन भागों विभक्त किया है। जिस प्रकार तैलयुक्त मलीमस वस्त्र पर रङ्ग-रञ्जनलक्षण अतिशयाधानसंस्कार, एवं आभाप्रवर्त्तक 'करप' रूप हीनाङ्गपूर्तिसंस्कार तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि वस्त्रगत तैलादि किट् दोषों को वस्त्र से पृथक् नहीं कर दिया जाता। एवमेव यक्षादि द्रव्यसंस्काराधान-योग्यता-सम्पत्ति के लिए प्रथम उक्त पाँच धर्मशुद्धिसंस्कार अपेक्षित हैं। इन शुद्धिसंस्कारों से जब अन्तरात्मस्थ निर्मल-निर्दुष्ट-गुणाधानयोग्यता बन जाती है, तो अनन्तर यत्न-तपो-दानलक्षण विद्यामनुचित शास्त्रीय कर्म से उत्पन्न अतिशय अन्तर्यामि-सम्यग्ध से आत्म-

क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो सकता है। यही गुणाधान, किंवा अतिशयाधान है। इससे आत्मा प्रसादगुण से युक्त हो जाता है। यही गुणाधानसंस्कार 'श्रौतसंस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। तीसरा हीनाङ्गपूर्वक संस्कार 'स्वस्त्ययनसंस्कार' नाम से प्रसिद्ध है। दोषोत्पादक परिग्रह का निरोध करता हुआ जो संस्कार आत्मा में प्रतिष्ठित दिव्यातिशय को सदा सुरक्षित बनाता हुआ उसे पूर्ण बनाए रखता है, आत्मा को यावज्जीवन स्वस्ति पूर्वक गमन कराता है, वही स्वस्त्ययनसंस्कार है, जिसका गीताभाष्यान्तर्गत 'हमारे स्वस्त्ययन कर्म' नामक प्रकरण में विस्तार से निरूपण हुआ है। इन त्रिविध संस्कारों में से दोषमार्जनसंस्कार २१ भागों में विभक्त हैं। गर्भाधानादि १६ स्मार्तसंस्कार (शास्त्रसंस्कार), अघ-शुद्धयादि ५ धर्मशुद्धिसंस्कार, सम्भूय २१ संस्कार हो जाते हैं, जिनमें से प्रकृत में ५ संस्कारों का का दिग्दर्शन कराया गया है। अतिशयाधायक श्रौतसंस्कार भी २१ हैं। स्वस्त्ययन संस्कार असंख्य हैं। इन सब संस्कारों में से प्रकृत में पञ्चधर्मशुद्धिसंस्कारान्तर्गत अघशुद्धिसंस्कार ही प्रकृतप्रकरणार्थ है।

### अघाशौचस्वरूपमीमांसा—

बनलाया गया है कि, 'अघशुद्धिसंस्कार का प्रधानतः पितृप्राणमूर्ति महानात्मा से सम्बन्ध है। सर्वप्रथम हमें 'अघ' नाम के तत्त्वार्थ की ही मीमांसा अपेक्षित है। विद्यासापेक्ष शास्त्र-विहित यज्ञ-तप-दान-कर्मत्रयी से, एवं इन्द्र-आपूर्य-वृत्त-जज्ञण सन्कर्मत्रयी से फलात्मक एक दिव्य अतिशय उत्पन्न होता है। इस अतिशय का अन्तरात्मगत महानात्मा के साथ अन्तर्मन्याम सम्बन्ध हो जाता है। इस दिव्य अतिशय (धर्मसंस्कार) को आत्मा के साथ न मिलाने देने वाला अनेक्यजज्ञण जो एक प्रतिबन्धक धर्म है, अन्तराय है, यही 'अघ' नाम से प्रसिद्ध है। पुण्यकर्म अभ्युदय के जनक (शुभसंस्कारों के जनक) बनने हुए 'अःश्रेयस्' नाम से प्रसिद्ध हैं। अनुकूल निमित्तों के समन्वय से इन कर्मों की प्रवृत्ति प्रक्रान्त रहती है, एवं प्रतिकूल निमित्तों की उपस्थिति से इनकी प्रवृत्ति अवरुद्ध हो जाती है। वायुनिमित्त के सहयोग से सूर्यप्रकाश व्याप्त हो जाता है, मेघनिमित्त के सहयोग से प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है। कारण के रहने पर भी प्रतिबन्धक के समावेश से कार्य का अवरुद्ध हो जाना ही अघ की महती कृपा है। 'नामिकदेशे नामप्रवृत्तम्' व्यास से 'अ' कार अभ्युदय का सूचक है, 'य' कार हिंसा भाव का द्योतक है। 'अकार'—अभ्युदयसंस्काराभिभवपूर्वक—अभ्युदयजनककर्मनिमित्त—हन्ति' ही अघ शब्द का निर्वचनार्थ है।

जनन-मरणादि तत्त्वद्विरोध स्थितियों में स्वतः उत्पन्न अभ्युदयनिमित्तप्रतिबन्धक यही अशुचि-भाव 'अघ' कहलाया है। सौम्यमूर्ति महान् में प्रतिदिन वारुणमन्त्र से 'अघ' का उद्गम-होता रहता है। इन दैनिक अरतिवृत्ति के लिए ही 'अघमर्पणसूक्त' विहित है। द्रव्य, दारो-भाव, एन, इन चार अशुचिभावों का प्रतापराध से सम्बन्ध है। साथ ही इन से केवल व्यतिवृत्त

का ही सम्बन्ध है। कारण स्पष्ट है। शरीर, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ, चारों से सम्बद्ध द्रव्य-शरीर-भाय-एतः-ये चारों वैयक्तिक हैं। शरीरादि चारों प्रत्येक के पृथक् पृथक् हैं। अतः इन अशुचिभावों का भोक्ता केवल व्यक्ति ही बनता है। परन्तु अघात्मक अशुचिभाव ऐसा नहीं है। न तो हमारे प्रज्ञापराध से ही इस का कोई सम्बन्ध है, एवं न केवल व्यक्ति से ही इसका सम्बन्ध है। जननादि निमित्तों से यह स्वतः प्रादुर्भूत होता है। एवं महानात्मानुगति के कारण इस का पुत्र-पौत्रादि सपिण्डों से सम्बन्ध रहता है। कर्मात्मलक्षण अन्तरात्मा के मूढ-भाग से सम्बद्ध अघ वास्तव में सांक्रामिक उपद्रवादि रोगों भी भाँति तद्दशधरों में भी व्याप्त हो जाता है। महानात्मा ही अघ-दोष का प्रधान आयतन है। पितृप्राणमय महानात्मा में प्रतिष्ठित सहोत्प्लवण पितृपिण्डों का पुत्र-पौत्र-भ्राता-पिता-स्त्री-सगोत्रबन्धुबान्धव-सख के साथ उसी सुपरिचित श्रद्धासूत्र के द्वारा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, जैसा कि-‘प्रजातन्तुवितानविज्ञानोपनिषत्’ में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इसी अविच्छिन्न सूत्र के सम्बन्ध से यदि किसी एक व्यक्ति के महानात्मा में अघदोष का उदय हो जाता है, तो उसके पुत्र पौत्रादि सख के महानात्मा में (पितृपिण्ड की समानता से, सापिण्ड्य सम्बन्ध से) अघ का संक्रमण हो जाता है। अघात्मक मूल के सम्बन्ध से उस समान-कुल में उत्पन्न होने वाले सख व्यक्तियों की सशरीरा आत्मसंस्था ‘अशुचि’ भावापन्न हो जाती है। यही सांक्रामिक ‘अघ’ पदार्थ धर्मशास्त्र में भिन्न भिन्न स्थलों में—आशौच, आशौच, सूतक, अघ, इत्यादि नामों से व्यवहृत हुआ है। ‘अशुचेर्मांस, कर्म वा’ निवर्चन से ही अघपदार्थ आशौच कहलाया है। जनन सम्बन्धानुगत आशौच ही ‘सूतक’ कहलाया है। इस का क्योंकि उत्तरोत्तर पुत्रवर्ग में संक्रमण होता है, अतएव भी इसे ‘अघ’ कहना अन्वर्थ बनता है।

पिरहदान, उदकदान, चेदस्वाध्याय, आदि दैव कर्मों का विरोधी, नियतकाल में क्षौरस्नानादि से निवृत्त होने वाला महानात्मागत दोष ही ‘आशौच’ है। एक महानात्मा से सम्बद्ध यह आशौच उसके सख समसम्बन्धियों में तत्काल संक्रान्त हो जाता है। एवं नियतकालान्तर यह अशुचिभाव स्वतः हट जाता है। वैसे आशौच कितने काल में हटता है? इन सब प्रश्नों की व्यवस्था धर्मशास्त्र से गतार्थ है। आशौच नामक अघ दोष के सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण कर लेना चाहिए कि, जो संसर्गी चतुर्थाश्रम में दीक्षित है, जिनकी आध्यात्मिकसंस्था राग-द्वेषादि से वियुक्त है, जिन्होंने पूर्वोक्त विशुद्ध आत्मा के साथ मेख प्राप्त कर द्वैत का उच्छेद कर डाला है, ऐसे योगी कुटुम्बियों में कदापि आशौच का संक्रमण नहीं होता। जिस प्रकार अन्य सांसारिक मूल उनके विशुद्ध आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकते, तथैव यह अघ भी उनमें संक्रान्त होता हुआ भी उनपर अपना कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। उनका प्रवृद्ध ज्ञानाग्नि आगत अघ को तत्काल मरममात् कर देता है। परन्तु जो गृहमेधी है, सांसारिक-लौकिक कर्मों में जिनका आत्मा आसक्त है, वे अवश्य ही अघसंक्रमण से अशुचिभाव को प्राप्त होते रहते हैं।

जनन-मरणादि निमित्तों से महानात्मा में प्रतिष्ठित यह अघ रूप दोषाय कालभेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। जीवित दशा में यदि कोई सपिण्डबन्धु ( वंशज ) पौरतम क्रूर कर्म कर बैठता है, तो उसका महानात्मा भी अघदोष से युक्त हो जाता है। श्रद्धासूत्र के द्वारा तद्वंशजों पर भी अघश्य ही इसका प्रभाव पड़ता है। वंश कलङ्कित हो जाता है, अतएव ऐसा क्रूरकर्मा 'कुलकलङ्की' 'कुलशत्रु' कहलाया है। यह पक्षिला निम्नश्रेणी का अतिशय है। इसमें महानात्मा का सम्पर्क आंशिक रहता है, प्रज्ञासम्पर्क विशेष रहता है। अतः एनोदोषवत् इत्यंभूत अघदोष का प्रधान लक्ष्य यही व्यक्ति रहता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति ( ब्राह्मण ) मद्यपान करता है। यदि कुटुम्बी इससे सम्पर्क रखते हैं, तो अघश्यमेव वे भी संसर्गदोष के पात्र बन जाते हैं। अतएव मद्यपी के सहवास-परित्याग का विधान हुआ है। क्योंकि इस अघ में प्रज्ञा का ही प्राधान्य है, अतः पियडवत् इसका नियमत, संक्रमण न होकर संसर्गमात्र से सम्बन्ध रहता है।

किसी व्यक्ति के मर जाने पर उसका चन्द्रलोकगांभी महानात्मा अघदोष से युक्त हो जाता है। इस अशुचि का प्रभाव महानात्मा के प्राधान्य से नियमतः इसके कुटुम्बियों पर होता है। नियतावधि के समाप्त हो जाने पर यह स्वतः निवृत्त हो जाता है।

मृत पुरुष का वहन करने वाले इतर व्यक्तियों के साथ ही दोष का सम्पर्क होता है। यही 'और्ध्वदैहिक कर्मनिमित्तक अघ' कहलाया है। इसके निवृत्त होने की भिन्न भिन्न मर्यादा है। उदाहरणार्थ शय्यवहन करने वाले को एक दिन का आशीच होता है। काष्ठ-उपलादि प्रक्षेप करने वाले निकट जातिबन्धुओं को तीन दिन का आशीच रहता है। केवल शय्यात्रा में सहयोग देने वाले सद्यःस्नान-देवदर्शन से शुद्ध हो आते हैं। हाँ, यदि इनके घर में उसी दिन कोई माङ्गलिक विवाहादि कार्य हैं, तो उम दिन स्थस्थयनरक्षादृष्टि से इनके लिए गृहप्रवेश निषिद्ध है। इन तीनों में मुख्य अघ मध्यस्थ अघ ही माना जायगा। वस्तुतस्तु सपिण्डों में संक्रमण करने वाला यह मध्यस्थ अघ ही वस्तुगत्या अघ है। एवं इसीके लिए 'अघ' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

जन्म-मृत्यु, ये दो इस अघप्रवृत्ति के प्रधान कारण माने गए हैं। अतएव आशीच-जननाशीच, मरणाशीच, भेद से विभक्त हो जाता है। जन्माशीच अभिषव-सम्बन्ध से-'सूतकाशीच' ( सूतक ) कहलाया है, एवं मरणाशीच शवसम्बन्ध से 'शावाशीच' कहलाया है। सूतकाशीच सम्बन्ध से ही प्रमथस्थान 'सूतिकागृह' कहलाया है। इन दो प्रधान आशीचों के अतिरिक्त उत्तरक्रियाशीच, दोषाशीच, ये दो अपाशीच और हैं। सम्भूय आशीच के ४ विवर्त्त हो जाते हैं। दोषाशीच मर्यादा गौण है, उत्तरक्रियाशीच गौण है, जनन-मरणनिमित्तक सूतक-शावाशीच प्रधान हैं।

(१)-उत्पन्न होने वाले अपत्य के उत्पन्न हो जाने पर तन्मातापिता आदि सम्बन्धियों में जो नियतकाल पर्यन्त अशुद्धि उत्पन्न हो जाती है, यही जनननिमित्तक प्रथम सूतकाशीच है। (२)-मरणात्पन्न



व्यक्ति के मर जाने पर तन्मातापिता आदि सम्बन्धियों में नियतकालात्मिका सम्पन्न अशुचि मरण-निमित्तक द्वितीय शायशौच है । (३)-मृत व्यक्ति के शवशरीर के बहून दाहादि उत्तरकर्मों से उत्पन्न अशुचि तृतीय 'उत्तरक्रियाशौच' है । (४)-एवं मद्यपानादि कर कर्म करने वाले वंशज के महयोग से उत्पन्न अशुचि चतुर्थ दोषाशौच है ।

- १—जनने मातृपितृसम्बन्धियोंऽशुचिः—तज्जन्माशौचम् }—प्रधाने  
 २—मरणे मातृपितृसम्बन्धियोंऽशुचिः—तन्मरणाशौचम् }  
 ३—मृतस्य दहनबहनादिसम्बन्धेनाशुचिः—तदुत्तरक्रियाशौचम् }—माध्यम्

४—जीवितस्य क्रूरकर्मणः संसर्गेणाशुचिः—तदोपाशौचम् }—सर्वथा गौणम्

आशौचत्रयी-मीमांसा—

अभिप्राय भेद से शाय-आशौच (अघाशौच) के तीन अंश-विभाग हो जाते हैं । ये तीनों आशौच क्रमशः स्पर्शाशौच, कर्माशौच, भङ्गलाशौच, इन नामों से प्रसिद्ध हैं । जिस आशौच में अन्य के वर्णों का निषेध है, वही स्पर्शाशौच है । जिस में स्पर्श का तो निषेध नहीं, किन्तु वैदिक यज्ञादि कर्म निषिद्ध हैं, वह कर्माशौच है । जिस में स्पर्श, तथा यज्ञादि कर्मों का तो निषेध नहीं है, अपितु विवाह, यज्ञोपवीत, कन्यादान, तीर्थयात्रा, आदि माह्नतिक कर्म निषिद्ध हैं, वही भङ्गलाशौच है । प्रश्न स्वाभाविक है कि, इन तीन आशौचविशेषों की उत्पत्ति (भौतिक रहस्य) क्या ? ।

बहिःशरीर, अन्तःशरीर, सत्त्व, ये तीन स्थान इस अघाशौच की प्रतिष्ठा बनते हैं । ये ही तीन अघाशौच के पृथक् पृथक् तीन अभिप्राय हैं । पिता की मृत्यु से पुत्र इस अघाशौच से युक्त हो जाता है । प्रथमस्थान बहिःशरीर बनता है । मृतात्माधिष्ठित बहिःशरीर (स्थूलशरीर) में प्रतिष्ठित बहिः आशौच शरीराशौच कहलाया है, इसी को अघाशौच कहा गया है । ब्राह्मणपुत्र में यह शरीराशौच १० दिन पर्यन्त व्याप्त रहता है । १० दिन पर्यन्त यह अन्त्यजवन्त अस्पृश्य है । इस काल के मध्य में यदि इस के शरीर का अन्य शरीर से सम्बन्ध हो जायगा, तो स्पर्शद्वारा अन्य शरीर भी अन्त्यज स्पर्शवन् अशुचिभाव से युक्त हो जायगा । शरीराशौच के नियत काल में निवृत्त हो जाने पर भी इसके प्राणालम्ब अन्तःशरीर में अथर्व आशौच शुद्ध समय पर्यन्त ओर प्रतिष्ठित रहता है । अंतकर्म-समाप्तिपर्यन्त इस की प्राणसंस्था अशुचिभाव में परिणत रहती

है। क्योंकि इस आशौच का प्राणसंस्था-से सम्बन्ध है, चर्मशरीरपर इस का कोई प्रभाव नहीं रह जाता। अतएव यह स्पृश्य-वन जाता है। परन्तु स्वाध्याय, दान, प्रतिग्रहग्रहण, इतर देवकर्म, प्रेतपिण्डक्रिया को छोड़कर शेष पिण्डपितृयज्ञादि पितृकर्म, इस आशौचकाल में निषिद्ध हैं। क्योंकि इन वैदिक कर्मों का प्राणसंस्था से सम्बन्ध है, एवं इस समय कर्माधारभूत प्राण अशुचि-भावापन्न है। इस कर्माशौचकाल में यदि यह वैदिक कर्मों का अनुगमन करेगा, तो इनसे (अध-प्रतिबन्धक के कारण) आत्मा में किसी प्रकार का अतिराधाधान न होगा।

प्रेतकर्मसंगोप्यनन्तर इसकी प्राणसंस्था भी अधर्षोप से विमुक्त हो जाती है। फलतः अनन्तर स्पर्शवत् इसे वैदिक कर्मों का भी अधिकार मिल जाता है। परन्तु अभी इसके सत्त्वाधिष्ठान में अर्धाशौच का अनुशय विद्यमान है। और तब तक यह विद्यमान रहता है, जब तक कि इसके प्रेत-पिता का प्रेतमहानात्मा अपनी अमाङ्गलिक अश्रुमुखावस्था को छोड़कर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त नहीं हो जाता। जब तक महानात्मा (प्रेतात्मा) चन्द्रलोक में नहीं पहुँच जाता, तब तक पार्थिवाकर्षण-जनित दुःख से यह क्लान्त रहता है, यही इसकी अश्रुमुखावस्था है, अमङ्गलावस्था है। एक सम्यक्सर इसे वहाँ पहुँचने में लगता है। मन्वत्सरान्तमें यह चन्द्रलोकस्थ स्व पितरों से सापिण्ड्यभाव प्राप्त करता हुआ नान्दीमुख बन कर मङ्गलावस्था में परिणत होता है। अतएव मृतक के एक वर्षपर्यन्त गृहस्थ के लिए विवादादि माङ्गलिक कार्य निषिद्ध हैं। यही तीसरा साम्बत्सरिक मङ्गलाशौच है।

यह तो हुई स्मरणशौच की भीमांसा। अब संक्षेप से जन्माशौच की भी भीमांसा कर लीजिए। जिस स्त्री के स्मर्त्तन होनी है, उसे, उसकी सपत्नी को, तथा पति को नियतकालपर्यन्त स्पर्शाशौच, कर्माशौच, दोनों का अनुगामी बनना पड़ता है। इतर सपिण्ड्यबन्धुओं के साथ केवल कर्माशौच का ही सम्बन्ध होता है। यदि कोई तटस्थ व्यक्ति-स्पर्शाशौच युक्त स्त्री-पुरुष का स्पर्श कर लेता है, तो उसे स्पर्शाशौच होता है, कर्माशौच नहीं। सद्यः स्नानसे यह कर्म में अधिकृत मान लिया जाता है। इस प्रकार जन्मसम्बन्ध में केवल स्पर्श, कर्म, ये दो आशौच ही होते हैं। तीसरे मङ्गलाशौच का जन्माशौच में अभाव है।

जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया गया है, पिता की मृत्यु पर पुत्र में स्पर्श, कर्म, मङ्गल, तीनों आशौचों का सम्बन्ध होता है। इतर सपिण्ड्यों के साथ केवल स्पर्शाशौच, कर्माशौच, इन दो आशौचों का ही सम्बन्ध होता है। जो इस पुत्र से संसर्ग करता है, उसे केवल स्पर्शाशौच ही होता है। शययहन-वहनादि उत्तरक्रिया में योग देने वालों को स्पर्शाशौच के साथ साथ कर्माशौच का भी अनुगामी बनना पड़ता है।

**स्पर्शास्पर्शभीमांसा—**

क्रमप्राप्त स्पर्शास्पर्श-व्यवस्था का भी विचार कर लीजिए। यह स्मरण-रचना चाहिए कि स्पर्श-कर्म-मङ्गल, तीनों आशौचों का काल उत्तरोत्तर वसीयान् है। मङ्गलकर्मप्रतिषेध-लक्षण माङ्गलिक आशौच पूरे १ वर्ष पर्यन्त रहता है। वैदिककर्मप्रतिषेधलक्षण कर्माशौच, तथा शरीरस्पर्शप्रतिषेधलक्षण स्पर्शाशौच, इन दोनों में प्रथम बहुकालानुगत है, द्वितीय अल्पकालानुगत है। किसी विशेष परिस्थिति उत्पन्न न होने की दशा में (सामान्य दशा में) जितने समय पर्यन्त

कर्मांशौच वतलाया गया है, उसके प्रथम तृतीयांश में स्पर्शांशौच माना जायगा । उदाहरण के लिए—यदि कर्मांशौच १ मास का है, तो स्पर्शांशौच कर्मांशौचात्मक मास के प्रथम तृतीयांश पर्यन्त (आरम्भ के १० दिन पर्यन्त) माना जायगा । यदि कर्मांशौच १० दिन का है, तो स्पर्शांशौच ३ दिन का माना जायगा । यदि कर्मांशौच ३ दिन का है, तो स्पर्शांशौच १ दिन का माना जायगा । यदि कर्मांशौच ३ दिन से भी कम का है, तो स्पर्शांशौच स्नान से पहिले पहिले माना जायगा ।

१—माङ्गलिकांशौचकालः—वर्षात्मकः	}—पुत्रे
२—कर्मांशौचकालः—मासात्मकः	
३—स्पर्शांशौचकालः—दशाहात्मकः	

अन्यत्र सपिण्डादिषु माङ्गलिकांशौचाभावः । तारतम्येन च निम्ना व्यवस्था—

१	१—मासात्मकः—कर्मांशौचकालः १०—दशाहात्मकः—स्पर्शांशौचकालः
२	१०—दशाहात्मकः—कर्मांशौचकालः ३—त्र्यहात्मकः—स्पर्शांशौचकालः
३	३—त्र्यहात्मकः—कर्मांशौचकालः १—त्र्यहात्मकः—स्पर्शांशौचकालः
४	*-त्र्यहोभिः पूर्वं—कर्मांशौचकालो यदि, *-तदा स्नानात् प्राक् स्पर्शांशौचकालः

जिस प्रकार कर्माशीच क प्रथम तृतीयांश स्पर्शाशीच के लिए नियत है, एवमेव स्पर्शाशीच का प्रथम तृतीयांश अस्थिसञ्चय-काल माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चारों का पूर्ण स्पर्शाशीच-काल क्रमशः '१०-१२-१५-३०' दिनों का माना गया है। इनका प्रथम तृतीयांश क्रमशः चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, दशम-अर्ध, पड़ता है। एवं पूर्ण-स्पर्शाशीचपक्ष में ये ही दिन क्रमशः चारों वर्णों के अस्थिसञ्चय-काल हैं। यदि स्पर्शाशीच तीन दिन का है, तो उस दशा में चारों वर्णों के अस्थिसञ्चय के लिए द्वितीय दिन गृहीत मान लिया गया है। यही मरणाशीचसम्बन्धिनी स्पर्शास्पर्शव्यवस्था का दिग्दर्शन है।

जनननिमित्तक सूतकाराशीचसम्बन्धी स्पर्शास्पर्श के सम्बन्ध में भी विशेषता ज्ञातव्य है। पुत्र, अथवा तो कन्या, दोनों की उत्पत्ति से प्रसवकर्त्री सूतिका के साथ दशरात्रिपर्यन्त अस्पृश्य-च्यलक्षण शरीराशीच (स्पर्शाशीच) का सम्बन्ध है। पिता स्नानमात्र से स्पर्शाशीच से विमुक्त है। माता पिता से अतिरिक्त सपिण्डों के साथ अपत्योत्पत्ति से स्पर्शाशीच का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि प्रति (सूतिकापति) सूतिका का स्पर्श कर लेता है, तो तद्गत अस्पृश्यता-प्रयोजक अथ का स्पर्श द्वारा इस में भी संक्रमण हो जाता है। एवं उस दशा में इसे भी १० रात्रिपर्यन्त अस्पृश्य रहना पड़ता है। यदि सपिण्डों में से कोई सूतिका का स्पर्श कर लेते हैं, तो स्नानमात्र से इन का स्पर्शजनित अशुचिभाव निवृत्त हो जाता है।

### कर्तव्याकर्तव्यमीमांसा—

मरणाशीच, तथा जन्माशीच में कौन कौन कर्म ब्राह्म, तथा कौन कौन त्याग्य हैं?, इस प्रश्न की मीमांसा भ प्रसङ्गिक है। शास्त्ररहस्यवेत्ता विद्वानों का इस सम्बन्ध में आदेश है कि, उभयविध आशीच काल में भूतपक्ष, मनुष्यपक्ष, पितृपक्ष, देवपक्ष, ब्रह्मपक्ष, ये पाँच महापक्ष, नित्यविहित सन्धोपासनकर्म, तथा यजन, याजन, अभ्यापन अभ्ययन दान, प्रतिपद, ये ६ ओं नित्यकर्म छोड़ दें चाहिए। ये १२ हों कर्म प्रत्येक गृहस्थी के लिए नित्यकर्म मानें गए हैं। एवं अथान्तराय के सम्बन्ध से धाराशीचकाल में १२ हों कर्म धर्म्य हैं। दक्षिणात्य एवं गौडसम्प्रदायभेद में इन धर्म्य सन्धोपासनादि कर्मों के सम्बन्ध में कुछ एह विशेष धर्मों का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए सन्धोपासन-कर्म को ही लीजिए।

१-आचमन, २-प्राणायाम, ३-आचमन, ४-माार्जन ५-आचमन, ६-सूर्यार्घ्यदान, ७-सूर्योपस्थान, ८-गायत्रीजप, इन आठ अथान्तर कर्मों से मन्थावन्दन-कर्म का स्वरूप सम्पन्न होता है। अथान्तर ८ कर्म कर्तव्य हैं, तत्समष्टिलक्षण सन्ध्यावन्दन पुरुषार्थकर्म है। कृतिने एक धर्माचार्यों का इस सम्बन्ध में यह निर्णय है कि, आशीच प्राप्त होने पर आचमन, तथा सूर्योपस्थान नहीं करना चाहिए। प्राणायाम नहीं करना, यह एक पक्ष है। बिना मन्त्रप्रयोग के प्राणायाम करना, यह पक्षान्तर है। मार्जन, तथा गायत्री जप नहीं करना, यह एक पक्ष है। मानसमन्त्रद्वारा गायत्री जप करना, पक्षान्तर है।

सन्त्रोबारणपूर्वक सूर्यार्घ्यदान करना ही चाहिए, यह एक पक्ष है। दाक्षिणात्य कहते हैं, केवल समन्त्रक सूर्यार्घ्यदान करना चाहिए। गौड़ कहते हैं, सूर्यार्घ्यदान भी नहीं करना चाहिए। अपितु प्रदक्षिणापूर्वक सूर्य का ध्यान करते हुए नमस्कारमात्र करना चाहिए। दर्भ-जल से विवर्जित ऐसी मानसी सन्ध्या आशीचकाल में भी अवश्य ही करनी चाहिए। यही सन्ध्यावन्दनकर्म में विशेष-मंशोधन है।

पञ्चमहायज्ञान्तर्गत ब्रह्मयज्ञ का तात्पर्य है वेदाध्ययन, तथा वेदाध्यापन। आशीचकाल में यह ब्रह्मयज्ञ सर्वथा वृजित ही माना गया है। पिण्डदान आद्यकर्म है, उदकदान तर्पणकर्म है। आद्य-तर्पण कर्म ही दूसरा पितृयज्ञ नामक महायज्ञ है। इनमें आभ्युदयिक आद्य तो जननाशीचकाल में भी ग्राह्य है। दूसरे मरणशीचसम्बन्ध में कुछ विशेषताएँ हैं। मरने के दिन से आरम्भ कर १० वें दिन पर्यन्त 'दशगात्रआद्य' होता है। एवं आद्यआद्य से आरम्भ कर सपिण्डीकरणपर्यन्त १६ आद्य होते हैं। दशगात्रआद्य, तथा षोडशआद्य मरणशीचकाल में ही विहित हैं। अतः ये दोनों मरणशीचकाल में अनिवार्य हैं। षोडश आद्यान्तर्गत सपिण्डीकरण के अनन्तर ही आद्यकर्त्ता का पुत्र आशीच सम्बन्ध से विमुक्त होता है। फलतः दोनों की आशीचकाल में अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। मातापिता के निधन पर पुत्र के साथ दशाहव्याप्य, द्वादशाहव्याप्य, सन्वत्सरव्याप्य (१०-१२ दिन, १ वर्ष) भेद से तीन प्रकार से आशीच का सम्बन्ध होता है। दशाहव्याप्य आशीच १० वीं रात्रि के समाप्त हो जाने पर दशगात्रआद्यकर्म समाप्त हो जाने से निवृत्त हो जाता है। द्वादशाहव्याप्य आशीच १२ वीं रात्रि के समाप्त हो जाने पर षोडशआद्य के अन्तिम कर्म स्थानीय सपिण्डीकरणकर्म से निवृत्त हो जाता है। एवं तीसरा सन्वत्सरव्याप्य आशीच पूरे बान्दसम्बत्सर के अवसान पर उस समय निवृत्त होता है, जब कि प्रेतात्मा चन्द्रशोक में जाकर सापिण्ड्यभाव को प्राप्त हो जाता है।

सपिण्ड्यवन्तुओं के साथ साथ त्र्यहव्याप्य, दशाहव्याप्य, इन दो आशीचों का ही सम्बन्ध होता है। इन में त्र्यहव्याप्य आशीच तीसरी रात्रि के अवसान पर अस्थिसञ्चय-कर्मोन्तर निवृत्त हो जाता है, एवं दूसरा दशाहव्याप्य आशीच १० वीं रात्रि के अवसान पर दशगात्रआद्यान्तर निवृत्त होता है। इस विवेचन से प्रकृत में यही यत्नाया है कि, द्वादशगात्रआद्य, तथा षोडशआद्य, दोनों आशीच-निवर्त्तक आद्य हैं। अतएव ये आशीच काल में अवश्यमेव ग्राह्य हैं। 'अमावास्या' नामक पर्व में होने वाला 'पिण्डपितृयज्ञ' नामक पितृयज्ञ अवश्यमेव आशीच काल में विवर्ज्य है। वर्य पितृकर्म से पिण्डपितृयज्ञ ही अभिप्रेत है। यही पितृयज्ञ के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य है।

स्वयं यज्ञ करना, यजमान के यज्ञ में अतिगुरुपेण वृत होना 'दिवयज्ञ' नामक महायज्ञ है। आशीचकाल में अतिगुरुपेण वृत होना तो एकान्ततः वर्ज्य है। दूसरे शब्दों में याजनकर्म सर्वथा वर्ज्य है। दूसरे होमात्मक स्वकर्त्तृक यजनकर्म में कुछ एक विशेष नियमों का अनुगमन करना पड़ता

है। यदि पूरे दिन पर्यन्त आहुति सम्बन्ध के बिना भी आहुतनीयामि कुण्ड में सुरक्षित है, अग्निविच्छेद नहीं हुआ है, तो उस दशा में आशीचकाल में अग्निहोम नहीं करना चाहिए। आशीचानन्तर उसी अविच्छिन्न अग्नि से होमकर्म यथावत् प्रक्रान्त हो जायगा, एवं पुनराधान की आवश्यकता न पड़ेगी। यह पक्ष वहु-चों से सम्बन्ध रखता है। इनका अग्नि वैधु समिद्धाग्नि है। अतएव यह १० दिन पर्यन्त अविच्छिन्न रह जाता है। तैत्तिरीयादि का अग्नि समिन्धनाभाव से अधिक से अधिक ४ दिन पर्यन्त आहुतिसम्बन्ध के बिना अविच्छिन्न रह सकता है। चौथे दिन तो यह लौकिक अग्नि की कक्षा में आजाता है। क्योंकि अग्नि का अविच्छेद अपेक्षित है, वह बिना आहुति सम्बन्ध के सम्भव नहीं है अतएव इस पक्ष में आशीच रहने पर भी शुष्काल से, किंवा फलादि से अन्य ब्राह्मण के द्वारा होम कराते रहना आवश्यक है।

इसी प्रकार स्मार्त्तहोम में भी आशीच प्राप्त होने पर स्वयं न करते हुए ब्राह्मण के द्वारा अकृताज्ञ कृताकृताज्ञ, दोनों में से किसी एक द्रव्य से स्मार्त्त होम कराते रहना आवश्यक है। प्रत्येक दशा में आशीच काल में कृताज्ञ का सम्बन्ध सर्वथा वर्ज्य ही माना गया है। ओदन (भात), सक्तु (सच्, लाज (खील), मोदक, आदि 'कृताज्ञ' हैं। तण्डुल, माप, सुदग, आदि 'कृताकृताज्ञ' हैं। एवं ब्रीहि, गोधूमादि 'अकृताज्ञ' हैं। वैध स्नान (तीर्थोद्दि स्नान, तथा नित्यविहित समन्त्रक शुद्धिस्नान), पञ्चदेयतापूजनात्मक नित्यविहित उपासना, आदि स्मार्त्त कर्म आशीचकाल में वर्ज्य हैं। आगमराश्लोक (तन्त्रमार्गानुगत) अनुष्ठान सकाम, निष्काम, भेद से दो भागों में विभक्त हैं। ये भी देवयजनकर्म में ही अन्तर्भूत हैं। यदि आगमोक्त अनुष्ठान फल्य है, विशेषकामना मिद्धि के लिए इसका आरम्भ हुआ है, और उसी मध्य में यदि आशीच उपस्थित हो जाता है, तो बाह्यक्रियाकलाप छोड़ देना चाहिए। फल मानसी प्रक्रिया के द्वारा ध्यानयोग से अमन्त्रक अपने संकल्प को सुरक्षित रखना चाहिए। यदि यही अनुष्ठान निष्काम है, तो आशीच में भी यह यथावत् प्रक्रान्त रहेगा। न सकाम का नियम है, न निष्काम का, उस दशा में आशीचावसर पर इसे सर्वथा छोड़ ही देना पड़ेगा। आशीच-नित्यनन्तर पुनः यह कर्म प्रक्रान्त होगा। ये ही भीत-स्मार्त्त लक्षण इस देवयज्ञ-कर्म की मुख्य एक विशेषताएँ हैं।

दान देना, तथा प्रतिग्रहग्रहण करना, दोनों की समष्टि भूतयज्ञ है। अन्य के लिए भद्रा-पूर्वक दिया जाने वाला द्रव्य धर्मपरिभाषा में 'वलि' नाम से व्यवहृत हुआ है। इस वलि का प्रदान दान है, ग्रहण प्रतिग्रह है, समष्टि भूतयज्ञ है। पुत्रोत्पन्न हो जाने पर नालच्छेद से पहिले पहिले सुवर्ण, गुर्म, पशु, धान्य, गुड़, तिल, घृत, घस्र, तुरग, रथ, च्छत्र, मत्स्य राय-नारानादि उपकरण, इनका दान अथर्वयज्ञ हो सकता है। साथ ही इनका ग्रहण भी किया जा सकता है। नालच्छेदानन्तर ही दाता में आशीचदोष का उदय होता है। अतः इससे पहिले दाना-

प्रतिग्रहीता, दोनों की भूतयज्ञमर्चादि सुरक्षित रहती है। नालच्छेदानन्तर आशीच का संक्रमण हो जाता है उस दशा में आशीच से युक्त गृहस्थी के लिए इस भूतयज्ञ का नियेष है। हाँ, इस आशीचदशा में भी लवण, मधु, पुण्य, फल, शाक (अग्नि सम्बन्ध निरहित, काष्ठ, लोष्ट, वृण, पर्ण, दधि, घृत, तैल, मृगचर्म, ओषधि, घ्रीह, गोधूमदि शुष्कान्न, इत्यादि परिगणित पदार्थ अशीची की अनुसृति से अन्य व्यक्ति अपने व्यवहार में ला सकते हैं। अन्य परिपक्व अन्नादि लक्षण दान-प्रतिमत्त रूप भूतयज्ञ सर्वथा वर्ज्य है। ये ही भूतयज्ञ के विशेष अनुबन्ध हैं।

अनियत काल में आश्रायकांची आगत मनुष्यों का भोजन-स्थानादि से सन्कार करना ही मनुष्ययज्ञ है। जनन-मरणलक्षण दोनों ही आशीची में आगत अतिथियों को आशीच से युक्त कुज का आतिथ्य स्वीकार करना वर्ज्य है। क्योंकि भोजनादि के सम्पर्क से अतिथि भी आशीचदोष से युक्त हो जाता है। यदि अतिशय स्नेह के कारण कोई आगत मित्रादि इस आशीच से मनस्व रहता है, तो उस दशा में यह मेसे अन्न का भी ग्रहण कर सकता है। परन्तु इस आशीचसंसर्ग में आकर नियतकाल पर्यन्त इसे भी अग्रय ही इस अशुचिसम्बन्ध से युक्त रहना पड़ता है। अतएव यह भी तत्समय पर्यन्त के लिए आशीचविरहित शुचिभावापन्न गृहस्थियों के लिए अन्यवहार्य बन जाता है। यही मनुष्ययज्ञानुगत विशेष-वस्तु है। इन और पाँच महायज्ञों से ही यजन-याजनादि इतर स्मार्त कर्म भी गतार्थ हैं।

बतलाया गया है कि, पहिलेःशरीर, अन्तःशरीर, संस्व, इन तीन अधिष्ठातों के सम्बन्ध से आशीच कर्म स्पर्शशीच, कर्माशीच, मङ्गलाशीच, भेद से तीन भागों में विभक्त है। इस आशीचत्रयी के सम्बन्ध में पुण्ड एक विशेषताएँ ज्ञातव्य हैं। आद्रकर्त्ता पुत्र को १० दिन का स्पर्शशीच होता है, सपिण्डवंशजों को ३ ही दिन का स्पर्शशीच होता है। आशीचापस्थापन आद्रकर्त्ता पुत्र को बड़े पवित्रभाव से रहना चाहिए। ब्रह्मचर्य, इन्द्रियनिग्रह, अधःशयन, परान्न-स्पर्शवर्जन, अशुचिभावापन्न जड़ तथा चेतनों के स्पर्श का वर्जन, तैलाभ्यङ्गादि परिवर्जन, आदि नियम-विशेषों का इसे पालन करना चाहिए। अशुचिभावापन्न (अघदोषापन्न) व्यक्ति के कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य-भावों की यही संक्षिप्त मीमांसा है।

### आशीचनिमित्तमीमांसा

जन्म, मृत्यु, क्रिया, दोष, भेद से अघाशीच के चार निमित्त बतलाए गए हैं। अब इस सम्बन्ध में विचार यह करना है कि, ये चारों भाव अघाशीच के निमित्त कैसे, तथा क्यों बनते हैं? एवं कैसे इनके समावेश से परम्परया अन्तरात्मा अशुचिभावापन्न हो जाता है? चारों में से क्रमप्राप्त पहिले जन्मनिमित्तक सुतकाशीच की ही मीमांसा कीजिए। जन्माशीच की मूलप्रतिष्ठा योनिस्थानीय स्त्री का वह 'रज' माना गया है, जो पुरुष के शुक्र से मिथुनीभाव में परिणत होकर गर्भस्थिति का

का कारण बनता है। योनिस्थानीय यह 'रज' किसी विरोध प्राण के सम्बन्ध से अशुचिभाव में परिणत हो जाता है। इसी मलिन रज के सम्बन्ध से रजःस्वला स्त्री 'मलिना' कहलाई है।

सृष्टि के आरम्भक तत्त्व असङ्ग, ससङ्ग, भेद से दो भागों में विभक्त हैं। प्राणमात्रा असङ्ग तत्त्व है, भूतमात्रा ससङ्ग तत्त्व है। ससङ्ग भूतमात्रा-गर्भित असङ्ग प्राणमात्रा से असङ्ग प्राणसृष्टि होती है, जिसे 'गुणसृष्टि' भी कहा जाता है। एवं असङ्ग प्राणमात्रा-गर्भित ससङ्ग भूतमात्रा से ससङ्ग भूतसृष्टि होती है, जिसे कि विकारसृष्टि भी कहा जाता है। गुणात्मिका प्राणसृष्टि अक्षरसृष्टि है, एवं इसमें प्राण का प्राधान्य है। असङ्ग प्राणमात्रा को प्रधान आरम्भक बनाने वाली अक्षरसृष्टि अमूर्त्त-सृष्टि है। एवं ससङ्ग भूतमात्रा को प्रधान आरम्भक बनाने वाली क्षरसृष्टि मूर्त्तसृष्टि है। अमूर्त्त-सृष्टि अमृतप्राधाना है, मूर्त्तसृष्टि मृत्युप्राधाना है।

दोनों में असङ्ग प्राणतत्त्व अपने असङ्ग भर्म से जहाँ अधामच्छद है, वहाँ यह प्राणतत्त्व भूतमात्रा से बहिर्भूत रहने से रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दातीत बनता हुआ इन्द्रियातीत भी है। अपनी अवस्थिति के लिए भूतवत् स्थान न रोکنे वाले इस अमूर्त्त प्राणतत्त्व का जिस भौतिक पदार्थ में पूर्ण विकास रहता है, वह भौतिक पदार्थ भी प्राणपूर्णता से अधामच्छद बन जाता है। एवं यह भंय पाँचों भूतों में केवल तेज को, तथा तत्प्रवर्ग्यभूत चक्षुरिन्द्रिय को ही प्राप्त है। 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' इत्यादि प्रश्नोपनिषद् के अनुसार सौर प्रकाश ( तेजो नामक भूत ) में प्राण का पूर्ण विकास है। अग्नि, दीपक, विद्युत्, चन्द्रमा, आदि में उपलब्ध तेज ( प्रकाश ) सौर इन्द्रप्राण का ही प्रवर्ग्यार है, जैसा कि "रूपं रूपं मघवा शोभतेति"—"इन्द्रो रूपाणि कनिकृदचरत्"—"इत्या चन्द्रममो गृहे"—"विद्यु द्वा-आदित्यः" इत्यादि श्रुतियचनों से प्रमाणित है। 'त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ' इत्यादि ऋग्वर्णन के अनुसार दाह्य सोमवत्तर ही दाह्य सावित्राग्निमय सौर 'मघवा' नामक इन्द्र से युक्त हो कर प्रकाश स्वरूप में परिणत होता है। कहना यही है कि, प्राणपूर्णता से ही यह प्रकाश अधामच्छद, तथा असङ्ग बन रहा है। एक प्रासाद में १० दीपक रख दीजिए, दलों का प्रकाश निर्विरोध असङ्गरूप से एक ही प्रासाद में अन्तर्भुक्त हो जायगा। यदि पार्थिव भूतादिवत् प्रकाश भी धामच्छद होता, तो एक दीपप्रकाश-मण्डल में अन्य दीपप्रकाशमण्डल का प्रवेश असम्भव था। प्राणपरिपूर्ण, अतएव अधामच्छद, तथा असङ्ग बने हुए इसी सौर तेजोभाग से चक्षुरिन्द्रिय का निर्माण हुआ है। अतएव यह भी अधामच्छद, तथा अमङ्ग है। पुरोऽवस्थित पदार्थों के सभी प्रतिविम्ब सूक्ष्मताराप्रवर्त्तों चक्षुपटल पर निर्विरोध समाविष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में वक्ष्यमान वैज्ञानिकों का पदार्थमात्र को धामच्छद पतलाना क्या प्रोद्धिवाद नहीं माना जायगा ?।

अस्तु, प्रकृत में वक्तव्य यही है कि, असङ्गप्राणात्मिका भूतगर्भिता प्राणसृष्टि अमूर्त्ता है। इस अमूर्त्तलक्षणा प्राणसृष्टि का मुख्य उद्गमस्थान प्राणमय-स्वयम्भु-विवर्त्त माना गया है। स्वयम्भु के



अनन्तर आपोमय परमैष्टी विवर्त्त प्रतिष्ठित है। यही से ससङ्ग भूतमात्रात्मिका मूर्त्तलक्षण मैथुनीसृष्टि (विकाससृष्टि, भूतसृष्टि) का उपक्रम होता है। पारमेष्ठ्य स्नेहगुणप्रधान भृगु, तेजोगुणप्रधान अङ्गिरा, वमयात्मक अत्रि, इन तीन तत्त्वों की समष्टि ही 'आपः' हैं। इनमें घन-तरल-विरलभेद से भृगु की भी आपः, वायुः, सोमः, ये तीन अवस्था हैं। एवं अङ्गिरा की भी अग्निः, यमः, आदित्यः, भेद से तीन अवस्था हैं। परन्तु तीसरे अत्रि की एक ही अवस्था है। अतएव 'न त्रिः' निर्वचन से इस तृतीय पारमेष्ठ्यप्राण को 'अत्रि' कहना अन्वर्थ घनता है। इसी अत्रिप्राणसम्बन्ध से पारमेष्ठ्य सोम पिण्डरूप में परिणत होकर भामच्छद घनता हुआ सुप्रसिद्ध चन्द्रमा-रूप में परिणत होता है। अत्रिप्राणसम्बन्ध से ही पुराणशास्त्र ने चन्द्रमा को अत्रिपुत्र माना है ( देखिए ब्रह्मसंहितापुराण १३० अ० )।

स्नेहगुणक पारमेष्ठ्य सोम के माषान्व से अत्रिप्राण प्राणान्तर रहता हुआ भी आगे जाकर भामच्छद बन जाता है। सर्वथा विभक्त भौतिक परमाणुओं को एकत्र समन्वित रखता इसी अत्रिप्राण का कर्म माना जा सकता है। मूर्त्तसृष्टि का अधिष्ठान सोमायच्छिन्न यही अत्रिप्राण है। भार्गव ज्ञेय, तथा अङ्गिरस अग्नि, दोनों के चितिलक्षण अन्तर्यामि सम्बन्ध का संयोजक बन कर इन्हें मूर्त्तरूप दे डालना इसी अत्रिप्राण का कर्म है। तत्तन्-विरोध पदार्थों में यह अत्रिप्राणमात्र तारतम्य से प्रतिष्ठित रहती है। पाषाणादि घनतम द्रव्यों में अत्रिप्राण अधिक मात्रा में निशिष्ट है। मृण्मयपात्र से सौर रश्मियाँ आधारपारीण सम्बन्ध करने में असमर्थ हैं। यदि मिट्टी में से अत्रिप्राण का अधिकांश भाग निकाल दिया जाता है, तो यही मिट्टी 'काच' बन जाती है। सौररश्मियाँ अवरोधित बन जाती हैं। वायु में अत्रि-मात्रा जोर भी स्थल है। परमाणुओं की घनता प्रदान करना यद्यपि अत्रिप्राण का कर्म यतलाया गया है, तथापि वस्तुगत्या यह घनता 'अश्मासोम' का ही धर्म माना जायगा। अत्रिप्राण को केवल अश्मासोम का सहायक माना जायगा। अत्रिप्राण का अपना प्रातिस्विक धर्म तो एकमात्र पारदर्शकता-प्रतिबन्धकत्व ही माना गया है। तम-प्रधान मलभाग को वस्तुओं में अन्तर्यामि सम्बन्ध से प्रतिष्ठित कर उन वस्तुओं की पारदर्शकता का अभिभव कर डालना ही अत्रिप्राण का मुख्य कर्म है। इसका प्रवृत्त प्रमाण यही है कि, यद्यपि एक मिट्टी का पात्र काचपात्र की अपेक्षा स्वल्परूप से संघटित है, एवं काचपात्र के परमाणु मृण्मयपात्र की अपेक्षा कहीं अधिक संश्लिष्ट हैं। तथापि सौर रश्मियाँ मृण्मयपात्र को को छेद कर बाहिर नहीं निकल सकती, किन्तु काचपात्र से बाहिर निकल जाती हैं। एक तिल, जो कि काच की अपेक्षा सर्वथा श्लयावयव है, सौररश्मि का अवरोधक बन जाता है। आग्निरश्मि के आगे एक तिल रख दीजिए, रश्मि तिल से टकराकर वापस प्रतिफलित हो जायगी। उधर तिल से अपेक्षाकृत अधिक संश्लिष्टावयव काच रश्मि का प्रतिफलन करने में असमर्थ हो जायगा। हों यदि इसी काच के पृष्ठभाग में अनुकूलभूतसहयोग से अत्रिप्राण का सहयोग करा दिना जायगा, तो यही काच दर्पणरूप में परिणत होता हुआ अवश्यमेव रश्मि का अवरोधक बन जायगा। इसी आधार पर पारदर्शकताप्रतिबन्धकत्व ही अत्रि का मुख्य धर्म माना जायगा। पार्थिव भूमा ( भूदाया ), तथा चान्द्रभूमा, दोनों में अत्रिप्राण का

साम्राज्य है। पार्थिव छायामय अग्नि से चन्द्रग्रहण होता है, एवं चान्द्रच्छायामय अग्नि से सूर्यग्रहण होता है। फलतः ग्रहणकाल में चान्द्र-मौर तेज भी इस मलीमम-ज्योतिर्विरोधी अग्निप्राण के सम्बन्ध से उसी प्रकार अघाशुचिभाव में परिणत हो जाता है, जैसे कि जननादि निमित्तों से महानात्मा अशुचि-भाव में परिणत हो जाता है। ग्रहणकाल में पार्थिव प्रजा आशौचसम्बन्ध से क्यों युक्त हो जाती है?, ग्रहणकाल में हम अस्पृश्य क्यों बन जाते हैं?, भोजनादि कर्म ग्रहण में क्यों निषिद्ध हैं?, इत्यादि प्रश्नों की मौलिक उपपत्ति यही अग्निप्राणजनित अशुचिभाव है, जिसके सम्पर्क से सूर्य चन्द्रमण्डलनुक्ता पार्थिव प्रजा अपने आपको नहीं बचा सकती। अग्निप्राण के इन गुप्त रहस्यों का जिस वैज्ञानिक ने सर्वप्रथम साक्षात्कार किया, साक्षात्कार करके लोक में प्रवृत्त किया, यही वैज्ञानिक, एवं तद्वंशधर भी तत्समय की प्रणाली के अनुसार 'अग्नि' नाम से ही प्रसिद्ध हुए, जैसा कि—'अत्रयस्तमन्विन्दन् न ह्यन्येऽशक्नुवन्' इत्यादि मन्त्रवर्णन से प्रमाणित है।

उक्त अग्निप्राणमीमांसा का निष्कर्ष यही हुआ कि—पारदर्शकताप्रतिबन्धक, ज्योतिर्विरोधी, अग्नि-प्राण ही अग्नि-सोममन्त्रवय मे मधुनोमृष्टि का प्रधान अधिष्ठाता बनता है। अग्निप्राण के सहयोग के बिना केवल अग्निसोम का समन्वय भूतसृष्टिकर्म में सर्वथा असमर्थ है। कल्पचिकित्सा में नवीन शरीर का उदय होता है, अतएव इसे कायाकल्प कहा जाता है। इसकी सिद्धि के लिए पहिले पूर्वशरीर को सझाना-गलाना पड़ता है, अनन्तर नवीन अद्भुत रोदय होता है। यह सझान-गलान उसी अग्निसम्पत्ति-प्राप्ति का द्वार है। बिना उसके सहयोग के कल्पचिकित्सा भी असम्भव है। किसी भी भूतसृष्टि को उदाहरण घना लीजिए। सर्वत्र आपको मलीमस अग्निप्राण के सम्बन्ध का साक्षात्कार होगा। इस स्वाभाविक मृष्टिनियमानुसार पुरुषमृष्टि में भी अवश्यमेव अग्निप्राण का सहयोग स्वीकार करना पड़ता है।

स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित रज ( रक्त-खून ) अग्नि है, पुरुष के अण्डकोश में प्रतिष्ठित स्थलित शुक्र सोम है। दोनों का मिथुनभाव रजः प्रतिष्ठित अग्निप्राण के सहयोग से ही गर्भाधान में समर्थ होता है। स्त्री के रज की शुद्ध, मलिन, भेद से दो अवस्था मानी गई हैं। प्रत्येक पदार्थ स्वानुगत भावों का प्रतिक्षण विस्फुरन किया करता है। यही विस्फुरन प्रवर्ग्य है, यही मलभाग है, यही सञ्चयभाव में आकर कालान्तर में अशुचिभाव का कारण बन जाता है। इसी प्रवर्ग्य-मलीमसभाव के आधार पर शरीरादि मलों की शुद्धि विहित है, जैसा कि पूर्वपादित पञ्चधर्मशुद्धिसंस्कार-व्याख्या में विस्तार से बतलाया जा चुका है। शुद्ध रज से भी इस स्वाभाविक विस्फुरन मर्यादा के प्रभाव से प्रवर्ग्यभूत मलभाग ( दग्ध रज ) विस्फुरता होता रहता है। यह सञ्चित होते होते प्रतिमास में नियत तिथियों में प्रभूतमात्रा में परिणत होता हुआ बाहिर निकल पड़ता है। यही रज की मलिनावस्था, किंवा मलिनरज है। निर्गमन से आरम्भ कर निर्गमन समाप्ति पर्यन्त इसी मलिन रज के सम्बन्ध से स्त्री

रजःस्वला कहलाई है। इसी मलिनरज में पारदर्शकताप्रतिबन्धक मूर्त्तिसृष्टिप्रवर्त्तक अत्रिप्राण विकसित रहता है। अतएव रजःस्वला स्त्री 'आत्रेयी' कहलाई है। रजःप्रतिष्ठित यह अत्रिप्राण एक ओर जहाँ मूर्त्तिसृष्टि का प्रवर्त्तक है, वहाँ दूसरी ओर यही अपने पारदर्शकताप्रतिबन्धक धर्म से सूर्यगत अमूर्त्त प्राणतत्त्व से अनुगृहीत प्राणात्मक अन्तरात्मा का विरोधी है। दूसरे शब्दों में सौरप्राणात्मक शुक्लगत वज्र-क्षत्र-विडम्भावप्रवर्त्तक दिव्यवीर्य का विरोधी है। इसे इस रजोगत मलीमस अत्रि-सम्बन्ध से, तद्गत अशुचिसम्बन्ध-संक्रमण से बचाने के लिए ही आत्रेयी स्त्री के स्पर्श का दृढतम निषेध हुआ है। अवश्य ही रजःस्वला स्त्री के स्पर्श से स्पर्शकर्त्ता पनोदोष का पात्र बनता हुआ 'एनस्वी' (पापी) बन जाता है। स्थिति ने तो इस सम्बन्ध में अनेक आदेश दिए हैं, साथ ही साक्षान् धृति ने भी इस स्पर्शदोष से द्विजाति को एन की बतलाया है। देखिए !

“तद्वैतदेवाः-रेतश्चम्मेन् वा, यस्मिन्वा वज्रः, तदस्म एच्छन्ति-अत्रेयत्या ३ दिति ।  
ततोऽत्रिः सम्बभूव । तस्मादप्यात्रेय्या योषितैनस्वी । एतस्य हि योषार्य वाचो देवताया  
एते सम्भूताः”

—शत० १।५।५।१३।

अत्रि का रज के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। एवं इस रज को आग्नेय माना गया है। उधर—  
'तस्य वा एतस्याग्नेर्वाग्वोषेनपितृ' (शत० १०।५।१३।५।) के अनुसार अत्रितत्त्व-वाङ्मय बनता हुआ छामच्छव है। अत्रिप्राण तद्रूप बन कर ही रज में प्रतिष्ठित होता है, अतएव प्राणात्मक इस अत्रितत्त्व को 'वाङ्मय' भी मान लिया गया है, जैसा कि—'वाग्वोषात्रिः' (शत० १४।५।२।२।) इत्यादि निगम से प्रमाणित है। जिस प्रकार मांस में ३ पिशाचप्राण रहता है, एवमेव रक्त में राक्षसप्राण का प्राधान्य रहता है। पाठकों को यह जान कर कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए कि, रक्तगत यहो राक्षस-प्राण अपनी स्वाभाविक अवरोध-शक्ति से स्त्री के शोणित में आहुत पुरुषरेत के आधान का कारण बनता है। आगत वस्तु को अपने अधिकार में कर लेना ही इस राक्षसप्राण का मुख्य धर्म है। जिस स्त्री के शोणित का राक्षसप्राण शिथिल होता है, वह आहुत रेत की रक्षा में असमर्थ है। एकमात्र इसी आधार पर राक्षसप्राण को रेतोधा मान लिया गया है। राक्षसप्राण का असक् से सम्बन्ध है, निम्न लिखित वचन इसी स्थिति का समर्थन कर रहे हैं—

॥ इसी मांसगत पिशाचप्राण के हास से शुष्करोग ( सूखा ) का प्रादुर्भाव होता है, जो कि रोग उपदंशादिवत् सांक्रामिक रोग माना गया है। अतएव माताएँ अपने बच्चों को 'सूखा' रोग वाले बच्चों के संसर्ग से बचाती रहती हैं।

१—“असृग्भाजनानि वै रक्षांसि” ( को० ब्रा० १०।४१ ) ।

२—“रक्षां ह्येव भागः, यदसृक्” ( शत० शान्तरा१४१ ) ।

३—“रक्षांसि योषितमनुसचन्ते । तदुत रक्षांस्येव रेत आदधति”

—शत० शान्तरा१४ ।

मूर्त्तसृष्टिप्रवर्त्तक अग्निप्राण राक्षसप्राणयुक्त इसी रज ( रक्त ) में प्रतिष्ठित रहता है । अतएव इसकी राक्षसप्राण से तुलना की जा सकती है । वही गर्भाधान इसका भी व्यापार है । राक्षसप्राणा-यच्छिन्न, मलीमस, मलिनरजःप्रतिष्ठित, अतएव सर्वथा अशुचिमावात्मक अत्रितत्त्व के इसी स्वरूप-धर्म का निम्न लिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

१—अत्रिणो वै रक्षांसि” ( प० ब्रा० ३।११ ) ।

२—“पाप्मानोऽत्रिणः” ( प० ब्रा० ३।११ ) ।

३—“रक्षांसि वै पाप्मा-अत्रिणः” ( तै० ब्रा० २।२१ ) ।

एक प्रासाङ्गिक रहस्य का विश्लेषण और । उक्त कथन से यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है, कि, स्त्री का रज ऋतुकाल में पाप्मा-अग्निप्राण के विकास से आत्यन्तिकरूप-से मलिन हो जाता है । प्रतिमास स्त्री इस पाप्मा से युक्त रहती है । ऋतुस्नानानन्तर यद्यपि ऋतुकाल को छोड़ कर यह शेष दिनों में पवित्र रहती है, तथापि अनुशयरूप से यह पाप्मा सदा ही ( यावज्जीवन ) इस के रज में प्रतिष्ठित रहता है । अतएव वेदस्वध्यायादि दिव्यप्राणप्रधान कर्मों में शूद्रवत् इसे भी अनधिकृत ही माना गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इन ४ वर्णों में से शूद्र तो जन्मना इस पाप्मा से युक्त है ही, साथ ही जगतीन्द्रोद्युक्त सार्यकालन वैश्वदेव-तेज से सम्भूत वैश्य भी सर्वथा पत नहीं है । सार्यकालगत तमोमय आधुर पाप्मा के अनुशय से यह भी पापसम्भूत ही माना गया है । इसी आधार पर भगवान् ने—“स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युः पापयोनयः” ( श्रीभगवद्गीता ) रूप से स्त्री-वैश्य-शूद्र-तीनों को पापयोनि माना है । इसी अनुशय के सम्बन्ध से शूद्रवर्णाधिष्ठाता पूषा को इस विद्वधीर्य का भी अधिष्ठाता मान लिया गया है, जैसा कि,—“पूषा विशां विट्पतिः” ( तै० ब्रा० २।३।४१४ ) इत्यादि वर्चन से प्रमाणित है । क्योंकि वैश्य में विश्वेदेव का प्राधान्य है, अतएव यह पापयोनि घनता हुआ भी वेदाधिकारसिद्ध योग्यता का पात्र मान लिया गया है । विशुद्ध प्राणविज्ञान मे सम्बन्ध रखने वाली ये व्यवस्थाएँ अवश्य ही तत्त्वपूर्ण, अतएव सर्वथा मान्य हैं, जिनका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

१—“स पच एव प्रतिष्ठाया एकविंशतिमसृजत । तमनुष्टुब्धन्द्रोऽत्यमृज्यत । न काचन देवता शूद्रो मनुष्यः । तस्माच्छूद्र उत बहुपशुः, अयत्रियो, विदेवो हि । न हि तं काचन देवतान्वमृज्यत । तस्मात् पादावनेज्यन्नातिवर्द्धते । पशो हि सृष्टः” ( ता० ब्रा० ६।१।११ ) ।

२-“असतो वा एष सम्भूतः, यच्छूद्रः” (तै० ब्रा० १।२।१।६।)।

३-“असूर्यः शूद्रः” (तै० ब्रा० १।२।१।७।)।

४-“अनृतं-स्त्री, शूद्रः, धाः, कृष्णः शकुनिः। तानि न प्रेक्षेत” (शत० १४।१।१।३१।)।

इसी सम्बन्ध में प्रसङ्गतः हमें उस प्रश्न को भी मीमांसा कर लेनी चाहिए, जिसने अनेक-प्रकार के सन्देहों को प्रकट कर रक्खा है। स्त्रीरज में श्रुतकाल में (स्नानानन्तर) गर्भाधान होता है। शुक्र-शोणित के मिथुनभाष में प्रविष्ट औषधात्मिक जीवात्मों को मत्स्यरज, तथा पितुः शुक्र, दोनों के विरोध धर्मों का पात्र बनना पड़ता है। यदि पिता के शुक्र में उपद्रव के कीटाणु विद्यमान हैं, तो तदपत्य को भी संक्रमणप्रवाह से इसका कुल्ल भोगना पड़ता है। एवमेव माता के मलिनरज अनुशय से भी यह अपत्य वञ्चित नहीं रह सकता। दग्ध-प्रवर्ग्य-मलीमस-अशुचिभावा-पन्न-सांक्रामिक इस दूषित मातृरज के आश्रय अनुशय का गर्भस्थ डिम्ब के साथ अन्तर्यामि सम्बन्ध हो जाता है। दशमासानन्तर जब यह गर्भ भूमिष्ठ होता है, तो इन में स्वतन्त्ररूप से चित्तिप्रवर्तक अग्निमय आरम्भ होता है। ज्यों ज्यों शरीराभिचिति प्रवृद्ध होती जाती है, त्यों त्यों आयतन बढ़ता जाता है। अन्ततोगत्वा महानात्मरूप धीज की नियत आयतन-सीमा पर जाके अभिचयन कर्म अवरुद्ध हो जाता है, आयतनवृद्धि अरत हो जाती है। इस विशुद्ध शरीराभि की वृद्धि से गर्भस्थितिकाल में अन्तर्यामि-सम्बन्ध से प्रतिष्ठित वह सांक्रामिक मलिन, मातृरज लुब्ध हो पड़ता है। परिणामस्वरूप शरीराभि के प्रत्याघात से यह बीजातीत लुब्ध मातृरज सर्वाङ्गशरीर से छूट निकलता है। क्योंकि यह मातृरज है, अतएव भारतीय परम्परा में यह रोग सर्वसाधारण में ‘माता’ नाम से प्रसिद्ध है। आशीचवत् यह भी सांक्रामिक है। अतएव-माता के रोगी को स्वस्थ बालकों से दूर रक्खा जाता है। यही मातृरोगसम्बन्धिनी-पहिली भूतदृष्टि है।

प्राणतत्त्व के अन्वेषक ऋषि इस सार्वजनीन भूतदृष्टि पर ही विश्राम नहीं कर लेते। अपितु वे इस-मातृरज में मातृशक्ति के भी दर्शन करते हैं। किस मातृशक्ति के? शीतला शक्ति के। दग्धरज मूर्च्छित है, अतएव यह आग्नेय धर्म से वञ्चित है, अतएव इसे शीतलधर्मयुक्त मानना न्याय-मंगत है। शीतल सोमधर्म है, सोमगत प्राण ही शक्तितत्त्व है, अग्निगत प्राण ही रुद्रतत्त्व है। इस तत्त्वदृष्टि के आधार पर इसे शीतलामाता का प्रकोप माना गया है। रजः प्रतिष्ठित यही मलीमस भाग रामभ (गर्दभ) में प्रतिष्ठित है। इसी अशुचि-मावसम्बन्ध से गर्दभ को पशुधर्मों में शूद्र माना गया है, जैसा कि ‘शूद्र-वानु-रासभः’ (शत० ६।४।४।१२) इत्यादि वचन से प्रमाणित है। नैदानिक महर्षियों ने इसी समान धर्म के आधार पर रासभ (तदगत प्राण) को शीतलामाता का वाहन माना है। गर्दभपशु अग्नि का उच्छिष्ट है, प्रवर्ग्यात्मक अनुप्य पशु है, जैसा कि-“यदर-सदिव, स रासभोऽभवत्” (शत० ६।४।४।१२) से स्पष्ट है। प्रबल निदाघ भी इस पशु को इसी

प्रवर्ग्य-अनुष्ण-रस के अनुग्रह से सहा है। वसन्तऋतु अग्नि का उपक्रम है। यहीं से अग्निबल प्रवृद्ध होने लगता है, तथा सोमबल क्षीण होने लगता है। यही शीतलाप्रकोप का प्रधान काल माना गया है। यातयाम (वासी) गतरस भोजन, शीतलापूजन, आदि आध्यात्मिक-आधिभौतिक चिकित्साओं का यही मौलिक रहस्य है, जिसका 'हिन्दू-तपोहारों का वैज्ञानिक रहस्य' नामक निबन्ध में विस्तार से उपबृंहण हुआ है।

मलिनी (रजःम्वला) स्त्री के शरीर से चार दिवस पर्यन्त इसके गर्भकमल में दग्ध-अशुचि-भावापन्न-अत्रिप्राणात्मक पुराणरज प्रतिष्ठित रहता है। प्रवर्ग्य-सम्बन्धेन आत्मगत पावक धर्म से वञ्चित रहने से, अत्रिप्राणसम्बन्ध से, गर्भस्वरूपसम्पादक मलीमस कीटाणुओं (भ्रूणों) के सम्बन्ध से यह पुराणरज सर्वथा दुष्ट रहता है। इस पुराणरज में प्रतिष्ठित भ्रूणकोट त्रियमाण हैं, अतएव इनके सम्बन्ध से यह शोणित सर्वथा अशुचिभावापन्न है। इसके, तथा एतद्युक्ता स्त्री के संसर्ग से सौरप्राणानुगत आयु-सूत्र निर्बल हो जाता है, दिव्यभावानुगत प्रज्ञा मन्द हो जाती है, स्वाभाविक द्विजादिवीर्य अभिभूत हो जाता है, अतएव इस स्पर्शदोष को एक, महादोष माना गया है। इस आशौच को हम दोषाशौच कहेंगे, जिसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्तादि का विधान हुआ है। इस दोषाशौच का निमित्त स्त्रीरज ही बनता है।

दूसरे दोषाशौच का शरीर मलों से सम्बन्ध माना गया है। गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी' न्याय से उत्पन्न होने वाले यच्चयावत् जड़-चेतन पदार्थ दिव्यभावानुगत गुणों, तथा आसुर-भावानुगत दोषों से, दोनों से युक्त रहते हैं। सुतरां शरीर-धातुओं का भी दोनों से युक्त रहना अनिवार्य बन जाता है। आत्मसीमा में अन्तर्यामि सम्बन्ध से प्रतिष्ठित, अतएव आत्मगत शुचिधर्म से युक्त, अतएव शुद्ध रस, अस्तक, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्रादि धातु प्रसादगुणक बनते हुए गुण-कोटि में प्रविष्ट हैं। परन्तु इन्हीं विशुद्ध-प्रसादगुणात्मक-आत्मधातुओं का वह भाग सर्वथा मलिन है, जो प्रवर्ग्यसम्बन्ध से आत्मसीमा से वृथक होकर बहिर्व्यामि बन जाता है। यही त्यक्त धातु मलिन धातु है। कफ-लाला-स्वेदादि इसी कोटि के द्रव्य हैं। स्त्री का ऋतुकालगत रज भी इसी प्रवर्ग्यभाव से अशुचि है। चेतना-सत्त्व-शरीर, तीनों की समष्टिलक्षण अध्यात्मसंस्था के लिए ये सभी मल अशुचिभाव के कारण बनते हैं। अवश्य ही आत्मा से परित्यक्त मलभाग कथमपि आत्मा के लिए हितकर नहीं माने जा सकते। जिस प्रकार मूत्रपुरीषादि की विनिर्गमदशा में शरीर अशुचिभावापन्न रहता है, एवमेव ये मल भी विनिर्गमदशा में अवश्यमेव शरीराशुचि के प्रवर्तक बने रहते हैं। इस मलावस्थापन्न शरीर के स्पर्श से स्पर्शकर्त्ता में अवश्य ही इस मलाशुचि का संक्रमण हो जाता है। किम मलाशुचि के स्पर्शद्वारा स्पर्शकर्त्ता में कैसा-कहाँ-कितना-कवतक-क्या प्रभाव होता है ?, इनकी विशुद्धि के क्या उपाय हैं ?, इत्यादि प्रश्न निबन्धमन्थों में विस्तार से समाहित हैं।

मूत्र-पुरीष-कफ-आदि के संसर्ग में यदि तद्गत कीटाणुओं का शरीर में संक्रान्त हो जाना वर्तमान विज्ञान के लिए इष्टापत्ति है, यदि एक डाक्टर साधारण से फोड़े का ऑपरेशन कर संसर्ग-दोष से बचने के लिए अपना अग्रगण्य समय साबुन से हाथ धोने में खर्च करना आवश्यक समझता है, तो अवश्य ही इन वैज्ञानिकों को यह मान लेने में सम्भवतः कोई आपत्ति न होगी कि, स्त्री के दुग्धरज से युक्त उसका शरीर, एवं अन्याय धातुमलों से युक्त शरीर भी अवश्य ही अस्पृश्य है। अवश्य-मेव जन्मगत आसुर प्राणगत अशुचिभाव से युक्त असच्छद्मवर्ग का शरीर अस्पृश्य है। इसी सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण और कर लीजिए कि-कितने एक कीटाणुओं का संसर्गदोष हाथ धोने मात्र से नष्ट हो जाता है, कितने एक संसर्गदोष टिम्बर-आदि सुतीक्ष्ण द्रव्यों के सम्बन्ध से नष्ट हो जाते हैं। एवं उपदेश, राज्यधर्मा, आदि कितने एक कीटाणुओं का संसर्गदोष चिरकालिक, किंवा याव-ज्जीवन के लिए प्रतिष्ठित हो जाता है। यही परिस्थिति यहाँ समझिए। कितने एक मलों की अशुचि सद्यःस्थानादि से निवृत्त हो जाती है, कितने एक अशुचिभाव कुछ दिनों पर्यन्त नियमतः रहते हैं, एवं अवधि समप्त हो जाने पर वे स्वतः निवृत्त हो जाते हैं। जनन-मरणाशौच इसी लिए कालायुष्य दोष माने गए हैं। एवं कितने एक अशुचिभाव ऐसे हैं, जिनका यावज्जीवन सम्बन्ध बना रहता है। जिन अशुचिभावों का धीर्य के साथ अन्तर्व्याप्त सम्बन्ध रहता है, वे जीवन पर्यन्त अशुचि हैं। शूद्रादि की अस्पृश्यता इसी अन्तर्व्याप्त सम्बन्ध पर प्रतिष्ठित है। मलसंसर्गानुबन्धी इसी तारतम्य के आधार पर मलिन कर्मों के मलिनीकरण, संकरीकरण, जातिभ्रंशकर, महापातक, पातक, उपपातक आदि अनेक अयान्तर विवर्त्त माने गए हैं। रजःस्वला स्त्री का स्पर्श, शूद्रादि का स्पर्श, इत्यादि अशुचिभावों को ही हम 'दोषाशौच' कहेंगे, जिसका प्रधानतः 'एनांदोष' में अन्तर्भाव है। साथ ही इस दोषाशौच को सर्वथा गौण माना जायगा, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है।

(१) अब उस जन्माशौच की भीमांसा कीजिए, जिसके स्पष्टीकरण के लिए ही आशीचस्वरूप प्रदर्शन के साथ साथ मलिना स्त्री के मलिन रज की अब तक भीमांसा की गई है। शुक्रशोणित के सम्बन्ध से सम्पन्न, तद्गत विशेषतः अशुचिभावापन्नरजोदुग्ध से अशुचिभावापन्न गर्भ को कलल-डिम्ब-गर्भादि अनेक अवस्था मानी गई हैं। द्रवभावापन्न गर्भ कलल है, आंशिकरूप से घनावस्थापन्न गर्भ डिम्ब है। डिम्भावस्थापर्यन्त शुक्रशोणित के मिश्रणात्मक इस गर्भ में चेतनालक्षण औपपातिक आत्मा का समावेश नहीं होता। जब गर्भ कुक्षिगत होता है, तभी इसमें जीव का संयोग होता है, एवं तभी इसकी वस्तुतः गर्भसंज्ञा होती है। कलल, किंवा डिम्ब यदि प्रत्यापातादि किसी कारण विशेष से शनैः शनैः विघटित होने लगता है, तो इस स्थिति को डिम्बपान कहा जाता है। इस डिम्भादि स्त्रावपात से स्त्री अतिशय रूप से अशुचिभावापन्ना बन जाती है। साथ ही इस स्त्री का यह अशुचिभाव उसी सम्बन्धसूत्रद्वारा पति-आदि में व्याप्त हो जाता है। यही गौणात्मक प्रथम जन्माशौच है। कलल-डिम्भादि का स्त्राव-पात न हुआ। गर्भपुष्टि प्रक्रान्त रही। कुक्षिगतावस्था में औपपातिक आत्मप्रवेश से

इस की गर्भसंज्ञा हो गई। पूर्ण परिपुष्टि से पहिले ही किसी दोषविशेष से शनैः शनैः गर्भविलसन होने लगा, यही स्थिति 'गर्भस्राव' है। एक ही समय में गर्भविच्युति हो गई, यही स्थिति 'गर्भपात' है। गर्भावस्थापत्र अपत्य पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश, इन पाँच भूतविकारात्मक भूतधातुओं से, तथा चेतना नामक ६ ठे धातु से युक्त होता हुआ पट्टधातुलक्षण बना रहता है। गर्भस्राव, किंवा गर्भपात से इसकी चेतना उत्क्रान्त हो जाती है, चेतनोत्क्रान्ति से पाञ्चभौतिक शरीर अशुचिभावापन्न हो जाता है। इस अशुचि से स्त्री, एवं तत्सम्बन्धी उसी सम्बन्धसूत्र से अशुचिभावापन्न हो जाते हैं। यही गौणभावापन्न मध्यम जन्माशीच है।

न तो हिम्भादि का स्राव-पात हुआ, नाहीं गर्भ का स्राव-पात हुआ। गर्भ क्रमशः पुष्ट होता गया। दशमास में पूर्णावयव बन कर 'एवंयामस्तु' नामक वायुविशेष (गर्भवायु) के प्रत्यापात से यह नियत समय पर भूमिष्ठ हुआ। इसी स्थिति के लिए 'गर्भप्रसव' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक गर्भ गर्भाशय में प्रतिष्ठित रहता है, तब तक नाड़ी (नाल) द्वारा गर्भिणी से भुक्त अन्न रस से उसकी पुष्ट होती रहती है। प्रसवान्तर नालच्छेद कर दिया जाता है। इस नालच्छेद से दोनों का सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। यही प्राणी का मुख्य जन्मकाल है। दूसरे शब्दों में नालच्छेद से जातक (उत्पन्न शिशु) का मूती (माता) के शरीराभि से पार्थक्य हो जाता है। इस अन्योन्यसम्बन्ध परित्याग से इस अशुचि का सूतिका में, जातक में, एवं सम्बन्धसूत्र द्वारा समसम्बन्धियों में संक्रमण हो जाता है। यही मुख्य-भावापन्न तीसरा मुख्य जन्माशीच है, जिसकी मूलप्रतिष्ठा स्त्री का मलिन-रज ही बनता है।

(२) यही स्थिति मरणनिमित्तक दूसरे शावशरीर की समक्षिण। पाञ्चभौतिक शरीर से प्राण आयुर्भागान्तर पाञ्चभौतिक शरीर को जिस समय महानयुक्त कर्मात्मा छोड़ देता है, उस समय शरीर वैश्वानर अग्नि से इस उत्क्रान्त आत्मा का, आत्मा से शरीर अग्नि का विच्छेद हो जाता है। जीवन-दशा में इसमें अन्नयज्ञ होता रहता है, इसी अन्नयज्ञ से उभयाग्निसम्बन्धलक्षण (आत्मशरीरसम्बन्धलक्षण) शुद्धिभाव सुरक्षित रहता है। ब्रह्मणस्पति जैसे पवित्र सोम के सम्बन्ध से यह ७ तत्पतनू (आत्मयुक्त शरीर) पवित्र रहता है, परमपूता ज्ञानधारा प्रवाहित रहती है। परन्तु आत्मोत्क्रान्ति के सहकाल में ही शरीर आत्मपावन बन्धों से परित्रित होता हुआ शक्तिशून्य शवावस्था में परिणत हो जाता है। यह शवशरीर आत्यन्तिकरूप से वारुण बनता हुआ पूतिभावापन्न है, अशुचिभावापन्न है। इसके सम्पर्क से निष्क्रान्त भूतात्मा भी अवश्यमेव अशुचिभावापन्न हो जाता है। उत्क्रान्त प्रेतात्मा के महानभाग से सम्बद्ध यन्त्रयायत् सपिण्ड वंशजों में भी उसी अस्त्रासूत्र द्वारा यह अशुचिभाव संक्रान्त हो जाता है।

\*—“पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येपि विशतः।

अतप्ततनूर्न तदामो समश्नुते भूतास इदहन्तस्तत्समाशन” (श्रुक् सं ०६=३।१।)।



अपनी मूलप्रतिष्ठा बनाने वाले मरणाशीच ( शावाशीच ) का, दोनों का प्रधानतः महानात्मा से सम्बन्ध है। इसी महत्पिण्ड के कारण श्रद्धासूत्र-द्वारा ये दोनों अघाशीच जातक, मृतक के सपिण्डवंशजों में संक्रान्त हो जाता है। तीसरे क्रियाशीच के दो विधर्त्त हैं। जो सपिण्डबन्धु शवबहन-दहनादि में सहयोग देते हुए क्रियाशीच से युक्त होते हैं, उनमें तो यह क्रियाशीच उसी समश्रद्धासूत्र-द्वारा महानात्मा में ही प्रतिष्ठित रहता है। एवं ऐसे श्रद्धासूत्रानुगत ( सपिण्डों के ) क्रियाशीच का मरणाशीच में ही अन्तर्भाव है। इनके अतिरिक्त जो समीपवर्त्ती जातिबन्धु शवबहन-दहनादि में प्रवृत्त होते हैं, उनमें क्रियाशीच का सम्बन्ध होता अवश्य है। परन्तु यह सम्बन्ध महानात्मा के साथ न हो कर प्राज्ञात्मा के साथ ही होता है। एतेदोषवत् यह क्रियाशीचदोष प्रज्ञानुगत ही बनता है। फलतः महानात्मा, एवं तदनुगत श्रद्धासूत्र के अभाव से प्राज्ञानुगत इस क्रियाशीच का फल व्यक्तितन्त्र पर ही अवसान हो जाता है।

जननाशीचयुक्त, मरणाशीचयुक्त, तथा क्रियाशीचयुक्त व्यक्तियों की शरीरसंस्था भी अशुचिभावा-क्रान्त होता है। अतएव जो इन से संसर्ग करता है, उनका सत्त्वभाग भी इस स्पर्श के द्वारा इन्हें अघाशीच में परिणत कर देता है। १३२ के अतिरिक्त अघाशीचभावापन्न व्यक्तियों के साथ भोजनादि लक्षण इतर संसर्ग से भी संसर्गी अशुचिभावापन्न हो जाते हैं। यही चौथा अचलक्षण 'दोषाशीच' है। शवबहन-दहन, लक्षण क्रियाकलाप में सहयोग न देने वाले, किन्तु शवयात्रा में सहयोग देने वाले भी इसी चतुर्थ दोषाशीच से युक्त होते हैं। यह आशीच स्नान-देवदर्शनादि से विमुक्त हो जाता है। इसप्रकार चार निमित्तों के भेद से यह अघाशीच चार संस्थाओं में विभक्त हो जाता है।

- १—स्त्रीरजः सम्बन्धेन जन्माशीचप्रवृत्तिर्महदात्मनि—सपिण्डेषु-जननाशीच-वंशानुगतम्।
- २—शवशरीराशुचिसम्बन्धेन मरणाशीचप्रवृत्तिर्महदात्मनि—सपिण्डेषु-मरणाशीच-वंशानुगतम्।
- ३—बहनदहनादिकर्मभिरशुचिसम्बन्धः प्राप्ते आत्मनि—समसम्बन्धिषु-क्रियाशीच-वैयक्तिकम्।
- ४ शवयात्रादिसंसर्गैरशुचिसम्बन्धः-प्राप्ते-आत्मनि—ज्ञातिबन्धुषु-दोषाशीच-वैयक्तिकम्।

सम्बन्धक्षेत्रमीमांसा

प्रकृत परिच्छेद में विशेषरूप से यह विचार करना है कि, जनन, मरण, क्रिया, दोष, इन चार निमित्तों से उत्पन्न होने वाले आशीच का उद्भव होता है। इन चारों निमित्तों से उत्पन्न किसी भी व्यक्तिविशेष में, जो कि चारों निमित्तों में से किसी एक निमित्त की मीमा में युक्त हो रहा है, अघाशीच उत्पन्न होता है। उस विशेष व्यक्ति में यह अघाशीच कालाप्य-मर्यादा में प्रतिष्ठित होता हुआ अन्य व्यक्तियों में भी संक्रान्त हो जाता है। उदाहरण के लिए पिता की मृत्यु पर पुत्र में आशीच उत्पन्न हो जाता है। पुत्र ही इस आशीच का विशेष पात्र है। पुत्र के द्वारा इस आशीच का पौत्र-भ्राता-भ्रातृव्यादि अन्य सपिण्ड-व्यक्तियों में यह संक्रान्त हो जाता है। एवमेव पुत्रोत्पत्ति पर मंत्री के रज में तथा पुरण (पति) के शुक्र में आशीच उत्पन्न हो जाता है। वद्वारा अन्य सपिण्डों में संक्रान्त हो जाता

है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि, व्यक्तिविरोध में उत्पन्न यह आघातीच मनुष्यता-  
नुगत व्यक्तिभाव से सम्बन्ध रखता है?, अथवा इसके संक्रमण के कोई नियत द्वार हैं। दूसरे शब्दों  
में इस आघातीच का संक्रमण यथेच्छ-अमर्यादारूप से मनुष्यमात्र से होता है?, अथवा तो इसके  
संक्रमण के लिए विरोध मनुष्य ही (विरोध निमित्तों से, विरोध सम्बन्ध से) पात्र बनते हैं?।  
इन प्रश्नों की मीमांसा ही सम्बन्ध-सूत्रमीमांसा है।

वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में अपना यह निर्णय प्रकट किया है कि, व्यक्तिविरोध से अन्य  
व्यक्तियों में संक्रान्त होने वाले इस आघातीच के लिए व्यक्तिविरोध, तथा जिनमें आघातीच संक्रमण  
होने वाला है, उन व्यक्तियों में परस्पर कोई सम्बन्धसूत्र प्रतिष्ठित रहता है। जिन व्यक्तियों का इस  
विरोध व्यक्ति के साथ सम्बन्ध-सूत्र सुरक्षित है, वे सूत्रसम्बन्धी ही इस आघातीच के पात्र बनते हैं।  
सूत्रात्मक वह सम्बन्ध "योनि, विद्या, यज्ञ, संसर्ग," इन चार द्वारों की अपेक्षा रखता है। योनिभूत  
सम्बन्ध, विद्याभूत सम्बन्ध, यज्ञभूत सम्बन्ध, संसर्गभूत सम्बन्ध, ये चार सम्बन्ध ही इस आघातीच  
संक्रमण के प्रधान द्वार बनते हैं। जिन व्यक्तियों का परस्पर जन्मानुगत योनिगत (सापिण्ड्य-) सम्बन्ध  
है, जिन व्यक्तियों का परस्पर अध्ययनाध्यापनलक्षण विद्यासम्बन्ध है, जिन व्यक्तियों का परस्पर  
यजनयाजनात्मक यज्ञसम्बन्ध है, एवं जिन व्यक्तियों का जननारातीचयुक्त व्यक्तियों के साथ, तथा  
मरणारातीचयुक्त व्यक्तियों के साथ संसर्ग सम्बन्ध है, वे ही इस सम्बन्धसूत्र के द्वारा आघातीच के पात्र  
बनते हैं। एवं इन योनि-विद्यादि चारों द्वारों से सम्बन्ध रखने वाले भव्यादित, सम्बन्ध सूत्रों की  
मीमांसा ही प्रकृत परिच्छेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। चारों में से कमप्राप्त योनिभूत प्रथम  
सम्बन्धसूत्र की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। प्रस्तुत परिच्छेद में सम्बन्धसूत्र के  
स्पष्टीकरण के लिए जिन सापिण्ड्यभागों का, जिन वंशधितानों का दिग्दर्शन कराया जाने वाला  
है, अथवा ही सुरुचिपूर्ण पाठकों के लिए यद्यपि यह एक नीरस विषय होगा। तथापि विषयसमन्वय  
की दृष्टि से प्रस्तुत होने वाले इस नीरस विषय के सम्बन्ध में यह कहना पड़ेगा कि, विद्याहावि-  
सम्बन्धों के सम्बन्ध में इस सम्बन्धसूत्र के अपरिज्ञान से आज जो अनर्थ हो रहे हैं, जिस  
सूत्रविज्ञान की विलुप्ति से जिस प्रकार आर्यप्रजा विद्याहादि सम्बन्धों को केवल सामाजिक अनुबन्ध  
मानने की भूल करती हुई, वर्णसंस्कारभावप्रवर्तक 'अन्तर्जातीय विद्याहा' जैसी घातक, मूलोच्छेदक  
प्रथाओं का अनुगमन करती हुई अपना सर्वस्व नष्ट कर रही है, उन भ्रान्त पथिकों की भ्रान्ति के निरा-  
करण के लिए अवश्य ही प्रस्तुत विषय उपादेय होगा। एकमात्र इसी लक्ष्य से विशुद्ध श्रेयोभावात्मक  
(हितकर) प्रयोमायविरहित (रुचिविरहित) इस नीरस भी विषय का दिग्दर्शन कराना आवश्यक  
ममता गया है।

### (१)-योनिभूतसम्बन्धसूत्राणि—

सुप्रसिद्ध गोत्र-सम्बन्ध ही योनिमूलक सम्बन्ध सूत्र की मूल प्रतिष्ठा माना गया है। दूसरे  
शब्दों में गोत्रसम्बन्ध ही योनि-सम्बन्ध है। किसी भी एक पुरुष को मूल मान कर उस से सन्ततिप्रा

की जो प्रवृत्ति होती है, वही गोत्रसम्बन्ध है । उस मूलपुरुषात्मक एक पुरुष के गोत्र में विभक्त समान शाखीय, तथा भिन्न शाखीय गोत्रसम्बन्धियों में जो पारस्परिक सम्बन्ध रहता है, वही-‘योनिकृत सम्बन्ध’ कहलाया है । जिस पुरुष को मूल मान कर जिस गोत्रपरम्परा की गणना की जाती है, उस गोत्रपरम्परा में वही मूलपुरुष ‘कुटस्थ’ पुरुष कहलाया है । ‘बीजी-‘गोत्री’-‘मूलपुरुष’ ‘कुटस्थ’ इत्यादि शब्द गोत्रपरम्पराप्रवर्तक पुरुष के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं । गोत्रानुगत इस योनिभाव की प्रतिष्ठा शुक्रस्थित महानात्मा माना गया है । महानात्मा में प्रतिष्ठित ‘सहस्रि’ नामक पितृभाग ही गोत्रानुगता सन्ततिपरम्परा के प्रवर्तक बनते हैं । ऋण-धनात्मक अपत्य, गनुभाव से सन्ततिपरम्परा में वित्त पितृसूत्र ही गोत्रात्मक, एवं योनिकृत सम्बन्धसूत्र हैं । इस सम्बन्धसूत्र की व्याप्ति कहाँ तक, किस सन्तति पर्यन्त है ? जहाँ तक सन्तति का वितान है, क्या वहाँ तक आशांच सम्बन्ध संक्रान्त होता है ?, इत्यादि प्रश्न उपस्थित होते हैं । इन सब प्रश्नों का निम्न लिखित प्रश्न रूप से उत्थान कर समन्वय किया जा सकता है ।

“महदात्मानुगत सापिण्ड्यभाव अनुराय रूप से किस सन्तति पर्यन्त व्याप्त रहता है” ?, इस प्रश्न का व्यावहारिक उत्तर यद्यपि ‘सप्त-सन्तति परम्परा’ को लक्ष्य बना कर दिया जाता है । अधिकसे अधिक ७-सपिण्ड पितर, ७-सोदकपितर, ७-सगोत्रपितर, इस प्रकार २१ वीं परम्परा को अन्तिम सीमा माना जा सकता है, जैसा कि ‘प्रजातानुवितानविज्ञानोपनिषत्’ के सपिण्ड-सोदक-सगोत्र नामक पितृसप्तकों के निर्वचन में स्पष्ट कर दिया गया है । तथापि ‘बीजाङ्कुरन्याय’ से सम्बन्ध रखने वाले इस पितृप्राणपरम्परा के बीजविनान का जब विरोध किया जाता है, तो रात-सहस्र-लक्ष, ततोऽप्यधिक इस परम्परा की, व्याप्ति माननी पड़ती है । पितृप्राणपरम्परा के इसी अनन्त-वितान ने ‘कर्मशब्द’ का स्वरूप निष्पन्न होता है, जिस का विशद वैज्ञानिक विवेचन ‘आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्’ नामक स्वतन्त्र चतुर्थखण्ड में हुआ है ।

स्वल्पकाय बीजी मूलपुरुष के शुभ्रगत सौम्य महानात्मा में प्रतिष्ठित चतुरशीतिकल ( ८४ ) पितृसहोमूर्ति बीज अनन्त संख्या में, अनन्त वंशपरम्परा में कैसे विभक्त हो जाता है ?, स्वल्पमात्रा-विक्षिप्त बीज का विकास इस अनन्तमाय में कैसे परिणत हो जाता है ?, इत्यादि असमायेय अतीन्द्रिय प्रश्नों का उस समय भलीभाँति समाधान हो जाता है, जब कि हम एक सूक्ष्म वृक्षबीज की अनन्त भावापन्ना सन्ततिपरम्परा दृष्टि डालते हैं । अथर्व ( पिप्पल ) वृक्ष का बीज स्वल्पकाय है । तथापि जिसे बीज-कहना चाहिए, वह तो एकान्ततः सुसूक्ष्म अतृण्य इन्द्रियानीत बनता हुआ अणुभावापन्न ही है । दृष्ट बीज उस सूक्ष्म बीज का शरीर है, सुसूक्ष्म अदृष्ट बीज आत्मा है । आत्मबीज की उत्पादन शक्ति को आन्तरिक-बीजशक्तिविघातक-याम्य वायु के आघात से गढ़ी याह्य दृष्ट बीज बचाता है । जब बीज को भूगर्भ में न्युप्त कर दिया जाता है, साथ ही जलसेक आरम्भ होता है, तो कालान्तर में याह्य रक्षक दृष्ट जाता है, अन्तःस्थ बीज अद्रुति हो जाता है ।

मृत, आपः, सौर-चान्द्र-तेज, शिवबायु, आदि कारणसामग्रियों के सहयोग से यहीं अद्भुत कालान्तर में शाखा, प्रशाखा, पर्ण, फल, आदिरूप से विस्तार भाव में परिणत होता हुआ 'अश्वत्थवृक्ष' बन जाता है। पुरोऽवस्थित महात्म्यात्मक अश्वत्थवृक्ष उस सुसूक्ष्म अदृष्ट बीज का ही विस्तार है। एक बीज के महाविस्तारात्मक एक अश्वत्थवृक्ष में असंख्य फल (गूलर) हैं। प्रत्येक फल में असंख्य बीज हैं। प्रत्येक बीज स्वतन्त्र रूप से एक एक अश्वत्थ वृक्ष का जन्मदाता है। असंख्य फल, प्रत्येक फल में असंख्य बीज, प्रत्येक बीज का अद्वैतोत्पादकत्व, इस सब आनन्द्यभावों की मूल प्रतिष्ठा कौन ?, यही प्रारम्भिक-भूगर्भनिहित सुसूक्ष्म बीज। उन्नी मात्रा का विभाजन किम सुसूक्ष्म भाव से हुआ ?, सुसूक्ष्म मूलबीज की मात्रा को विस्तार कैसा आश्चर्यप्रद है ?, यही उम अणु, तथा महान् के आश्चर्यमय दर्शन हैं।

एक ओर आरम्भक उम सुसूक्ष्म अश्वत्थ बीज को रखिए, दूसरी ओर अनन्त विस्तारभाषण अश्वत्थवृक्ष को रखिए, ओर फिर दोनों का समतुलन कीजिए। इस समतुलन से आप को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, अणु महान् का प्रतिरूप है, तथा महान् अणु का प्रतिरूप है। जिस सुसूक्ष्म बीज को हम अणु समझते हैं, वही अपनी महिमा से 'महान्' बन रहा है। जिस महाविस्तार को हम महान् कहते हैं, अन्तर्जगत् की दृष्टि से वही अणु है। अवारपारीणा दृष्टि से वही तत्त्व अणोरणीयान् भी है, महतोमहीयान् भी है। अणु में पिण्ड भुक्त है, पिण्ड में अणु भुक्त है। 'यदेवेह' ही 'तदमुत्र' का समर्थक है, 'यदमुत्र' ही 'तदन्विह' का उपोदबलक है। 'अदः' भी पूर्ण है, 'इदं' भी पूर्ण है। 'पूर्णमदः' (बीज) से विनिःसृत 'इदं (विश्व)' भी पूर्ण ही है। यही आत्म-मन्तानवृत्त वैज्ञानिकों की परिभाषा में 'ब्रह्माश्वत्थ वृक्ष' कहलाया है।

ब्रह्माश्वत्थ वृक्ष ही पितृप्राणपरम्परात्मक कर्माश्वत्थवृक्ष की मूल प्रतिष्ठा है। दोनों समतुलित हैं। दोनों में अन्तर केवल यही है कि, ब्रह्माश्वत्थ आत्मा धर्मप्राधान्य से जहाँ शाश्वत है, यहाँ कर्माश्वत्थ विश्व कर्मप्राधान्य से अशाश्वत है। कर्माश्वत्थ की मूल प्रतिष्ठा मूलबीजात्मक मौम्यतत्त्व-इमी आनन्द्य प्रवृत्ति से 'महानात्मा' कहलाया है। जो तत्त्ववैत्ता ब्रह्माश्वत्थमूलभूत आत्मबीज से मातापिता करता हुआ महानात्ममूलक इम कर्माश्वत्थबीज का स्वरूप यथावत् जान लेता है, वह विमुक्तात्मा 'महान्तं-विमुक्तात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' इम औपनिषद-सिद्धान्त के अनुसार अचाशौचसंकमणमर्यादा से सर्वथा बहिर्भूत हो जाता है।

महानात्मानुगत उक्त आनन्द्यभावोपेक्षया बीजीपुरुष को लक्ष्य बना कर यद्यपि अनन्त-सन्ततिपरम्परा पर्यन्त समानोगोत्रज्यवहार किया जासकता है। तथापि प्रस्तुत अचाशौच-मर्यादा का अनुपावन वहाँ तत्त्व नहीं होता। मूलपुरुष से आरम्भ कर पूर्व की २६ वीं वीदी पर्यन्त ही अचा-

शौच की व्याप्ति स्वीकार करनी पड़ती है। कारण यही है कि संक्रामक सौम्य अद्वासूत्र २१ पर्यन्त ही यथाकथंचिन् सुरक्षित रहता है। इससे आगे सोमसम्बन्ध सर्वथा उत्क्रान्त हो जाता है, केवल असङ्ग प्राणसम्बन्ध शेष रह जाता है। 'यथाकथंचिन्' शब्द का प्रयोग इसलिए करना पड़ रहा है कि, २१ पर्यन्त व्याप्त रहने वाले सौम्य अद्वासूत्र में भी उत्तरोत्तर ह्रास है। उत्तरोत्तर क्षीयमाण सोममात्रा से सोममय अद्वासूत्र भी उत्तरोत्तर क्षीयमाण है। फलतः अद्वासूत्र के आधार पर संक्रमण करने वाला आशौच भी उत्तरोत्तर क्षीयमाण है। इसी तारतम्य से २१ पर्यन्त व्याप्त रहने वाला अपाशौच-निमित्तक गोत्रभाय मात मंथाओं में विभक्त हो जाता है।

मुख्य, गौण, सर्वथागौण, आशौचामास, रूप से इस आशौच को पहिले चार भागों में विभक्त कीजिए। १-वीजी मूलपुरुष, २-तत्पिता, ३-पितामह, ४-प्रपितामह, ५-वृद्धप्रपितामह, ६-अतिवृद्धप्रपितामह, ७-वृद्धातिवृद्धप्रपितामह, इन सात पुरुषों का एक स्वतन्त्र विभाग है। यही सप्त-पुरुषानुगत सापिण्ड्य है। यहाँ तक अद्वासूत्र सखल रहता है। अतएव तदनुगत (सापिण्ड्यपितरानुगत) आशौच मुख्य आशौच माना गया है। ८ वें परपुरुष से आरम्भ कर १४ वें परपुरुषपर्यन्त दूसरा सोदक पितृ-सप्तक है। यहाँ अद्वासूत्र निर्बल हो जाता है। अतएव सोदक पितरानुगत आशौच गौण माना गया है। १५ वें परपुरुष से आरम्भ कर २१ वें परपुरुषपर्यन्त तीसरा सगोत्रपितृसप्तक है। यहाँ अद्वासूत्र क्षीय-प्राय है। अतएव सगोत्रपितरानुगत आशौच सर्वथा गौण माना गया है। २२ वें से २४ पर्यन्त, इससे आगे यथेच्छ (नामस्मरण पर्यन्त) 'ज्ञाति' लक्षणा पितृपरम्परा है। यहाँ अद्वासूत्र की प्रतिच्छाद्यामात्र है। अतएव तदनुगत आशौच आशौचामास माना गया है। इस प्रकार अद्वातारतम्य से योनिकृत आशौच चार श्रेणियों में विभक्त हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

१—	(१)	बीजी	<p>सोदकाः-सगोत्राश्च वितरः ७</p> <p>गौणयायापकाः पितरः (सोदकागौचम्)</p>
२—	(२)	पिता	
३—	(३)	पितामहः	
४—	(४)	प्रपितामहः	
५—	(५)	पृद्धप्रपितामहः	
६—	(६)	अतिपृद्धप्रपितामहः	
७—	(७)	पृद्धातिपृद्धप्रपितामहः	

८—	(१)	<p>सोदकाः-सगोत्राश्च वितरः ७</p> <p>गौणयायापकाः पितरः (सोदकागौचम्)</p>
९—	(२)	
१०—	(३)	
११—	(४)	
१२—	(५)	
१३—	(६)	
१४—	(७)	

१५—	(१)	<p>सोदकाः-सगोत्राश्च वितरः ७</p> <p>गौणयायापकाः पितरः (सोदकागौचम्)</p>
१६—	(२)	
१७—	(३)	
१८—	(४)	
१९—	(५)	
२०—	(६)	
२१—	(७)	

२३

२३

२२

—गोत्राभामाः, आरौचाभामाः  
(स्मरणार्थम्)

उक्त विभागचतुष्टयी ही आगे जाकर सात संस्थाओं में विभक्त मान ली जाती है। आरम्भ की त्रयी के दो दो विवर्त्त, चतुर्थ एकाकी, मध्यम सात गोत्रसंस्था हो जाती हैं। धोजी, पिता, पितामह, इन तीन सपिण्डों में अतिशयरूप से अद्वासूत्र प्रबल है। अतएव इन तीनों का 'सन्निहितसपिण्ड' लक्षण सन्निकृष्टतम (नजदीक से नजदीक) रूप पहिला विभाग मान लिया जाता है। प्र० वृ० अ० वृद्धाति०, इन चार सपिण्डों में सामान्य रूप से अद्वासूत्र प्रबल है। अतएव इन चारों का 'सपिण्ड' लक्षण सन्निकृष्टतर (बहुत समीप) रूप दूसरा विभाग मान लिया जाता है। इस प्रकार प्रबलश्रद्धासूत्रानुगत सात पुरुषों के अतिशय, सामान्य भेद से ३-४ भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। एवमेव सोदक सप्तक के भी इसी अद्वातारतन्त्र से ३-४ भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। ८ से १० पर्यन्त सकुल्यलक्षण सन्निकृष्ट (समीप) रूप प्रथम विभाग है, ११ से १४ पर्यन्त सोदकलक्षण मध्यमरूप द्वितीय विभाग है। एवमेव सगोत्रसप्तक के भी ३-४ भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। १५ से १७ पर्यन्त सन्निहितसगोत्रलक्षण विप्रकृष्ट (दूर) रूप प्रथम विभाग है, १८ से २१ पर्यन्त सगोत्रलक्षण विप्रकृष्टतर (बहुत दूर) रूप द्वितीय विभाग है। २२ से २४ पर्यन्त का विभाग विप्रकृष्टतम है। परिलेख से सातों संस्थाओं का स्पष्टीकरण हो रहा है।

सपिण्डधाराचम	{ १-१-त्रिपुरुषं यावन्	सन्निहितसपिण्डः	स सन्निकृष्टतमः	{ ३ }	७-७
	२-२-सप्तपुरुषं यावन्	सपिण्डः	स सन्निकृष्टतरः	{ ४ }	
सोदकाचारचम	{ ३-१-दशपुरुषं यावन्	सकुल्यः	स सन्निकृष्टः	{ ३ }	७-१४
	४-२-चतुर्दशपुरुषं यावन्	सोदकः	स मध्यमः	{ ४ }	
सगोत्राचारचम	{ ५-१-सप्तदशपुरुषं यावन्	सन्निहितसगोत्रः	स विप्रकृष्टः	{ ३ }	७-२१
	६-२-एकविंशपुरुषं यावन्	सगोत्रः	स विप्रकृष्टतरः	{ ४ }	
७-७-चतुर्विंशपुरुषं यावन्-तदर्थं च	ज्ञातिः		स विप्रकृष्टतमः	{ ३ }	३-२४

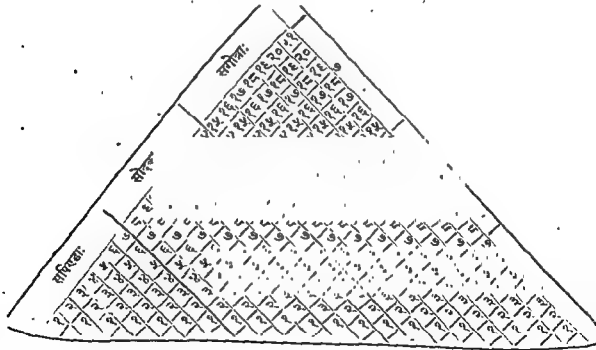
अपने पूर्व पुरुषों के जन्मनाम के स्मरण, तथा अस्मरण में भी आशौचसम्बन्ध में तारतम्य हो जाता है। 'नाम' वादम्य है। वाक्-सूत्र ही यस्तुतत्त्व का आत्मजगन् के साथ सम्बन्ध कराने में समर्थ है। इसी आधार पर वाक् को प्रह माना गया है (देखिए शत० ४।५।३।१।)। इसी आधार

पर धर्मशास्त्र ने यह व्यवस्था की है कि, जहाँ तक जन्मनाम स्मरण है, वहाँ तक तो 'सोदक' व्यवहार होता है। एवं नाम स्मरणभाव में सगोत्र व्यवहार होता है। जैसा कि निम्नलिखित वचन से प्रमाणित है—

समानोदकभावस्तु निवर्त्तेताचतुर्दशात् ।  
जन्मनाम्नोः स्मृतेरेके तत्परं गोत्रमुच्यते ॥

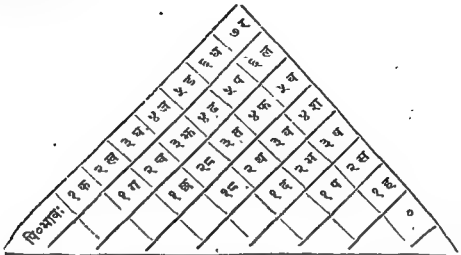
उक्त चार विभागों में से हमारे इस आशौच प्रकरण में सपिण्डसप्तक, सोदकसप्तक, सगोत्र-सप्तक, ये तीन विभाग ही ग्राह्य हैं। सपिण्ड-सनाभि, दोनों शब्द, सोदक-समानोदक शब्द, तथा सगोत्र-सगोत्रज शब्द समानार्थक हैं। इन तीनों सप्तकों का जिसके साथ जैसा सम्बन्ध है, वह निम्न-लिखित गोत्र, सापिण्ड्यमेरुपरिलेखों से स्पष्ट हो रहा है—

गोत्रमेरुपरिलेखः—





# सपिण्डमेरुपरिलेखः—



गोत्रमेरु, तथा सपिण्डमेरु की मूलप्रतिष्ठारूप इस योनिसम्बन्ध के मुख्य, आरोपित, सामान्य, भेद से तीन विवर्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति जिस किसी भी गोत्र में उत्पन्न होकर यावज्जीवन उसी गोत्र में प्रतिष्ठित रहते हैं, ऐसे सगोत्रियों का जो पारम्परिक योनिकृत सम्बन्ध है, वह मुख्य माना गया है। सहोदर भ्राताओं का, भगिनियों का साक्षात्तरूपेण योनिसम्बन्ध है, एवं पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रादि का परस्पर परम्परया योनिसम्बन्ध है। यह उभयविध सम्बन्ध (तद्गोत्र में ही अवस्थित रहने पर मुख्य-योनिसम्बन्ध माना जायगा।

दूसरा आरोपित योनिसम्बन्ध है। इसके सगोत्रीकरण, विगोत्रीकरण, विगोत्रसापिण्ड्य, भेद से अथान्तर तीन विवर्त हैं। वसिष्ठगोत्री किसी पुरुष के मन्तान नहीं है। यह किसी भारद्वाज गोत्री के पुत्र का दत्तकसंस्कार रूप से ग्रहण करता है। इस संस्कार द्वारा दत्तक पुत्र स्वगोत्र (भारद्वाज) से च्युत होता हुआ परगोत्रानुवर्त्ती (वसिष्ठगोत्रानुवर्त्ती) बन जाता है। इस प्रकार परगोत्री का जो अपने गोत्र के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है, वह 'सगोत्रीकरण' लक्षण आरोपित योनिसम्बन्ध माना गया है। परगोत्रात्मक परकुल से आगत पत्नियों की पितृगोत्र से विच्युति, तथा श्वशुरगोत्र से सम्बन्ध हो जाता है। यह विवाहसंस्कार का माहात्म्य है। एवं इसे भी सगोत्रीकरणलक्षण आरोपित योनिसम्बन्ध का ही उदाहरण माना गया है।

इसी सम्बन्ध का विपरीत दिशा से विचार कीजिए। अपने गोत्र में उत्पन्न पुत्र को अन्य विगोत्री का दत्तक बना डाला, अपने गोत्र में उत्पन्न कन्या का अन्य विगोत्री के पुत्र के साथ विवाह कर डाला। दोनों इस स्वस्यत्वनिवृत्ति, परस्वत्त्वस्थापनलक्षण दानसम्बन्ध से दानदाता के गोत्र से च्युत होते हुए प्रहीता के गोत्र से युक्त हो गए। इस दाता, तथा प्रहीता का जो परम्पर सम्बन्ध होगा, वही

विगोत्रीकरणलक्षण आरोपित योनिस्म्यन्ध कहलाएगा। दूधक पुत्रों का, परीणोता कन्याओं का मही-  
ताओं के साथ सगोत्रीकरण सम्बन्ध है, एवं दाता के साथ विगोत्रीकरण सम्बन्ध है, यही तात्पर्य है।

भिन्नगोत्रियों के साथ जो सापिण्ड्य सम्बन्ध है, यही तीसरा विगोत्रसापिण्ड्यलक्षण आरोपित  
योनिस्म्यन्ध है। अपने वन्धुपान्धव, माता के वन्धुपान्धव, पिता के वन्धुपान्धव, इत्यादि के साथ  
जो सापिण्ड्य (योनि) सम्बन्ध है, वह विगोत्र सम्बन्ध माना गया है। इस प्रकार दूसरे मध्यस्थ  
आरोपित योनिस्म्यन्ध के अवान्तर तीन विधर्त हो जाते हैं।

तीसरा योनिस्म्यन्ध सामान्य कोटि में अन्तर्भूत है। भ्राता के पुत्रों के साथ, भ्राता की  
पत्नियों के साथ, जामाता, भ्रातृ, जामातृभ्राता, भ्रातृभ्राता, आदि के साथ इसी तीसरे  
सामान्य योनिस्म्यन्ध का सम्बन्ध है। प्रसङ्गपर उपात्त इस योनिस्म्यन्ध में से मुख्य योनिस्म्यन्ध  
ही आरोपित मर्यादा में संग्राह्य है। उपरिदृष्टालक्षण सापिण्ड्य सम्बन्ध ही अपारोच-संग्रहण का  
प्रधान निमित्त है।

योनिद्वय सम्बन्धसूत्र के प्रसङ्ग में गोत्रमेव, सापिण्ड्यमेव, से सम्बन्ध रखने वाली  
सन्तानपरम्परा का दिग्दर्शन करते हुए अन्त में यह मित्र किया गया कि, मुख्य, आरोपित,  
सामान्य, इन तीन योनिस्म्यन्धों में से सापिण्ड्यमाधानुगत मुख्य योनिस्म्यन्ध ही आरोपितसम्बन्ध  
में प्रधानरूप से ग्राह्य है। क्योंकि अपारोच-संग्रहण में सापिण्ड्यलक्षण योनिस्म्यन्ध ही ग्राह्य है,  
अतएव प्रसङ्गत आवश्यक हो जाता है कि, संक्षेप से सापिण्ड्यभाव की भी सीमांसा कर दी जाय।  
पक्षि पूर्व में 'प्रजातन्तुवितानविघ्नानोपनिषत्' नामक अवान्तर प्रकरण में सापिण्ड्यभाव का  
वैज्ञानिक विश्लेषण किया जा चुका है। तथापि अपारोच-मर्यादा से सम्बन्ध रखने वाली  
सपिण्ड्यता, साथ ही विवाह, तथा दायभाग से सम्बन्ध रखने वाला सापिण्ड्य उस प्रकरण से  
अगतार्थ है। अतएव यहाँ भी उसका एक विशेष दृष्टिकोण से सम्बन्ध करना आवश्यक मान  
लिया गया है।

शुद्धगत महानात्मा में प्रतिष्ठित अनुरागीतिकल पितृपिण्डों के वितान से सात पुरुष  
परम्परा में व्याप्त रहने वाला 'सापिण्ड्य' तत्त्वतः एक ही प्रकार का है। विवाह, दाय, तथा  
आरोच, इस-सापिण्ड्य के स्वरूपनिर्माता, किंवा निमित्त नहीं हैं। पितृसहांसि का वितान ही  
इस का प्रधान निमित्त है। एवं इस एक निमित्त से यद्यपि सापिण्ड्य एक ही प्रकार का है। तथापि  
विवाह, दाय, आरोच, इन आगन्तुक भावों के सम्बन्ध से तत्त्वतः एकरूप रहने वाला भी सापिण्ड्य  
'विवाहसापिण्ड्य, दायसापिण्ड्य, आरोचसापिण्ड्य' भेद से तीन प्रकार का मान लिया जाता है।  
सपिण्ड्यों में से जिन सपिण्ड्यों का विवाह सम्बन्ध में निषेध है, तदनुगत सापिण्ड्य ही विवाह-  
सापिण्ड्य है। जिन सपिण्ड्यों के लिए दायभाग नियत हुआ है, तदनुगत सापिण्ड्य ही दायसापिण्ड्य

है। एवं जिन सापिण्डों में परस्पर आशौच सम्बन्ध होता है, तदनुगत सापिण्ड्य ही आशौचसापिण्ड्य है। यदि विवाहप्रतिषेध, दायभागित्व, तथा अघाशौचभागित्व, सब सापिण्डों में समान ही होता, तब तो सापिण्ड्य के इन तीन विभागों की कोई आवश्यकता न थी। परन्तु देखते हैं—तीनों में कुछ विशेषता है, निमित्तभेद है। इसी आधार पर एक भी सापिण्ड्य तीन भागों में विभक्त हो जाता है। तीनों में से क्रमप्राप्त सर्वप्रथम विवाहसापिण्ड्य की ओर ही विद्य पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है—

### (क)—विवाहसापिण्ड्यम्

मगोत्रसापिण्ड्य, विगोत्रसापिण्ड्य, माधारणसापिण्ड्य, भेद से यह सापिण्ड्य तीन श्रेणियों में विभक्त है। जिसे मूल मान कर इस विवाहसापिण्ड्य की मीमांसा की जायगी, वह परिभाषानुसार 'बीजी' कहलाएगा। पुत्रसन्तान, कन्यासन्तान, भेद से इस बीजी पिता से दो—सन्तान धारण प्रवाहित होती हैं। इन दोनों में से पुत्रपक्ष में सात पुरुषों को लक्ष्य बना कर, तथा कन्यापक्ष में पाँच पुरुषों को लक्ष्य बना कर सापिण्ड्यसम्बन्ध प्रवाहित माना गया है।

जिस पुत्र का विवाह सम्बन्ध अपेक्षित है, वह संज्ञातः 'वर' कहलाया है। यही 'वर' पुत्र प्रथम—कूटस्थ पुरुष है। इस कूटस्थ पुरुष से आरम्भ कर सातवीं संस्थापर्यन्त क्रमशः १, २, ४, ८, १६, इतने पितृद्वन्द्व प्रतिष्ठित मानें गए हैं। इन पितृद्वन्द्वों तक विवाहसापिण्ड्य की व्याप्ति रहनी है। अतएव इतने सापिण्ड्य विवाहसम्बन्ध में वर्ज्य मानें गए हैं। यदि इनके अग्रान्तर द्वन्द्वों का संकलन किया जाता है, तो ६३ पितृद्वन्द्व हो जाते हैं। एवमेव मातृपक्ष में पञ्चमस्थान पर्यन्त इम सापिण्ड्य की व्याप्ति रहती है, जिस में १५ अपत्यद्वन्द्व प्रतिष्ठित हैं। निम्न लिखित तालिकाओं, तथा परिलेखों से इस विलुप्तप्राय विवाहसापिण्ड्य का यथाकथञ्चिन् स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

प्रतिस्थानं द्वन्द्वसंख्या	वरसम्बन्धिनः सप्त स्थानाः	जनकद्वन्द्वा- नांसमण्डि- संख्या	प्रतिजनक- द्वन्द्वं जन्य- द्वन्द्वसंख्या	जग्यद्वन्द्वा- नांसमण्डि- संख्या
प्रथमस्थाने	वरः केवलः	७	७	७
द्वितीयस्थाने द्वन्द्वमेकम्	वरस्य पितरौ	१	६३	६३
तृतीयस्थाने द्वन्द्वमेकम्	१-पितामही	२	६३	१२६
चतुर्थस्थाने द्वे द्वन्द्वे	१-प्रपितामही	३	६३	१८९
	२-पितृपितामही	४	६३	२५२
पञ्चमस्थाने चत्वारि द्वन्द्वानि	१-वृद्धप्रपितामही	५	६३	३१५
	२-पितामहमातामही	६	६३	३७८
	३-पितृप्रमातामही	७	६३	४४१
	४-पितामहीमातामही	८	६३	५०४
ययुस्थानेऽष्टौ द्वन्द्वानि	१-अतिवृद्धप्रपितामही	९	६३	५६७
	२-प्रपितामहमातामही	१०	६३	६३०
	३-पितामहप्रमातामही	११	६३	६९३
	४-प्रपितामहीमातामही	१२	६३	७५६
	५-पितृवृद्धप्रमातामही	१३	६३	८१९
सप्तमस्थाने षोडश द्वन्द्वानि	६-पितृमातामहप्रमातामही	१४	६३	८८२
	७-पितामहीप्रमातामही	१५	६३	९४५
	८-पितामहीमातृमातामही	१६	६३	१००८
	१-परमातृवृद्धप्रपितामही	१७	६३	१०७१
	२-वृद्धप्रपितामहमातामही	१८	६३	११३४
	३-प्रपितामहप्रमातामही	१९	६३	११९७
	४-वृद्धप्रपितामहीमातामही	२०	६३	१२६०
	५-प्रपितामहीप्रपितामही	२१	६३	१३२३
	६-प्रपितामहीपितृमातामही	२२	६३	१३८६
	७-प्रपितामहीप्रमातामही	२३	६३	१४४९
	८-प्रपितामहीमातृमातामही	२४	६३	१५१२
	९-पितामहीवृद्धप्रपितामही	२५	६३	१५७५
	१०-पितृप्रमातामहमातामही	२६	६३	१६३८
	११-पितृमातामहप्रमातामही	२७	६३	१७०१
	१२-पितृमातामहमातृमातामही	२८	६३	१७६४
	१३-पितामहीवृद्धप्रमातामही	२९	६३	१८२७
	१४-पितामहीमातामहमातामही	३०	६३	१८९०
	१५-पितामहीमातामहपितामही	३१	६३	१९५३
	१६-पितामहीनामातृमातामही	३२	६३	२०१६

तान्येतानि —

पितृपत्याणि

जनकद्वन्द्वानि द्वाप्रशम्भितानि

जनकद्वन्द्वानां-जन्यद्वन्द्वानि-त्रिषष्टि (६३) मितानि—

प्रथम स्थाने द्वन्द्वमेकम् कूटस्थम् १	मातापितरौ	ॐ
द्वितीयस्थाने द्वन्द्वमेकम् १	कूटस्थस्य पुत्रः, दुहिता च	१
तृतीयस्थाने द्वन्द्वे द्वे २	१-पौत्रः पौत्री च	२
	२-दौहित्रः दौहित्री च	३
चतुर्थस्थाने द्वन्द्वानि चत्वारि ४	१-प्रपौत्रः प्रपौत्री च	४
	२-पौत्रीपुत्रः पौत्रीपुत्री च	५
	३-दौहित्रपुत्रः दौहित्रपुत्री च	६
	४-दौहित्रीपुत्रः दौहित्रीपुत्री च	७
पञ्चमस्थाने द्वन्द्वान्यष्टौ ८	१-पृद्वप्रपौत्रः पृद्वप्रपौत्री च	८
	२-प्रपौत्रीपुत्रः प्रपौत्रीपुत्री च	९
	३-पौत्रीपौत्रः पौत्रीपौत्री च	१०
	४-पौत्रीदौहित्रः पौत्रीदौहित्री च	११
	५-दौहित्रपौत्रः दौहित्रपौत्री च	१२
	६-दौहित्रदौहित्रः दौहित्रदौहित्री च	१३
	७-दौहित्रीपौत्रः दौहित्रीपौत्री च	१४
	८-दौहित्रीदौहित्रः दौहित्रीदौहित्री च	१५
	१-अतिपृद्वप्रपौत्रः अतिपृद्वप्रपौत्री च	१६
	२-प्रपौत्रदौहित्रः प्रपौत्रदौहित्री च	१७
	३-प्रपौत्रीपौत्रः प्रपौत्रीपौत्री च	१८
	४-प्रपौत्रीदौहित्रः प्रपौत्रीदौहित्री च	१९
	५-पौत्रीप्रपौत्रः पौत्रीप्रपौत्री च	२०
	६-पौत्रीपुत्रदौहित्रः पौत्रीपुत्रदौहित्री च	२१
	७-पौत्रीपुत्रीपौत्रः पौत्रीपुत्रीपौत्री च	२२
	८-पौत्रीपुत्रीदौहित्रः पौत्रीपुत्रीदौहित्री च	२३
	९-दौहित्रप्रपौत्रः दौहित्रप्रपौत्री च	२४
	१०-दौहित्रपुत्रदौहित्रः दौहित्रपुत्रदौहित्री च	२५
	११-दौहित्रपुत्रीपौत्रः दौहित्रपुत्रीपौत्री च	२६
	१२-दौहित्रपुत्रीदौहित्रः दौहित्रपुत्रीदौहित्री च	२७
	१३-दौहित्रीप्रपौत्रः दौहित्रीप्रपौत्री च	२८
	१४-दौहित्रीपुत्रदौहित्रः दौहित्रीपुत्रदौहित्री च	२९
	१५-दौहित्रीपुत्रीपौत्रः दौहित्रीपुत्रीपौत्री च	३०
	१६-दौहित्रीपुत्रीदौहित्रः दौहित्रीपुत्रीदौहित्री च	३१

पञ्चमस्थाने द्वन्द्वानि षोडश  
१६

## आढाविधान

उक्त जन्मद्वन्द्व में मातवाँ स्थान अभी शेष है । पञ्चस्थान के १६ द्वन्द्वों के ३२ व्यक्ति हो जाते हैं । प्रत्येक व्यक्ति पुत्र-कन्या रूप से एक एक स्वतन्त्र द्वन्द्व का जनक है । इस प्रकार मातर्बे स्थान में ६ ठे स्थान के १६ द्वन्द्वों के ३२ व्यक्तियों से ३२ पुत्र-कन्याद्वन्द्व हो जाते हैं । यदि इन सातों स्थानों के द्वन्द्वों का संकलन किया जाता है, तो १, २, ४, ८, १६, ३२, इनके ६३ द्वन्द्व हो जाते हैं । इनके जन्मद्वन्द्वों की संख्या भी पूर्वप्रदर्शित जनकद्वन्द्वानुसार २०१६ पर विभ्राम करती है । विवाहसापिण्ड्य के इस सुगूह्य विशकलन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, पितृपक्ष की २०१६ कन्याएँ विवाहसम्बन्ध में पर्य्य हैं । इन से विवाहसापिण्ड्य के नाते विवाह-नहीं किया जा सकता ।

अथ क्रमप्राप्त पञ्चस्थानात्मक मातृपक्ष की सीमांता कीजिए । निम्न लिखित रूप से मातृपक्षानुगत पञ्चस्थानों के सान विचर्चा हो जाते हैं—

प्रतिस्थान द्वन्द्वसंख्या	वरसम्बन्धिनः पञ्चमस्थानाः	जनकद्वन्द्वानां संख्या	प्रतिजनक-द्वन्द्वजन्य-द्वन्द्वानि	जन्मद्वन्द्व-संख्यानां समष्टिसंख्या
प्रथमस्थाने	परः केवलः	७	७	७
द्वितीयस्थाने	परस्य माता	७	७	७
तृतीयस्थाने द्वन्द्वमेकम् १	मातामही	१	१५	१५
चतुर्थस्थाने द्वे द्वन्द्वे २	प्रमातामही	२	१५	३०
	मातृमातामही	५-३	१५	४५
पञ्चमस्थाने चत्वारि द्वन्द्वानि ४	पुद्गप्रमातामही	४	१५	६०
	मातामहमातामही	५	१५	७५
	मातृप्रमातामही	६	१५	९०
	मातामहीमातामही	७	१५	१०५

प्रथमे स्थाने	किञ्चिदेकमूलद्वयं मातापितरौ कृतस्थम्
द्वितीयस्थाने	कृतस्थपुत्रो, दुहिता च
तृतीयस्थाने	पौत्रः पौत्री च दौहित्रो दौहित्री च
चतुर्थस्थाने	प्रपौत्रः प्रपौत्री च पौत्रीपुत्रः पौत्रीपुत्री च दौहित्रपुत्रः दौहित्रपुत्री च दौहित्रीपुत्रः दौहित्रीपुत्री च
पञ्चमस्थाने	वृद्धप्रपौत्रः वृद्धप्रपौत्री च प्रपौत्रीपुत्रः प्रपौत्रीपुत्री च पौत्रीपौत्रः पौत्रीपुत्री च पौत्रीदौहित्रः पौत्रीदौहित्री च दौहित्रपौत्रः दौहित्रपौत्री च दौहित्रदौहित्रः दौहित्रदौहित्री च दौहित्रीपौत्रः दौहित्रीपौत्री च दौहित्रीदौहित्रः दौहित्रीदौहित्री च

पितृकुलानुगत पोडशाधिकद्विसाहस्रं ( २०१६ ), एवं मातृकुलानुगत पञ्चोत्तरशत ( १०४ ), सम्भूय-एकविंशत्यधिकैकविंशतिशतमंग्या ( २१०१ ) का अनुपात हो जाता है । यही विवाह-मापिएत्य का दाक्षिणात्यसम्मत सुसूक्ष्म विस्तार है । गौडसम्प्रदायानुगत विशुद्ध विवाहमापिएत्य इस से भिन्न है, जिसे विस्तारभय से छोड़ा जाता है । इस विवाहमापिएत्य से हमें प्रष्ट में यह बतलाना है कि, प्राणयिषा के आचार्य परमपियोंने दशविशुद्धि के लिए जो सुसूक्ष्म-अन्वेषण किया है, भले ही वर्तमान जगत् की भौतिक दृष्टि में इस का कोई महत्त्व न हो,

भले ही चरामानुष के बुद्धिमानों की दृष्टि में अन्तर्जातीय विवाह, सापिण्डविविवाहादि अनाचार, किंवा दुराचार प्रत्यक्ष में कोई हानि उत्पन्न न करता हो, परन्तु विवाहसापिण्ड्य की मर्यादा का अतिक्रमण करने वाली हमारी आज की उच्छृङ्खलता कर्तृसंवरता की जननी बनती हुई हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र की अवनति का ही मूलकारण प्रमाणित हो रही है।

### (ख)-दायसापिण्ड्यम्—

सात पुरुषों से सम्बन्ध रखने वाले दायसापिण्ड्य के सम्बन्ध में विशेष ध्यान नहीं है। स्व, पिता, पितामह, प्रपितामह, ये चार पुरुष, एवं इन चारों के प्रत्येक के पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, इस प्रकार सम्मूह १६ पुरुष दायसापिण्ड्य में गृहीत हैं। स्व, स्वपुत्र, स्वपौत्र, स्वप्रपौत्र, इन चारों की समष्टि स्ववर्ग है। पिता, तत्पुत्र, तत्पौत्र, तत्प्रपौत्र, इन चारों की समष्टि पितृवर्ग है। पितामह, तत्पुत्र, तत्पौत्र, तत्प्रपौत्र, इन चारों की समष्टि पितामहवर्ग है। एवं प्रपितामह, तत्पुत्र, तत्पौत्र, तत्प्रपौत्र, इन चारों की समष्टि प्रपितामहवर्ग है। इस वर्गभेद से षोडशपुरुषानुगत चतुः-पौरुषमर्यादा पर दायसापिण्ड्य विभान्त है। षड्भागमर्यादा की अपेक्षा से प्रपितामह से प्रथमपुरुषानुगत है। पितामह-तथा प्रपितामह पुत्रों से द्वितीयपुरुषानुगत है। पिता, पितामहपुत्र, तथा प्रपितामहपौत्रों से तृतीयपुरुषानुगत है। स्व, पितृपुत्र, पितामहपौत्र, प्रपितामहपौत्र, से चतुर्थपुरुषानुगत है। स्वपुत्र, पितामहप्रपौत्र से पञ्चमपुरुषानुगत है। स्वपौत्र, पितृपुत्रों से षष्ठपुरुषानुगत है। एवं स्वप्रपौत्रों से सप्तमपुरुषानुगत है। इस प्रकार पिता, पितामह, प्रपितामह तीन पर पुरुष, पुत्र, पौत्र-प्रपौत्र ये तीन अपरपुरुष, एवं इन पर-अपरपुरुषों के मध्य में प्रतिष्ठित दृश्य स्वपुरुष, इस दृष्टि से दायसापिण्ड्य साप्तपौरुष्य वन जाता है।

स्व, पितृ-पितामह-प्रपितामह, इन उक्त चार वर्गों में से दायभाग के सम्बन्ध में उत्तर वनर की अपेक्षा पूर्व पूर्व का प्राधान्य है। प्रथमाधिकार स्ववर्गचतुष्टयी का है। स्ववर्गाभाय में पितृवर्ग, तदभाव में पितामहवर्ग, एवं तदभाव में प्रपितामहवर्ग का प्राधान्य है। कारण इस का यही है कि, प्रपितामहवर्गापेक्षया पितामहवर्ग, इस की अपेक्षा पितृवर्ग, एवं सपिण्ड्या स्ववर्ग सापिण्ड्य से अधिकारिक सन्निरुद्ध है। इन चारों वर्गों में भी प्रत्येक के चारों वर्गों में उत्तरोत्तर-परापेक्षया पूर्व-पूर्व वर्ग का प्राथम्य है। प्रथम स्व, अनन्तर तत्पुत्र, अनन्तर तत्पौत्र, सर्वान्त में तत्प्रपौत्र का अधिकार है। एवमेव पितामह वर्ग में प्रथम पितामह, अनन्तर तत्पुत्र, अनन्तर तत्पौत्र, सर्वान्त में तत्प्रपौत्र का अधिकार है। एवमेव प्रपितामहवर्ग में प्रथम प्रपितामह, अनन्तर तत्पुत्र, अनन्तर तत्पौत्र, सर्वान्त में तत्प्रपौत्र का अधिकार है। वर्ग, तथा पर्यस्ताग्नियसूता इसी दायविभाग-व्यवस्था का समर्थन करते हुए धर्माचार्यों ने कहा है—

“यस्तासन्नस्तृपां सोऽन्यस्तृपानं हरेत्”



# दायसापिण्ड्यपरिलेखः—

आशी वविज्ञानोपनिषत्

अपितामहवर्गः		अपितामहकला		(१) प्रथमपुरुषः	
पितामहवर्गः		पितामहकला		(२) द्वितीयः पुरुषः	
पितृवर्गः		पितृकला		(३) तृतीयः पुरुषः	
स्वपर्वः		दृढस्यकला		(४) चतुर्थः पुरुषः	
पिता		पुत्र		(५) पञ्चमः पुरुषः	
पुत्रः		पौत्रः		(६) षष्ठः पुरुषः	
पौत्रः		प्रपौत्रः		(७) सप्तमः पुरुषः	
स्व		पुत्रः		(८) अष्टमः पुरुषः	
पुत्रः		पौत्रः		(९) नवमः पुरुषः	
पौत्रः		प्रपौत्रः		(१०) दशमः पुरुषः	
प्रपौत्रः		प्रपौत्रकला		(११) अष्टमः पुरुषः	

(अपितामहवर्गः)

(पितामहवर्गः)

(पितृवर्गः)

(स्वपर्वः)

(ग)-आशीचसापिण्ड्यम्—

प्रमहोपात्त विवाद, दायसापिण्ड्यों का दिग्दर्शन कराने के अनन्तर तीसरे उस आशीच सापिण्ड्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है, जो हमारे इस आशीच प्रकरण की मूलप्रतिष्ठा बन रहा है। वैज्ञानिकोंने इस सापिण्ड्य के “अवयवसापिण्ड्य, पुत्रनिवाप्यसापिण्ड्य, पितृनिवाप्यसापिण्ड्य, उत्तरसापिण्ड्य, भेद से चार विवर्त्त मानें” हैं। सप्तप्रथम क्रमप्राप्त अवयवसापिण्ड्यलक्षण आशीचसापिण्ड्य का ही दिग्दर्शन कराया जाना है।

(१)-महानात्मगत अष्टा-विंशति (२८)-कल पितृप्राणमूर्ति आत्मधन ही सन्तति की मूलप्रतिष्ठा माना गया है। इस आत्मधन के ऋण-धन से ही सात पुरुषों का वितान हुआ है। एकशरीरायवभूत सन्ततिप्रवर्त्तक, किंवा सन्ततिजनक इन २८ आत्मधनकलाओं का वितान क्रमशः पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र, वृद्धप्रपौत्र, अतिवृद्धप्रपौत्र, वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र (परमातिवृद्धप्रपौत्र) इन ६ सन्तति परम्पराओं में होता है। ६ अवश्य, सातवों स्थयं जनक, इस प्रकार सात पुरुषपर्यन्त एकशरीरायवभूत २८ भाषाओं का अनुवर्त्तन होता है। मात्रामात्र से आगे इस अवयव वितान का अभाव है। अतएव यह अवयवसापिण्ड्य सप्तपुरुषपर्यन्त (कूटस्थबीजी से आरम्भ कर वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र पर्यन्त) ही माना गया है। ‘सापिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते’ से यही अवयवसापिण्ड्य अभिप्रेत है। इस अवयव सापिण्ड्य से सम्बन्ध रखने वाला, बीजी से ६ ठे अपत्यपर्यन्त व्याप्त रहने वाला यही आशीच ‘अवयवसापिण्ड्याशीच’ कहलाया है। अष्टाविंशतिकल सहःपिण्ड ही आत्मधन है, जो कि कूटस्थ बीजी (पिता) के महानात्मा में प्रतिष्ठित है। इन २८ शरीरायवों का एक सात पुरुषों में क्रमशः ७ कला स्वयं बीजी में, ६ कला पुत्र में, ५ कला पौत्र में, ४ कला प्रपौत्र में, ३ कला वृद्धप्रपौत्र में, २ कला अतिवृद्धप्रपौत्र में, एवं १ कला वृद्धातिवृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं। इस प्रकार सात स्थानों में विभक्त ये निवाप्यपिण्ड ही सातों के पारस्परिक सम्बन्ध की प्रतिष्ठा हैं। कूटस्थ बीजी के २८ कल मूलपिण्ड को प्रतियोगी बनाने वाला, एवं पुत्रादि ६ अपत्यों को अनुयोगी बनाने वाला सापिण्ड्य ही अवयवसापिण्ड्य है, तन्मूलक आशीच ही अवयवसापिण्ड्याशीच है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

(१) - अथयवसापिएड्यपरिलेखः—

ॐ बीजी (१) —————	२८
१-पुत्रः (२) —————	६
२-पौत्रः (३) —————	४
३-प्रपौत्रः (४) —————	४
४-वृद्धप्रपौत्रः (५) —————	४
५-अतिवृद्धप्रपौत्रः (६) —————	४
६-वृद्धातिवृद्धप्रपौत्रः (७) —————	४
	२८

अथयवसापिएड्यपारोचप्रवर्त्तकानि सम्बन्धसुत्राणि

“अथयवसापिएड्यम्”

( एकपितृप्रतियोगिकं, पट्टपत्यानुयोगिकम् )

(२) - दूसरा क्रमप्राप्त ‘पुत्रनिवाप्यसापिएड्य’ है । प्रत्येक कूटस्थ पुरुष के शुक्र में जहाँ स्वाजित २८ मूलधन प्रतिष्ठित रहता है, वहाँ इसी कूटस्थ के शुक्र में इससे पूर्व ६ पितृपुरुषों की ऋणमात्राएँ भी प्रतिष्ठित रहती हैं । पुत्राधानीय इस कूटस्थ में उन पितरों के पिएड्य ऋणरूप रूप से प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इन ऋणात्मक पिएड्यों को ‘पुत्रनिवाप्यपिएड्य’ कहना अन्वर्थ बनता है । १ कला वृद्धातिवृद्ध-प्रपितामह की, ३ कला अतिवृद्धप्रपितामह की, ६ कला वृद्धप्रपितामह की, १० कला प्रपितामह की, १५ कला पितामह की, एवं २१ कला पिता की प्रतिष्ठित रहती हैं । सम्भूल ५६ कला हो जाती है । २८ कल स्वयं इसका मूलधन है । दोनों के संकलन से ( ५६ ऋण के, तथा २८ धन के संकलन से ) इसका महानान्मा चतुरशीतिकल ( ८४ ) हो जाता है । इस निवापसम्बन्ध से ही सातों का परस्पर सपिएड्य- ( समानसपिएड्य ) सम्यन्ध सुरक्षित रहता है । इसी पुत्रनिवाप्यसापिएड्य के द्वारा बीजी का इन ६ श्रों के साथ पट्पितृप्रतियोगिक, तथा एकपत्यानुयोगिक पुत्रनिवाप्यसापिएड्यपारोच-सम्बन्ध स्थापित रहता है । पूर्वोक्त प्रथमारोप में अथरअपत्यपट्टक मूल था, इन द्वितीयारोप में परपितृपट्टक मूल है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट हो रहा है—

(४)-उत्तरसापिण्डपरिलेखः—

- (१) परमातिवृद्धप्रपितामहे (७) — १ — प्रत्यर्पणम्  
 (२) अतिवृद्धप्रपितामहे (६) — २ —  
 (३) वृद्धप्रपितामहे (५) — ३ —  
 (४) प्रपितामहे (४) — ४ —  
 (५) पितामहे (३) — ५ —  
 (६) पितरि (२) — ६ —  
 (७) स्वात्मनि (१) — ७ —

उत्तरसापिण्डश्रीचक्रप्रवर्तकं सूत्रम्

“उत्तरसापिण्डम्”

(घ)-पिण्डस्वरूपसिंहावलोकनम्—

पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध आशीचसापिण्डय की मौलिक उपपत्ति का यद्यपि ‘प्रजातन्तुवितान-विज्ञानोपनिषत्’ में विस्तार से स्पष्टीकरण किया जा चुका है। तथापि परोक्षदृष्टिसम्बन्ध से अतिशयरूपेण दुरुह इस पिण्ड स्वरूप का सिंहावलोकनार्थेन संक्षेप से इस ‘आशीचविज्ञानोपनिषत्’ में विगूढरूप में करा दिया जाता है। एक ही पिण्ड से सम्बन्ध रखने वाला योनिसम्बन्ध ही ‘सापिण्डय’ नाम से व्यवहृत हुआ है। इस पिण्ड की प्रतिष्ठा, किया आयतन महानात्मा है। भुक्त अन्न से, तथा परम्परया आगत चान्द्रस से निष्पन्न इस पितृप्राणप्रधान, अतएव पितृपिण्ड नामक पिण्ड का, अन्नात्मक, अग्नीषोमात्मक, शुक्लशोणित्वात्मक, इत्यादि रूप से अनेक दृष्टियों से समन्वय किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह स्पष्टीकरण अवश्य कर लेना चाहिए कि, शुक्रप्रधान पिण्ड ‘बीजपिण्ड’ कहलाया है, एवं शोणितप्रधान पिण्ड ‘क्षेत्रपिण्ड’ कहलाया है। बीजपिण्ड का पितृकुल से सम्बन्ध है, एवं क्षेत्रपिण्ड का मातृकुल से सम्बन्ध है। पितृकुलानुगत बीजपिण्ड का सप्तपुरुषमर्यादा से सम्बन्ध है, एवं मातृकुलानुगत क्षेत्रपिण्ड का पञ्चपुरुषमर्यादा से सम्बन्ध है, जैसा कि पृथक् पृथक् जन्म-जनक द्वन्द्वों का विरूपण करते हुए स्पष्ट कर दिया गया है। इन दोनों पिण्डों में से प्रकृत में साक्षात्पितृसापिण्डय की मूलप्रतिष्ठारूप शुक्रनिवापात्मक बीजपिण्ड की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

शुक्रनिवापात्मक बीजपिण्ड—

जिस शुक्र से, किया शुक्राहुति से प्रजोत्पत्ति होती है, उस शुक्र का क्या स्वरूप है, इस प्रश्न का सामान्यतः यही उत्तर दिया जाता है कि, हम सायं-प्रातः जो अन्न खाते हैं, वही शरीराभि-सम्बन्ध से रस-मल के क्रमिक विशकलन में आकर सातवें क्रम में शुक्ररूप में परिणत हो जाता है।

फलतः अन्नरसमय अन्तिम धातु का ही शुक्रत्व सिद्ध हो जाता है । अन्न पार्थिव है । इस पार्थिव भूत में पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, इन पाँचों भूतों का समन्वय है । पञ्चभूतात्मक पार्थिव 'इरा' रस ही अन्न का उत्पादक है । अतएव अन्न भी अवश्य ही पञ्चभूतात्मक है । इस पञ्चभूतात्मक अन्न में उत्पन्न अन्नरसमय शुक्र भी अवश्य ही पञ्चभूतविकाररूप है । इन पाँचों भूतविकारों के अतिरिक्त इस अन्नरसमय शुक्र में 'चेतना' नामक एक ६ठा धातु और प्रतिष्ठित रहता है । इसी चेतना के सम्बन्ध से इसे 'अन्नरसमयपुरुष' कहा जाता है । 'अन्नरस' पञ्चभूतविकार का संग्राहक है, एवं 'पुरुष' शब्द चेतना का संग्राहक है । इस प्रकार चेतनाधातुयुक्त पञ्चभूतविकारलक्षण अन्नमय रस ही शुक्र है, यही प्रारम्भिक प्रजन का एक समाधान है । दूसरी दृष्टि से विचार कीजिए । ह्यान्दोग्य उपनिषत् में उपर्युक्त सुप्रसिद्ध त्रिवत्करणप्रक्रिया के अनुसार 'तेज-अप्-अन्न' की समष्टि ही शुक्र है । पृथिवी, अन्तरिक्ष, आँ, तीनों में क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य, ये तीन तत्त्व प्रतिष्ठित हैं । पार्थिव अग्नि तत्त्व अन्न की प्रतिष्ठा है, आन्तरिक्ष वायु तत्त्व अप तत्त्व की प्रतिष्ठा है, एवं दिव्य आदित्य तत्त्व तेजस्तत्त्व की प्रतिष्ठा है । इन्हीं तीनों धातुपृथिव्य रसों से अन्न की स्वरूपनिष्पत्ति हुई है । अन्न में तीनों का समावेश है । इन तीनों से युक्त अन्न से उत्पन्न अन्नरसमय शुक्र अवश्य ही इस दृष्टि से 'तेजोऽन्नमय' है । यही त्रिवत्करणप्रक्रिया 'तासां त्रिधृतं त्रिधृतमेकैकां करवाणि' (छां० उ० ३।३।२।) के अनुसार अन्तर्गत पञ्चभूतानुगता पञ्चीकरणप्रक्रिया की समर्थिका बन जाती है, जैसा कि ईशोपनिषद् विज्ञानभाष्यादि में विस्तार से प्रतिपादित है । तेज-अप्-अन्न, तीनों में तेज आदित्यात्मक है । यही आदित्य तेज इन्द्र है । इस इन्द्र के साथ दिव्यलोकस्थ सोम का पनिष्ठ सम्बन्ध है । सोमाग्नि के सम्बन्ध से ही यह आदित्य तेजोरूप में परिणत हो रहा है । अतएव इस तेज को हम अवश्य ही 'सोम' कह सकते हैं । तेजोलक्षण यही सोम शुक्र में सप्तकोशरूप से प्रतिष्ठित है । सप्तकोशात्मक तेजोमय इसी सोमपिण्ड का नाम बीजीपिण्ड है, एवं यही बीजीपिण्ड मापिण्ड्यभाव की मूलप्रतिष्ठा बनता हुआ प्रजातन्तुयिनान का प्रयत्नक बनता है ।

बीजीपिण्ड के कोशानुगत ऋण-धनविभाग—

शुक्रस्थित बीजीपिण्ड के पहिले कोश में २८ कला हैं, दूसरे कोश में २१ कला हैं, तीसरे कोश में १४ कला हैं, चौथे कोश में १० कला हैं, पाँचवें कोश में ६ कला हैं, छठे कोश में ३ कला हैं, एवं सातवें कोश में १ कला है । यदि इन सातों कोशों की इन अधान्य कलाओं का संकलन किया जाता है, तो सप्तकोशात्मक बीजीपिण्ड की ८४ कला हो जाती हैं । चतुरशीतिक्रम, बीजीपिण्डात्मक, सप्तकोशमूर्ति यही शुक्रमय सोम 'निराप्य' पिण्ड है । बीजीपिण्ड के सम्बन्ध में 'बीजी' नाम से प्रसिद्ध स्वमन्त्रानुपरम्परा के मूलप्रयत्नक होने से 'कृत्वा मूलतुण्य' नाम से प्रसिद्ध पुरुष का उक्त चतुरशीतिक्रम सोमद्रव्य गरीरावयव बन रहा है । चतुरशीतिक्रम इस सोम-द्रव्य के ( ८४ कला के ) तीन विभाग कर कीजिए । उनमें दो विभाग तो कृत्वा मूल-

(२)-पुत्रनिवाप्यसापिण्डपरिलेखः-

६-वृद्धातिवृद्धप्रपितामहः (७)-१	१
५-अतिवृद्धप्रपितामहः (६)-२	२
४-वृद्धप्रपितामहः (५)-३	३
३-प्रपितामहः (४)-४	४
२-पितामहः (३)-५	५
१-पिता (२)-६	६
कुटुम्बः (पुत्रः) (१)-७	७

पुत्रनिवाप्यसापिण्डादीचप्रवर्तकमुवाचि

“पुत्रनिवाप्यसापिण्डम्”

( पट्पितृप्रतियोगिकं-११कापत्यानुयोगिकम् )

(३)-नीसरा क्रमप्राप्त 'पितृनिवाप्यसापिण्ड' है। इस सापिण्ड का श्राद्धकर्मानुगत पिण्डदान से सम्बन्ध है। प्रत्येक अपत्य अपने पूर्व के ६ प्रेतपितरों की पिण्डदान से यथासमय वृत्ति किया करता है, जैसाकि 'शृणुमोचनोपायोपनिषत्' में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सातवाँ अपत्य पिण्डदान है। इससे पूर्व के पिता, पितामह, प्रपितामह, ये तीन 'पिण्डभागिनः' हैं, एवं इनसे भी पर वृद्ध-अति-परम-ये तीन 'लेपभाजः' हैं। अमावास्यादि तिथि-विशेषों में, कन्यागतमहालयादि कालविशेषों में इस प्रेत-पितृपट्ट के पिण्ड स्वीकृत होते रहते हैं। इनके आभ्यासन के लिए तत्तत्तिथि-कालविशेषों में सातवाँ अपत्य पिण्डदान किया करता है। यही साप्तर्षीरूप पितृनिवाप्यसापिण्ड है। इसमें तीन का प्रधानरूप से ( साक्षात् रूप से ) आभ्यासन है, एवं ३ का परम्परया ( पिण्डगतलेप द्वारा ) आभ्यासन है। इसी लिए ३ के साथ घनिष्ठ आशौच सम्बन्ध है, एवं तीन के साथ सामान्य आशौच सम्बन्ध है। यही पितृनिवाप्यलक्षण सापिण्डाशौच है, जिस सापिण्डता का निम्नलिखित शब्दों में स्पष्टीकरण हुआ है—

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः ।

पिण्डदः सप्तमन्तेषां सापिण्ड्यं साप्तर्षीरूपम् ॥

(३)-पितृनिवाप्यसापिण्डपरिलेखः—

(३) परमानिवृद्धप्रपितामहः	(७)	लेपभाजः	पितृनिवाप्यसापिण्डगर्भाचमूत्राणि
(२) अतिवृद्धप्रपितामहः	(६)		
(१) वृद्धप्रपितामहः	(५)		
(३) प्रपितामहः	(४)	पिण्डभाजिनः	
(२) पितामहः	(३)		
(१) पिता	(२)		
(*) कूटस्थः (१)	पिण्डदः		

“पितृनिवाप्यसापिण्डम्”

(४)-चौथा क्रमप्राप्त ‘उत्तरसापिण्ड’ है। क्योंकि इसका मरणोत्तरक्रिया से सम्बन्ध है, अतः एव इसे ‘प्रितसापिण्ड’-‘प्रत्यर्पणसापिण्ड’ इत्यादि नामों से भी व्यवहृत किया गया है। ‘पुत्रनिवाप्यसापिण्ड’ का दिग्दर्शन कराते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, कूटस्थ पुरुष में ५६ कला ऋणरूप से, तथा २८ कला धनरूप से, सम्भूय ८४ कला प्रतिष्ठित हैं। इनमें से २८ धनकलाओं में से २१ कला तो अवयवसापिण्डयानुगत सन्ततिपरम्परा में भुक्त हो जाती हैं, इसके कोश में आत्मधेय (आत्मप्रतिष्ठा) रूप से अपने धन में से केवल ७ कला शेष रह जाती हैं। ऋणभावात्मिका ५६ कलाओं में से ३३ कला तो सन्तति परम्परा में भुक्त हो जाती हैं, एवं शेष २१ कला आत्मधेयरूप से प्रतिष्ठित रह जाती हैं। इस प्रकार ५६ में से २१ ऋणकला, २८ में से ७ धन कला, सम्भूय इसके कोश में २८ कलाएँ बच रहती हैं। इन २८ को लेकर ही यह चन्द्रलोक में प्रवेशरर से गमन करता है। चन्द्रलोक में पहुँच कर यह २८ में से २१ ऋणकलाओं का तत्तत्पितृवों में प्रत्यर्पण कर देता है। इसी स्वाभाविक पिण्ड-समन्वयप्रक्रिया का नाम ‘उत्तरसापिण्ड’ है। २१ ऋणकलाओं का क्रमशः पिता की ६ कला, पितामह की ५ कला, प्रपितामह की ४ कला, वृद्धप्रपितामह की ३ कला, अतिवृद्धप्र० की २ कला, परमाति० की १ कला, इस क्रम से विभाजन है। इन्हीं का इसी रूप से प्रत्यर्पण होता है। यही कर्म ‘सापिण्डीकरण’ नाम से प्रसिद्ध है, जैसाकि पूर्वप्रकरणों में विस्तार से मोपपत्तिक बतलाया जा चुका है। इस उत्तरसापिण्ड की अपेक्षा से यही आशौचपदार्थ ‘उत्तरसापिण्डाशौच’ कहलाया है। इस प्रकार दृष्टिकोण-भेद से आशौचतत्त्व का चार प्रकार से समन्वय किया जा सकता है।

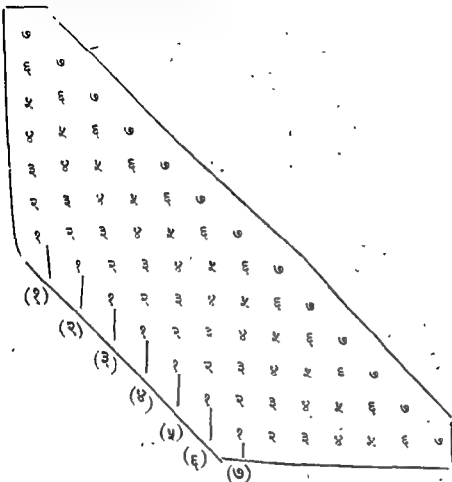
पुरुष के पूर्वसिद्ध ६ पितृपरम्पराओं से सम्बन्ध रखते हैं, एवं एक विभाग स्वयं कूटस्थ मूलपुरुष का अपना प्रातिष्ठिक भाग है । '२८-२८-२८' इन तीन तृतीयांशों में से २८-२८ (५६) ये दो तृतीयांश कूटस्थ के शुक्र में परम्परया ६ पितरों से ऋणरूप से आगत हैं एवं २८ कलात्मक एक तृतीयांश स्वयं इसी में चान्द्र नाड़ीद्वारा धनरूप से उत्पन्न है । यही चतुरशीतिकल सोमद्रव्य आगे जाकर नवीन कोशों का जन्म दाता बनता है ।

कूटस्थ पुरुष के शुक्र में प्रतिष्ठित सप्तकोशों में से अष्टाविंशति-(२८)-कल प्रथम कोश की २८ कलाओं के चार विभाग होते हैं । इन में सप्तकल (७) चतुर्थांश तो कूटस्थ के प्रथमकोश में आत्मधेयरूप से प्रतिष्ठित हो जाता है, शेष सप्त-सप्तकल तीन सप्तक (२१) से एक नवीन कोश उत्पन्न होता है । एकविंशतिकल (२१) द्वितीयकोश में से तृतीयांश, तथा आधा (६ कला) तो कूटस्थ में शेष रह जाता है, शेष तृतीयांशात्मिका १५ कला तन्यरूप से नवीनकोश की उत्पादिका बनती है । पञ्चदशकल (१५) तृतीयकोश में से तृतीयांशात्मिका ५ कला शेष रह जाती है, १० कलाओं से नवीन कोश उत्पन्न होता है । दशकल (१०) चतुर्थ कोश में से सार्द्धद्वितीयांशात्मिका ४ कला शेष रह जाती है, ६ कलाओं से नवीन कोश उत्पन्न होता है । षट्कल (६) पञ्चमकोश में से द्वितीयांशात्मिका ३ कला शेष रह जाती है, ३ कला से नवीन कोश उत्पन्न होता है । त्रिकल (३) ६ ठे कोश में से सार्द्धकांशात्मिका २ कला शेष रह जाती है, १ कला से नवीन कोश उत्पन्न होता है । एककल (१) सातवें कोश से आगे कोई कोश उत्पन्न नहीं होता । क्योंकि इस में वितानमात्रा का अभाव है । फलतः १ कल सप्त कोश की केवल कूटस्थ बीजी में ही अवस्थिति सिद्ध हो जाती है । इस प्रकार '२८-२१-१५-१०-६-३-१' इन सात कोशों में से '२८-२१-१५-१०-६-३-१' इन १-२-३-४-५-६ सात कोशों के क्रमशः ७-२१, ६-१५, ५-१०, ४-६, ३-३, २-१, ये दो दो विभाग हो जाते हैं । इन में कूटस्थ पुरुष में प्रतिष्ठा रूप से प्रतिष्ठित रहने वाले '७-६-५-४-३-२-१' ये भाग तो आत्मधेय नाम से प्रसिद्ध हैं । एवं नवीन कोशों के (६ कोशों के) उत्पादक '२१-१५-१०-६-३-१' ये भाग 'तन्य' नाम से प्रसिद्ध हैं । इन नवीन ६ कोशों को लेकर ही प्राणी जन्म धारण करता है । अतएव इसे 'पादकौशिक' कहा जाता है । कूटस्थ पुरुष के चतुरशीतिकल बीजपिण्ड में से '५६ कल-षट्कोशोत्पादक' यही तन्यभाग 'निवापपिण्ड' नाम से व्यवहृत होता हुआ पुत्रशरीर का उत्पादक बनता है । इस सुतोत्पत्ति का परिणाम यह होता है कि, ६ पितृपरम्परा से ऋणरूप से आगत ५६ कलाओं में से ३५ तो उत्पन्न २८ कलाओं में से २१ तो सुतरूप में चली जाती है, शेष ७ कला आत्मधेयरूप से रह जाती है । २१ ऋणकला, ७-धन कला, सम्भूय कूटस्थ बीजी में (पिता में) २८ में से केवल २८ कला आत्मप्रतिष्ठा रूप से शेष रह जाती है ।





# अष्टाविंशतिकलबीजपिण्डवितानपरिलेखः—(२८)



प्रत्येक कूटस्थ शरीरी स्वार्जित २८ कलाओं से, पिता की २१ कलाओं से, पितामह की १५ कलाओं से, प्रपितामह की १० कलाओं से, प्रपितामह की ६ कलाओं से, वृद्धप्रपितामह की ३ कलाओं से, परमातिवृद्धप्रपितामह की १ कला से युक्त रहता हुआ सप्तकोशात्मक चतुरशीर्षिकल ( ८४ ) महद-यच्छिन्न शरीरसम्पत्ति से समन्वित है। प्रथमकोशावच्छिन्न स्वार्जित २८ कलाओं को छोड़कर पितामहादि से प्राप्त षट्कोशावच्छिन्न २१, १५, १०, ६, ३, १, ये ५६ कलाएँ इसे ऋणी बनाती हैं। इन्हीं कलाओं की अपेक्षा वह उन ६ ओं का ऋणी रहता है। आगे जाकर ऋणी शरीरी द्वारा ( कूटस्थ बीजी द्वारा ) प्रथमकोशानुगता स्वार्जिता २८ कलाओं में से २१ कलाएँ, द्वितीयकोशानुगता ऋणात्मिका पितृभागलक्षणा २८ कलाओं में से १५ कलाएँ, तृतीयकोशानुगता ऋणात्मिका पितामहभागलक्षणा १५ कलाओं में से १० कलाएँ, चतुर्थकोशानुगता ऋणात्मिका प्रपितामहभागलक्षणा १० कलाओं में से ६ कलाएँ,

पञ्चमकोपानुगता ऋणात्मिका वृद्धप्रपितामहभागलक्षणा ३ कलाओं में से १ कला, इस प्रकार धनात्मिका २८ में से २१, तथा ऋणात्मिका ५६ में से ३५, सम्भूय ५६ कलाएँ पुत्रशरीरनिर्माण में शुक्रद्वारा मातृ-शोणित में आहुत हो जाती हैं। स्वधन में से ७, पितृऋणों में से २१, सम्भूय २८ कलाएँ इसके कोश में शेष रह जाती हैं।

बीजी के द्वारा पुत्र में आगत ३५ ऋणकलाएँ, तथा २१ धनकलाएँ क्या सर्वात्मना पुत्र में ही प्रतिष्ठित रहती हैं?, नहीं। अपितु आगे आगे इनका भी यथानियम वितान होता है। पहले ऋणकलाओं का ही विचार कीजिए। पुत्रशरीर में भुक्त ३५ ऋणकलाओं में से १५ कलाएँ पौत्र में न्युप्त हैं, १० कलाएँ प्रपौत्र में न्युप्त हैं, ६ कलाएँ वृद्धप्रपौत्र में न्युप्त हैं, ३ कलाएँ अतिवृद्धप्रपौत्र में न्युप्त हैं, एवं १ कला परमातिवृद्धप्रपौत्र में न्युप्त है। इस प्रकार पुत्रद्वारा पौत्रादि ऊपर पाँच पुरुषों में न्युप्त ३५ कलाओं से इस पारम्परिक प्रदान से वह बीजी ५६ में से ३५ कलाओं से अनृणी बन जाता है, अब इस पर केवल २१ कलाओं का ऋणभार रहता है।

इसी प्रकार बीजी के आत्मधन का वितान भी केवल पुत्र पर ही समाप्त न होकर सातवें अथवा पुरुषपर्यन्त व्याप्त रहता है। स्वार्जित २८ कलाओं में से ७ कलाएँ तो स्वयं बीजी में ही प्रतिष्ठित रह जाती हैं। शेष २१ कलाओं का पुत्र में आवाप बतलाया गया है। इन २१ कलाओं में से पुत्र में केवल ६ कलाएँ न्युप्त रहती हैं। शेष १५ कलाओं में से क्रमशः ५ कलाएँ पौत्र में, ४ कलाएँ प्रपौत्र में, ३ कलाएँ वृद्धप्रपौत्र में, २ कलाएँ अतिवृद्धप्रपौत्र में, एवं १ कला परमातिवृद्धप्रपौत्र में न्युप्त होती है। पद्धा विभक्त '६-५-४-३-२-१' इन २१ कलाओं के वितान का फल यह होता है कि, परलोकगत प्रेतपितृपिण्डों की वृत्ति के लिए एक नवीन श्रद्धामय मार्ग बन जाता है। इसी पिण्डाप्यायन-लक्षण श्राद्धकर्म से आनृत्यभाव-सम्पत्ति प्राप्त होती है। यही सन्तानपरम्परा आगे जाकर पिण्डप्रत्यर्पणलक्षण सपिण्डीकरण से इस बीजी के बन्धन-विमोक्त का कारण बनती है।

प्रेतात्मा की परमा सम्पत्—

यह पुरुष षोडशी चन्द्रमा के द्वारा १६ सम्बत्सर में अष्टाविंशतिकल सोमकोश प्राप्त करता हुआ पूर्णपुरुष बनता है, यह कहा जा चुका है। इन २८ में से ७ कला आत्मधेयरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ यह पुरुष शेष २१ कलाओं को पूर्वोक्त क्रमानुसार पुत्रादि पडपत्नों में क्रमशः आहुत कर देता है। जब तक ये २१ कलाएँ इसे इन पडपत्नों से नहीं मिल जाती, तबतक यह (चन्द्रलोकस्थ प्रेतपुरुष) केवल ७ कलाओं से युक्त रहता हुआ अपूर्ण बना रहता है, यही इसका आत्म-बन्धन है। पौत्र के द्वारा कृत सपिण्डीकरण से इसे पुत्रमुक्त स्व ६ कलाएँ मिल जाती हैं। प्रपौत्रकृत सपिण्डीकरण से पौत्र भुक्त ५ कलाएँ मिल जाती हैं। वृद्धप्रपौत्रकृत सपिण्डीकरण से प्रपौत्रभुक्त ४ कलाएँ मिल जाती हैं। परमातिवृद्धप्रपौत्रकृत सपिण्डीकरण से अतिवृद्धप्रपौत्रभुक्त २ कला मिल

जाती है। एवं आठवें अपत्य के द्वारा (परमातिवृद्धप्रपौत्र के पुत्र द्वारा) कृत सपिण्डीकरण से सातवें परमातिवृद्धप्रपौत्र में मुक्त १ कला का प्रत्यर्पण होजाता है। इस प्रकार आठवीं सन्तति के द्वारा होने वाले सपिण्डीकरण से, यह प्रथम पुरुष अपनी २८ कलाओं से युक्त बनता हुआ पूर्णविवश बन जाता है। यही आकर इस का पार्थिव बन्धन टूट जाता है। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है। जबतक पार्थिव आकर्षण सुरक्षित रहता है, तबतक प्रेत पुरुष चान्द्र-सीमा में बद्ध है। एवं जबतक प्रेतपुरुष के आत्मधन की १ भी कला अपत्यरूप से पृथिवी पर प्रतिष्ठित है, तबतक पार्थिवआकर्षण सुरक्षित है। अष्टमापत्यकृत सपिण्डीकरण से सप्तमापत्यगत शेष १ कला भी जब उस प्रथम प्रेत में मुक्त हो जाती है, तो पार्थिवआकर्षण से विमुक्त होना स्वाभाविक बन जाता है। इस अवस्था में यह प्रेतपितर २८ कल से पूर्ण पुरुष बनता हुआ पार्थिवआकर्षण से विमुक्त होकर चान्द्र-सीमा से विमुक्त होता हुआ आदित्य लोक में चला जाता है। यही इस प्रेतात्मा की परमा सम्पन्न है।

**सुतासुतपिण्डमीमांसा—**

३४ ऋण-कलाओं का आनृत्य प्रजोत्पादन पर निर्भर है, प्रेतपितृवृत्तिलक्षण आनृत्य आढकर्म पर निर्भर है, एवं २१ कला का आनृत्य सपिण्डीकरण पर निर्भर है, यह भी उक्त विवेचन से भलिभाँति सिद्ध हो जाता है। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि, प्रत्येक पुरुष बीजपिण्डापेक्षया चतुरंशीतिकल (८४) है। इन ८४ कलाओं में से १६ कला ऋण-भाग है, २८ कला धन भाग है। १६ ऋणकलाओं में से ३१ ऋणकला पुत्रादि परम्परा में मुक्त हैं, शेष २१ ऋणकला आत्मधेयरूप से यावज्जीवन इसी में प्रतिष्ठित रहती है। २८ धनकलाओं में से २१ धनकला पुत्र दिपरम्परा में न्युप्त हैं, शेष ७ धनकला आत्मधेयरूप से यावज्जीवन इसी में प्रतिष्ठित रहती हैं। इस प्रकार १६ में से २१ ऋणकला, २८ में से ७ धन कला, सम्मूय २८ आत्मधेयकला प्रतिशरीर में यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। यावदायुर्भोगानन्तर स्थूलशरीरपरित्याग कर सूक्ष्म आतिषाहिक शरीर धारण कर जब यह चन्द्रलोक में (चान्द्रसम्यत्सरानन्तर) पहुँचता है, तो इस में प्रतिष्ठित २१ ऋणकलाओं का आदानक्रम से प्रत्यर्पण हो जाता है। परमातिवृद्धप्रपितामह में १ कला का, अतिवृद्धप्रपितामह में २ कला का, वृद्धप्रपितामह में ३ कला का, प्रपितामह में ४ कला का, पितामह में ५ कला का, पिता में ६ कला का प्रत्यर्पण हो जाता है। इस प्रत्यर्पण कर्मानन्तर इस प्रेतात्मा के कोश में केवल आत्मधन की ७ कला शेष रह जाती है। इस प्रकार ८४ में से १६ कला-पेत पिण्ड सुत होने से 'निवापपिण्ड' है, एवं २८ कलापेत पिण्ड असुत होने से 'आत्मधेयपिण्ड' है, यही प्रकरण निष्कर्ष है।

सप्तकोशचक्रपरिलेखः—

साप्तपौरुषं सापिण्ड्यम्	मूलकलाः	आत्मनिधेय- कलाः	निवाप्यकलाः
(७) परमातिवृद्धप्रपितामहाल्लब्धा कला	—१—	१—	०
(६) अतिवृद्धप्रपितामहाल्लब्धाः कलाः	—३—	२—	१
(५) वृद्धप्रपितामहाल्लब्धाः कलाः	—६—	३—	३
(४) प्रपितामहाल्लब्धाः कलाः	—१०—	४—	६
(३) पितामहाल्लब्धाः कलाः	—१५—	५—	१०
(२) पितुर्लब्धाः कलाः	—२१—	६—	१५
(१) स्वतो लब्धाः कलाः	—२८—	७—	२१
सप्तकोशाः—कोशपितृजानि	२४	२८	२६

सप्तचक्रपरिलेखः—

परमातिवृद्ध- प्रपितामहे	अतिवृद्ध- प्रपितामहे	वृद्धप्रपिता- महे	प्रपितामहे	पितामहे	पितरि	स्वम्भिन	७
१	२	३	४	५	६	७	पितृपु नियापः
१	३	६	१०	१५	२१	२८	वृद्धमूल- राशिः
०	१	३	६	१०	१५	२१	अपत्येपु- नियापः
००००००	परमाति- वृद्धप्रपौत्रे	अतिवृद्ध- प्रपौत्रे	वृद्धप्रपौत्रे	प्रपौत्रे	पौत्रे	पुत्रे	६

राशिपिएडस्वरूपमीमांसा—

उक्त चक्रद्वया से यह स्पष्ट हो जाता है कि, चतुरशीतिकल (२४) शुक्रस्थ वीजपिएड मूलराशि है। इस मूलराशि के आगे जाकर अनिवाप्य, निवाप्य, भेद से दो विभाग हो जाते हैं। स्वर्जित धनात्मक अष्टाविंशतिकल मूलराशि में से ७ कला, ऋणरूप से पितृपट्टक से प्राप्त ऋणात्मक पट्पञ्चाशत्कल मूलराशि में में २१ कला, सम्भूय ऋणधनात्मिका २८ कला तो 'अनिवाप्यपिएड' है। क्योंकि यह यावज्जीवन कूटस्थ में ही प्रतिष्ठित रहता है, अतएव इसे 'वृद्धिराशि' कहना अन्वर्थ बनता है। इस वृद्धिराशि में यद्यपि २१ कला पितृभाग है, स्वभाग तो केवल ७ ही कला है। तथापि यावज्जीवन स्व (आत्म) सम्पत्ति बने रहने से २१ कल पितृभाग भी स्वभाग ही मान लिया जाता है। इस प्रकार वृद्धिराशिभूत इस २८ कल मूलराशि को स्वभाग माना जासकता है।

पट्पितृपरम्परा से ऋणरूप से प्राप्त, अतएव ऋणात्मक पट्पञ्चाशत्कल मूलराशि में से ३५ कला, एवं स्वर्जित धनात्मक अष्टाविंशतिकल मूलराशि में से २१ कला, सम्भूय ऋणधनात्मिका ५६ कला, 'निवाप्यपिएड' है। क्योंकि यह सन्ततिपरम्परा में परम्परया मुक्त है, अतएव इसे 'भुक्तराशि' कहना अन्वर्थ बनता है। इस भुक्तराशि में यद्यपि २१ कला स्वभाग है, पितृभाग तो ३५ कला ही है। तथापि उत्तरोत्तर पितृप्राण के वितान में उपयुक्त होने से २१ कल स्वभाग भी पितृभाग ही मान लिया जाता है। इस प्रकार भुक्तराशिभूत इस ५६ कल मूलराशि को पितृभाग माना जासकता है। अंशविच्छेदपर्यन्त चतुरशीतिकल मूलराशि का अनिवाप्य, निवाप्य, रूप से एवमेव विभाजन होता रहता है।

राशिविभाजनचक्रपरिलेखः—

पितृलब्धराशिः—मूलराशिः	पितृनिवाप्यराशिः, अनिवाप्य-राशिः	सवनीयराशिः—पुत्रनिवाप्यराशिः
पितृलब्धराशिः ( ५६-ऋणम् ) स्वलब्धराशिः ( २८-धनम् )	पितृलब्धराशिः २१-ऋणम् ) स्वलब्धराशिः ( ७-धनम् )	पितृलब्धराशिः ( ३५-ऋणम् ) धराशिः ( २१-धनम् )
८४	२८	५६

(१) — ५६-कलाः-ऋणभागः पितृभागः }  
 २८ कलाः-धनभागः-स्वभागः } — ८४ कलाः-मुलराशि

(२) — ०१-ऋणभागः पितृभागः }  
 ७-धनभागः-स्वभागः } — २८ कलाः-वृद्धिराशिः (स्वभागः)

(३) — ३४-ऋणभागः पितृभागः }  
 २१-धनभागः स्वभागः } — ५५ कलाः-गुरुराशिः (पितृभागः)

### सप्तकोशचक्रस्वरूपमीमांसा—

अत्र इमं सम्बन्ध में एक प्रश्न शेष रह जाता है । नियमित ०८-२१-१५-१०-६-३-१, इन कलाओं से युक्त १-२-३-४-५-६-७ इन सात कोशों का, दूसरे शब्दों में सप्तकोशयुक्त कलाओं का पुरुषपरम्परा में किस क्रम से वितान हो रहा है ? इसी 'शेषप्रश्न' की मीमांसा कर प्रक्रान्त योनिवृत्त-सम्बन्धसूत्र-विधेयचन समाप्त किया जाता है । प्रतिशरीर में चतुरशीति कलावच्छिन्न सप्तकोशात्मक बीजपिण्ड प्रतिष्ठित है, यह कहा जा चुका है । इन सात कोशों में से सर्वप्रथम २८ कल स्वधनात्मक प्रथम कोश की कलाओं के वितान पर ही दृष्टि डालिए—

(१)-प्रथमकोशः-अष्टाविंशतिकलः (२८)-स्वधनात्मकः—

०८ में से ७ कला स्वयं कूटस्थ में भुक्त हैं, ६ कला पुत्र में भुक्त हैं, ५ कला पौत्र में भुक्त हैं, ४ कला प्रपौत्र में भुक्त हैं, ३ कला वृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं, २ कला अतिवृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं, १ कला परमातिवृद्धप्रपौत्र में भुक्त है । इस प्रकार ७-६-५-४-३-२-१ क्रम से २८ स्वकलाओं सात पुरुष-परम्पराओं में भुक्त हो रही हैं ।

(२)-द्वितीयः कोशः-एकविंशतिकलः (२१)-पितृधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थपुरुष में अपने पिता से ऋणरूप से २१ कलाओं आई हैं । उन में से ६ कला स्वयं कूटस्थ में भुक्त हैं, ५ कला तनपुत्र में भुक्त हैं, ४ कला पौत्र में भुक्त हैं, ३ कला प्रपौत्र में भुक्त हैं, २ कला वृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं, १ कला अतिवृद्धप्रपौत्र में विभक्त है । इस प्रकार ६-५-४-३-२-१, इस रूप से ६ पुरुषपरम्पराओं में २१ पितृकलाओं भुक्त हो रही हैं ।

(३)-तृतीयः कोशः-पञ्चदशकलः (१५)-पितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अपने पितामह से ऋणरूप से १५ कलाएँ आई हैं । इन में से ५ कला स्वयं कूटस्थ में भुक्त हैं, ४ कला तनपुत्र में भुक्त हैं, ३ कला तनपौत्र में भुक्त हैं, २ कला तनप्रपौत्र में भुक्त हैं, एवं १ कला तनवृद्धप्रपौत्र में भुक्त हैं । इस प्रकार ५-४-३-२-१, इस रूप से ५ पुरुष-परम्पराओं में १५ पितामह कलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(४)-चतुर्थः कोशः-दशकलः (१०)-प्रपितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अपने प्रपितामह से ऋणरूप से १० कलाएँ आई हैं । इन में से ४ कला तो स्वयं कूटस्थ में भुक्त हैं, ३ कला तनपुत्र में भुक्त हैं, २ कला तनपौत्र में भुक्त हैं, एवं १ कला तनप्रपौत्र में भुक्त हैं । इस प्रकार '४-३-२-१' इस रूप से ४ पुरुष-परम्पराओं में १० प्रपितामह-कलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(५)-पञ्चमः कोशः-पट्कलः (६)-वृद्धप्रपितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अपने वृद्धप्रपितामह से ऋणरूप से ६ कला आई हैं । इन में से ३ कला तो स्वयं कूटस्थ याजी मूलपुरुष में भुक्त हैं, २ कला तनपुत्र में भुक्त हैं, एवं १ कला तनपौत्र में भुक्त हैं । इस प्रकार '३-२-१' इस रूप से ३ पुरुष-परम्पराओं में ६ वृद्धप्रपितामहकलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(६)-षष्ठः कोशः-त्रिकलः (३)-अतिवृद्धप्रपितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अतिवृद्धप्रपितामह से ऋणरूप से ३ कला आई हैं । इन में से २ कला तो स्वयं कूटस्थ पुरुष में भुक्त हैं, एवं शेष १ कला कूटस्थ के पुत्र में भुक्त है । इस प्रकार '२-१' रूप से २ पुरुषपरम्परा पर्यन्त ३ अतिवृद्धप्रपितामहकलाएँ भुक्त हो रही हैं ।

(७)-सप्तमः कोशः-एककलः (१)-परमातिवृद्धप्रपितामहधनात्मको ऋणरूपः—

कूटस्थ पुरुष में अपने अतिवृद्धप्रपितामह से ऋणरूप से केवल १ कला आई है । क्योंकि इस में वितानमात्रा का अभाव है, अतएव इस का आगे ( कूटस्थ पुत्रादि में ) वितान नहीं होता, अपितु यह १ कला कूटस्थ में आत्मधेयरूप से ही प्रतिष्ठित रह जाती है ।

पिएडसन्तानक्रमस्वरूपमीमांसा—

इस मन्त्रकोश-चक्र के आधार पर हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि, कूटस्थ-पुरुष में ७ धन की, ६-५-४-३-२-१, ये २१ पितृधन की, सम्भूय २८ कला ( सप्तकोशधन की ) आत्मधेयरूप से यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं (१) । कूटस्थपुरुष के पुत्र में ६-५-४-३-२-१, इस क्रम से २१ कला ( मन्त्रकोशधन की ) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं । कूटस्थ पुरुष के पौत्र में ४-४-३-२-१-इस क्रम से १५ कला ( मन्त्रकोशधन की ) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं ।



# आशानविज्ञानोपनिषद्

कूटस्थपुरुष के प्रपात्र में '४-३-२-१' इस क्रम से १० कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। कूटस्थपुरुष के वृद्धप्रपात्र में ३-२-१ इस क्रम से ६ कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। कूटस्थपुरुष के अतिवृद्धप्रपात्र में २-१-इस क्रम से ३ कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। एवं कूटस्थपुरुष के परमातिवृद्धप्रपात्र में १ कला (सप्तकोशधन की) यावज्जीवन प्रतिष्ठित रहती हैं। यद्वा आकर उर्ध्वपितानक्रम समाप्त हो जाता है। निम्न लिखित 'पिरुद्ध-सन्तानक्रमचक्र' परिलेख से उक्त विषय का भलिभोति स्पष्टी-  
हो जाता है।

पिरुद्धसन्तानक्रमचक्रपरिलेखः—

अवरसापिरुद्ध्यम्—	प्रतिष्ठितः	स्त्रियम्	पुत्रे	पौत्रे	प्रपात्रे	वृद्धप्रपात्रे	अतिवृद्धप्रपात्रे	परमातिवृद्धप्रपात्रे	
परसापिरुद्ध्यम्—	२४	२८	२१	१५	१०	६	३	१	०
म्वातुगतम्	२८	७	६	५	४	३	२	१	०
पितुः	२१	६	५	४	३	२	१	०	०
पितामहस्य	१५	५	४	३	२	१	०	०	०
प्रपितामहस्य	१०	४	३	२	१	०	०	०	०
वृद्धप्रपितामहस्य	६	३	२	१	०	०	०	०	०
अतिवृद्धप्रपितामहस्य	३	२	१	०	०	०	०	०	०
परमातिवृद्धप्रपितामहस्य	१	१	०	०	०	०	०	०	०
	०	०	०	०	०	०	०	०	०

## सन्तानराशि, शेषराशिस्वरूपमीमांसा—

पितृ-पितामहादि पट् पर पुरुषों से कूटस्थ पुरुष में ऋणरूप से आगत पट्पञ्चाशत-कल ( ५६ ) बीजपिण्ड को, तथा स्वार्जित धनात्मक अप्राविशतिकल ( २८ ) बीजपिण्ड को, सम्भूय चतुर्शीतिकल ( ८४ ) बीजपिण्ड को यद्यपि पूर्व में मूलराशि ( मूलधन )-वतलाया गया है । तथापि धनमय्यादी की अपेक्षा से प्रधानतया चान्द्र पौंडश सम्बत्सरों से नक्षत्रावच्छेदेन उत्पन्न २८ कल स्वार्जित धनात्मक बीजपिण्ड को ही वस्तुगत्या 'मूलराशि' कहना अन्वर्थ बनता है । पट्पञ्चाशत कल भाग तो वस्तुतः मूलराशि न होकर मूलऋण ही कहलाया है । अप्राविशतिकल प्रथमकोशात्मक मूलधनात्मक इस मूलराशि के सन्तानोत्पत्तिकाल की अपेक्षा में 'सन्तानराशि, सन्तानशेषराशि' ये दो विभाग हो जाते हैं । जो भाग पुत्रादिशरीर में सन्तानित ( वित्त ) हो जाता है, वे सन्तानित भाग तो 'सन्तानराशि' कहलाएँ हैं, एवं स्वभुक्त भाग 'सन्तानशेषराशि' नाम से व्यवहृत हुए हैं । इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य में रखते हुए इन दोनों विभागों का साप्तर्षीरूप सापिण्ड्य के साथ समन्वय कीजिए ।

कूटस्थ पुरुष में प्रतिष्ठित २८ कल भाग मूलराशि है । पुत्रसन्तानोत्पत्ति ( गर्भाधान ) काल में इस मूलराशि में से २१ कला तो पुत्रशरीर के निर्माण में तन्यरूप से सन्तानित हैं, शेष ७ कला स्वयं कूटस्थ में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं । स्वभुक्त सप्तकल भाग 'सन्तानशेषराशि' है, पुत्रगत एकविंशतिकल भाग सन्तानराशि है । (१) । कूटस्थ पुरुष के पुत्र में कूटस्थ पुरुष से आगत २१ कल भाग मूलराशि है । पौत्रसन्तानोत्पत्तिकाल में इस मूलराशि में से १५ कला तो पौत्रशरीर-निर्माण में तन्यरूप से सन्तानित हैं, शेष ६ कला स्वयं कूटस्थपुरुष में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं । स्वभुक्त ( कूटस्थ प्रभुक्त ) पट्कल भाग 'सन्तानशेषराशि' है, एवं पौत्रगत पञ्चदशकल भाग सन्तानराशि है । यही दूसरा युग है । (२) । कूटस्थपुरुष के पौत्र में कूटस्थपुरुष से आगत १५ कल भाग मूलराशि है । प्रपौत्रसन्तानकाल में इस मूलराशि में से १० कला तो प्रपौत्रनिर्माण में तन्यरूप से सन्तानित हैं, शेष ५ कला स्वयं कूटस्थपुरुष के पौत्र में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं । स्वभुक्त ( कूटस्थप्रभुक्त ) पञ्चकल भाग 'सन्तानशेषराशि' है, एवं प्रपौत्रगत १० कल भाग सन्तानराशि है । यही तीसरा युग है । (३) । कूटस्थ पुरुष के प्रपौत्र में कूटस्थ पुरुष से आगत १० कल भाग मूलराशि है । वृद्धप्रपौत्रसन्तानकाल में इस मूलराशि में से ६ कला तो वृद्धप्रपौत्र के निर्माण में तन्यरूप से सन्तानित हैं, शेष ४ कला स्वयं कूटस्थ पुरुष के प्रपौत्र में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं । स्वभुक्त ( कूटस्थ प्रपौत्रभुक्त ) चतुष्कल भाग सन्तानशेषराशि है, एवं वृद्धप्रपौत्रगत ६ कल भाग सन्तानराशि है । यही चौथा युग है । (४) । कूटस्थपुरुष के वृद्धप्रपौत्र में कूटस्थ पुरुष से आगत ६ कल भाग मूलराशि है । अतिवृद्धप्रपौत्र-सन्तानकाल में इस मूलराशि में से ३ कला तो अतिवृद्ध-

प्रपौत्रनिर्माण में तन्त्ररूप से सन्तानित हैं, शेष ३ कला स्वयं कूटस्थ पुरुष के वृद्धप्रपौत्र में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं । त्वमुक्त ( कूटस्थ वृद्धप्रपौत्र भुक्त ) त्रिकलभाग सन्तानशेषराशि है, एवं अतिवृद्धप्रपौत्रगत ३ कल भाग सन्तानराशि है, यही पाँचवाँ युग्म है । (५) । कूटस्थ पुरुष के अतिवृद्धप्रपौत्र में कूटस्थ पुरुष से आगत ३ कलभाग मूलराशि है । परमातिवृद्धप्रपौत्रसन्तानकाल में इस मूलराशि में से १ कलभाग तो परमातिवृद्धप्रपौत्रनिर्माण में तन्त्ररूप से सन्तानित है, शेष २ कला स्वयं कूटस्थपुरुष के अतिवृद्धप्रपौत्र में आत्मधेयरूप से भुक्त हैं । त्वमुक्त ( कूटस्थ अतिवृद्धप्रपौत्रभुक्त ) द्विकल भाग सन्तानशेषराशि है, एवं परमातिवृद्धप्रपौत्रगत १ कलभाग सन्तानराशि है । यही छठा युग्म है । (६) । कूटस्थ पुरुष के परमातिवृद्धप्रपौत्र में कूटस्थपुरुष से आगत १ कलभाग मूलराशि है । क्योंकि वितानमात्रा के अभाव से इस का उत्तर वितान असम्भव है, अतः इस का केवल 'सन्तानशेषराशि' लक्षण एक ही रूप शेष रह जाजा है । इस युग्मद्वयी के साथ साथ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि, सन्तानोत्पत्ति से पहिले पहिले तो प्रत्येक पुरुष आगत ५६ कलाओं से, तथा स्मार्जित २८ कलाओं से चतुरशीतिकल सम्पत्ति से युक्त रहता है । एवं सन्तानोत्पत्त्यनन्तर ५६ को तन्त्रभाष में परिणत करता हुआ २८ आत्मधेयकलामात्र से युक्त रहता है । निम्न लिखित परिलेखों से इस चक्र का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है ।

सन्तानराशिचक्रपरिलेखः—

७ पुरुषः	६ पुरुषः	५ पुरुषः	४ पुरुषः	३ पुरुषः	२ पुरुषः	१ पुरुषः	सन्तानराशिचक्रम्			
२८	२	१५	१०	६	३	१	०	/		
(१)	२८	२१	१५	१०	६	३	१ ०			
	(२)	२८	२१	१५	१०	६	३ १ ०			
		(३)	२८	२१	१५	१०	६ ३ १ ०			
			(४)	२८	२१	१५	१० ६ ३ १ ०			
				(५)	२८	२१	१५ १० ६ ३ १ ०			
					(६)	२८	२१ १५ १० ६ ३ १ ०	/		
							२१ १५ १० ६ ३ १ ०			
								(७)		

शेपराशिकप्रल्लेखः—

७ पुरुषः	६ पुरुषः	५ पुरुषः	४ पुरुषः	३ पुरुषः	२ पुरुषः	१ पुरुषः
७	६	५	४	३	२	१ ०
(१)	७	६	५	४	३	२ १ ०
	(२)	७	६	५	४	३ २ १ ०
		(३)	७	६	५	४ ३ २ १ ०
			(४)	७	६	५ ४ ३ २ १ ०
				(५)	७	६ ५ ४ ३ २ १ ०
					(६)	७ ६ ५ ४ ३ २ १ ०

(७)

आशीचसंक्रमणद्वारमीमांसा—

पाठकों को स्मरण होगा कि, आशीचसम्बन्ध के संक्रमण द्वारों का 'व्यक्रम' करते हुए हमने योनि, विद्या, यज्ञ, संसर्ग, इन चार निमित्तों का दिग्दर्शन कराया था। इन चारों सम्बन्धसूत्रों से ही अपाशीच की व्याप्ति होती है। अपाशीच का प्रथम द्वार योनि-सम्बन्ध है। इस की मीमांसा करते हुए प्रसङ्गतः विवाह-दाय-आशीच-सापिण्ड्यों का दिग्दर्शन कराया गया। एवं इसी प्रसङ्ग से सापिण्ड्यभावानुगत पितृहस्वरूप की सिंहावलोकनन्यायेन मीमांसा की गई। सयान्त में योनिकृत सम्बन्धसूत्रमीमांसा समाप्त करने हुए यही कहना शेष रह जाता है कि, जनन-मरण भावों से उत्पन्न अपाशीच का मुख्य भावपक्ष योनिकृत साप्तर्षीरूपसापिण्ड्य से ही प्रधान सम्बन्ध है। आरोपित, तथा मामान्य योनि-सम्बन्ध अपाशीच के लिए गौणसूत्र हैं। मुख्य योनि-सम्बन्ध समानपितृभावों में व्याप्त समान श्रद्धामूत्रद्वारा ही अपाशीच-संक्रमण का द्वार बनता है।

२-विद्याकृतसम्बन्धसूत्राणि—

'वंशो द्विधा-विद्यया, जन्मना च' इमं आर्षसिद्धान्त के अनुसार वंशवितान (प्रजातन्तुवितान) जन्ममूलक, विद्यामूलक, भेद से दो भागों में विभक्त माना गया है। जिस प्रकार जन्म सम्बन्ध से अन्य-जनक परम्परा का श्रद्धामूत्र द्वारा पारस्परिक सम्बन्ध रहता है, एवमेव विद्या-सम्बन्ध में भी गुरु-शिष्य परम्परा का उसी श्रद्धामूत्र द्वारा पारस्परिक धर्माण्ड सम्बन्ध रहता है। इस विद्या सम्बन्ध के निगम-आगमविद्या भेद से आगे जाकर दो विवर्त्त हो जाते हैं। पारिविद्यासंस्कार के लिए आगमदीक्षा विहित है, एवं मौरविद्यासंस्कार के लिए निगमदीक्षा विहित है। इन दोनों निगमागम-दीक्षाओं में दीक्षित शिष्यवर्ग का अन्तरात्मा दीक्षाप्रदाता गुरुवर्ग के अन्तरात्मा के साथ रमयनिष्ठ श्रद्धामूत्रद्वारा धर्माण्ड सम्बन्ध हो जाता है। यही विद्याकृत सम्बन्धसूत्र का

संक्षिप्त दिग्दर्शन है। योनिवृत्त सम्बन्धसूत्रवत् यह विद्यावृत्त सम्बन्धसूत्र भी अवश्यमेव अपाराशोचसंक्रमण का द्वार बनता है। इसी विद्या सम्बन्ध से द्विजातिवर्ग द्विजन्मा कहलाया है, एवं इसी दृष्टि से इस विद्यावंश को भी हम जन्मवंश कह सकते हैं, जैसाकि अन्यत्र संस्कार विज्ञानादि में विस्तार से निरूपित है।

२-यज्ञकृतसम्बन्धसूत्राणि—

प्रत्येक सद्गृहस्थ के श्रौत-स्मार्त कर्मकलापों का स्वरूप सम्पादन करने के लिए एक एक कुलपुरोहित का समावेश आवश्यक माना गया है। इसे ही 'कुलगुरु' भी कहा गया है। इस कुलगुरु के साथ उस सद्गृहस्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। पारस्परिक श्रद्धासूत्रद्वारा यह कुलगुरु भी गृहस्थानुगत अपाराशोच का पात्र बन जाता है। यही यज्ञकृत-सम्बन्ध सूत्र है। अवश्य ही गृहस्थ के शुभाशुभ भावों का कुलगुरु पर शुभाशुभ प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि, धर्माचार्योनि इस सम्बन्ध में ब्राह्मणवर्ग को सावधान किया है कि, वह बिना सोचे समझे यथेच्छ किमी का कुलपुरोहित्य स्वीकार न करे। इन सम्बन्धसूत्र के ही आधार पर क्षत्रिय ममाज में केवल कुलगुरुओं के गोत्रभेद से ही विवाह सम्बन्ध भी हो जाता है अथवा महाराज-दशरथ, धिदेवजनक, दोनों सगोत्र मर्यादा से विवाहसापिण्ड्य द्वारा सम्बन्धु थे। परन्तु दशरथ के कुलगुरु वसिष्ठ, तथा धिदेवजनक के कुलगुरु रूहण गोतम, इन दोनों भिन्न गोत्रियों के गोत्र से दोनों कुलों में विवाह सम्बन्ध ही जाता है। इस निदर्शन से बतलाना हमें यही है कि, यज्ञानुगत आर्चिव्यसम्बन्ध भी एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव यह भी योनि, विद्यावत् अवश्यमेव अपाराशोचसंक्रमण का द्वार बन जाता है।

४-संसर्गकृतसम्बन्धसूत्राणि—

१-रोदन, २-स्पर्शन ३-अलङ्करण, ४-अनुगमन, ५-बहन, ६-दहन, ७-उदकदान, ८-पिण्डदान, इस प्रकार प्रेतसंसर्ग आठ भागों में विभक्त माना गया है। इन आठों के में से किसी एक भी संसर्ग से युक्त हो जाने पर शयानुगत अपाराशोच संसर्ग में संक्रान्त हो जाता है। संसर्गसूत्र के बलाबल तारतम्य से ही इस आशीच के बलाबल का तारतम्य है। एवं तदनुसार ही शुद्धिव्यवस्था में तारतम्य है। यही संसर्ग चौथा द्वार है। इस प्रकार चार द्वारों से जनन-मरणानुगत सूक्त शावाशीचों का परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। यही सम्बन्धसूत्र की संक्षिप्त मीमांसा है।

सर्वान्त में—

आशीचविज्ञाननिबन्धन प्रायः सभी विषयों की मौलिक उपपत्ति के स्पष्टीकरण का प्रयास किया गया। इन उपपत्तियों के सम्बन्ध में हमारा यही स्पष्टीकरण है कि, अतीतानागत-अधिगत-धातव्य-विद्वितवेदितव्य महानहर्षियों की संविनिष्ठाश्रमला सुसूक्ष्मा दिव्यदृष्टि से एष्ट मौलिक रहस्यों का यथावत् बोध प्राप्त कर लेना मांश यथाज्ञात भावुक मानव की स्थूल-भौतिक दृष्टि के लिए असम्भव ही है। एकमात्र गुरुकृपा द्वारा प्राप्त पितृश्रद्धा के बल पर इस सम्बन्ध में जो कुछ भी निषेदन किया गया है, वह 'निरपवादः परिकरः' न्याय से संमाल ही मान लिया जायगा, ऐसी आत्मधारणा है। किमी भी उपपत्तिविज्ञासा-तत्त्वसमाधानन्येपणपरम्परा से अपने आपको सर्वोत्तमा असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए आस्था-श्रद्धापूर्वक शास्त्रीय विधिविधानों के यथासमय-यथाशक्य अनुगमन में ही हमारे जैसे भावुकों की श्रेयः-प्रेयोभाव-संसिद्धि है। 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्यकार्यव्यवस्थितौ' ही हमारे लिए अन्यतम प्रतिष्ठाभूमि है, जिसे लक्ष्य बना कर ही अन्त में आशीचविज्ञानसम्बन्धी कतिपय आवश्यक परिलेखों का समन्वय करते हुए हमें अपनी आस्थाश्रद्धा को दृढमूल बना लेना है।

वर्णभेदानुगत-गर्भस्तावपातनिबन्धन-प्रसूत्याशौचदिनपरिमाणपरिलेखः—

मासे	१	२	३	४	५	६
ब्राह्मण्याः	२	३	३	४	५	६
क्षत्रियायाः	३	४	५	६	७	८
वैश्यायाः	४	५	६	७	८	९
शूद्रायाः	७	८	९	१०	११	१२

पुत्रकन्यानुगताशौचदिनपरिमाणपरिलेखः—

	स्पर्शाशौचदिनानि	कर्मशौचादिनानि	
		पुत्रोत्पत्ती	कन्योत्पत्ती
प्रसूतीनां	—		
गौडस्त्रीणाम्	१०	२०	३०
दाक्षिणात्यस्त्रीणाम्	१०	३०	४०
प्रत्यन्तस्त्रीणाम्	१३	३०	३०

संसर्गिसम्बन्धिनां दिनपरिमाणपरिलेखः—

प्रसूत्याः	असंसर्गिणाम्			संसर्गिणाम्		
	मातृपितृ-	भ्रातृ-	सपितृभानाम्	मातृपितृ-	भ्रातृ-	सपितृभानाम्
भ्रातृ	॥	०	०	२३।४	२३।४।	२३।४।
पाते	१	॥	०	२।६	२।६	२।६।
प्रसवे	३	१	॥	१०	१०	१०

प्रसूतिकापत्यनुगताशीचदिनपरिमाणपरिलेखः—

निमित्ते	स्पर्शाशीचम्	कर्मशीचम्
गर्भस्त्रावे	सचैलस्नानम्	०
गर्भपाते	सचैलस्नानम्-तथा	३
पुत्रप्रसवे	सचैलस्नानं-तथा	१०
कन्याप्रसवे	सचैलस्नानं-तथा	१०
क्षेत्रजादिप्रसवे	सचैलस्नानं-तथा	३
परपूर्वायाः प्रसवे	सचैलस्नानं-तथा	३
परगतायाः प्रसवे	सचैलस्नानं-तथा	३
नीचंगतायाः प्रसवे	सचैलस्नानं-तथा	०

परिशिष्टपरिलेखः—

निमित्तमात्राः		१-६-	७-२४	२५-७५	७६
वर्णभेदेन मरणाशौचदिनानि	ब्राह्मणानाम्	सद्यः	१	३	१०
	क्षत्रियाणाम्	सद्यः	२	६	१२
	वैश्याणाम्	सद्यः	३	६	१५
	शूद्राणाम्	सद्यः	५	१२	३०

	सच्छूद्राणाम्			असच्छूद्राणाम्
	अविवाहितानाम्	विवाहितानाम्	अविवाहितानाम्	विवाहितानाम्
(१) पञ्चमासान्तम्	०	०	०	सद्यः
(२) द्विपर्यान्तम्	३	३	५	खनने, १२ दहने
(३) त्रिपर्यान्तम्	३	३	१२	५ सपि०, १२ मातापित्रोः
(४) पञ्चपर्यान्तम्	३	३	१२	१२
(५) पञ्चपर्यान्तम्	१२	१२	१२	१२
(६) षोडशपर्यान्तम्	१२	१५	१२	१२ वा०, ३० वा०
(७) यावज्जीवनम्	१५	१५	३०	३०

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

स्थितिर्भवतु

### \* प्रकरणोपसंहार—

किम् आशीच का सम्बन्ध कितने दिन पर्यन्त रहता है ? आशौच-वृत्ति-दृश्य-सच्छूद्र, असच्छूद्र, आदि पर्या-अवर्णप्रजा में जनन-मरण-क्रिया-संसर्ग द्वारा उत्पन्न आशीच काल में क्या व्यवस्था है ? इत्यादि मय प्रश्न धर्मशास्त्रद्वारा सर्वथा निर्णीत हैं। पितृत्वं से सम्बन्ध होने के कारण प्रकृत भाद्रविज्ञान-निबन्ध में हमने आशीच के सम्बन्ध में केवल उन्हीं विषयों का दिग्दर्शन कराया है, जिनका श्रद्धासूत्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आशीच की उत्पत्ति ही हमारे इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य रहा है। आशीचेतिकर्तव्यता निबन्धग्रन्थों से ज्ञातव्य है। अपनी श्रद्धालु आप्रजा के अतिरिक्त उन भारतीय वन्दुओं की सेवा में प्रस्तुत प्रकरण उपस्थित करते हुए हम उन से साम्रह निवेदन करेंगे कि, वे आवेश में पड़ कर एक हेलवा आर्यधर्म-मित्रानों का उपहास न करें। अपितु स्थिरबुद्धि से धर्मात्मकों की उपयोगिता-अनुपयोगिता की मोमांसा करने के अनन्तर ही किसी निर्णय पर पहुँचने का कष्ट करें। भाद्रदेवता से यही प्रार्थना करते हुए कि, वे अनुमद कर इन भ्रान्त वन्दुओं में श्रद्धा का आपान कर इन्हें सन्मार्ग प्रदर्शन करायें, प्रकृत प्रकरण उभरत हो रहा है।

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

—X—

ममान्ता चैयमाशीचविज्ञानोपनिषत्

"शीचं फोत्पनया शुचिदेवता"



शिशुमरणे—आशौचदिनानि

	मातुः	पित्रादीनाम्	सपिण्डानाम्
(१) जननान्-प्राक्	०	०	०
(२) नालोच्छेदान्-प्राक्	०	०	०
(३)-दशाहान्-प्राक्	०	०	०
(४)-द्वादशाहान्-प्राक्	१	१	सद्यः
(५)-पण्चमाहान्-प्राक्-	१	१	सद्यः
(६)-दन्तजननान्-प्राक्	३	३	सद्यः

षष्ठमासाद्-आचतुर्विंशमासंमरणे—आशौचदिनानि

	खनने	दहने
माद्वयानाम्	१	३
हस्त्रियाणाम्	२	६
पौर्याणाम्	३	९
शूद्राणाम्	४	१२

तृतीयवर्षे—आशौचदिनानि

	अकृतचूडकरणे		कृतचूडकरणे
	मातापित्रोः	सपिण्डानाम्	सर्वेषाम्
माद्वयानाम्	३	१	३
हस्त्रियाणाम्	६	२	६
पौर्याणाम्	९	३	९
शूद्राणाम्	१२	४	१२

तृतीयवर्षार्द्धे पञ्चमस्ततिमासात्प्राक् कृतचूडस्य-अकृतचूडस्य वा मरणे-आशीचदिनानि

ब्राह्मणानाम्	३०
क्षत्रियाणाम्	६
वैश्यानाम्	६
शूद्राणाम्	१२

पञ्चमस्ततिमासादूर्ध्वमनुपनीतमरणे आशीचदिनानि

	कर्मप्रधानानाम्	कालप्रधानानाम्
ब्राह्मणानाम्	३	१०
क्षत्रियाणाम्	६	१२
वैश्यानाम्	६	१५
शूद्राणाम्	१२	३०

	सपिण्डानाम्	सकुल्यानाम्	सोदकानाम्	सगोत्रानाम्
ब्राह्मणानाम्	१०	३	१॥	सद्यः
क्षत्रियाणाम्	१२	३	१॥	सद्यः
वैश्यानाम्	१५	३	१॥	सद्यः
शूद्राणाम्	३०	३	१॥	सद्यः